(सर्वाधिकार सुरक्षित)

श्रीसहजानन्द शास्त्र माला

मोक्षशास्त्र प्रवचन

प्रथम व द्वितीय भाग

प्रवक्ता :-
अध्यात्मयोगी न्यायातीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री
पूज्य श्री गुरुवर्य्य मनोहर जी वर्णी
"श्रीमत्सहजानन्द महाराज"

संपादक :-
सुमेरचंद जैन
१५, प्रेमपुरी, मुजफ्फरनगर

प्रकाशक :
श्री सुनील कुमार जैन (मंत्री)
श्री सहजानन्द शास्त्रमाला
१८५, रणजीतपुरी, सदर, मेरठ

द्वितीय संस्करण ११००]
सन् १९९९]

[लागत ७०) रु०

संपादकीय

प्रिय पाठकवृन्द। आपके करकमलों में यह ग्रन्थराज सौंपते हुये मुझे अतीव प्रसन्नता है। जैन शासन में सर्वजनोपयोगी ग्रन्थराज 'मोक्षशास्त्र' अपरनाम 'तत्त्वार्थ सूत्र' अति प्रसिद्ध ग्रन्थ है। पुरुष व महिला वर्ग किसी पर्व आदि में विशेष धर्माराधना करते हुए इस ग्रन्थका आद्योपान्त पाठ करके सन्तोष अनुभव करते हैं। दशलक्षण पर्व में प्रत्येक नगर के मन्दिरों में इसका वाचन होता है। इस ग्रन्थराज के मूल प्रणेता श्री मदुमास्वामी हैं। इस मूल कृति पर परम पूज्य सर्व श्री मद्भट्टाकलंकदेव, श्रीमत्पूज्यपाद स्वामी, श्रीमद् विद्यानंदि स्वामी जैसे दिग्गज विद्वान तार्किक आचार्यों ने टीकाये की हैं, जो कि आठ–दस शताब्दी पूर्व अवतरित हुए थे।

इस ग्रन्थराज की महिमा का वर्णन कहाँ तक किया जावे। वैष्णव समाज में 'गीता', मुस्लिम भाइयों में कुरान तथा ईसाई बन्धुओं में 'बाईबिल' को जो गौरव प्राप्त है वही महत्वपूर्ण स्थान जैनशासन में इस ग्रन्थराज को प्राप्त हुआ है। चारों अनुयोगों का सुन्दर व सजीव चित्रण जैसा इस ग्रन्थ में मिलता है वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। कोई बिषय इस ग्रन्थ से अछूता नही रहा है।

मूल सूत्र व उनकी गहन टीकायें संस्कृत भाषा में होने से इस ग्रन्थ का पर्याप्त रूप से अध्ययन होना बड़ा ही कठिन था। किन्तु यह समाज के परम सौभाग्य की बात है कि अध्यात्मयोगी ज्ञानमूर्ति न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री श्री गुरूवर्य सहजानन्द जी (मनोहर जी वर्णी) महाराज ने आध्यात्मिक व दार्शनिक तथ्यों से समन्वित विस्तृत प्रवचन किये हैं। मोक्षशास्त्र (तत्त्वार्थसूत्र) के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ के छह सूत्रों पर प्रवचन इस पुस्तक में हैं। एक–एक सूत्र पर १०–१५ दिन प्रवचन होना तो सामान्य बात है, किसी किसी सूत्र पर तो २५–२५ दिन भी प्रवचन हुए हैं। इन प्रवचनों में किसी भी विषय को पुनरुक्त नहीं किया गया है। यदि कोई स्थल पुनरुक्त सा मालूम पड़े तो वहाँ यह निरखना चाहिये कि इसमें अन्य अन्य कौन सी दृष्टि व तथ्य दिये गये हैं। इन सब रत्नों का ग्रहण तो इस प्रवचन सागर में गोता लगाकर ही किया जा सकता है जिनकी प्राप्ति से मोक्षमार्ग में प्रगति होगी और सत्य सहज आनन्द प्राप्त होगा।

पूज्य श्री सहजानन्द जी महाराज ने समयसार प्रवचन, नियमसार प्रवचन, पंचास्तिकाय प्रवचन, आत्मानुशासन, समाधितन्त्र, इष्टोपदेश, ज्ञानार्णव, पुरुषार्थसिद्धयुपाय, प्रमेयकमलमार्तण्ड, अष्टसहस्री, आप्तपरीक्षा, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, सप्तभंगीतरंगिणी, पंचाध्यायी, पद्मनन्दिपंचविंशतिका, परमात्मप्रकाश, रत्नकरण्ड, द्रव्यसंग्रह, रयणसार, दर्शनपाहुड आदि लगभग ६५ ग्रन्थराजों पर प्रवचन किये हैं तथा स्वरचित सहजानन्दगीता, अध्यात्मसूत्र, आत्मकीर्तन, परमात्मआरती, वस्तुतथ्य ज्ञानामृत, अध्यात्मसहस्री आदि १५ ग्रन्थों पर प्रवचन किये हैं इनके अतिरिक्त आत्मसंबोधन, सहजानन्द गीता, अध्यात्मसूत्र, समयसार भाष्यपीठिका, तत्त्वरहस्य, सहजानन्द डायरी, अध्यात्मसहस्री, मनोहर पद्यावली, स्तोत्रपाठपुंज, समस्थानसूत्र १७५ ग्रन्थों का स्वतन्त्र निर्माण किया है। गोम्मटसार जीवकाण्ड, कर्मकाण्ड, लब्धिसार, क्षपणसार आदि जैसे कठिन ग्रन्थों का कुंजी रूप में जीव स्थान चर्चा, कर्मस्थान चर्चा, सम्यक्त्वलब्धि, कर्मक्षपण दर्पण आदि अनेक पुस्तकोंकी रचना की है जो धर्मज्ञान प्रवेशार्थियों के लिये अति आवश्यक है। इतना ही नहीं इनसे पहले आवश्यक अध्ययन की पूर्ति के लिये धर्मबोध, छहढाला टीका, द्रव्यसंग्रह टीका, धार्मिक स्फुट ज्ञान आदि पुस्तकें बड़ी सुगम विधि से ज्ञान करने के लिये लिखी हैं।

पूज्य श्री गुरुवर्य सहजानन्द जी महाराज ने ज्ञान प्रकाश की दिशा में समाज का जो उपकार किया है हम समाज वाले इस उपकार से कभी भी उऋण नहीं हो सकते और हम सभी युग–युगान्तरों तक पूज्य महाराज श्री के अत्यन्त आभारी रहेंगे।

जिज्ञासु एवं मुमुक्षुजनों से निवेदन है कि निष्पक्ष, सयुक्तिक एवं आर्षानुसारी इस सहजानन्द साहित्य का अध्ययन व मनन करके अपने इस दुर्लभ मनुष्य–जीव को सफल व सार्थक करें।

पवन कुमार जैन
ज्वैलर्स
सदर मेरठ कैन्ट

अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री

पूज्य श्री १०५ क्षु० गुरुवर्य्य मनोहरजी वर्णी

सहजानन्द महाराज

जन्म स्थान—दुमदुमा (जिला टीकमगढ़), बुन्देलखण्ड (म० प्र०)
जन्म तिथि—कार्तिक कृष्णा दशमी ब्रह्ममुहूर्त सं० १९७२, सन् १९१५
साहित्य निर्माण—१९४२ से १९७८ तक, ग्रन्थ संख्या लगभग ५००
शरीरत्याग काल—३० मार्च, सन् १९७८ त्यागी भवन सदर मेरठ।

मोक्षशास्त्र प्रवचन १, २ भाग

(प्रथम भाग)

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः" ॥१॥

तत्त्वार्थ सूत्र की जैन आम्नाय में मान्यता और पूज्यता है, इसे सब जानते हैं। एक यही ग्रन्थ ऐसा है, जिस श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों मानते हैं। क्योंकि इसमें जैनागम का तत्वज्ञान है। संक्षेप रूप से उसका संकलन करने वाली दूसरी इससे अच्छी रचना नहीं हो सकती थी, इसलिए अपने श्वेताम्बर भाइयों में भी इसके कुछ सूत्रों में थोड़ा हेरफेर होकर इसकी मान्यता है, ऐसा कई विद्वानों का मत है। इस शास्त्र में कई तरह की विशेषता है। वैसे तो क्षेत्र काल गति आदि सूचना रूप 'प्रथमानुयोग' भी आ गया है। इसके विषय के प्रतिपादन का क्रम, शैली और गांभीर्य अति उत्तम है। इनका सूक्ष्म दृष्टि से मनन करने वाला परम आगम का अभ्यासी हो सकता है।

'सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' इस प्रारम्भ के सूत्र में प्रारम्भ में सम्यक् और साध्याः पद सूत्र जी के अन्तिम सूत्र के अंत में आया हुआ है। जिससे यह अर्थ भी निकल सकता है कि रत्नत्रय जिसका विवेचन आगे पूरे ग्रन्थ में किया गया है वह साध्य है, साधने योग्य है। सम्यक् और साध्याः के मध्य में जितना प्रवचन है वह हृदय में धारने योग्य है। यद्यपि ग्रन्थकार का भाव यह रहा हो ऐसा निश्चय नहीं कर सकते, फिर भी तत्त्व ज्ञानियों के शब्दों का बड़ा महत्व है। एक ही बात में कई गूढ़ अर्थ भरे रहते हैं। जो अर्थ उनके ध्यान में दृष्टि उस ओर न होने से शायद नहीं भी होता हो, वह अर्थ भी उनके वचनों से निकल जाता है। ग्रन्थ में १० अध्याय हैं, उनसे भी मतलब निकलता है कि गणना मूल में ९ तक है, उसके बाद शून्य जोड़ कर १० बनते हैं, जो "एक गोल" ऐसा लिखा जाता है। पदार्थ भी ९ होते हैं, और ये व्यवहार से हैं।

इन ९ भेदों से अतीत पदार्थ का स्वरूप शुद्ध निश्चयनय का विषयभूत स्वरूप है। इन ९ भेदों के उल्लंघन होने पर वह गोल **(GOLE)** आता है जो आदि मध्य अंत से रहित व ध्येय रूप हैं। इस तरह उसके दशवें प्रकार का भी संकेत दशवें अध्याय से ले सकते हैं। दशवें अध्याय में शुद्ध पर्याय का वर्णन है जो स्वभाव के अनुरूप है। यों तो सामान्य तौर पर सात तत्त्वों के प्रारूपण में १० अध्याय बन गये, यह बात ठीक है। इंग्लिश में गोल को **(GOLE)** ध्येय कहते हैं जिससे यह सिद्ध होता है कि ये १० अध्याय क्या हैं? गोल विस्तार को समझे बिना इनके एक आश्रयभाव तत्त्व को समझना कठिन है। अतः यह विस्तार

भी एक गोल पर पहुँचाने के लिए है। सूत्र के प्रारम्भ में टीकाकार पूज्यपाद स्वामी ने मंगलाचरण किया।

'मोक्षमार्गस्य नेतारं भेत्तारं कर्मभूभृताम्। ज्ञातारं विश्वत्त्वानां वन्दे तद्गुण-लब्धये।' अर्थात् मोक्ष मार्ग के नेता, द्रव्य कर्म वा रागद्वेषादि भावकर्म के भेदने वाले और विश्व के तत्त्वों के ज्ञाता अथवा विश्व माने सम्पूर्ण तत्वों के ज्ञाता को उनके गुणों की प्राप्ति के लिए अथवा उन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ। इसमें पहला विशेषण मोक्षमार्ग के नेता का दिया। नेता वह कहलाता जो अपने लक्ष्य की ओर ले जाय, ले जाने वाला स्वयं जाता है और दूसरों को उस अभीष्ट तक ले जाता है। नेता का अर्थ पहुँचा देने वाला नहीं होता। क्योंकि पहुँचा देने वाले में वह नेतृत्व शक्ति नहीं होती। नेता तो वही है जो स्वयं उसको प्राप्त करे या उस पर चले और दूसरों को भी उसमें ले जाए। मोक्षमार्ग पर तो स्वयं न चला हो, स्वयं उस भाव को जिसने प्राप्त न किया हो तो-दूसरों को मोक्ष मार्ग में ले जाने का निमित्तत्व उसमें नहीं हो सकता। अरहंतमें आप्त में यह नेतृत्व पूर्ण रूप से पाया जाता है। इसके साथ ही जो पूर्ण रूप से रागद्वेषरहित वीतरागी हों और पूर्ण ज्ञानी (सर्वज्ञ) हों, वही वास्तविक मोक्ष मार्ग का नेता हो सकता है। मोक्ष मार्ग का प्रणयन, अल्पज्ञानी या रागी-द्वेषी नहीं कर सकता। इसीलिए ग्रन्थकार इन तीन गुणों की प्राप्ति के लिए अथवा उन तीन गुणों से विशिष्ट आप्त अरहंत की अनुभव में प्राप्ति के लिए उन गुणों को व तद्विशिष्ट अरहंत को नमस्कार करते हैं। क्योंकि जो जिसका अर्थी होता है वह उसी की उपासना करता है। लोक में भी ऐसा देखा जाता है।

किसी भी कार्य में सफलता पानी हो तो पुरुष को पुरुषार्थी, निर्दोष व ज्ञानी होना ही चाहिए। यहाँ मोक्ष मार्ग की बात है इसके लिए मोक्ष मार्ग का पुरुषार्थी और निर्दोषता में सर्वथा निर्दोष व पूर्ण ज्ञानी होना चाहिए। इस श्लोक में ३ विशेषण दिए हैं, (१) मोक्षमार्ग नेता, (२) कर्मभेत्ता, (३) विश्व ज्ञाता। मध्यका विशेषण पूर्व और उत्तर दोनों के कारण है। जब तक जीव रागादि भाव कर्म और मोहनीय आदि द्रव्य कर्म का क्षय नहीं करता तब तक वह मोक्ष मार्ग का अधिकारी, नेता व सर्वज्ञ नहीं बन सकता। जैन सिद्धान्त गुणवादी है व्यक्तिवादी नहीं। जब एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ परिणमन ही नहीं कर सकता, तब व्यक्ति का पूजा में महत्त्वपूर्ण स्थान कैसे हो सकता है? जैन सिद्धान्त के इस मर्म को नहीं जानने वाले लोग न्याय के मार्ग में कदम रखें तो पग-पग पर फिसलना पड़ता है। यहाँ मोक्षमार्ग के नेता का स्मरण इसीलिए है कि उनका ही निमित्त रूपेण हम सब पर उपकार है। कर्मभेत्ता का स्मरण इसलिए किया है कि आखिर निर्विकल्पता ही तो ज्ञानी ने केवल शुद्ध दशा में निर्णीत की है। विश्वज्ञाता का स्मरण इसलिए किया है अन्त में शुद्ध अवस्था होने पर सद्भावरूपेण यही सर्वज्ञता ही तो रहती। अहो, नमस्कार भी हो तो ऐसा हो कि वह नमस्कार

परिणमन सफलता की उन्नति करता रहे। मोक्ष मार्ग के नेता, कर्मरूपी पहाड़ के भेदन करने वाले व सर्व तत्व (त्रिलोक व त्रिकालवर्ती) के जानने वाले चैतन्य-स्वरूप प्रभू को नमस्कार हो।

वे मोक्ष मार्ग के नेता जो तत्त्व ज्ञान बताते हैं, वह सनातन है। क्योंकि ज्ञान को वेद कहते हैं, और बहुत लोगों ने वेद को अपौरुषेय, अनादि से चला आया माना है। श्रुतज्ञान रूपी वेद, अर्थात् षट्खण्डागम वेद, महावीर तीर्थं करने नया पैदा किया हो अथवा पहले के और दूसरे तीर्थंकरों ने पैदा किया हो, ऐसी बात नहीं है। वह ज्ञान (वस्तु का धर्म) किसी का बनाया नहीं बनता, वह तो हमेशा विद्यमान है। आत्मा की आत्मीयता, आत्मा की चेतनता, आत्मा की ज्ञानात्मकता, आत्मा का रत्नत्रय—ये सब उसमें अनादि से हैं, जो संसारी आत्माएं विकारी हैं, उनको दूर करने का उपाय भी बताकर तीर्थंकर उसका प्रणयन करते हैं। जगत के प्राणी उस ज्ञान से (धर्म से) शून्य होते हैं, वे अपने उस गुण और धर्म को भूले रहते हैं। तब तीर्थंकर उसका उद्बोध मात्र कराते हैं। वर्तमान काल में २४ तीर्थंकरों के निमित्त से यह उपकार हुआ। इसके पहले अनंत भूतकाल में, अनंत तीर्थंकर होते आये और वे मोक्षमार्ग का प्रणयन करते आए। आगे अनन्त भविष्य में भी यही क्रम चलता रहेगा। अतः इस दृष्टि में वेद (ज्ञान) अनादि है उसी सनातन ज्ञान को यहाँ दिखाया जाता है। **"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"**। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र-इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है।

सत् एक अखण्ड होता है और उसका पर्याय भी एक समय में एक होता है, उस सत् के भेद शक्ति के आधार पर होते हैं और पर्याय के भेद शक्ति की व्यञ्जना पर होते हैं। मोक्षमार्ग में आत्मा एक है और पर्याय भी एक समय में एक है। वह पर्याय है निःशंकतापूर्वक ज्ञाता द्रष्टा रहना। इस एक कार्य में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता स्पष्ट प्रतीत हो रही है। उत्तरोत्तर वह अभेद दृढ़ होता जाता है। अंतिम मोक्षमार्ग चौदहवें गुण स्थान का अंतिम भाग है। गुण रूप से अंतिम मोक्षमार्ग १२ वें गुण स्थान का अंतिम भाग है। मोक्षमार्ग का प्रारम्भ चतुर्थ गुण स्थान में पहुँचने से पूर्व मिथ्यात्व गुण स्थान का अंतिम भाग है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव मिथ्यात्वगुण स्थान को छोड़कर यदि अन्य गुण स्थान लेता है तो उपशमसम्यक्त्व का गुण स्थान लेता है तो प्रायः अविरतसम्यक्त्व नामक चौथा गुण स्थान पाता है। बिरला कोई जीव प्रथमोपशम सम्यक्त्व के साथ-साथ देशव्रत या महाव्रत भी पा लेता है। सर्वत्र जो भी हो दर्शन ज्ञान चारित्र का एकत्व है। जैसे मोक्षमार्ग में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र का एकत्व है। वैसे संसार मार्ग में भी देख लो भैया! मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, मिथ्याचारित्र का एकत्व संसार मार्ग है।

मोक्षशास्त्र की रचना का आधार और मूल प्रारम्भ कर्ता व रचयिता के

धर्मवात्सल्य का दिग्दर्शन—एक कथानक के आधर पर प्रकट रूप में जो यह पहिला सूत्र कहा गया है उसकी प्रारम्भिक रचना इस रूप में नहीं हुई थी और न इस सूत्र की रचना का प्रारम्भ उमा स्वामी से हुआ। इसका प्रारम्भ करने वाला एक भव्य मुमुक्षु श्रावक है। उस मुमुक्षुने एक बार इसका निश्चय करके कि मोक्ष मार्ग का बताने वाला कम से कम १ सूत्र बनाकर ही मैं भोजन किया करूँगा। पहले दिन उसने पहिला सूत्र बनाया 'दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः' कुछ समय पीछे इस श्रावक के घर मुनि आए, श्रावक की गृहिणी ने पड़गाहन करके आहार दिया। मुनि जब बन को जाने लगे तो उनकी दृष्टि भीतर लिखे हुए उस सूत्र पर पड़ी। कुछ सोच कर उसके आदि में 'सम्यक्' पद और जोड़ दिया। इसलिए कि दर्शन ज्ञान चारित्र मिथ्या भी होते हैं, वे मोक्ष के मार्ग नहीं संसार के मार्ग होते हैं, इसलिए संदिग्ध पद को सुधार देना उचित है—ऐसा सोचकर सूत्र के पहले सम्यक् लिख दिया। मुनि इसके बाद तपोवन में चले गये। श्रावक जब घर पर आता है और उसकी दृष्टि उस सूत्रपर पड़ती है तो अवाक् रह जाता है, गृहिणी से पूछता है—कोई आया था घर पर? वह साधु के आने और उन्हें आहार देने का समाचार कहती है। जिज्ञासु श्रावक निश्चय करता है कि यह उपकृति उन्हीं साधुकी है। मुनिगमन की दिशा मालूम कर शीघ्रता से खोज करता हुआ मुनि के समीप पहुँच जाता है और चरणों में नम्रीभूत हो निवेदन करता है कि मुने! जिस रचना को मैंने प्रारम्भ किया उसके प्रथम प्रयास में ही भूल हो गई, तब आगे वह रचना ठीक ही होगी यह कैसे हो सकता है, अतः आप ही इसके अधिकारी हैं और इस ग्रन्थ का निर्माण आप ही करने की कृपा करें। मुनि ने उस भव्य का निवेदन स्वीकार किया और उसकी रचना तत्त्वार्थ सूत्र के रूप में की जो कि हमारे समक्ष में है, और हमारे कल्याण के लिए जो एक अनुपम निधि है अथवा जिन योगियों ने सत्य आनन्द का अनुभव किया है उनकी प्राणियों पर दृष्टि होने पर यह भाव हुए बिना नहीं रहता है कि ये स्वभावतः आनन्दमय ज्ञानमूर्ति निज प्रभु के दर्शन बिना भटक रहे हैं, ये स्वाधीन शान्ति मार्ग पायें। इस भावना से आगृहीत पूज्यपाद योगीश्वर ग्रन्थ रचना करते हुए सर्व प्रथम एकदम स्पष्ट मोक्षमार्ग बतलाते हैं—**"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः"** प्रकरणवश इतना जान लेने पर हम इस प्रथम सूत्र पर ही विचार करें। सूत्र का शब्दार्थ प्रस्तावना में प्रकट हो चुका है। यह सूत्र ही ऐसा अद्भुत है कि सूत्र कहना चाहोगे तो पहले जो कहोगे वह अर्थ ही हो जायेगा।

सम्यग्दर्शन का अन्तर्बाह्य स्वरूप— अब हम सम्यग्दर्शन में बारे में विशेष विचार करें—जिस स्वरूप से विशिष्ट जो पदार्थ हैं उनका उस प्रकार श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह परिभाषा स्वव्यवहार से है। लेकिन निश्चय का अर्थ भी इसी से घटित होता है। सत् असत्, नित्य-अनित्य, सामान्य-विशेष और एक-अनेक आदि धर्म विशिष्ट जीव अजीव तत्त्व हैं। उनकी विकारी पर्याय से आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष मिलकर ७ तत्त्व हैं। उन सातों में जीव साररूप है, उस जीव में भी उसका जो निर्विकार शुद्ध चित् भाव है, जो आनन्दस्वरूप

है वह सार है। उसका श्रद्धान होना, देखना, अनुभवन होना सम्यग्दर्शन है, सम्यक् का सम्यक् दर्शन होना सम्यग्दर्शन है।

पदार्थ की सहज सुन्दरता—प्रत्येक पदार्थ अपने एकत्वनिश्चय में प्राप्त हो तो सुन्दर है, सम्यक् है। अपने स्वभाव के विरुद्ध पर के निमित्त को पाकर स्वविभावशक्ति से जायमान विभावों की ओर उन्मुखता हुई कि बड़े विसंवाद बन जाते हैं। वस्तु अखंड एकस्वभावी है। उसकी अनंतानंत पर्यायों में भी वह एक स्वभाव सदा अंतः प्रकाशमान रहता है। इस अशुद्ध संसार अवस्था में भी तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव तक अपने स्वभाव के कारण पदार्थों को बहिर्मुखतया भी जानने से पहले आत्मसामान्य का स्पर्श करते हैं। हाँ यह बात अवश्य है कि जिसके स्पर्श का यत्न होता है उसे स्पर्श कर भी उसकी संचेतना बहिरात्मा नहीं करते हैं। सिद्धान्त शास्त्रों में यह बिल्कुल स्पष्ट लिखा है कि कुमति ज्ञान से भी पहले चक्षुदर्शन होता है। यह दर्शन क्या है ? कहीं आँख से देखने का नाम चक्षुदर्शन नहीं है, किन्तु चक्षुरिन्द्रिय के निमित्त से उत्पन्न हुए ज्ञान से पहले जानने का बल विकसित करने के अर्थ उपयोग आत्मा की ओर झुकता है तब जो सामान्य अवलोकन है उसे चक्षुदर्शन कहते हैं। इसी तरह चक्षु को छोड़कर अन्य इन्द्रिय व मन के निमित्त से जायमान ज्ञान से पहले जो दर्शन होता है उसे अचक्षुदर्शन कहते हैं। देखो भैया ! आत्म कल्याण के लिए सुविधा सामग्री सदा तैयार है, जो भव्य उसका उपयोग कर लें वह धन्य है। वह चैतन्य स्वभाव जो कि अखंड अविनाशी स्वतः सिद्ध है वही सुन्दरतम है, सम्यक् है। इस सम्यक् का विधि से अर्थात् भेद विकल्पों से निर्णय कर भेदपक्ष छोड़कर अभेद दृष्टि के अवलंबनके अनंतर समस्त दृष्टि पक्ष के विकल्पों से हटकर अभेदानुभव करना सम्यग्दर्शन है। जीव के लिए सम्यग्दर्शन के समान और कोई उपकारी नहीं है। इसके बिना ही वह कुज्ञानी और मिथ्याचारी बना रहता है। इसीलिए समन्तभद्र स्वामी कहते हैं—**न सम्यक्त्वसमं किञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि। श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमं नान्यत्तनूभृताम्॥** तीन काल और तीनों लोकों में सम्यक्त्व के समान कल्याणकारी दूसरा नहीं और मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी दूसरा नहीं। यह मिथ्यात्व सम्यग्दर्शन के ठीक विपरीत रूप होता है। इस सम्यग्दर्शन की महिमा कहने में कोई समर्थ नहीं है। सम्यक्त्व के बिना पूजा, दान, तप आदि भी वास्तविक नहीं होते, योग्य नहीं होते। उन सब अच्छे कार्यों का लक्ष्य संसार की तरफ चला जाता है। विकल्प बाहर की तरफ दौड़ते रहते हैं।

प्राप्त सुविधा के सदुपयोग में बुद्धिमानी—हमारी प्रारम्भिक निगोद दशा कैसी थी ? हम बेचारे थे, असहाय थे। बेचारे अर्थात् जिनका चारा नहीं, आश्रय नहीं। ऐसे बेचारे तो हम निगोद में अथवा उसके ऊपर भी असंज्ञी पर्यायों में ही थे। संज्ञा (मन) होने पर सोचने समझने की शक्ति आने पर बेचारा मन कहाँ रहा? अब तो यथार्थ पुरुषार्थ करने की शक्ति इसमें आ गई। फिर भी हम बेचारे के बेचारे बने रहे और सम्यक्त्व को जागृत न करें तो यह कितनी भारी भूल होगी? मनुष्य-जन्म की सफलता अपने स्वरूप को समझने में है।

चैतन्य महाप्रभु की परम करूणा—देखो भैया ! निज चैतन्य महाप्रभु की सत्कृपा—निगोद जैसे दुष्पद से निकलने में चैतन्य भाव के सद्विकास का ही तो अनुग्रह है। यह चैतन्य महाप्रभु जैसे-जैसे प्रसन्न होता गया उत्तरोत्तर समृद्धि पाता हुआ आज सैनी पञ्चेन्द्रिय मनुष्य की दशा में आ गया जिसके लिए इन्द्र भी तरसते हैं। यदि अब भी हमने चैतन्य देवकी भक्ति नहीं की और विषय कषायकी वृत्ति में प्रभु पर हमला किया तो हमारी बड़ी दुर्गति होगी। एक साधु जंगल में बैठे ध्यान कर रहे थे। उनके पास एक चूहा बैठा रहा करता था। अचानक बिलावने उस पर हमला करना चाहा तो झट दया वश साधु ने आशीर्वाद दिया **"बिडालो भव"**। वह बिलाव बन गया। अब बिलाव का तो डर न रहा किन्तु कुत्ता ने आक्रमण करना चाहा तो आशीर्वाद मिला कि श्वा भव। कुत्ता बन गया। फिर झपटा व्याघ्र, सो कहा **"व्याघ्रो भव"**। फिर सिंह झपटा तो आशीर्वाद दिया **"सिंहो भव"**। वह चूहा उत्तरोत्तर वृद्धि से सिंह बन गया। अब सिंह को लगी भूख, सो साधु को ही सिंह ने खाना चाहा, तब आशीर्वाद मिला "पुनर्मूषको भव"। बन्धुवो ! इसी प्रकार चैतन्यदेव का आशीर्वाद पाकर यह जीव निगोदसे निकल कर मनुष्य हो गया। यदि वह मनुष्य जिस चैतन्य देव की प्रसन्नता से उन्नत बना, उसी चैतन्य देव पर आक्रमण करेगा तो झट यही आशीर्वाद मिलेगा कि **"पुनर्निगोदो भव"** अर्थात् फिर निगोद बन जा।

लब्धियों का बल—इस मनुष्य जन्म में देखो कितनी शक्ति प्रकट हो गई है, विवेक उसके उपयोग का होना चाहिए। चाहे उपयोग को स्वभाव की ओर लगा दो, चाहे विषय कषायकी ओर लगा दो। भावना से ही सब काम होता है। इस मनुष्य-जन्म में सम्यक्त्व प्राप्त होने के योग्य क्षयोपशमलब्धि प्राप्त है। क्योंकि भला बुरा सोचने समझने का हममें पर्याप्त ज्ञान है। देशना लब्धि अर्थात् तत्त्व ज्ञान का उपदेश मिलना। वह भी हमारे लिए उपलब्ध है। विशुद्धि लब्धि आत्म परिणामों की विशेष निर्मलता को कहते हैं। यदि हम चाहें तो परिणामों में कठोरता तीव्रता तामसी वृत्ति न आने दें। परिणामों में कठोरेता रखना या कोमलता रखना यह हमारे हाथ की बात है क्योंकि इस लायक योग्यता प्रकट हो गई। इन तीन लब्धियों की प्राप्ति हो जाने पर चौथी प्रायोग्य लब्धि होती है। विशुद्धि बढ़ने पर जब कर्मों की लम्बी स्थिति पढ़ना बन्ध हो जाती है और अधिक से अधिक अन्तः कोटि सागर प्रमाण कर्मों का स्थिति बन्ध रह जाता है और अधिक से अधिक अन्तः कोटि-कोटि सागर प्रमाण कर्मों का स्थिति बन्द रह जाता है, तब यह विशुद्धि प्रायोग्यलब्धि कहलाती है। इस प्रायोग्यलब्धि वाला जीव पहले गुण स्थान से लेकर छटवें तक बंधने योग्य कितने ही कर्मों का बन्ध नहीं करता। यद्यपि सम्यक्त्व हो जाने पर चौथे, पांचवें और छटवें गुण स्थान में बंधने योग्य उन प्रकृतियों का बन्ध होने लगता है, लेकिन सम्यक्त्व के उन्मुख होने पर प्रायोग्य लब्धि में यह बंध नहीं होता, उतने समय के लिए वह रुक जाता है। जैसे जिस वर की शादी होती है, उसको विवाह होने के समय तक के लिए बादशाह मान लिया जाता है। पीछे विवाह हो चुकने पर फिर

वह बादशाहीपन नहीं रहता। उसी तरह कुछ प्रकृतियों के बंध विचार में प्रायोग्यलब्धि वाले मिथ्यादृष्टि के अविरत सम्यग्दृष्टि देशविरत या प्रमत्त विरत जैसी बादशाहियत समझना चाहिए। इस लब्धिके प्राप्त हो जाने पर जीव के आगे-आगे समय में अंसख्यातगुणी-असंख्यातगुणी निर्जरा होने लगती है और बंध इसी क्रम से हीन-हीन।

चौंतीस बन्धापसरण—कर्मों की स्थिति पल्यके असंख्यातवें भाग कम हो होकर पृथक्त्वशतसागर कम हो जाने पर नरक आयु के बंधका होना रुक जाता है उसके बाद की हीन-हीन स्थितियों में क्रमशः तिर्यञ्च, मनुष्य और देवायु के बंध का अभाव होता है। फिर नरक गति नरकगत्यानुपूर्वी इन २ प्रकृतियों का बंधव्युच्छेद हो जाता है। पुनः सूक्ष्म अपर्याप्त और साधारण इन प्रकृतियों का सम्मिलित बंध रुक जाता है। इस प्रायोग्यलब्धि में ३४ बंधापसरण होते हैं। प्रत्येक बंधापसरण में पृथक्त्वशत सागर स्थिति कम होती है। वह हीनतापल्यके असंख्यातवें भाग कम हो होकर होती है। यहाँ तक ६ बंधापसरण हुए। इसी प्रकार चे २८ बंधापसरण कहना चाहिए। ७. सूक्ष्म अपर्याप्त प्रत्येक, ८. बादर अपर्याप्त साधारण, ९. बादर अपर्याप्त प्रत्येक, १०. द्वीन्द्रिय अपर्याप्त, ११. त्रीन्द्रिय अपर्याप्त, १२. चतुरिन्द्रिय अपर्याप्त, १३. असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, १४. संज्ञी पञ्चेन्द्रिय अपर्याप्त, १५. सूक्ष्म पर्याप्त साधारण, १६. सूक्ष्म पर्याप्त प्रत्येक, १७. बादर पर्याप्त साधारण, १८. बादर पर्याप्त प्रत्येक एकेन्द्रिय आताप स्थावर, १९. द्वीन्द्रिय पर्याप्त, २०. त्रीन्द्रिय पर्याप्त, २१. चतुरिन्द्रिय पर्याप्त, २२. असंज्ञी पचेन्द्रिय पर्याप्त, २३. तिर्यग्गति तिर्यग्गत्यानुपूर्वी उद्योत, २४. नीच गोत्र, २५. अप्रशस्तविहायोगति दुर्भग दुःस्वर अनादेय, २६. हुंडकसंस्थान असंप्राप्तसृपाटिका संहनन, २७. नपुंसकवेद, २८. वामनसंस्थान, कीलक संहनन, २९. कुब्जकसंस्थान अर्द्धनाराचसंहनन, ३०. स्त्रीवेद, ३१. स्वातिसंस्थान नाराचसंहनन, ३२. न्यग्रोधपरिमंडलसंस्थान वज्रनाराचसंहनन, ३३. मनुष्यगति मनुष्यगत्यानुपूर्वी औदारिकाङ्गोपाङ्ग वज्रवृषभनाराच संहनन, और ३४. वीं बार में असाता अरति शोक अस्थिर अशुभ अयशः कीर्ति। ये बंधापसरणकी प्रकृतियाँ वे हैं जो १, २, ४, ६, ७ वें गुणस्थान में बंध से व्युच्छिन्न होती है। यहाँ विचारिये यह प्रायोग्यलब्धिवाला जीव भी कितना बलिष्ट हो रहा है, सातवें गुणस्थान तक कीअनेक प्रकतियों में बंधको इतने समय के लिए तो हटा ही देता है।

करण लब्धि की नियामकता—उक्ता करामात प्रायोग्यलब्धि में रहती है। फिर आगे करणलब्धिका प्रारम्भ होता है, करण नाम निर्मल परिणामों का है। अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के करणालब्धि प्रथमोपशम—सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव के लिए होती है। करण ३ होते हैं—१. अधः करण, २. अपूर्वकरण, ३. अनिवृत्ति करण। अव्यवस्थित परिणाम जब किसी उत्तम व्यवस्था में आने को होते हैं तो एक सदृश व्यवस्थित होने से पहले २ प्रकार की अवस्थाएं होती हैं, वे हैं अधः करण और अपूर्वकरण। अधः करण परिणाम वाले जीवों के परिणाम एक

ही समय अथवा कुछ समय पहले के वे आगे के समयों में सदृश अथवा विसदृश होते हैं। अपूर्वकरण परिणामों में एक ही समीपवर्ती आत्मावों के परिणाम चाहे सदृश परिणाम में एक समयवर्ती आत्मावों के परिणाम एक सदृश ही होते हैं। लोक में भी व्यवस्था सम्बन्धी यत्न ऐसा ही देखा जाता है। जैसे अव्यवस्थित घूमने वाले सिपाहियों को कमाण्डर व्यवस्था से समीप आने की आज्ञा दे तब वे सिपाही कुछ लाइन में व कुछ बाहर, इसी प्रकार कुछ बिना पैर मिले व कुछ मिले पैर वाले होते हैं। दूसरे यत्न में लाइन एक हो जाती है, परन्तु पैरों का मेल बेमेल बना रहता है। तीसरे यत्न में सर्वथा व्यवस्थित हो जाते हैं। इसी प्रकार यहाँ सम्यक्त्व के प्रादुर्भाव के लिए जो करणयत्न है उसमें त्रिविधता है। जिन समयों में सम्यक्त्व रहेगा उन समयों की स्थिति का सम्यक्त्वघातक निषेक नहीं रहता है उस स्थिति वाले निषेक आगाल प्रत्यागाल की विधि से कुछ पहले कुछ पश्चात् की स्थिति वाले निषेकों में पहुँच लेते हैं।

सम्यक्त्वोत्पत्ति के प्रारम्भ में निर्मलता की विशेषता—उस समय जीव को भारी निर्मलता रहती है इतनी निर्मलता कि शीघ्र शुद्धि बढ़े तो अंतर्मुहूर्त में (जिन अंतर्मुहूर्तके अवान्तर १४ अन्तर्मुहूर्त १४ तरह के कार्यों के लिए हैं।) मोक्ष पा सकता है। वे चौदह अन्तर्मुहूर्त चौदह कार्यों के लिए इस प्रकार हैं पहला अन्तर्मुहूर्त अन्तर करण का, दूसरा उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने का, तीसरा अन्तर्मुहूर्त क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त करने का, चौथा व ५ वां अन्तर्मुहूर्त अनंतानुबन्धीके विसंयोजनका व दर्शनमोहके क्षयका, ६ वां अन्तर्मुहूर्त अप्रमत्तविरत गुणस्थान होने का, ७ वां अन्तर्मुहूर्त प्रमत्त-अप्रमत्त गुण स्थानों में अदल बदल होने का, इसमें छोटे-छोटे असंख्यात अन्तर्मुहूर्त है, ८ वां अन्तर्मुहूर्त अधःकरणका, ७ वां अन्तर्मुहूर्त अपूर्वकरणकाए १० वां अन्तर्मुहूर्त अनिवृत्तिकरणका, ११ वां अंतर्मुहूर्त सूक्ष्म साम्परायका, १२ वाँ अंतर्मुहूर्त क्षीणमोहका, १३ वां अंतर्मुहूर्त सयोग केवली होने का, चौदहवां अंतर्मुहूर्त अयोग केवली होकर सिद्ध होने का है। इन १४ अंतर्मुहूर्तों का काल बहुत थोड़ा है। सबका समय मिलकर भी अंतर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि अंतर्मुहूर्तके अगणित भेद हैं। इस तरह सम्यक्त्वकी प्राप्ति होने पर मोक्ष प्राप्त होने में देर नहीं लगती यह स्पष्ट हुआ। यदि विलम्ब भी हो तो कुछ कम अर्द्ध पुद्गल परावर्तन काल से अधिक विलम्ब तो हो ही नहीं सकता।

सम्यक्त्व में लक्ष्यभूत तत्त्व की मीमांसा— (१) आत्मश्रद्धा को सम्यग्दर्शन, (२) आत्मज्ञान को सम्यग्ज्ञान और (३) आत्मलीनताको सम्यक्चारित कहते हैं। व्यवहार से सात तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन, ७ तत्त्वों यथार्थ ज्ञान सम्यग्ज्ञान और पाप निवृत्ति को सम्यक्चारित्र कहते हैं। सम्यक्त्व भाव को निमित्त तीन स्थितियाँ हैं— (१) अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया लोभ व मिथ्यात्व—इन पाँच प्रकृतियों का उपशम तथा वेदक योग सादिमिथ्यादृष्टि के सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति मिलकर ७ प्रकृतियों का उपशम है। (२) इन्हीं ७ का क्षयोपशम

व (३) व इन्हीं ७ का क्षय है सो क्षय तो वेदकसम्यग्दृष्टि ही करता है। उपशम व क्षयोपशमको मिथ्यादृष्टि कर लेता है। क्षयोपशमसम्यक्त्वको उपशमसम्यग्दृष्टि भी करता है। प्रकृतियों के उपशमादिका निमित्त है अखंड चैतन्य स्वभाव का ध्यान। इस ध्यान के लिए आवश्यक है तत्त्वाभ्यास। तत्त्वाभ्यास के लिए द्रव्य, गुण, पर्यायों की समस्या अच्छी तरह से हल कर लेना चाहिए। द्रव्य सत्स्वरूप, स्वतः सिद्ध, अनादिनिधन, स्वसहाय व अखण्ड होता है। जो कुछ दीखता है उसके खंड-खंड हो जाते हैं वह द्रव्य नहीं, उनमें अविभागी जो एक प्रदेशी सत् है वह द्रव्य है। आत्मा तो हमारा आपका सबका एक-एक अखंड है वह द्रव्य है। इसी तरह एक धर्म द्रव्य, एक अधर्म द्रव्य, एक आकाश द्रव्य, असंख्यात कालाणु एक-एक ये सब द्रव्य हैं। द्रव्य, अनंतशक्त्यात्मक होता है, एक-एक शक्ति का नाम एक-एक गुण है, उन सब गुणों से पर्यायें उत्पन्न होती हैं। यहाँ जीव का निमित्त पाकर अजीव कर्म में व अजीव कर्म का घनिष्ट संयोग विपाक का या अभाव का निमित्त पाकर जीव में कई अवस्थाएं हो गई हैं, वे संक्षेप में ५ हैं— आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा व मोक्ष। आस्रव जिन प्रकृतियों का हुआ है वे पुण्यपाप के भेद से २ प्रकार के हैं, तथा जीव व अजीव की अपेक्षा २ मूलद्रव्य हैं इस प्रकार सब तत्त्व ९ हुए। इन भेदों विकल्पों का उपयोग न करें, तब पर्यायें विलीन होकर एक मात्र द्रव्य दृष्टि रहेगी, वहाँ भी निश्चयपक्ष छोड़कर अत्यंत निष्पक्ष होता हुआ स्वभाव का अनुभव करें। सर्व भेद विकल्पों को छोड़कर अभेदस्वभाव में स्थिर रहें। यही कल्याण का अमोघ उपाय है।

सम्यक्त्व का अन्य गुणों से भेद व अभेद— ये तीनों सम्यक्त्व ज्ञान तथा चारित्र से निजस्वरूप और नाम आदि की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न हैं, किन्तु अमूर्त आत्मा के असंख्यात प्रदेशों में एकमेक होकर रहते इसलिए अभिन्न हैं। आजकल का राष्ट्रध्वज भी जैन सिद्धांत के अनुरूप हैं। राष्ट्रीय तिरंगा झन्डा में रत्नत्रय की कल्पना घटित होती है। साहित्यकार रुचि का वर्णन पीले रंग से करते हैं। और जैन धर्म में रुचि को सम्यग्दर्शन कहते हैं। हरा रंग हरे-भरेपन का द्योतक है, यह सम्यक् चारित्र को बतलाता है, क्योंकि उससे शुद्ध आत्म पर्याय की उत्पत्ति होती है। और ज्ञान का वर्णन सफेद रंग से किया जाता है, तब सफेद रंग सम्यग्ज्ञान का प्रतीक हुआ। इस तरह रत्नत्रय का प्रतीक, पीला, हरा और सफेद रंग वाला तिरंगा झन्डा (राष्ट्रीय झंडा) है। उसमें जो चक्र का चिह्न है उसमें २४ आरे रहते जिनका अर्थ होता है कि उस मोक्षमार्ग रूप रत्नत्रय को २४ तीर्थंकरों ने प्रकट किया है। तिरंगा झंडा २४ तीर्थंकरों द्वारा प्ररूपित, प्रदर्शित आत्मा के रत्नत्रय—धर्म को या कहिए मोक्षमार्ग को स्मरण कराता है। हमको उस मोक्षमार्ग में अपना पुरुषार्थ प्रकट करना चाहिए। इस भव से नहीं तो अगले भवों से हम मोक्ष पाने के अधिकारी हो जावें। मनुष्य जीवन में यह सबसे बड़ा काम है।

आत्म पौरुष करने का स्मरणः— कोई कहे कि इस काल में तो मोक्ष होता नहीं

है, फिर उसके लिए प्रयत्न क्यों किया जाए? तो उत्तर है कि भाई! यदि तुझे मोक्ष की चाह है तो उस मार्ग में लग जाना ही एक तेरा कर्त्तव्य है। अब नहीं तो तब, मोक्ष होकर ही रहेगा। यदि तुझे आज ही कुछ दिनों या वर्षों में मोक्ष मिले, तभी तू उसके लिए प्रयत्न करेगा, नहीं तो नहीं, तो यह तेरी आत्मवंचना है, बहाना है। तू आत्मकर्त्तव्य से पीछे हटने के लिए झूठी दलील चलाना चाहता है और फिर यह भी तो सोच कि बड़े-बड़े महापुरुषों को भी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति के बाद मोक्ष पा लेने में कितना समय लगा है? सभी जीवों को तो अंतर्मुहूर्त में मोक्ष नहीं हो जाता, अरबों-खरबों वर्ष तक इसकी साधना में बीत जाते हैं। ऋषभदेव भगवान को कुछ कम १ लाख पूर्व अर्थात् हजारों अरब वर्ष लग गया। तू तो उनसे जल्दी भी जा सकता है। यहाँ से मरकर विदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर तो ८-९ वर्ष में ही सिद्ध बन सकता है। हाँ, कमी यह है कि मरते समय हमारे सम्यक्त्व रहे तो विदेह में नहीं पैदा हो सकते। उस विदेह की भी चिन्ता हटावो। सम्यक्त्व का वियोग मत हो तू भव को मत देख। देख भव रहित निज चैतन्य स्वभावको, आत्म संतोष और धैर्यपूर्वक मोक्षपथ में चलते रहने के लिए ज्ञानवृत्ति रूप उद्यम कर, तू भव को मत देख। यदि स्वभाव की ओर उपयोग हो तो तुम्हीं बताओ क्या भव का उपयोग रहता है? स्वभाव तो शुद्ध अशुद्ध सभी पर्यायों से विलक्षण एक केवल शुद्ध है। स्वभाव में भव कहाँ है? देखो-देखो, स्वभाव में बड़ी महिमा है तभी तो इसके आश्रय से इसका धनी महान् बन जाता है। स्वभाव अखंड है तभी तो अखंड के आश्रय से अन्त में ज्ञान त्रिलोक, त्रिकालवर्ती समस्त पदार्थों का अखंड ज्ञाता हो जाता है। स्वभाव निर्विकल्प है तभी तो स्वभाव के आश्रय से इसका धनी निर्विकल्प हो जाता है। स्वभाव अविनाशी है तभी तो इसके आश्रय से इसका धनी विषम पर्याय के अभाव रूप अविनाशी एक समान पर्यायों के अविनश्वर प्रवाह रूप अविनाशी पद को प्रकट कर लेता है। अहो! बड़े-बड़े योगीन्द्रों ने भी मात्र एक आत्मस्वभाव की उपासना की। यह बात तो बिल्कुल पूर्ण प्रकट है, साईन्स में उत्तीर्ण निःसंदेह बात है। मित्रो! एक इस ही ज्ञानस्वभाव का, चैतन्यस्वभावका आश्रय लो, फिर मुक्ति हस्तगत ही है। भले ही कुछ समय और लग जावे, परन्तु विचारो तो सही, अनन्तानन्त काल के सामने असंख्यात भी समय क्या चीज हैं?

ममता का अर्थ भगवान आत्मदेव पर अन्याय— एक सच्ची कहानी है सुनिये—एक तपस्वी पलाश वृक्ष के नीचे ध्यान लगाये थे। एक श्रावक भक्त आया, मुनि का ध्यान टूटा। धर्मकथा हुई। श्रावक भगवान के समवशरण में जा रहा था। वहाँ मुनि से बिदा मांग चलने लगा। मुनि ने कहा, मेरे संसार के कितने भव बाकी हैं, मेरा मोक्ष कब होगा? भगवान से पूछना। श्रावक भगवान के समवशरण में गया। तत्वज्ञान प्राप्त किया और मुनि के संसारीभवों को भी मालूम किया। वापिस समवशरण से आया तो इसी बीच मुनिराज पलाश वृक्ष के नीचे से उठकर इमली के वृक्ष के नीचे पहुँच गये। श्रावक मुनि को इमली के वृक्ष के नीचे

बैठा देख खिन्न होता है। मुनि पूछते हैं क्या कारण है? दुःख मनाने का। श्रावक बोलता है कि महाराज! भगवान ने अपनी दिव्य वाणी में आपके प्रश्न का उत्तर दिया है कि आप जिस वृक्ष के नीचे बैठे हैं उतने ही भव बाकी हैं। इस बात से मुझे खुशी हो गई थी क्योंकि आप उस समय पलाश वृक्ष के नीचे बैठे थे, जिसमें कि इने-गिने पत्ते थे। लेकिन अब आप इमली के नीचे बैठे हैं। जिसके पत्तों की गणना करना कठिन है। इसी बात को विचार कर मन में क्लेश हो रहा है कि अभी आपके इतने अधिक भव संसार के पड़े हैं। मुनि खुश होते हैं और श्रावक को समझाते हैं कि इसमें अप्रसन्न होने की बात नहीं, खुशी मनाने की बात है। अनादि से कितने भव बीते सो क्या पता? अब यह तो निश्चय हो गया कि इतने ही भव शेष हैं अधिक नहीं। और भैया देखो इतने ही भव थोड़े काल में निकल सकते हैं। एक अन्तर्मुहूर्त में ६६३३६ भवों से निपट लिया जाता है। अब मुमुक्षु को मोक्षमार्ग में प्रयत्न करने की सच्ची प्रेरणा हासिल करना चाहिए, घबड़ाहट का तो कुछ काम भी नहीं, मोक्षमार्ग में भी सम्यग्दर्शन जो खास महत्त्व रखता है, इसकी प्राप्ति के लिए कमर कस लेना चाहिए। जीव और शरीर का भेद विज्ञान और फिर आत्मस्वरूप का अनुभव जिस किसी तरह करने की चेष्टा पूरी-पूरी करना चाहिए। तब ही पुरुषार्थी कहलाओगे।

निर्मल पर्याय का साधन—आत्मा का धर्म चैतन्य स्वभाव है जो न मलिन है, न विमल है किन्तु अपने स्वभाव से ही सदा एक स्वभाव सर्वचिद्वृत्तियों का स्रोत है। उसकी दृष्टि से कार्यधर्म होता है। कारणधर्म की दृष्टि अथवा उपादत्ति बिना कार्यधर्म होता नहीं है। यह कार्यधर्म न पापवृत्तियों से प्रकट होता है और न पुण्यवृत्तियों से। किसी भी विचार से धर्म प्रकट नहीं होता। सनातन निर्मल स्वभाव की दृष्टि व उपादत्ति से निर्मल पर्याय प्रकट होती है। निर्मल पर्याय आकुलता अनुभव से रहित पूर्ण सुखमय होती है। अतः सुख प्राप्ति के अर्थ अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्य स्वभावमय निज सहजसिद्ध भगवान के दर्शन करना चाहिए।

मोक्षमार्ग के नायक का अभिवन्दन—इस शास्त्र के मंगलाचरण का अर्थ है—मोक्षमार्ग के नेता को, कर्म पहाड़ों के भेदने वाले को, समस्त तत्त्वों के जानने वाले को उन गुणों की प्राप्ति के लिए नमस्कार करता हूँ। इन तीन विशेषणों में तीन बातें आयीं—**हितोपदेशी, वीतराग और सर्वज्ञ**। मोक्षमार्ग के नेता है इसका अर्थ है कि हितोपदेश करते हैं, नेता उपदेशक ही तो होता है। जो खुद चले और दूसरों को सन्मार्ग में ले जाए उसे कहते हैं नेता। नेता का अर्थ है ले जाने वाला। ले जाने की बात तब ही होती है जब स्वयं पहुँच जाए सो वे स्वयं पहुँच चुके और दूसरों को भी पहुँचाते हैं। यहाँ मोक्षमार्ग के नेता का क्यों पहले शब्द में स्मरण किया है। यों कि जिस ग्रन्थ का प्रारम्भ किया जा रहा है वह मोक्षमार्ग का प्रतिपादन करने वाला है। सो इस शास्त्र के मूल प्रणेता के प्रति कृतज्ञता हो और शास्त्र

की प्रमाणिकता जाहिर हो। मोक्षमार्ग का नेता वही हो सकता जो कर्म पहाड़ का भेदनहार है। और जो समस्त तत्त्वों का जाननहार हो। ये तीनों विशेषण परस्पर एक दूसरे के पोषक हैं। इनमें परस्पर कारण कार्य भाव लगाया जा सकता है। मोक्षमार्ग का नेता है, कर्मभूभृत का भेत्ता है, विश्वतत्त्व का ज्ञाता है, विश्व तत्त्व का ज्ञाता कर्म के भेदन बिना नहीं हो सकता। इसलिए कर्मभूभृत का भेत्ता यह विशेषण बीच में दिया हुआ है। इसका प्रभाव पहले विशेषण पर भी है और तृतीय विशेषण पर भी है। वन्दना करने वाला भव्य पुरुष इसमें अपना प्रयोजन दिखाता है कि उन गुणों की प्राप्ति के लिए मैं नमस्कार करता हूँ। जो प्रभु के गुण हैं वे गुण मुझ में आ जायें। यहाँ स्वरूप दृष्टि से बात समझिये जो प्रभु के गुण हैं वे मेरे में कैसे आ सकते? वे तो प्रभु में ही हैं, लेकिन गुणत्व सामान्य की दृष्टि से गुण-गुण एक चीज हैं। वे गुण मुझे मिलें, उनके गुण मुझे मिलें, यह बात नहीं कही जा रही है। और यदि ऐसा भी कहा जाय तो गुणस्वरूप की दृष्टि से अर्थ लगाना है। यह मंगलाचरण सूत्रकारका है या नहीं, इस विषय में कई धाराएं चल रही हैं। कुछ का मंतव्य है कि वह तत्त्वार्थ सूत्र कर्त्ता श्री उमा स्वामी ..... के द्वारा किया गया मंगलाचरण नहीं है। कुछ का अभिप्राय है कि उनके द्वारा किया गया मंगलाचरण है कुछ भी हो लेकिन इस मंगलाचरण का इतना अधिक महत्त्व है कि इस मंगलाचरण का अर्थ स्पष्ट करने के लिए विद्यानन्द स्वामी ने एक आप्त परीक्षा नाम का स्वतंत्र ग्रन्थ लिखा है। वह एक दार्शनिक ग्रन्थ है, जिसमें समस्त विवेचन किया गया कि यह भगवान ही क्यों मोक्षमार्ग के नेता हैं, अन्य क्यों नहीं हैं? एक दार्शनिक विधि से सब मतों का विवेचन करते हुए यह सिद्ध किया कि मोक्षमार्ग के प्रणेता ये ही जिनेन्द्र देव हैं। खूब युक्तियों से परीक्षा कर सिद्ध किया गया है आप्तपना, तभी तो उस ग्रन्थ का नाम ही आप्त परीक्षा है। आप्त कहते हैं पहुँचे हुए को। जैसे व्यवहार में कहते हैं कि यह तो पहुँचा हुआ पुरुष है, अर्थात् यह पुरुष प्रामाणिक है, इसमें रंचमात्र भी संदेह नहीं हैं।

ग्रन्थ के आदि में प्रभुस्तवन का प्रयोजन ग्रन्थ की प्रामाणिकता का व ग्रन्थ कर्त्ता की कृतज्ञता का प्रकाश—आप्त का स्तवन, स्मरण पहले इस कारण किया जाता है कि सुनने वालों के चित्त में यह तथ्य आए कि यह ग्रन्थ प्रामाणिक है यह आप्तमूलक ग्रन्थ है यह यों ही अटपट नहीं रचा गया, किन्तु सर्वज्ञदेव की परम्परा का यह वचन है। जिसका स्तवन किया जाता है उस नाम से ही यह बात सिद्ध हो जाती है। किसी के चित्त में यह शंका हो सकती है कि एकदम किसी बात को सुनने से पहले कैसे कह दिया कि यह प्रामाणिक है। अच्छा मूल से विचार चलाइए और परखिये कि आखिर ये वचन, ये वाक्य प्रामाणिक हैं या नहीं। देखिये—वचन, वाक्य शब्द विन्यासपूर्वक हुआ करते हैं। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि किसी के द्वारा यह रचा गया है, उसमें वाक्य है। वचन है, यह है तो उससे यह साबित होता है कि इसको कोई रचने वाला जरूर है। देखो बात-बात में अनेक बातें घटती हैं, तो कहेंगे कि यह बात तो बिल्कुल सत्य है कि जहाँ शब्द विन्यास है उसको कोई

बनाने वाला जरूर है, लेकिन एक सिद्धान्त ऐसा है कि जिनका मंतव्य है कि शब्द तो बनाये ही नहीं जाते। शब्दों को उत्पन्न नहीं किया जाता। किन्तु शब्द संसार में, आकाश में सर्वत्र पहले से ही भरे पड़े हैं। वह तो आकाश का गुण है, पौद्गलिक भाषावर्गणा का गुण नहीं, ऐसा वे मानते हैं। तब फिर वे शब्द कैसे निकलते हैं। इसका समाधान उन दार्शनिकों के यहाँ क्या दिया है? ये ओंठ, तालू आदि के प्रयोग से ये शब्द व्यक्त होते हैं, उत्पन्न नहीं होते। जैसे किसी कमरे में बहुत सी चीजें रखी हैं और उन पर कपड़ा डाल दिया गया तो कपड़ा उघड़ने से कहीं चीजें नहीं बनती, किन्तु बनी बनाई चीजें प्रकट हो जाती हैं, ऐसे सिद्धान्त के भी लोग हैं। तो उनको भी प्रथय सन्तोष कराना होगा कि देखो भाई ओंठ, तालू आदि के व्यापार का निमित्त पाकर शब्द वर्गणाएं उत्पन्न होती हैं, पहले से बनी हुई प्रकट नहीं होती उसकी अनेक युक्तियाँ हैं जिनका दार्शनिक शास्त्र से सम्बन्ध हैं, उन्हें समझाना चाहिए। भैया एक इस तरह का भाव लेकर इस शास्त्र का प्रसंग सुनो कि यह शास्त्र सबका है, सबके लिए है, सबको समझाया जा रहा है, इसके सम्बन्ध में प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह शंका कर सके, प्रश्न कर सके। चाहे किसी भी सम्प्रदाय का हो, यह शास्त्र सबके लिए हितकारी है, तो इस पर सबका अधिकार है। कोई पुरुष यों समस्या ला सकता है कि जब यह शब्द रचना है, उस शब्दरचना का बनाने वाला कोई पुरुष है और जो पुरुष उस शब्दरचना को बना रहा होगा वह आप्त नही है, सर्वज्ञ नहीं है। भगवान कहीं कलम दवात लेकर अक्षर नहीं बनाया करते अक्षरों का बनाने वाला तो कोई छद्मस्थ ही होगा कैसे हम मानें कि जो कुछ इसमें कहा जा रहा है वह प्रामाणिक है। तो इस बात से समझना चाहिए कि यद्यपि इस ग्रन्थ के कर्त्ता सर्वज्ञ नहीं थे, उमा स्वामी महाराज सर्वज्ञ न थे, लेकिन उनकी जो वाणी निकली, उनकी जो लेखनी चली वह उस परम्परा के वाक्य अर्थ में ही बताने वाली हुई, जो आप्त सर्वज्ञ देव की दिव्य ध्वनि में मूल उपदेश में था उसी का यह अंश व्यक्त किया गया तो मूल वक्ता आप्त हैं। युक्तियों से भी थोड़ा बात चित्त में लायें कि कैसे माने जावें कि ये वचन आप्त वचन है जिनका कि सर्वज्ञ देव के उपदेश को परम्परा का व्याख्यान कहा जाए। तो सुनिए-युक्ति और आगम से जिनमें विरोध न आये, समझिए कि वह सर्वज्ञ परम्परा का ही व्याख्यान है। इसका बहुत विवरण करने के लिए पहले कुछ दार्शनिक विषय भी लेना पड़ेगा, जो कि कुछ कठिन भी होगा और परीक्षामुखसूत्र, आप्त मीमांसा में तो इसका स्पष्ट विवेचन है। अनुभव भी बताता है कि इसमें कोई विरोध नहीं है। ये आप्त वचन हैं इसलिए प्रामाणिक है। अच्छा, यह समझा कि इन आचार्य संतों ने अपने पूर्वज गुरु परम्परा से इसका व्याख्यान किया, लेकिन गणधरदेव हैं, श्रुतकेवली हैं, उन्होंने भी तो कुछ रचना की है, तो उनकी जो ग्रन्थ रचना है वह तो उनकी स्वयं की अपने आपकी है, उसे कैसे प्रामाणिक माना जा सकता? वह तो अप्रमाण हो जाएगी, इन आचार्यजनों ने तो परम्परा से लिया तो इसका भी समाधान समझिए कि इनकी भी स्वतंत्र रचना नहीं, किन्तु सर्वज्ञदेव की व्याख्यान परम्परा का

ही सूचक है मतलब यह है कि जो व्याख्यान इस महाशास्त्र में होगा वह सब प्रामाणिक है, सर्वज्ञदेव की दिव्य ध्वनि की परम्परा से चला आया है, इसलिए इस पर कुछ आस्था रख कर सुनने के लिए तैयार होना चाहिए।

आप्तमूलकता होने से ग्रन्थ में प्रामाणिकता की प्रसिद्धि—कोई यह नहीं कह सकता कि क्या जरूरत है यह कहने की कि यह ग्रन्थ सर्वज्ञदेव की परम्परा से है, आप्तमूलक है। अरे यह ग्रन्थ अपौरुषेय है ऐसा कह दो, किसी ने बनाया ही नहीं है। कर्त्ता का नाम ही क्यों लिया जाता? प्रामाणिकता आ जाएगी। जैसे कुछ लोगों ने माना कि ये शास्त्र आकाश से उतरे, अथवा अनादि से ही चले आ रहे हैं, ऐसे अपौरुषेय मानकर भी तो प्रामाणिकता का काम चल सकता है। इसके समाधान में युक्ति से सोचा कि यदि अपौरुषेय हों आगम इसका मूल प्रणेता कोई नहीं है, चला आ रहा है अनादि से तो आप बतलावो कि आगम जो है सो है, इसके शब्द स्वयं दूसरों को अर्थ बता सकते हैं क्या? स्वयं शब्द अर्थ नहीं बताया करते कि लो सुनो कि हमारा अर्थ यह है इस तरह क्या शब्द दूसरों को अर्थ बता सकेंगे? अगर शब्द अर्थ बताते होते तो जिनको संकेत नहीं मालूम वे भी शब्द का अर्थ समझते। पर यह बात तो है नहीं कि शब्द खुद अर्थ बता दें। उन शब्दों का अर्थ बताने वाला कोई पुरुष जरूर होने चाहिए, जिसे कहेंगे व्याख्याता, भाषणकर्ता। जो भाषण करने वाला है, शब्दों के अर्थ को स्पष्ट करने वाला है वह पुरुष सर्वज्ञ है या असर्वज्ञ? पहले यह बात बताओ। अगर कहा जाए कि सर्वज्ञ है तो यह आगम सर्वज्ञ के आधीन हो गया। वह तो सबको जानने वाला है। आगम के आधीन व्याख्याता नहीं रहा, और, जब सर्वज्ञ व्याख्याता माना तो आगमको अपौरुषेय मानकर प्रमाण माननेकी बात क्यों सोचना? सर्वज्ञ है, उसका व्याख्यान है, वह स्वतः प्रमाण है, कहो कि आगम का भाषण करने वाला रागी है, छद्मस्थ है तो उसकी बात का क्या अर्थ लगाया जाए? वह तो अनेक अर्थ लगाएगा। जब तक मूल प्रणेता वक्ता सर्वज्ञ न हो तब तक उस संतान की परम्परा में प्रमाणता नहीं आ सकती। तो यह मानना होगा कि जो भी इस महाशास्त्र में कहा जा रहा है वह सब वही कहा जा रहा है जो तीर्थंकरों के समय में व्याख्यान हुआ था और चर्चा हुई थी उस परम्परा का विच्छेद नहीं हुआ है। कैसे जानें कि वह परम्परा है? देखो बहुत सी बातें तो यहाँ परम्परा से जानते ही हो। आप लोग खण्डेलवाल हैं, अग्रवाल आदि हैं? या जो भी जिसका गोत्र है, कैसे समझा कि बराबर चला आ रहा है। देख रहे हैं। १०० वर्ष पहले की बात तो नहीं जानते, लेकिन उपदेश द्वारा चला आ रहा है, समझते चले आ रहे हैं, जान रहे कि यह गोत्र है। फिर कुछ लिखा हुआ भी चला आ रहा। उन्होंने उन्हें बताया, उन्होंने अपने पुत्रों को बताया, लो इस परम्परा से जो आप जान रहे हैं कि यह गोत्र चल रहा है, इसमें कोई शंका भी करता है क्या? एक मामूली लोकव्यवहार में ही जब एक विश्वास देखा जा रहा है तो जो वचन युक्ति और शास्त्र से विरुद्ध नहीं हैं, और बड़े-बड़े पुराण ऋषी संतों के आदान प्रदान की परम्परा से चले आ रहे

हैं, उनमें कैसे शंका की जा सकती है? देखो प्रत्यक्षज्ञानी तो स्पष्टजान जाते हैं, और जो विशिष्ट ज्ञानी हैं वे कुछ अनुमान से, कुछ उपदेश परम्परा से समझ लेते हैं। तो सब हमको बल दे रहे हैं ये प्रमाण कि वह जो सम्प्रदाय है वीतराग शासन का, यह अविच्छिन्न धारा से ज्यों का त्यों चला आ रहा है।

मोक्षशास्त्र की सूत्र रूपता—अब वर्तमान इस महाशास्त्र के विषय में थोड़ी सी आवश्यक जानने योग्य बात देखिए इसे कहा गया है सूत्र। सूत्र का अर्थ है जिसमें युक्तियाँ हों, सत्य अर्थ का जो प्रतिपादन करता हो और थोड़े शब्दों में कहा गया हो वह सूत्र कहलाता है। यह सूत्र है, सयुक्तिक हैं, शुद्ध अर्थका प्रतिपादक है, यह कैसे समझा जाय जिससे इसको सूत्र मान लिया जाए? तो स्पष्ट प्रमाण यह है कि देखो यहाँ बाधा देने वाली कोई प्रमाण की बात नहीं आती, कोई बाधक प्रमाण नहीं मालूम होता। विचार करने पर जो शास्त्र में प्रवेश करेंगे या जिन्होंने किया है उनको स्पष्ट है कि शास्त्र में बहुत युक्तिपूर्ण वर्णन हैं। कई बातें बहुत सूक्ष्म होती हैं, वह तुरन्त प्रमाण में नहीं आतीं, लेकिन कोई समय उसको प्रमाणीक प्रसिद्ध कर देता है। जैसे परमाणु का कथन जो साधारणजनों के विश्वास के लायक नहीं बनता है कि क्या कोई ऐसा परमाणु जो अत्यन्त सूक्ष्म है लेकिन आज के वैज्ञानिक चाहे वे परमाणु तक नहीं पहुँचे, लेकिन इतने सूक्ष्म स्कंध तक पहुँचे जिसका वे अणु नाम से प्रयोग करते हैं और उसमें इस दृष्टि से निरखते हैं कि एक-एक जो इनर्जी है वह एक-एक यूनिट है। एक-एक गुण को द्रव्य माना। विशेष बात की तरह। इसकी खोज में भी वे उतरने चले हैं। शब्दों को बताया जाता था कि वे पौद्गलिक हैं, जबकि कुछ दार्शनिकों की मान्यता थी कि शब्द तो आकाश का गुण है। देखिए-दार्शनिक लोग कुछ न कुछ अपनी बुद्धि लगाकर ही बोलते हैं। आज के समय में भी कुछ ऐसा लग रहा होगा कि जब रेडियो बोलता है और आकाश में ही पकड़कर बोलते हैं तो लगता है कि शब्द कहाँ से आए। आकाश से ही तो आए ? लेकिन एक दृष्टि और दीजिए। शब्दों को पकड़ लेना, शब्दों के उसमें ढके रहना और जब चाहें सूई लगाकर उसे प्रकट करना, उसे पकड़ना, ढकना, छेड़ना, निवारण करना यह बात तब ही सम्भव हो सकती है जब कि शब्द मूर्तिक हों, पौद्गलिक हों। तो ऐसी अनेक बातें जो सन्देह में पड़ी थीं उन्हें आज के वैज्ञानिकों ने बहुत कुछ सिद्ध करके बता दिया। तो ऐसी ही जो और-और भी सूक्ष्म बातें हैं वे चाहे आज प्रमाण में तो नहीं आए, लेकिन कभी वे स्पष्ट प्रामणिकता में आ जाती हैं। और, सबसे बड़ी बात एक यह है कि जो-जो विषय युक्ति में उतर सकते हैं— जैसे जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्वर, निर्जरा, मोक्ष, पुण्य और पाप आदिक ७ तत्त्व ९ पदार्थ ये युक्ति में उतरते हैं, और इनमें जब रंच भी कहीं विरोध नहीं है तो ऐसे सूक्ष्म तत्त्व का विवेचन करने वाले वीतराग ऋषी संतों के जितने भी और वचन हैं वे सब भी प्रमाणीक हैं, अपने आप यह आस्था बन जाती है। तो इस मोक्ष शास्त्र के बारे में यह शास्त्र है सूत्र है, यह कैसे जाना? तो पहले इसका प्रथम सूत्र ही देखिए

"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः"—यह जो प्रथम सूत्र है, समस्त मोक्षशास्त्र के सारे सूत्र एक इस सूत्र के ही पोषण के लिए बनाए गए हैं। दसों अध्यायों में जितने भी सूत्र हैं, चाहे विग्रह गति का वर्णन करें, चाहे नरक स्वर्ग का वर्णन करें सभी सूत्रों का प्रयोजन यही है जो यह सिद्ध करता है कि जो प्रथम सूत्र में कहा वह वास्तविक बात है। तो देखिए कैसा पुष्ट आधार है कि जो वचन आए उन ही वचनों के पोषण के लिए समस्त अध्यायों के सूत्र हैं। तो जो समस्त शास्त्र वाक्यों का एक प्रतिनिधि रूप हो ऐसे सूत्र को हम कैसे सूत्र न कहेंगे?

जिज्ञासुता और वक्तृता का योग—अब इस शास्त्र निर्माण विषयक एक सम्बंध की बात देखिए जब कभी भी व्याख्यान होता है तो उसमें दो का सम्पर्क रहता है वक्ता और जिज्ञासु। वक्ता प्रमाणीक न हो अथवा जिज्ञासु न हो तो शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती। यह तो यहाँ की बात है। समवशरण में भी जब तक गणधरदेव न उपस्थित हों तब तक भगवान की दिव्य ध्वनि नहीं खिलती। एक कथन आया है ना कि जब तक मुख्य गणधर नहीं थे तब तक महावीर स्वामी की ध्वनि नहीं खिरी, तो एक ऐसा योग है। जिज्ञासु न हो, जानने की इच्छा रखने वाला किसी भी प्रकार कोई न हो तो वक्ता कुछ बोलेगा तो समझना कि वह उसका अविवेक है। कोई समझना ही नहीं चाहता है और वक्ता जबरदस्ती बोल रहा है तो इसका क्या अर्थ है? जिज्ञासु और वक्ता इन दोनों के मेल होने से व्याख्या की प्रवृत्ति चलती है। जैसे समवशरण में तीर्थंकर और गणधर, तो इसी प्रकार यह महाशास्त्र जो रचा गया है उसमें वक्ता तो हुए उमास्वामी महाराज और जिज्ञासु हुए उनकी बुद्धि में आए हुए ये समस्त भव्यजन, अथवा इसकी एक कथा भी है कि जिसको समझाने के लिए इस महाशास्त्र की रचना की गई है। तो किसी को जिज्ञासा होती है, तब तो ज्ञानीपुरुषकी शास्त्र की प्रवृत्ति होती है। जिज्ञासा के बिना शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती। लेकिन इस जिज्ञासा के सम्बन्ध में ही अनेक दार्शनिकों में अनेक मत हैं। किसी का सिद्धान्त है कि जानने की इच्छा प्रकृति को होती है। देखो उपदेश तो दिया गया आत्मा को और इच्छा जगी प्रकृति को, किसी का मंतव्य है कि ज्ञान के योग से आत्मा ज्ञानी बनता है। आत्मा स्वयं ज्ञान स्वरूप नहीं है, तो उसकी इच्छा भी कोई ज्ञान का सम्बन्ध होने से ही बनती है। स्वयं आत्मा जिज्ञासु नहीं है, तो किसी का इसी विषय में विवाद है, तो जब इस सूत्र को भली भांति समझा जाएगा तो यह विवाद भी अपने आप मिट जाएगा। क्या है दर्शन, क्या है ज्ञान, क्या है चारित्र? इसका विवेचन होने से अनेक समस्याएं अपने आप दूर हो जाएंगी। तो यह शास्त्र एक मोक्षमार्ग को प्रकट करने वाला है और मोक्षमार्ग की व्याख्या में जिज्ञासु तो हैं भव्य जीव औ मूल वक्ता हैं सर्वज्ञदेव। उस परम्परा से भव्यों के कल्याण के लिए इस शास्त्र का अवतार हुआ है।

मूलसंकटहारी तत्त्वार्थ शास्त्र की अभ्यर्थता—जैन सिद्धान्त के ग्रन्थों में मोक्षशास्त्र

ग्रन्थ की बड़ी महिमा प्रकट है, जिसे तत्त्वार्थसूत्र भी बोलते हैं। कई जगह तो दैनिक कार्य-क्रमों में तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ भी किया जाता है उसमें किसका वर्णन हैं? संसार के जीव संसार के संकटों से छूटें, उस उपाय का वर्णन हैं। हम आप लोगों को संकट लगा है तो बस एक जन्म मरण का। देखिए जीवन में किसी भी बात का संकट मत मानों ये हजारों ऊपरी बातें भिन्न हैं, बेकार हैं और अपनी आत्मा को दुःखी बनाती हैं। किसी का वियोग हो गया तो, धन सम्पदा में कुछ क्षति हुई तो, या अन्य कोई बात प्रतिकूल बन गई तो यह कोई संकट नहीं है। इसे संकट संज्ञा मत दीजिए, इसके ज्ञाता दृष्टा रहो। हो रहा है देख लो यह भी हो गया जो हो रहा है वह सब कर्म की माया है, कर्म की लीला है। उसके ज्ञाता दृष्टा रहो। अपना खास संकट यह समझिए कि हमें जन्म मरण करना पड़ रहा है। यहाँ के अन्य संकट कोई संकट नहीं। पहले किस भव से आए, वहाँ क्या साथ था और क्या हमारा अब तक है? तो यहाँ की भी जो संतति है, समागम है वह भी क्या साथ रहेगा? यह तो बिल्कुल भिन्न चीज है, लेकिन व्यर्थ का मोह लगा है, व्यर्थ का भ्रम किए हैं, जिसके कारण निरन्तर दुःखी रहा करते हैं। कहां तो आत्माका एक शुद्ध सहज स्वरूप और कहां भ्रम लगा करके अपने को दुःख में डाले रहते हैं। यह कितनी अविवेक की बात है। संसार में कहीं दुःख नहीं है। जो बाहर की बातें होती है उनसे मेरे को दुःख का सम्बन्ध नहीं है। दुःख है तो केवल जन्म मरण का। मरण की बात तो सब जानते हैं कि बड़ा दुःख होता है, लेकिन मरना नहीं चाहते हैं। मरण के समय में बड़ा दुःख होता है। पर जितना कष्ट मरण में होता है उससे भी अधिक कष्ट जन्म में होता है। जन्म के समय में कुछ बुद्धि ग्रहण नहीं करती अधिक इसलिए ख्याल नहीं है कि जन्म में क्या दुःख होता है, मगर जन्म का दुःख मरण से भी कहीं अधिक है। और अनुमान भी कर सकते। जब कोई मनुष्य गर्भ में आया तो पेट में भला बतलाओ किस तरह से रहना पड़ता है। एक कमरे में जहाँ हवा न आती हो वहाँ ही घबरा जाते हैं, फिर भला बतलाओ जो जीव पेट के अन्दर पड़ा है, औंधा मुख है, शरीर भी अभी पूरा नहीं बना, माँस पिण्ड पड़ा हुआ है कितना दुःख है, और गर्भ से निकलते समय का भी घोर दुःख है। तो जन्म में भी दुःख, मरण में भी दुःख और जन्म मरण के बीच जिन्दगी है उस जिन्दगी में भी दुःख। तो आप देखो हम आप पर दुःख ही दुःख बीत रहे हैं। बाहर से किसी पदार्थ से नहीं किन्तु हमारे मोह से, हमारी कल्पना से, हमारे विचार से हम पर दुःख ही दुःख मंडरा रहे हैं। अब इस दुःख से छूटने का उपाय बना लो तो आपका जीवन सफल है; जैन शासन का सुयोग मिला है वह सफल हो जाएगा; सदा के लिए संकटों से छूट जाएगा। ऐसे उपाय की महिमा को कौन बता सकता। तो वह उपाय बनाओ और बाहरी कोई सम्पदा का आना, घर में रहना, लोगों में रहना इन सब बातों को पुण्य पाप के भरोसे छोड़ दीजिए। जैसा उदय है वैसा होगा चिन्ता से कुछ नहीं होता। आप तो हर स्थिति में तैयार रहें, संकट आए तो वहाँ भी हम तैयार हैं। क्या संकट है? ये सब बाहर की बातें हैं। आएं तो आएं,

न आएं तो न आएं। तो अपने आप में विकल्प होते, जन्म-मरण होते, यह ही बड़ा संकट है। इस संकट से छूटने का उपाय इस मोक्षशास्त्र में बताया है।

संकटों से छूटने के उपाय का संदर्शन—पहले ही सूत्र में कहा गया कि 'सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः' संसार के संकटों से छूटने का उपाय सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यकचारित्र है। सम्यग्दर्शन अर्थात् आत्मा के सही स्वरूप का विश्वास होना कि यह मैं हूँ। जैसे कि संसारीजन, मोहीजन का इनके विपरीत ख्याल बना है मैं मनुष्य हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं पिता हूँ अन्य-अन्य अनेक श्रद्धा बनाते हैं अपने बारे में, वह बात सत्य नहीं है। सत्य तो यह है कि मैं केवल ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ, देखो इतनी बात कभी दृष्टि में आ जाए तो आप अमीर हैं। आप परमात्मा के लघुनन्दन हैं, आपकी पवित्रता की कौन महिमा गा सकेगा? अगर दृष्टि में यह बात समा जाए कि मैं तो ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ, इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। सम्यग्दृष्टि की महिमा चाहे वह संयम न पाल सक रहा हो फिर भी वह बड़े-बड़े इन्द्रों द्वारा महनीय होता है। सुख शान्ति जिसमें मिले वह बात कही जा रही है। धर्म करते हैं रोज-रोज, पूजन बंदन आदि करते हैं तो देखो इसका भी कितना प्रभाव पड़ता है कि रात दिन जो अनेक संकट सहते हैं, अनेक कषायें जगती हैं, अनेक विकल्प जगते हैं तो घंटे भर धर्म ध्यान में चित्त लगे तो एक आराम मिलता है और एक अपनी फिर तैयारी हो जाती है। कुछ बरबाद हो गए, दुःखी हो गए, फिर धर्म काम में लगने से अपने आत्मा की एक तैयारी हो जाती है। फिर संकट में आ जाते हैं, तो गृहस्थी में यह ही बात तो हो रही है कि धर्म किया कुछ ठीक हुए, फिर विकल्पों में आ गए, इसे बताया है आचार्यों ने हस्तिस्नान। हाथी स्नान करता है तो उस समय तो ठीक है, मगर बाद में पानी से बाहर निकला कि अपने ऊपर धूल कीचड़ डाल लेता है इसी तरह लोग धर्म करते हैं, बाद में फिर वही विकल्प किए जाते हैं, दुकान करना, ग्राहकों से बोलना, मोहियों में रहना, तो ऐसा होने पर भी जो रोज-रोज धर्म में समय बिताया जाता है तो वह एक रक्षा करने वाला कर्त्तव्य है। हमारा समय धर्म में न बीते तब तो फिर पूरी बरबादी है। तो कोई धर्म ऐसा मिल जाए, कोई प्रकाश ऐसा मिल जाए कि जिसमें सम्यक्त्व पैदा हो, संकटों से सदा के लिए छूटने का उपाय बन जाए, उससे बढ़कर जगत में कोई चीज नहीं है। बात कही जा रही है अपने-अपने आत्मा की। लोग अपने-अपने पर घटा लो कि किसी समय यह चैन मानना है क्या? कोई मौज में चैन भी माने तो वहाँ पर भी कष्ट ही पा रहा। चैन तो एक मानने की है। तो चैन किसी बाहिरी बात से नहीं है। बस आत्मा का ज्ञान न रखना, इसे श्रद्धा में न लेना इससे बेचैनी है। मैं तो सिर्फ ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मेरा वैभव है, मैं ज्ञान को ही साथ लेकर जाऊँगा, ज्ञान ही यहाँ रक्षा करने वाला है, ज्ञान को ही मैं कर सकता हूँ, ज्ञान को ही मैं भोग सकता हूँ, ज्ञान ही मेरी दुनिया है, मेरे ज्ञानस्वरूप को छोड़ कर दुनिया में मेरा ओर कुछ नहीं है, इस बात पर जब तक नहीं डट पाते, और बाहर में दृष्टि करते, और यह शरीर

मल मूत्र आदि का पिण्ड सुहावना लगता, इसमें रति करते, इसमें राग बनाते, सो ये संकटों में पड़े हैं देखो ये संकट भी लग रहे हैं उन्हें भी भोगते जा रहे हैं फिर भी संकटरहित जो आत्मा का स्वरूप है उसकी सुध नहीं बना पाते। यही कारण है कि यह संकट जीवन भर बना रहता है। इन संकटों से मुक्ति प्राप्त करना होगा, मोक्ष प्राप्त करना होगा, उस ही मोक्ष का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जा रहा है।

सम्यग्ज्ञान में ही प्रकाश का अभ्युदय—अपने आत्मा का विश्वास बनाओ कि मैं आत्मा सबसे निराला ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ, आत्मा को पहिचानने के लिए ऐसा ज्ञान बनावें कि मैं तो केवल इतना ही हूँ इससे बाहर कुछ नहीं हूँ। जिस कुटुम्ब में इतना मोह बना रखा वे जीव उतने ही न्यारे हैं जितने न्यारे दुनिया के कीड़े-मकोड़े जीव हैं। घर के ये लड़के, बहुवें नाती पोते, स्त्री आदि जीव उतने ही न्यारे हैं जितने कीड़े-मकोड़े के जीव न्यारे हैं। अब मोह की बात अलग है कि मोह में ऐसा मान रखा कि ये सब मेरे हैं, और यह ही तो कारण है दुख का। देखो वियोग तो नियम से होगा, उसे तो कोई रोक नहीं सकता। जिन-जिन का संयोग है उनका वियोग नियम से होगा। चाहे आपका ही पहले मरण हो जाए या किसी दूसरे का, पर वियोग नियम से होगा। उस वियोग के समय में यह जीव बड़ा कष्ट मानता है। वह कष्ट है अज्ञान का। ऐसा अज्ञान बसा रखा, मोह बसा रखा कि वह मेरा ही था, मेरा ही है अरे कहाँ था आपका? कहीं से आया, थोड़े समय को रहा, फिर चला गया। तो जब तक सम्यग्ज्ञान का प्रकाश नहीं होता तब तक जीव को प्रसन्नता नहीं आ सकती। यह निश्चित बात है। धन में शान्ति थोड़े ही है। धन तो एक अजीव पदार्थ है, जड़ है, पौद्गलिक पदार्थ है, उससे शान्ति नहीं मिलती वह तो आता है पुण्य के अनुसार। जितना आना हो आए, न आना हो न आए। वह शान्ति का धाम नहीं है। शान्ति तो आत्मा के स्वरूप में बसी हुई है। जब हम अपने को ज्ञान में लेते हैं तो शान्ति मिलती है, आनन्द मिलता है। जब हम किसी पर में लगाव लगाते हैं तो कष्ट मिलता है। तो अब कुछ अपने को समझाना होगा। उम्र बहुत गुजर गई। इस रही सही उम्र में अपने आत्मा का प्रतिबोधन करना होगा। हे आत्मन्! तू तो पवित्र है, भगवत्स्वरूप है, ज्ञानानन्दमय है। तेरे पर कष्ट का नाम नहीं। तेरे को जाने बिना तेरे से अलग होकर अब तक कष्ट पाए। क्या यह कुछ तेरा रहेगा?

आत्मवेत्ता की निरापदता—देखिए जैसे कोई बड़ा अफसर हो और उसका कहीं तबादला हो रहा हो, उस तबादले से उस अफसर को कोई कष्ट है क्या? अरे उसे तो माल लेजाने के लिए रेलगाड़ी का एक पार्सल डिब्बा मिलेगा, अनेक नौकर चाकर सामान चढ़ाने वाले मिलेंगे। परिवार को ले जाने के लिए अलग से एक रेलगाड़ी का आराम देह डिब्बा मिलता है। जहाँ पहुँचेगा वहाँ भी रहने के लिए मकान खाली पड़ा है। सेवा करने के लिए नौकर तैयार हैं। स्वागत करने के लिए अनेक लोग तैयार हैं। बताओ उस आफीसर को क्या

कष्ट? उसे तो उस रेलगाड़ी में चढ़ने और उतरने का काम करना है। कष्ट तो छोटे-छोटे लोगों को होता है जैसे मास्टरों को, क्लर्कों को उन्हें कहीं मकान खोजना पड़ेगा, सामान को बड़ी मुश्किल से ले जाना होगा। पर उस बड़े आफीसर को तबादले में क्या कष्ट? ठीक ऐसे ही जो ज्ञानी आत्मा है, जो सम्यक दृष्टि जीव है वह भी जब यहाँ मरण करता है तो उसे उस समय क्या कष्ट? वह तो जानता है कि मेरा तो सब कुछ मेरे साथ जा रहा है, जो मेरा है वह मेरे से कभी छूट नहीं सकता, और जो मेरा है ही नहीं वह मेरे में कभी आ नहीं सकता। मेरा वैभव है ज्ञान दर्शन आनन्द स्वरूप ज्ञान ज्योति। इसी में ही मैं तृप्त रहता हूँ। यह मेरा वैभव मेरे से कभी छूट नहीं सकता, और तो सब बाहरी बातें हैं। तो जब अपने आपमें आत्मा का बोध हो तो इस जीव को शान्ति मिलेगी। यह ही हुआ सम्यग्ज्ञान। और अपने आत्मा का ऐसा स्वरूप जानकर यहाँ ही तृप्त रहना, संतुष्ट रहना। मेरे को अधूरा काम कोई नहीं पड़ा है। मेरे को कोई आपत्ति नहीं है कहीं। मैं ज्ञान स्वरूप हूँ, आनन्दमय हूँ इस ही में मैं तृप्त रहता हूँ, सुखी हूँ, शान्त हूँ, स्वयं महान हूँ। तो आत्मा में तृप्ति करे, मग्न हो जाए, लीन हो जाए यह ही है सम्यक्चारित्र। ये सब ज्ञान के विकास ही तो हैं। ज्ञानविकास में ही निरापदता है।

मोक्षशास्त्र की महाशास्त्रता—मोक्षशास्त्रग्रन्थ में सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन है, इसीलिए यह महाशास्त्र कहलाता है। यहाँ कोई ऐसी समस्या रख सकता है कि शास्त्र तो वह ही होना चाहिए जिसमें रत्नत्रय का वर्णन हो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का वर्णन हो। लेकिन कुछ शास्त्र ऐसे हैं कि जहाँ सम्यग्दर्शन का ही वर्णन है जैसे समयसार। कुछ शास्त्र ऐसे हैं कि जिनमें सिर्फ ज्ञान ज्ञान का ही वर्णन है— जैसे न्यायशास्त्र। और कुछ शास्त्र ऐसे हैं कि जिनमें सिर्फ चरित्र का ही वर्णन है जैसे श्रावकाचार, मूलाचार आदि। तो क्या वे शास्त्र नहीं कहलाते? शास्त्र नाम तो उनका बताया गया है कि जिनमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों का वर्णन हो। तो यहाँ समाधान यह लेना कि उनमें भी तीनों का ही वर्णन है। हाँ मुख्यता की बात अवश्य है। किसी में ज्ञान की मुख्यता है, किसी में चारित्र की मुख्यता है, किसी में सम्यक्त्व की। तो मोक्षमार्ग तो ये तीनों हैं, जैसे इस गाँव से २० मील दूर जाना है किसी शहर में तो जाने का मार्ग तो यहीं से शुरू हो गया। जब आप आधी दूर पहुँच गए तो वह आधा मार्ग हो गया। जब आप उस शहर के बीच में पहुँच गए तो वह मार्ग आप पार हो गए। तो इसी तरह मोक्ष में जाने के लिए सम्यग्दर्शन भी मार्ग है। वह पहले का मार्ग है। सम्यग्ज्ञान भी मार्ग है और सम्यक्चारित्र भी मार्ग है। इसीलिए तो रत्नत्रय को अगर हम ७ अङ्कों में पेश करें तो कर सकते हैं। देखो तो तीन चीजें होती हैं उनका हम ६ तरह से स्वाद ले सकते हैं। यही सप्त भङ्गी कहलाता है। यही स्याद्वाद है। जैसे तीन चीजें कुछ भी रख लो नमक, मिर्च, जीरा। तो देखो एक तो इन तीनों का अलग-अलग स्वाद लेने पर ३ स्वाद हो गए नमक, मिर्च और

जीरा। अब नमक, मिर्च मिलाया तो यह ५ वाँ स्वाद हुआ। मिर्च, जीरा मिलाया तो यह छटा हुआ, और नमक, मिर्च, जीरा इन तीनों को मिलाया तो यह ७ वाँ स्वाद हुआ। तो जहाँ तीन बातें होंगी वहाँ ७ ढंग बनेंगे, इसी तरह सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र ये तीन तत्त्व हैं। इनकी भी सप्त-भङ्गी बना लीजिए—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र ये तीन भङ्ग हुए, अब सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान यह चौथा भङ्ग हुआ, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह पाँचवा भङ्ग हुआ, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह छटा भङ्ग हुआ और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों से मिलाकर एक ७ वाँ भङ्ग हुआ। माने जो शास्त्र हैं उनमें ७ तरह की बातें मिलेंगी। कोई ग्रन्थ ऐसे हैं कि जिनमें केवल सम्यक्त्वका वर्णन है, किसी में दो का वर्णन है और किसी में तीनों का वर्णन है। हैं वे सब सत्यशास्त्र, तो इस मोक्षशास्त्र में आप तीनों का वर्णन पाएंगे, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। और दसों अध्याय भी इस सूत्र का पोषण करते हैं, ऐसा यह मोक्षशास्त्र ग्रन्थ है, जिसकी हम आप लोग भक्ति करते हैं, अर्घ भी चढ़ाते हैं। दशलक्षण पर्व के दिनों में लोग दसों अध्याय के सूत्रों के अर्घ भी चढ़ाते हैं। तो इतना तो जानें कि उनमें बात क्या लिखी है। चीज क्या है, उसकी महिमा क्या है? इतना ज्ञान कर तो जरूर करना चाहिए। तत्त्वार्थ सूत्र की अनेक हिन्दी टीकाएं हैं। कोशिश करें कि हम उन सूत्रों का पूरी तरह से अर्थ जान जाऐं। इस तत्त्वार्थ सूत्र के अर्थ के जानने में आप जैन शासन का बहुत सा रहस्य जान लेंगे। यह मोक्षशास्त्र ग्रन्थ प्रामाणीक है, क्योंकि सर्वज्ञदेव की परम्परा से चला आया है। सर्वज्ञदेव ने तीन लोक तीन काल की बात को जाना। देखो, हम आपको ज्ञान हैं ना, सो बहुत सी बातें जानते हैं ना, कोई बात बहुत जानते कोई कम जानते, तो हम आपके साथ कर्म हैं, इतने पर भी हमारा ज्ञान बना हुआ है। और, जैसे सूर्य के नीचे बादल आ जाए तो बादल के आ जाने पर भी यहाँ प्रकाश बना रहता हो और बादल हट जाए तब तो एकदम तीव्र प्रकाश हो जाएगा इसी तरह हम आपके आत्मा पर कर्म के बादल छाए हुए हैं इतने पर भी तो हमारा ज्ञान जगता रहता है! कर्म हटें तो हम आपका ज्ञान तीन लोक तीन काल की सर्व बातों को जानने वाला हो जाएगा। इसी के मायने परमात्मा है।

कषायों को दूर कर परमात्मत्व प्राप्त करने के लक्ष्य की महनीयता—भैया जीवन में एक यह संकल्प बने कि मुझे तो परमात्मा होना है। जैसे चित्त में रहता है ना कि मुझे तो लखपति बनना है, करोड़पति होना है तो ये सब बेकार बातें हैं। अरे उदयानुसार जो हो सो होने दो, उसी में गुजारा चलता है। जिन्दगी ही तो चलाना है। जिन्दगी हर तरह से चल सकती है, उसके लिए अधिक आकाँक्षाएं मत रखो। देखिए-जैन शासन का यदि सदुपयोग करना है तो यह चित्त में दृढ़ता लावो कि मेरे को अन्य कुछ नहीं बनना है, यह चित्त में भावना बनाएं, बाकी सब बातें बेकार हैं। क्या है! कोई बड़ा धनिक हो तो अब भी कष्ट, और जब उसे छोड़कर जाएगा तो मरण के समय मोह का बड़ा कष्ट। क्या लाभ हुआ उससे?

और अपने आत्मा के ज्ञान की बात पायी, जिस समय दृष्टि दी अपने आपके स्वभाव की और उसी समय आनन्द हैं। लोग चाहते हैं कि दुनिया के लोग मुझे बड़ा समझें और इसीलिए कोई धन बढ़ाने की कोशिश में है। कोई कुछ उपकार करने की कोशिश में है। कोई देश सेवा करने की कोशिश में है, कोई नेतागिरी की कोशिश में है, बस एक इस चाहे से कि दुनिया के लोग समझ जाएं कि यह फलाने भी कुछ हैं। अरे यह विचार तो करो कि ये दुनिया के लोग कोई भगवान हैं क्या? ये कोई मेरा संकट मेट सकने वाले हैं क्या अथवा ये कोई पवित्र जीव हैं क्या? ये कुछ ढंग के लोग हैं क्या? अरे ये कर्म के प्रेरे स्वयं दुःखी, जन्म मरण के संकट सहने वाले, गरीब, मिथ्यात्व के भार से पीड़ित कषायों से मलिन, उनकी निगाह में हम बड़ा क्यों बनना चाहते? क्या लाभ मिलेगा? उन्होंने अपनी गरज से अगर कुछ समय कोई प्रशंसा की बात कह दी तो उससे आत्मा को कौन लाभ मिल गया? इसे छोड़ें भीतर से। हम तो जिन्दा हैं धर्म के लिए। गुजारा करना है और अपना समय हमें धर्म मे लगाना है। आत्मज्ञान करें, आत्मध्यान करें, मंद कषाय करें, दूसरों को क्षमा कर दें। देखो धर्म तो हमारे सहज भाव से जब चाहे आ सकता है किसी पर क्रोध बनाने की आदत रखें तो इससे अपने को कुछ लाभ है क्या? बल्कि कष्ट ही कष्ट है, दूसरों को क्षमा करने की आदत रखें तो अनेक कष्ट दूर होंगे और दूसरों के प्रति भलाई का काम करना चाहेंगे। हम घमंड छोड़ दें, नम्रता से रहें और दूसरों का आदर करें, दूसरों का बड़प्पन बताएं तो इससे देखो इस वक्त भी आप आनन्द में रहेंगे और मुक्ति का मार्ग भी मिलेगा। लोग मायाचार करते हैं सुखी होने के लिए, लेकिन मायाचार में कोई सुखी रह सकेगा क्या? रात दिन कष्ट रहता है, क्योंकि मायाचारी पुरुष को निरन्तर शल्य बना रहता है। और, मायाचार छोड़ दें, सरलचित्त हो जाए तो दूसरों के विश्वासपात्र हो जाएंगे। स्वयं सुखी हो जाएंगे। दूसरे भी सुखी हो जाएंगे तो सरलता से रहना चाहिए। लोभ कषाय में कितने कष्ट पड़े हुए हैं। दूसरों की आस्था नहीं बनती है। स्वयं ऐसी उधेड़ बुन में रहा करते हैं। जीवन बेकार सा हो जाता है। लोभ कषाय का त्याग कर दें यानी अपने कुटुम्ब के पालन पोषण में भी उदारता बर्तें, दीन दुखियों के उपकार में भी उदारता बर्तें, धर्म की प्रभावना में भी उदारता बर्तें। तो धन तो एक ऐसी छाया है कि इसका सदुपोग करें तो मिटता नहीं है और इसको रखें रहें तो यह रहता नहीं है। किसी न किसी बहाने से निकल जाएगा। तो इस लोभ कषाय का अन्तरङ्ग से त्याग हो। तृष्णाका त्याग हो, तो उदार चित्त बनने में देखो कितनी महिमा बढ़ती है, आत्मा में प्रसन्नता होती है। तो कषायों को दूर करना, मोह को दूर करना, भगवत् स्वरूप में भक्ति रखना, अपने आत्मा को सबसे निराला एक ज्ञानस्वरूप रखना यह बात अगर हो रही है तो समझ लो कि यह स्वभाव संस्कार साथ जाएगा। अगले भव में भी आनन्द पाएगा और यदि यह ज्ञानस्वरूप निगाह में नहीं है, यहाँ का मोह ही बसता है तो यह जीवन भी बरबाद है

और आगे भी कुशलता नहीं है। तो ऐसे संसार के संकटों से छूटने का उपाय इस मोक्षशास्त्र में कहा गया है।

अन्तरात्मत्व की सिद्धि में कल्याण लाभ—जगत में जितने भी जीव हैं वे सब जीव तीन प्रकार में से किसी प्रकार के हैं। वे तीन प्रकार क्या हैं? बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा। बहिरात्मा उन्हें कहते हैं जो आत्मा से बाहर की चीज को आत्मा मानते हैं। नाम ही बहिरात्मा है। बहि मायने बाहर की वस्तु, उसको आत्मा मानना। जैसे शरीर को और जीव को एक माना जाए वह बहिरात्मापन कहलाता है। अन्तरात्मा उसे कहते हैं कि जो अन्दर की चीज को, अपने आपके भीतरी स्वरूप को आत्मा माने उसे अन्तरात्मा कहते हैं। याने ज्ञानस्वरूप अपने आत्मा में यह मैं हूँ ऐसी जिनको श्रद्धा हुई उन्हें अन्तरात्मा कहते हैं। परमात्मा किसे कहते हैं? जो आत्मा परम हो गया है, परम याने उत्कृष्ट हो गयी है याने आत्मा के जो गुण हैं वे पूरे प्रकट हो गए हैं। ज्ञान और आनन्द जहाँ उत्कृष्ट हो गया है उसे परमात्मा कहते हैं। अब यह छटनी कर लें कि हम बहिरात्मा हैं कि अन्तरात्मा हैं कि परमात्मा हैं। अपनी बात सोचो कि हम क्या हैं? अगर बाहर की वस्तु में आत्मा स्वीकार है— देह मैं हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं पंडित हूँ, मैं मूर्ख हूँ, मैं त्यागी हूँ, मैं मनुष्य हूँ, मैं स्त्री हूँ आदि रूप से अगर श्रद्धा बन रही है अपने आपकी तो समझो कि वह बहिरात्मा है। बहिरात्मा, मूढ़, मोही, मिथ्या दृष्टि ये सब एक ही बात कहलाते हैं। इनसे नफा न मिलेगा, बहिरात्मा की दशा में कुछ लाभ न मिलेगा। देखो कहते हैं कि धर्म की बात बड़ी कठिन है परन्तु कठिन नहीं। क्रिया चारित्र भले ही कठिन हो, मगर जो बात जैसी है उसे उस तरह समझ लेवें तो यह बात क्यों कठिन लगे? हर एक कोई सच जानना चाहता है। जो लोग झूठ जान रहे हैं वे भी सच जानकर जान रहे हैं। तो हम सबमें एक ऐसी आदत पड़ी है कि हम सच जानना पसंद करते हैं, झूठ जानना नहीं पसंद करते। झूठ भी जानते हो, झूठ मानते हो तो उसे झूठ समझकर कोई नहीं मानता। सत्य समझ कर ही मानता। तो आखिर आदत तो सत्य मानने की पड़ी है, झूठ मानने की आदत नहीं पड़ी है। तो वह भी बड़ी अच्छी बात है कि हम सब जीवों को सच जानने की इच्छा रहा करती है। तो जरा अब सच जान लें। झूठ को सच मानकर मत रहें, सच को सच मानकर रहें। क्या इसमें कोई सन्देह है कि हम मरेंगे अथवा नहीं? अरे इसमें संदेह की क्या बात? एक दिन सभी मरेंगे। मरने का अर्थ क्या है? देह यहाँ पड़ा रहेगा। हम यहाँ से विदा हो जाएंगे। जानते हैं क्या? केवल बात-बात तो कर लेंगे, पर भीतर में वह दृश्य न बना पायेंगे कि आखिर आएगा वह समय जब कि इस देह को छोड़कर यों चले जाएंगे और लोग इस देह को जला देंगे। जैसे कि हमने दूसरों के देह जलाये। हम यहाँ न रहेंगे, ऐसा भीतर में सच्चा भाव नहीं जगता। तो जानते भी है और नहीं भी जानते। ऊपरी-ऊपरी समझते हैं, पर भीतर में यह श्रद्धा नहीं है कि हम मरेंगे, निश्चित मरेंगे। शरीर छोड़कर हम आगे जाएंगे। देखो बहुत सी घटनाएं ऐसी मिलतीं कि खूब हट्टा-कट्टा जवान

छोटी उम्र का, जिसके मरण का कोई आसार न था और अचानक ही ५ मिनट में साफ हो गया। तो ऐसे ही सोचो कि क्या हम आप भी उसी तरह से कभी साफ न हो सकते थे अर्थात् मरण को प्राप्त न हो सकते थे ? कहो गर्भ में ही मर जाते, कहो छोटी उम्र ही मर जाते। कभी भी मर सकते थे। लेकिन आज तक भी जीवित हैं तो यों समझो कि हम मुफ्त में जीवित हैं। अब तो अपने जीवन का अधिक समय लगावें ज्ञान में।

ज्ञानाभ्यास का यत्न होने पर ज्ञानानुभव की सुगमता का परिचय—भैया ज्ञान की बात कठिन यों लगती कि अभी उसके अभ्यास में आए नहीं, उसके अभ्यास में आना ही नहीं चाहते। भैया हम तो देखते कि व्यापार करना बड़ा कठिन काम है। कहाँ से माल लाना, कहाँ भेजना, कहाँ रखना, कैसी व्यवस्था करना, यों कितने ही झंझट हैं, पर व्यापारियों को ये काम बड़े सुगम लग रहे हैं। क्यों सरल मालूम होते कि उनमें कुछ अभ्यास बन गया है। तो अभ्यास से सारी चीजें सरल हो जाती हैं। अगर हम ज्ञान की दिशा में एक अध्ययन करते हुए कुछ बढ़ें। जैसे यहाँ पंडितजी रहते हैं तो बड़े-बड़े लोग भी अगर एक ग्रन्थ पढ़ने का समय रखें २०-२५ मिनट प्रतिदिन तो एक साल के अध्ययन से ही वह दिशा मिल जाएगी कि कठिन से कठिन बात ठीक-ठीक समझ सकते हैं। तो अपना ज्ञान बढ़ाने के लिए उत्साह जगाएं। अब जीवन पलट लीजिए। इन भौतिक पदार्थों की ओर ही अपना झुकाव न रहना चाहिए, किन्तु होता रहता है। वह तो होता है। उसके करने वाला कौन? कोई चक्रवर्ती होता है तो क्या वह एक-एक राजा को जीत कर होता है? उनके पिता मंडलेश्वर होते थे वे उत्पन्न हुए कि चक्री हो गए फिर उनका अपना कौतुहल है दिग्विजय को जाते हैं, अर्थात् जिनके सम्पदा आती है तो कहते तो हैं लोग ऐसा कि एक-एक बूँदकर के तालाब भरता है। थोड़ा-थोड़ा धन आकर धनिक होता, पर ऐसी बात नहीं। पुण्य का उदय होता है तो अचानक ही कहीं से सम्पदा बरस जाती है। एक-एक बूँद करके भी आता और एकदम अचानक करके भी आता, तो ये बाहरी बातें हैं, इनमें आत्मा की करतूत नहीं। एक सम्यग्ज्ञान भर करना है, इस देह के भीतर जो गुनगुनाता है समझता है, सोचता है। चिन्तन करता है। दुःखी होता है वह भीतर में है क्या, किस रंग का है। क्या मिलता है, कैसे दुःखी होता है, कैसे दुःख मिटेगा? ऐसी एक भीतर की गुत्थी न सुलझाएंगे तो बाहर के किसी भी परिश्रम से आत्मा का भला नहीं होने का। बहिरात्मापन को छोड़ें, अन्तर्मुखी होकर मैं अपने आपमें अपने वैभव को जान सकूँ। जब अन्तरात्मा हो जाती है तो वह इस अन्तस्तत्त्व का आलम्बन करके कर्म का क्षय करता है और परमात्मा हो जाता है।

सर्वाधिक बड़प्पन—भैया सब में यह चाह है कि मैं ऐसा बनूँ जो सबसे ऊँचा कहलाऊँ और फिर कभी मिटूं नहीं। जैसे कोई धनी होना चाहता तो उसके मन में यह भावना रहती है कि मैं फिर मिटूं नहीं। वैसा ही धनिक बना रहूँ। कोई यह नहीं सोचता कि मैं कम

रहूँ और जो बने सो मिट जाए। चाहे हो जाए वह बात अलग है, मगर कोई सोचेगा कि मैं बड़ा बनूँ और बड़ा बनकर फिर कभी हल्का न होऊँ। तो यह ही बात आचार्य कह रहे हैं कि आप बड़े बनें और ऐसे बड़े बनें कि जैसा बड़ा बनने के बाद फिर कभी उससे हल्के न हो सकें। वह चीज क्या है? परमात्मा। परमात्मा बनें, जिसके बाद कभी वह छोटा हो ही नहीं सकता। और परमात्मा पद के सिवाय बाकी जितनी स्थितियाँ हैं संसार की उनमें विश्वास नहीं है। कुछ बड़े बनेंगे फिर मिट जाएंगे, छोटे होंगे देव भी मरकर पेड़-पौधे हो सकते, एकेन्द्रिय हो सकते। तो संसार में और बड़प्पन क्या है? इसको बड़प्पन मत समझो। देखो धर्म के नाम पर, आत्मदया के नाम पर ये सारी बातें समझनी होगी कि यह कोई बड़प्पन नहीं कहलाता। यह तो कीचड़ है। यह तो माया है। यह तो स्वप्न की तरह है। इसका नाम बड़प्पन नहीं। बड़प्पन है तो अपने रत्नमय में बड़प्पन है। सम्यग्दर्शन हो, सम्यग्ज्ञान हो, सम्यक्चारित्र हो। अब यह बतलावो कि परमात्मा जिनेन्द्र अरहंत उनकी मूर्ति बनाकर बड़े-बड़े लोग भी पूजने के लिए, दर्शन के लिए क्यों आते हैं? देखने को तो यह मिलता कि कुछ नहीं मिलता। जैसे कि जो लोग मूर्तिपूजा को नहीं मानते वे यही तो कहते हैं ना कि ये लोग क्यों व्यर्थ में इस मूर्ति को पूजने आते हैं? कुछ मिलता है क्या? बात यह है कि वास्तविक बड़प्पन परमात्मपद में ही है। और इतना महत्त्व है, इतना बड़प्पन है कि हम उस ही बड़प्पन के प्रति झठ झुक जाते हैं कि उसके नाम की मूर्ति पूजते हैं। जैसे किसी को अपने पिता के प्रति बड़ा अनुराग है तो पिता के गुजरने पर या रहने पर भी उस पिता का फोटो बनवाता है और उस फोटो का आदर करता है, इसी तरह भगवान में हमें इतना अनुराग है कि हम उनकी मूर्ति पूजते हैं? तो वास्तविक बड़प्पन परमात्मा दशा में है। संसार की चीजों में बड़प्पन मत मानें। देखों एक मानने की ही बात कही जा रही है। कोई तपश्चरण की बात तो नहीं कह रहे कि इतना कष्ट करो। एक जो यथार्थ बात है उसको मान लो, भला हो जाएगा। एक वास्तविक बड़प्पन है परमात्मस्वरूप में, अन्य में नहीं, यह विश्वास बनाओ और फिर जो अधिक धनी दिखें, उनसे देखकर ऐसी लालसा न करें कि मैं ऐसा हो जाऊँ। जैसा भवितव्य है सो होने दो। हमारा काम तो गुजारा करने का है और धर्म में विशेष चित्त लगाने का है। किसी धनिक को देखकर उसका बड़प्पन न समझें। चक्रवर्ती भी हो जाते हैं. फिर भी उसे वे महान नहीं मालूम होते हैं। छह खण्ड का राज्य मिल जाये उसमें भी कोई महत्ता की बात नहीं है। हां महान होता है परमात्मा। एक अपना ऐसा सच्चा निर्णय बना लें कि यहाँ से कोई भी स्थिति बड़प्पन के लायक नहीं है। प्रधानमन्त्री हो गए, राष्ट्रपति हो गए, या संयुक्तराष्ट्रसंघ के मंत्री हो गए, या कोई भी पद हो यहाँ बड़ा से बड़ा पद समझा जाता हो, वह कोई भी स्थिति बड़प्पन के लायक नहीं हैं। वह तो सब कर्मलीला है। जो जितना अधिक ऊँचे उठेगा वह गिरेगा तो उतनी ही अधिक चोट आयगी। जो जिसमें जितना अधिक बढ़ गया यहाँ वह उसके पीछे उतना ही अधिक कष्ट मानेगा। तो क्या है जगत की दशा।

जैसे कोई अनजान आदमी गहरे पानी में गिरकर गोते खाता है, इसीतरह यहाँ संसार में भी यह प्राणी गोते लगाता रहता है। तत्त्व कुछ नहीं मिलता। आत्मत्त्वकी सही श्रद्धा बना लें तो नियम से पार हो जाऐंगे। आपकी वास्वतिक बात मिल जाएगी। आत्मा की दृष्टि बने, रागद्वेष मोहरहित अवस्था बने, ज्ञान में ही तृप्त होने की स्थिति बने, ऐसा सहज आनन्द जगे वहाँ बड़प्पन है। बाहरी चीजों में बड़प्पन नहीं है। तो यह है मोक्ष। जो परमात्मा का स्वरूप है उसी को ही मोक्ष कहते हैं। ऐसे मोक्ष का कोई उपाय जानना है ना। जानना ही चाहिए। संसार के संकटों से हम छुट जायें, इसका उपाय अवश्य ही जानना चाहिये। तो वही उपदेश इस मोक्षशास्त्र में चलेगा।

आत्मार्थियों के लिए ग्रन्थ की प्रयोजकता—यह उपदेश किसको दिया जा रहा है? जिन्होंने यह ग्रन्थ बनाया उन्होंने किसके लिए बनाया, किसके लिए यह प्रयास किया? जिसके यह भावना जगी कि आत्मा का हित क्या है? आत्मा का संसार से छुटकारा होने की क्या स्थिति और उपाय है, ऐसी जिनकी इच्छा जगी हो उनको ही सुनाया जा रहा है। कहीं भी हो। अब वहीं सभा में हम जबरदस्ती आप लोंगो को सुनायें और आप सुनना ही न चाहें तो वहाँ सुनाने से न आपको लाभ है न हमको। आपको जिज्ञासु जानकर बोलें तो हमने भी लाभ पाया, आपने भी। यही बात शास्त्र रचने के प्रसंग में होती है कि उस मोक्ष के जानने का, मोक्ष के उपाय का जिसको भाव हुआ हो, जो जानना चाहता हो वह हो सामने या ऐसा जीव आचार्य की दृष्टि में हो तो उनसे यह ग्रन्थ रचना बन सकती है। तो मोक्षमार्ग को जानने की इच्छा होती है, क्योंकि आत्मा है ना। सभी भला चाहते। अपनी भलाई का उपाय समझने की सबके इच्छा जगती है, बस उसी आधार पर यह ग्रन्थ आचार्य संतों ने बनाया है। क्या बताया जाएगा इस ग्रन्थ में? मोक्षमार्ग। रोज-रोज सूत्र जी पढ़ते हैं और प्राय: करके कुछ महिलायें सूत्र पाठ करके ही भोजन करती हैं। उस सूत्र में क्या महिमा पड़ी हैं जो इतना नियम बनाया जाता कि रोज पाठ करना आदर-आदर तो बहुत है, पर आदर की चीज क्या है, इसका उनको पता नहीं। आस्था बहुत है। उसके बिना यह समझा कि हमने धर्म नहीं किया, पर चीज क्या है इसका पता नहीं। जिसके प्रति इतनी आस्था है उसका कोई अर्थ समझ जाए तो फिर उसकी आस्था का कहना ही क्या है? क्या भरा है इस मोक्षशास्त्र में? इसमें जीवों के संसार के संकटों से छूटने का उपाय बताया है। कैसे छूटें? मोक्षमार्ग बताया है। कोई सोचेगा कि इसमें मोक्ष का उपाय बताया है। उससे पहले तो मोक्ष बताना चाहिए कि मोक्ष क्या चीज है? उपाय तो पीछे बताना चाहिए। सो देखो, मोक्ष के बारे में किसी को तो विवाद नहीं।

किसी न किसी रूप में मोक्ष को स्वीकार करते ही हैं। संकटों से छूटने का नाम मोक्ष है। अब इसकी और क्या बात जानना? छूटने का उपाय है, यह समझने की चीज है, जैसे

किसी एक गांव को जाना है। तो उस दिशा में रहने वाले लोगों को तो कोई विवाद नहीं, किन्तु किस रास्ते से जाना है इसमें विवाद है, इसी तरह मोक्ष के प्रति किसी को विवाद नहीं। मोक्ष सभी चाहते हैं, कर्मों से छुटकारा सभी चाहते हैं, पर उनके मार्ग में विवाद है। कोई कहता है कि सिर्फ ज्ञान-ज्ञान से ही मोक्ष होता, कोई कहतें कि इन धार्मिक क्रिया-काण्डों को करते-करते मोक्ष् होता। तो इस विवाद के मेटने के लिए मोक्षमार्ग बताया जाएगा कि रत्नत्रय से मुक्ति मिलती है। यह आत्मरहस्य की बात जानना एक बहुत आनन्द की चीज है। उत्साह और उत्सुकता बढ़ाने वाली बात है, लेकिन यह बात तब पसंद आयी जब इतना समझ में आये कि जितने समागम हैं बाहरी भौतिक वे सब मेरे लिए बेकार हैं, असार हैं। यह बात जब तक समायी न हो तब तक धर्म के लिए उत्सुकता नहीं जग सकती। जिनको ये विषय ही सार लग रहे हैं वे मुक्ति की बात ही क्यों करेंगे? जिनको खाना पीना विषय सेवन, रूप देखना, राग सुनना, इज्जत देखना, प्रशंसा सुनना ये बाहरी बातें पसंद आ रही हों, भला वे क्यों मुक्ति की बात करेंगे? तो यह धर्म की बांत उस ही हृदय में समायी जा सकती है जिस हृदय में इतना निश्चय हो गया हो कि और बातें तो बेकार हैं, असार हैं। साथी नहीं हैं, शरण नहीं हैं, सब छूट जायेंगी, बिनाशीक हैं। यह मैं तो बन्दा अकेला ही रहूँगा। इसका किसमें भला है? वह बात हमें समझना है। यह चित्त में बात समायी हो तो धर्म में प्रीति जगती है। तो हम सब जीवों का उद्धार कर सकने वाला एक धर्म ही हैं। और वह धर्म क्या है कि मैं अपने स्वभाव को जानूँ और इसमें ही लीन रहूँ। जो मेरे पास है, मेरी चीज है, मेरा वैभव है। मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ। मैं तो अपने ज्ञान से अपने ज्ञान स्वरूप की बात को समझ लूँ, बस इसी में ही भलाई मिल सकेगी और भ्रम में भलाई न मिल सकेगी। भ्रम सदा दुःखकारी चीज है। तब मोक्ष क्या? अब तो अपने जीवन को ऐसा पलटिये कि कम से कम १०-१५ मिनट तो रोज अध्ययन की दृष्टि से अध्ययन कीजिये। और स्वाध्याय करें, स्वाध्याय सुनें तो इस दृष्टि से कि मेरी भलाई किसमें है, वह चीज मुझे चाहिए, बाकी जितना फसे हैं वे सब मेरी बरबादी के ही कारणभूत हैं। भीतर ज्ञान प्रकाश मिलेगा, आत्मतृप्ति मिलेगी, वह आनन्द मिलेगा जो हमारे पुराण पुरुषों ने ऋषी संतजनों ने पाया है। उस ही मार्ग से हम आप भी चलें, बस यही है अपने पुराण पुरुषों के मार्ग पर चलने की बात। इसके लिए अध्ययन चाहिए। तो ज्ञान मार्ग में बढ़ने का एक संकल्प बनावें।

मोक्ष मार्ग नेतृत्व में तत्त्वदर्शन—मोक्षशास्त्र के मंगलाचरण में जो नमस्कार किया गया है उसमें तीन विशेषतायें हैं, उस मोक्षमार्ग के नेता को कर्मपहाड़ के भेदने वाले को, समस्त तत्त्वों के जानने वाले को नमस्कार करता हूँ। इन तीन विशेषणों से हमको हित के लिए कौनसी बात मिलती है तो परखो, जो मोक्ष मार्ग के नेता हैं, जो मोक्ष मार्ग पर चले और चल कर वहाँ मुक्ति पायी और जिनके चरित्र से, उपदेश से, दर्शन से भव्य जीव मुक्ति का मार्ग प्राप्त करते हैं, उन्हें कहते हैं मोक्षमार्ग का नेता। मोक्षमार्ग के नेता प्रभु अरहंत

ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। जो ज्ञानस्वभावी होगा वही तो मुक्ति का मार्ग पायेगा, मोक्ष पायेगा। देखो इस प्रसंग में थोड़ी एक दार्शनिक की बात बतलाया। किसी दार्शनिक ने ऐसा माना है कि आत्मा में ज्ञान नही होता। चेतन तो जरूर है आत्मा मगर उसमें ज्ञान नहीं है। तो फिर ज्ञान आता किस तरह है? तो उनका कहना है कि ज्ञान एक अलग पदार्थ है। गुण नाम का पदार्थ है। इस ज्ञान का जब आत्मा में सम्बन्ध होता है तब ही ज्ञानी बोलते हैं। सुनने में कुछ अटपट सा लग रहा होगा कि आत्मा तो ज्ञानस्वरूप ही है, कैसे उन्होंने यह बात पकड़ी कि आत्मा में ज्ञान नहीं होता। ज्ञान का सम्बन्ध होता है तब आत्मा ज्ञानी कहलाता है। तो यह बात समझने की उनकी दृष्टि यह रही कि ज्ञान गुण है, आत्मा पदार्थ है। आत्मा का स्वरूप चेतन है, ज्ञान आत्मा में रहता है, लोग मुख से बोला भी करते हैं कि आत्मा में ज्ञान है। तो इस तरह दो चीजे समझ में वहाँ आयीं तो अलग-अलग मान लिया, लेकिन ऐसा है नहीं। आत्मा है सो ज्ञान। ज्ञान है सो आत्मा। अगर ज्ञान आत्मा में नहीं है तो ज्ञान का सम्बन्ध होने से आत्मा ज्ञानी होता, तो जब ज्ञान का सम्बन्ध न हुआ तब आत्मा क्या ज्ञानी नहीं है? और जब आत्मा जुदा है, ज्ञान जुदा है तो ज्ञान आत्मा में ही क्यों चिपकता? आकाश में क्यों नहीं चिपक जाता? भौतिक पदार्थों में क्यों नहीं लग जाता? आत्मा में ही क्यों लगता है? तो आत्मा ज्ञान स्वभावी है। और ऐसा ज्ञानमय पदार्थ अनादि से कर्म के आवरण के कारण यह संसार में रुलता, जन्म-मरण करता दुःख पाता है। स्वरूप इसका वह है जो प्रभु का स्वरूप है। रागद्वेष मोह बाह्य पदार्थों में लगाव, ये सब व्यर्थ की और बेकार चीजें हैं या नहीं? तत्त्व दृष्टि से देखो जिनसे लगाव है ये दुःख के ही कारण हैं। सदा रहने वाले नहीं हैं, भिन्न पदार्थ हैं। लगाव करने की जरूरत क्या थी? जो आनन्द स्वरूप धर्म है उस आत्मा की क्या आवश्यकता है कि यह पर पदार्थों से लगाव लगाये। कोई चित्त में यह सोच सकता है कि वाह भूख है, प्यास है, भोजन करते हैं, गृहस्थी हैं, लोग है, काम धन्धे हैं, इसलिए लगाव लगाना पड़ता है, पर यह तो बताओ कि यदि ऐसी स्थिति हम आपको मिल जाए कि देह ही न रहे, जन्म-मरण ही न करना पड़े तो फिर बाह्य पदार्थों के प्रसंग की जरूरत क्या है? यह तो आनन्द का निधान है।

आत्मार्थी का शरण्य—आत्मार्थी को कहा नमना चाहिये, कहाँ शरण ढूढ़ना चाहिये। इसका संक्षेप में समाधान चाहें तो दो जगह दृष्टि होनी चाहिए—परमात्मभक्ति और स्वभाव भक्ति। ये दो ही एक शरण और नमने के लायक तत्त्व हैं। परमात्मा जिनेन्द्र अरहंत, उसकी स्वरूपभक्ति संसार के पदार्थों का समागम क्लेश का कारण है। भिन्न है। विकार होते हैं, कोई सम्बंध नहीं है तो उस लगाव में केवल कष्ट हैं उस कष्ट से छुटकारा पाने के लिए हमें कष्टरहित प्रभु के निकट आना चाहिए। भगवत अरहंत देव समस्त कष्टों से रहित हैं, १८ प्रकार के दोषों से रहित हैं। उनका जन्म है, न प्रतिष्ठा है, न मरण है। क्षुधा तृषा आदि कोई दोष नहीं हैं। ऐसे निर्दोष मोक्षमार्ग का नेता अरहंत जिनेन्द्र तीर्थंकर देव उनकी शरण गहने

से हम आपको मार्ग मिलता है और परमार्थतः शरण है स्वभावभक्ति। अपने आपका जो एक ज्ञानस्वभाव याने पर में सम्बंध बिना, परका विकल्प किए बिना अपने आप ज्ञान जिस ज्योतिकला में रहता बस ज्ञान उस स्वभाव में रहे, वह कहलता है स्वभाव, उसकी भक्ति ही शरण है। फिर गुरुवों की भक्ति तो प्रभुभक्ति से सम्बंधित आंशिक बात है। प्रभुतापूर्ण निर्दोष है। गुरु निर्दोष बन रहे हैं और निर्दोष बनने के मार्ग में लग रहे हैं तो वह विकाश भक्ति में ही शामिल है। दो जगह हमारी दृष्टि होनी है अर्हदभक्ति और स्वभावभक्ति। अरहंत हैं मोक्ष मार्ग के नेता। कहते हैं ना कि जो तीर्थंकर नहीं होते, दिव्यध्वनि नहीं होती तो जगत के जीव कहाँ से ज्ञान पाते? कहाँ मोक्षमार्ग पाते? तो यह सब जिनवाणी की ही तो बलिहारी है कि हम आप कुछ बोध पाये हुए हैं। संसार के जीव प्रकृत्या दोषों की तरफ लग रहे हैं। उनको दोषों का उपदेश देने की आवश्यकता नहीं है। वे तो प्रकृत्या ही दोषों की ओर झुकते हैं। विषय कषायों की ओ प्रकृत्या झुकते हैं। उनकों कोई संसारिक कार्यों के उपदेश की जरूरत नहीं। वे तो प्रकृतिदोष में चलते ही चले आ रहे हैं। इनको उपदेश देने की जरूरत है मोक्षमार्ग की। कैसे छुटकारा मिले? कैसे वह आत्मज्ञान मिले? कैसे वह आत्मरमण मिले? कैसे आत्मतृप्ति मिले?

परलक्ष्य में शान्ति की असम्भवता—लोग चाहते हैं शान्ति और ऐसी शान्ति मिले जो उत्कृष्ट हो। जिसका कहीं विनाश न हो। तो भला बतलावो ऐसी शान्ति किसी पर पदार्थ के ख्याल में मिल सकती है क्या? नहीं मिल सकती। क्यों नहीं मिल सकती? यों कि जो विषय साधन है जो पर पदार्थ हैं उन पर इसने उपयोग दिया। तो पहली गलती तो यह हुई कि अपने प्रदेश से बाहर जाकर बाहरी घर में ठहरे, अपना घर इसने छोड़ दिया तो बात यह हुई कि बाहरी जो पदार्थ हैं वे विनाशीक हैं। तो जिन पर इसने राग लगाया है वह जब नष्ट होगा तो इतना खेद खिन्न होगा ना। इसलिए पर पदार्थों के लगाव में कोई चाहे कि हम शान्ति पालें तो यह कभी हो ही नहीं सकता। जितनी शान्ति अब भी मिलती है तो यह न समझिये कि पर पदार्थ के संयोग से मिलती है, किन्तु ज्ञान इस तरह का बनाया है कि जिससे यह अपने से कुछ कृतकृत्य सा समझने लगता। मेरे करने को अब काम नहीं रहा। जो करने का काम था वह कर लिया, ऐसा भाव मन में जगता है, उसका थोड़ा सुख मिलता है, चीज के मिलने का सुख नहीं मिलता। जैसे किसी को कोई मकान, दुकान, फर्म या कोई चीज बनानी हो तो जब तक वह चीज नहीं बनती तब तक तो आकुलता है, बेचैनी है और उस चीज के बनने में जो क्षणिक मौज मिलती हैं तो लोग कहते हैं कि उस चीज के बनने में सुख मिला, लेकिन वास्तविकता यह नहीं है। उस चीज के बन जाने पर जो उसके मन में यह भाव बनता कि अब मेरे करने को काम नहीं रहा, इस ज्ञान का आनन्द है वहाँ काम का आनन्द नहीं। चीज का आनन्द नहीं। बात सब जगह एक सी घटेगी। योगीजन काम में पड़े बिना, काम किए बिना पहले से ही समझ लेते हैं कि मेरे करने को बाहर में

कुछ काम ही नहीं पड़ा। मेरे को तो यह ही काम था कि मैं अपने ज्ञानस्वरूप को अपने ज्ञान में समायें रहूँ, ऐसा काम यदि कर पाया तो मैं कृतकृत्य हूँ। तो बाहर में करने को कुछ काम नहीं, जब यह भाव बनेगा तब समझ मिलेगी। तो लोग बाहर में कुछ काम होने के बाद ऐसा ज्ञान कर पाते हैं। योगीजन काम से दूर रहकर ही यह ज्ञान बना लेते हैं इसलिए उनको शान्ति मिलती है।

चिकीर्षा के अभाव में शान्ति की संभवता—एक दृष्टान्त लो। किसी मित्र का पत्र मानो दो जगह आया, दो मित्र थे, कि मैं अमुक गाड़ी से जा रहा हूँ और इस स्टेशन से जाऊँगा, आप स्टेशन पर मिल जायें। उसको उस स्टेशन पर उतर कर उस गांव न जाना था आगे जाना था। तो एक मित्र ने तो उस पत्र को फाड़कर फेंक दिया सोचा कि क्या मिलना? और दूसरे मित्र ने मिलने की इच्छा की। तो वह मानों करीब ८ बजे दिन में प्रतिदिन सोकर उठा करता था और ८ ही बजे उस स्टेशन पर गाड़ी आनी थी, तो उस दिन वह मित्र दो घंटे पहले ही उठकर सारे काम बड़ी जल्दी-जल्दी में निपटाता है, फिर जल्दी ही स्टेशन पर पहुँचता है। वहाँ पहुँचकर पता लगाता है कि गाड़ी अभी कितनी लेट है? पता पड़ता है कि अभी १५ मिनट लेट है, तो कुछ खेद सा हो जाता है, जब गाड़ी आती है तो बड़ी दौड़ धूप करके वह अपने मित्र को पा लेता है। गाड़ी वहाँ कोई ५ मिनट ही ठहरनी थी। वह अपने मित्र से मिलकर बड़ा प्रसन्न हुआ। दो ही मिनट बाद झट वह खिड़की से झाँकने लगा— कहीं गार्ड ने सीटी तो नहीं दे दी, कहीं गाड़ी चल तो नहीं पड़ी। जरा बताओ उस मित्र से मिलने पर जो वह सुखी हुआ तो किस बात से सुखी हुआ? क्या मित्र के मिलने का सुख है? अरे तुम्हें सुख ही तो चाहिए। उस मित्र से मिलकर खूब सुख लूटते रहो। क्यों झाँकने लगे खिड़की से? क्यों उतरने की सोचने लगे? तो मालूम होता है मित्र से मिलने का वह सुख नहीं है, किन्तु मित्र से मिलने का अब काम नहीं रहा इस बात का सुख है। मेरे करने को अब बाहर में कोई काम नहीं रहा यह ज्ञान जिस प्रकार आये उस प्रकार करें तो शान्ति मिलेगी। मेरे को बाहर में कुछ काम करने को पड़ा है यह ख्याल जब तक है तब तक उसे शान्ति नहीं है। भगवान का एक नाम है कृतकृत्य। जिसने करने योग्य काम सब कर लिया। तो जिसे अब करने को काम कुछ नहीं रहा, यह ही तो भगवान का स्वरूप है। हम उसका आंशिक पालन करें, ऐसा ज्ञानबल बढ़ायें कि यह हमारी दृष्टि में आए कि मेरे करने को आत्म प्रदेश से बाहर कुछ काम नहीं है। देखिए—इसीलिए तत्त्वज्ञान करना होता। मैं आत्मा हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। मैं अपने आपके ज्ञान को ही कर पाता हूँ, ज्ञान को ही भोग पाता हूँ, मैं अपने प्रदेशों से बाहर में कोई काम नहीं कर पाता हूँ। काम जितना भी बाहर में होता है। वह निमित्त नैमित्तिक योग से होता है, पर मैं बाहर में किसी पदार्थ का कुछ भी परिणाम सकने वाला नहीं हूँ वे परिणमते तो हैं अपनी क्रिया से। हम उसमें निमित्त होते हैं। निमित्त नैमित्तिक भाव नहीं मिटता। वह तो चलाता ही है अनादि से। और

चलता ही रहेगा। तभी व्यवस्था है, लेकिन प्रत्येक पदार्थ केवल अपने आपका परिणमन करता है। दूसरे में द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव का सम्बंध नहीं है। तो यह मैं आत्मा देखो विश्व के समस्त पदार्थों से निराला हूँ। मेरे को बाहर में कुछ करने का काम ही नहीं है। कर ही नहीं सकते। किया ही नहीं गया कुछ। केवल कल्पना भर ही कर रहे कि मैंने यह किया, मैं यह करूँगा।

क्लेश की कारणभूत प्रथम भूल अहंकार—जीव की क्लेश के कारण चार प्रकार की भूलें हैं पहली भूल तो मैं क्या हूँ इस सम्बन्ध की है। यह जीव जानता है कि मैं मनुष्य हूँ। पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, ज्ञानी हूँ, मूर्ख हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ, इस प्रकार के नाना विकल्प अपनी श्रद्धा में बनाये रहते हैं, एक भूल तो यह है इसकी। होता क्या है कि जो यह श्रद्धा रख रहा है कि मैं इनका पिता हूँ तो पिता को जिस तरह करना चाहिए उस तरह की चेष्टा करेंगे ही। क्या करें? पुत्रों को सुखी करें, खूब धन जोड़ें, करेंगे चेष्टा और जब यह जानेंगे कि मैं तो केवल ज्ञान स्वरूप हूँ तो ज्ञान स्वरूप के नाते से जो करना चाहिए था सो करेंगे। मानो वह साक्षी रहेगा, ज्ञाता दृष्टा रहेगा, बाहरी पदार्थों में हर्ष विषादन करेगा। क्या बड़े-बड़े समागमों में रहने वाले लोग सम्यक्त्व नहीं पाते? भरत चक्रवर्ती छह खण्ड का राजा था लेकिन सबसे निर्लेप थे। लोग कहते हैं कि भरत घर में बैरागी। भरत ही क्या, जितने सम्यग्दृष्टि ज्ञानी गृहस्थ होते हैं वे घर में रहते हुए बैरागी रहते हैं। जब जान लिया कि मेरे आत्मा का केवल मेरा आत्मस्वरूप ही सर्वस्व है तो उसे व्यामोह क्यों होगा? घर में रहने के कारण वह तो अपना कर्त्तव्य निभायेगा। तो पहली भूल जीव की अपना स्वरूप समझने के बारे में है।

क्लेश की कारणभूत द्वितीय भूल ममकार—दूसरी भूल है बाहरी पदार्थों को अपना धन मानने की। यह मेरा घर है, मेरा पुत्र है, मेरा देह है। परमार्थ दृष्टि से देखो वस्तुतः मेरा है क्या? मेरा तो वह है जो मेरा कभी साथ न छोड़े। जो मेरा साथ छोड़े वह मेरा क्या? बहुत सीधी कुञ्जी है। अपना क्या है यह समझने की। जो मेरा साथ छोड़ दे वह मेरा नहीं है और कहते ही हैं लोग कि वक्त आये पर जो साथ न निभाये, जो साथ छोड दे वह मेरा क्या? तो अब देखिए क्या मेरा साथ देह देगा? ये कुटुम्ब, धन, सम्पदा, इज्जत ये कोई लोग मेरा साथ देंगे, मेरे साथ चलेगा क्या? मेरे साथ तो मेरा ज्ञान ही चलेगा। उस ज्ञान की जो कलायें हैं वे रहेंगी। कोई भी मेरा साथ न निभायेगा, इसलिए मेरा धन, मेरा सर्वस्व मेरा ज्ञान स्वरूप है, किन्तु मोहीजन ऐसा न मानकर बाहरी पदार्थों को मानते कि ये तो मेरे हैं इसीलिए दुःखी होते। कहने की बात और कुछ मानने की बात भले ही ऐसी रहे, मगर श्रद्धा में स्पष्ट यह रहे कि मेरा तो परमाणुमात्र भी नहीं है, केवल मेरा ज्ञानस्वरूप है। सेठ का मुनीम भी तो सेठ की सारी जादाद के प्रति मेरी-मेरी ही तो कहता है, मेरी जायदाद, मेरा फर्म। ग्राहकों से भी कहता कि मेरा तुम पर इतना गया, तुम्हारा हम पर इतना आया।

मुझे आपसे इतना लेना है, आपको मेरे से इतना लेना है पर बताओ क्या तो मुनीम को लेना और क्या देना? अरे वह तो सेठ की सम्पत्ति है। कहने को तो मुनिम भी कहता है, पर उसका अर्थ क्या? वह तो उसका कर्त्तव्य (Duty) है। उसकी श्रद्धा में यह बात बसी है कि मेरा कुछ नहीं है, तो ऐसी बात जो स्वयं सेठ है, धनी है, सम्राट है वह भी तो अपनी सम्पदा के प्रति यही भाव रख सकता है कि मेरा कुछ नहीं है। जो वास्तविक बात है वह ज्ञान में क्यों न रहेगी? एक सेठ था तो उसके यहाँ जो मुनीम था वह सेठ की प्रवृत्ति देखकर बड़े आश्चर्य में रहता था कि यह कैसे निर्लेप रहते हैं कई घटनाएं देखा एक बार किसी फर्म में मानों बड़ा टोटा पड़ गया, खबर आयी तो मुनीम ने कहा सेठ जी इस बार तो फर्म में १० लाख का टोटा पड़ गया– तो सेठ जी बोले हो गया टोटा, क्या है? वह तो बाहरी बात है? क्या परवाह है? सेठ की बात को सुनकर मुनीम दंग रह गया। बड़े आश्चर्य में पड़ गया, सोचा कि देखो इतना बड़ा टोटा पड़ने पर भी इसके चित्त में जरा भी कलुपता नहीं आयी। कुछ समय बाद मानो तगड़ा मुनाफा हुआ तो मुनीम ने सेठ को खबर दी कि इस फर्म में तो १० लाख का मुनाफा हो गया तो सेठ बोला– हो गया होगा मुनाफा, क्या है? यह तो बाहरी बात है? अब तो मुनीम को और भी अधिक आश्चर्य हुआ। मुनीम ने सेठ से पूछा कि सेठ जी, क्या कारण है कि आप न मुनाफे में हर्ष मानते और न टोटे में विषाद मानते? तो सेठ ने समझा दिया कि देखो भाई यहाँ किसका क्या है? ये तो सब बाहरी चीजें हैं, लोग तो केवल उनके पीछे व्यामोह करते हैं।

ममता में कल्पना से विडम्बना—रत्नकरण्डश्रावकाचार में परिग्रह पाप की कथा में बताया है कि एक स्मश्रुत नवनीत नाम का पुरुष था। स्मश्रुत कहते हैं मूछ को और नवनीत कहते हैं मक्खन को। हिन्दी में उसका नाम मूछ मक्खन कह लो। तो उसका काम क्या था? उसने एक बार किसी श्रावक के यहाँ छांछ पिया तो छांछ पीने के बाद मूछ में हाथ फेरा तो कुछ दही हाथ में लग गयी। उसने सोचा कि अगर १०-२० घरों में रोज इस तरह से छांछ पी लिया करें और मूछ पर हाथ फेर कर दही इक्टठा कर लिया करें तो कुछ ही दिनों में काफी घी इक्ट्ठा हो जाया करेगा। बस यह ही काम उसका रोज रहे। मानो साल भर तक उसने यही काम कर लिया तो कोई तीन सेर घी जोड़ लिया। एक दिन जाड़े के दिनों में वह अपनी झोपड़ी में बैठा हुआ ताप रहा था। घी ऊपर सिकहरे में लटका हुआ था। आग नीचे जल रही थी तापते हुए में वह उसी जगह लेट गया। लेटा हुआ कुछ विचार करने लगा कल के दिन मैं इस घी को बाजार में ले जाकर बेचूंगा, जितने में बिक जाएगा उतने में एक बकरी खरीदूँगा। उससे कुछ मुनाफा होने पर गाय खरीदूँगा। धीरे-धीरे भैंस खरीद लूँगा, उससे मुनाफा होने पर बैल खरीद लूँगा, फिर कुछ खेती कर लूँगा, घर बनवा लूँगा। विवाह कर लूँगा . . .। यो वह पड़ा हुआ कल्पनायें कर रहा था, उसे कुछ निद्रासी आने लगी पर उसकी कल्पनायें अभी आगे ही बढ़ती जा रही थीं। फिर सोचा कि विवाह

हो जाने के बाद बच्चे होंगे। कोई बच्चा मेरे पास आयगा, कहेगा कि पिता जी भोजन करने चलो, माँ जी ने बुलाया है, तो मैं कह दूँगा कि अभी नहीं आता, फिर दुबारा आयगा तो कहूँगा कि अभी नहीं आता, तिबारा बुलाने आयगा तो लात फटकार कर कहता है—अबे अभी नहीं आता। तो लात की फटकार से उसका घी आग में गिर गया। घी जलने लगा, झोपड़ी जलने लगी। अब वह बाहर निकलकर चिल्लाता है—अरे भाइयों दौड़ो हमारा मकान जल गया, हमारी स्त्री जल गई, हमारे बच्चे जल गए, हमारे जानवर जल गए। पड़ौस के लोग उसकी बात सुनकर दंग रह गए। सोचा कि अभी कल तक तो यह भीख माँगता था, आज कह रहा है कि हमारा मकान जल गया, हमारे जानवर जल गए, हमारे बच्चे जल गए। जब किसी ने उससे पूछा तो उसने सारा हाल कह सुनाया। तो एक सेठ ने कहा-अरे क्यों रोता, क्यों दुःखी होता? तेरा तो कुछ भी नहीं जला, तू कल्पनाएँ हीं तो कर रहा था, तेरा कहाँ था कुछ? तो वहाँ किसी समझदार ने उस सेठ से कहा सेठ जी तुम भी तो व्यर्थ में दुःखी होते फिरते हो। यह मकान, यह धन, ये घर के लोग तुम्हारे हैं कहाँ? तुम तो कल्पनाएं भर करते हो। क्यों व्यर्थ में इनके पीछे रात दिन चिन्तित रहा करते हो? अरे तुम तो एक सबसे निराले जीव हो, तुमने कल्पना से यहाँ सबको अपना बना रखा है। तो मैं केवल एक ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप ही मेरा सर्वस्व है। इसके अतिरिक्त अब मेरा कुछ नहीं है, ऐसा ज्ञान बनाओ, इसमें भूल न आये।

क्लेश की कारणभूत तृतीय भूल कर्तृत्त्व बुद्धि—तीसरी भूल यह होती है कि मैं अमुक काम करता हूँ, अरे जीव दृष्टि देकर देखो तो सही कि मैं देह में रहने वाला अपने प्रदेशों में रहने वाला एक ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ। तो मैं जो कुछ कर पाऊँगा में ही कुछ काम कर सकूँगा। एक अंगुली जो कुछ भी कर सकेगी वह अपनी अंगुली में ही कर सकेगी। जैसा अंगुली टेढ़ी कर लिया तो अंगुली का सब कुछ अंगुली में ही हुआ, अंगुली से बाहर कुछ नहीं हुआ। हाँ अंगुली का सम्बन्ध हो तो बाह्य पदार्थ भी यहाँ से वहाँ उठ जाय। इस स्थिति में भी अंगुली ने तो केवल अपनी अंगुली में क्रिया की। उसके बीच में वह चीज फस गई। यही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध कहलाता। तो अंगुली चलाने का निमित्त पाकर यह चीज भी चली पर वस्तुतः परमार्थतः देखो तो अंगुली ने अपने में ही अपना सब कुछ किया। इसी तरह हम आप सब ज्ञान करते हैं। इच्छा करते हैं, विकल्प करते हैं, जो कुछ करते हैं वह उन प्रदेशों में करते, प्रदेशों से बाहर नहीं करते। तो यह श्रद्धा में आ जाय कि बाहर में मेरे करने का कुछ काम ही नहीं है। मैं अपने में सब कुछ किया करता हूँ। तो एक ज्ञान प्रकाश मिलेगा। तो तीसरी भूल यह सुधारनी है मैं क्या करता हूँ ?

क्लेश की कारणभूत चतुर्थ भूल भोक्तृत्वबुद्धि—चौथी भूल होती है भोक्तृत्वबुद्धि कि मैं भोजन भोगता हूँ, स्त्री भोगता हूँ, पुत्र भोगता हूँ, धन भोगता हूँ, सम्पदा भोगता हूँ,

राज्य भोगता हूँ, आनन्द लेता हूँ, पर वास्तव में यह जीव तो ज्ञान का आनन्द लेता है, कल्पना का आनन्द लेता है। कल्पना के सिवाय और कुछ नहीं भोगता, तो यह भूल भी हमें मिटाना है और समझना है कि मैं कर्ता भोक्ता अपने आपसे अपने आपका हूँ, बाहर का नहीं हूँ। बाहर में तो जो होता है वह उदयानुसार होता है। गृहस्थी में रहने के कारण हमारा कर्त्तव्य है कि हम अपना कर्त्तव्य निभाते रहें, दुकान पर बैठें, काम धंधा करें, उसी में जो कुछ भी आय होती हो उसमें सन्तुष्ट रहना चाहिए और उसी में अपने गुजारे की बात बनानी चाहिए, और कर्त्तव्य इतना ही समझें। तो मेरा ज्ञान विशुद्ध हो, मेरा आचरण अच्छा हो। मेरा विचार शुद्ध रहें, सब जीव सुखी हों, किसी जीव को मेरे द्वारा बाधा न हो। सब भगवान हैं। सब का आदर करें किसी को कुछ न मिले, ऐसा अपने भीतर में एक फैसला बनायें तो हमको शान्ति का मार्ग मिलेगा।

मुमुक्षुका नायक—हमारा नायक कौन है? संकटों से छुटकारा दिलाने में कौन मेरा मार्गदर्शक है, इसका निर्णय होना अपनी भलाई के लिए अति आवश्यक है। मेरे नायक वीतरागसर्वज्ञ हितोपदेशी जिनेन्द्रदेव हैं। आज के समय में यद्यपि जिनेन्द्रदेव नहीं दिखते, लेकिन उनकी परम्परा से चला आया हुआ जो उपदेश है उस उपदेश में, उस वचन में सब जगह जिनेन्द्रदेव के दर्शन हो सकते हैं। ये प्रभु जो मोक्षमार्ग के प्रणेता हैं, स्वयं जीवनमुक्त हुए हैं और मुक्ति का ही जिनका सबके हित के लिए उपदेश है, वह सकलज्ञेय ज्ञायक है फिर भी अपने ही आनन्द रस में लीन है। प्रभु बाहरी बाहरी किसी भी पदार्थ में कुछ करते बिगाड़ते नहीं हैं। आम लोगों की यह भावना बन गई कि कोई परमेश्वर हम सबको बनाता है। मिलाता है, नरक भेजता है। स्वर्ग भेजता है, क्यों यह धारण बनी? इसका मोटा कारण तो यह है कि जब किसी बात का तथ्य समझ में नहीं आता, कोई रहस्य विज्ञान नहीं होता तो यह प्रकृति लोगों की हो गई कि उस बात को ईश्वर पर ढाल देते हैं कि यह तो ईश्वर की मर्जी है, ईश्वर की करनी है, ऐसे कर्ता धर्ता ईश्वर की उपासना में इस जीव को कोई लाभ नहीं हो सकता। जिसके चित्त में यह बात है कि ईश्वर मेरे को सुख देने वाला है, मेरी सृष्टि करने वाला है तो उसमें वास्तविक भक्ति तो न जागेगी। डरके मारे भक्ति करेंगे यह मुझे नरक भेज दे, दुःखी न कर दे। तो डर के मारे होने वाली भक्ति कोई भक्ति नहीं। यहाँ तो डर के मारे लोग बड़े-बड़े अफसरों की सेवा करते हैं। तो क्या यह कोई भक्ति में शामिल है? भक्ति तो वह है जहां गुणानुराग होता है। यह कोई परमेश्वर का गुण है क्या? कि वह किसी से मारे पीटे, दुःखी करे, सुखी करे, स्वर्ग भेजे, नरक भेजे, प्रभु का गुण तो ज्ञानानन्द का अतुल विकास है। और युक्तियों से भी विचार लीजिए। परमेश्वर यदि जगत का कर्ता है तो वह क्यों कर्ता है? क्या हम सब जीवों पर दया करके कर्ता है! या वह तो अपनामन रमाने के लिए करता है? यदि हम सबकी दया के लिए करता है तो दया ही करते रहना चाहिए। क्यों दुःख दे, क्यों पाप करता, क्यों कष्ट देता? जो बड़ा पुरुष हो वह तो समर्थ

होता है। सबको सुखी कर दे। वह तो अपने मन को रमाने के लिए करता है। तो इसमें तो कोई बड़प्पन नहीं हुआ। अपना मन रमाने के लिए यदवा तदवा प्रवृत्ति करने वाला कैसे महान् कहला सकता है? तो हम आप सबको करने का काम ईश्वर का नहीं है। ईश्वर का काम तो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का उपभोग करके रहना है, जिसके स्वरूप के स्मरण के, प्रताप से ही पाप दूर होते, ऐसा स्वरूप है प्रभु का तो प्रभु विकल्प करने वाला नहीं है, जगत का कर्ता हर्ता ईश्वर नहीं, किन्तु वह तो अतुल आनन्द और ज्ञान का निधान है। और भी देखिये परमेश्वर अगर कर रहा है किसी से तो यह बतलावो कि जो पहले से है उसी को कर रहा है या जो है ही नहीं बिल्कुल उसे कर रहा है? यदि कहो कि जो पहले से वह कर रहा है तो जो है उसके करने का क्या मतलब? यह तो है ही' यदि कहो कि जो सर्वथा है ही नहीं उसे कर रहा तो इसे तो विवेकी नहीं मान सकता। वैज्ञानिक भी कहते हैं। और उनके ही शास्त्र कहते हैं कि जो असत् है उसका कभी सद्भाव नहीं हो सकता। कोई युक्ति इस बात को सिद्ध नहीं कर सकती कि परमेश्वर' जगत को करने वाला है। अन्य श्रद्धा की बात अलग है। यों तो जब सबसे पहले रेलगाड़ी निकली थी तो मानो जिस किसी भी दिन किसी लाइन से कोई गाड़ी निकल रही थी तो उसको देखने के लिए बहुत से लोगों की भीड़ लग जाया करती थी। तो आगे का जो काला-काला इंजन होता था उसको देखकर लोग समझते थे कि इसके अन्दर काली देवी है और वह इस रेलगाड़ी को चलाती है। कोई बात जब नहीं समझ में आती कि तथ्य में क्या है, कैसा निमित्तक भाव है, वस्तु का क्या स्वरूप है, जब समझ में न आया तो लोगों का एक ही उत्तर रहता है कि यह तो सब ईश्वर की करतूत है। ईश्वर की लीला है। पर परमेश्वर और परमईश्वर है। ईश्वर कहते ही उसे हैं जो अपने ऐसे ऐश्वर्य को भोगे कि जिसमें किसी की आधीनता न हो, उसे कहते हैं परमेश्वर। तो ऐसा यह वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेशी आप्त भगवान हमारे मोक्षमार्ग का नायक है।

भैया! अपने सिर पर अपने हृदय में विराजमान करें अपने मोक्ष मार्ग के नायक को। बड़े का हाथ सिर पर रहेगा, बड़े की छत्र छाया में हम रहेंगे, संकट न आयेंगे। बड़े हैं मेरे को तो ये अरहंत जिनेन्द्र परमात्मदेव हैं, व्यवहार में ये ही महान हैं। इनमें भक्ति जगे, ऐसी धुन बने कि मेरे लिए तो एक भगवान ही सहाय हैं। परमें रहना पड़ता है, बच्चों का पालन पोषण करना पड़ता है, व्यापार करना होता है। सब कुछ करना पड़ेगा, गृहस्थी में कर्त्तव्य हैं वह, लेकिन यह श्रद्धा बनाये रहे कि बस मेरे को शरण है तो यही मेरा परमात्मतत्त्व और जिसकी स्मृति और ध्यान कराने में मद्दगार है तो यह व्यक्त परमात्मस्वरूप। दर्शन जब करने आते हैं प्रभु के तो यहाँ सबसे पहले णमोकार मन्त्र और चत्तारिदण्डक बोलना चाहिए। तो चत्तारिदण्डक में बताया है कि चार चीजें मंगल हैं। मंगल उसे कहते हैं जो पापों को गलाये और सुख को पैदा करे। गालयति इति मंगलं। माँ कहते हैं पाप को और उसे जो गलादे,

नष्ट कर दे सो मंगलतिइति मंगल मंग कहते हैं सुख को। इसी से तो उमंग शब्द बना। तो जो मंग को उत्पन्न करे उसे मंगल कहते हैं। ऐसे मंगल हैं अरहंत, सिद्ध साधु और धर्म व्यवहार में तो अरहंत, सिद्ध साधु हैं, ये तीनों ही प्रभु हैं। सिद्ध प्रभु के अंश हैं। अरहंत पूर्ण प्रभु हैं तो प्रभुता को मंगल बताया है, और निश्चय से आत्मा मंगल है। मेरा जो स्वभाव है अपने आप निरपेक्ष सहज मेरी जो कला है वह मेरे लिए मंगल है।

आनन्द की सहजसाध्यता—देखो कितना अन्तर है कि कष्ट तो बनाने से बनता है और आनन्द स्वयमेव होता है। आनन्द बनाने से नहीं बनता। वह सहज स्वभाव है। अपने आप होता है। कष्ट बनाने से बना करता है। हम विचारते हैं, विकल्प करते हैं, सोचते हैं, कष्ट बनाया करते हैं। कष्ट की बात छोड़ दें, परिश्रम व्यापार छोड़ दें तो आनन्द तो इस जीव को सहज ही होगा वह कृत्रिम नहीं होता। कष्ट है कृत्रिम। आनन्द नैमित्तिक नहीं होता। कष्ट तो नैमित्तिक है। तो यह कष्ट पराधीन है। बनाने से बनता। नैमित्तिक है। यह कष्ट तो जीवों से लग रहा है व्यामोह में सरल और अपना आनन्द लग रहा है इसको कठिन। देखिए जब भी होनहार अच्छा होगा तब यह ही स्थिति आयेगी कि समस्त बाह्य पदार्थों का व्यामोह छूटेगा उपेक्षा होगी और अपने आत्मस्वरूप की दृष्टि बनेगी। तो यह बात अभी से ही कर ली जाए तो, नफे की बात है या नुकसान की? बड़े लाभ की बात है। जीवन सफल हो जायगा। यदि एक यह प्रकृति हमारी बन जाय, दृष्टि बन जाय बस आनन्द और ज्ञान तो मेरा स्वभाव ही है। मेरे को कोई कष्ट नहीं। हम कृतार्थ हैं। मेरे पर कोई भार नहीं। हम तो स्वरूपतः पूर्ण निस्पन्न सही हैं। खेद किस बात का और, ऐसा धैर्य उत्पन्न हो कि जो परिस्थिति आये सो आये। किसी भी परिस्थिति से मेरे आत्मा का बिगाड़ नहीं है। चाहे सम्पदा मिट जाय चाहे इष्ट वियोग हो जाय, चाहे देह भी छूट जाय कुछ भी स्थिति आये, किसी भी स्थिति से मेरे आत्मा का बिगाड़ नहीं है। यह बात स्पष्ट झलकना चाहिए। तथ्य भी इसी में है। वस्तुस्वरूप भी यह ही बताता है। जो पदार्थ है वह अपने ही स्वरूप में है। अपने में ही अपना उत्पाद व्यय करता है। किसी अन्य से सम्बंध क्या है। जीव तो मोह में सम्बंध मानता है, पर प्रत्येक पदार्थ स्वतंत्र अपना स्वरूप रखता है। मैं रहूँगा। मैं ज्ञानानन्दस्वरूप हूँ, मेरा किसी से कोई सुधार और बिगाड़ नहीं है। मेरे लिए बाहर से क्या है। ज्यादा से ज्यादा कोई यह सोच सकता है कि शायद कभी किसी की ऐसी स्थिति आए कि निर्धन हो जाए, लोक में इज्जत न रहे, कोई सम्मान न करे तो जीवन कैसे चलेगा? तो देखो गृहस्थावस्था में कुछ चाहिए तो जरूर कुछ क्रान्ति सम्पादन, लेकिन जिसको आत्मोद्धार का ही ख्याल है उसके लिए ये सब बातें व्यर्थ जंचती हैं। जो हो सो हो। ऐसे भी योगिराज हुए हैं कि जिनका उनके समय में कोई आदर करने वाला न था, उनको जानने वाला भी न था। लेकिन अपनी साधना से वे जब कर्ममुक्त हो गए तो उनके आनन्द में, उनके विकास में क्या कोई कमी हुई? और [illegible] बारे में प्रायः सबको परिचय है ऐसे आदिनाथ भगवान के आनन्द में कोई अन्तर है

क्या? वहाँ सब एक स्वरूप है, सब भगवान हैं। तो जगत की क्या बात है।

परमें शत्र की व्यर्थता—इस लोक में ऐसा कोई उपाय नहीं है जो सबको प्रसन्न कर सके, और न ऐसे कोई मनुष्य हुए हो जो सारे विश्व को प्रसन्न रख सकें। तीर्थंकर कर भी ऐसे नहीं हुए कि जिनके प्रति सारे लोगों की श्रद्धा हुई है और सब जीव जिनकी महिमा गाते हैं मगर विवेकियों ने उनकी महिमा गायी तो अविवेकियों ने निन्दा भी की। जगत में कोई भी ऐसा नहीं हुआ जो सारे विश्व को सन्तुष्ट कर सकता हो। तो जब आधे निन्दक हैं, आधे प्रशंसक हैं, आधे सन्तुष्ट हैं, आधे असन्तुष्ट हैं, तो सब सन्तुष्ट हों तो क्या, असन्तुष्ट हों तो क्या? इससे क्या बिगाड़? जगत का ऐसा स्वरूप जानें, वस्तुतः कोई भी जीव किसी का आदर नहीं करता। किन्तु वह अपने भाव का ही आदर करता है। कोई किसी से प्रीति नहीं करता, किन्तु वह अपने विचार, कषाय, भावना और जो कुछ समझ रखा है उससे प्रीति करता है। वास्तविकता यह है 'पुत्र अगर किसी की आज्ञा मानता है तो वह पिता है इस कारण आज्ञा नहीं मानता, किन्तु उसने खुद अपने को समझ रखा है कि आज्ञा मानते रहने में हमारी भलाई है। हमारी सुख सुविधायें हैं, हमारा इससे भक्तिव्य अच्छा है, इस बात से आज्ञाकारी बनता है। इससे बुरा मानना यों जरूरी नहीं है कि यह वस्तु स्वरूप की बात कही जा रही है। ऐसा कभी हो ही नहीं सकता कि कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु का द्रव्य गुण ग्रहण कर सके। तो इसी तरह समझिये सबकी बात। जो आज्ञा नहीं मानते उन्होंने समझ रखा है कि आज्ञा मानने से हमारा कोई सुख नहीं, शान्ति नहीं। जो पुरुष जिसमे सुख शान्ति समझते हैं वे उसके अनुरूप कार्य करते हैं। मतलब यह है कि कोई किसी का भक्त नहीं। पिता पुत्र की बात तो जाने दो। वस्तुतः कोई भगवान का भी भक्त नहीं। जो भी भगवान का भक्त हो रहा है वह अपने भाव का भक्त है, भगवान का भक्त नहीं। निश्चय दृष्टि से देखें तो भक्त के चित्त में यह बात है कि हम संसार से पार इस तरह होंगे। भगवान के स्वरूप का स्मरण करें, भगवान के गुणों में अनुराग करें, अपने आपके स्वरूप में प्रतीति आये यह मुझे संसार के संकटों से छुटायेगी। तो संसार के संकट छूटने के ध्येय से भगवान की भक्ति में आता है। कहीं भगवान हमारे किसी रिस्ते में हों या महंत हों, इसलिए भक्ति में नहीं आते। प्रयोजन यह है कि प्रत्येक जीव की प्रवृत्ति अपने आप के लिए हुआ करती है। दूसरों के लिए नहीं हुआ करती। तो यह वस्तु स्वरूप की बात है। समझना होगा। जो वस्तु स्वरूप जानेगा उसका मोह दूर होगा।

गृहस्थ में भी निर्मोहता की सम्भावना—गृहस्थ निर्मोह होकर भी घर में रह सकता है। राग न हो तब तो घर में नहीं रह सकता, पर मोह न तो तब भी वह घर में रह सकता है। और निर्मोह गृहस्थ सदा शान्त प्रसन्न रहता है, क्योंकि उसका दृढ़ श्रद्धान है कि लोक की किसी भी परिस्थिति के कारण मेरे आत्मा का सुधार और बिगाड़ नहीं है, किन्तु मेरे ही

सम्पग्दर्शन, ज्ञान चारित्र की परिणति से सुधार है और मिथ्या दर्शनज्ञान चारित्र की परिणति से बिगाड़ है। ऐसी सत्य श्रद्धा रखने वाला गृहस्थ निर्मोह रहता हुआ घर में प्रसन्न चित्त रहता है। राग बिना तो घर में रहना नहीं बनता, पर मोह के बिना घर में रहना बन सकता है। तो हमें अपने नायक की सच्ची खबर हो तो हम अपने को सुरक्षित अनुभव कर सकेंगे। हमारा नायक है वीतराग सर्वज्ञ हितोपदेश। इनकी सुध में हमें अपनी भी सुध रहेगी। हम सदा अपने ही ज्ञान में अपना काम करते हैं। हम सदा अपने ही ज्ञान से अपने ज्ञान में रहा करते हैं। हम खोटी कल्पनायें करके रहें तो, अच्छा विचार बनाकर रहें तो, हमारा सारा सम्बन्ध केवल हमारे अपने आत्मा के प्रदेश में ही है। मेरे प्रदेश से बाहर मेरा कोई सम्बंध नहीं। ऐसे ही अन्दाज कर लो, जिस घर में आज आप हैं मानो इस घर में न पैदा होते, कहीं दूसरे देशों में, किसी और घर में पैदा हुए तो आपको इस घर की कोई ममता, कल्पना, ख्याल, लगाव कुछ भी होता क्या? और, ऐसा हो नहीं सकता क्या? सारे घरों में कहाँ पैदा हैं? एक घर में हैं तो बाकी घरों की ममता लगाव है क्या? गुजारा करने के लिए काम करना पड़ता है, वह करना होगा, करना चाहिए उसमें तो गृहस्थों से अपराध नहीं, किन्तु यह अज्ञान बनाने में अपराध है कि मेरा सर्वस्व तो यह ही है, इसके बिना मेरा जीवन नहीं, इसके बिना मेरा उद्धार नहीं। ऐसा ज्ञान बनाने में, मोह बनाने में बहुत बड़ा अपराध है। तो अपराध का फल बेचैनी है, पाप का बंध है, तो एक यह गुण उत्पन्न कीजिए कि सम्यक्त्व जगा रहे और मोह न रहे। एक यह ही गुण होगा तो नियम से मुक्ति मिलेगी।

जीव का वास्तविक ठिकाना—सम्यक्त्व जिसने पा लिया उसकी मुक्ति रिजर्व है। निकट काल में ही उसे मुक्ति प्राप्त होगी। तो सम्यग्दर्शन के लिए तन, मन, धन, वचन, प्राण सब कुछ भी न्योछावर कर दें और एक सम्यक्त्व का लाभ उठालें तो आपने सर्वस्व वैभव पाया, यों समझ लो। जिनका चित्त बेठिकाने है, जिनके चित्त को कोई अपना धाम मिला ही नहीं है कि जब चाहे उस अपने ठिकाने में बैठकर सच्चा आराम तो कर ले। ऐसा अपने आपका ठिकाना ही नहीं मिला तो यह उपयोग भटकता ही फिरेगा और कहीं जमकर न रह सकेगा। और जिस जीव को अपना ठिकाना हो गया— मेरा ठिकाना मेरा यह आत्माराम है। मेरा जो ज्ञानानन्द स्वभाव है वही मेरा सच्चा धाम है। कुछ भी कष्ट हो, कहीं भी कोई विडम्बना की बात आये तो झट अपने धाम में पहुँचें, अपने ठिकाने की श्रद्धा रखें तो इसे शान्ति लाभ होगा। और जिसको अपने घर का पता नहीं वह परघर फिरता रहे, या दिमाग खराब हो गया और दूसरे के घर में बैठने की, रहने की कोशिश करे तो क्या कहीं जम सकेगा? न जम सकेगा? तो इसी तरह हमारा घर है, हमारा आत्मा है, इसकी तो सुध न हो और दिमाग बिगड़ गया, ज्ञान बिगड़ गया, व्यामोह हो गया और पर पदार्थों को अपना घर मानता, उन पर पदार्थों में विश्राम करने चाहे तो क्या वहाँ जम सकेंगे? वहाँ तो चिगेंगे, हटेंगे, धोखा होगा, कष्ट पायेंगे। तो इस बात की महिती आवश्यकता है कि हम अपने सत्य स्वरूप

को जान जायें। बड़ा साम्राज्य मिल गया, उससे भी अधिक आवश्यक है आत्मज्ञान। या बड़ी समृद्धि मिले उससे भी अधिक आवश्यक है। एक आत्मज्ञान, आत्मरमण। अन्य बातें आवश्यक हैं नहीं। यह तो परिस्थिति वश जुदी-जुदी पद्धति में आवश्यक समझा जाता है। एक साधारण अस्थिर प्रयोजन के लिए। अपना विश्वास एक।

आत्महितचिन्तना में आत्मकीर्तन—आत्मकीर्तन के ४–५ पदों में जो कुछ विवेचन है उसके ही सहारे से अपना चिन्तन रखिये। मेरी सत्ता स्वयं सिद्ध है। मेरा स्वभाव चलायमान न होगा, में चैतन ही रहूँगा, मेरे स्वरूप में विकार, कष्ट नहीं है। मेरा स्वरूप ज्ञातादृष्टा रहित है। मैं वह हूँ जो भगवान हैं। अन्तर यही पड़ गया कि वे वीतराग हैं और यहाँ राग है। यह राग मिट जाय तो मुझमें और भगवान में कोई अन्तर रहेगा क्या? यह राग मेरा जा सकता है, क्योंकि औपाधिक हैं कर्मोदय के निमित्त से हुआ है। मेरे स्वरूप की चीज नहीं है। मेरा स्वरूप प्रभु के समान है। वही ज्ञानानन्द शक्ति सब कुछ मेरे में हैं। लेकिन पर पदार्थ का व्यामोह करने से यह मेरी दयनीय दशा हो गई है। हम प्रभु की उपासना इस मुद्रा में करें कि जो मुद्रा वास्तव में प्रभु की होती है। निर्लेप, अकिञ्चन केवल ज्ञानस्वरूप, तो ऐसी ही मुद्रा जिनेन्द्र देव की बनायी गई है। निर्लेप, अकिञ्चन, नासादृष्टि, केवल ज्ञान ओर आनन्द में लवलीत, जिस मुद्रा को देखकर हमें प्रभु का यथार्थ स्वरूप झट सामने आ जाय वही तो दर्शन के योग्य है। तो ऐसा प्रभुवत मेरा स्वरूप है, उसकी सुध हुई है। बाहर में जो आज हमारी स्थिति है तो दुःख उत्पन्न होता है। हमें दुःख देने वाला कोई दूसरा प्राणी नहीं है। कोई जानता है कि यह मेरा विरोधी है, मुझे सुख देता है। कोई विरोधी नहीं है। सब चेतन है। सब भगवान स्वरूप हैं। सब अपने-अपने कषाये के अनुसार अपने में प्रवृत्ति करते हैं, सो वे भी अपनी शान्ति के लिए प्रवृत्ति करते हैं। मेरे विरोध के लिए नहीं करते। तथ्य तो यह है। कोई मेरा विरोधी नहीं। कोई सुख-दुःख दाता नहीं। मोह रागद्वेष ये ही मेरे को दुःख के कारण हैं। सो ये दुःख कब मिटें, जब मैं यह जान जाऊँ कि यह मैं ज्ञानानन्द स्वरूप, यह मैं आत्मा यह तो मैं हूँ और इसके अतिरिक्त बाहर में जो कुछ है वे सब पर हैं, ऐसा जब बोध हो तो मोह टूटेगा और दुःख का कारण मिटेगा। देखो सबसे बड़ी बात है। अपनी सत्य छाया की पहचान कर लो मेरा सच्चा घर क्या है! मेरा निजी घर यह मैं आत्मतत्त्व हूँ, जिसके नाम-जिन, शिव, ईश्वर, ब्रहमा, राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदि हैं। ये आत्मा के ही तो स्वरूप हैं, आत्मा के ही तो रूप हैं। और शब्दों से देखा जाय तो पापों से हरे सो हरि। कौन हरेगा? यह मैं आत्मा। तो यह ही मैं हरि हूँ। जो व्याप कर रहे सो विष्णु। कौन रहता है व्यापकर? यही मैं आत्मा। जो ज्ञानस्वरूप हो सों बुद्ध। ऐसा कौन है? यही मैं आत्मा। जिसमें योगीजन रमण करें वह राम। वह कौन है? यही में ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व। जो ऐश्वर्य वाला है, जो सृष्टि की रचना करे वह ब्रह्मा, ऐसा कौन है! यही मैं आत्मा। जो रागद्वेषादि से जीते सो जिन? वह कौन है? यही मैं आत्मा। ऐसा मैं अपने धाम में किसी प्रकार अगर

पहुँच सके तो आकुलता का फिर कोई काम नहीं हो सकता। अपने अन्तस्तत्त्व की सुध लें, यह ही मात्र ,अपना शरण है। जिसका जो परिणमन है वह उसकी परिणति से होता है। मैं कुछ नहीं करता बाहर में। मैं विकारों को दूर करूँ, और अपने आनन्द में रहूँ। कुछ आत्मभावना चले तो यह एक अपनी स्वरक्षा का साधन है।

प्रथम सूत्र में मुमुक्षु का आश्वासन—इस तत्त्वार्थ सूत्र का प्रथम सूत्र है सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः जिसका अर्थ है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, इन तीनों का एकत्व मोक्ष का मार्ग है। मोक्षमार्ग की बात सुन कर चित्त में एक शंका हो सकती है कि मोक्ष तो होगा बाद में, अभी तो बंध है। बंधपूर्वक मोक्ष हैं बंध था तब मोक्ष हुआ। तब फिर पहले बंध के कारणों को क्यों नहीं बताया जाता? एक ऐसी बात आ सकती है मन में। चित्त ही बता देगा कि अगर बंध की और बंध के कारणों की बात सबसे पहले कहेंगे तो यह जीव पकड़ा जायगा। बंध दुःख का कारण है। बंध के कारण विपत्तियाँ हैं। उनके कारण यह जीव भय कर सकता है। उसकी एक राहत देने के लिए सबसे पहले मोक्ष की बात कहाँ हैं। बंध तो है ही अनादि से। कारण जरूर बंध के बताने पड़ेंगे क्योंकि बंध के कारण बताये बिना उन कारणों की उपेक्षा कैसे न करेंगे? सो बतायेंगे। प्रथम तो कष्ट मुक्ति की बात कह रहे हैं। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का एकत्व ही मोक्ष का मार्ग है। जैसे कोई जेल खाने के बन्धन में बंधा हुआ हो और उसे बंधका व्याख्यान किया जाय तो वह डरता है और अगर उसे छूटने की बात कही जाय तो उसे कितना प्रिय लगता है। इस तरह इस बंधनबद्ध जीव को मोक्ष की बात बतायी जाय तो इसे बड़ा विश्वास होगा। अतएवं मोक्ष के कारणों की बात पहले कही जा रही है।

तत्त्वार्थ सूत्र की उपपत्ति का हेतु—तत्त्वार्थ सूत्र की उपपत्ति की उत्थानिका सुनो—इसमें तीन बातें हो सकती हैं। एक तो यह कि उस जमाने में मोक्षमार्ग का प्रतिपादन विपरीत तरीके से चल रहा था। कोई मोक्ष का कारण ज्ञान को मानता था और कोई वैराग्य मानता था, कोई श्रद्धा मानता था, या कोई लोग अन्य प्रकार के भक्ति आदि क्रियाकाण्ड मानते थे। तो अनेक बातें थी। तो उनका निराकरण करने के लिए इस सूत्रजी की उत्पत्ति हुई है। दूसरी बात जैसे प्रसिद्ध है कि एक श्रावक के घर उमा स्वामी आहार करने के लिए गए, वहाँ उन्होंने देखा कि भींट में लिखा हुआ था, दर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्ग। तो उस सूत्र के पहले उन्होंने एक सम्यक् शब्द और जोड़ दिया। तो यह श्रावक इस महाशास्त्र की व्याख्या करना चाहता था, पर यह समझकर कि जब पहले सूत्र में ही गलती निकली तो फिर मैं इसमें कहाँ समर्थ हूँ। सोचा कि मैं उस आचार्य के पास चलूँ जिन्होंने उसकी रचना की। तो उसके पास गए। तीसरी बात यह हो सकती है जो प्रायः करके है ही कि संसार के जीवों को दुःख में निमग्न

देखकर उनका उद्धार करने की अभिलाषा हुई हो। जैसे भी यह जीव अज्ञान दिशा को छोड़कर ज्ञान की स्थिति में आवे और संसार के समस्त दुःखों से छुटकारा पावे, ऐसा मन में आया, जीवों के प्रति एक विशुद्ध करुणा उत्पन्न् हुई उसके कारण इस ग्रन्थ की रचना ग्रन्थ कर्ता ने की। अथवा ये तीनों ही बातें समझो। इन तीनों बातों से इस महाशास्त्र की रचना हुई है। सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है। संक्षेप में बात यह है कि आत्मा के सहज स्वरूप का याने यह आत्मा अपने आप ही पर की अपेक्षा बिना स्वयं जैसा हैं उस प्रकार का श्रद्धान हो जाना कि यह मैं हूँ इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन और तत्व के बार में अपने आत्मस्वरूप के बारे में यथार्थ बोध हो जाना इसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान और जैसा कि बोध किया जैसा कि श्रद्धा की, जैसा कि स्वरूप समझा उस ही स्वरूप में मग्न होना उस ही स्वरूप के अनुरूप वृत्तियाँ होना इसे कहते हैं सम्यक्चारित्र। तो इन तीनों की एकता मोक्ष का मार्ग है।

आत्मकरुणा का प्रथम पाद—अब जरा सम्यग्दर्शन के बारे में थोड़ा विचार करें। यद्यपि इसके सम्बन्ध में विशेष विवरण आगे के सूत्र में आयगा फिर भी प्रसंग आया है तो सम्यग्दर्शन के विषय में भी कुछ सोचें। सम्यग्दर्शन क्या है? जैसा कि आगे कहा है—तत्वअर्थ का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। जैसा वस्तु का स्वरूप है उस स्वरूप सहित पदार्थ का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है। यह बात बनती कैसे है? तो इसके लिए सबसे पहले विशुद्धोपयोग की आवश्यकता है। कुछ तो विशुद्ध अध्यवसाय हो, शुभ संकल्प हो, कुछ परिणामों में विशुद्धता जगे, कषाय मंद हों। ऐसा उपयोग बनेगा तो उस उपयोग के प्रसाद से ऐसी योग्यता प्रकट होती है। कि उपदेश का ग्रहण भी हो सकता है। कोई पुरुष क्रोध में बसा हो तो उसके उपदेश कहाँ लगेगा? कोई मान कषाय के रंग से रंगा हुआ हो तो उसके उपदेश कहाँ लगेगा। कोई मायाचारी, छल कपट में लगा हो तो उसके उपदेश की बात कहाँ लगेगी। ऐसे ही कोई लोभ के रंग से रंगा हो तो उसके भी उपदेश की बात नहीं आ सकती। कषायें मंद हो, यह अपने लिए भली चीज है। देखिए—जीवन चला जा रहा है, गुजरा जा रहा है लेकिन लोग इन कषायों की तीव्रता में कमी नहीं कर रहे हैं। जरा-जरा सी बातों में लोग क्रोध करने लगते, अपने को महान तथा दूसरों को तुच्छ समझने लगते, मायाचारी करते तथा लोभ कषाय की तीव्रता करते इससे भाई यह सामने रखकर कि जो कुछ भी मिला है वह कभी न कभी मिटेगा। लोग सोचते कि मैं ऐसा मकान बनाऊँगा कि जो कम से कम ५०० वर्ष रहे, अपने आप पर कुछ भी दया नहीं करते। अरे अपने आप पर कुछ तो दया करो। अन्य सब बातें असार समझो। सबको दुःख का कारण समझो, भ्रमजाल समझो। पर वस्तुओं में लगना यह सब विपत्ति है। जिस काल में इस भगवान आत्मतत्त्व में दृष्टि जाती है सम्पन्नता तो उस काल में है। सहज ज्ञानस्वभावी अखण्ड ज्ञायकस्वभाव जो है सो है। जैसे अग्नि के विषय में कोई वर्णन करे कि अग्नि किसे कहते हैं। तो वह कहता है कि जलाये सो अग्नि, जो

प्रकाश करे सो अग्नि, जो रसोई जलाये सो अग्नि, जो ठंड मिटाये सो अग्नि, जो ताप उत्पन्न करे सो अग्नि। ये विशेषतायें बतायी तो जा रही हैं पर वह जो है सो है। वह अपने परिणामन में जल रही है। उस अग्नि के समझाने के लिए भेद है, इसी, तरह आत्मा से समझाने के लिए भेद है। जिसमें ज्ञान है। श्रद्धा है, चारित्र है, आनन्द है आत्मा, पर आत्मा तो स्वयं अपने आप एक चैतन्य-स्वरूप पदार्थ है और उसका प्रति समय अपने आपके रूप में अखण्ड परिणामन होता चला जाता है।

आत्म दर्शन के उपाय में सर्वप्रथम मंदकषाय की आवश्यकता—आत्मस्वरूप की दृष्टि बने इसके लिए सर्वप्रथम आवश्यक हैं कि अपने जीवन में कषायें मंद करें। खोजो-जैसे घर में घुसे हुए चोर को लोग सब जगह भली भांति खोजकर निकालते कि नहीं? उसे तो सब तरह से घर से बाहर भगाने की कोशिश करते हैं। इसी तरह अपने आपके अन्दर चोर हैं ये विषय कषाय, ये पर वस्तु के सम्बंध के लगाव। इन्हें खोज खोजकर निकालने का यत्न करें तो यह बुद्धिमानी हैं। और अगर इनमें ही आनन्द मानने लगें तो घर लुट जाएगा। इन विषय कषायों, को अपने आप में खोज करें कि मेरे अन्दर लोभादि का गहरा रंग चढ़ा है कि नहीं। अगर चढ़ा है तो समझो कि बड़ी आपत्ति में पड़ गए, बड़ी विडम्बना में पड़ गए। इसमें कभी भलाई नहीं है। इसी तरह अन्य सभी कषायों की भी अपने आप में खोज करें। क्या सार पाने के लिए क्रोध किया जा रहा है? तो क्रोध भी कम करें। यद्यपि कषाये कम होना आत्मदृष्टि पर निर्भर है फिर भी आत्मदृष्टि करने की पात्रता होना कषायों की मँद करने के आधार पर है। कोई तीव्र कषाय करता रहे तो वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने का पात्र नहीं हो सकता। उससे होगा उपयोग विशुद्ध और उपयोग विशुद्ध होने से दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम, की योग्यता बनेगी।

सम्यक्त्वोपपत्तिता अन्तरङ्ग निमित्त—अन्तरंग निमित्त दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षेयोपशम, सातों प्रकृतियों का उपशम आदि यह है सम्यग्र्शन का निमित्त कारण। देखिये-निमित्त नैमित्तिक भाव का खण्डन बनाने के प्रयोजन से लोग ऐसा भी बोलने लगे हैं कि देखो बहुत बार तो ऐसा समवशरण में गए, पर सम्यग्दर्शन न हुआ। बहुत बार जिनबिम्ब के दर्शन किया पर सम्यग्दर्शन न हुआ, अनेक बार उपदेश सुना, पर सम्यग्दर्शन न हुआ। तो निमित्त कारण तो कुछ न रहा। वे यह नहीं समझते हैं कि समवशरण में जाना, जिनबिम्बके दर्शन करना, उपदेश श्रवण करना, ये सम्यग्दर्शन के निमित्त कारण नहीं हैं। सम्यग्दर्शन का निमित्त कारया तो सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षेयोपशम है। तो कहीं भी कोई बताये कि सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होते-होते सम्यक्त्व नहीं हुआ। तो ये बाहरी चीजें निमित्त नहीं कहलाती, ये आश्रयभूत कहलाती हैं, अर्थात् उपयोग इनका आश्रय लेता हैं और इनका आश्रय पाकर एक शुभ विकल्प बनता है। उसमें ऐसी योग्यता जगती है कि सात प्रकृतियों का

उपशम, क्षय, क्षयोपशम आता है इससे सम्यक्त्व् उत्पन्न होता है। निमित कारण उपशम, क्षय, आदि अवस्थाएं हैं। जीव के भाव बनाने में बाह्य पदार्थ निमित्त नहीं हैं, मात्र आश्रयभूत हैं। जैसे किसी पुरुष को किसी नौकर पर क्रोध आया तो लोग झट कह देते हैं कि देखो यह नौकर इस पुरुष को क्रोधी बनाने में निमित्त कारण पड़ा, पर यह बात गलत है। न तो नौकर ने क्रोध कराया और न वह नौकर उसके क्रोध का निमित्त कारण है। क्रोध कषाय का निमित्त कारण है। क्रोध प्रकृति का उदय और वह नौकर उस क्रोध कषाय में नोकर्म पड़ गया, आश्रय भूत हो गया। आश्रय भूत का कारण के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बंध नहीं है। आश्रयभूत हो तो कार्य जरूर हो यह नियम नहीं, पर समर्थ निमित्त हो वहाँ कार्य हो, यह दार्शनिकशास्त्र खूब बतला रहा हैं और आज के अनुभव भी बतला रहे हैं। क्रोध प्रकृति का निमित्त कारण था जीव का क्रोधकषाय और उस क्रोध कषाय का निमित्त कारण है क्रोध प्रकृति का उदय और नौकर वगैरह दिख गया यह हुआ नोकर्म। कभी देखा होगा कि किसी स्त्री से अगर पति लड़ गया और स्त्री को बड़ा तेज गुस्सा आ गया तो वह क्या करती है? पति का तो कुछ कर नहीं सकती, पर वह अपना गुस्सा उतारती है अपने बच्चे पर। वह एक दो थप्पड़ बच्चे के जमा देती है। आखिर क्या करे वह? भीतर में कषाय उठी तो उसका कुछ तो परिणाम होना ही चाहिए। तो आश्रयभूत पदार्थ का सम्बंध नहीं है कार्य के साथ। निमित्त नैमित्तिक भाव है। आश्रय के साथ नहीं है। अतः ऐसी बात कहकर निमित्त नैमित्तक भाव की व्यवस्था बनाना कोई बुद्धिमानी नहीं है। तो कुछ लोग निमित्त नैमित्तक भाव को इतना महत्त्व देते हैं कि उसमें कर्ता कर्म भाव भी लाद देते हैं। क्रोध प्रकृति जीव ने क्रोध पैदा कर दी यह भी बात ठीक नहीं है। क्रोध प्रकृति के उदय में अपने आप क्रोध प्रकृति का लाभ लिया, पर जीव ने क्रोध नहीं किया। क्रोध प्रकृति के विपाक का निमित्त पाकर जीव ने अपनी परिणति से क्रोध कषाय उत्पन्न की। एक दृष्टान्त में देखो-जैसे हम इस तखत में बैठे हैं तो तखत ने हमें नहीं बैठाया किन्तु इस तखत का निमित्त करके मैं खुद बैठ गया। इस तखत ने मेरे में कुछ बात नहीं की। इसका कुछ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव मेरे में नहीं आया। आज लोग तो यह देख ही रहे हैं। सर्वत्र निमित्त नैमित्तिक भाव की ऐसी ही व्यवस्था है।

सम्यक्त्व के संदर्भ में—हम परिणाम विशुद्ध करें, कषायों को मंद करें। तत्त्व ज्ञान की और प्रयास करें। जो यथार्थ वस्तु का स्वरूप है उसका चिन्तन करें। तो ऐसे परिणाम का निमित्त पाकर यह संबंध है कि दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो जाए और जहाँ दर्शन मोह का क्षय, क्षयोपशम आदि हो वहाँ इसको सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। सबसे पहले जीव को उपशम सम्यक्त्व उत्पन्न होता है न क्षायोपशमिक न क्षायिक। इन तीनों का मतलब समझो—जैसे एक शीशी में गंदा तेल भरा है। थोड़ी देर बाद दो चार दिन बाद उसका मैल नीचे बैठ जाएगा। तब ऊपर वह तेल बिल्कुल साफ हो जाएगा। तो यह क्या कहलाया कि

उस मैल का उपशम हुआ। अब वह तेल बिल्कुल निर्मल है और उस शीशी को कोई हिला दे तो उसका मैल ऊपर उठने लगेगा। इस स्थिति में कुछ निर्मल और कुछ मलिन दीखेगा। इसे समझें क्षयोपशम। दाखिला तरीके बोल रहे है। और जब उस शीशी का उपशम हो गया उस समय तेल को दूसरी शीशी में निखार लिया जाय तो वहाँ मैल का नाम नहीं है। इस ढ़ंग का समझ लो क्षय। तो जीव के जब सात प्रकृतियों का उपशेम होता है तो सम्यग्दर्शन तो निर्मल हो जाता है मगर दबा है। तो जिस समय वह दाग उठता है तो उस समय उसका सम्यक्त्व विघट जाता है। देखो यह बात तो अन्य की है पर आपका पौरुष क्या करे? क्या आप यह पौरुष कर सकते हैं कि मैं इन सातों प्रकृतियों को दबा दूँ। और इन प्रकृतियों को तो देख भी नहीं सकते, छू भी नहीं सकते। स्पष्ट ज्ञान में भी नहीं आती। हम युक्ति से, आगम से जानते हैं। और वे हैं पर पदार्थ। उन पर आपकी कोई करतूत नहीं चल सकती। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का कर्ता नहीं होता। उसमें द्रव्य, क्षय, काल, भाव अर्पित नहीं कर सकते। तो उस कर्म को क्या करोंगे? कर्मों में कोई परिणति नहीं बनती। हाँ भाव का निमित्त पाकर कर्म अपने आप में अपनी परिणति बनाया करते हैं। तब हमारा पौरुष कहाँ चलेगा? हमारा पौरुष चलेगा विशुद्ध ज्ञान बनाने में। एक ही काम है कल्याण के लिए कि विशुद्ध तत्त्वज्ञान उत्पन्न करें। सर्व पदार्थों का जैसा स्वरूप हैं उस स्वरूप में उसकी परिणति प्राप्त करें। ऐसा परिचय पाने से परिणामों में निर्मलता आयगी और सम्यग्दर्शन होगा। तो उपयोग विशेष जब हमारा होता है, विशुद्ध अध्यवसाय संकल्प बनता है तो मन, वचन की चेष्टायें हमारी अटपट नहीं होती हैं और उस समय भीतर में ज्ञान का ऐसा विशुद्ध व्यापार चलने लगता है कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है यहाँ सम्यग्दर्शन का एक संक्षिप्त लक्षण बताया। विशेष आगे कहा जायगा।

सम्यग्ज्ञान का दिग्दर्शन—सम्यग्ज्ञान क्या चीज हैं? सम्यग्ज्ञान-जो पदार्थ जिस रूप से अवस्थित है उसे उस रूप से समझना सच्चा ज्ञान है। पड़ी तो है रस्सी और हो जाए ऐसा भ्रम कि यह सांप है या रस्सी है तो क्या यह सम्यग्ज्ञान है? अरे सम्यग्ज्ञान (सच्चाज्ञान) वही है कि जो पदार्थ जिस प्रकार से अवस्थित है उसको उस ही प्रकार से जानना। देखो जीव तो कोई एक ज्ञान प्रकाशमय पदार्थ है और उस संसारी जीव इस तरह से जान रहे हैं कि जो देह पाया उसी को मान बैठते हैं कि मैं तो यह हूँ, तो क्या यह कोई सच्चा ज्ञान है? अरे यह देह तो मैं नहीं हूँ। मैं तो इस देह से भी निराला एक ज्ञान ज्योति स्वरूप पदार्थ हूँ। तो जो पदार्थ जिस तरह हो उस तरह जानने का काम सम्यग्ज्ञान है। इसका उपाय है नय और प्रमाण, जिसका विशेष वर्णन इस अध्याय में आगे आयगा। मगर थोड़े शब्दों में समझ लीजिए कि पदार्थ का सर्वतोमुखी जो स्वरूप है उसका परिचय पाना प्रमाण है और प्रमाण से जान कर उस पदार्थ के बारे में एक-एक विषय को जानना, एक-एक धर्म का परिचय करना यह कहलाया ना? तो नय प्रमाण पूर्वक जीवादि पदार्थों का बोध होता है। इसका विषय

आगे स्पष्ट होगा। पर यहाँ इतनी बात समझ लें कि जो पदार्थ जिस रूप में अवस्थित है उस रूप से परिचय पाना सो सम्यग्ज्ञान है।

सम्यक्चारित्र की भावना—सम्यक्चारित्र क्या है? सही आचरण करना सम्यक्चारित्र है। आत्मा का जो सही स्वरूप है उस स्वरूप में ज्ञान चलना, ज्ञान में वह स्वरूप समाना और उस स्वरूप के अनुकूल ज्ञान की परिणति बनना अर्थात् ज्ञाता दृष्टा रहना, रागद्वेष का अभाव होना यह है सम्यक्चारित्र। तो सम्यक्चारित्र की यह है एक ऊँची अवस्था, पर उसके लिए प्रयोग जो पहले किया जाता है वह प्रयोग क्या है? अशुभ मन, वचन काय की चेष्टायें न होना, शुभ मन, वचन काय की चेष्टायें होना और फिर शुभ मन, वचन काय की चेष्टाओं का भी परिहार होना अर्थात् अपने आप में निर्विकल्प अभेद विधि से मग्न होना वह कहलाता है सम्यक्चारित्र' सम्यक्चारित्र कौन धारण करता? जो संसार के कारणों को हटाने के लिए उद्यमी हुआ है। संसार के कारण हैं असंयम अश्रद्धा, अज्ञान। मन, वचन, काय की खोंटी चेष्टायें, अशुभ चेष्टायें। तो संसार के कारणों से निवृत्त होने के लिए जो उद्यमी हुआ है ऐसा जो उत्तम ज्ञानवान पुरुष है उसका जो बाह्य और अन्तरंग कर्मों का उपशम है उसका नाम सम्यक्चारित्र है। बाह्य कर्म क्या? शरीर का हिलना, वचन बोलना, और आन्तरिक क्रिया है, विचार करना, ज्ञान करना। तो मन, वचन, कार्य की क्रियाओं का उपशम होना, इसका नाम सम्यक्चारित्र है। देखिये अपनी सही श्रद्धा हो, अपने आत्मा का सही ज्ञान हो और इस ही स्वरूप में रुचि बने, यहाँ ही मग्न होने की धुन बने, उसका ही स्पर्श करे, बाह्य से हट जायें तो उसका एक ऐसा अलौकिक लाभ उत्पन्न होगा कि उसके अभी भी शान्ति है। आगे भी शान्ति होगी। कर्मों से वह छूट जायगा। उसका कल्याण ही कल्याण है। पर वस्तु के मोह रागद्वेष में किसी प्रकार का कल्याण नहीं।

प्रथम सूत्र में सकलक्लेशविध्वंस के उपाय का संदर्शन—संसार के दुःखों से छूटने का उपाय क्या है इसका वर्णन इस प्रथम सूत्र में किया जा रहा है। आत्मा के सहज चैतन्य स्वरूप का आत्मा रूप से श्रद्धान होना, यह मैं हूँ इस प्रकार की प्रतीति होना और उसका ज्ञान एवं उस ही में रमण (आचरण) होना, यह संसार के दुःखों से छूटने का उपाय है। इसकी समझ इसके विपरीत बात सोचने से जल्द हो जायगी। जब यह जीव अपने आत्मा के सहजस्वरूप का विश्वास नहीं रखता, ज्ञान नहीं करता और इस ही स्वरूप में अपनी धुन नहीं बनाता, आचरण नहीं करता, उस समय की स्थिति देख लो—केवल क्लेश ही क्लेश है। संसार के इतने सारे जीव करते ही क्या हैं? पर दृष्टि पर को आत्मा रूप से श्रद्धान और पर दृष्टि करके जो विकल्प बनाया उसी विकल्प रूप आचरण रहता है। ये ही काम करते चले जा रहे हैं तो इसके फल में कष्ट ही कष्ट मिलते चले जा रहे हैं। पर वस्तु का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण यही समस्त दुःखों का कारण है, दूसरा कोई दुःख का कारण नहीं।

स्वरूपोंद्बोधन से स्वरूपश्रद्धान की संभवता—अब अपने आप का श्रद्धान कैसे हो? तो देखो— जगत में जितने भी पदार्थ हैं उनकी सत्ता अपने आप है, किसी दूसरे पदार्थ की दया से नहीं है। किसी भी पदार्थ की सत्ता दूसरे की दया से नहीं है। स्वयं अपने आप है, क्योंकि वह सत् है। जो सत् नहीं है वह किसी भी प्रकार कितना ही मेल करने के बाद भी सत् नहीं बन सकता। जो सत् है वह किसी भी अन्य द्रव्य के सत्त्व के लिए अपेक्षा नहीं करता फिरता। प्रत्येक पदार्थ सत् है और वह स्वतः सत् है। किसी पदार्थ को किसी भी प्रकार बनाया नहीं जा सकता। अथवा किसी के मेल होने से उसकी सत्ता नहीं बनती। प्रत्येक पदार्थ की सत्ता आप है, और जैसे पदार्थ स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार पदार्थ स्वयं परिणमनशील है, किसी अन्य पदार्थ का निमित्त (सम्बंध) होने से पदार्थ में परिणमनशीलता आयी हो यह बात नहीं है। तो प्रत्येक पदार्थ स्वयं सहज परिणमनशील है, यह पदार्थ की कला हैं इस सूत्र जी में बताया है कि उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तंसत्, जो पदार्थ है वह अपने आप स्वयं उतपाद व्यय ध्रौव्य से युक्त है। अगर पदार्थ में उत्पाद स्वभाव न हो तो फिर कितने ही कारण कलाप हों, पर उत्पाद हो नहीं सकता। व्यय और ध्रौव्य स्वभाव न हो तो कितने ही उपाय किये जावें, पर व्यय और ध्रौव्य उनमें नहीं हो सकते। यह तो पदार्थ का स्वरूप है कि प्रति समय उत्पाद करे, विपरीत पर्याय विलीन करे और वह सदा काल बना रहे। जो बात कही जाय उसको अपने आप में घटित करने की बात समझना। समस्त शास्त्रों का प्रयोजन है आत्महित। आत्माहित का प्रयोजन जिसका न हो वह खूब शास्त्रज्ञान भी करे, बड़ी-बड़ी बातें भी बोले फिर भी उसका ज्ञान ऐसा है जैसा कि धन वैभव। उससे कुछ वास्तविक लाभ न उठा पाया। तो देखिये मैं आत्मा हूँ, अपने आप हूँ, अपने आप परिणमनशील हूँ, मैं खुद में खुद ही हूँ, मैं नवीन अवस्थायें बनाता हूँ, पुरानी अवस्थायें विलीन करता हूँ, और सदा काल ध्रुव रहा करता हूँ। यह है अपनी एक सहज कला। यह तो बतलाया एक साधारण बात, जो कि सभी द्रव्यों में पायी जाती है। अगर द्रव्य में साधरण गुण, असाधारण गुण न हो तो वह द्रव्य ही नहीं है। साधारण गुण असाधारण गुण के बलपर नाचते हैं और असाधारण गुण साधारण गुण के बल पर टिक रहे हैं। साधारण और असाधारण दोनों प्रकार के गुण पदार्थ में हुआ करते हैं।

स्व के असाधारण गुण के संदर्भ में—इसमें असाधारण गुण क्या है? चैतन्य, ज्ञान दर्शन, ये ज्ञान दर्शन जब सही रूप में आते हैं तो दुःखों से छूटने की विधि बनती है। हमारे ज्ञानदर्शन आदि गुण जब विपरीत अवस्था में रहते हैं तो हम संसार में रुलते हैं। अब एक प्रश्न यह है कि विपरीत अवस्था में क्यों चल उठे? तो यद्यपि पदार्थ अपने उपादान से अपने ही परिणति से परिणमते हैं, बुरा परिणमें तो, भला परिणमें तो, लेकिन केवल इतनी ही बात रहे कि अपनी ही शक्ति से अपने ही कारण अपने ही मात्र से ये विकार रूप परिणम जाते हैं तो फिर सदा विकाररूप परिणम करें। फिर विकार से रहित अवस्था क्यों होती है?

जो निरपेक्ष, पर सम्बन्ध बिना जो बात होती है वह सदाकाल और समस्त रूप में हुआ करती है। तब सिद्ध होता है कि मुझ आत्मा के साथ कोई विपरीत वस्तु लगी हुई है। जिसे उपाधि कहते हैं उस उपाधिका सन्निधान पाकर यह मैं आत्मा विकार रूप परिणमता हूँ। यह एक विवेक रखता कि निमित्त बिना विकार होता नहीं, तिस पर भी निमित्त विकार की परिणतिका कर्ता नहीं। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है। कोई भी दृष्टान्त आप बना नहीं सकते कि कोई भी विकार निमित्त के सन्निधान बिना हुआ हो। हो ही नहीं सकता। तो निमित्त सन्निधान बिना विकार नहीं हो सकता। निमित्त का सन्निधान अवश्य होता है तब विकार की बात बनती है। इतना होने पर भी प्रत्येक वस्तु में उत्पाद व्ययध्रौव्य स्वतः है। यह आत्मा विकार रूप अपनी ही परिणति से परिणमा। निमित्त की परिणति लेकर विकाररूप नहीं परिणमा। यह बहुत बड़े विवेक की बात है। जहाँ निमित्त नैमित्तिक योग भी पदार्थ ज्ञान में रहे और वस्तु स्वतत्रय भी ज्ञान में रहे ऐसी जानकारी निष्पक्ष आत्महित के अभिलाषी पुरुष के ही हो सकती है।

स्व के असाधारण गुण में चित्सामान्य और चिद्विशेष की प्रमुखता—यहाँ दर्शन ज्ञान की जरा व्याख्या सुनो—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है यह कहा गया है ना? तो वह दर्शन ज्ञान क्या है? जिस शक्ति के प्रताप से यह जाना जाता उसका नाम है ज्ञान और जिस शक्ति के प्रताप से यह जाने, देखें उसका नाम है दर्शन! जिस शक्ति के प्रताप से यह जीव श्रद्धा करे उसका नाम श्रद्धान। तो ये ज्ञान दर्शन गुण हम भेद दृष्टि में परख पाते हैं। जिस शक्ति से आत्मा को जानता है उसका नाम ज्ञान है, जिस शक्ति से आत्मा को देखता है उसका नाम दर्शन है। ऐसी बात सुनकर कुछ ऐसा लगता होगा कि तब ये ज्ञान दर्शन आत्मा से कोई जुदा चीज हैं तभी तो इनमें करण लगाया गया है। जैसे कोई बच्चा चाकू से पेन्सिल छीलता है तो वहाँ देखो वह बच्चा अलग चीज है और वह चाकू अलग चीज है। अथवा जैसे कोई लकड़हारा कुल्हाड़ी के द्वारा लकड़ी काटता है तो देखो वहाँ लकड़हारा अलग है और कुल्हाड़ी अलग है। तो क्या ऐसे ही आत्मा ज्ञानके द्वारा जानता है ऐसा कहने से आत्मा अलग है ज्ञान अलग है? क्या ऐसी बात है? देखो कुछ दार्शनिक ऐसा मानते हैं कि ज्ञान अलग चीज है। आत्मा स्वयं नहीं है। ज्ञानवान आत्मा स्वयं अपने आप नहीं है, किन्तु ज्ञान का सम्बन्ध होने से आत्मा ज्ञानी कहलाता है, ऐसा कोई दार्शनिक मानते हैं, और उनके ऐसा मानने का कारण क्या बना? उन्होंने सोचा कि जब ज्ञान का अर्थ जुदा है, आत्मा का अर्थ जुदा है और ज्ञान के द्वारा आत्मा जानता है ऐसा उसमें कर्ता और करण लगाया गया है तो वह कोई जुदा चीज है, और जब जैनी भी समझना चाहते हैं तो बोलते हैं नाकि आत्मा ज्ञान दर्शन आदि उनके गुणों का पिण्ड है, तो इसमें भी कुछ ऐसा मालूम पड़ता है कि ज्ञान दर्शन आदि अनेक चीजें हैं और उनका पिण्ड आत्मा है। तो मालूम पड़ा कि ज्ञान अलग है और आत्मा अलग है, लेकिन ऐसा नहीं है। अगर ऐसा मान

लिया जाय कि ज्ञान जुदा चीज है आत्मा अलग जुदा चीज है तो इसका अर्थ तो सही हुआ कि आत्मा ज्ञान बिना है स्वयं अपने आप और ज्ञान आत्मा के बिना है। तब दो चीजें अलग-अलग मान ली गईं ज्ञान यहाँ पड़ा है आत्मा यहाँ पड़ा है तो ज्ञान बिना आत्मा हो गया और आत्मा बिना ज्ञान हो गया। जब ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ा तब आत्मा ज्ञानी कहलाया। तो इसका अर्थ यही हुआ ना? शंकाकार जो कह रहा है उसका यही भाव हो गया। तो इसका अर्थ यह है कि आत्मा ज्ञानस्वभावी न रहा। आत्मा-आत्मा है। जब ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ा तो आत्मा ज्ञानी हुआ तो क्या अर्थ निकला कि आत्मा ज्ञानस्वभावी न रहा। तो जब ज्ञानस्वभावी न रहा आत्मा, ज्ञान शून्य रहा, तो क्या वजह है कि ज्ञान का सम्बन्ध आत्मा से हो रहा। ज्ञानशून्य तो पुद्गल भी है, धर्म आदि पदार्थ भी हैं, उनमें क्यों नहीं ज्ञान चला गया? आत्मा में ही क्यों जोड़ा गया? तो आत्मा को अगर ज्ञानस्वभाव से रहित मानोगे तो पहले तो हम यह न जान सकेंगे कि आत्मा है। वह तो ज्ञानशून्य हो गया।

दृष्टान्तपूर्वक आत्मा में ज्ञान की अभेदता का दर्शन—यहाँ एक दृष्टान्त लो। अग्नि उष्णता के द्वारा ईंधन को जलाती है, ऐसा कोई बोले तो क्या वहाँ आप कहेंगे कि अग्नि जुदा चीज है और गर्मी जुदा चीज है? अगर कोई ऐसा कह बैठे कि अग्नि गर्मी के द्वारा ईंधन जलाती है और इनमें अग्नि जुदा चीज है उष्णता जुदा चीज है तो उष्णता के बिना अग्नि हो गई और अग्नि के बिना उष्णता हो गई। तो हमें यह कैसे खबर पड़े कि यह अग्नि है? इस चौंकी को ही अग्नि क्यों नहीं कह बैठते? जब उष्णता के बिना अग्नि नाम पड़ा तो फिर और किसी चीज का नाम अग्नि क्यों नहीं रखते? तो जब यह निश्चित ही न रहा कि अग्नि है तो फिर उष्णता का इसमें सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया? तो इससे सिद्ध होता है कि उष्णता अग्नि से जुदा चीज नहीं। बल्कि सामने मानना पड़ता है कि अग्नि उष्णता में है गर्मी में है, वह अलग नहीं, ठीक इसी तरह आत्मा ज्ञानमय है, ज्ञान से अलग आत्मा नहीं है। और जैसे अग्नि गर्मी के द्वारा ईंधन को जलाती है, यह बोलते हैं, इसी तरह यह बोला जाता कि आत्मा ज्ञान के द्वारा जानता है। तो आत्मा को ज्ञान से अलग मानने पर कुछ निश्चय न हो सकेगा। यदि आत्मा ज्ञानस्वभावी न हो आत्मा ज्ञानशून्य हुआ। तो ज्ञान शून्य आत्मा कैसे समझा जाय कि इसमें ज्ञान है? इसका भी उत्तर दार्शनिकों ने सोच रखा है कि समवाय का सम्बन्ध होने से, पर का सम्बन्ध होने से जाना जाता है कि आत्मा ज्ञानवान है, ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ा हुआ है जैसे कपड़ा तो सफेद है, पर नील का रंग उसमें पुत गया तो कहते हैं कि कपड़ा नीला है, इसी तरह से कुछ लोग कहते हैं कि ज्ञान का सम्बन्ध जुड़ने से आत्मा ज्ञानी है। तो देखो जैसे नीले पदार्थ के सम्बन्ध से कपड़ा नीला है यह ज्ञान करते हैं तो वहाँ बात ठीक है, क्योंकि सम्बन्ध से पहले वह नीला रंग अलग था और कपड़ा अलग। दोनों का मेल हुआ तब कपड़ा अलग हुआ। वहाँ तो बात बन जायगी पर यहाँ न बनेगी। अगर यहाँ भी किसी तरह बनने को जिद करते तो इसका अर्थ यह हुआ कि ज्ञान अलग

रखा था और आत्मा अलग है। जब ज्ञान आत्मा में जुड़ा तो आत्मा ज्ञानी हुआ, अगर ऐसा मानोंगे तो ज्ञान रहित आत्मा कोई वस्तु नहीं है। तो आत्मा कुछ न रहा। आत्मा के बिना ज्ञान कोई चीज नहीं। निराश्रय ज्ञान कहा है तो ज्ञान ही न रहा। दोनों ही न रहे तब बात किसकी करते? तो समझ लीजिए कि आत्मज्ञानमय है। ज्ञानरूप ही आत्मा है, जैसे उष्णता स्वरूप ही अग्नि है ऐसे ही ज्ञानरूप ही आत्मा है।

ज्ञानस्वरूप की भावना में कल्याण का अवसर—अपने आप में विचार करें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान सिवाय मैं और कुछ नहीं। यह देह मैं नहीं, ये कषायें मैं नहीं हूँ। ये कषायें तो कर्मोदय का निमित्त पाकर इसमें हुई हैं। जब कर्म का उदय होता है तो कर्मरूप ही कषायें होती हैं। कर्म अचेतन है वे जान नहीं सकते और वे इस आत्मा में झलकते हैं तो आत्मा इन्हें अपना लेता है कि ये ही तो मैं हूँ। क्रोध अनुभाग तो कर्म में हैं यहाँ ये तो क्रोध झलकता है, मैं क्यों मानूं कि मैं क्रोधरूप हूँ। क्रोध तो एक नैमित्तिक भाव है, मैं क्रोधरूप नहीं हूँ, मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। देखो भाई यह ही अमृतपान है। अपने को अमर करना चाहते हो तो ऐसा अनुभव बनाओ कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान के सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूँ ज्ञान ही मेरा वैभव है वही मेरा सर्वस्व है। ज्ञान हो रहा है बस इतना ही मात्र मैं करने वाला हूँ, ज्ञान हो रहा है बस इतना ही मात्र मैं भोगने वाला हूँ। यह श्रद्धा रहेगी, यह दृष्टि बनेगी जितने काल उतने काल शान्ति रहेगी, मुक्ति का मार्ग मिलेगा, भला होगा और इससे हटकर जहाँ बाहर दृष्टि लगाया कि यह मेरा यह मेरी दुकान, यह मेरी स्त्री, ये मेरे बच्चे . . . बस वहाँ रागद्वेष आयेंगे, अनेक झंझट आयेंगे। आकुलता होगी। कल्याण नहीं हो सकता। बात भीतर में देखना है। हम देखते हैं कि पदार्थ है, उसका परिणमन उस ही पदार्थ में हो रहा है। तो मेरे आत्मा का परिणमन भीतर जो हो रहा है दुःख का सुःख का, वह सब मेरे उपयोग की कला से हो रहा है। सुखी शान्त होने के लिए बाहर में कोई सुधार बिगाड़ करने से काम न चलेगा। उसमें तो अशान्ति ही मिलेगी। लोग सोचते हैं कि मैं इतने काम कर डालूं, इतना-इतना वैभव जोड़ डालूं तो मैं शान्त हो जाऊँगा, पर उनका यह सोचना गलत है। इस तरह से करके अगर कोई अब तक शान्त हुआ हो तो बताओ? हाँ व्यवहार में भले ही लोग कह देते हैं कि अमुक के पास बहुत अधिक धन है इससे वह बड़ा आदमी है बड़ा सुखी है . . . पर जरा उसकी वास्तविकता पर ध्यान दो क्या वह कभी शान्त हो पा रहा है अथवा क्या वह कभी वास्तविक आनन्द प्राप्त कर पा रहा है? अरे यह धन वैभव सुख शान्ति का कारण नहीं। और फिर यह सोचो कि वह तो उदय के अनुसार प्राप्त होता है। धन वैभव कमाने के लिए यह मानव-जीवन नहीं मिला। वे तो बाहरी हैं, वे उदयाधीन हैं, उनके लिए अपना जीवन न समझें। जीवन इसके लिए समझें कि मेरा मुक्ति का उपाय बने, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र की उपलब्ध हो जिससे कि यह दुर्लभ मानव जीवन सफल होगा। अन्य बाहरी बातों से इस मानव जीवन की कोई सार्थकता नहीं है।

ज्ञानमय आत्मा में ज्ञान के संयोग सम्बन्ध की चर्चा की अनवकाशता—यहाँ यह बात समझना है कि आत्मा ज्ञानमय है। ज्ञान है सो आत्मा। ज्ञानस्वरूप आत्मा हैं। आत्मा में ज्ञान है। ऐसा तो समझाने के लिए बोलते हैं। इससे कुछ यह जाहिर होने लगता है कि आत्मा अलग है, ज्ञान अलग है। जैसे कहते हैं कि घड़े में दही है। बोरे में गेहूँ हैं, इस तरह आत्मा में ज्ञान नहीं है, किन्तु आत्मा ज्ञान स्वरूप है। कुछ दार्शनिक लोग ऐसा मानकर चले हैं कि आत्मा द्रव्य है, ज्ञान गुण है, और ये दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, जब ज्ञान का आत्मा में समवाय सम्बन्ध होता है तब यह आत्मा ज्ञानी कहलाता है, इसी सम्बन्ध में विचार चल रहा है। यदि माना जाय कि आत्मा पदार्थ अलग है और ज्ञान नामक पदार्थ अलग है और उनका फिर समवाय (सम्बन्ध) होता है तब आत्मा ज्ञानी कहलाता है तो ऐसा मानने में ये दोनों ही नहीं ठहरते। ज्ञान अलग है तो आत्मा के बिना, सहारे के बिना ज्ञान का ठिकाना ही नहीं। आत्मा अलग है तो ज्ञान बिना आत्मा का क्या स्वरूप है? न आत्मा रहा और न ज्ञान रहा, देखो जैसे छतरी के सम्बन्ध से छतरी वाला कहा जाता—यह आदमी छतरी वाला है तो छतरी अलग है और वह छतरी वाला होने से पहले ही अलग था। सम्बन्ध से पहले छतरी अलग थी और यह पुरुष अलग था। फिर हुआ सम्बन्ध तो बोला जायगा छतरी वाला। सम्बन्ध जिसका माना जाय उसका अर्थ ही यह होता कि सम्बंध से पहले वे दोनों स्वयंसत् थे तब सम्बन्ध हुआ तो क्या ऐसा है? ऐसा तो नहीं है। यहाँ तो पुरुष के बिना छतरी की सत्ता रह सकती है। छतरी के बिना पुरुष की सत्ता बनी हुई है फिर सम्बन्ध हुआ है, लेकिन यहाँ आत्मा के बिना ज्ञान का कोई अस्तित्त्व नहीं है, इसलिए सम्बन्ध से अगर आत्मा को ज्ञानी माना जाय तो न आत्मा रहेगा और न ज्ञान रहेगा।

ज्ञानमय आत्मा में ज्ञान के समवाय की चर्चा को अनवकाशता—और भी इस विषय में समझिये जैसे कोई कहे कि अग्नि उष्ण है, कैसे उष्ण है? उष्ण गुण का सम्बन्ध होने से अग्नि उष्ण है तो यह बतलावो कि उष्ण गुण का जब सम्बंध नहीं हुआ, अग्नि के सम्बन्ध से पहले अग्नि के बारे में यह ज्ञान हुआ था कि नहीं कि अग्नि उष्ण है, उष्ण का जब सम्बन्ध न हुआ अग्नि में उस समय ज्ञान हुआ कि नहीं कि अग्नि उष्ण है अगर कहो कि सम्बन्ध से पहले भी अग्नि उष्ण है ऐसा ज्ञान होता है तो फिर सम्बन्ध करने की जरूरत क्या रही? अग्नि तो उष्ण है ही, तब फिर उष्ण का सम्बन्ध बनाने की क्या आवश्यकता रही? यदि कहो कि उष्ण का अग्नि में सम्बन्ध होने से पहले अग्नि उष्ण है ऐसा ज्ञान नहीं होता है तो देखो उस अग्नि में यह उष्ण है ऐसा ज्ञान नहीं हो रहा। ऐसे ही इन चौकी, दरी आदि में भी तो यह उष्ण है यह ज्ञान नहीं हो रहा। तब फिर क्या वजह है कि उष्ण गुण अग्नि में चिपका चौकी, दरी आदि में नहीं? तो उष्ण गुण का सम्बंध न हो सका अनुष्ण से और न अनुष्ण गुण का सम्बन्ध हो सका उष्ण से। जैसे दरी, चौकी आदि में उष्ण का सम्बन्ध न रहा। जब सम्बन्ध की बात मानोगे तो फिर न ज्ञान रहा न आत्मा रहा। आत्मा ज्ञानस्वरूप

है। आत्महित के लिये तब ऐसा ध्यान करना है कि आत्मा ज्ञान मात्र है, ज्ञानमय है, ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानसिवाय मैं और कुछ नहीं हूँ। ज्ञान में जब केवल ज्ञान स्वभाव रह जाता है तब ज्ञानानुभूति होती है, विलक्षण आनन्द होता है, कर्म करते हैं, मुक्ति का मार्ग मिलता है। तो यह मानो कि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान के सम्बन्ध से आत्मा ज्ञानी है यह बात नहीं है। और भी विचार करके देखो— यदि वे यह मानते हों कि उष्ण गुण के सम्बन्ध से अग्नि उष्ण है तो फिर उष्ण गुण की ही बात बतलावें कि उष्ण गुण किसके सम्बन्ध से उष्ण गुण हुआ? अगर वे कहें किसी दूसरे उष्ण गुण के सम्बन्ध से उष्ण गुण हुआ तो फिर वे यह बतलावें कि वह दूसरा उष्ण गुण किसके सम्बन्ध से उष्ण गुण हुआ? यदि कहें कि तीसरे उष्ण गुण के सम्बन्ध से वह दूसरा उष्ण गुण हुआ तो फिर उनसे यह पूछो कि वह तीसरा उष्ण गुण किसके सम्बंध से हुआ? तो वे चौथा पांचवा आदि का व्यापार थोपते चले जायेंगे। इसमें तो अनवस्था दोष आयगा। अरे उष्ण में स्वयं उष्णता है, उसमें किसी दूसरे की जरूरत नहीं। ऐसे ही यह मानें कि अग्नि में स्वयं उष्णता है, उसमें किसी दूसरे की जरूरत नहीं। ठीक ऐसी ही बात आत्मा में है। आत्मा अगर ज्ञान गुण के सम्बन्ध से ज्ञानी कहलाये तो फिर उस ज्ञान गुण में किसका सम्बन्ध हुआ? अगर वे कहे कि वह ज्ञान गुण किसी दूसरे ज्ञानगुण के सम्बन्ध से बना तब तो फिर वहीं उष्णता वाली बात आ जाएगी। **तो इससे यही** मानना चाहिए कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। मैं ज्ञानमात्र हूँ।

दुःख मुक्ति के उपाय की अदुर्लभता का कारण स्वयं की सहज ज्ञानानन्दमयता—देखो संसार के दुःखों से छुटने का उपाय बहुत सरल है, संसार में रुलने का उपाय तो कठिन है, पराधीन है, मगर मोक्षमार्ग तो बहुत सरल है, किसी के सम्बन्ध की जरूरत नहीं। किसी के लगाव की जरूरत नहीं। स्वयं स्वतन्त्र अपने आपका जैसे सहजस्वरूप है, निरपेक्षस्वरूप है उस रूप की अपनी श्रद्धा कर लें तो सम्यक्त्व होगा। मुक्ति का मार्ग मिल जायेगा। भलाई तो अपने आपके आत्मस्वरूप की श्रद्धा में है। कोई कहता है कि मैं मनुष्य हूँ, कोई कहता है कि मैं व्यापारी हूँ, मैं अमुक लाल हूँ, मैं अमुक प्रसाद हूँ आदि कितनी ही बातें अपने आपके बारे में लोग बोलते हैं। लेकिन ये मैं कुछ नहीं हूँ। यद्यपि यह पर्याय और ये सब बातें आयी हैं, इनके बीच में हम आप पड़े हुए हैं फिर भी जैसे जल से भिन्न कमल है। इसी प्रकार हम सब बातों से मैं आत्मा भिन्न हूँ। ऐसी रुचि हो, ऐसी श्रद्धा हो, ऐसी धुन बने। तो भाई जगत में कोई किसी की शरण तो है नहीं। ऐसा ज्ञान बनावें तो खुद के लिए खुद शरण हो जायगा। यह बात कहीं दूसरों को जताने की नहीं है, प्रसार करने की नहीं है, अर्थात् सब लोग ऐसा समझ जायें तो मेरा उद्धार हो जायगा ऐसी बात नहीं है, समझ सकते भी हैं मगर मेरा उद्धार तो मेरी समझ से ही होगा दूसरे की समझ से नहीं। अपनी बात अपनी दया अपने आप में देखो। तो बात यह बनी कि आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान के समवाय से आत्मा ज्ञानस्वरूप नहीं है। यह दार्शनिक विषय है। बहुत

लम्बा चलने पर कुछ श्रोताओं को आकुलता भी हो सकती है। अब इस विषय में आगे न बढ़कर, इतना समझ कर छोड़ देंगे कि जैसे दीपक में प्रकाश है तो कहीं प्रकाश के समवाय से दीपक प्रकाशमान नहीं है। वह तो स्वयं प्रकाशरूप है। इसी प्रकार आत्मा भी ज्ञान के सम्बन्ध से ज्ञानमय नहीं है, किन्तु आत्मा स्वयं ज्ञानमय है। देखो विडम्बना—जो समवाय सम्बन्ध मानते हैं, वे दार्शनिक यह कहते हैं कि जब कोई यह प्रश्न करे कि आत्मा में ज्ञान का समवाय हुआ तो यह तो बतलावो कि उस समवाय का सम्बन्ध फिर किस सम्बन्ध से हुआ? तो वे कहते हैं कि समवाय तो स्वयं प्राप्तिरूप है, उसमें अन्य सम्बन्ध की जरूरत नहीं, लेकिन जब संयोग की जरूरत होती है—कपड़े में रंग का संयोग हुआ, पुरुष में छतरी का संयोग हुआ, तो यह सम्बन्ध कैसे हुआ? संयोग भी प्राप्त है फिर उसके लिए क्यों सम्बन्ध मानते?

एक द्रव्य की विशेषताओं को भेदकर विशेषवाद की उत्पत्ति—ये विशेषवादी पदार्थ ७ मानते हैं—६ सद्भावात्मक और एक अभावात्मक। द्रव्य, गुण, पर्याय, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। क्यों मान लिया उन्होंने ऐसा कि उनकी समझ में आया कि द्रव्य का लक्षण तो यह है, गुण का लक्षण यह है, कर्म का यह है, सामान्य का लक्षण जुदा है, विशेष का लक्षण जुदा है, सामान्य किसे कहते हैं? जो सबमें व्यापक रहे। जैसे वे मनुष्य बैठे हैं, तो मनुष्य सब में व्यापक है। तो मनुष्य में मनुष्यत्व 'सामान्य' हुआ और 'विशेष' यह ज्ञानी है, यह व्यापारी है, यह अमुक वर्ण का है, यह विशेष हुआ। तो लक्षण जब जुदा हैं तो ये पदार्थ जुदा हैं ऐसा मान लिया, लेकिन तथ्य क्या है? पदार्थ तो एक मात्र द्रव्य को ही कहते हैं? उस द्रव्य की ये विशेषतायें हैं। द्रव्य में सदा रहने वाली शक्ति को गुण कहते हैं। गुण कोई अलग पदार्थ नहीं है। द्रव्य में रहने वाले गुण की परिणति को क्रिया कहते हैं। क्रिया कोई अलग पदार्थ नहीं है। द्रव्य में एक सामान्य बोध होता है—जीव जीव है, सब जीव एक जीव हैं। ऐसा जो सामान्य बोध होता है वह हुआ सामान्य ये नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य देव, गतिरहित, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि जो विशेष प्रतिभास होते हैं उसका नाम विशेष है। द्रव्य से ये कोई अलग चीज नहीं, द्रव्य की ही ये विशेषतायें हैं। समवाय की जरूरत नहीं, और अभाव कोई अलग पदार्थ नहीं है, किन्तु अभाव अन्य के सद्भावात्मक होता है। जैसे इस कमरे में घड़े का अभाव है, किसी से कहा गया कि भाई इस कमरे से घड़ा उठा लावो। वह जाकर देखता है कि वहाँ घड़ा नहीं है, तो वह कह देता है कि वहाँ तो घड़े का अभाव है, तो घड़े का अभाव है क्या चीज? क्या उसे कोई पकड़कर दिखा सकता है? घड़े का अभाव का अर्थ है— घड़ा रहित कमरा है तो घड़ा रहित कमरे का नाम घड़े का अभाव है। तो ये सारे पदार्थ एक ही द्रव्य की बात है। द्रव्य को छोड़कर अलग चीज नहीं। तो ऐसे ही अपने आत्मा से भी देखो यह आत्मा स्वयं एक अपना स्वरूप लिए हुए द्रव्य है, उसकी ही ये विशेषतायें। उसको ही समझने के लिए भेद दृष्टि का यह कथन है। उसमें अनेक गुण हैं,

अनेक पर्याय हैं, सामान्य हैं, विशेष हैं। यह एक समझाने के लिए बात है। तो क्या मानें कि मैं ज्ञानमय हूँ, ऐसी श्रद्धा करेंगे तो सम्यग्दर्शन होगा।

मोहान्धकार से हटकर ज्ञान प्रकाश में आने की सम्मति—यह जीव अनादि काल से दुर्गतियों में झटक रहा है। इसका व्यवसाय अज्ञान दशा में यही चल रहा है कि जन्मे, मरे, फिर जन्मे फिर मरे इसके सिवाय और कुछ काम इस जीव ने नहीं किया। कीड़े मकोड़े हुए, मनुष्य हुए, नारकी हुए, देव हुए, बस यही चक्कर अनादि काल से लगाता हुआ यह जीव चला आ रहा है। आज बड़ी दुर्लभता से मनुष्य हुए हैं। थोड़े जीवन के लिए मनुष्य हुए हैं। लोग तो यहाँ की प्राप्त चीजों को ही प्राण समझ रहे, सर्वस्व समझ रहे, इन बाह्य पदार्थों के लोभ के रंग में रंग रहे हैं। ऐसी बुरी दशायें इस संसारी जीव की चल रही हैं। ऐसी लोभ भरी दशाओं का फल क्या मिलेगा? मरकर फिर जन्म होगा तो यहाँ का फिर कुछ ख्याल भी रहेगा क्या? तो सोचो कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानसिवाय मेरा कुछ नहीं है। ये पुत्र, मित्र, स्त्री आदि कुछ नहीं हैं, और यदि इनको कुछ मानते हो सिवाय कष्ट के आपको कुछ लाभ न मिलेगा मुनि नहीं बन सकते, निर्लेप नहीं हो सकते, उदासीन नहीं हो सकते। भूख प्यास का रोग लगा है सो उस परिस्थिति के लिए गृहस्थी बसा ली है। एक स्त्री परिणीत कर लिया है। वह भोजनादि की व्यवस्था कर लेगी, खुद कमाई का काम कर लेंगे, दोनों के सहयोग से जीवन ठीक चलेगा। बच्चे लोग भी बुढ़ापे में काम देंगे। यों जरूरत के लिए राग लगाये हैं यह तो ठीक है, पर ये मेरे हैं इसके लिए राग न लगाये गृहस्थी में रहना राग बिना नहीं हो सकता इसलिए विवशता समझकर राग करें, पर अपना समझकर उनसे राग न करें कि ये जो मेरे पास हैं, मेरे हैं, ये ही मेरे सर्वस्व हैं। ऐसा मानने में तो अंधकार है, उसमें फिर मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। अपनी धुन बनावें कि मैं सहज ज्ञानस्वरूप हूँ, आखिर चिन्तन ही तो करना है शुद्ध अन्तस्तत्त्वका। और-और प्रकार का व्यवहार करना पड़ रहा है तो उसे करते हुए खेद तो मानें। जैसे एक कहावत में कहा गया है कि गले पड़े बजाय सरे। जब कोई गले पड़ गया है, जब कोई बात अपने ऊपर आ गई है तो उसे यद्यपि निभावें तथापि उससे ही हमारा सुल्झेरा होगा यह भ्रम न रखें। इसकी वास्तविक घटना इस प्रकार है कि होली के अवसर पर कुछ नवयुवक लोग आपस में मजाक के खेल-खेल रहे थे। (अनेकों प्रकार के मजाक के खेल होली के अवसर पर खेले ही जाते हैं) तो मजाक के खेल में कुछ नवयुवकों ने किसी एक नवयुवक के गले में एक ढोल (तास) डाल दिया। उन नवयुवकों का ऐसा ख्याल था कि इसके गले में पड़ा हुआ ढोल देखकर लोग हंसेंगे। यह शर्मिन्दा होगा पर वह नवयुवक बुद्धिमान था, उसने झट छोटी दो लकड़ियाँ उठायीं और उसे बजा बजाकर नाचना शुरू कर दिया। लो उनका मजाक अब मजाक न रहा। उसका ढोल बजाना खुद मजाक का खेल बन गया। तो ऐसे ही समझिये कि जब ये गृहस्थी के व्यापार आदि अनेक कार्य गले पड़ गए हैं तो फिर इन्हें निभाने में ही आपकी शोभा है। इन्हें निभाइये, पर यह

समझते रहिये कि ये सब झन्झट हैं। अपने आपको निहारना, अपने सहज ज्ञानस्वरूप का मनन करके अपने को प्रसन्न रखना, इससे बढ़कर और कुछ बात न थी लेकिन गले पड़ा तो बजाय सेरे। भैया यद्यपि राग करने से ही घर का काम सरेगा, छोड़कर नहीं, फिर भी यह मानें कि विवशता के कारण राग करना पड़ रहा है। उनसे कोई नाता नहीं, उनसे कोई मेरा सम्बन्ध नहीं, वे कोई मेरे प्राण नहीं। ये कोई मेरी वस्तु नहीं। इस तरह यदि गृहस्थी में जीवन हो, जैसे कहते हैं कि जल से भिन्न कमल है। देखो कमल उठता है तो वह जल से कितना ऊपर है। जब जल से वह ऊपर तभी वह कमल भी प्रफुल्लित हो रहा है। अगर वह जल से मिल जास तो वह सड़ जाएगा। तो जल से न्यारा रहकर ही कमल प्रसन्न रह सकता है। जो कमल जल से पैदा हुआ, जिसकी जड़ उस जल में ही है वह अगर अपनी उस जड़ से प्यार करने लगे तो वह सड़ जायगा, प्रसन्न नहीं रह सकता। इसी तरह जिस घर में उत्पन्न हुए जो घर आपके पैदा होने की जड़ है उससे अगर न्यारे रहेंगे तो आप प्रसन्न रहेंगे और अगर उसे ही आप अपना सर्वस्व समझेंगे तो उससे तो जीवन बरबाद हो जाएगा, दुःखी रहोगे। तो जल से भिन्न कमल है, इससे यह शिक्षा लेना है कि हम जिस स्थिति पर हैं उससे हमें अलग रहना है, अलग रहने से ही मेरे को प्रसन्नता रहेगी, उसमें मोह रखने से नहीं।

संतोष का स्थान—देखो भाई सुख शान्ति तो सभी चाहते हैं। हर काम करके ध्येय तो यही रहता कि मेरे को शान्ति मिले और शान्ति अब तक मिली नहीं। तो क्यों नहीं ऐसी धुन बनायी जाती कि मेरे को तो जीवन में शान्ति की ही धुन बनाना है। अनन्त भव पायें, विषयों में गमायें। जो काम करते आ रहे थे उसमें ही अनन्त काल व्यतीत हुआ पर उसमें कोई आनन्द न मिला। तो अब इसे छोड़कर मेरे को कोई अच्छी बात सोचना चाहिए कि मेरे को शान्ति प्राप्त हो। तो दुःखों से छुटकारा किसी प्रकार मिलेगा वह उपाय इस प्रथम सूत्र में कहा गया है—**सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणिमोक्षमार्गः**। देखो रत्नत्रयधर्म है, क्षमा आदि धर्म हैं, ऐसा सुन रखा है। कुछ भी व्रत उपवास आदि करते, उसका व्याख्यान भी करते और अगर उसका अंतस्तत्त्व समझ में नहीं आता है तो भी धर्म के नाम पर कुछ काम करने से प्राप्त सन्तोष कुछ अच्छा है ना? संसार के सारे काम काज करने पर भी, स्वरूप न समझने पर भी धर्म के नाम पर कोई काम करने पर भी एक सन्तोष आता है। जो सन्तोष समागम में नहीं है, और यदि अन्तःस्वरूप की समझ हो जाय और फिर वास्तविक ढंग से धर्म का पालन हो तो फिर उसके सन्तोष का कहना ही क्या है? तो ये बाह्य समागम ये तो छोड़ने लायक हैं, इनसे हटना चाहिये। न आप हटें अपनी समझ बनाकर तो समय हटा देगा। मरण हो जायगा, अपने आप हट जायगा, छूट जायगा। तेज बीमार हो जायेंगे तो अपने आप हलुवा पूड़ी छूट जायगी। खूब आशक्ति है इसलिए नहीं छूटते। तो भाई विवेक करके अब भी मानें कि ये बाह्य पदार्थ मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। वेदान्त की जागदीशी टीका में एक कथन आया है कि कोई एक भँगिन मल का टोकना लिए बाजार में से जा रही थी तो वहाँ किसी सज्जन

का मन घृणा से भर गया। सोचा कि इससे तो हमारे जैसे अनेकों लोगों को कष्ट होगा। यह सोच कर उन्होंने एक बढ़िया साफ सुन्दर चमकीला तौलिया भँगिन को दिया, कह दिया कि इस तौलिये से मल भरा टोकना ढाक ले। उसने ढाक लिया। जब वह भँगिन उस टोकने को लिए हुए चली जा रही थी तो उसके पीछे तीन लोग लग गए। उनके मन में आया कि इस टोकने में बहुत बढ़िया चीज होगी, क्योंकि वह बहुत ही बढ़िया तौलिये से ढका है। उन तीनों पुरुषों को पीछे लगा देखकर वह भँगिन बोली भाई तुम लोग क्यों हमारे पीछे लगे हो? तो उन्होंने बताया कि हम लोग जानना चाहते हैं कि तुम्हारे इस टोकने में कौन सी चीज है। तो भँगिन ने बता दिया कि इस टोकने में तो मल भरा है। इतनी बात सुनकर उनमें से एक व्यक्ति पीछे लौट गया। दो व्यक्ति अभी भी पीछे लगे रहे। फिर भँगिन ने पूछा भाई तुम लोग क्यों पीछे लगे हो? तो उन दोनों में से एक ने कहा कि हम तो यों न मानेंगे। हमें तौलिया खोलकर दिखा दो तब हमें विश्वास होगा। भँगिन ने तौलिया हटाया तो उसे देख कर दूसरा व्यक्ति भी लौट गया एक व्यक्ति अभी भी पीछे लगा रहा। भंगिन ने फिर पूछा– भाई तुम क्यों पीछे लगे हो? तो उसने बताया कि हम तो अच्छी तरह से सूँघ साँघकर परख लेंगे तब हमें विश्वास होगा। भँगिन ने तौलिया हटाया, उस व्यक्ति ने भली भाँति सूँघ साँघ कर समझ लिया कि वास्तव में यह मल ही है तब वह पीछे लौटा। तो जैसे तीन तरह के लोग उस मल से लौटे ऐसे ही तीन तरह के मनुष्य पाये जाते हैं जो विषयों से हटते हैं। जरा भी समझाया जाए कि विषयों में आनन्द नहीं, पराधीनता है दुःख है, पाप का बंध है, तो कोई मनुष्य इतना ही सुनकर विषयों से विरक्त हो जाते हैं। कोई लोग कहते हैं कि आचार्य महाराज समझा रहे पर हम नहीं मानते। अच्छा कहने से नहीं मानते तो गृहस्थी में रहकर कुछ भोग भोगते, जब उन भोगों में कुछ अड़चन आयी तो उन्हें बुरा मान गए और उनसे विरक्त हो गए, अब तीसरे लोग इस तरह कहते हैं कि मैं इस तरह से न मानूंगा, मैं तो खूब भोगकर मानूंगा। आखिर मरण होता है तो छोड़ना पड़ता है।

अन्तराधना का अनुरोध—ये समागम बाह्य हैं, रुचि के लायक नहीं हैं। हमारे हित रूप नहीं है। हमारा हित है ज्ञानस्वरूप की आराधना में। मैं अपने को ज्ञानस्वरूप देख पाऊँ, इतना ही मैं हूँ, इससे आगे मैं कुछ नहीं, मैं केवल ज्ञानमात्र हूँ, इसका ही अनुभव करें, यह बात तो सरल है। इसे छोड़कर अन्य आप कुछ भी काम करें तो कुछ भी सरल नहीं। लेकिन जब कोई दुःख में पड़ जाता है, जब कोई आगे वश नहीं चलता है तब मानते हैं कि कुछ शरण नहीं। ज्ञानपूर्वक सुख में, विपत्ति न आने से पहले से ही कोई मान ले तो ऐसा कोई बिरला ही ज्ञानी पुरुष होता है, जैसे एक दोहा में लोग कहते हैं ना–"दुख में सब सुमिरन करें, सुख में करें न कोय। जो सुख में सुमिरन करें, तो दुःख काहे को होय।" अरे अभी तो आप लोगों की इन्द्रियाँ ठीक हैं, व्यापारादि के काम काज सब ठीक हैं, सब प्रकार के आराम के साधन हैं ऐसी स्थिति में अगर ज्ञान की आराधना बने तो भला है। अगर कोई दुःख आए,

कष्ट आए तब सोचे तब भी भला है। मगर पता नहीं कि क्या होगा। जो सच्चा उपाय है उसको करने में विलम्ब न करना चाहिए।

आत्मा और ज्ञान में अभेद होने पर भी प्रयोजनवश भेदोपचार—यहाँ यह प्रकरण चल रहा है कि आत्मा और ज्ञान भिन्न-भिन्न हैं अथवा एक ही तत्त्व है, इस सम्बन्ध में अभी यह उत्तर दिया गया कि आत्मा और ज्ञान अभिन्न हैं, ज्ञानमय ही आत्मा है, आत्मा से ज्ञान जुदा नहीं है। ज्ञान बिना आत्मा का अभाव होगा, आत्मा बिना ज्ञान का अभाव होगा। इस उत्तर के देने के बाद अब यह ख्याल आ जाता है कि जब आत्मा और ज्ञान एक ही पदार्थ हैं तब फिर दुनिया के लोग आत्मा का ज्ञान, आत्मा में ज्ञान, इस तरह कुछ भेदभरी बात अपने मुख से क्यों निकालते हैं? तो इस विषय में स्याद्वाद पद्धति से देखो—तो एक दृष्टि से आत्मा का ज्ञान अभिन्न है, एक दृष्टि से आत्मा का ज्ञान भिन्न है। भिन्न का अर्थ यहाँ यह लेना कि आत्मा को छोड़कर अन्य प्रदेशों में ज्ञान रहता है, किन्तु समझने के लिए भिन्नता है और वस्तुतः ज्ञानमय ही आत्मा है। इसकी अपेक्षा बताने वाली दो दृष्टियाँ हैं—(१) द्रव्यार्थिकनय (२) पर्यायार्थिकनय। द्रव्यार्थिकनयका विषय है ध्रुव द्रव्यस्वभाव, पर्यायार्थिकनयका विषय है भेद। यहाँ पर्यायार्थिकनयके अर्थ में यह समझना कि पर्याय के मायने परिणमन नहीं, किन्तु भेद विशेष। गुण भी पर्याय है, पर्याय भी पर्याय हैं। अर्थात् अखण्ठ वस्तु में भेद करके समझना, जो अंश बनाये बस उसी को पर्याय कहते हैं। अंश का नाम पर्याय है, पर्याय का नाम भी पर्याय है, पर पर्याय के अनेक अर्थ होते हैं। जो अंशग्राही है वह है पर्यायार्थिकनय और जो अखण्डग्राही है वह है द्रव्यार्थिकनय। जैसे सत्का लक्षण कहते हैं—**उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्**। उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य से जो युक्त हो उसे सत् कहते हैं। तो सत् के इस लक्षण में तीन अंश ही तो बताये गए हैं उत्पाद व्यय और ध्रौव्य। उत्पाद और व्यय ये दोनों तो झट समझ में आ जाते हैं। ये उत्पाद व्यय और ध्रौव्य तीनों ही अंश एक ही वस्तु के पर्याय माने गए हैं। उत्पाद व्यय और ध्रौव्य में तीनों ही सत् के अंश हैं। सत् अंशी है, जैसे उत्पाद व्यय के बिना सत् नहीं रहता, इसी तरह ध्रौव्य के बिना भी सत् नहीं रहता। जैसे द्रव्य केवल ध्रुव ही नहीं है, केवल ध्रौव्य ही हो उसमें ऐसा भी नहीं है। यह तो हो जाएगा अपरिणामीवादी एकान्तपक्षका कथन। तो वस्तु उत्पाद व्यय ध्रौव्यात्मक है। जैसे उत्पाद वस्तु का अंश है उसी प्रकार ध्रौव्य भी वस्तु का अंश है। यहाँ पर्यायार्थिकनयका कथन किया। इसी तरह यहाँ भी देखिए—आत्मा, ज्ञान, दर्शन, चारित्र, अभिन्न स्वरूप है। कहीं ज्ञान अलग नहीं हो गया। दर्शन, चारित्र आदि आत्मा से भिन्न नहीं हैं। लेकिन पर्यायार्थिक दृष्टि से ज्ञान दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि अंश कहे जाएंगे और यह अंश समुदायात्मक एक अखण्ड आत्म कहा जाएगा। फिर द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखते हैं कि जो ज्ञान है वह आत्मा, जो दर्शन है वह आत्मा, जो चारित्र है वह आत्मा। पर पर्यायार्थिक दृष्टि से देखते हैं तो ज्ञान, दर्शन, चारित्र इन सबका जुदा-जुदा लक्षण है। तो इस तरह ज्ञानादिक पर्यायें गुण अंश इन सबकी एकता

भी है और नानापन भी है जब पर्याय दृष्टि को गौण करते हैं, द्रव्यार्थिकनय की प्रधानता करते हैं तो पर्यायार्थिक की विवक्षा न रहे और अनादि पारिणामिक भाव है यही दृष्टि में रहे तो यह द्रव्यार्थिकनय की व्यवस्था है वहाँ सर्वत्र एकता है और जब उन गुणों को पर्यायार्थिक नयकी प्रधानता से देखा जाता है द्रव्यार्थिक दृष्टि गौण होती है तो चूँकि द्रव्यार्थिक की विवक्षा न रही तो अपने-अपने कारण विशेष हुए, उनमें भेद जाहिर होता है और देखने पर उनमें नानापन सिद्ध होता है, क्योंकि ज्ञानपर्याय अन्य है दर्शन पर्याय अन्य है, चारित्र आनन्द आदि पर्यायें अन्य हैं। इस तरह आत्मा ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान चारित्र आत्मा में हैं इस बात की यहाँ प्रसिद्धि हुई है।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की युगपत् वृत्ति होने के परिचय में अनेक समस्याओं का समाधान—अब जरा प्रकृत प्रसंग देखिए—सूत्र में दर्शन ज्ञान चारित्र इस क्रम से तीन शब्द रखे गए हैं दर्शन का अर्थ विश्वास है। ज्ञान का अर्थ है जानना और चारित्र का अर्थ है उसमें रम जाना। इस तरह के क्रम में एक शंका होती है कि ज्ञान बिना विश्वास कैसे होता है। ज्ञान विश्वास पूर्वक होता है, अर्थात् ज्ञान को प्रथम ही कहना चाहिए। दूसरी बात—ज्ञान में दो स्वर हैं— ज्ञ में आ० न में अ और दर्शन में तीन स्वर हैं द में अ, श में अ और न में अ। जैसे कभी किन्हीं चार बालकों को बुलाना हो तो उनमें जिस बालक के नाम में बहुत कम अक्षर होते हैं पहले उसका नाम बोलने में आता है। सिद्धान्त विधि में नियम है कि जो अल्पस्वर होता है पहले उसे बोलते हैं। तो अल्पस्वर वाला होने से ज्ञान को पहले कहना चाहिए। उसमें दो बातें समझना है—एक तो पहले यह कहा था कि श्रद्धान ज्ञानपूर्वक होता है इसलिए ज्ञान का पहले कथन होना चाहिए सो यह बात उचित नहीं है कि ज्ञानपूर्वक दर्शन होता किन्तु होता क्या है कि ज्ञान और दर्शन दोनों की एक साथ ही प्रवृत्ति होती है। जैसे सूर्य का प्रकाश और प्रताप दोनों एक साथ होते हैं। जब सूर्य के नीचे बादल आड़े आ जाते है और वे बादल हटते हैं तो आवरण के हटते ही प्रकाश एक साथ प्रकट होता है। इसी तरह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रवृत्त होते हैं, इस तरह दृष्टान्त लीजिए कि जब किसी पुरुष को यह इच्छा हुई कि मैं श्रवणबेलगोला जाऊँ, वहाँ जो बाहुबलीस्वामी की मूर्ति है उसके दर्शन करुँ तो वह दर्शन से पहले ही सब तरह की कपास करता है। कैसी मूर्ति है, फोटो भी देखता है, किसी पुस्तक में फोटो का नाम लिखा हो तो उसे भी पढ़ता है, उसकी वह बहुत-बहुत जानकारी कर लेता है। वही पुरुष जब वहाँ जाकर उस मूर्ति के दर्शन करता है। तो भला बताओ कि वहाँ जाकर प्रत्यक्ष दर्शन करने के ज्ञान में और यहाँ पढ़ सुनकर किए जाने वाले ज्ञान में फर्क है कि नहीं? है फर्क। वह अन्तर इस प्रकार कहे कि जैसे एक हो अनुभवरहित ज्ञान और एक हो अनुभवसहित ज्ञान। ऐसे ही यहाँ परख करिए। ज्ञान बिना सम्यग्दर्शन न होगा। जब कुछ जानकारी ही न की जाए तो विश्वास किसका किया जाएगा। तो ज्ञान बिना विश्वास होता तो नहीं, लेकिन विश्वास से पहले,

अनुभव से पहले जो ज्ञान हुआ वह एक साधारण सा ज्ञान है, दृढ़ता रहित ज्ञान है। जैसे जीवस्वरूप के सम्बंध में ज्ञान किया तो जाना तो सही पर पदार्थ से उपेक्षा करके अपने आपके स्वरूप में रमकर जो अनुभव किया जाता है, उस अनुभव के साथ जो ज्ञान होता है वह ज्ञान सम्यग्दर्शन सहित है। वह है सम्यग्ज्ञान और सम्दर्शन से पहले जो ज्ञान हुआ वह चूँकि अनुभवरहित है। है ज्ञान जरूर उस ही तरह का करीब-करीब, अथवा पर्याय के कथन में वह पुरुष चल रहा है, लेकिन उसका ज्ञान अनुभव रहित है। इस तरह यह निर्णय करना कि सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की एक साथ प्रवृत्ति होती है। अब दूसरी बात कहते हैं कि ज्ञान अल्पस्वर वाला है तो रहे, लेकिन यह भी तो परखिए कि सम्यग्दर्शन पूज्य है ज्ञान की अपेक्षा, चारित्र की अपेक्षा। सम्यग्दर्शन की पूज्यता का अर्थ है सम्यग्दर्शन के होने पर ही ज्ञान और चारित्र की समीचीनता कहलाती है। जो ज्ञान और चारित्र की समीचीनता का मूल बनता है। सम्यग्दर्शन मूल होने के कारण उसका पहले नाम दिया है। अब दूसरी बात देखो—बीच में ज्ञान का कथन है। चारित्र से पहले ज्ञान है, उसका भाव यह है कि ज्ञानपूर्वक चारित्र होता है और पूर्णता की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञानपूर्ण हो जाता है १३ वें गुणस्थान में और चारित्र पूर्ण होता है योगरहित विधि से १४ वें गुणस्थान में, जिसे यथाख्यातचारित्र कहते हैं। अब यह क्रम बना—दर्शन, ज्ञान और चारित्र।

मोक्षमार्ग ध्वज—इस सम्बंध में एक और प्रसंग याद आ गया—आज का जो अपना राष्ट्रीयध्वज है उसमें तीन रंग है—पीला (केसरिया) सफेद और हरा। इनमें केसरिया रंग तो सम्यग्दर्शन की याद दिलाता है। सफेद रंग सम्यग्ज्ञान की याद दिलाता है। और हरा रंग सम्यक्-चारित्र की याद दिलाता है। साहित्य में इन तीनों ही रंगों का वर्णन किया है। सबसे नीचे जो हरा रंग दिया है उसका अर्थ है भरा पूरा होना, ठोस विचार वाला होना, हरा भरा होना। आत्मा की उन्नति चारित्र से होती है। तो इस चारित्र का सूचक हरा रंग हुआ। मध्य में है सफेद रंग। तो ज्ञान का रंग सफेद बताया गया है। यह सफेदी ज्ञान का पोषक है, जैसे सफेदी पर ही पीला रंग चढ़ेगा इसी प्रकार यह ज्ञान भी दर्शन और चारित्र में व्यापक है। समयसार में तो एक स्थल पर इतना तक स्पष्ट किया है कि जीवादिक श्रद्धान से ज्ञान होने का नाम सम्यग्दर्शन है, जीवादिक ज्ञान स्वभाव से ज्ञान परिणमन का नाम सम्यग्ज्ञान है, रागादिक का परिणाम न होने व स्वभाव से परिणमन का नाम सम्यक्-चारित्र है। तो इस प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र व्यापक है।

सम्यक्त्व की प्राथमिकता—अब इसी विषय पर जरा पुनः दृष्टि कीजिए—**सम्यग्दर्शन ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः**। इसमें द्वन्द्वसमास किया जाता है। द्वन्द्व वहाँ होता है जहाँ सब प्रधान होते हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र इन तीनों की प्रधानता है। ये तीनों न हों तो मोक्षमार्ग नहीं बनता है। दर्शन, ज्ञान, और चारित्र ये तीनों ही अपने-अपने रूप से,

अपने-अपने स्थान में प्रधानता रखते हैं। सर्वप्रधान होने से द्वन्द्वसमास किया गया है। यहाँ दर्शनज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः। इनमें सम्यक् शब्द देने का कारण है मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या-चारित्र यह अर्थ न लिया जाए। सम्यक्त्व के सम्बंध में कहा है कि यह सम्यग्दर्शन मोक्षमार्ग की प्रधान सीढ़ी है। इस सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान और चारित्र समीचीनता नहीं प्राप्त कर सकते हैं। देखिए जिसका यह विश्वास है कि मैं देहादिक से पृथक् कषाय, वाञ्छा, विषय वासना आदि से निराला ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व हूँ, उस पुरुष को सम्यक्त्वी कहा जाता है। सम्यग्दर्शन की अनुभूति में उसके अनुकूल ज्ञान बनाने में जो सन्तोष होता है वह सन्तोष किसी बाह्य प्रसंग में नहीं हो सकता। ऐसा जानकर अपने आप पर दृष्टिपात कीजिए। अपने जीवन की सफलता आत्महित में है, वह सम्यक्त्व के पाने पर ही हो सकता है। इसलिए सम्यक्त्व के प्रसंग में सब कुछ न्यौछावर करने पर भी यदि सम्यक्त्व प्राप्त होता है तो उसमें अपने आपको ऐसा मानें कि मैंने बड़ी सरलता से सम्यक्त्व का लाभ लिया है।

सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र की महिमा—सम्यग्ज्ञान की महिमा के सम्बंध में कहा है कि ज्ञान के समान सुख का कारण संसार में कुछ नहीं है। धन, समाज आदि सब कुछ ये नष्ट हो जाएंगे किन्तु सम्यग्ज्ञान हो तो इस जीव को शरण भी है। वस्तु स्वातन्त्र्य निमित्त नैमित्तिक भाव ये सम्यग्ज्ञान के ही प्रकार हैं जो आकुलता से छूटकर सुख शान्ति में पहुँचाते हैं। व्यवहार में देखो कि जब कभी रस्सी में सर्प का भ्रम हो जाए तो उस समय वह कितना दुःखी होता है। और जब सम्यग्ज्ञान हो जाए कि अरे यह तो कोरी रस्सी है तो बस उसका वह सारा दुःख खत्म हो जाता है। और इसी कारण अनेक दार्शनिकों ने ज्ञान को प्रधान कहा है। ज्ञान से ही मोक्ष होता है। यद्यपि उस ज्ञान के साथ सम्यक्त्व और चारित्र गर्भित हैं फिर भी ज्ञान की प्रधानता है। ज्ञान के साथ सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र की वार्ता आती है। सम्यक् चारित्र का अर्थ है अपने आपके आत्मस्वरूप को जिसने समझा हो, जाना हो, उस ही रूप में ज्ञान प्रवृत्ति बनाये रहना सो सम्यक्-चारित्र है। अर्थात् ज्ञानमात्र आत्मस्वरूप में रमण करना सम्यक्चारित्र है। सम्यक्चारित्र की अद्भूत महिमा है। इसकी पूर्ति बिनामुक्ति प्राप्त नहीं होती। केवल ज्ञान प्राप्त होने पर भी सम्यक् चारित्र की पूर्ति बिना लोक में अरहंत भगवान जीवन मुक्त कहलाते हैं। मुक्त ही हैं क्योंकि घातिया कर्मों का विनाश होने से गुण का घात अब नहीं रहा। गुणों का पूर्ण विकास होता रहेगा। यद्यपि वे जीवन-मुक्त हैं लेकिन शरीर से मुक्त नहीं हुए, अघातिया कर्मों से मुक्त नहीं हुए। जहाँ योग भी नहीं रहे तब अन्तर्मुहूर्त में मुक्ति हो जाती है। सम्यक्चारित्र की पूर्ण महिमा है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की प्रधानता है। इसीलिए द्वन्द्वसमास किया गया है और उनमें बहुवचन का रूप दिया गया है।

मुक्ति में वास्तविक आनन्द—संसार के प्राणी संसार के दुःखों से कैसे छूटें, ऐसी करुणा करके आचार्य उमास्वामी महाराज ने इस तत्त्वार्थ सूत्र के आदि में मोक्षमार्ग की घोषण

की है। **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनका एकत्व मोक्ष है। मोक्षमार्ग का अर्थ है—समस्त कर्मों से छूट जाने की स्थिति पाना। मोक्ष का अर्थ है मोक्षाणि अर्थात् कर्म, विषय, कषाय, शरीर, इन सबको अलग कर देना। सर्व कर्मों से सदा के लिए छुटकारा हो जाना इसका नाम मोक्ष है। कुछ लोग कहने लगते, वे अज्ञान में कहते या कभी मजाक में कहते, यह तो वे जाने—कि मोक्ष में क्या सुख है? सिद्ध होने में क्या आनन्द है? अकेले रहते हैं। कोई परिवार का साथी नहीं, मित्र नहीं, रोजगार नहीं, खाना-पीना नहीं, वहाँ कैसे दिन कटते होंगे? पर ये सब बातें तो विडम्बना हैं। जो संयोग लगा, शरीर लगा, रोजगार लगा, खाना-पीना लगा, उनकी स्थिति तो एक दयनीय स्थिति है। देखो विडम्बना कि ५ इन्द्रिय के विषय और छठा मन का विषय ये छहों विषय रोज-रोज लोग भोगते हैं। स्पर्शन का विषय है स्पर्श करना, ठंडा गर्म छू लिया, सुहा गया, मौज मनाने लगे, रसना का विषय है खट्टा-मीठा आदि स्वाद मानना, घ्राण का विषय है सुगंध दुर्गन्ध मानना, चक्षु का विषय है रूप देखना, श्रोत्र का विषय है राग रागनी के शब्द सुनना, तथा मन का विषय है यश आदि की चाह करना। इनमें यह जीव रोज-रोज लगा रहता है, रोज-रोज भोगते हैं फिर भी नया-सा मालूम होता है। अरे वह तो सब एक कय की हुई, भोगी हुई चीज है। कोई मनुष्य कय की हुई चीज फिर से भोगना चाहता है क्या? कोई नहीं चाहता लेकिन अज्ञान में यह प्राणी उस जूठन को ही खाना पसंद करता है। कितनी इस भगवान आत्मा की विडम्बना है। विषय कषायों में चित्त जाना यह आत्मा की कितनी बड़ी विपत्ति है। यह ही तो क्लेश है। उससे छूटने का उपाय धर्म है। उस धर्म का वर्णन इस ग्रन्थ में किया जा रहा है।

धर्म की एकरूपता—धर्म-आत्मा का धर्म। देखो सम्प्रदाय या किसी जाति का या किसी कुल का धर्म हो तो वह धर्म नहीं, वह तो अधर्म है जहाँ जाति, कुल, सम्प्रदाय आदि का सम्बंध लगाकर किसी बात से रिस्ता जोड़ा तो वह पर्याय बुद्धि की बात है। वह धर्म नहीं हो सका है। सर्व जीवों में उस पदार्थ स्वभाव पर दृष्टि दें और वहाँ परख करें कि यह जीव इस निज चैतन्य स्वभाव में दृष्टि दे और इस चैतन्य स्वभाव का ज्ञान करे, इस चैतन्य स्वभाव में ही मग्न हो तो इसका कल्याण है। ऐसी जो भावना करता है आराधना रखता है उसको धर्म का मार्ग दीखा। धर्म है, आत्मा का स्वभाव जो सर्व जीवों में पाया जाता है। कभी जीव स्वभाव में रम नहीं पाते। यह मन और बेमन का फर्क है लेकिन स्वभाव सब में पाया जाता है। इस स्वभाव को दृष्टि में लेकर जो ऊपर के भेष हैं, नाना खटपटें हैं उनसे अलग हटकर दृष्टि को कोई स्वभाव में जमाए और सब आत्माओं को आत्मा के नातें से परखे, क्योंकि आखिर रहना तो इस आत्मा को आत्मा में ही है। जो आत्मा को आत्मा के नाते से परखे उसे धर्म का मार्ग मिलता है और जो इन बाहरी भेष, शरीर, जाति, कुल सम्प्रदाय आदि बातों पर दृष्टि दे और इस नाते से कुछ धर्म की बात माने तो उसे धर्म नहीं हुआ, वह

तो अधर्म है। धर्म तो वास्तव में आत्म स्वभाव है और आत्म स्वभाव का परिचय, श्रद्धान और उसमें रमण करना यह बात जिनके परिपूर्ण बन जाती है उनको मोक्षमार्ग प्राप्त होता है। मोक्ष में यह आत्मा केवल अकेला रहता है, शरीर नहीं है तो खाने पीने का प्रश्न ही नहीं है, जन्म मरण का प्रश्न ही नहीं है। जहाँ सर्वज्ञता है और ज्ञान अपने आपके स्वभाव में रम गया है उसको फिर मित्र की परिवार की अन्य बातों की आवश्यकता ही क्या है? कोई आवश्यकता नहीं, फिर उसे जीवन में क्लेश का अभाव है। जहाँ क्लेश रंच भी नहीं है उसे मोक्ष कहते हैं। जहाँ आकुलता नहीं उसका नाम है मोक्ष। ऐसे मोक्ष का नाम है यह आत्मस्वरूप का विश्वास, आत्मस्वरूप का ज्ञान और आत्मस्वरूप में रमण करना। इसे कहते हैं मोक्ष मार्ग। जैसे कोई निष्कंटक रास्ता हो तो उस मार्ग में बड़ी सुविधा से, बड़ी सावधानी से बड़े आराम से अपने इष्ट स्थान पर पहुँच सकते हैं इसी प्रकार सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक ऐसा मार्ग है कि जिस मार्ग से यह आसानी से मोक्ष महल में पहुँच सकता है। तो मोक्षमार्ग है सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप।

ज्ञान की प्रधानता का दार्शनिकों का अभिप्राय—अब इस प्रसंग में कुछ दार्शनिक अपनी बात पेश करते हैं। प्रयोजन सब का एक ही है। इन दार्शनिकों ने कहा है कि मोक्ष का मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों को मत कहो। मोक्ष मार्ग तो केवल एक है। वह क्या? ज्ञान! जब ज्ञान से उलटा चलता है तो इस जीव को बंध होता है। जब इसको अपने आत्मा का परिचय होता है, ज्ञान होता है तो बंध से मुक्ति हो जाती हैं इसलिए इस बंध का कारण भी एक है, विपरीतता और मोक्ष का कारण भी एक है—क्या? और यह बात कुछ दार्शनिक अपनी-अपनी दृष्टि में पेश कर रहे हैं यों देखिए—कुछ दार्शनिकों ने कहा है कि धर्म से तो ऊर्ध्वगमन होता है, अधर्म से अधोगमन होता है, ज्ञान से मोक्ष है और विपरीतता से बंध है। सांख्य सिद्धान्त में सांख्य-कारिका में यह बात स्पष्ट कही गई है। यहाँ धर्म का नाम है पुण्य, अधर्म का नाम है पाप। पुण्य से ऊर्ध्वगमन होता है। उनकी दृष्टि में ऊर्ध्वगति है क्या? इन्द्र, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, पिशाच आदि देवगति में उत्पन्न होने का नाम ऊर्ध्वगमन देते हैं। यह ऊर्ध्वस्थिति की प्राप्ति धर्म से होती है, और अधर्म से मनुष्य, पशु, पक्षी, साँप, स्थावर आदि तिर्यञ्च की प्राप्ति होती है। यह उन साँख्य सिद्धान्त वालों की दृष्टि से बात कही जा रही है। उनका कहना है कि पुण्य से तो ऊर्ध्वगमन की स्थिति बनती है और पाप से अधोगमन की। तो देखिए—देवगति तक ही बात सोची इतने में तो यही भूल पड़ी है कि उन्होंने देव होने को ही ऊर्ध्व की स्थिति मान लिया और मनुष्य होने को अधो (नीचे) की स्थिति मान लिया। फिर भी सामान्य प्रयोजन तो ठीक है। ज्ञान से होता है अपवर्ग, (मोक्ष) जहाँ प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान हो। यह पुरुष चैतन्य स्वरूप है। यह प्रकृति पड़ी है ऐसा बोध हो उस ज्ञान से होता है मोक्ष, और जब उस ज्ञान से उल्टा चलते हैं तो होता है बंध। तो देखो—साँख्य सिद्धान्त का भी इसमें विवाद नहीं है। वे भी कहते हैं कि

ज्ञान से मोक्ष होता है। इस सिद्धान्त में आदि क्या और अन्त क्या? इन्द्रिय द्वारा विषयों की प्राप्ति होना यह तो है इसकी आदि यानी संसार इसकी प्राप्त अवस्था दुःखदायी स्थिति और गुण और पुरुष में, प्रकृति और पुरुष में भेद विज्ञान होना यह है अन्तिम चीज। इससे संसार का अन्त (मोक्ष) होता है। देखिए मोक्ष, दुःखविनति, आत्मकल्याण, सब दार्शनिकों को इष्ट था, और अपने-अपने अभिप्राय माफिक वे ज्ञान और वैराग्य की दिशा में बढ़े। सर्वथा असत्य हो सो नहीं कहा जा सकता, पर मूल द्रव्य क्या है और उस द्रव्य में स्थितियाँ क्या हैं? और किस तरह से द्रव्य समस्त पर लेपों से रहित होता है। उस स्वभाव का स्याद्वाद प्रयोग न करके उनका एकान्त वर्णन करने की इच्छा रखी इसलिए अन्तर आया मगर आप देखिए जो कुछ कहा जा रहा है मोटे रूप से, इसमें क्या असत्य है? इन्द्रियों के द्वारा विषयों की प्राप्ति करना यह ही विडम्बना है, वहाँ ही झगड़ा हुआ, विरोध हुआ विवाद हुआ। इन इन्द्रिय विषयों के खातिर ही तो विवाद होता है समाज आदि में। तो यह सब संसार है, और जहाँ यह दृष्टि आयी कि ये विषय कषाय इच्छा आदि सब बातें ये प्रकृति के गुण हैं, इनमें मेरा सम्बंध नहीं। मैं तो एक चैतन्य स्वरूप मात्र हूँ! लो भेद विज्ञान हुआ, मोक्ष हो गया। ज्ञान से आगे और कुछ करने की जरूरत नहीं, ऐसा साँख्य सिद्धान्त का अभिप्राय है। ज्ञान किया, मुक्त हो गए। देखिए स्याद्वादी भी यह ही कहते है कि ज्ञान ही कहता है कि मुक्त हो गए। मगर ज्ञान की यह विशेषता है कि ज्ञान में स्वरूप में स्थिरता से रमें तो मुक्त होंगे। इस स्थिरता ने सम्यक्चारित्र का स्थान ग्रहण कर लिया।

ज्ञान में ज्ञान की स्थिरता में ही ज्ञान का प्रताप—कोई ज्ञान-ज्ञान के अनुकूल न चले और कहे कि मुक्त हो गए। तो यह सब बहाना है स्वच्छंदता है। गुरू जी सुनाते थे कि कोई दो तीन शिष्य एक गुरू जी से पढ़ते थे। गुरू थे ब्रह्मवादी। मैं ब्रह्मस्वरूप हूँ, ब्रह्म हूँ, मैं खाता नहीं, पीता नहीं, मेरे पाप नहीं विकार नहीं। मेरा कुछ नहीं होता। यह मैं पूर्ण ब्रह्मस्वरूप हूँ, और उनकी चर्चा क्या थी कि वे गुरू जी एक म्लेच्छ की दुकान पर रसगुल्ले खाया करते थे, जिसमें कि माँस भी पकता था। एक बार शिष्यों ने कहा कि गुरू जी आप इतनी ऊँची तो व्याख्या करते हैं, हमारे आराध्य हो, गुरू हो, हम लोग आपसे पढ़ते हैं, और आप वहाँ म्लेच्छ की दुकान में जाकर रोज रसगुल्ले खाया करते हैं, यह क्या बात? तो गुरू जी ने कहा—अरे तुम लोग क्या जानो? वह तो शरीर में गया, प्रकृति की चीज है, प्रकृति की बात प्रकृति में गई। कौन खाता है? गुरू जी की इस प्रकार की बात सुन कर शिष्य हैरान हो गए कि देखो इतने बड़े विद्वान होकर भी इस तरह से कहते हैं। यह ढंग से नहीं चलते हैं। तो एक दिन एक शिष्य उसी दुकान पर पहुँचा जिसमें गुरू जी रसगुल्ले खा रहे थे। वहाँ पहुँचकर शिष्य ने गुरू जी के दो तीन थप्पड़ मारे। गुरू ने कहा—यह क्या करते हो? तो शिष्य ने कहा? करते क्या? हमारा हाथ भी प्रकृति की चीज है और आपका सिर भी प्रकृति की चीज है, प्रकृति में प्रकृति लगी, हमने आपका क्या किया? तो शिष्य की बात

सुनकर गुरू जी समझ गए और बोले-बेटे तुम्हारा कहना ठीक है। अभी तक हम भूल में थे। उस दिन से गुरू जी ने उस दुकान पर जाना छोड़ दिया। तो ज्ञान से मोक्ष होता है इसका अर्थ केवल इतना नहीं कि ज्ञान कर लिया मोक्ष हो गया। अरे जिस स्वभाव का ज्ञान किया उस स्वभाव को ही ज्ञान में लिए रहें, ऐसी स्थिरता से कि अज्ञान की बात न आ पाए। चलो 'ज्ञान से मोक्ष होता है यह मानते हो तो यह भी सिद्ध होता है। सिद्ध तब हो जब ज्ञान की स्थिरता हो। स्वरूप सम्बोधन में अकलंक देव ने लिखा है कि मैं ज्ञाता हूँ, ऐसे ज्ञान की स्थिरता का नाम चारित्र है। निश्चय चारित्र क्या है? वह है ज्ञान स्वभाव में ज्ञान की स्थिरता होना। और, व्यवहार में स्थिरता क्या है? व्रत, समिति, गुप्ति आदि मुनिव्रत का जो आचरण है वह चारित्र है। कोई कहे कि हम तो निश्चय चारित्र पालेंगे, व्यवहार चारित्र की क्या जरूरत है, तो वह पार न पा सकेगा। जहाँ विषय कषायों में इतने संस्कार लदे हैं कि ये विषय वासनाएँ इन पर हावी हो रही हैं, उनको दूर करने के लिए एकदम सीधी ज्ञान स्थिरता का होना अवश्य है। संस्कार से संस्कार काटा जाएगा, वह व्रत, समिति, गुप्ति, मुनिव्रत आदि के जो संस्कार हैं उनको क्षय करने में कारण है? और जब ऐसी योग्यता बनती है कि इस व्यवहार चारित्र में रहकर व्यवहार चारित्र का भी ख्याल नहीं रहता। इसी के सामनें व्यवहार चारित्र सहज छूटा और वह अपने निश्चय स्वरूप में रम गया। लो हुई ना मुक्ति? किससे हुई? ज्ञान से। और, उसी में चारित्र भी प्रविष्ट है। तो कुछ दार्शनिक कहते हैं कि ज्ञान से ही मुक्ति है उस ज्ञान में विश्वास और चारित्र अपने आप लगा हुआ है। कोरा ज्ञान नहीं है।

वैशेषिक सिद्धान्त में ज्ञान की मोक्षमार्ग रूपता—यहाँ शंकाकार कह रहा है कि ज्ञान से मोक्ष होता है, इसका समर्थन करने वाले अनेक दार्शनिक हैं। वैशेषिक सिद्धान्त है कि भाई इच्छा और द्वेष से बन्ध होता है और इच्छा द्वेष का अभाव हो जाए तो मोक्ष होता है। वह किस तरह? जीव में इच्छा और द्वेष उत्पन्न हुआ। उससे यह जीव पुण्य और पाप में लगा। या तो पुण्य बनेगा या पाप। सद् इच्छा है तो पुण्य बनेगा और खोटी इच्छा है तो पाप बनेगा। तो इच्छा और द्वेष होने से पुण्य पाप में प्रवृत्ति होती है। पुण्य पाप में प्रवृत्ति होगी तो इसका जीवन बनेगा, जन्म होगा। जन्म नाम बतलाते हैं शरीर, मन और आत्मा, इन तीनों का सम्बन्ध होने का नाम जन्म है। जब पुण्य पाप में प्रवृत्ति हुई तो जन्म हुआ, द्वेष हुआ, शरीर मिला, इन्द्रियाँ, मिली, जब शरीर मिला तो सुख दुःख हुए। जब सुख दुःख हुआ तो उस माफिक इच्छा द्वेष हुए। फिर पुण्य पाप में प्रवृत्ति हुई। यह चक्र चलता है सँसार में, इसीसे जीव को बन्ध होता है। इच्छा द्वेष न रहे ऐसी स्थिति तब बनती है जब मोह न रहे, इसका नाम है अज्ञान न रहा। इच्छा, द्वेष, धर्म अधर्म, जीवन इन सबके अभाव का नाम मोक्ष है तो उनका मूल ज्ञान रहा। ज्ञान होने का नाम मोक्ष हुआ। तो वैशेषिक सिद्धान्त से भी यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान से मोक्ष होता है। फिर हे स्याद्वादी तुम क्यों कहते हो कि सम्यग्दर्शन,

सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र यह है मोक्ष का मार्ग? जब इस जीव को मोह नहीं रहता वह यही है। वैशेषिक सिद्धान्त में मोहरहित पुरुष को यति कहते हैं और उस यति के जब छहों पदार्थों का यथार्थ बोध हो जाता है तो वह ज्ञानी कहलाता है। ६ पदार्थ होते हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। वैशेषिक सिद्धान्त में ये ६ पदार्थ माने गए हैं। अब जरा अंदाज कर लो कि ये छहों पदार्थ जैन सिद्धान्त में एक नाम से एक पदार्थ में हैं बस। उनके यहाँ ये ६ पदार्थ हैं। तो जैन सिद्धान्त में एक द्रव्य है। द्रव्य की ही गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि विशेषताएँ हैं। ये कोई जुदा पदार्थ नहीं, लेकिन विशेषवादियों का तो यह संकल्प है कि जरा भी गुंजाइस मिले तो झट अलग पदार्थ मान लिया जाए। इसकी विशेषता का वहाँ महत्त्व है। इसी ज्ञान में श्रेय माना गया है। यह उनका एक मूल सिद्धान्त है।

नयों की सापेक्षता से वस्तु का यथार्थ परिचय—आप लोगों ने देखी होगी एक गणेश मूर्ति। वह गणेश की मूर्ति किस तरह की बनी हुई है कि गणेश तो है एक पुरुष लेकिन मुँह है हाथी जैसा, उसके सूँढ़ लगी है और वह बैठा है चूहे पर। गणेश का वाहन चूहा है। भला कभी ऐसा गणेश हुआ है कि आदमी हो और उस पर सूंढ फिट हो और चूहे पर चढ़ा हो? जरा सोचो। और अलंकारिक ढंग से देखो तो यह किसी तथ्य का प्रकाश करता है। किस तथ्य का प्रकाश करता है? निश्चयनय और व्यवहारनय का तो द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय की यह मूर्ति है। द्रव्यार्थिकनय अभेद को सिद्ध करता है, व्यवहारनय भेद से देखता है। तो देखिए- यह मूर्ति समझा रही है कि वस्तु अभेद है, एक है। जैसे शरीर में सूँढ, ऐसी अभेद अखण्ड हो रही, वहाँ यह नहीं मालूम होता कि यह सूँढ अलग धरी है और यह आदमी अलग है। जैसे उस शरीर में वह हाथी की सूँढ़ ऐसी अभेद है। एक भेद है कि जहाँ खण्ड नहीं है, ऐसा अखण्ड बताता है निश्चयनय। यह तो है ऊपर की चीज और नीचे की चीज है चूहा। जैसे चूहा कागज अथवा कपड़े को कुतर-कुतर कर इतने बारीक खण्ड कर देता है कि जितने बारीख कैंची से भी नहीं किया जा सकता, अथवा जिसका दूसरा टुकड़ा न किया जा सके। तो यह चूहा द्रव्यार्थिकनय की सूचना देता है कि ऐसी बात देखो कि जहाँ और फिर भंग न हो सके, ऐसे अंश पर जाके जिन्होंने सात नयों के नाम जाना है वे समझते हैं। नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्दनय, समभिरूढ़ और एवंभूत ये ७ नय हैं। अब आप देखिए कि कैसा बड़े की ओर से हट हटकर छोटे अंश की ओर आते हैं। नैगमनय का विषय है सत् और असत्। भला बतलावो-असत् पदार्थ कहीं ज्ञान का विषय होता है? लेकिन नैगमनय में ऐसी करामात है कि सत् असत् दोनों का विषय करता है। नैगमनय का उदार पेट है नैगमनय का कितना महान् विषय है। जैसे उत्तर देते हैं कि कोई आदमी चूल्हे में लकड़ी जला रहा था, उससे किसी ने कहा कि भाई क्या करते हो? तो वह कह देता कि भाई हम रोटियाँ बना रहे हैं। . . . अरे कहाँ रोटियाँ बना रहे? तुम तो अभी लकड़ियाँ जला

रहे। देखिए रोटियाँ अभी असत् है मगर कह रहे कि रोटियाँ बना रहे। इसको विषय किया नैगमनय ने। संग्रहनय तो केवल सत् को विषय करता है। असत् छूट गया, सत् रह गया। जितने सत् हैं जगत में उन सब सतों का संग्रह करता है संग्रहनय। आप देखिए सैद्धान्तिक दृष्टि से नयों का प्रतिपादन है। जीव कहा, द्रव्य कहा तो उसमें सारे आ गए। संग्रहनय २ तरह के होते हैं (१) पर संग्रहनय (२) अपर संग्रहनय यानी सबसे ऊँचा संग्रह जिससे और ऊँचा न बन सके उसका नाम है परसंग्रह और परसंग्रह का भेद करके उसके भेद में संग्रह में लगे उसका नाम है अपर संग्रह। जैसे जीव अपर संग्रह है। सारे जीव तो आ गए मगर कुछ पदार्थ छूट गए। देखो संग्रहनय ने सत् को विषय किया तो व्यवहारनय उस सत् को भी व्यवहृत करता है। द्रव्य कहा तो द्रव्य में दो भेद हैं—जीव और अजीव। द्रव्य के ६ भेद हैं—(१) जीव, (२) पुद्गल, (३) धर्म, (४) अधर्म (५) आकाश और (६) काल। भेद करना व्यवहार का काम है। यहाँ तक तो रहा द्रव्यार्थिकनयका अब पर्याय पर चले तो ऋजुसूत्रनय विषय ही इतना सूक्ष्म है कि इस विषय को ही अड़कर रह जाए तो सब व्यवहार खत्म, काम काज खत्म। मुक्ति का मार्ग नहीं बन सकता। ऋजुसूत्रनय की एक लड़ी पकड़कर रह जाए, इसको पकड़ा है क्षणिकवादी बौद्धों ने, जिसका विषय क्या है? एक समय में होने वाली पर्याय। लो अगर ऋजुसूत्रनय की अड़ी पर डट जाए तो अगर कपास में आग लग जाए तो भी वे क्षणिकवादीजन यह न कह सकेंगे कि देखो कपास जल रहा है। अच्छा बतलावो जो जल रहा है वह कपास है क्या? अरे जो जल रहा वह तो आग बन गया, वह अब कपास कहाँ रहा? जो कपास है वह जल नहीं रहा और जो जल रहा वह कपास नहीं रहा। तो वे क्षणिकवादी उस समय यह नहीं बोल सकते कि देखो कपास जल रहा। अब देखिए ऋजुसूत्रनय का विषय है तो सत्य, असत्य नहीं हैं पर और नयों की अपेक्षा न रखें और एक ऋजुसूत्रनय का ही कोई हठ करे तो यह तो उसके लिए दुर्दशा की बात है। प्रथम तो ऋजुसूत्रनय ही इतना सूक्ष्म है। फिर चलता है शब्दनय। ऋजुसूत्रनय ने जिस विषय को ग्रहण किया है उस पर्याय को कहने वाले अगर १० शब्द हैं तो उन दसों शब्दों के १० अर्थ। एक न जाने जाएंगे। पहले शब्द से दूसरे विषय का ग्रहण न हुआ। दूसरे से दूसरा तीसरे से तीसरा। तो शब्दनय ने जिस पर्याय को ग्रहण किया उस शब्द ने भी शब्द में भेद डाल दिया। कैसे? जैसे कोई कहे—स्त्री, भार्या, दारा, ये सब महिला के ही तो नाम हैं। महिला है उसे चाहे भार्या कह लो, चाहे दारा कह लो, चाहे स्त्री कह लो, कलत्र कह लो। यह तो ऋजुसूत्रनय स्वीकार करता है। लेकिन शब्दनय कहता है कि जो स्त्री है वह दारा नहीं, जो भार्या है वह स्त्री नहीं, अरे स्त्री उसे कहते हैं जिसमें गर्भ ठहरे कल नाम उसका है जो पति, पुत्रादि के शरीर की रक्षा करे। ऐसे ही जो भार्या है वह दारा नहीं। यह तो ऋजुसूत्रनय स्वीकारा करता है कि चाहे जिस शब्द से कहो एक ही बात है, मगर शब्दनय तो इसे नहीं स्वीकार करता तो ऋजुसूत्रनय ने जिस विषय को ग्रहण किया उस विषय में भी भेदकर देना और अंश कर देना,

वह है शब्दनय का काम। इतने अंश तक तो हम आ गए। अब आगे चलो—**समभिरूढ़नय।** एक शब्द के द्वारा एक अंश को पकड़ा उसमें भी एक वह शब्द दसों अर्थों से कहता है। अभी तो ऋजुसूत्रनय में यह था कि एक अर्थ से दसों शब्द कहते हैं, तो उनमें जिस शब्द का जो अर्थ है उस शब्द से वह अर्थ लेता शब्दनय। अब एक ही शब्द दसों अर्थों से कहता है। उनमें से जिसमें रूढ़ि बन गई हो उसको कहना समभिरूढ़नय का काम है। जैसे गो शब्द गाय का भी नाम है। इन्द्रिय का भी नाम है। मगर गो शब्द का अर्थ गाय से लेना यह शब्दनय से भी और सूक्ष्मता लेता है। तो लो एवंभूतनय और आया और वह बोलता है कि हम इससे भी हल्के सूक्ष्म हैं। कैसे? इस बिना रूप परिणामों में ही हम उस शब्द से बोलेंगे। गो शब्द से गाय कहकर जब चले तब गाय है' क्योंकि गो का अर्थ है जाना। तो एवं-भूत ने भी अड़ पकड़ी। तो ये नय उत्तरोतर कितने सूक्ष्म को विषय करते हैं। वैशेषिक इससे भी आगे बढ़े। सो वह है अभेद पदार्थ में गुणादि की भिन्नसूत मानना अज्ञान है।

ज्ञानमात्र से मुक्ति मानने वाले वैशेषिक दर्शनानुयायियों की शंका का समाधान—हाँ पदार्थ की कथनी चल रही है। आत्मा है, आत्मा में ज्ञान दर्शन, श्रद्धा, चारित्र आनन्द आदि गुण हैं, तो आत्मा जुदी चीज है और ज्ञानादि जुदी चीज है। कुछ समझ में आ गया। हाँ और देखो—उनसे क्रिया भी होती है, परिणति भी होती है। यह परिणति अलग पदार्थ है, और यह भी समझ में आता है कि अगर दसों पदार्थ पड़े हों तो उनमें सामान्य यह भी पदार्थ, यह भी पदार्थ। तो सामान्य भी पदार्थ है और विशेषता भी नजर आती है। यह दानी है, यह त्यागी है, यह ऐसा है। विशेष भी पदार्थ है। ये पदार्थ कोई अलग ठहरे हैं क्या कि जिनकी सत्ता हो, जिनमें प्रदेश हो, जिनमें अविभाग प्रतिच्छेद हों, न्यारे पड़े हैं, लेकिन कुछ शब्द तो आए बस उनका पदार्थ बन गया। जब ऐसे ६ पदार्थों का वास्तविक ज्ञान होता है, वैशेषिक कहते हैं कि जब वैराग्य उत्पन्न होता है, सुख दुःख इच्छा आदि का अभाव होता है। जहाँ इच्छा न हो वहाँ पुण्य पाप न रहा, जहाँ पुण्य पाप न रहा वहाँ शरीर न रहेगा। जहाँ कहते हो कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है? एक शंका है। समाधान सबका एक है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र ऐसे हैं कि उनमें से एक भी न हो तो मोक्ष नहीं होता। सम्यग्दर्शन नहीं है तो ज्ञान और चारित्र कितने ही करे पर मोक्ष नहीं। ज्ञान न हो तो सम्यग्दर्शन सम्यक्चारित्र कैसे हों? अव्वल तो होगा ही नहीं मानों हो गया। दूध गाय का भी होता है, भैंस का भी होता है और एक आंक पेड़ होता है उसमें भी दूध होता है। उस आंक के दूध को अगर लगे हुए काँटे पर लगा दिया जाता है तो वह काँटा ऊपर आ जाता है। जब दूध सब का नाम है तो जरा आध पाव आंक का दूध क्यों नहीं गर्म करके पी जाते? तो भाई केवल नाम ही नाम धरने से काम नहीं चलता। वस्तु वहाँ होनी चाहिए। नाम धर दिया यह चारित्र है मगर यह वास्तविकता से परे है। उससे मोक्ष न होगा। तो सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की

एकता हो तो वह मोक्ष का मार्ग है। इन तीनों में से एक भी कम हो तो मोक्ष नहीं होता। लेकिन अभी यहाँ वर्णन चल रहा है शंका विषयक और, दार्शनिकों के दृष्टान्त देकर यह कह रहे हैं कि मात्र ज्ञान से ही मोक्ष नहीं होता किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों की एकता से मोक्ष होता है।

रत्नत्रय के दिग्दर्शन के बल पर साँख्य सिद्धान्त से शिक्षा की संभवता—साँख्य सिद्धान्त में तो यह बात कही गई थी कि जब तक इस जीव को प्रकृति और पुरुष का भेद विज्ञान नहीं होता तब तक इसका संसार में जन्म मरण है। इस सम्बंध में उनका यह स्पष्टीकरण है कि आदि तो है संसार और अन्त है मोक्ष। संसार है शब्दादिक विषयों की प्रवृत्ति का नाम। तो पंचेन्द्रिय के द्वारा विषयों का जो उपभोग है वह संसार है और अनन्त है गुण और पुरुष में भेद विज्ञान होने का नाम अर्थात् ये अहंकार कषायें और भौतिक पदार्थ ये सब पुरुष के नहीं हैं। मैं एक चिन्मात्र हूँ, इस प्रकार के भेद से वह है संसार का अन्त। जब तक इस जीव को ऐसा अभेद प्रत्यय रहता है स्वयं और पर में कि ये जो श्रोत्रादिक इन्द्रिय के व्यापार हैं— सुनना, देखना, सूँघना आदि जो क्रियाएँ हैं, इनमें जब तक ऐसा प्रतिभास रहता है कि मैं सुनने वाला हूँ, मैं देखने वाला हूँ, मैं स्वाद लेने वाला हूँ, तब तक इस जीव का संसार है, तब तक यह जीव अज्ञानी है। इसी प्रकार पंचभूत से बना हुआ जो यह शरीर है इस शरीर में जब तक आत्म बुद्धि रहती है, ये हाथ, ये पैर, ये सिर इनका समूह जो शरीर है इनमें जब तक आत्मीयता की बुद्धि रहती है उनमें इस तरह से अपने को प्रतीति में लेते हैं कि यह शरीर मैं हूँ, तब तक उसका संसार है, तब तक यह जीव अज्ञानी है। और जब यह जान जाता है कि एक इस ब्रह्म को छोड़कर बाकी सब यह मायाजाल यह प्रकृति का धर्म है। सत रज तमो गुण वाली प्रकृति के ही ये सब धर्म हैं। आत्मा तो अकर्ता है, अभोक्ता है, चेतन है। जो कुछ भी क्रियाएँ है वे सब प्रकृति के धर्म हैं। इस तरह जब भेद जानते हैं तो उसे कहीं मुक्ति प्राप्त होती है? इस सिद्धान्त से कितनी ही शिक्षाएं मिलती हैं, पर मूल में इस आत्मा को अपरिणामी मान लिया गया अर्थात् इस आत्मा में कोई परिवर्तन ही नहीं होता, इससे यह सिद्धान्त अपूर्ण रह जाता है। जब आत्मा न संसारी है न मुक्त है तो किसके लिए धर्म की विधि बताते? जब यह संसारी है, अज्ञानी है और अपनी अज्ञान अवस्था त्याग सकता है, मुक्त अवस्था पा सकता है तब ही तो जीव को उपदेश दिया जाएगा कि दुःख से छूटो और मोक्ष के मार्ग में लगो। लेकिन जहाँ प्रकृति का बंध है। प्रकृति का ही मोक्ष है, अचेतन में ही सब परिणतियाँ हैं इस चेतन को अपरिणामी माने तो यह सिद्धान्त फिट नहीं बैठता। प्रकृत बात यह कही जा रही है कि साँख्यों ने भी यह माना कि ज्ञान से मोक्ष होता है। जब तक विपरीतता रहती है तब तक संसार है और जब विपरीतता मिट जाती है ज्ञान होता है तो उसे मोक्ष होता है। शंकाकार यहाँ यह कहता है कि ज्ञान से ही मोक्ष है फिर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र को साथ कहने की क्या आवश्यकता है? लेकिन यह नहीं

समझा कि ज्ञान जब दृढ़ हो, विश्वास सहित हो तब ही तो ज्ञान कार्यकारी है। जब ज्ञान-ज्ञान के द्वारा ज्ञान प्रकृति का आचरण करने लगे तब यह ज्ञान कार्यकारी है। तो ज्ञान के साथ लगे हैं ये श्रद्धान और चारित्र। इन तीनों में एक भी कम हो तो मोक्ष नहीं है।

रत्नत्रय के दिग्दर्शन के बल पर विशेषवाद से शिक्षा की संभवता—वैशेषिक व नैयायिकों ने कहा है कि इच्छा द्वेष से बन्ध है। उनका अभाव हो तो वहाँ मोक्ष है। मोक्ष के मायने क्या? शरीर का संयोग न रहना शरीर की फिर उत्पत्ति न होना। यह ही मोक्ष कहलाता है। तो यह मोक्ष मिलेगा कैसे? पुण्य पाप यह दृष्टि दूर हो तो मोक्ष मिलेगा। पुण्य पाप कैसे दूर हों? जब इच्छा दूर हो तो पुण्य पाप दूर हों। अब द्वेष कैसे दूर हो? मोह न रहे। मोह का नाम अज्ञान न रहे, ज्ञान हो तो मोक्ष होता है। इस सिद्धान्त में स्पष्टीकरण और उसकी विधि यह बतायी गई है कि देखो भविष्य में आने वाले कर्म तो उत्पन्न न हों और जो संचित कर्म हैं वे रुक जाएं, दूर हो जाए तब मोक्ष होता है। बात तो ठीक है पर इन सबका कारण बताया है केवल ज्ञानमात्र जानकारी ही जानना, श्रद्धान और चारित्र की बात नहीं कही गई इसीलिए स्थूल तथा सम्बर निर्जरा को ही संकेत कर रहा है यह सिद्धान्त, फिर भी भूल में भूल करने पर यह सिद्धान्त भी मुक्ति मार्ग को दिखाने में असमर्थ है। इसने कहा है कि पाप की अनुत्पत्ति होती है पाप के साधन छोड़ने से। लो चारित्र की बात तो कही जा रही है, पर सिद्धान्त मूल में यह रखते कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है पुण्य की अनुत्पत्ति होती है पुण्य के साधन न रखने से। पुण्य फल भोगने के समय संसार से उद्वेग होना तो चाहिए, इससे धर्म अधर्म का नाश होता है और मोक्ष होता है। यहाँ शंकाका समाधान नैयायिक का उदाहरण देकर हो रहा है। पर इसमें भी श्रद्धान और चारित्र साथ लगा हुआ है। यह उनके विवेचन से ही सिद्ध होता है। यह वैशेषिक का कथन था। नैयायिक तो कहते हैं कि दुःख जन्म प्रवृत्ति दोष मिथ्याज्ञान ये दूर हों तो मुक्ति होती है। इनमें मूल है मिथ्याज्ञान। मिथ्याज्ञान दूर हो गया तो दोष दूर हो गए। दोष दूर होंगे तो धर्म अधर्म की प्रवृत्ति दूर होगी। पाप पुण्य की प्रवृत्ति दूर हो गई तो जन्म दूर होगा। जन्म न होगा तो दुःख भी न रहेगा। इस तरह दुःख का आत्यंतिक अभाव का नाम मोक्ष है। और वह मिथ्याज्ञान की निवृत्ति होने से हुआ। अर्थात् ज्ञान से हुआ। तो ज्ञान से ही मुक्ति सिद्ध हुई। तत्व ज्ञान किया तो मिथ्याज्ञान दूर हुआ। मिथ्याज्ञान दूर होने से उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व की चीजें दूर हो जाती हैं। जब सुख दुःख का सर्वथा अभाव हो जाए तो उसी का नाम मोक्ष है। तो ज्ञान से ही मोक्ष हुआ ना। शंकाकार का यह समर्थन चल रहा है। लेकिन यहाँ भी देखें तो जिस जानकारी के साथ विश्वास लगा है वही दृढ़ कहलाता है। जैसे जानकारी के अनुरूप कुछ भीतर में ज्ञान की वृत्ति चल रही है ऐसे ही ज्ञान से तो मोक्ष की बात सिद्ध होती है। तो ज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह हठ करना ठीक नहीं किन्तु सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के मेल से मुक्ति होती है।

रत्नत्रय के दर्शन पर क्षणिकवाद से शिक्षा ले सकने की संभवता—एक और क्षणिकवादियों का सिद्धान्त देखो—जिसमें यह सिद्ध किया गया है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है। उनका सिद्धान्त है कि मूल में बन्ध का, बंधन का, विपत्ति का कारण है अविद्या। बात ठीक ही है। अज्ञान है उसके ऊपर ये सब झंझट लगे हैं। लेकिन ज्ञान से मोक्ष होता है ऐसा कहने में जो ज्ञान इतना कमजोर है कि विश्वास और आचरण से रहित है तो उस ज्ञान से मोक्ष नहीं होता। जैसे अज्ञान से बन्ध होता है ऐसा कहने में केवल अज्ञान से बन्ध नहीं होता। उस अज्ञान के साथ विपरीत श्रद्धान और विपरीत आचरण बंध हो तो उससे मोक्ष होता है, इसी प्रकार जिस ज्ञान के साथ सही विश्वास और आचरण हैं उस ज्ञान से मोक्ष होता है। बौद्ध सिद्धान्त में कहा है कि सबकी मूल अविद्या है। अविद्या का अर्थ है कि जो अनात्मा है उसमें आत्मा का अभिमान करना। यह मैं हूँ, जो अपवित्र है उसमें पवित्रता का अभिमान करना जो दुःख है उसमें सुख का अभिमान करना यह तो अज्ञान है। जो अनात्मा है उसमें आत्मा की बुद्धि करना भ्रम है। सो यह कथन ऊपर से तो ठीक है, किन्तु अन्तर कहाँ? जैन सिद्धान्त तो यों दिखाता है कि शरीर अनात्मा है। उसमें आत्मा का कोई भ्रम करे कि यह मैं हूँ तो उसे बन्धन होगा, दुःख होगा, लेकिन बौद्धों का ये कथन नहीं है, उनका कथन है कि एक आत्मा को ध्रुव मानना भ्रम है। दूसरे क्षण का आत्मा अनात्मा है। सो क्षणिकवाद में यहाँ पर्यायार्थिकनय का एकान्त कर डाला। यह एक अलग विषय है। प्रयास उसका यह है कि अविद्या से संसार व विद्या से मोक्ष है।

पर्यायार्थिकनय के एकान्त में आत्मतत्त्व के परिचय की असंभवता—क्षणिक वादियों का कहना है कि आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट हो जाती है। नया-नया पैदा होता है। जैसे यह एक शरीर है। इस शरीर में आत्मा सुबह से शाम तक एक नहीं रहती। किन्तु सुबह से सायं तक अनगिनते आत्मा बन जाते हैं। समय-समय में एक-एक आत्मा कहलाता है, दूसरे समय में दूसरा आत्मा हुआ। पहला आत्मा समाप्त हो गया। इस तरह से नयी-नयी आत्मा होती है, लेकिन यह आत्मा, यह जीव, यह संस्कार जब उनमें आत्मबुद्धि करता कि यह मैं हूँ बस यह उसका भ्रम हुआ। जैसे सरसों के तेल का या मिट्टी के तेल का दीपक जल रहा हो तो वहाँ क्रम-क्रम से नई बूँद ऊपर पहुँचती रहती है उससे वह दीपक जलता रहता है। मानो आधा घण्टे तक वह दीपक जलता रहा तो उसे देखकर अगर कोई कहे कि यह तो वही एक दीपक है जो आधा घण्टे से जल रहा है तो उसका यह कहना भ्रमपूर्ण है। क्योंकि प्रतिक्षण में नया दीपक जल रहा है। यही दृष्टि करते हैं क्षणिकवादी कि आत्मा तो क्षण-क्षण में नया-नया बनता है लेकिन इसमें यह भ्रम करते कि यह वही आत्मा है जो सवेरे था। मैं वही हूँ, इस प्रकार का जो ज्ञान करता है वह अविद्या है। अब देखिए—जैन सिद्धान्त में इसे कहा है पर्याय-क्षण-क्षण में समय-समय में नया-नया होता है उस पर्याय को द्रव्य मान लिया तो यह भ्रम है लेकिन क्षणिकवादियों का सिद्धान्त है कि समय-समय में होने वाला पर्याय

नहीं, वही पूर्ण द्रव्य है और समय-समय में पुराना द्रव्य मिटता रहता है, नया द्रव्य उत्पन्न होता रहता है, उनमें यह बुद्धि करना कि यह आत्मा है, यह मैं हूँ, इसी के मायने अविद्या है। जब कोई बोलता कि यह मैं हूँ तो इतनी देर में कितने ही आत्मा पैदा हो गए। इसमें किसको लक्ष्य में देकर बोला। यह अज्ञान है। यह क्षणिक वादियों का सिद्धान्त है। उस अविद्या के कारण जीव में संस्कार बनता है। जब उनसे पूछा जाता है कि भाई जब नया-नया आत्मा पैदा होता है तो फिर यह ख्याल क्यों रहता है कि यह कार्य मैंने किया, मैं करूँगा। तो उनका उत्तर है—संस्कार से। जैसे दीपक में नया-नया बूँद ही नया-नया दीपक बन रहा। लगातार वह दीपक जल रहा इस संस्कार से भी ज्ञात होता कि यह वही दीपक है, इसी तरह नया-नया आत्मा पैदा होता है पर संस्कार लगा है उपयोग का। पहला आत्मा नये आत्मा को अपना पूरा चार्ज देकर मरता है। फिर वह आत्मा अपने बाद उत्पन्न हुए नये आत्मा को अपने ज्ञान का सारा चार्ज देकर नष्ट होता है। इस तरह संस्कार से बात चलती रहती है।

क्षणिकवाद में अविद्या और विद्या को ही संसार व मोक्ष का हेतु सिद्ध करने का प्रयास—क्षणिकवाद का कथन है कि उस अविद्या के कारण वह संस्कार बना, और संस्कार के कारण विज्ञान चलता है। जो हमारी जानकारियाँ चलती हैं—यह जाना वह जाना—तो यह विज्ञान संस्कार की वजह से चलता है और विज्ञान के कारण नाम रूप चलता है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, इनमें शरीर को भी पृथ्वी (मिट्टी) कहा है। मरने के बाद लोग बोलते हैं ना कि अब तो यह शरीर मिट्टी हो गया। यद्यपि शरीर पृथ्वी नहीं है, मनुष्य का शरीर त्रस काय है लेकिन मिट्टी जैसी हैं, पृथ्वी की तरह पिण्ड है। इस समानता से लोग इसे पृथ्वी कह देते हैं। उनका यह मत है अथवा संस्कार, विज्ञान, शब्द, उपभोग आदि नाम रूप हैं। विज्ञान के कारण नाम रूप हो तो नाम रूप के कारण ६ आयतन होते हैं। ५ इन्द्रियाँ और छठा मन इनका जो विषयोपभोग है उसे आयतन कहते हैं। जब इन्द्रिय के द्वारा विषय का उपभोग हुआ, तब स्पर्श हुआ—स्पर्श कहते हैं विषय, इन्द्रिय, ज्ञान, इन तीनों का सम्बन्ध जोड़ना। देखो अनेक बातें स्थल-स्थल पर ठीक-ठीक प्रतीत होती हैं। जैसे सिद्धान्त भी तो यही कहता है कि द्रव्येन्द्रिय भावेन्द्रिय और विषय इन तीन का प्रसंग होता है विषय के उपभोग के समय में। द्रव्येन्द्रिय द्वारा देखने का काम होता। भावेन्द्रिय से देखने का ज्ञान बनाया और विषय का उपभोग यह तो स्पर्श हुआ। इन्द्रिय, विज्ञान और विषय, इनका सम्बन्ध जुड़ा और स्पर्श के कारण वेदना हुई, सुख-दुःख का अनुभव हुआ। जब ये वेदनाएँ पहले होती हैं तो उन वेदनाओं में, उन सुख दुःखादिक के उपभोग के समय में फिर इसे क्लेश हो जाता है। तो वेदना के कारण तृष्णा हुई मोटे रूप से सब जानते हैं कि जब थोड़ा बहुत अनुभव कराया जाए तब आसक्ति होगी। किसी को बढ़िया रसीला भोजन कराया जाये मानो हलुवा खिलाया जाय, तब ही उसे हलुवा की आसक्ति हो सकेगी। जब अनुभव ही नहीं किया

तो फिर आसक्ति कहाँ से होगी? तृष्णा बनती है वेदना के कारण। जब तृष्णा बन जाती है तो यह ढेला है यह उपादान बन जाता है। अशुद्ध अवस्था वाला बन जाता है। और उपादान के कारण फिर पुनर्भव होता है, कर्मबन्धन होने लगता है, इसी के कारण भव है। भव के कारण जन्म होता और जन्म के कारण बुढ़ापा मरण आदि होता। इन सब दुःखों का मूल कारण अविद्या है, अज्ञान है। अविद्या दूर हो तो ये सब विडम्बनाएं दूर हो जाती हैं। तो यों उत्तर देकर शंकाकार यह कहता है कि देखो ज्ञान से ही मोक्ष होता। तब यह क्यों कहा जा रहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीनों के एकत्व से मोक्ष मार्ग है।

ज्ञान से मुक्ति होने के कथन में भी रत्नत्रय से मुक्ति होने के आशय की निहितति—और, भी अन्तिम बात सुनो। जैन सिद्धान्त ने भी यही बात कही कि मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग ये बन्ध के कारण हैं। तो देखो मिथ्यादर्शन क्या है? पदार्थ का जैसा स्वरूप है उस स्वरूप से विपरीत अभिप्राय को ही तो मिथ्यादर्शन कहते हैं। तो यह विपरीत अभिप्राय मिथ्याज्ञान ही तो है, विपरीत अभिप्राय मोह में ही तो होता। जहाँ ज्ञान हुआ, अज्ञान दूर हुआ, वहाँ मोक्ष हो गया। तो जैन सिद्धान्त में भी किसी स्थल के कथन से भी यह बात पुष्ट ही तो है कि ज्ञान से मोक्ष होता है, फिर क्यों कहा जा रहा कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व ही मोक्षमार्ग है। एक दृष्टान्त से भी परख लो देखो—मानो कोई सेठ कहीं जा रहा था। उसके साथ उसके मित्र भी थे। एक जगह जंगल में देखा कि एक १०-१२ वर्ष के बच्चे को हाथी ने अपनी सूँढ़ में पकड़ कर पटक दिया। उस सेठ का भी १०-१२ वर्ष का वैसा ही बच्चा था, तो उसे यह भ्रम हो गया कि अरे मेरे बच्चे को हाथी ने उठाकर पटक दिया। सेठ मूर्छित होकर गिर पड़ा। बेहोश हो गया। उसके मित्रों ने झट उस बेहोशी का कारण समझ लिया। इधर तो उसकी बेहोशी दूर करने का उपचार करना शुरू कर दिया और उधर खबर देकर सेठ के बच्चे को बुला लिया। सेठ के जब नेत्र खुले, अपने बच्चे को अपने सामने पाया तो झट बेहोशी खत्म हो गई और उसका सारा दुःख दूर हो गया सो ज्ञान से ही मोक्ष है, दर्शन और चारित्र की बात क्यों कही जा रही है? देखो जैन सिद्धान्त का भी उदाहरण देकर शंकाकार यह कह रहा है कि मोक्ष तो ज्ञान से ही होता है, लेकिन यह नहीं समझा कि इस ज्ञान के साथ दर्शन और चारित्र लगा है। मिथ्यादर्शन क्या है। मिथ्या विश्वास ही तो है। अविरति आदि मिथ्या आचरण ही तो हैं। ये बंध के कारण हैं। ये मिटें तो मोक्ष हो। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र हो, बस यही मोक्ष का मार्ग है। तो शंकाकार का जो मूल प्रश्न था कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, तीनों बातें न बोलना चाहिए उसका समाधान करीब-करीब आ गया।

मोक्षमार्ग के प्रसंग में सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों की अविनाभाविता—अब विशेष रूप में भी विचार करें तो ये सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र सब अविनाभावी हैं। इनमें से

यदि एक भी न हो तो काम न बने। जब तीनों हों तब मोक्षमार्ग बनता है। उदाहरण के लिए लो-कोई पुरुष रोगी है, उसे औषधि दी जाती है तो उस रोगी को उस औषधि का ज्ञान भी है, कि किसके साथ यह औषधि ली जाएगी, कब-कब ली जाएगी, किस ढंग से ली जाएगी। और, उस औषधि को वह खाता भी है। तो देखो इस घटना में भी दर्शन ज्ञान और आचरण ये तीनों आ गए। इसी तरह इस संसार का रोग इस प्राणी को लगा है तो पहले विश्वास हो कि इस संसार का रोग मुझे लगा क्यों? निदान भी तो छोड़ना चाहिए। जैसे उन रोगियों को समझाया जाता कि तुम्हारी यह बीमारी उड़द की दाल खाने से हुई, कोई ठंडी चीज खाने से हुई, तो उसे फिर कहा जाता है कि भाई अब ठंडी चीज मत खाओ। जो चीज अपच है, जिससे यह रोग हुआ है पहले उससे मुख मोड़ो। यों रोग मिटने का हेतुभूत जो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र है उसकी ओर उसे अभिमुख किया जाता है। यों ही यहाँ देखिए—सम्यग्दर्शन पाने में मोक्षमार्ग का विषयभूत जो निज आत्मा है इस निज आत्मा को मोक्ष दिलाना है तो आत्मा का श्रद्धान हो। यह मैं क्या हूँ? स्वयं निरपेक्ष अपने आप अपने ही सत्त्व के कारण जो तत्त्व है उसका श्रद्धान होना चाहिए और इसमें जो ज्ञान वैभव है, आनन्द निधि है उसका परिज्ञान होना चाहिए, अपने ज्ञान को इस स्वभाव के अनुरूप बनाना यह कहलाता है सम्यक्चारित्र। ये तीनों बातें हो तो जैसे रोगी का रोग विश्वास, ज्ञान, आचरण के कारण दूर हुआ इसी प्रकार संसारी रोगी प्राणी का यह जन्म जरा मरण का रोग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र से दूर होगा। और, भी दृष्टान्त में लो—जैसे जंगल में आग लगी है और वहाँ दो आदमी फंसे हो—एक लंगड़ा और एक अन्धा। उनमें से लंगड़ा अपनी आँखों से देख रहा कि देखो वह आग लगी है, इधर को बढ़ती आ रही है, सब कुछ देखता है पर वहाँ से भाग कर जा नहीं सकता, और एक अन्धा पुरुष जिसको कुछ दिखता ही नहीं उसमें भागने की शक्ति होने पर भी किधर भागे। कहीं बढ़ती हुई आग में ही घुस जाए। अब ऐसी स्थिति में तो वे दोनों ही उस अग्नि में जल जाएंगे। उनमें अगर सुबुद्धि जग जाए, 'अंधे के कंधे पर लंगड़ा बैठ जाए और उसे आगे बढ़ने के लिए दिशा बताता जाए तो इस तरह से वे दोनों के दोनों अग्नि से अपनी रक्षा कर सकते हैं। इसी तरह से समझिए कि जो ज्ञान वाला है ज्ञान-ज्ञान की ही बात रखता है क्रिया नहीं है, आचरण नहीं है, प्रवृत्ति नहीं है, ऐसा ज्ञान वाला भी इस संसार आग में जलेगा। बच नहीं सकता। और जो क्रिया में लगा है, आचरण करता है, महाव्रतपाले, व्रत, समिति पाले, पर ज्ञान नहीं है, विश्वास नहीं है, आत्मपरिचय नहीं है तो ऐसा पुरुष भी तो मुक्ति का पात्र नहीं होता। तो आचरणहीन ज्ञान भी कार्यकारी नहीं, ज्ञानहीन आचरण भी कार्यकारी नहीं, अतः श्रद्धान, ज्ञान और चारित्र इन तीनों का एकत्व ही मोक्षमार्ग है।

ज्ञान से ही मोक्ष होने की हठ में तीर्थ प्रवृत्ति की असंभवता—यहाँ प्रकरण यह चल रहा कि शंकाकार का यह ख्याल बना कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है। जरा युक्ति

से विचार करो। यदि यह जाना जाए कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है तो ज्ञान तो १३ वें गुण स्थान में पूर्ण हो जाता है। १३ वां गुणस्थान सयोग-केवली है। १२ वें गुण स्थान के अन्त में केवलज्ञान हो जाता है। ज्ञान पूर्ण हो जाता है। तो ज्ञान पूर्ण होते ही मोक्ष हो जाना चाहिए। यहाँ बढ़ना न चाहिए। वहाँ फिर ठहर तो नहीं सकते। जब ठहर नहीं सकते तो फिर उपदेश कहाँ से मिलेगा? केवलज्ञान हुआ कि मुक्त हो गए। अरे केवलज्ञानी होने पर भी हजारों लाखों वर्ष या अरहंत भगवान की अभी जितनी आयु शेष है उतने वर्ष वे विहार करते हैं, उनकी दिव्यध्वनि खिरती है, समवशरण की रचना होती है, गणधर देव उनकी दिव्य ध्वनि को झेलते हैं, फिर आचार्यों द्वारा उसकी परम्परा चलती है। यदि माना कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है तो जहाँ ज्ञान हुआ वहाँ ही मोक्ष हो जाना चाहिए। ठहर नहीं सकते। जब ठहर नहीं सकते तो फिर उपदेश कहाँ से होगा? उपदेश न हो तो ये बातें कहाँ से आयेंगी? इस कारण ज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह हठ करोगे तो फिर तीर्थ प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कोई कहे कि ज्ञान हो तो मोक्ष हो, होने दो, यहाँ के जो और लोग बचे हैं वे उपदेश बना देंगे। तो भाई जिसकी जड़ अज्ञान है, असर्वज्ञता है उस मूल से जो उपदेश परम्परा होगी वह समीचीन नहीं हो सकती। जिस परम्परा का मूल निर्दोष है उसमें तो प्रामाणिकता है। तो लोग ज्ञान से ही मोक्ष होता है ऐसा मानने पर ज्ञान होते ही मोक्ष हो जाएगा। अवस्थान न हो सकेगा, फिर उपदेश का अभाव हो जाएगा। अब यहाँ कहे शंकाकार कि ज्ञान होने के बाद भी पूर्वसंस्कार जब तक रहता है तब तक वह लोक में ठहरता है और उपदेश चलता है। जब संस्कार मिट जाएगा तब मोक्ष होगा। तो सुनो भाई ऐसा कहने में न्याय की ही तो बात कह दी, अन्यथा बतलाओ, संस्कार का विनाश भी कैसे हो? ज्ञान से मोक्ष होता है और कहते कि संस्कार का क्षय होने से हुआ तो संस्कार क्षय का कारण क्या है? क्या ज्ञान। अगर ज्ञान है तो जिस समय ज्ञान हुआ उसी समय वह संस्कार भी मिट गया, तब तुरन्त मोक्ष हो गया। फिर न ठहरेंगे, उपदेश परम्परा न चलेगी। यदि कहो कि उपदेश के क्षय का कारण और है, ज्ञान नहीं, तो यह बात कैसे युक्त ठहर सकेगी। कि मात्र ज्ञान से ही मोक्ष होता है। जब परम यथाख्यात चारित्र पूर्ण होता है तो इस जीव को मुक्ति प्राप्त होती है। तो यहाँ तक यह बात समझना चाहिए कि आत्मा का मोक्ष मार्ग सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व है, मात्र ज्ञान नहीं। आत्म विश्वास हो, आत्मज्ञान हो और आत्मस्वभाव के अनुकूल ज्ञान का आचरण हो तो यह ही मोक्ष का मार्ग है।

सम्यक्चारित्र से संस्कारक्षय होने की संभवता से रत्नत्रय से मुक्ति की प्रसिद्धि—प्रकरण यह चल रहा है कि कोई शंकाकार कह रहा कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, फिर सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र साथ में क्यों लगाये गए हैं? इस प्रसंग में बहुत प्रकार से समाधान दिया गया। अन्त में समाधान से हटकर शंकाकार यह कह बैठा कि भाई ज्ञान होने पर भी जब तक संस्कार का क्षय नहीं होता तब तक मुक्ति नहीं होती। सो यह प्रतिज्ञा

तो कायम न रह सकी कि ज्ञान से मोक्ष होता। अब तो यह बात आयी कि संस्कार के क्षय से मोक्ष होता है। और फिर संस्कार क्षय का कारण क्या है? यदि कहो कि ज्ञान है तो ज्ञान होते ही संस्कार का क्षय हो जाएगा। फिर तो मोक्ष हो जाना चाहिए। अगर संस्कार क्षय ज्ञान से नहीं होता, कुछ अन्य चीज है तो वही तो चारित्र कहलाता है। चारित्र से ही वह संस्कारक्षय होता है। अब और भी आपत्तियाँ देखिए—यदि इतना ही माना जाए कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है तब तो दीक्षा आदि उपाय करना व्यर्थ हो जाएगा। सारी क्रिया-काण्ड, सारे धार्मिक अनुष्ठान व्यर्थ हो जाएंगे, क्योंकि ज्ञान से मोक्ष होता तो ज्ञान ही करना चाहिए। फिर दीक्षा या अनेक प्रकार के भेषों में, क्रियावों में क्यों प्रयत्न किया जाए? तब तो यम नियम आदि सब का अभाव हो बैठेगा। यदि कोई यह कहे कि ज्ञान और वैराग्य दोनों हुए। तो मोक्ष हो गया। तो ठीक हैं। तब तो मोक्ष तुरन्त ही हो जाना चाहिए। फिर क्यों ठहर रहे हैं? फिर तो उपदेश भी कैसे होगा? तो इस तरह यह कहा कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है और उसमें विश्वास और चारित्र की बात बिल्कुल हटा दिया सो यह बात युक्त नहीं है।

नित्यैकान्त व अनित्यैकान्त में मोक्ष-प्रक्रिया की असंभवता—अब एक दार्शनिक विधि से और भी देखिए—जो लोग यह कहते हैं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है उनमें कुछ लोग तो हैं नित्यवादी और कुछ हैं अनित्यवादी। नित्यवादी नैयायिक आदि हैं। उनका कथन है कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है। देखिए जो लोग मानते हैं कि पदार्थ सर्वथा नित्य है, अपरिणामी है, पदार्थ में किसी प्रकार की दशा, अवस्था, परिणति, अदल बदल नहीं होती है, ऐसा जो नित्यपने का एकान्त मानते हैं उनके यहाँ मोक्ष का कारण ही सम्भव नहीं है, क्योंकि अपरिणामी है, किसका मोक्ष कराना है। मोक्ष के कारण भी बनेंगे कैसे? कुछ भी परिणमन होता ही नहीं है। तब फिर नित्यपने का एकत्व होने पर जब वहाँ कोई प्रक्रिया ही नहीं हो सकती तो फिर ज्ञान और वैराग्य भी नहीं बन सकते। अतः जो नित्यवादी हैं उनको तो यह कहने का ही अधिकार नहीं कि मोक्ष होता है। ज्ञान से मोक्ष होता हैं यह तो दूर रहो, पर मोक्ष होता है इतना भी कहने के अधिकारी नहीं। जो नित्य एकान्तवादी वस्तु है, परिणति है, चेतन है, ब्रह्मा है, पुरुष है अपरिणामी है, जब यह बदलता ही नहीं है तो फिर ज्ञान कहाँ रहा? बन्ध कहाँ रहा? मोक्ष कहाँ रहा? बन्ध मोक्ष की कोई व्यवस्था नहीं। क्योंकि क्रिया दो तरह की होती है एक तो एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में जाना और एक उसी जगह रहते हुए परिणमन होना। जैसे पुद्गल में काला, पीला, नीला आदि रूप परिणमन होना अथवा आत्मा में ज्ञान, शान्ति, अशान्ति आदि परिणमन होते हैं। तो दोनों ही प्रकार के परिणमन सर्वथा नित्य मानने में हो नहीं सकते। सर्वथा नित्य हैं, बदलते ही नहीं तो अपरिणामी कौन? तो जो सर्वथा नित्यवादी हैं उनको तो एक कहने का अधिकार ही नहीं। यहाँ तक तो कोई कार्य ही सम्भव नहीं हो सकता। किसी पदार्थ का ज्ञान ही नहीं बन सकता। ज्ञान तब बनता है, उनके सिद्धान्त में कि जब इस आत्मा में मन, इन्द्रिय, पदार्थ इनका सम्बंध हो। उनके यहाँ सुख का अनुभव

ही नहीं हो सकता। सुख का अनुभव तब होता है जब आत्मा, मन और पदार्थ का सम्बन्ध हो। तो जब सब चीजें अपरिणामी हैं तो फिर संयोगी कैसे हो सकेंगी और परिणति भी कैसे बन सकेगी? ज्ञान भी नहीं हो सकता तो जो नित्य एकान्तवादी हैं उनको यह कहने का अधिकार नहीं कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है। जो क्षणिकवादी हैं, क्षण-क्षण में नया-नया द्रव्य पैदा होता है, नयी-नयी आत्मा बनती है, जो ऐसा कहने वाले हैं वे इसके भी अधिकारी नहीं कि मोक्ष की बात कह सकें, क्योंकि आत्मा तो क्षणिक है, नया-नया होता है। एक समय से दूसरे समय भी नहीं ठहरता तो फिर किसे मोक्ष की पड़ी? बन्ध करे कोई दूसरा आत्मा और मोक्ष हो किसी दूसरे आत्मा का तो यह अन्धेरपना क्षणिक एकान्तवाद में हो जाता है। मोक्ष की कल्पना करना वहाँ व्यर्थ है, क्योंकि उत्पत्ति के अनन्तर ही विनाश हुआ। ज्ञान वहाँ नहीं ठहर सकता। न ज्ञान होता है न मोक्ष होता है। मोक्ष किसका हो? क्षण-क्षण में आत्मा नया-नया बनता है। तो जब ज्ञान नहीं ठहर सकता तो वैराग्य की भावना कहाँ ठहरेगी? आत्मा न रहा तो फिर ज्ञान वैराग्य कहाँ ठहरेगा? निमित्त नैमित्तिक व्यवहार भी कैसे बनेगा? फिर ये सब सिद्धान्त गढ़ना कैसे बनेगा कि अविद्या से संस्कार होता, संस्कार से विज्ञान होता। अरे निमित्त नैमित्तिक भाव जब बनें तब ठहरें। जब क्षण-क्षण में पदार्थ मिटता जाता है तो फिर निमित्त नैमित्तिक भाव कहाँ से बनेगा? इससे यह मानना कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है, यह सिद्धान्त ठीक नहीं है।

नित्यैकान्त व अनित्यैकान्त में सम्यग्ज्ञान की प्रादुर्भूतिकी भी असंभवता—अब जरा अज्ञान की बात विचारो। उनका यह भी कहना है कि अज्ञान से बन्ध होता है, विपरीत से बंध होता, है, तो देखो विपरीतता उनके यहाँ बन नहीं सकती। ध्यान देकर सुनने की बात है। जैसे पड़ी तो हो रस्सी और जान गए साँप, तो यह विपरीत ज्ञान कहलाता। तो यह विपरीत ज्ञान नया तब बना जब वह पहले से जानता था कि रस्सी तो यह कहलाती और साँप यह कहलाता। जब रस्सी और साँप का भेद-विज्ञान था और उसने किसी ऐसी रस्सी को देखा जिसमें उसके विशेष लक्षण न पाए गए। और जो साँप में बातें हुआ करती हैं वे बातें इसके ज्ञान में आयीं तब विपरीत ज्ञान हुआ। विपरीत ज्ञान होने में दो बातें आती हैं—पहली तो उन दो पदार्थों का सही ज्ञान हो, बाद में फिर उस एक ही पदार्थ को देखकर उसमें उसके विशेष की उपलब्धि न हो तब विपरीत ज्ञान होता है। जैसे रस्सी और साँप इन दोनों का ज्ञान जिस पुरुष को होता है, जानता हो कि रस्सी यह चीज है और साँप यह चीज है। जिसको ऐसे जुदा-जुदा दो पदार्थों का ज्ञान हो वही पुरुष जब किसी दिन केवल रस्सी को देखकर साँप का चिह्न जब देखा तब विपरीत ज्ञान होता है कि यह साँप है। इस तरह से यह बतला रहे हैं कि आत्मा में और प्रकृति में भेद विज्ञान न होने को विपरीत ज्ञान कहते हैं। उस विपरीत ज्ञान से बंध बताते हैं तो यह विपरीत ज्ञान तब ही तो सम्भव है कि पहले जानते हो कि आत्मा जुदा है और प्रकृति जुदा है। और फिर प्रकृति को निरख करके आत्मा

के चिन्ह न पाए तब ही विपरीत ज्ञान हो सकता है। तो भला बतलावो कि जिसे विपरीत ज्ञान हो रहा है उसे विपरीत ज्ञान से पहले आत्मा का ज्ञान हुआ था या नहीं? अगर कहो कि विपरीत ज्ञान से पहले आत्मा का ज्ञान न था तो जैसे रस्सी और साँप इन दोनों का अलग-अलग, ज्ञान न हो जिस पुरुष को वह साँप का भ्रम रस्सी में भी नहीं कर सकता है। इसी तरह जब आत्मा का और प्रकृति का अलग-अलग ज्ञान न था पहले, तो यह विपरीत ज्ञान कैसे बना? और अगर कहो कि उसको प्रकृति का और पुरुष का पहले द्वैत ज्ञान था, तो द्वैत ज्ञान होने से तो मोक्ष हो जाता, फिर विपरीत ज्ञान कैसे आयेगा? तो विपरीत ज्ञान की बात भी नहीं बन सकती। और भी देखो—यह तो बतला रहे हैं नित्य-एकान्तवाद की बात। अब अनित्य एकान्त की बात देखो— उनके यहाँ भी विपरीत ज्ञान नहीं बन सकता। क्षणिकवादी मानते हैं कि विशेष का ज्ञान जब होता तो इस ज्ञान की उत्पत्ति वस्तु से हुई है। जिस पदार्थ का ज्ञान होता है उस ज्ञान की उत्पत्ति उस पदार्थ से होती है, ऐसा जैन सिद्धान्त तो नहीं मानता। जैन सिद्धान्त तो अपने आप के आत्मा से अपने ज्ञान की उत्पत्ति मानता है, पदार्थ से उत्पत्ति नहीं होती। पदार्थ तो विपरीत होता है, मगर क्षणिकवादी मानते हैं कि अगर कलम से ज्ञान हुआ तो वे मानते कि यह ज्ञान कलम से उत्पन्न हुआ था कपड़े से ज्ञान हुआ तो वे मानते कि कपड़े से यह ज्ञान उत्पन्न हुआ। जो पदार्थ से पैदा हुआ ज्ञान को मानते हैं उनके यहाँ तो विपरीतपना कभी आ नहीं सकता। जो ज्ञान जिस पदार्थ से पैदा हो वह उसी को तो जानेगा। रस्सी से ज्ञान हुआ तो रस्सी का ही तो ज्ञान होगा, साँप का नहीं। तो जो पदार्थ से ज्ञान की उत्पत्ति मानते है उनके यहाँ विपरीत ज्ञान तो हो ही नहीं सकता। इस कारण यह बात कैसे मनेगी कि ज्ञान से ही मोक्ष होता है?

मोक्ष का प्राथमिक साधन भ्रमध्वंस—मोक्ष का कारण क्या? संसार के दुःखों से छूटने का कारण क्या? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र। जो पदार्थ जिस स्वरूप में है उस पदार्थ का स्वरूप से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, अपनी-अपनी सत्ता लिए हुए है। किसी का सत्त्व किसी दूसरे के दबाव से नहीं है। सत् है तो वह स्वतः सिद्ध सत् है ना। वह अपने आप से है, न हो और कोई दूसरा है बना दे, ऐसा कभी नहीं हो सकता। प्रत्येक पदार्थ स्वतः सिद्ध है, स्वतः सत् है अतः प्रत्येक पदार्थ स्वयमेव परिणमन किया करता है। कोई पदार्थ किसी दूसरे पदार्थ का परिणमन नहीं कर सकता। प्रत्येक पदार्थ अपने आपका ही परिणमन कर पाते हैं, कोई किसी दूसरे का परिणमन नहीं कर पाते। तब ही तो स्वातन्त्र्य है, तब ही तो सत् रहेंगे। मानो दो पदार्थ—चौकी और पुस्तक। कल्पना करो कि पुस्तक ने चौकी को परिणमा दिया, मानो चौकी पुस्तक रूप परिणम गई तो इस स्थिति में न चौकी पुस्तक रूप रही और न पुस्तक चौकी रूप रही। जब एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का परिणमन कर दे तो फिर कोई पदार्थ नहीं रह सकता। देखो जो स्वभाव है, स्वरूप है, वह त्रिकाल अवस्थित है, लेकिन कल्पना करें और विपरीत कल्पना करें तो क्या विपरीत विकल्प

किया जाने से वस्तु का स्वरूप भी बदल जाएगा। प्रत्येक पदार्थ स्वयं सत् है, स्वयं परिणमनशील है, अपने आपकी परिणमन शक्ति से परिणमता है। अनादि से अब तक और अनन्तकाल तक यही बात रहेगी। प्रत्येक पदार्थ स्वतः सिद्ध है, स्वतः परिणामी है। कुछ लोगों को भ्रम हो गया है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को परिणमा देता है, उस भ्रम का कारण है निमित्त नैमित्तिक भाव। वे बात सही न समझ सकें तब भ्रम हो गया कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को परिणमाता है। देखो कुम्हार ने घड़ा बनाया—लोक व्यवहार में जैसे कहते हैं ना, वहाँ अपना व्यापार करता हुआ कुम्हार निमित्त है। ऐसे कुम्हार की कोई चीज घड़े में जाकर घड़ा बनाती हो, ऐसा तो नहीं होता। कुम्हार का द्रव्य, क्षेत्र, प्रभाव, असर कुछ भी घड़े में पहुँचा हो, ऐसा होता है क्या? नहीं। वह तो अपना व्यापार करता है। उसका सन्निधान पाकर निमित्त पाकर मिट्टी अपने आप में घटती बढ़ती है, अपने में अपना आकार बनाती है। हाँ यह अवश्य है कि निमित्त न हों तो ऐसा कार्य नहीं बन सकता। इतना होने पर भी निमित्त उपादान में यानी जिसमें निमित्त कार्य हो रहा है उस पदार्थ में परिणति न करता। निमित्त नैमित्तिक पदार्थ भी सही है और वस्तु का स्वातंत्र्य भी सही है। जो वस्तु स्वातंत्र्य देखता है, अपने आपकी स्वतंत्रता का परिचय करता हो, मैं हूँ, सबसे निराला हूँ, किसी पदार्थ से मेरा कोई सम्बंध नहीं है इस तरह जो अपने को स्वतंत्र सत् निरखता है उस पुरुष के मोह नहीं ठहर सकता मोह तब ही रहता जब यह जान रहे हों कि मेरा तो इससे कुछ सम्बन्ध है। मेरा यह कुछ लगता है। मैं इसमें कुछ करता हूँ, मैं इससे कुछ पाता हूँ, मैं इसे कुछ देता हूँ, जब ऐसा भ्रम रहता है तब जीव को मोह उत्पन्न होता है। और सभी जीव अपने आपकी परिणति से परिणमते हैं, अपने-अपने पुण्य पाप के उदय का निमित्त पाकर। कोई सोचे कि मैं इन परिवार के लोगों को पालता पोषता हूँ तो उसका यह सोचना भ्रम है। ऐसा सोचने वाले व्यक्ति को पद-पद पर दुःखी होने का मौका मिलता है। परिवार का कोई व्यक्ति आपकी इच्छा के अनुकूल अपनी परिणति करे यह तो सम्भव नहीं। कदाचित् कभी आपकी इच्छा के अनुकूल वह चल जाए यह बात अलग है। जब आपकी इच्छा के अनुकूल आप उनका परिणमन न पाएंगे तो आप दुःखी ही होंगे। इससे यह जानो कि सब जीव स्वतन्त्रता से अपनी-अपनी परिणति से परिणमते हैं। सत् है, सभी स्वयं के कमाये हुए पुण्य पाप का निमित्त पाकर स्वयं सुखी-दुःखी होते हैं। उनका सांसारिक सब कुछ उनके भाग्य से होगा। ऐसा सही ज्ञान रहे तो वहाँ क्लेश न होगा। तो वस्तु स्वतन्त्रता का ज्ञान हो जाना, अपने आपके सहज स्वरूप का परिचय हो जाना, बस लोक में यह ही मात्र एक विभूति है आपका जगत में कहीं कुछ नहीं है। सभी दिखने वाली चीजें पौद्गलिक हैं, उन्हें व्यर्थ ही आप अपनी मान बैठते हैं, जब आप उन्हें अपनी मान लेंगे तो उनके विघटने पर तो आप दुःखी होंगे ही। इन समस्त पर द्रव्यों से भिन्न अपने आपके आत्मा का जो स्वरूप है, उसे आत्मा रूप से श्रद्धान करना इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन।

अन्तस्तत्त्व के प्रकाश की ही शरण्यता—जीव का साथी, शरण, मित्र व हितू सम्यक्त्व भाव है। सम्यक्त्व का भाव भी तब बने जब वस्तु स्वरूप का सही-सही निर्णय हो। सम्यक्त्व हो गया तो फिर आप की मुक्ति अवश्य होगी। सम्यक्त्व छूट जाए तो भी कभी न कभी मुक्ति अवश्य होगी। उपशम सम्यक्त्व छूट जाएगा, क्षयोपशमिक सम्यक्त्व छूट जाएगा। तो सम्यक्त्व ही एक मित्र है। समन्तभद्राचार्य ने एक जगह कहा है कि, **"न सम्यक्त्व समंकिञ्चित्त्रैकाल्ये त्रिगत्यपि श्रेयोऽश्रेयश्च मिथ्यात्वसमंनान्यत्तनुभृताम्"** अर्थात् सम्यक्त्व के बराबर श्रेयस्कर और कुछ नहीं है और मिथ्यात्व के बराबर लोक में कष्ट करने वाली अन्य कोई चीज नहीं है। लेकिन इन मोही प्राणियों की क्या स्थिति गुजर रही कि इस मोह-मोह में ही पगे चले जा रहे हैं और निरन्तर दुःखी बने रहा करते हैं। दुःखी भी होते जाते फिर भी उस दुःख से छूटना नहीं चाहते। जैसे कि घटना है कि कोई एक बुड्ढा अपने घर के चतूबरे पर बैठा हुआ दुःखी हो रहा था। उसके नाती पोते उसे हैरान कर रहे थे। कोई पोता हाथ झकझोरता, कोई सिर पर चढ़ता, कोई मूँछ उखाड़ता, उससे हैरान होकर वह बुड्ढा रो रहा था। वहाँ से एक सन्यासी निकला। उस सन्यासी ने बुड्ढे से पूछा— भाई क्यों रो रहे हो? तो बुड्ढे ने बताया कि महाराज ये नाती पोते मुझे बहुत हैरान करते हैं, मुझे बड़ा दुःख पहुँचाते हैं। तो सन्यासी ने कहा— क्या मैं तुम्हारा सारा दुःख मिटा दूँ? तो बुड्ढा बड़ा खुश हुआ। सोचा कि शायद सन्यासी जी कोई ऐसा मंत्र पढ़ देंगे कि ये नाती पोते मेरे चरणों में लोटते फिरेंगे, मेरी जी हजूरी में बने रहेंगे, तो बुड्ढे ने कहा महाराज अच्छा है, हमारा दुःख मिटा दीजिए, आपकी बड़ी कृपा होगी। तो सन्यासी बोला— तुम घर छोड़कर हमारे साथ रहो, फिर तुम्हें कोई दुःख न रहेगा। यह सुनकर बुड्ढा झुँझला कर बोला— अरे क्या कहते सन्यासी जी? देखो हम इन बच्चों के बाबा ही रहेंगे, ये हमारे नाती पोते ही कहलाएंगे। तुम बीच में कौन सी दलाली की बात करने आ गए? तो देखिए जिस बात से दुःखी हो रहे उसे छोड़ना नहीं चाहते, उसी में रम रहे। जिस मोह के कारण दुःखी हो रहे उसी मोह को अपना रहे। पर वस्तुओं को अपनाने से दुःखी हो रहे फिर भी यह कुटेव बनाये हैं कि ये ही सब कुछ मेरे हैं। ठीक है खूब मानते रहो अपना, पर एक समय अवश्य ही ऐसा आयेगा कि सब कुछ छोड़ना होगा। मरण के बाद क्या दशा होगी इस बात पर कुछ भी विचार नहीं किया जा रहा है।

सम्यक्त्व साधना का साधन—भैया सम्यक्त्व का साथ लो, सम्यक्त्व लाभ के लिए ही देव, शास्त्र, गुरु की उपासना बतायी गई है। भगवान की भक्ति बड़े शुद्ध मन से करें। कभी यह बात न विचारें कि मेरे को दुकान में लाभ अधिक हो इसलिए मैं पूजा दर्शन करने आता हूँ। मेरे को कोई कुटुम्ब का लाभ विशेष हो इसलिए दर्शन करता हूँ। मेरे को इस जीवन में इन्द्रिय सुख बर्तता रहे इसलिए दर्शन करता हूँ यह भाव न आए, क्योंकि विदेशों में देखिए—रूस, अमेरिका, फ्रांस, आदि के लोग तो तुम्हारे महावीर स्वामी के दर्शन करने नहीं

आते फिर भी तो वे कितने धनी हैं, कितने सुखी हैं। तो यह ख्याल गलत है कि भगवान की पूजा करने से हम को कुटुम्ब लाभ होगा। धन लाभ होगा। बल्कि निरपेक्ष होकर यदि प्रभु की भक्ति में आएँ तो ऐसा पाप रस घटेगा पुण्य रस बढ़ेगा। आपके माँगने से ये चीजें कभी नहीं मिलतीं, यह बात निश्चित है। कभी कोई महाबीर जी अथवा शिखरजी गया तो वहाँ मनौती करने से कुछ नहीं होता हाँ होना होता है तो हो जाता है। तो भगवान की भक्ति कोई निरपेक्ष होकर करे तो उससे पुण्य रस बढ़ता है। बल्कि प्रभु से मनौती करने पर आप के सांसारिक सुख भी समाप्त हो जाते हैं। तो निरपेक्ष होकर प्रभु भक्ति में लगो। संसार दुःख पूर्ण है मैं इस संसार से मुक्ति चाहता हूँ और कुछ नहीं चाहता, ऐसा निरपेक्ष होकर शुद्ध बनकर प्रभु की आराधना में लगो। शास्त्र स्वाध्याय करो, तत्वज्ञान करो, वहाँ ऐसी रूढ़ि रखने से काम न चलेगा कि हमारा तो शास्त्र पढ़ने का नियम है इसलिए शास्त्र खोला, दो चार लाइन बांचा और चल दिया। समझ लिया कि शास्त्र पढ़ने का हमारा नियम पूरा हो गया। तो इस रूढ़ि से काम न चलेगा। और शास्त्र का स्वाध्याय मनन पूर्वक हो, अपने आप पर घटित करते हुए हो। या शास्त्र की आराधना करें, ज्ञान सीखें। देखिए जो दर्शन में, ज्ञान में, चारित्र में बढ़े हुए पुरुष हैं, ज्ञानी हैं, श्रद्धानी हैं, तपस्वी हैं, त्यागी हैं, उनमें श्रद्धा जिनको होगी उनका वह एक चिन्ह है कि इन्हें धर्म की श्रद्धा है। धर्मात्माओं में जिनकी भक्ति हो उसे कहा जाएगा कि इसे धर्म में श्रद्धा हैं। जो धर्मात्माजनों से दूर-दूर रहता है, उनके प्रति जिसे भक्ति नहीं जगती है, उसे कैसे कहा जा सकता है कि इसको धर्म की श्रद्धा है। कदाचित् कोई साधु या कोई धर्मात्मा पुरुष बिल्कुल ही गलत रास्ते पर चलता है तो उससे दूर रहें, पर उसे देखकर यह ख्याल में आना चाहिए कि मोक्ष मार्ग में यह दशा हुआ करती है। एक व्यक्ति से उपेक्षा हो गई मगर धर्म से उपेक्षा तो न हुई, तो श्रद्धान करें, दर्शन करें, गुरु सेवा करें, पद-पद पर यही बात बतलावें कि उपयोग को आत्मा पर श्रद्धा है, पर का त्याग किए हैं, मार्ग तो यही है दुःखों से छूटने का। ऐसी भावना बनाने के लिए गुरुजनों के लिए जो आवश्यक है, आहारदान, शास्त्रदान, औषधिदान और अभयदान, उनका दान कीजिए। यह गुरु आराधना, देवशास्त्र गुरु की सेवा, यह सम्यग्दर्शन में हमारा व्यवहारिक कदम है। यह नहीं है तो हम आगे क्या बढ़ेंगे?

अभेद अन्तस्तत्त्व के दर्शन का अनुरोध—तत्त्वज्ञान कीजिए और अपने आप में अभेद दर्शन कीजिए अखण्ड। मेरे में दर्शन, ज्ञान, चारित्र है, यह कल्पना भी छोड़ दें। एक अखण्ड अनुभव करने लगें। आता है अखण्ड अनुभव और भेद की बात करेंगे तो आनन्द का खण्ड हो जाएगा। थोड़ा लोक में भी घटा लो—बड़ी स्वादिष्ट चीज खा रहे हैं। मानो आप हलुआ खा रहे हैं तो जब आप इसका बड़ा ऊँचा आनन्द लेना चाहते हैं तो उस समय न किसी से बात करते हैं, न उसका अधिक ध्यान देते हैं। यह शक्कर का बना है, घी से सिंका है, इस-इस तरह से बना है। कुछ विकल्प नहीं करते। केवल खुश होकर खा रहे हैं

तो बस उसका आनन्द ही आप लूट रहे हैं। तो देखिए जब आप अनेक प्रकार की कल्पनाएँ लाते हैं तो उस समय वहाँ आनन्द में कमी आयी कि नहीं। यह लौकिक उदाहरण दिया। यह जानने के लिए जब कोई भी अपनी बुद्धि माफिक अधिक से अधिक लिया जाए तो उस समय बाहरी बातें सब भुला दें। जब लौकिक बातों में यह विधि देखी जा रही है तो अलौकिक बात में तो देखो—अभेद तत्त्व तो अभेद होकर नितान्त ही करना होगा। देखो—आत्मीय आनन्द वहाँ बनता है जहाँ निर्विकल्प अवस्था होती है।

सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान की एक साथ वृत्ति होने पर लक्षण भेद से भिन्नता— मोक्षशास्त्र के इस प्रकरण में यह बतलाया जा रहा है। कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व मोक्ष का मार्ग है। यहाँ यह समझना कि ज्ञान और दर्शन की पर्याय तो एक साथ चलती रहती हैं, क्योंकि यदि ज्ञान और दर्शन गुण की पर्यायें एक साथ न रहें तो ज्ञान दर्शन गुण का अस्तित्त्व न रह सकेगा। केवल उपयोग में दो पद्धति हैं कि छद्मस्थों का उपयोग ज्ञान दर्शन विषयक क्रम से होता है। और केवलज्ञानियों का उपयोग दोनों एक साथ होते हैं। मगर ज्ञान गुण की परिणति और दर्शन गुण की परिणाति सब जीवों में एक साथ है। छद्मस्थ हो वहाँ भी ज्ञान दर्शन की पर्याय एक है। उपयोग एक साथ नहीं। उस दर्शन गुण का यहाँ प्रकरण नहीं। प्रकरण है सम्यग्दर्शन का। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्रवृत्ति एक साथ है। बताया गया है कि सम्यग्दर्शन के होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है। तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान चूँकि एक साथ प्रवृत्त हुए हैं इसलिए दोनों एक ही बात है। दोनों में एकत्व है। इनमें से एक कुछ भी कहलो, दो क्यों कहे गए। समाधान इसका यह है कि एक साथ भले ही प्रवृत्त हुए, किन्तु इनमें लक्षण भेद है। तत्त्व का निर्णय करना सम्यग्ज्ञान का काम है और तत्व का विश्वास होना सम्यग्दर्शन का काम है। ज्ञान और विश्वास ये दोनों बातें यद्यपि एक मोटे रूप में समान लगती हैं और अत्यन्त सूक्ष्मरूप में देखो तो एक ही हैं, क्योंकि ज्ञान का ही वह सारा परिणमन है। जीवादिक श्रद्धान स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यग्दर्शन है। जीवादि पदार्थों के परिज्ञान के स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यग्ज्ञान है, और रागादिक दूर रहें ऐसे स्वभाव से ज्ञान के होने का नाम सम्यक्चारित्र है। लेकिन भेद दृष्टि में लक्षण भेद से यहाँ भेद है, तत्त्व का श्रद्धान और तत्त्व का ज्ञान। जैसे जब सूर्य के नीचे मेघ पटल आते हैं तो प्रकाश और प्रताप दोनों कम हो जाते हैं। और जब नीचे से बादल हटते हैं तो एक साथ ही प्रकाश और प्रताप प्रवृत्त होते हैं, तो एक साथ होने पर भी प्रकाश और ताप का लक्षण जुदा है, प्रकाश संतापकारक नहीं है, ताप संतापकारक है, जैसे सूर्य के प्रकाश और ताप की एक साथ उपलब्धि होने पर भी लक्षण भेद दो हैं— ताप का लक्षण है दाह करना, और प्रकाश का लक्षण है उद्योत करना। इसलिए वे एक न कहे जाएंगे। इसी प्रकार ज्ञान और दर्शन सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रवृत्त होते हैं तो भी सम्यग्दर्शन का लक्षण है तत्त्व का श्रद्धान और सम्यग्ज्ञान का लक्षण है तत्त्व का ज्ञान

इसलिए इन दोनों में एकत्व नहीं है, और भी देखिए—शंकाकार ने कहा कि जो जो चीज एक साथ प्रवृत्त हो वह एक कहलाती है, उनमें भेद न बतलाओ। तो बतलावो—बछड़े के दो सींग होते हैं, वे एक साथ उगते हैं, कहीं ऐसा तो नहीं है कि दाहिना सींग पहले उगता हो और बाँया बाद में अथवा बाँया पहले दाहिना बाद में। वे एक साथ ही उगते हैं एक साथ ही प्रवृत्त होते हैं तो क्या वे दो सींग एक हो गए? कोई एक सींग टूट जाए तो क्या उसी समय दूसरा सींग भी टूट जाएगा? जैसे एक साथ प्रवृत्त होने पर भी वे एक न कहलाए इसी तरह एक साथ प्रवृत्त होने पर भी बहुत सी बातें हैं जो एक साथ नहीं हो सकती। सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रवृत्त हैं फिर भी इनमें एकत्त्व नहीं है। दूसरी बात इसमें यह है इनमें नये विभागकी बात जोड़ो, जब एक नए स्वभाव द्रव्यार्थिकनय से देखा जाए तो ज्ञान दर्शन आत्मा सब एक रूप है। वहाँ भेद नहीं है, द्रव्यार्थिनय की दृष्टि से देखा जाए तो ज्ञान दर्शन में भिन्नता है। देखिए पुद्गल में रूप, रस, गंध, स्पर्श चारों गुण हैं, क्या चारों गुण भिन्न चीज हैं। जब पुद्गल द्रव्यमात्र पर दृष्टि दी जाए तो चार कहाँ, वे सब एक हैं, फिर भी रूप, रस, गंध, स्पर्श के लक्षण जुदा हैं। अगर एक हो तो जैसे आँखों से हम रूप देखते हैं, ऐसे ही आँखों से रस, गंध, स्पर्श भी समझ में आ जाना चाहिए। लेकिन चक्षु से रूप ही समझ में आता, रस, गंध, स्पर्श आदि समझ में नहीं आते, इसका कारण क्या है? वह भेद है। जैसे रूप, रस आदि में परस्पर भेद है, इसी तरह ज्ञान दर्शन में भी परस्पर भेद है ये एक नहीं हैं, इसलिए यह सूत्र बिल्कुल सही है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व मोक्ष का मार्ग है।

ज्ञान और चारित्र में अभेद व भेद की सिद्धि—अब एक शंका और हो सकती है कि दर्शन ज्ञान की एक साथ प्रवृत्ति हुई फिर भी भेद है। ठीक है, यह तो समाधान दे दिया, लेकिन काल भेद व स्वरूप भेद दोनों ही ज्ञान चारित्र में नहीं है यह बात कही जा रही है। तो ज्ञान और चारित्र में काल भेद नहीं है, इसमें एकत्व हो जाएगा। ज्ञान, दर्शन का तो समाधान दे दिया मगर ज्ञान और दर्शन जब हैं तब इनमें कालभेद नहीं है। साथ ही यह भी देखा जा रहा है कि ज्ञान की स्थिरता का नाम चारित्र है। सो स्वरूप भेद भी नहीं है, ज्ञान की स्थिरता ही चारित्र कहलाती है इसलिए उनमें एकत्त्व हो जाएगा। यहाँ मुख्यता से तो कालभेद नहीं है यहाँ शंकाकार का कहना है। इसके समाधान में जरा सोचो ज्ञान और चारित्र इनमें काल भेद है कि नहीं? तो कहीं नहीं है कहीं है। जहाँ काल भेद नहीं है वहाँ भी स्वरूप जुदा है और जहाँ अन्तर की बात है वहाँ ज्ञान और चारित्र में काल भेद है। जैसे तत्त्वार्थराजवार्तिक में एक दृष्टान्त दिया है कि कोई माता व्यभिचारिणी थी और उसका पुत्र भी व्यभिचारी था। पुत्र का सम्बन्ध दूसरे से था और माता का सम्बन्ध दूसरे से था। एक रात्रि को माता और पुत्र दोनों चले। अंधेरी रात्री थी, रात्री में दोनों एक जगह मिल गए। अब पुत्र ने यह न जाना कि यह माँ है और माँ ने भी यह न जाना कि यह पुत्र है। पुत्र ने

भी वही समझा जिससे वह मिलता था और माता ने भी वही समझा जिससे वह मिलती थी। दोनों ही स्पर्श करने को थे कि एकाएक बिजली चमकी। दोनों ने एक दूसरे को झट पहचान लिया और वे हट गए। अब देखिए—एक ही समय में दोनों का वह ज्ञान हुआ और हटे सो यह चारित्र हुआ, तो देखो ये ज्ञान और चारित्र एक साथ हुए, यह शंकाकारका कहना है। तो ज्ञान और चारित्र एक साथ हैं। तब इनमें भेद न मानना चाहिए। समाधान में पुनः देखिए— यहाँ पर भी यद्यपि ऐसा लग रहा है कि ज्ञान और चारित्र एक ही समय में हुये, जैसे उस घटना में देखा था कि माता और पुत्र को एक साथ ज्ञान हुआ और एक साथ हटे तो वहाँ मोटे रूप से लगता तो यही है कि उसमें समय भेद नहीं है? देखिए पान बड़े कोमल होते हैं। एक साथ ५० पान मान लो रखे हैं, उस पर जोर से सुई का प्रहार कर दिया जाए तो वे सारे पान एक साथ छिद जाएंगे। तो भला यह बतलाओ कि क्या वे ५० पान एक ही समय में छिदे या उनमें समय भेद है? लगता तो यों है कि जोर से सुई मारा और एक साथ ही छिदे, लेकिन जब एक पान में सुई छिदी दूसरे पान में गई, दूसरे पान के बाद तीसरे पान में गई, यों सभी पानों को पार करके जब सुई बाहर निकली तो उसमें समय भेद रहा ना। एक ही समय में तो नहीं छिद गए। तो दिखने की बात जुदा है मगर वास्तविकता जुदा है। वहाँ ५० पान एक समय में नहीं छिदे, क्रम से छिदे, इसी प्रकार ज्ञान और चारित्र एक समय में नहीं हुए। जानना और हटना एक समय में नहीं होता। उसमें भी समय भेद है इसलिए काल भेद की दृष्टि से ज्ञान और चारित्र में एकता नहीं है।

ज्ञान और चारित्र में अर्थभेद का प्रकाशन—दूसरी बात-ज्ञान और चारित्र में अर्थभेद भी है, इसी कारण भी एकत्व नहीं है। ज्ञान का अर्थ है तत्त्व का जानना। चारित्र का अर्थ है कर्म को ग्रहण करने वाली क्रिया का विराम हो जाना, जिससे कि ग्रहण में न आएं, बन्धन में न आए, यह है चारित्र का लक्षण। तो अर्थ भेद से भी ज्ञान और चारित्र में भेद है, इस पर भी यह बात और समझिए कि काल का भेद न भी हो तो भी वे एक नहीं हो जाते। काल का भेद न होने से दोनों एक नहीं हो जाया करते। मत रहो काल का भेद, जिसका जो लक्षण है वह उसका ही है, अभेद न हो जाएगा। जैसे इस समय एक ही साथ हम आपकी गति, जाति, शरीर, अङ्गोपाङ्ग आदि अनेक कर्मों का उदय चल रहा है। कालभेद तो नहीं है, जिस समय मनुष्य गति का उदय है उसी समय में पञ्चेन्द्रिय जाति का उदय है, औदारियक नाम कर्म का उदय है तो क्या वे एक साथ कालभेद न होने से एक हो जाएं, यह कोई नियम की बात नहीं है। तो वहाँ ही जैसे ज्ञान दर्शन में नयों की दृष्टि से एकत्व और भिन्नता समझ लीजिए। जब तक आत्मस्वभाव को देखते हैं तो वह ज्ञान से जुदा नहीं, चारित्र से जुदा नहीं। आत्मद्रव्य एक है। द्रव्यार्थ दृष्टि से ज्ञान और चारित्र में भेद है। ज्ञान, चारित्र अपना-अपना लक्षण जुदा-जुदा पाते हैं। जैसे रूप, रसादि नहीं होते, गंध, स्पर्शादि नहीं होते आदि। इसी तरह ज्ञान, चारित्र भी एक पृथक् लक्षण वाले हैं।

एकत्व और अनेकत्व का एक अधिष्ठान में दिग्दर्शन—तीसरी बात देखिए—क्यों परस्पर में झगड़ा करते? अन्य दार्शनिक कभी ऐसा स्वीकार करते हैं कि एक ही पदार्थ में तीन गुण, तीन शक्तियाँ, तीन परिणतियाँ जुदा-जुदा होती हैं, और तीनों एक में होकर भी तीनों एक नहीं बन जाया करती। इसके अनेक उदाहरण आपको सुनने को मिल सकते हैं। जिसे पता है कि प्रधान यानी प्रकृति और पुरुष को वह समझे प्रकृति का तो नाम प्रधान है। साँख्य सिद्धान्त में प्रकृति एक मानी गई है मगर उसके गुण तीन हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्व नाम उसका है जहाँ शान्ति हो, समता हो, कलह न हो और रज नाम है एक उन्नति का अथवा विशेष एक विकार का और तम नाम है मिटने का। यों तो सत्त्व, रज, तम ये तीनों गुण हैं। इन तीनों गुणों की समता से तो प्रधान एक है और तीन गुणों में विषमता हो तो प्रधान में तीनपना है। देखो भाई जो भी अन्य दार्शनिक कहते हैं उन सबकी दृष्टियाँ जैन दर्शन में मिलेंगी। कोई भी अन्य मत जैन सिद्धान्त से अलग होकर नहीं बनता। जैन सिद्धान्त की एक-एक किरण को लेकर उसका एकान्त करके अन्य दार्शनिकों ने दर्शन बनाया। सत्त्व, रज, तम क्या आप नहीं मानते? उसी का तो दूसरा नाम उत्पाद व्यय ध्रौव्य है, सत्त्व, रज, तम है, सत्त्व है ध्रौव्य, रज है उत्पाद और तम है व्यय। अब पदार्थ में देखो— जो भी पदार्थ है वह एक है, त्रिगुणात्मक है, लेकिन जब उसके तीनों गुणों पर दृष्टि जाती है तो उसमें तीनों बातें मालूम पड़ती हैं, व्यवहार में भी आती हैं, तो एक भी है, तीन भी हैं, इसी तरह वह आत्मस्वभाव एक भी है, और सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र रूप से तीन भी है। बौद्धजन एक रूप परमाणु मानते तो परमाणु में पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चारों के लक्षण आ गये पृथ्वी का लक्षण है कर्कस होना, जल का लक्षण है द्रव्य, अग्नि का लक्षण है दाह और वायु का प्रसरण। तो यह चारों जो एकत्व हैं वह रूप परमाणु में है। तो होने पर भी ये चारों बातें मानी गई ना। चार महाभूत बताये हैं। और भी देखिए—न्याय सिद्धान्त में प्रमाण, प्रमेय, अवगम, यद्यपि विलक्षण हैं लेकिन इनके समुदाय का नाम विज्ञान है अनेक प्रकार के सूत रेशमी लाल, पीले, हरे आदि एक ही कपड़े में लगाते हैं फिर भी कपड़ा एक है फिर भी वहाँ तंतुओं में भेद है ना? अनेक लौकिक दृष्टान्त ऐसे मिलेंगे कि एक पदार्थ होने पर भी उसमें अनेक गुण अपना जुदा-जुदा स्वरूप रखते हैं। इससे यह बिल्कुल सही कहा गया है। कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्त्व मोक्ष का मार्ग है।

संसरणविडम्बनाओं की चिन्तना—संसार में अज्ञान के कारण रुलते-रुलते अनन्त काल व्यतीत हो गए, फिर भी इस मोही प्राणी में ऐसी कुटेब लगी है कि जिस मोह से अनादि काल से जकड़े चले आए हैं, जिस मोह में रहकर यह जीव अनेक कष्ट पाता रहता है, फिर भी ऐसा अज्ञान लगा है कि मोह को छोड़कर अन्य कोई मार्ग इसकी दृष्टि में नहीं आ रहा। तो जिस रफ्तार से अनन्त काल व्यतीत किया वही अब भी करते रहे तो बतलावो इस मनुष्य जन्म के पाने से लाभ क्या है? धनी बन जाना यह मनुष्य जन्म की कोई लाभ वाली बात

है? धन तो धन में है, वह तो यहीं रह जाता, इसे अकेले जाना पड़ेगा। क्या लोक में यश प्रतिष्ठा बढ़ जाना कोई कल्याण की बात है? यश प्रतिष्ठा नाम किसका? कुछ मोही स्वार्थीजन कोई गुण गा दें, इसका नाम है यश। उससे लाभ क्या? मरने पर इसके साथ क्या है? सब असार है। जितने समागम हैं वे सब विनाशीक हैं, बेकार हैं। मोह करके खूब दुःखी होते, कर्मबन्धन करते, विपत्ति में अपने आपको डाल रहे हैं। और जितना समागम मिला है, जिसे कुटुम्ब कहते हैं वह समागम इसके मोह बढ़ाने में एक कारण बन रहा, आश्रय बन रहा, तो एक तो यह स्वयं मोहवश दुःखी है और बाह्य कारण ऐसा मिल रहा कि कुछ अगर यह शान्त सा भी बैठा हो तो उसको देखकर यह उनमें राग और लगाव लगाता। राग की ज्वाला में जल रहा है। जरा अपने भीतर देखो तो सही कितनी विपत्ति है? कितना घोर संकट है। मोह में मान रहा है कि मेरी तो बड़ी मौज है। खूब खाने-पीने का, आराम का, दुकान का, समाज का, इज्जत पाने की बड़ी मौज है। अरे ऐसा भाव भ्रम है, मोह है। जहाँ मोह है वहाँ विडम्बना ही विडम्बना है। कहाँ सन्तोष करते? तो यह मोह भाव छोड़ने की चीज है। आत्मानुशासन में बताया है कि एक कसाई एक बकरे को मारने के लिए ले जा रहा था। रास्ते में एक पेड़ के नीचे बैठ गया। देखिए इन कुत्ते बकरों की ऐसी आदत होती है कि जहाँ बैठते हैं वहाँ खरोचते हैं तो वह बकरा उस जगह अपने पैरों से भूमि खरोचने लगा। कुछ ही खरोचने पर उसमें से एक पैनी धारवाली छुरी निकल आयी। कसाई ने देखा कि यह तो छुरी निकल आयी, साफ है, बस उसे क्या विलम्ब था। जहाँ आध घन्टे बाद उसकी हत्या करने को था तहाँ उसने उसी समय वहीं हत्या कर दी। जैसे उस बकरी ने अपने पैरों से कुरेदकर अपने प्राण जल्दी ही गवाँ दिए, इसी तरह संसार के जीव अपने व्यवहार से, अपने लगाव से अपने मन, वचन, काय की चेष्टा से तुरन्त फँसते हैं, तुरन्त अपनी बरबादी करते हैं। तो मोह में अब तक यह जीव परेशान होता चला आया है। उस मोह को दूर करने का अब उपाय करें। मोह को दूर करने का क्या उपाय है? वही इस तत्त्वार्थ महाशास्त्र में कहा जा रहा है।

मोच्य पदार्थ में राजी न होना मुक्ति का तन्त्र—मोक्ष कैसे मिलेगा? मोक्ष का मार्ग क्या है, मुझे क्या करना चाहिए? ज्ञानमात्र अपने को अनुभवना चाहिए। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इनकी ही धुन हो। भेदविवक्षा से तीन पर्याय हैं। द्रव्य एक है, परिणति अनेक हैं। भेदविवक्षा में गुण पर्याय समझाये जाते हैं। वस्तु है और परिणमती है। ज्ञानमात्र अनुभव करने में सब चीजें आ जाएंगी। कीजिए अपने को ज्ञान मात्र अनुभव। मैं खण्डेल वाल हूँ, अग्रवाल हूँ, हूमड़ हूँ, नरसिंहपुरा हूँ, अमुक जाति का हूँ अमुक लाल हूँ, अमुक व्यापारी हूँ, ऐसी पोजीशन वाला हूँ, अमुक का बाप हूँ, बाबा हूँ आदि रूप आप अपने को अनुभव न कीजिए। क्योंकि जिस रूप में आप अपने को अनुभव करेंगे उसी रूप में आपको व्यवहार करना पड़ेगा और उसके पीछे आपको दुःखी होना पड़ेगा। अपने आपको यह बोध

श्रद्धा हो जाए कि मैं ज्ञान मात्र हूँ तो इसको उचित व्यवहार करना होगा। केवल ज्ञाता द्रष्टा की परिणति, जानना, यह परिणति होगी। तो एक ही काम है, मैं सबसे निराला एक ज्ञान मात्र पदार्थ हूँ। आकाशवत् निर्लेप हूँ। आकाश में और हम में अन्तर यही है कि मैं चेतन हूँ और वह अचेतन है। जैसा आकाश है वैसा ही मैं हूँ। हम खुद अपने आप गड़बड़ी मचाते हैं, उस रूप बना लेते हैं, पर बाह्य वस्तु की ओर से कोई संकल्प करे कि मैं इसे मिटा दूँगा तो इसमें कौन समर्थ हो सकेगा? मैं ही राजी होऊँ तो अपने को बरबाद कर डालूँ। जैसे–देखा होगा कि होली के दिनों में लोग परस्पर में रंग डालते हैं। तो उनमें जब खुद राजी होंगे तभी तो दूसरे लोग उस पर रंग डाल सकेंगे यह सज्जन गोष्ठी की बात कह रहे हैं, अन्धेर नगरी की बात नहीं कह रहे ऐसे ही हम राजी हैं इसलिए शरीर सम्बन्ध, कर्मबन्धन आदि हम पर चल रहे हैं, अगर हम राजी न हों तो ये हटने लगेंगे।

मोक्षमार्ग की घोषणा—मोक्षशास्त्र के प्रथम सूत्र में मोक्षमार्ग की घोषणा की है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व मोक्ष का मार्ग है। इस सम्बन्ध में बहुत कुछ विचार होने के बाद अब अन्त में कुछ थोड़ी-सी और बातें आ रही हैं। दर्शन, ज्ञान, चारित्र यह क्रम क्यों रखा गया है। दर्शन (विश्वास), ज्ञान (जानना) और चारित्र (आचरण) यह बात यह दर्शाने के लिए है कि सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र हो अथवा न हो, दोनों बातें हैं। सम्यग्ज्ञान के होने पर ज्ञान की पूर्णता हो अथवा न हो, सम्यग्दर्शन व ज्ञान की पूर्णता होने पर चारित्र पूर्ण हो जाए अथवा नहीं, यह भजनीय है, किन्तु जिसके चारित्र पूर्ण हैं उसके सम्यग्दर्शन व ज्ञान नियम से परिपूर्ण है। जहाँ सम्यग्ज्ञान परिपूर्ण है उसका सम्यग्दर्शन नियम से परिपूर्ण है। इससे अगली बात हो या नहीं, पर अगली बात के होने पर पहली बात नियम से है। यह क्रम इस बात को बतलाता है।

उत्तरोत्तर भजनीयता के विषय में एक शंका—अब रत्नत्रय में उत्तरोत्तर भजनीयता की बात सुनकर एक शंका हो सकती है कि विश्वास तो सदा ज्ञानपूर्वक ही होता है, फिर यह क्यों कहा गया कि श्रद्धान पहले, उसके बाद ज्ञान की पूर्णता है। अरे ज्ञान हो तब ही तो विश्वास कर सकेगा, तथा अज्ञानपूर्वक हुई श्रद्धा में दोष लगेगा, अज्ञान में भी श्रद्धा बन जाएगी। यदि पहले सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर उत्तर अर्थात् ज्ञान भजनीय है, ऐसी बात कही जाएगी, ज्ञान के अभाव में श्रद्धा कह बैठेंगे तो अज्ञानपूर्वक श्रद्धा कहलाएगी तो फिर सब जीवों के सदाकाल श्रद्धा रहो। अज्ञान तो सबके है। तो अज्ञानपूर्वक क्या विश्वास हुआ करता है? एक ऐसी शंका उत्पन्न होती है। इसी शंका के समर्थन में और भी सुनो। जिसने आत्मतत्त्व को जाना ही नहीं उसको श्रद्धा कैसे बन जाएगी? जिस फल का ज्ञान ही नहीं है, जिस फल की प्राप्ति ही नहीं है उस फल में यह कैसे कहा जाएगा कि उसके रस का उपयोग हो रहा है। तो अविज्ञात पदार्थ में, जिसे जाना नहीं है ऐसे पदार्थ में श्रद्धान तो बन नहीं

सकता। ज्ञान पहले माना ही नहीं तो श्रद्धान नहीं हो सकता। दोनों खत्म हो गए। इसलिए यह मानना चाहिए कि पहले ज्ञान होता है, फिर श्रद्धान होता है। यह शंकाकार कह रहा है, और लोक में ऐसा ही देखा जाता है। तीसरी बात शंका के समर्थन में और विचारें। यदि सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होने पर ज्ञान भजनीय रहे, या न हो अथवा न हो, इस तरह अगर रहे तो ज्ञान तो पहले था नहीं। पहले क्या था? मिथ्याज्ञान था। मिथ्याज्ञान के बाद हुआ सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन के बाद मान लिया सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शन से पहले तो मिथ्याज्ञान था। मिथ्याज्ञान हटा तब हुआ सम्यग्दर्शन। मिथ्याज्ञान हटा और सम्यज्ञान न आ पाया क्योंकि सम्यग्ज्ञान को शंकाकार ने माना कि सम्यग्दर्शन होने के बाद होगा। इसका कथन है कि उस समय न सम्यग्दर्शन रहा, न सम्यग्ज्ञान रहा। जड़ हो गया। सम्यग्दर्शन से पहले सम्यज्ञान तो है नहीं, मिथ्याज्ञान है। मिथ्याज्ञान दूर हुआ तब हुआ सम्यग्दर्शन। सम्यग्दर्शन दूर हुआ तब हुआ सम्यग्ज्ञान। तब कुछ समय ऐसा आया ना कि न सम्यग्दर्शन रहा न सम्यग्ज्ञान। इसका अर्थ हुआ कि जड़ हो गया। इससे मानना चाहिए कि सम्यग्दर्शन से पहले ज्ञान होता है। अगर ऐसा न मानेंगे तो यह दोष आता है, और जब ज्ञान ही न रहा, जड़ हो गया तो मोक्ष का उपदेश किसको देते? मोक्षमार्ग की किसे परीक्षा कराते? मोक्ष हो ही नहीं सकता। मार्ग बन ही नहीं सकता। तब यह कहना चाहिए कि सम्यग्दर्शन से पहले ज्ञान होता है। यह मत कहो कि सम्यग्दर्शन के बाद ज्ञान होता है। भजनीय है, हो भी, न भी हो, यह शंका हुई।

सम्यग्दर्शन होने पर सम्यग्ज्ञान की भजनीयता के विषय में हुई आशंका का समाधान—अब उत्तरोत्तर भजनीयता का समाधान सुनो जो यह बात कही गई है— सम्यग्दर्शन होने पर ज्ञान हो या नहीं, चारित्र हो या नहीं, इसका अर्थ है कि सम्यग्दर्शन होने पर पूर्ण ज्ञान हो या नहीं! साधारणतया सम्यग्ज्ञान तो सम्यग्दर्शन के साथ ही हुआ, बल्कि जिस प्रकार का ज्ञान सम्यग्दर्शन होने पर बन गया उस तरह का ज्ञान तो सम्यग्दर्शन से पहले भी होता, सिर्फ सम्यक् नहीं बनता। जैसे किसी ने मिश्री न खायी हो, आप उसे युक्तियों से बहुत-बहुत समझायें कि देखो मिश्री गन्ने के रस से बनती है। गन्ना तो चूसा होगा ना ? हाँ, हाँ। तो उस गन्ने को अग्नि में तपाकर उसे गाढ़ा करके राव बना दिया गया तो वह रस से भी मीठा हो गया, उसे और तपाकर, जब गुड़ बना लिया गया तो वह उससे भी मीठा हो गया। गुड़ से जब मैल निकाल कर शक्कर बना ली गई तो वह और भी मीठी हो गई। उस शक्कर का सारा मैल निकाल कर जब मिश्री बना ली गई तो वह सबसे ज्यादा मीठी हो गई। तो समझ गए ना मिश्री का स्वाद? . . . हाँ समझ गए। अब जरा मिश्री की एक डली उसके मुख में उठाकर रख दो तो उससे जो ज्ञान बना उसमें और पहले की जानकारी वाले ज्ञान में अन्तर है ना? अरे मिश्री चखने के बाद जो ज्ञान बना वह एक अनुभवात्मक ज्ञान है इस अनुभवात्मक ज्ञान से पहले का जो ज्ञान था वह अनुभव बिना ज्ञान था। इसी तरह जीवादिक पदार्थों का, आत्मा का जो श्रद्धान होगा तो वहाँ श्रद्धान से पहले ज्ञान तो होता है। कुछ भी

उसका बोध न हो, तत्त्वाभ्यास न हो, आत्म स्वरूप के बारे में जानकारी न हो तो श्रद्धान कहाँ से हो? लेकिन श्रद्धान होने पर यही ज्ञान निश्चय वाला ज्ञान कहलाने लगता है। जो अनुभव सहित ज्ञान हो उसे कहते हैं सम्यग्ज्ञान और जो अनुभव से पहले ज्ञान हुआ है उसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा। तो ऐसा सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शन के साथ-साथ होता है। लेकिन सम्यग्दर्शन श्रुतज्ञान और केवलज्ञान इन दो में समझिए तो श्रुतज्ञान की पूर्णता सम्यग्ज्ञान होने के पीछे होती है और केवलज्ञान की उपलब्धि सम्यग्ज्ञान के बाद होती है, इस कारण से यह बात सही है कि पूर्व-पूर्व होने पर उत्तर-उत्तर भजनीय है। जितने में ज्ञान की पूर्णता समझी जाए उतने ज्ञान का यह जिकर है। श्रुतज्ञान पूर्ण कब होगा? जब श्रुतकेवली होगा। श्रुतकेवली होगा तो सम्यग्दर्शन के अनन्तर होगा इसलिए यह बात ठीक बैठ जाती है।

शुद्धनयका पथ और सम्यक्त्व प्रासाद—अब सम्यग्दर्शन के बारे में कुछ ध्यान लगाकर विशेष यह समझें कि सम्यग्दर्शन का जो विषय है वह अखण्ड एक ज्ञायकस्वरूप है। शुद्धनयका जो विषय है उसका जो आश्रय करता है ऐसा पुरुष शुद्धनयकी कल्पना से परे होकर सम्यक्त्व प्राप्त करता है। दो तरह के नय बताये गए—(१) शुद्धनय (२) अशुद्धनय। शुद्धनयका अर्थ है अखण्ड एक शाश्वत स्वरूप, जिसका विषय हुआ। अशुद्ध नयका विषय है कि उस अखण्ड वस्तु के भेद किए जा रहे हों। देखो इस प्रकरण में अशुद्धनयका अर्थ विकार न लेवें। विकार भी है, स्वभाव भी है, गुण है, सब है अशुद्धनयका अर्थ है जहाँ अखण्ड तत्त्व विषय में न हो। किसी भी प्रकार का खण्ड हो उसे अशुद्धनय कहते हैं। जैसे शुद्ध दूध और अशुद्ध दूध। कोई पुरुष नहा धोकर बड़े कुल वाला अपने ही हाथ से दूध दुहकर लाये और उसमें बड़ा शुद्ध अठपहरा गरम जल मिला दे तो बताइये वह दूध शुद्ध है कि अशुद्ध? देखिए यह बात पूछ रहे हैं पदार्थ की दृष्टि से, छुवाछूत वाले शुद्ध अशुद्ध की बात नहीं पूछ रहे। परखिये वह दूध अशुद्ध है। दूध में पानी मिल जाने से दूध अशुद्ध हो गया। शुद्ध दूध में किसी अन्य चीज का मिश्रण नहीं होता। क्रीम बनाने वाले लोग जब मशीन से उस दूध की क्रीम निकाल लेते हैं तो वह दूध अशुद्ध हो जाता है, यदि दूध जैसा का तैसा रहे जैसा अपने आप है वैसा रहे तो वह शुद्ध दूध है। और उसमें कुछ जोड़ें या उसमें से कुछ निकालें तो उसे अशुद्ध कहते हैं। छुवाछूत वाली बात नहीं कह रहे, यहाँ द्रव्य स्वयं अपने आप में परिपूर्ण है, उसमें कुछ जोड़ा न जाए इसमें से कुछ न निकाला जाए तो उसे कहते हैं शुद्ध। इसी तरह आत्मा की बात देखो आत्मा एक चैतन्य स्वरूप ज्ञान मात्र अखण्ड है। इसका अगर कोई यों वर्णन करे कि इसमें राग है, द्वेष है, कर्म इसके साथ हैं, शरीर इसके साथ लगा है तो यह कौन-सा नय हुआ? अशुद्धनय। और कोई यह कहे कि आत्मा में दर्शन, ज्ञान, चारित्र आनन्द आदि गुण हैं तो यह कौन सा नय है? यह भी अशुद्धनय है, क्योंकि अखण्ड ज्ञानस्वरूप आत्मा का इसने भेद किया, खण्ड किया, यह भी अशुद्ध नय है। जब शुद्धनय की बात बतावें तो शुद्धनय की बात बताने लायक कोई शब्द नहीं हैं, फिर भी कुछ शब्द हैं—अखण्ड, एक,

शाश्वत, पर्याय से अतीत ऐसा जो एक द्रव्य है, स्वभाव है वह शुद्धनयका विषय है। ऐसा शुद्धनय का विषय बने तो सम्यक्त्व का लाभ हो। उसे ही सीखने के लिए यह व्यवहारनय, पर्यायार्थिकनय, अशुद्धनय कहना होता है, और इनके कहे बिना काम भी नहीं चलता।

व्यवहार और निश्चय नयकी आवश्यकता का दिग्दर्शन—व्यवहार आवश्यक है। किसलिए? निश्चय द्वारा बताए गए बिषय को समझने की पात्रता लाने के लिए, और करने का काम यह है कि व्यवहारनय भी छूटे और निश्चयनय भी छूटे। दो नय हैं। जैसे दो आँखें हैं। चाहे हम दाहिनी आँख बन्द करके बांई आँख से देख सकते, बाँई आँख बन्द करके दाहिनी से देख सकते, दोनों आँखें खोलकर भी देख सकते और दोनों आँखें बन्द करके भी देख सकते। दोनों आँखें बन्द करके देखने में आन्तरिक अन्तस्तत्त्व का सम्बन्ध है। तो चार तरह से देखना होता है, इसी तरह द्रव्यार्थिनय को गौण करके पर्यायर्थिकनय से भी देख सकते, पर्यायार्थिकनय को गौण करके द्रव्यार्थिकनय से भी देख सकते। और द्रव्यार्थिक तथा पर्यायार्थिक इन दोनों नयों को सामने रखकर भी देख सकते। इसे कहते हैं प्रमाण। जो सभी नयों से समानता से उसके विषय का निर्णय करे उसे कहते हैं प्रमाण। खाली कोई वस्तु के निश्चयनय की बात रखे उसे सर्वस्व माने, बाकी मिथ्या माने तो अप्रमाण है। वस्तु के सर्वांश का ज्ञान करने का नाम प्रमाण है। और कोई द्रव्यार्थिकनय को न मानकर केवल पर्याय, पर्याय की बात समझाये तो वह ज्ञान अप्रमाण है, प्रमाण ज्ञान वह है जो सर्वनयों से सर्व अंश से समझाये। अच्छा, तो तुम द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय दोनों नयों को हटाकर देख सकते हो क्या? देख सकते। वह है अन्तर्दर्शन, वह है आत्मानुभव। तो आत्मानुभव व्यवहार से तो परे है ही मगर निश्चय से भी परे है। दोनों नयों के पक्ष से अतिक्रान्त है, पर इतना है कि निश्चयनय की भूमिका बनाना सहायक है। तब सम्यक्त्व क्या हुआ? पर द्रव्य से भिन्न, कषाय भाव से भिन्न अपने आपके स्वरूप में प्रतीति होना, अनुभूति होना सम्यग्दर्शन है। शुद्धनय का विषय भूत जो तत्त्व है उसका आलम्बन लें और ऐसा आलम्बन लें कि विकल्प दूर हों उस आलम्बन में भी पक्ष न हो ऐसा स्वतंत्र हो जाए तो वहाँ सम्यक्त्व का लाभ है। तो जो भूतार्थनय का विषयभूत जो एक अखण्ड अन्तस्तत्त्व है उसका परिचय जरा करें तो। क्या है वह? आत्मस्वरूप, जिस रूप अपनी श्रद्धा करें, आत्म प्रतीति करें तो सम्यक्त्व का लाभ हो।

अपनी बात परखने में कठिनता क्यों—भाई किसकी बात कही जा रही? दूसरे की बात तो समझना कठिन होता है और अपनी बात समझना सरल होता। दूसरे का बुखार समझना कठिन है या अपना? दूसरे का बुखार समझना कठिन है, दूसरे की निरोगता समझना कठिन है या अपनी? दूसरे की। धन, वैभव, दुकान, फर्म आदि की बात समझना कठिन है या अपने आत्मा की? भाई सही उत्तर दो, चाहे कर न सेको, पर उत्तर देने में क्या संकोच

करते? अरे बाहरी चीजों की बात समझना कठिन है, अपनी खुद की बात समझना सरल है। लेकिन, अपनी बात समझना कठिन यों लग रही कि अपने आपकी ओर कुछ दृष्टि नहीं है, रुचि नहीं है। चित्त में बसी हुई हैं वे धन, वैभव आदि बाहरी चीजें, सो अपने आपकी बात समझना तो कठिन है ही। जब कभी आपका ध्यान कमाई की ओर विशेष रहता है उस समय आप झटपट भोजन भी कर जाते हैं, पर यह पता नहीं रहता कि हम क्या खा गए। जब चित्त कहीं बाहर लगा है तो जब भोजन जैसी मोटी चीज की बात समझ न सके तो फिर आत्मा की बात कैसे समझ में आ जाएगी? अब इतना तो मोटा ज्ञान कर ही लें कि बाहर के जो जड़ पुद्गल हैं उनके मोह में, लगाव में, रुचि में मेरी बरबादी है। यह तो मोटी बात है। क्योंकि देख ही रहे हैं। खूब धन जोड़कर रख गए, आखिर गुजर गए तो सब छूट गया। आपकी आत्मा न जाने कहाँ जाए और वहाँ क्या करे? तो यह सारा समागम बेकार है मेरे लिए मेरा कोई सहायक नहीं है।, अकेले ही कर्मफल भोगना पड़ता है, अकेले ही बंध करना पड़ता और अकेले ही मरण करना पड़ता है, इसलिए मेरे लिए बाहर का कोई शरण नहीं है, यह बात चित्त में लावें बाहरी धन, वैभव की क्या कीमत है? अगर आपको आत्मतत्त्व का ज्ञान हो जाए, रुचि हो जाए और तीन लोक का वैभव भी सामने पड़ा हो तो भी उसका क्या मूल्य? चाहिए तो शान्ति और शान्ति मिलती है आत्मबोध से, आत्मज्ञान से। तो उसके लिए उद्यम न हो और जो अशान्ति के साधन हैं उनमें योग जुड़े तो यह तो बहुत बड़ी भूल है।

आत्म परिचय में आत्म दया—कुछ भी आत्मा की दया आए, आपको अपने आत्मा की दया आए, आत्म रुचि जगे तो आत्मा की निधि की बात समझ में आ सकती है कि क्या है आत्मा? अनंतज्ञान अनंत आनन्द का निधान है आत्मा। एक और मोटी बात मान लो—जैसे किसी ने कहा कि मेरा मकान, तो देखिए— इसमें दो बातें जाहिर हो गई, मेरा और मकान, ये दोनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं। मकान, धन, वैभव, शरीर ये सब इस आत्मा से भिन्न हैं, जुदा चीज हैं, जड़ हैं, और कुटुम्ब परिवार ये भी प्रकट भिन्न हैं। तो इनसे निराला है मेरा आत्मस्वरूप? और फिर जो क्रोधादिक कषायें हैं, इच्छा, ईर्ष्या आदि के जो भाव उत्पन्न होते हैं उन भावों से भी भिन्न है मेरी आत्मा, क्योंकि ये नैमित्तिक भाव हैं, ये मेरे स्वभाव से नहीं उत्पन्न हुए, उपाधि का निमित्त पाकर हुए। नैमित्तिक भाव मेरे स्वरूप में नहीं हैं, उन पर भावों से मैं आत्मा भिन्न हूँ। यहाँ तक कितनी बात समझ में आयी कि जड़ वैभव से मैं निराला हूँ, और विषयों से निराला हूँ। कुटुम्ब से न्यारा हूँ, और मेरे में जो पर भाव उत्पन्न होते, विषय कषाय के परिणाम होते उनसे भी मैं न्यारा हूँ? ज्ञानस्वरूप। और कैसा हूँ? इनसे निराला हूँ। इतनी बात सुनकर कोई बोल उठा कि हम तुम्हारी बात समझ गए। कषायों से न्यारा है यह आत्मा। तो कैसा है? समझ तो गए। बतलावो कैसा है? मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जो मैं जान रहा हूँ बस मैं उन रूप हूँ! तो उससे कहो अभी तुम नहीं समझे। कषायों से निराला है यह आत्मस्वभाव। ठीक है, पर जो छुटपुट जानकारियाँ बन रही हैं, जो कुछ ज्ञान

बन रहा है। यह भी मैं नहीं हूँ, अरे यह मैं क्यों नहीं हूँ? यों नहीं हूँ कि ये ज्ञान अधूरे हैं। क्या तुम अधूरे हो तो अपने को कोई अधूरा नहीं स्वीकार करता, पूर्ण ही स्वीकार करता। जो ये अधूरी जानकारियाँ चल रही हैं तो ये तुम हो क्या? नहीं। मैं तो परिपूर्ण हूँ। तो फिर बोल उठा कोई सुनने वाला—अब हम समझ गए, जो पूरा हो, परिपूर्ण हो वह मैं हूँ। क्या समझे? समझ गए, केवल-ज्ञान हूँ मैं, क्योंकि वह पूरा है, तो उसे भी समझाइये कि अभी तुम आत्मस्वरूप नहीं समझे। आत्मा तो आदि मध्य अन्त से रहित है केवलज्ञान की तो आदि है। . . . अच्छा तो आत्मा ज्ञान दर्शन आदि गुणरूप है। . . . नहीं, नहीं, आत्मा खंडरूप नहीं, आत्मा तो एकरूप है। "अच्छा अब जाना आत्म स्वभाव एक है। . . . नहीं नहीं, जब तक एक है इतना भी विकल्प रहेगा, तब तक आत्म स्वभाव का परिचय नहीं होगा। वास्तविक परिचय तो अनुभव में हैं और अनुभव संकल्प विकल्प मुक्त है। सो आत्मस्वरूप विलीन संकल्प विकल्प जाल है। ऐसे आत्मा का परिचय सकल कष्टहारी है।

धर्म प्रवृत्ति का कारण अशान्ति परिहार का प्रयोजकत्व—धर्म की प्रवृत्ति किस कारण से होती है? यह कारण है कि वर्तमान में हम सब अशान्त हैं, इस अशान्ति को दूर करने का हमें उपाय करना चाहिए। तो वह उपाय सिवाय धर्म पालन के और कुछ नहीं। धर्म पालन है स्वभाव दृष्टि। अपने आपका जो सहज निरपेक्ष स्वरूप है, जो इस तरह परखा जाएगा कि मानो हमारे साथ किसी भी दूसरे पदार्थ का सम्पर्क न हो, किसी भी उपाधि का सम्बंध न हो, ऐसी स्थिति में हम किस तरह रह सकते हैं, वह है हमारी एक स्वाभाविक स्थिति। वह है स्वभाव के अनुरूप स्थिति। तो वह स्थिति तो शान्तिपूर्ण है। और उस स्थिति के अतिरिक्त अन्य जो स्थितियाँ हैं उपयोग की उनमें आकुलता है इसलिए जहाँ आकुलता न हो ऐसा पद प्राप्त करने के लिए एक धर्मपालन ही साधक है, यानी स्वभावदृष्टि करना शान्ति का साधक है। अपने आपको भी अनुभव से देखो तो जब-जब हम किसी पर पदार्थ के सम्पर्क राग में रहते हैं तब-तब हमें किसी प्रकार की व्याकुलता ही रहती है और जब कुछ हम बाह्य से हटकर एक अपने आत्मा की ओर होते हैं, बाह्य का सम्पर्क हमारे उपयोग में नहीं होता है उस समय हमको शान्ति प्राप्त होती है, तो स्वभावदृष्टि ही एक उपाय है कि जितना हम अशान्ति से हटें और शान्ति में आएं। वह स्वभावदृष्टि बनती किस प्रकार है? उसके लिए हमें स्वभाव के ज्ञान का अभ्यास चाहिए? स्वभाव का ज्ञान हम किस प्रकार कर सकेंगे उसके लिए हमें प्रमाण और नयका विशद परिज्ञान हो और उन उपायों द्वारा हम वस्तु की परीक्षा करें तो हम स्वभाव परिचय पा सकते हैं। शास्त्रों में जो कुछ भी कथन है उन सबका प्रयोजन है जीव में स्वभावदृष्टि के लिए प्रेरणा करना। जो प्रथमानुयोग है, उनमें कथानक हैं, उन कथानकों से भी हमें प्रेरणा यह ही मिलती है कि बाहरी समागम छूटे और एक अपने अन्तः स्वरूप में मग्न रहें। करणानुयोग है वह तो एक निष्पक्ष निर्णायक रूप को बताता है, जो कुछ स्थितियाँ जिस-जिस परिणाम में होती हैं उनमें भी यह शिक्षा मिलती है कि जहाँ

कर्म भार न रहे, विकल्प जाल न रहे ऐसे पद में आना चाहिए। चरणानुयोग भी हमें यह ही शिक्षा देता है कैसे चरणानुयोग कार्यकारी है और उसका स्वभाविकदृष्टि में सहयोग है यह अभी कहेंगे। थोड़ा यह बतालाकर कि धर्मपालन में हम को स्वभावदृष्टि करना है और स्वभावदृष्टि के लिए स्वभाव परिचय करना है, और स्वभाव परिचय बनता है हमारा प्रमाण नयों के द्वारा। प्रमाण तो उसे कहते हैं कि जो दोनों नयों को प्रधानतया समझे। द्रव्यार्थिकनय और पर्यायार्थिकनय। बात ऐसी है कि जो भी पदार्थ है वह सदा रहता है अनादि अनन्त है, किन्तु उसकी स्थितियों को बताने वाला है पर्यायार्थिक। दूसरी बात समझिए। जो भी वस्तु है वह वस्तु अपने स्वभावरूप है, अखण्ड है, उसको समझने के लिए शक्तिभेद, गुणभेद, करके हम उसे समझते हैं और प्ररूपण है। तो उसमें जो अभेद को बताने वाला नय है वह है पर्यायार्थिक। तो इन सब नयों का उपयोग हमारी स्वभावदृष्टि में सहायक होता है, इसलिए यह कहना कि द्रव्यार्थिक सत्य है, पर्यायार्थिक असत्य है या निश्चय सत्य है, व्यवहार असत्य है, ऐसा द्वैत युक्त नहीं है। जब द्रव्य और पर्याय दोनों ही वस्तु में पाए जाते हैं। सदा रहे वस्तु और उसकी प्रतिक्षण परिणतियाँ हों, पर्याय बिना द्रव्य नहीं, द्रव्य बिना पर्याय नहीं, तो एक नय को असत्य कैसे कहा जा सकता है? और, फिर दोनों हैं सम्यक् श्रुतज्ञान के अंग।

नयों के प्ररूपण से आत्महित की बात निकलना—भैया हित की बात तो इसमें है कि पर्याय अध्रुव है उस रूप अपने को समझाना, उसकी ही दृष्टि रखना, यह हमारे मोक्षमार्ग में साधक न बनेगा। और द्रव्यार्थिक दृष्टि से जो हमने स्वभाव परिचय किया उसकी दृष्टि साधक बनती है। लेकिन फिर भी अगर सदुपयोग की दृष्टि हो और एक स्वभावदृष्टि का प्रयोजन परिपूर्ण बन गया हो तो निश्चयनय के द्वारा हमको स्वभावदृष्टि में मदद मिलती है उसी प्रकार व्यवहारनय द्वारा भी हमको स्वभावदृष्टि में मदद मिलती है। इसको और स्पष्ट यों समझ सकते हैं कि बात दो समझ लीं—**वस्तुस्वातन्त्र्य निमित्त नैमित्तिकभाव** प्रत्येक पदार्थ अपने आप सत् है और अपने आपमें अपने आप की परिणमन शक्ति से परिणमता रहता है। परिणमन स्वमेव उसमें चलता है, किसी अन्य पदार्थ की परिणति लेकर नहीं परिणमता। इस दृष्टि से वस्तु स्वातन्त्र्य अभेद है। इसे कोई तोड़ नहीं सकता। जब विकार की बात कहते हैं तो विकार होने में जिसमें विकार हुआ है वही पदार्थ खुद निमित्त नहीं हो सकता। कोई भी पदार्थ खुद ही अपने आपके परिणमन में निमित्त नहीं बन सकता। इसलिए वह निमित्त प्रसंग ही है। तो जब हम विकार परिणति का निर्णय बनाते हैं तो वहाँ यह ही निर्णय होता है कि यह पदार्थ पर का सन्निधान पाकर ही विकृत रूप परिणाम कर सकता, ऐसा होने पर भी वस्तु स्वातन्त्र्य नहीं मिला, अर्थात् निमित्त की परिणति लेकर यह परिणमा हो या निमित्त ने अपनी परिणति उपादान में आकर परिणमाया हो, ऐसा तो नहीं है। वस्तु स्वातन्त्र्य कहाँ मिला? इतने पर भी प्रसंग बिना विकार होता नहीं, अन्यथा विकार स्वभाव बनेगा। तो विकार होने में वस्तु स्वातन्त्र्य भी नहीं मिटा और निमित्त नैमित्तिक भाव भी नहीं मिटा। बात

दोनों हैं और हमको इन दोनों ही कथनों से स्वभावदृष्टि का प्रयोजन रखना चाहिए। जैसे निश्चयनय की दृष्टि में हमें प्रयोजन सिद्ध पदार्थ निमित्त को न देखना, ऐसा जब हम एक निश्चयनय का आशय बनाते हैं उस समय कोई भी पर पदार्थ हमारे उपयोग का विषय नहीं होता। हम उस विकार को लम्बा नहीं कर सकते। उस वक्त विकार को हम नहीं बना पाते, क्योंकि आश्रय भूत पदार्थ पर भी दृष्टि न हो रही, अन्य कोई विकल्प भी न रहा, ऐसी स्थिति में एक ही द्रव्य को निहार-निहार कर हम उस विकार को गौण कर स्वभावदृष्टि पर आ सकते हैं ऐसा वहाँ ही अवसर है, और परमशुद्ध निश्चयनय का तो साक्षात् ही विषय है और जब हम निमित्त नैमित्तिक भाव के वर्णन का सदुपयोग करते हैं तो देखिए कितनी सुगमतया मदद मिलती है। स्वभाव को जब परखते हैं तब ये कषायें, ये विकार मेरे नहीं, मेरे स्वरूप नहीं, ये कर्मोदय का निमित्त पाकर हुए। यह कर्मलीला की छाया है, ये औपाधिक हैं, परभाव हैं, मेरे नहीं, मैं इन सबसे निराला एक ज्ञानमात्र ज्ञायक स्वभाव रूप हूँ। तो इन औपाधिक भावों के निर्णय ने इस नैमित्तिक भाव के निर्णय ने हमको उससे हटने में मदद दी और अपने आप के स्वभाव को परखने में मदद दी। तो निमित्त नैमित्तिक भाव के वर्णन का भी जब हम सदुपयोग करते हैं तो स्वभाविक दृष्टि से हमें बहुत अच्छी प्रकार मदद मिलती है, और इन दोनों पद्धतियों से मदद लेने की बात समयसार में जगह-जगह बतायी गई है। ये नरनारकादिक भव, ये वर्ण, रस, गंध शरीर आदि ये क्रोध, मान, माया लोभआदि और यहाँ तक बताया कि गुण की अवस्था में गुणस्थान भी कर्मविपाक का निमित्त पाकर हुई है इसलिए ये मेरे स्वभाव नहीं, मेरे स्वरूप नहीं, ये पौद्गलिक बनाते हैं। पुद्गलकर्म से निष्पन्न हैं यानी अपने आपके स्वभाव से कितना अधिक विविक्त और कितना निराला समझा देने में यह व्यवहारनय निमित्त नैमित्तिक भाव कितना उपकारी बन रहा है।

निश्चयनय, व्यवहारनय व उपचार की सत्यासत्यता का निर्णय—संक्षेप में इतना समझना कि तीन बातें जानने की हैं– (१) निश्चयनय, (२) व्यवहारनय और (३) उपचार। निश्चय तो एक द्रव्य को ही निरखने वाला होता है, व्यवहारनय निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बंध से बताने वाला होता है और उपचार निमित्त नैमित्तिक सम्बंध की बात निरखकर उसकी सीमा से आगे बढ़कर कर्त्ता कर्म भाव के रूप में उपस्थित करना उपचार है। उपचार में जैसा जो कुछ कहा है उन्हीं शब्दों में कोई समझे तो वह मिथ्या है, पर व्यवहारनय और निश्चयनय ने जो कुछ कहा है वह मिथ्या नहीं हैं जैसे कोई यह कहे कि घड़ा बना, मिट्टी ने बनाया, मिट्टी में बना, मिट्टी में परिणमन है। मिट्टी स्वामी है। तो यह कथन असल नहीं। कोई कहे कि उस प्रकार का व्यापार करने वाले कुम्हार का निमित्त पाकर यह घड़े रूप पर्याय हुई है यह व्यवहार की बात, निमित्त नैमित्तिक की बात, यह भी मिथ्या नहीं है, और कोई यह कहे कि कुम्हार ने घड़ा बनाया। क्रिया का अर्थ सब जगह यह लेना कि यह परिणाम सकर्ता, अर्थात् जो परिणाम सो कर्ता। ऐसी परिभाषा मन में रखकर ऐसा सोचना कि कुम्हार ने घड़ा किया,

ऐसे ही कोई समझे तो यह मिथ्या है, इसी प्रकार अपने आपके आत्मा में घटायें। आत्मा, यह जीव रागी बना, राग रूप से परिणत हुआ, ऐसा निरखना, सो बात मिथ्या नहीं है और ऐसा निरखने में कि राग की परिणति के उदय का निमित्त पाकर जीव रागी बना, ऐसा भी मिथ्या नहीं, किन्तु यह समझना कि कर्म ने जीव को रागी किया तो यह मिथ्या है, इन तीनों का अन्तर बिल्कुल स्पष्ट है। निश्चयनय तो केवल एक द्रव्य को निहारता। दूसरे द्रव्य की बात ही नहीं करता। जीव रागी बना, राग रूप से परिणत हुआ, यह निश्चयनय का विषय है, और, कर्म राग परिणति का निमित्त पाकर जीव राग रूप परिणत हुआ, यह व्यवहार का विषय हुआ! इनका सम्बंध बताया। यह अपने आप रागी नहीं बना, किन्तु प्रसंग का निमित्त पाकर रागी बना। अब यहाँ कोई कहे कि कर्मराग परिणति ने जीव को रागी बनाया तो बनाया या किया इसका भाव है—य: परिणमति स कर्ता तो यह राग प्रकृति ही राग रूप परिणमे तो यह अपने आपके अनुराग रूप परिणमी, पर जीव की कल्पना में, उपयोग में, विचार में जो कुछ लगाव आया उस प्रकार का परिणमन तो वह जीव का है। उस परिणाम को कर्म ने नहीं किया। अर्थात् जीव के परिणाम रूप कर्म नहीं परिणमा। आत्मार्थी की, कल्याणार्थी की विशेषता यह है कि उसने यह निर्णय बनाया कि मेरे को स्वभावदृष्टि चाहिए, तब वह समस्त कथनों का प्रयोजन स्वभाव दृष्टि बनाता है।

चरणानुयोग की उपयोगिता—अब इस प्रसंग में यह भी देखिए— चरणानुयोग कैसे हमारे काम आया? बात यह कही जा रही है स्वभावदृष्टि करो, स्वभाव में मग्न हो, पर अनादि काल की वासना से वशीभूत हुआ यह जीव थोड़ा स्वभाव का परिचय भी पाले तिसपर भी बार-बार च्युत होता है, क्षण भर भी नहीं ठहर पाता, ऐसी अज्ञान वासना का जो संस्कार है वह इस स्वभावदृष्टि में आगे नहीं बढ़ पाता, क्यों नहीं बढ़ पाता कि व्यक्त विचार के साधन भूत बाह्य पदार्थों का इतना सम्बन्ध है कि उनको निरखकर यह अपने स्वभाव से च्युत रहता है। ऐसी स्थिति में हैं ही सब जीव, अनादि से ही हैं। तो यह स्थिति हमको बाधक बन रही है। समयसार में भी बताया है ना कि **"नहि बाह्य वस्त्वनाश्रियाध्यवसानमात्मान-मुपलभते"** अर्थात् बाह्य वस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसान अपना स्वरूप नहीं बना पाता। विकार होने में तीन बातें प्रयुक्त होती हैं—कर्मोदय, जीव का विकार और आश्रयभूत पदार्थ का उपयोग जैसा क्रोध हुआ तो वहाँ क्रोध प्रकृति का उदय अन्तरङ्ग निमित्त हैं। और पुत्र, नौकर आदि जिनको ध्यान में लाकर क्रोध किया जा रहा वे बहिरङ्ग निमित्त हैं और क्रोध करने वाले जीव उपादान हैं। तो जब बाह्य वस्तु का आश्रय करके ही व्यक्त विकार बनता है और व्यक्त विकार से ही संस्कार पुष्ट होता है तो उसके लिए जैन शासन में यह उपदेश है कि आश्रयभूत पदार्थ का त्याग करें, कोई थोड़ा कर पाता है तो उसकी वह श्रावक अवस्था है, कोई आश्रय भूत का पूर्ण रूप से त्याग कर सकता है तो वह मुनि अवस्था है। तो इस आधार पर यह ही चरणानुयोग प्रक्रिया युक्ति संगत होती है।

अन्तरङ्ग निमित्त व बहिरंग निमित्त का स्थान—अब इस सम्बन्ध में एक दो बातें और ज्ञातव्य हैं कि जैसे आजकल एक बात यह कही जाने लगी है कि निमित्त पर जब उपयोग दो तो वह निमित्त बनता है, उपयोग न दो तो निमित्त नहीं होता। और तभी निमित्त पर उपचार किया जाता है। कार्य बन गया तो निमित्त पर उपचार किया जाता है। उनका कथन सही है या गलत है, इसका एकान्त से निर्णय नहीं है। सही भी है, गलत भी है। सही तो यों है कि यह कथन बहिरंग निमित्त पर घटित होता है, गलत यों है कि यह कथन अन्तरङ्ग निमित्त पर लागू नहीं होता है यह भेद जानना है, और ऐसा भेद समझे बिना दोनों निमित्तों को एक निमित्त शब्द से कहकर इस कक्षा में रख देने पर फिर विसम्बाद होने लगता है। जैसे दृष्टान्त दिया जाता कि देखो लोग जिन प्रतिमा के दर्शन को सम्यक्त्वका निमित्त कहते हैं, और ग्रन्थों में भी लिखा है, तो कहते हैं कि जिन प्रतिमा का दर्शन करना यदि निमित्त है तो जितने दर्शन करने वाले लोग हैं उन सब को सम्यक्त्व क्यों नहीं होता? इसलिए सम्यक्त्व के होने में तो जिन प्रतिमा पर निमित्त का उपचार है। बात ठीक है मगर इस निमित्त की बात को अन्तरङ्ग निमित्त तक कोई ले जाए कि ७ प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम आदि निमित्त जो अन्तरङ्ग हैं, उपचार वाला यह कथन मिथ्या हो जाता है। तब ही तो यह दोष नहीं आता कि यह जीव अनेक बार समवशरण में भी गया होगा लेकिन फिर भी सम्यक्त्व न हुआ तो देखो, निमित्त कुछ कर तो नहीं सकता? उनके लिए यह समझना होगा कि कुछ कर न सके, इसका अर्थ यदि इतना ही है कि यह उपादान रूप न परिणम सके तब यह बिल्कुल सही बात है कि अकिञ्चित्कर है और निमित्त नैमित्तिक भाव की दृष्टि से देखिए तो समवशरण जिन प्रतिमा आदि ये निमित्त नहीं, किन्तु आश्रयभूत हैं यानी अन्तरङ्ग निमित्त नहीं, किन्तु बहिरङ्ग निमित्त हैं। बहिरङ्ग निमित्त का आश्रय करना, मेल करना जिस-जिस परिणाम के लिए होता हुआ देखा जाता हैं उसका उपदेश है, पर अन्वय व्यतिरेक नहीं है। जैसे कि कर्मोदय के साथ जीव के विभाव का अन्वयव्यतिरेक है, क्रोध—प्रकृति का उदय होने पर ही क्रोध हो सकता, उस क्रोध प्रकृति के अभाव में क्रोध नहीं हो सकता। तो जैसा अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध अन्वय निमित्त के साथ है ऐसा सम्बन्ध बहिरङ्ग निमित्त के साथ नहीं है। यही आश्रयभूत और निमित्त में अन्तर है। जैसे जिन प्रतिमा के दर्शन करने पर ही सम्यक्त्व होता या प्रतिमा के दर्शन न हों तो सम्यक्त्व नहीं होता ऐसा अन्वय व्यतिरेक न लगा सकेंगे। वह आश्रयभूत पदार्थ है, पर वह सब क्षय क्षयोपशम होने पर ही सम्यक्त्व हुआ, उसके होने पर नहीं हुआ, तो निमित्त तो वास्तव में कर्मोदय है। ये बाहरी पदार्थ निमित्त नहीं कहलाते, इसी कारण एक दृष्टान्त दिया जाता है। कि कोई वेश्या मरी, और उसका शरीर जलाने के लिए लोग लिए जा रहे थे तो उसे देखकर एक कामी पुरुष का विचार काम विषयक बना और एक साधु का विचार उस वेश्या की मूर्खता देखने का बना—देखो कितना दुर्लभ मानव जीवन पाकर भी इसने अपना कोई कार्य न किया। माँस खाने वाले कुत्ते, स्याल बगैरह के और तरह के विचार

बने। ये इन्द्रिय और मन के विषय हैं। पदार्थ अगर निमित्त हो तो सबके लिए एक सा ही नैमित्तिक भाव होना चाहिए था। पर बात क्या हुई कि मुनि महाराज के तो अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय न थी, इस तरह का तीव्र उदय और उदीरणा नहीं है। यह है अन्तरङ्ग निमित्त, तो देखो उसके अनुरूप मुनि का भाव हुआ। और कामी पुरुष के वेद का तीव्र उदय और उदीरणा है तो कामी का उसके अनुरूप भाव हुआ। तो अन्तरङ्ग निमित्त को वास्तविक निमित्त कहो, न कहो तो केवल नोकर्म या आश्रयभूत कहो। तो आश्रयभूत का त्याग करना आवश्यक पड़ गया इस जीव को। अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध न होने पर भी चूँकि इतना तो नियम है कि जीव के जब व्यक्त विकार होता है तो आश्रयभूत पदार्थ कोई न कोई विकार में हो तब ही हो सकता है। तो व्यक्त विकार का साधन हटाने के लिए चरणानुयोग में उपदेश है। अब रही अव्यक्त विकार की बात। कर्मोदय हुआ। और उपयोग हमारा ज्ञानबल के प्रसंग से किसी बाह्य पदार्थ की ओर न जाए। जैसे स्वानुभूति की स्थिति हो या इसही ओर चर्चा करने की स्थिति हो, ऐसी स्थिति में चूँकि नोकर्मका उपयोग न हो सका अतःएव यानी इतने मात्र से विकार से हटेगा तो नहीं, पर वह अव्यक्त विकार होगा। और अव्यक्त विकार में विशेष आश्रव बंध का अवकाश नहीं। व्यक्त विकार में विशेष आश्रव बंध का अवकाश है तो चरणानुयोग विशेष उपयोगी बना, उसी के अनुसार श्रावक धर्म और मुनिधर्म दो प्रकार से बनाये जाते हैं, तो इसके समस्त उपदेशों में प्रयोजन एक लेना है स्वभावदृष्टि। स्वभावदृष्टि के लिए जो हमारे मन, वचन, काय के प्रयास चलते हैं वे गृहस्थ धर्म और मुनिधर्म के बताने वाले हैं। ऐसी वासनावश हुए ऐसे संस्कार में रत हुआ पुरुष अपने आप को गृहस्थधर्म मुनिधर्म को एक व्यवहार में लाए बिना उसमें इसका संस्कार क्षीण हो नहीं सकता। अतःएव यह द्विविध धर्म का उपदेश है।

व्यवहार किये बिना व व्यवहार छोड़े बिना आत्म प्रगति की असंभवत्ता—बात यहाँ यह स्पष्ट आयी कि इन धर्मों में भी बात यह ही बतायी जा रही, व्यवहार छोड़ो, व्यवहार छोड़ो। और यह भी बात आयी कि व्यवहार को करो। व्यवहार छोड़ना और व्यवहार करना ये दोनों बातें करने को कहा। जैसे-जैसे आगे बढ़ें वैसे-वैसे व्यवहार छूटा। तो वह पद व्यवहार के बिना नहीं मिलता और व्यवहार छोड़े बिना नहीं मिलता। जैसे नीचे से ऊपर की मंजिल पर आप आते हैं तो इस मंजिल पर पहुँचना सीढ़ी ग्रहण किए बिना नहीं बनता और सीढ़ी छोड़े बिना भी नहीं बनता। इन दोनों में कोई एक ही बात का एकान्त कर ले कि सीढ़ी पकड़े बिना ऊपर नहीं आ सकते इस कारण मैं तो सीढ़ी पकड़कर ही रहूँगा, तो वह भी ऊपर नहीं आ सकता। और कोई यह कहे कि सीढ़ी छोड़े बिना ऊपर नहीं पहुँच सकते इसलिए मैं तो सीढ़ी छोड़कर ही रहूँगा। नीचे के नीचे खड़े हैं, तो वह भी ऊपर नहीं आ सकता। तो उनकी स्थितियों और दृष्टियों से स्पष्ट बात है बिसम्बाद की कहीं कुछ बात ही नहीं है। स्याद्वाद पद्धति से हमारे सारे बिसम्बाद समाप्त हो जाते हैं।

विकार पर्यायों के नियतत्त्व व अनियतत्त्व का विश्लेषण—एक बात और सुनिए—जैसे जब एक चर्चा होने लगती है कि जब जो होना है तब ही तो वह होगा उसमें कोई फेरफार तो नहीं हो सकता। तब किसी ने कहा कि नहीं, जैसा करूँगा, वैसा होगा, फेरफार करूँगा तो फेरफार हो जाएगा, ये दोनों बातें सामने हैं। अब इन दो को एक दृष्टि से खोजें तो इन दो बातों को बताने वाली दृष्टियाँ हैं दो— (१) ज्ञप्तिनय और (२) उत्पत्तिनय। भगवान ने सब जाना और कदाचित् कोई यह कहे कि हम नहीं समझते हैं भगवान को कि वे सब समझते हैं तो चलो अवधिज्ञानियों ने जाना, उन्होंने सीमा से जाना। मानो वे करोड़ वर्ष आगे की बात जानेंगे और इतनी ही पहले की बात जानेंगे, विशेष न जानेंगे। इतने से ही चलो, तो जब उनके ज्ञान में आया, जब जो होना है हुआ। ग्रन्थों में भी उपदेश है— अवधिज्ञानी मुनियों ने यह बताया, उनको भावों का ज्ञान हुआ। जब विशिष्ट ज्ञानियों ने जाना, तो ठीक है, जैसा जाना वैसा होगा। इस दृष्टि में आकर हम इस बात को मना कर सकते, लेकिन यहाँ समझना होगा कि भगवान ने जानने की स्वतन्त्रता क्या इस प्रकार की कि पहले जानने की बात उठी, फिर जो जाना सो पदार्थ में होता है। ऐसा तो नहीं है। जानने का विषय है यह सब। जो होगा सो प्रभु ने जाना, अवधिज्ञानी ने जाना। तो अब होगा की बात का निर्णय बनाना किस तरह से होता है। उसका निर्णय उत्पत्तिनय से होता है। ज्ञप्तिनय कार्य कारण विधान को नहीं बताता। कार्य कारण विधान तो उत्पत्तिनय से ज्ञात होगा। तब वहाँ यह बात विदित होती है कि उपादान प्रतिक्षण अपने आप में एक पर्याय को लिए हुए रहता है, और अगले विकार परिणमन में विकार होता, जैसा कि निमित्त सन्निधान में होता है। योग्य उपादान निमित्त नैमित्तिक सन्निधान पाकर अपनी अकेले नवीन परिणति रूपता है और इसी तरह से समाप्त कार्य होते जा रहे हैं। तो इस तरह होते हुए पदार्थ किसी विशिष्ट ज्ञानी के ज्ञान में आए तो जिससे कार्य कारण विधान न बनेगा। चूँकि भगवान ने जाना इसलिए हुए ऐसा नहीं, बल्कि ऐसा तो कह सकते कि चूँकि ऐसा होगा सो भगवान ने जाना। कार्य कारण विधान ज्ञानी की ओर से नहीं बनता, किन्तु वह निमित्त नैमित्तिक भाव की पद्धति पूर्वक बनता है। तो जब केवल ज्ञप्तिनय से देखते हैं, एक जानकारी की दृष्टि से देखते हैं, तब ऐसा कहने में हर्ज नहीं, और कहते भी आए कि **"जो जो देखा वीतरागने, सो सो होसी बीरा रे। अनहोनी नहिं होती कबहुं, काहे होत अधीरा रे।"** जो बात जिस काल में होती है उसे उस प्रकार प्रभु ने जाना। इससे जिस विधान से यह एक कार्य कारण को सिद्ध करने वाला एक खास वाक्य है। एकान्त करने वाले उनमें किन्हीं शब्दों को छोड़ दें, किन्हीं शब्दों को लें तब एकान्त बनता है ऐसा कहने में कहाँ आपत्ति आयी? जो बात जिस प्रकार से होनी है, होती है, उसे जाना है किसने, ठीक है। तो जब उत्पत्तिनय की ओर से देखते हैं। तो यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य में पर्याय नियत है, और जब ज्ञप्तिनय से देखते हैं तो यह कह सकते हैं कि पर्याय जब जो होनी है सो होती है, यह नियत है। ज्ञप्तिनय

का अर्थ यह है कि विशिष्ट ज्ञानी ने जान लिया, इस आत्मा में तीनों काल की बात को जानने की सामर्थ्य है। और जब किसी विशिष्ट आत्मा ने जान लिया तो विषय है तब ही तो जाना, विषय बिना नहीं जाना। तो जिस प्रकार होने की है सो हुआ, किन्तु इसमें कार्य कारण विधान रंच भी नहीं है किन्तु जाना और देखा है। जैसे नेमिनाथ भगवान ने बताया कि १२ वर्ष बाद यों होगा। सो हुआ, तो देखो शब्दनिय की ओर से बात कही जाएगी कि भगवान ने जाना वही हुआ, इससे यह बात नहीं कही जा सकती कि भगवान ने जान लिया इस कारण से हुआ। इसका कारण और ही है। वह निमित्त नैमित्तिक विधान और उत्पत्तिनय से समझा जाएगा। तो बात यह है कि जिसका स्वभावदृष्टि के प्रयोजन का निर्णय है वह समस्त नयों से ही उपयोग कोता है। उसी को ही एक निष्पक्ष कल्याणार्थी कहते हैं कि किसी भी नयकथित को वह असत् नहीं ठहराता, किन्तु उससे अपना प्रयोजन निकालता है।

मोक्षशास्त्र के प्रथमसूत्र में मोक्षमार्ग की घोषणा की गई है, मानो सर्वप्रथम फहराती हुई ध्वजा बतला रही हो कि **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः** यानी सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व ही मोक्ष का मार्ग है, इस सूत्र में शब्दों द्वारा ही मोक्षमार्ग के कारणों का सामान्य रूप से स्वरूप बताया गया है। अब इन तीनों का विशेष रूप से स्वरूप बताना चाहिए। उसमें से सर्वप्रथम सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताने का उपक्रम किया जा रहा है— **'तत्त्वार्थश्रद्धानंसम्यग्दर्शनम्'** ॥ २ ॥

सूत्र में सम्यग्दर्शन का स्वरूप कहने की आवश्यकता का दिग्दर्शन—वस्तु स्वरूप से सहित पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। मोक्षशास्त्र का जिसने कुछ भी अध्ययन किया है वह भी यह समझता है कि मोक्षशास्त्र में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का लक्षण किसी सूत्र में नहीं बताया है। सो प्रश्न हो जाता है कि केवल सम्यग्दर्शन का ही लक्षण क्यों कहा जा रहा है? ज्ञान और चारित्र का लक्षण जैसे नहीं बताया उसी प्रकार सम्यग्दर्शन का भी लक्षण न कहा जाना चाहिए था, क्योंकि मोक्षमार्ग तो इन तीनों का समुदाय है। तो जो बात सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र के बाबत में है वही बात सम्यग्दर्शन के बाबत में है फिर क्यों सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा और सम्यग्ज्ञान सम्यक्-चारित्र का लक्षण नहीं कहा मोक्षशास्त्र के द्वितीय अध्याय आदि आगे में भी कहीं भी सम्यग्ज्ञान और सम्यक्-चारित्र का स्वरूप निर्दिष्ट करने वाला सूत्र नहीं है। जब इन दो के स्वरूप का सूत्र नहीं तो सम्यग्दर्शन के स्वरूप का सूत्र कहने की भी क्या आवश्यकता थी? यदि कहो कि सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का लक्षण किसी और रूप से आता है तो भेद प्रभेद के कहने से या अन्य प्रकार से तो इसी तरह सम्यग्दर्शन का भी शब्दों से या उनके भेद आदि से समझ लिया जाता है। इसमें कारण क्या है कि उमास्वामी महाराज ने केवल सम्यग्दर्शन का स्वरूप सूत्र में बांधा है,

इसके समाधान में यह समझना चाहिए कि आचार्य महाराज का जो प्रतिपादन होता है वह मर्म को लिए हुए होता है। देखिए—ज्ञान और चारित्र का लक्षण कहने की यों आवश्यकता नहीं हुई कि जो जाना जाए जिसे जाना जाए। ज्ञायते इतिज्ञानं, इसी प्रकार चारित्र का लक्षण है चर्यते इति चारित्रं, जो आचरण किया जाए सो चारित्र। इन दोनों का स्पष्ट अर्थ धातु से ही निकल आता है इस कारण से चारित्र और ज्ञान के स्वरूप का निर्देश करने के लिए अलग सूत्र की आवश्यकता नहीं होती। सम्यग्दर्शन का लक्षण धातु और शब्द में नहीं बन पाता। क्यों नहीं बन पाता? सम्यग्दर्शन में दर्शन शब्द है वह जिस धातु से बना है उसका अर्थ अवलोकन है, तो वहाँ भी सम्वाद हो जाता है क्या अच्छा देखने का नाम सम्यग्दर्शन है? जो बड़ी अच्छी तरह से खूबसूरती से देख लेता हो, क्या उसे सम्यग्दर्शन हो गया? तो सम्यग्दर्शन का अभिप्राय शब्द से व्यक्त नहीं हो पाता इसलिए सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने की आवश्यकता पड़ी सम्यग्दर्शन का अर्थ यह नहीं कि अच्छा देखना—किन्तु सम्यग्दर्शन का अर्थ है—वस्तु स्वरूप जैसा है उस प्रकार से श्रद्धान करना। अच्छा देखने की बात तो मिथ्यादृष्टि को भी होती, अभव्य के भी होती है। अभव्य कोई पुरुष है, उसकी आँखें अच्छी हों तो क्या वह अच्छा नहीं देख रहा? तो प्रशस्त अवलोकन का नाम सम्यग्दर्शन नहीं किन्तु तत्त्वार्थ श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन शब्द का अर्थ—अब जरा सम्यग्दर्शन शब्द पर सम्यग्दर्शन का भाव निरखें। सम्यक् शब्द का अर्थ है प्रशंसावादी अच्छा दर्शन। पूज्य का दर्शन। सो सम्यग्दर्शन में सम्यक् शब्द जो है वह निपात शब्द है अथवा व्युत्पन् भी शब्द है। संस्कृत व्याकरण से शब्द की निष्पत्ति दो तरह से होती है—एक तो होती है निपात, जिसके बारे में कुछ सोच ही नहीं सकते कि कैसे बना, कौन धातु से बना? और, एक होता है प्रत्यय लगाकर, तो यहाँ दोनों तरह के शब्दों की सिद्धि है—निपात भी और प्रत्यय लगाकर भी है। उपसर्ग है अञ्च धातु है और प्रत्यय लगा है क्विप्। सम्यक्, यह प्रशंसावाचक शब्द है। अच्छा रूप, अच्छा कुल, अच्छी जाति, अच्छा ज्ञान आदि जो लोक के अभ्युदयवाची शब्द हैं उनका और मोक्ष का प्रधान कारण है सम्यग्दर्शन, इसलिए इसमें सम्यक्शब्द देना ठीक है। लोक के बड़े से बड़े वैभव सम्यग्दृष्टि ही पा सकता है। मिथ्यादृष्टि तो लोक के उत्कृष्ट वैभव भी नहीं पा सकते। तीर्थंकर होते हैं, चक्रवर्ती होते हैं, नारायण होते हैं, प्रतिनारायण होते हैं, बलभद्र होते हैं या और भी पद होते हैं, जो भी और ऊँचे-ऊँचे पद हैं उनमें भी प्रायः आप यह ही पाएंगे कि सम्यग्दर्शन के रहते हुए इतना पुण्य बना कि जिससे तीर्थंकर हुए। तो सम्यग्दर्शन के रहते हुए कोई विश्वकल्याण का राग करता है तो इससे बड़ा से बड़ा पुण्य का बन्ध होता है। सम्यग्दर्शन के होते हुए जो राग रहता है पुण्य बन्धतो उस राग के कारण होता है, सम्यक्त्व के कारण पुण्य बन्ध नहीं होता। सम्यक्त्व तो निर्जरा का कारण है, पर सम्यक्त्व के होते हुए जो रागभाव रहता है उसका निमित्त पाकर विशिष्ट पुण्य का बन्ध होता है। आप देख लो

जिस सम्यग्दर्शन के साथ रहने वाले गलती से मिले लोक के बड़ा भारी वैभव, (राग तो गलती का नाम है) का इतना महत्त्व हो गया, फिर जिसका निमित्त पाकर इतना विशिष्ट पुण्यबन्ध होता है कि चक्रवर्ती आदि जैसे बड़े-बड़े वैभव प्राप्त होते हैं और तीर्थंकर पदवी तक प्राप्त हो जाती है। फिर सम्यक्त्व के होते संते अगर पुण्य बन्ध हो तो विशिष्ट पुण्यबन्ध होता है, इससे महिमा जानी गई सम्यग्दर्शन की। मोक्ष की बात तो स्पष्ट ही है। इसलिए यह सम्यग्दर्शन प्रशस्त दर्शन है, अथवा सम्यक् शब्द का अर्थ तत्त्व लगा लीजिए। तत्त्वदर्शन सम्यग्दर्शन अर्थात् परम यथार्थ विषय करने वाले को तत्त्व कहते हैं और ऐसा तत्त्व स्वरूप है उसी प्रकार से श्रद्धान होने का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन में सम्यक् शब्द का तो अर्थ है वास्तविक, यथार्थ। जैसा वस्तु स्वरूप है वैसा और दर्शन का अर्थ है श्रद्धान। यद्यपि दर्शन का प्रसिद्ध अर्थ देखना है, अवलोकन है, लेकिन धातु के अनेक अर्थ होते हैं, उन अनेक अर्थों में यहाँ श्रद्धान अर्थ उचित बैठता है। इस प्रकार वस्तु स्वरूप सहित अर्थ का श्रद्धान होना सम्यग्दर्शन है।

दर्शन का अर्थ श्रद्धान किया जाने में प्रकरण की कारणता—कभी यहाँ ऐसा सोच सकते कि जब दृश धातु में अनेक अर्थ हैं तो उसमें से श्रद्धान अर्थ ही क्यों लिया तुमने? इसका समाधान तो स्पष्ट है कि जिस प्रकरण में जो बात कही जाती है उससे फबता हुआ अर्थ लिया जाता है। एक शब्द है सैंधव, उसके मायने हैं नमक और सैंधव मायने है घोड़ा। अब कोई भोजन कर रहा हो और वहाँ कोई मांगे कि भाई सैंधव लावो, वहाँ यदि घोड़ा लाकर खड़ाकर दिया जाए तो वह अच्छा लगेगा क्या? और जब कहीं जा रहे हों, जाने की तैयारी में हो, मकान के बाहर हैं और कहे कि सैंधव लावो, वहाँ यदि कोई नमक की डली ला दे तो वह अच्छा लगेगा? तो जिसके अनेक अर्थ हैं उसका वह अर्थ लिया जाता जो प्रकरण में रहता है, और, प्रकरण में बैठे अन्य दूसरा अर्थ और लगायें दूसरा अर्थ लगे तो इसमें दोष की बात आती है। प्रकरण के अनुसार अर्थ लिया जाता है। यहाँ मोक्ष का प्रकरण है। मोक्ष की बात कही जा रही है तो मोक्ष का कारण देखना नहीं है, बल्कि देखना तो मोक्ष के लिए उल्टा हो जाता है। देखने से रागद्वेष, मोह विकल्प आदि होते हैं, ये तो विपरीत मार्ग में ले जा सकते हैं, तो अच्छा देखने का नाम सम्यग्दर्शन नहीं, किन्तु वस्तुस्वरूप सहित पदार्थ का श्रद्धान होने का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन का एक सामान्यतया अर्थ किया गया है, उसका विश्लेषण क्या है? तत्त्वरूप श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं। अथवा तत्त्वार्थ श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है। इसमें तीन शब्द पड़े हैं—तत्त्व, अर्थ और श्रद्धान। तत्त्व का अर्थ क्या है? तस्यभावं—तत्त्वं। वस्तु के स्वरूप को तत्त्व कहते हैं, यह सामान्यभाव हो गया। जैसे मनुष्यस्यभावं—मनुष्यं अर्थात् मनुष्य के भाव को मनुष्यत्व कहते हैं। जो सब मनुष्यों में पाया जाएइसे कहते हैं मनुष्य। तो तत्त्व शब्द ने भावसामान्य का बोध किया। तत्त्व प्रत्यय संस्कृत में जो लगता है वह भाव में लगता है। तत् शब्द में समग्र वस्तु आ गई, उसका जो भाव

सामान्य है उसे कहते हैं तत्त्व। जो वस्तु जिस तरह है उस तरह के होने का नाम तत्त्व है। अगर यह तत्त्व शब्द न लावें तो, उल्टे अर्थ का श्रद्धान करे तो वह भी श्रद्धान में आ जाता है, तत्त्व से पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और यों भी लगा सकते कि अर्थ मायने पदार्थ नहीं, किन्तु जो निश्चित किया जाए। देखो शब्द अनेक होते हैं और उन शब्दों का जो अर्थ है वह उस पदार्थ की विशेषता बताया करते हैं। अर्थ पदार्थ, वस्तु ये सब एक ही चीज तो कहलाती हैं उसी को यहाँ अर्थ कह दो, चाहे पदार्थ कह दो, चाहे वस्तु कह दो, किसी शब्द से कह दो। ये शब्द उस एक को ही कहने वाले हैं, मगर जो नाना शब्द हैं उनके अर्थ भी नाना हैं और उनसे उस पदार्थ की विशेषता ही जानी जाती है। जैसे—अर्थ मायने क्या? जो निश्चित किया जाए उसे अर्थ कहते हैं, जिसका निर्णय किया जाए उसे अर्थ कहते हैं, क्या मतलब हुआ? जो पदार्थ जानने में आता है वह अर्थ है, यह विशेषता है। जहाँ कहीं वस्तु जिसमें अनेक गुण बसे हैं उसका नाम वस्तु है। अनेक गुण कब रह सकते? जब अपने स्वरूप से वे हों और पररूप से न हों। तो वस्तु स्वरूप कहकर दूसरी बात चित्त में आ गई। ग्रहण किया उस सबको, मगर दूसरे नाते से ग्रहण हुआ। पदार्थ जो भी कुछ पद बोला गया, शब्द बोला गया उसका वाच्यभूत जो हो सो पदार्थ। जैसे मनुष्य के कई नाम हैं कि नहीं? मनुष्य, मानव, जन आदि इनमें जन का अर्थ—जो उत्पन्न हो, मनुष्य का अर्थ है जहाँ विवेकशील मन है, मानव का अर्थ है जो मनु की संतान है, तो एक ही चीज को कहने वाले जितने शब्द हैं उन सबके अर्थ जुदे-जुदे होते हैं। जैसे अनेक शब्द दे सकते। पुत्र के नाम कितने है? पुत्र का नाम सुत, पुत्र, मगर देखिये इन दोनों शब्दों में कितना अन्तर है? सुत उसे कहते हैं जो पैदा हुआ हो, सारे सुत हो गये, और पुत्र उसका नाम है जो वंश को पवित्र करे, उज्ज्वल करे, सुत तो सारे हैं, पर पुत्र तो कोई बिरला ही होता है। तो जितने शब्द हैं उतने ही उसके अर्थ हैं, और उन शब्दों से यह बात सही आती है। यहाँ अर्थ का अर्थ है जो निश्चित किया जाए वह अर्थ है, तत्त्व— यानी यथार्थ स्वरूप जो वास्तविक स्वरूप से निश्चित किया जाए उसे कहते हैं तत्त्वार्थ, उसका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

सम्यग्दर्शन की मौलिकता व वचनागोचरता—सम्यग्दर्शन का जो सही अर्थ है उसको बताने के लिए शब्द नहीं हैं। जितने भी शब्द हों सम्यग्दर्शन को बताने वाले उनका सही अर्थ या तो ज्ञान परिणति है या चारित्र। सम्यग्दर्शन वह चीज है, जिसके होने पर वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो और यथार्थ आचरण बने वह है सम्यग्दर्शन। तो सम्यग्दर्शन शब्द अवक्तव्य है, इसका स्वरूप वचनों द्वारा नहीं बोला जा सकता है, मगर सम्यक्त्व एक ऐसी स्वच्छता है कि जिसके होने से ज्ञान और चारित्र समीचीन हो जाते हैं। इस बातको एक नियोजित विषय से बताना कठिन है किन्तु नैमित्तिक पद्धति से बताना सरल है, पुरुषार्थ सिद्धियुपाय में बताया है कि विपरीत अभिप्राय के न होने का नाम सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन एक ऐसा प्रकाश ऐसी स्वच्छता है कि जिससे विपरीत अभिप्राय ठहर नहीं सकता। तो यह सिद्धान्त आत्मा का

स्वरूप, आत्मा का स्वभाव, आत्मा का परिणाम, वह है श्रद्धान। देखिए विश्वास बिना मोक्ष नहीं रहता है। विश्वास ज्ञान और आचरण प्रत्येक जीव में पाए जाते हैं। अब यह बात जुदा है कि कोई कैसे विश्वास करे कोई कैसे सच्चा करे, झूठा करे, मगर विश्वास बिना कोई जीव रहा क्या? एकेन्द्रिय से लेकर सिद्ध भगवान तक समग्र जीव सब विश्वास, ज्ञान, आचरण वाले हैं। किसी का किसी ढंग से। सिद्ध भगवान अपने में रम रहे हैं। विश्वास तो कर लीजिए और जिसका जो विश्वास है उसी की भक्ति भी समझना चाहिए। जिस तरह धुन लगी हो, जिसकी ओर विश्वास है उसी की भक्ति भी समझना चाहिए। जिस तरफ धुन लगी हो, जिसकी ओर विश्वास हो यह मेरे को हितकारी है, शरण है, मेरे लिए सार यह ही है जिस पदार्थ में यह प्रतीति जग रही हो भक्ति उसी की होती है। तो भगवान जिनेन्द्र की भक्ति तब करें जब भगवान जिनेन्द्र के प्रति ऐसी भक्ति हो कि बस मंगल है तो यह, शरणभूत हैं तो यह, जो काम इन्होंने किया बस सारभूत तो वही है, यह ही हितकारी है, यह ही मेरे को प्राप्त हो, ऐसी अगर धुन बनी हो तो आपकी जिनेन्द्र भक्ति है, और धुन तो बनी है स्त्री, पुत्रादि की, स्त्री बड़ी आज्ञाकारी है, पुत्र बड़े अच्छे हैं, और भगवान के आगे बोलते ऊँचे स्तवन तो झूठ क्यों बोलते? सच बोलने में शर्म आती है इसलिए झूठ बोलते। अगर वहाँ बोलें कि मेरी स्त्री, पुत्रादि खूब सुखी हों तो इसमें शर्म आएगी। मन में धुन बनी है कि पुत्र ऐसे हों, कमाई ऐसी हो, तो देखो जो खोंटी बात है उसे सबके बीच बोलने में शर्म आती है। सब आदमियों के बीच में यों नहीं बोला जाएगा कि मेरे स्त्री पुत्रादि बड़े अच्छे रहें, उनको खूब सुख मिले। जब मन में परिवार के लोग बसे हैं, धन वैभव बसा है बाहरी बातें बसी हैं तो फिर प्रभु भक्ति की बात चित्त में कहाँ समायेगी? अरे जिस बात की धुन लगी हो वही बात भगवान के सामने क्यों नहीं निकालते, और कुछ क्यों कहते? तो मालूम होता है कि वे बातें सारभूत नहीं हैं। जिनेन्द्र भक्ति तब कही जाएगी जब यह धुन हो कि जिनेन्द्र की जो अवस्था है वह मंगल है। वही शरण है, जो इन्होंने किया वही मेरे कर्तव्य की बात है यह बात चित्त में बसी हो तो यह जिनेन्द्र भक्ति है।

व्यवहार की श्रद्धानसारिता—भैया! ज्ञान विश्वास के अनुसार होता है। जिस तरह का विश्वास हो उस तरह की बुद्धि जगती है। देह में आत्म स्वरूप का विश्वास हो तो उस देह को पालने पोषने, सुख दिलाने, आराम के लिए आपकी प्रवृत्तियाँ बनेंगी। जहाँ यह विश्वास हो कि मैं आत्मा तो यह केवल ज्ञानमात्र हूँ, इसके लिए केवल एक यह ही शरण है, यही उत्तम है, यही तत्त्व है, अगर यह बात समायी हुई हो तो आत्मा के अनुकूल आचरण चलेगा। हर जगह देख लो, विश्वास के अनुसार ही फल मिलता है। जब चित्त में यह समाया हुआ है कि मैं तीन चार पुत्रों का बाप हूँ तो फिर उन पुत्रों के प्रति जो व्यवहार करना चाहिए वैसा करना पड़ेगा। और जिसे पुत्रों से अरुचि होती है वह कहता है कि मेरा इन पुत्रों से कोई मतलब नहीं, तो फिर वह पुत्रोचित काम तो नहीं करता। देखिए—सुकौशल के पिता कीर्तिधर

जब विरक्त हुए उस समय सुकौशल गर्भ में था। तो कीर्तिधर के विरक्त होते ही उसकी स्त्री (सुकौशल की माँ) को उन पर बड़ा क्रोध आया, उसने कीर्तिधर को बहुत सी भली बुरी गालियाँ भी दीं, मुनियों से भी उसे घृणा हो गई। पहरेदारों को भी आगाह कर दिया कि यहाँ कोई मुनि न आने पाए और दूसरा कारण यह था कि मुनि मुद्रा देखकर सुकौशल विरक्त हो जाएगा यह भी किसी ज्ञानी महात्मा ने बता दिया था। दोनों कारणों से रानी ने यह निर्णय दिया कि कोई भी मुनि यहाँ न आए। एक दिन वही कीर्तिधर मुनि बिहार करते-करते वहाँ आ गए। उसे देखकर रानी (सुकौशल की माँ) ने अपशब्द कहे—घरखोजू, घरमिटावनू यहाँ आ गया। रानी की ऐसी बातें सुनकर धाय को बड़ा दुःख हुआ। आखिर धाय से सब वृत्तान्त जानकर सुकौशल भी विरक्त हो गया। तब संक्लेश से मरकर माँ सिंहनी हुई। खैर तो यहाँ यह देखिए कि जब सुकौशल की माँ मोहवश सुकौशल को अपना पुत्र मान रही थी तो वह उस तरह का पुत्रवत् व्यवहार कर रही थी और कीर्तिधर अपना पुत्र न मान रहा था इसलिए उसका दूसरे ढंग का व्यवहार था, कुछ विकल्प नहीं, आत्महित का ही लक्ष्य था। सब जीवों का व्यवहार श्रद्धा का अनुसारी है।

परमें आत्मबुद्धि की अशान्ति मूलता—हम आप सब जीवों को एक शान्ति ही अभीष्ट है। प्रत्येक जीव चाहता है कि मेरे को शान्ति हो, सुख हो, आकुलता न हो, कष्ट न हो, और जितने भी हम प्रयत्न करते हैं वे सब इसीलिए करते हैं कि हमको शान्ति मिले। मगर एक बात समझो कि इस जगत में यह मैं अकेला ही आया, अकेला ही जाऊँगा, अब भी अकेले ही सुख-दुःख भोगता हूँ, मेरा मात्र एक मैं ही हूँ, मेरा जगत में कोई दूसरा नहीं है, ऐसा सोचने पर शान्ति पथ में गति प्रारम्भ हो जाती है। जब किसी दूसरे में आत्मबुद्धि करके, शरणबुद्धि करके, उसे सहाय मानकर, उससे हित की आशा रखकर उसमें जो दिल लगाया जाता है वह सब बेकार है। कुछ अपनी दया की बात सोचना चाहिए। देखिए—एक बार लक्ष्मण और परशुराम जब आमने-सामने मिले तो परस्पर में बड़ा वाक् युद्ध हुआ। जब परशुराम ने क्रोध भरे वचन कहे कि तू हट जा मेरे सामने से, तो लक्ष्मण ने कहा था—**"करि विचार देखहू मन माही, मूंदहु आँख कितऊं कुछ नाहीं।"** अर्थात् हे परशुराम जी, आप अपनी आँखें मीचलें, फिर आपके लिए कहीं कुछ नहीं है। यह एक बहुत सरल सा उत्तर दिया। यही बात आप अपने लिए घटाएं—आँखें मीचकर देखें तो कहीं कुछ नहीं है, और जब आँखें मुंद जाती हैं, मरण हो जाता है तब तो सारा प्राप्त समागम छूट जाता है। तो मतलब यह है कि इस प्राप्त समागम का भी क्या विश्वास? जो यह विश्वास बना रखा है कि मेरी हवेली, मेरी फर्म, मेरा वैभव, मेरे स्त्री, पुत्रादि परिजन, ऐसा जो विश्वास बना रखा है, ये सब बातें तो तेरे लिए कलंक हैं, दोष हैं, कीचड़ हैं, इनमें हितबुद्धि मत करें। गृहस्थावस्था है, करना सब होगा, घर की व्यवस्था, आजीविका, पालन-पोषण, कमाई, सामाजिक व्यवस्था आदि के सारे काम तो करने होंगे, पर सही विश्वास तो रखें कि मेरे आत्मा का तो यह देह

भी नहीं है। मेरे आत्मा का तो केवल मेरा ज्ञान स्वरूप ही है, अन्य कुछ नहीं है। इतना अगर विश्वास बना रहे तो वह पवित्रता चित्त में रहेगी कि मोक्षमार्ग आपका चलता रहता है। संसार में रहते हुए भी मुक्ति की ओर आपका कदम रहेगा। अगर यह विश्वास रहे कि मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हूँ, और किसी रूप नहीं, यह है अपनी दया की बात। यह चीज कहीं देख लिया, सुन लिया, ऐसी रूढ़ि की बात नहीं है, किन्तु अपने आपके चित्त में बसा लेने की बात है। कल्याण की, आत्मा की हित की वह बात सोचें। मेरे आत्मा का हित है तो अपने आपका ज्ञान हो, श्रद्धान हो, अपने आपमें ही मग्नता हो, इसमें मेरा हित है, बाहर कहीं कुछ देखने में हित नहीं है।

अन्तस्तत्त्वमग्नता में विपदा की समाप्ति—एक बहुत बड़ी नदी में कोई कछुवा रहता था। वह तो पानी के अन्दर रहता था। एक बार उसके मन में आया कि मैं एक बार पानी के ऊपर भी तो तैरकर देखूं। तो उसने पानी के ऊपर अपनी चोंच को बाहर निकाल लिया तो कोई पक्षी पूर्व दिशा से आकर उसकी चोंच चोंटने लगा, कोई पश्चिम दिशा से। यों हजारों पक्षी उसकी चोंच चोंटने का प्रयत्न कर रहे थे। वह कछुवा उनसे हैरान होकर अपनी-चोंच इधर-उधर डुलाता फिरता था, दुःखी होता था, पर उसे कोई समझा दे कि अरे कछुवे, तू क्यों व्यर्थ में दुःखी हो रहा है? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि जिस कला के कारण ये हजारों पक्षी तेरा कुछ भी बिगाड़ न कर सकेंगे। वह कौन सी कला है? . . . अरे जरा एक विलस्त पानी में अपने को डुबा तो दे, बस सारे पक्षी तेरा क्या बिगाड़ सकेंगे। तेरे सारे दुःख खत्म हो जाएंगे। इसी तरह हम आप जीव चर्चाएं तो करते हैं, अपने उपयोग रूप चोंच को बाहर निकाले हुए है और अपना जो उपयोग है, जानने की दशा है, लगता है ना ऐसा कि जब हम कुछ जानते हैं तो ऐसा लगता है कि मेरा मुख ही वस्तु की ओर गया है, मैं उसकी ओर अभिमुख हो गया हूँ तो हमारी उपयोग रूप चोंच हमारे ज्ञान समुद्र से बाहर चल रही है, खिंची-खिंची फिर रही है, हम अपने उपयोग को अपने इस ज्ञान स्वरूप में नहीं रमा पाते हैं, तो ऐसी स्थिति में होता क्या है? जब हम अपना उपयोग बाहर की ओर लगाये हैं, परिजनों की ओर, वैभव की ओर, तो उसमें अनेक विघ्न आते हैं। सबकी प्रवृत्ति मेरे अनुकूल हो जाए तो ऐसा हो नहीं सकता प्रतिकूल बातें बहुत कम आती हैं या यह परेशान होता है, और उस परेशानी में अपना उपयोग फिर दूसरे की ओर लगता है। अगर भैया ने कष्ट पहुँचाया तो अपने रिस्तेदारों की ओर उपयोग लगता, और अगर रिस्तेदारों ने कष्ट पहुँचाया तो वह अन्य की ओर अपना उपयोग बदल-बदल कर दुःखी रहा करता है। इसे कोई समझाए कि रे भव्य आत्मन्! तू क्यों व्यर्थ दुःखी हो रहा? अरे तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि जिसके द्वारा तू सारे दुःख एक साथ मेट सकता है। वह कला क्या है कि तू अपने आपके स्वरूप को दृढ़ता से श्रद्धापूर्वक जान। ऐसा निर्णय रख कि मेरे आत्मा का तो यह मैं ही हूँ। मेरा स्वभाव तो यह मेरा ज्ञान स्वरूप है। तू बाहर की ओर मत देख।

अपने आप में बिहार करा अपने को, उपयोग को अपने निज ज्ञानसागर स्वरूप में मग्न कर तो संकट तेरे दूर हो जाएंगे। देखिए जितने जो कुछ भी संकट हैं उनमें यह आत्मा स्वयं अपने आप निमित्त नहीं है, स्वयं ही ये कारण नहीं बने हैं, किन्तु साथ में उपाधि लगी है, कर्मविपाक है, उसका उदय है। उसके उदय में जैसे कि कर्मों में गड़बड़ी हो रही है वैसे ही यह भी गड़बड़ी कर लेता है, तो अपना उपयोग सम्भालें, कर्म की दशा को अपने उपयोग में न लगाएं, अपने आपके स्वरूप की ओर आएं तो शान्ति मिलेगी, अशान्ति दूर होगी। अधिक नहीं तो २४ घण्टे में एक आध घण्टा तो अपने आपकी दया के लिए रखना ही चाहिए, सुबह का समय, शाम का समय जहाँ आत्मा की चर्चा हो, आत्मा का चिन्तन हो, यहाँ के इन विषय कषाय के प्रसंगों में रह रहकर हित की बात कहाँ से मिल सकेगी?

आत्मदृष्टि में यथार्थ विश्राम—देखिए— बड़े-बड़े देव, सर्वार्थसिद्धि के देव ३३ सागर तक तत्त्वचर्चा में रहते हैं, वे सारा जीवन तत्त्वचर्चा में ही बिताते हैं, और भी जगह-जगह अनेक श्रीमान्, बुद्धिमान अपनी ऐसी गोष्ठी बनाते हैं कि तत्त्वचर्चा में रहते हैं। देखो जैसे कोई थका हुआ पुरुष आराम करने की बात सोचता है, वह अपने शरीर को कुछ ढीला सा करके लेट जाता है, विश्राम करता है, थकावट दूर करने के लिए विश्राम की आवश्यकता है कि नहीं, इसी तरह इस दिल की थकावट कब से करते चले आए। अपने जीवन की बात देखो— जब से जिन्दगी हुई है इस मनुष्य भव की तब से समझ लो दिल की थकावट का काम करते चले आए, विकल्प किया, मोह किया, राग किया, कल्पनाएं कीं, दिल को थकाते चले आए और दुःखी भी हो रहे, तो इस थकावट को मिटाने के लिए कुछ विश्राम की बात सोची कि नहीं? दिल को जो इतनी थकावट हुई, उससे जो अपने को तकलीफ हुई उस थकावट को दूर करने का क्या उपाय है, उपाय है मन, वचन, काय की चेष्टाएँ रोकें। मत विचारें, पर का विकल्प न करें, कुछ मत बोलें, कहीं कोई चेष्टा न करें, अपने आपके स्वरूप में मग्न होने का भाव रखें, ऐसा उपाय बनायें तो एक विश्राम मिलेगा। होता क्या है? अगर संसार के वैभव की ही इच्छा है, यहाँ वैभव में अगर मोह रखा तो अगले भव में वैभव न मिलेगा, और यहाँ उदारता है, ज्ञान है, विवेक है, धर्म बुद्धि है, त्याग बुद्धि है तो ऐसा विशेष पुण्यबंध होगा कि अगले भव में वैभव भी होगा, यानी जिस मोह रागद्वेष में, कषायों की तीव्रता में न यहाँ भी आनन्द है और न परलोक में आनन्द है ऐसे कषाय की बात क्यों की जा रही है। कुछ ध्यान देना चाहिए, कहाँ मेरे को शान्ति मिले? इस ओर अगर ध्यान दिया जाए तो आप का बड़प्पन है यह ध्यान न हो तो कोई बड़प्पन नहीं। बहुत-बहुत वैभव भी जोड़ लिया तो कुछ बड़प्पन नहीं और एक आत्मज्ञान किया, यहाँ ही रमने की बात आए, हम बड़े-बड़े ऋषी संतों के चरणों में नमते हैं, बड़े पुरुषों की आराधना में रहते हैं तो वहाँ क्या है? यह ही चर्चा है। यह ही आत्मा की बात वहाँ व्यक्त हो रही है इसलिए नमन करते हैं। सो वह बड़प्पन है। तो अपने आपको सोचो अपना बड़प्पन क्या है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान

और सम्यक् चारित्र का जो विकास है वह ही हमारा बड़प्पन है, उसे छोड़ और कुछ हमारा बड़प्पन नहीं। भले ही कोई लोक में बड़ा हो गया, राष्ट्रपति हो गया, प्रधानमन्त्री हो गया, या संयुक्त राष्ट्रसंघ का मन्त्री हो गया, कोई बड़े से बड़ा पद मिल जाए पर यहाँ शान्ति की सम्भावना नहीं, क्योंकि वहाँ तो विकल्पों का ही भार निरन्तर बना रहता है। मूंदहु आँख कितहु कछु नाहीं, मेरा कहीं कुछ नहीं, मेरा कोई सहाय नहीं। यह भी भ्रम है कि इतने लोग मुझे जानते हैं। अरे भाई जितने लोग इसे देखते हैं यह भी मैं नहीं हूँ। मैं तो इस शरीर से परे ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ, मुझे कौन जानता है? मुझे कौन समझता है? मेरे लिए किसका कौन है? लोग जानते हैं तो इस नाक, आँख, कान वाले शरीर को जानते हैं। यह शरीर मैं नहीं हूँ, अपने आपके स्वरूप निर्णय में गम्भीरता से चलें तो विदित होगा कि यह संसार का माया जाल, व्यवहार यह सब भ्रम है।

भ्रम त्याग कर निज धर्म के अभिमुख होने में ही शान्ति का लाभ—भैया! भ्रम में ही अपने आपको बनाए रखा और ऐसे ही जीवन अगर व्यतीत कर दिया तो दुर्लभ अवसर व्यर्थ ही खो दिया, जैसे किसी के हाथ रत्न लग जाए और कौवा उड़ाने के लिए फेंके और फेंकने के साथ वह समुद्र में गिर जाए, सो बड़ी मुश्किल से रत्न पाया हो और यों ही काग उड़ाने में फेंक दिया जाए तो जैसे इसे मूर्खता कहेंगे, ऐसे ही इस दुर्लभ मानव जीवन को पाकर यदि विषय कषाय मोह राग द्वेष में ही इसने सारा जीवन लगा दिया, सारा जीवन यों ही खो दिया तो उससे भी बड़ी मूर्खता और क्या है? ढंग से न रहे, ज्ञान करके न रहे, आत्मबुद्धि करके न रहे, रागद्वेष मोह में ही चित्त बनाये रहे तो मरकर मानों कीड़े-मकोड़े हो गए, पेड़-पौधे हो गए तो फिर क्या कर लिया जाएगा? क्या इनकी कोई जिन्दगी में जिन्दगी है? पेड़-पौधे आदि का कोई महत्त्व भी है क्या? वे विवश हैं मगर करें क्या? ऐसा ही भव उन्हें मिल गया। यहाँ तृष्णा लगाये हैं और यहाँ से मरकर मानो हो गए कीड़े-मकोड़े तो फिर यहाँ का क्या रहा? या यहाँ ही पाप का उदय आ जाए, निर्धनता आ जाए तो फिर क्या रहा अपना? तो भाई तृष्णा मत रखें, अपने को शान्ति में रखो। जहाँ शान्ति है वहाँ आनन्द है। जहाँ तृष्णा है वहाँ महान वेदना है। तृष्णा एक महान पाप है तृष्णा से अपने आपको दुःखी करना, इस तरह मारना है। जैसे कोई किसी को तड़फाकर मार दे, इसी तरह कोई अपने आपको क्लेश में डालकर अपने आपका घात करता है। विचार पवित्र बने, व्यवहार हमारा शुद्ध रहे, सब जीवों का हम सम्मान करें और यहाँ पाई हुई जो अवस्था है उसे हम सार न मानें, दूसरे की पर्याय को देखकर यह मानें कि यह तो पर्याय है, यह स्वयं आत्मा नहीं है, यह तो माया जाल है, नष्ट हो जाने वाला है, इसके अन्दर कोई सार की बात नहीं है। सार तो एक अपने आपमें अपने ज्ञान स्वभाव का श्रद्धान, ज्ञान और आचरण करने में है। तो आत्मदया की बात बहुत-बहुत सोचनी चाहिए। चन्द दिनों की कल्पित मौज की बात सोचने से पूरा न पड़ेगा। इससे भाई कल्याण का मार्ग आचार्य महाराज ने रत्नत्रय धर्म बताया

है। आत्म विश्वास करें, तत्त्वार्थ श्रद्धान करें, प्रत्येक वस्तु का यथार्थ स्वरूप निरखें, प्रत्येक पदार्थ अपने आप सत् है, अपने आप अपने में अपना उत्पाद व्यय करता है, अपनी दशा अपने आप बनती है, किसी का कोई परिणमन कर सकने में समर्थ नहीं है, सब स्वतन्त्र हैं, सब का अपने पर ही उत्तरदायित्व है। मेरा किसी भी अणुमात्र से सम्बन्ध नहीं है। वास्तविकता तो यह है, निज वास्तविकता पर दृढ़ रहें, ज्ञान बनाएं, श्रद्धान बनाएं। सभी को जैसे अपने नाम की इतनी दृढ़ श्रद्धा होती है कि चाहे कोई किसी काम में व्यग्र भी हो रहा हो, अथवा सो रहा हो तो भी अपने नाम की श्रद्धा का संस्कार उसके भीतर चल रहा है। चाहे कोई किसी हिसाब-किताब के काम में बड़ा व्यग्र हो रहा हो फिर भी कोई जरा सा नाम ले ले तो, झट कान खड़े हो जाते हैं। तो जैसे भीतर में नाम का संस्कार बसा है ऐसे ही मैं ज्ञानमात्र हूँ, ऐसी ही श्रद्धा का संस्कार बस जाए तो बस संसार से पार हो गए। यह ही तो उपाय बनाना है, श्रद्धान ही तो सही बनाना है। मैं मनुष्य नहीं, स्त्री नहीं, मैं व्यापारी नहीं, सेवक नहीं, मालिक नहीं, जो-जो भी बातें मान रखी हैं लोगों ने वे सब मैं नहीं हूँ, मैं तो एक सहज ज्ञानस्वरूप हूँ, मैं तो वह हूँ जैसे कि सब हैं, मैं तो वह हूँ, जैसे कि भगवान हैं, मैं इन पर्यायोंरूप नहीं हूँ, मैं ज्ञानमात्र हूँ, देखो यह श्रद्धा बना लें जिस किसी भी उपाय से। इस उपाय को बनाने में तन, मन, धन, वचन, प्राण तक भी न्यौछावर होते हों तो हो जाएं और एक यह श्रद्धा बन पाती है कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मेरा अन्य कुछ भी वैभव नहीं है, केवल ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ, मेरा मेरे से काम है, अगर यहाँ की इज्जत मिटती है तो मिटने दो, कोई कैसा ही चलता, चलने दो, मेरा उससे क्या? मेरा तो मेरे ही रत्नत्रय धर्म से पूरा पड़ेगा, तो यही एक उपाय है कि मैं संसार के दुःखों से छूट सकूं, उसी की इस सूत्र में चर्चा है, सम्यग्दर्शन क्या चीज है? सम्यग्दर्शन की कितनी अपूर्व महिमा है। जिसे सम्यक्त्व हो गया वह नियम से सिद्ध भगवान बनेगा। सबके चित्त में यह रहती है कि मैं यह बनूँ, अमुक बनूँ, करोड़पति बनूँ, राष्ट्रपति बनूँ, ऐसी सब बातें मन में रहती हैं। ये सब बातें बेकार हैं, पहले एक ही प्रोग्राम बना लो कि मैं तो सिद्ध भगवान बनूँ, और कुछ न बनूँ, जिस किसी भी उपाय से बनूँ, एक ही बात चित्त में बसावें कि मुझे तो सिद्ध होना है, शुद्ध होना है, मैं जैसा हूँ वही मात्र रह जाऊँ, यह मैं चाहता और कुछ नहीं चाहता, इतनी दृढ़ता लावें। भले ही लोग मुझे पागल कहें, कहने दो, वे स्वयं पागल हैं, जिस बात को वे नहीं समझते। भले ही लोग कायर कहें, कहने दो, वे स्वयं कायर हैं। १४ गुणस्थानों में एक छटवां गुणस्थान प्रमत्तविरत है, मुनि तो हो गए अभी प्रमाद है, कहीं यहाँ प्रमाद का अर्थ आलसी से न लेना कि बस पड़े रहे, किन्तु दीक्षा दे रहे, उपदेश दे रहे यह है प्रमाद। यह पुरुषार्थ नहीं है मोक्ष का, यह प्रमाद है, कायर बन रहे। तो प्रमाद न रहे वह दशा क्या है? आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमण। यानी मोक्षमार्ग का काम जहाँ न चले वह प्रमाद है, कायरता है। बेकार बात है और मोक्षमार्ग में कदम बढ़ता रहे, वही हमारा पौरुष है।

संसारतारक पौरुष के लिए अनुरोध—देखिए जो कहते हैं कहने दें। व्यर्थ के विचार क्यों लाते कि मैं काम न करूँ तो कैसे काम होगा? ऐसा ही सभी लोग विचार लें तो फिर संसार का काम कैसे चलेगा? अरे भाई जैसे भाड़ में चने भूने जाते हैं तो उससे सभी चने तो नहीं उछल जाते। कोई बिरले ही चने उछल पाते हैं। तो यो क्यों चिन्ता करते? वे अपनी एक उद्दण्डता के अपराध को ढांकने के लिए कहते हैं कि वाह सभी लोग अगर व्रत नियम आदि में लग जाएं तो फिर संसार कैसे रहेगा? अरे सबकी क्यों सोचते? अपनी सोच लो। क्या करना है, यहाँ तो धर्म में लगते-लगते भी, धर्म में चलते-चलते भी पिछड़ते रहते हैं, मुश्किल से सफल हो पाते हैं, ऐसा एक वासना संस्कार जीव में लगा है। तो एक धर्म ही शरण है। अपने आत्मा की बात को समझिए। मेरा शुद्ध यथार्थ ज्ञान स्वरूप, ज्ञानमात्र सदा एक स्वरूप रहने वाला जो एक सामान्य ज्योति स्वरूप है, उसको यह समझना कि यह मैं हूँ, बाकी सब मैं कुछ नहीं हूँ, यह ही मेरा वैभव है और कुछ मेरा वैभव नहीं, ऐसी अपने आपकी बुद्धि रखना, ऐसी श्रद्धा रखना, बस यह ही संसार से पार कर देने वाला पुरुषार्थ है। तो ऐसे स्वरूप का सही परिचय पालें, उधम छोड़ दें, उद्दण्डता छोड़ दें। उधम क्या हैं? अनेक प्रकार की खटपटें बनाना, बाह्य पदार्थों का संग्रह विग्रह करना, बाह्य पदार्थों की तोड़ फोड़ करना आदि ये सब उधम हैं। जैसे कोई उधमी बालक स्कूल में बड़ी खटपटें करता है। स्कूल के टेबुल ब्रेन्च आदि को तोड़ता है, बड़ा हो हल्ला मचाता है तो यह उसका ऊधम हुआ। इस उधम के फल में वह बालक मास्टर द्वारा पीटा जाता है ठीक ऐसे ही जो जीव खटपटें करता है, बाह्य पदार्थों के संग्रह विग्रह आदि के नाना खटपटों में पड़ता है उसके लिए ऋषिजनों की आज्ञा है कि तुम निजमें रहो, किसी तरह की खटपट न होगी, पर यह मोही अज्ञानी प्राणी उन ऋषिजनों की आज्ञा का उल्लंघन करता है, बाह्य-पदार्थों में अपना उपयोग लगाता है तोड़ फोड़ का भाव करता है तो उसका फल क्या है कि यह चिरकाल तक बहुत ही अधिक सांसारिक क्लेश पाता है।

आत्मा के अभेद परिणाम में निर्देश स्वामित्वादि घटित न हो सकने से पुद्गल श्रद्धान में सम्यक्त्वलक्षणत्व की आशंका होने का समाधान—मोक्षशास्त्र के दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण किया जा रहा है। **'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'** तत्त्वसहित अर्थ के श्रद्धान का नाम सम्यग्दर्शन है, अथवा वस्तु स्वरूप सहित पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस लक्षण को सुनकर और आगे के कहे जाने वाले सूत्रों का स्मरण करके शंकाकार एक आशंका रख रहा है कि आगे पदार्थ के परिचय की विधि बताई गई है, यह कि निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति व विधान इन उपायों से वस्तु का ज्ञान होता है, जैसे एक इस चौकी को जानना है तो चौकी यह निर्देश है, चौकी का स्वामी कौन है? यह काठ। बाह्य साधन क्या है? हथियार, औजार। अधिकरण क्या है? जिस जगह बनाया हो वह जगह, यह है चौकी का आधार। कितनी देर तक टिकेगी आदि उपायों से पदार्थ का

होता है अब जब कि सम्यग्दर्शन को, आत्मपरिणाम रूप कह दिया और आत्मा से वह है अभिन्न दर्शन, यानी सम्यक्त्व आत्मा से अभिन्न है, आत्मा का ही परिणमन है तो आत्म परिणाम मात्र सम्यग्दर्शन है और वह है अभेद। तो फिर उसका परिचय कैसे बनेगा? निर्देश, स्वामित्व आदि बातें इस सम्यग्दर्शन के साथ कैसे घटित होंगी।? इससे मालूम होता है कि सम्यग्दर्शन का जो लक्षण किया गया– तत्त्वार्थ श्रद्धान, वह पुद्गल के श्रद्धान के लिए ही है। आत्मा की उसमें कोई बात नहीं। ऐसी कोई शंकाकार शंका कर रहा है। यदि आत्म श्रद्धान का नाम सम्यक्त्व कहा जाता तो उसमें निर्देश, स्वामित्व, सत्, सँख्या आदि का परिचय नहीं बन सकता। इस शंका के समाधान में कुछ भेद दृष्टि से सोचना पड़ेगा। निर्देश स्वामित्व आदि के परिचय की बात बताई गई है वह आत्म परिणाम में भी लग जाता है। सम्यग्दर्शन आत्मा का एक अभेद परिणाम है, उसमें भी ये सब प्रक्रियाएं घटित हो जाती हैं। जैसे सम्यग्दर्शन का निर्देश यह है कि तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है, लो निर्देश बन गया। सम्यग्दर्शन के स्वामी हैं नारकी, तिर्यंच, मनुष्य, देव आदि चारों गतियों के जीव व सिद्ध। साधन क्या है? अन्तरङ्ग साधन तो आत्मा का पूर्व परिणाम है और बाह्य कारण ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है आदि रूप से सम्यग्दर्शन में भी ये प्रक्रियाएँ घटित हो जाएंगीं। इससे यह भी शंका न करना कि तत्त्वार्थ श्रद्धान केवल मनुष्यों के लिए कहा गया। सबके लिए कहा गया। प्रयोजन आत्म तत्त्व से है, उसको प्रधान रूप से देखना, यों वस्तु स्वरूप से सहित पदार्थ का, आत्म स्वरूप का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

सम्यक्प्रकृत्युदयकी सम्यग्दर्शनोत्पत्तिसाधनता की आशंका का समाधान—निर्देश, स्वामित्व, साधन आदि की कुछ घटनाएँ सुनकर एक आशंका और आ सकती है कि यह जो बताया गया कि मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र है, सो हमें तो ऐसा विदित होता है कि मान लो यह भी है, लेकिन कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम अथवा सम्यक्त्व प्रकृतियों का उदय भी कारण है। शंकाकार की शंका यह बात अभिप्राय में होकर है कि सम्यग्दर्शन जैसे मोक्ष का कारण है तो सम्यग्दर्शन के साथ कहीं सम्यक् प्रकृति का उदय भी चलता है। सम्यक्त्व प्रकृति में वेदक प्रकृति का उदय चलता है। सम्यक् प्रकृति चल रही तब मोक्ष मार्ग चल रहा। तो मोक्ष का कारण सम्यक्प्रकृति का उदय भी है। फिर क्यों कहा जा रहा कि सम्यक्त्व मोक्षमार्ग है? यहीं सम्यक्प्रकृति कर्म का उदय भी मोक्षमार्ग है। ऐसी एक आशंका की गई है। समाधान स्पष्ट है कि शंकाकार सम्यक्प्रकृति के लक्षण से अनभिज्ञ है। सम्यक्प्रकृति उसे कहते हैं जिसके उदय से सम्यक्त्व में चल मलिन अगाढ़ दोष उत्पन्न हों। यद्यपि इस प्रकृति के उदय में इतना सामर्थ्य, अनुभाग नहीं है कि सम्यग्दर्शन का घात कर सके तो भी इसका कार्य सम्यग्दर्शन नहीं, किन्तु दोष है! सम्यक्त्व का घात न करे अत्यल्प दोष मात्र का कारण होने से इसका नाम सम्यक् पड़ा है। सम्यक्त्व का साधन सम्यक्त्व घातक प्रकृतियों का उपशम क्षय क्षयोपशम कहा है सो उपशम व क्षय के प्रति तो

आशंका नहीं, किन्तु क्षयोपशम के प्रति ही आशंका उठ सकती है। सो वहाँ यह समझना कि उपशम व क्षय तो सम्यक्त्व का साधन है। किन्तु साथ जो सम्यक्प्रकृति का उदय चल रहा है वह दोष का कारण है। इसी कारण क्षयोपशम को वेदक सम्यक्त्व का साधन कहा है सम्यक्त्व का नहीं। अल्प दोष पर ध्यान न दिया जाने के कारण विशेष विश्लेषण की विवक्षा न होने से उपशम व क्षय की भांति क्षयोपशम को भी सम्यक्त्व का साधन कहते हैं।

भूल को भूल न समझ सकने की विडम्बना—आत्मा पर जो एक अनादिकालीन वासना का बुरा संस्कार जो लग रहा है, देखिए कितनी बड़ी आफत इस जीव पर पड़ी है तिस पर भी यह आफत नहीं समझता तो इससे भी बड़ी आफत तो यह है भूल भी कर रहे और भूल को भूल नहीं मान रहे और भूल को चतुराई समझ रहे तो इससे बढ़कर मूढ़ता और क्या हो सकती है? एक गाँव में कोई बढ़ई रहता था। उसका घर गाँव में सबसे किनारे शुरू में पड़ता था। उसके द्वार से दूसरे गाँवों को जाने के लिए रास्ता भी था। वह बढ़ई बड़ा चालाक था। उसके द्वार से जो भी मुसाफिर निकलता था उसे वह गलत रास्ता बता देता था? मानो रास्ता गया तो पूरब को और वह पश्चिम को बता दिया करता था। और साथ ही यह भी कह दिया करता था कि देखो इस गाँव के सभी लोग मजाकिया हैं, उनके कहने में न आ जाना वे सब तुम्हें उल्टा रास्ता बतावेंगे। ऐसी उस बढ़ई की आदत थी। तो एक बार कोई मुसाफिर उसके द्वार से निकला, बढ़ई से रास्ता पूछा तो था वह गाँव पूरब दिशा में और बंता दिया पश्चिम की ओर। जब वह आगे बढ़कर गाँव के भीतर पहुँचा तो सोचा कि जरा लोगों से रास्ता पूछकर देखें तो सही कि वह बढ़ई सही कहता था या झूठ सो जब उसने पूछा तो सभी ने पूरब दिशा की ओर बताया। सोचा कि देखो बढ़ई ठीक ही कह रहा था, सचमुच गाँव के सबलोग मजाकिया हैं। सो वह मुसाफिर उल्टा ही रास्ता चलता गया, किसी की बात न मानी। जब वह आगे के किसी गाँव में पहुँचा और वहाँ अपने निर्दिष्ट गाँव का रास्ता पूछा तो उन्होंने बताया कि देखो उस गाँव का रास्ता तो तुम पीछे ही छोड़ आए। पीछे के गाँव से पूर्व दिशा की ओर वहाँ से रास्ता जाता है। आखिर उस मुसाफिर को पुनः वापिस लौटना पड़ा, हैरान होना पड़ा। तो मतलब यह है कि जैसे कोई भूल करे और उस भूल को भूल न समझे, सच्चाई की बात माने तो जैसे वह बड़ी मूढ़ता है इसी तरह हम आप पर रात दिन विपत्तियाँ छा रही हैं, विकल्प उठते हैं, पर द्रव्य के विकल्प चलते हैं, बाह्य पदार्थों की धुन रहती है, यश, प्रतिष्ठा आदि की बात चित्त में आ जाती है। बाहरी पदार्थों के राग, बाहरी पदार्थों के सम्बन्ध की बुद्धि यह कितनी बड़ी भारी विपत्ति है। तो आकुलता का नाम ही तो विपत्ति है। अब यहाँ देखो कि हम आपके जो रात दिन मानसिक चर्या चलती है इस चर्या में आकुलता कितनी बसी रहती है। आकुलता तो रहेगी ही। आकुलता का साधन, धाम, उपाय, आधार तो एक निज सहज ज्ञान स्वरूप आत्मा की बेसुधी है। अपने आपका यदि यह विश्वास हो कि मैं तो ज्ञानज्योतिमात्र हूँ इसके अतिरिक्त

मेरा और कोई वैभव नहीं, और मैं कुछ नहीं, इस मुझ ज्ञानस्वरूप आत्मा को कोई दूसरा पहिचानने वाला नहीं, किसी से मेरा मतलब नहीं। यह तो इस प्रकार एक ध्रुव अवस्थित है, जिसकी निगाह में रहकर वेदान्तियों ने अपरिणामी, अद्वैत, एकस्वरूप बाह्य कह डाला है, है यह द्रव्यदृष्टि का एकान्त।

परमब्रह्म स्वरूप का दिग्दर्शन—परमब्रह्म के अपरिणमत्व की बात दृष्टि से ठीक है, लेकिन वस्तु का सत्त्व सर्वथा द्रव्यदृष्टि से जाना गया मात्र नहीं हैं। इससे अन्तर आ गया। मगर जिसको हम शरण समझना चाहते हैं वह तत्त्व है एक तुरीययाद, जैसा कि वेदान्तियों ने माना है। वेदान्त में जागृति, सुषुप्ति, अंतः प्रज्ञ और तुरीयवाद इन चार की व्यवस्था की। जागृति के मायने है अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि। जो व्यवहार में जग जाए, बाहरी पदार्थों में जो सावधान बना रहे उसे कहते हैं जागृत। यद्यपि धर्मशास्त्र में सोया हुआ कहते हैं अज्ञानी को और जागृत हुआ कहते हैं ज्ञानी को, लेकिन यहाँ यह विवक्षा है कि जो व्यवहार के काम में जगा हुआ है वह है जागृत। तो जागृत कहा बहिरात्मस्वरूप को और सुषुप्ति कहा अन्तरात्म स्वरूप को। जैसे सोये हुए को देखते हैं कि उसकी कोई चेष्टा नहीं होती है इसी प्रकार जो व्यवहार में सोया है उसे कहते हैं सुषुप्ति, यह है एक ज्ञानी जैसी दशा। यहाँ वेदान्त की सिद्धान्त विधि से बात कही जा रही है। और अन्तः प्रज्ञ है एक सर्वज्ञता, प्रभुता। एक इस आत्मा ने प्रभुता पा ली। और तुरीययाद है, जो इन तीनों से निराला है। तीन में जिसका अन्वय है फिर भी इन तीन रूप में नहीं है किन्तु अपरिणामी है, ध्रुव है, वह है तुरीययाद। अब देखिए—क्या अन्तर आया बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा और आत्मस्वभाव इन चारों के वर्णन में क्या अन्तर आया? अन्तर तो आया केवल इस दृष्टि से वहाँ ये चारों भिन्न हैं। तुरीययाद कोई निराला ही है और ये तीन जीव के परिणमन हैं। यहाँ एक द्रव्य है चेतन और ऐसे अनेक चेतन हैं। सब चेतन का स्वरूप एक समान है किसी भी चेतन के बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा ये परिणमन होते हैं। फिर भी चेतन इन तीन में ही रहता है, तीन से निराला कहाँ बाहर जाएगा? किसी न किसी अवस्था में यह रहता है, यह है एक वस्तु स्वरूप। उसकी दृष्टि नहीं हुई।

सहजस्वरूप के अपरिचय में संसार जाल—अज्ञान से संसार में रुलना चल रहा है। परमब्रह्म का दर्शन चहुगति दुःखहारी, ऐसा जो अपने आप में विराजमान शरणभूत अपना सर्वस्व सार जो एक अन्तः भगवान आत्मा है, उसका प्रेम नहीं, उसकी रुचि नहीं, उसकी धुनि नहीं, उसकी चर्चा नहीं सुनी, उसका अनुभव नहीं किया, उसका परिचय नहीं हो रहा और हो रहा है बाहर के इस जड़ भौतिक पुद्गल का परिचय, जो दिख रहे उनको ही सर्वस्व माना जा रहा है, बस यह ख्याल होने से ऐसा अभिप्राय जगने से आकुलता ही उत्पन्न होती। वह मेरा धाम नहीं जो मेरा स्वरूप नहीं, जो वास्तविक परमार्थ द्रव्य नहीं उसका कोई शरण गहे तो

उसको तो चोट लगेगी, आकुलता होगी। जो माया जाल रूप है उसमें कोई पड़े, गिरे, उसमें लगाव रखे तो वह तो पतित होगा। बच्चे लोग कभी-कभी ऐसी भी बच्चों से मजाक कर बैठते हैं कि बिना बुना हुआ पलंग हो, जिसमें केवल चार पाएं हों, चारों पाटी सिरे हों, सिर्फ रस्सी या निवाड़ से बुना हुआ न हो, खाली हो, उस पर एक चद्दर खूब तानकर लगा दी जाए और पाए से बड़े कच्चे धागे से बाँध दिया जाए और किसी बच्चे से कहा गया कि आइये महाशय जी इस पलंग पर बैठिए—जब वह अचानक ही उस पर बैठ जाएगा तो उसके सिर और पैर एक हो जाएंगे यानी वह अपने पैरों को नमस्कार करने लगता है। देखिए धोखे वाली चीज में बड़ी दृढ़ता से रुचिपूर्वक बैठने से क्या हालत हुई। इसी प्रकार यह सब माया जाल जो कुछ दिख रहा है। इस पर कोई शान से, रुचि से, प्रेम से लगाव रखे, उपयोग रखे तो उसकी दशा क्या होगी? उसकी बरबादी ही है, देखो यह सब माया जाल है। जो कुछ दिख रहा है यह क्या परमार्थ है? परमार्थ तो वह है जो शाश्वत है जो कभी मिटता नहीं है, इसमें जो एक-एक अणु है वह है परमार्थ, और जो ये दिखने वाले स्कंध हैं, मायारूप हैं, अभी मिलकर ऐसा दिख रहा है, किसी काल में बिछुड़ जाएगा। तो जो दिखता है वह सब माया है, धोखा है, उससे मेरे आत्मा का हित नहीं है, लेकिन प्रायः करके सभी मनुष्य एक इस मायाजाल में लगे हुए हैं। इसे ही अपना शरण समझते हैं, तो देख लो क्या हालत हो गई।

भूल को भूल न समझ सकने से होने वाली दुर्दशा का दिग्दर्शन—भूल को भूल न समझने वाले की क्या दशा होगी? यह समय बताता है। मरण होगा, इसके बाद जैसी परिणति का उपयोग बनाया उसके अनुसार गति होगी, वहाँ जन्म लेना होगा यह बड़ी दुर्दशा है। आज सुन्दर अवसर पाया, पञ्चेन्द्रियाँ श्रेष्ठ हैं, श्रेष्ठ जाति मिली है, सभी श्रेष्ठ चीजें मिली हुई हैं तो इस श्रेष्ठता का उपयोग क्यों न कर लिया जाए? यदि विषय कषायों में ही रमा जाएगा जो कि पशु-पक्षी कीड़े-मकोड़े को भी मिल सकते, इन विषय कषायों में ही रमा जाएगा तो दशा बुरी है। इससे चेतना चाहिए। श्रद्धा करें आत्म तत्त्व की। मैं क्या हूँ, इसके निर्णय में सारा कल्याण बसा हुआ है। बात तो छोटी सी है, विडम्बना बहुत बड़ी है। कोई यह कहे कि इस जीव ने ऐसी क्या गलती की कि इसको पेड़, पृथ्वी, जल, अग्नि, कीट-मकोड़ा, पशु-पक्षी आदि नाना दशाओं में पैदा होना पड़ रहा है? इस जीव को इतना बड़ा दण्ड किस अपराध पर दिया गया? तो देखो जितने बड़े झगड़े होते हैं उन झगड़ों का मूल यानी झगड़े की जड़ बहुत छोटी हुआ करती है। आप झगड़ों पर दृष्टि डालें। जैसे मानों भाई-भाई में बंटवारा हुआ और उनमें इतनी लड़ाई हुई, झगड़ा हुआ, बात बढ़ी, कोर्ट कचहरी हो गई और बरबादी दोनों की हुई। फिर भी वह सब कुछ समझने में नहीं आ रहा, वे दोनों बड़े गरीब हो गए। उन दोनों से अगर पूछा जाए कि भाई तुम दोनों के इतने बड़े झगड़े का मूल कारण क्या है? तो बतायेंगे कि इसने मुझे मारने का षड्यन्त्र रचा था? क्यों रचा था? (सब सुनते

जाइए) अन्त में कोई क्षुद्र ही बात निकलेगी जैसे कि एक फिट चबूतरे की जगह थी उस पर लड़ाई हुई थी कि यह मुझे मिले, देखो उतने बड़े झगड़े की जड़ निकली जरा सी। घर में भी जब सास बहू में, देवरानी जेठानी में झगड़ा चलता है तो उसमें भी मूल बात बहुत छोटी होती है, गाली हुई फिर पार्टी बनी, फिर मार पीट हुई, फिर बहुत बड़ी बात बढ़ गई, पर मूल में बात कितनी थी? तो कहेंगे कि मूल में बात इतनी थी कि सास ने कहा कि जरा पानी ला दो, बहू ने कहा ला दूँगी। बहू तुरन्त न लायी, वह किसी काम में लगी रही, बस यह झगड़े की जड़ बन गई। इसी तरह यहाँ भी देखो कि इतना बड़ा जो झगड़ा बन गया—पशु-पक्षी, कीट-पतंगा, आदि की नाना पर्यायों में पैदा हो रहे, दीन हीन बन रहे, तो ऐसे जो अनेक प्रकार के झगड़े लग गए—मरे जिन्दा हुए, आकुलताएं हुई, इष्ट अनिष्ट आदि की नाना विडम्बनाएं हुईं..... तो इनकी जड़ क्या है। यह जीव संक्लेश परिणाम करता है ना? तो संक्लेश क्यों करता है? संक्लेश यों होता है इस जीव को कि इसने बहुत परिग्रह बाँध रखा है। बहुत जायदाद बना रखा है इसलिए संक्लेश होता है। इतना बड़ा भारी परिग्रह क्यों बनाया? इसलिए कि अज्ञानी के विकल्पों में इसके बिना कुछ आराम, चैन नहीं मिलती शान नहीं रहती। तुम्हें इतने आराम, शान आदि की क्यों जरूरत पड़ी? .....अजी जब घर में रह रहे तो चाहिए ये सब बातें? घर में क्यों रह रहे? .....अजी भूख प्यास आदि की वेदनाएँ चल रही हैं, शरीर साथ लगा है इसलिए घर में रह रहे। .....शरीर साथ क्यों लगा? .....इसलिए कि इस शरीर को मान लिया कि यह मैं हूँ, देखो मूल में कितनी गलती आयी? न किसी को सताया, न मारा, न पीटा, न कुछ किया, केवल यह भाव किया कि यह शरीर मैं हूँ। भला सुनने वाले यह सोचेंगे कि यह तो कोई बड़ी गलती नहीं मालूम होती फिर क्यों इतना बड़ा दण्ड दिया गया। बस इतनी भर ग़लती की कि इस शरीर को मान लिया कि यह मैं हूँ। इतना भर मानने का दण्ड इतना बड़ा तो न मिलना चाहिए। .....अरे भाई यह तो बहुत बड़ी गलती है, यह तो बड़े भारी पाप की बात है, शरीर में अहंबुद्धि करना। देखने में ऐसा लगता कि यह कोई ज्यादा कसूर नहीं है। कोई ज्यादा गड़बड़ी नहीं की, बस इतना ही सोचा कि यह मैं हूँ। .....हाँ सोचा तो जरूर मगर यह सोचने का फल इतना बड़ा मिला कि ८४ लाख योनियों में, चार गतियों में इसे जन्म मरण करना पड़ रहा है और यह दुःखी हो रहा है। तो समझिए यह मिथ्यात्व कितना बड़ा पाप है, शरीर में आत्मबुद्धि करना कितना बड़ा पाप है, जिसका फल यह संसार है।

अनात्मतत्त्व की अविश्वास्यता—भैया जो समागम पाया इनमें विश्वास करके मत रहो, इनमें विश्वास करने के फल में खुद को ही संसार के महान कष्ट भोगने पड़ेंगे। इस पाए हुए समागम में मोह मत करो। समागम भी क्या चीज है? सब माया रूप है। पुद्गलस्कंध मायारूप है, और जो घर में लड़का लड़की आदि उत्पन्न होते हैं वे सब भी मायारूप हैं। दो या और अधिक अनेक द्रव्यों का मिलकर जो एक ठाठ सा बनता है वह उसका रूप है जो

बिछड़ जाएगा, वह मायारूप है। इस मायारूप चतुर्गति भ्रमण से इस कष्ट को बनाया किसने? इसने ही अपने गलती से बनाया। इसे मिटायेगा कौन? खुद ही अपनी गलती के सुधार से। बच्चे लोग रेत में घर बनाते हैं। पैर में कुछ मिट्टी रक्खी, उसे दोनों हाथों से थपथपाया, पैर को धीरे से निकाल लिया तो वह भदूना एक घर जैसा बन गया। अब उसे देखकर बच्चे लोग बड़े खुश होते हैं..... मेरा घर अच्छा बना, मेरा ऊँचा बना.....। अगर कोई दूसरा बच्चा उस भदूने को लात मारकर मिटा दे तो वह बच्चा उससे लड़ता है, बड़ा दुःखी होता है। इसी तरह यहाँ की बात है। अपना माया जाल बनाते हैं, अपना परिणाम बनाते हैं, उसे कोई मिटा दे तो उस पर आप कितना लड़ते हैं। वह बालक जिसने अपना कल्पित घर बनाया था वह यदि खुद ही लात मारकर मिटा दे तो उससे तो वह प्रसन्न ही रहता हैं। उसमें उसे रंच भी दुःख नहीं होता। इसी तरह जो ज्ञानी जीव है इसने पहले यह घर बनाया, शरीर बनाया, ठाठ बनाया और अपने ही ज्ञान बल से उसी पर लात मार दे तो वह तो प्रसन्न रहता है, और अज्ञानी घर बनाए तो वह घर तो मिटेगा ही, चाहे खुद मिटे, चाहे कोई लात मार कर मिटा दे, तो उसके मिटने पर वह दुःखी होता है, और जो खुद लात मारकर मिटा देता है वह प्रसन्न रहता है। तो खुदका बनाया हुआ जो घरबूला यह शरीर, ये समागम, ये चीजें, यह भीतर का राग, जो इन चीजों में राग बनाया, जो इन चीजों में विकल्प बनाया, लगाव बनाया, मोह बनाया, ऐसा लगाव यह खुदने बनाया, भीतर का घर खुद ने बनाया, तो खुद ही मिटायेगा तो प्रसन्न हो जाएगा और खुद न मिटा सके तो फिर दुःखी होना पड़ेगा। तो कुछ विवेक करना चाहिए। और मात्र ऐसा धर्म कि पूजा कर ली। आज भी कर ली, रोज पढ़ते हैं, आज भी पढ़ लिया, एक दिनचर्या सी बना ली, ऐसा जानकर पढ़ना सुनना, ऐसे धर्म से तो वह लाभ न मिल पाएगा जो लाभ इस आत्मा को अनाकुलता की ओर ले जा सकता है। श्रद्धान करना होगा कि यह बात मेरे लिए ही तो कही गई है। अभी देखो यहाँ बहुत से श्रोता बैठे हैं, यहाँ हम कोई ऐसा वर्णन करने लगें कि परस्त्री सेवन बड़ा पाप है, कलंक है, महा दुष्ट है, महा अधम है, नीच है ऐसी बात का अगर वर्णन करने लगें और यहाँ कोई परस्त्री गामी पुरुष बैठा हो तो वह तो उस वर्णन को सुनकर यही सोचेगा कि आज तो महाराज बस हमही को फटकार रहे हैं, इन्हें हमारा कुछ पता हो गया है क्या? इन्हें न जाने क्या हो गया सो आज हमही-हमही को कह रहे हैं, यों वह अनेक प्रकार के विकल्प बनायेगा। यह विकल्प बुद्धि की बात चल रही है, यह महा अनर्थ है, असार है, दुःखदायी है, बरबाद करने वाला है, इसमें अज्ञान है, मूर्खता है। राग कर रहे, विकल्प कर रहे, कड़े शब्दों में अगर बोलें तो ऐसा न सोचना कि आज तो महाराज हमारे लिए कह रहे, और अगर हम सभी की बात कह रहे तब फिर क्यों नहीं समझ पाते कि यह सब मेरे लिए कहा जा रहा है? सचमुच मुझ पर विडम्बना है, क्लेश है, इसे मिटाना चाहिए। इसका उपाय सोचना चाहिए। तो भाई कल्याण मार्ग में चलना चाहते हो तो सबसे पहला कदम यही है कि इस पाए हुए समागम में सुख

का विश्वास मत करो।

साधारण विवेक से हित का प्रारम्भ—यहाँ बतला रहे हैं कि सम्यग्दर्शन न भी हुआ हो, ज्ञान न भी हुआ हो, तत्त्वाभ्यास न भी हुआ हो तो भी अपने जीवन की घटनाओं के आधार पर इतनी श्रद्धा की जा सकती है कि पाया हुआ समागम बेकार है। असार है। भिन्न है, नष्ट हो जाने वाला है इतना कौन नहीं जान सकता? नहीं अधिक ज्ञान है, नहीं सातों तत्त्वों का श्रद्धान है, नाम भी नहीं सुना, थोड़ा भी कोई विवेक करे तो इतना जान सकता कि ये पाए हुए समागम अनर्थ हैं। इन समागमों से आत्मा की कोई भलाई नहीं है। तो यह असार है इतनी बात मन में लाएं। फिर आगे बढ़ें। सार क्या है, शरण क्या है? अन्तस्तत्त्व की बात निरखिए अपने आप सहज अनादि अनन्त अन्तः प्रकाशमान है, विराजमान है, यह ही मैं हूँ, अन्य नहीं हूँ। यह श्रद्धा हुई हो, फिर कोई उसे गाली दे तो भी वह बुरा न मानेगा। इसकी गाली मेरे में नहीं आती। मैं तो अमूर्त हूँ। इससे मेरा क्या सम्बन्ध? बल्कि वह विकल्प यों करेगा उस पर दया करने का। कैसा अज्ञान छाया है कि वह अपना सत्यस्वरूप नहीं समझ पा रहा है, बाह्य में फंसा है, बड़ी विपत्ति में है, बड़ा कष्ट पा रहा है। जिससे आकुलित होकर उसकी कुछ चेष्टा हो रही है। वह तो दया की बात सोचेगा। बुरा न मानेगा। यहाँ भी देखो—जो बड़े पुरुष होते हैं वे लोगों द्वारा बोले गए अपशब्दों पर विशेष ध्यान नहीं देते, बल्कि उन पर दया करते हैं। तो जो परमार्थ बड़ा है वह तत्त्वज्ञानी पुरुष, अपने आत्मा के विशुद्ध अन्तः स्वरूप की श्रद्धा करने वाला पुरुष उस पर दूसरों की गाली, दूसरों के अविनय के व्यवहार, दूसरे के प्रतिकूल व्यवहार उनका उस पर कोई प्रभाव नहीं। जो होता है सो हो। वह देख रहा है कि जो होता है सो भला, क्योंकि अगर न हो तो पदार्थ की सत्ता न रही, पदार्थ तो उत्पादव्यय ध्रौव्यमय है तो उसमें परिणमन तो हुआ ही करेगा। तो परिणमन हो रहा है यह तो सत्त्व की रक्षा के लिए है, न परिणमन हो तो सत्त्व नहीं रह सकता, इसलिए जो हो रहा है वह ठीक, वही हो रहा। यह तो एक बात इस दृष्टि से कहा और लोक दृष्टि से देखो—जो होता है सो ठीक, भले के लिए। आखिर भूले लोग कहने लगते हैं ना कि नरक जाना भी अपने भले के लिए है, और इस दृष्टि से सोचें, जो पाप कमाया था वे पाप मेरे बिखर जाएंगे तो देखो भला हुआ ना? ऐसा होता है कि नरक से निकल करके कोई भी नारकी पेड़-पौधा आदि में न उत्पन्न होगा, वह पञ्चेन्द्रिय में ही उत्पन्न होगा तो देखिए वह भी भले के लिए हुआ। तो हर बात में बात ढूँढनी है अपने भले के लिए। अगर किसी को हर बात में भलापन दिखता है तो यह उसकी समझदारी हुई, विवेक हुआ। एक राजा था और एक मन्त्री। मन्त्री की ऐसी आदत थी कि वह हर बात में यही कहता था कि यह भी भले के लिए यह भी भले के लिए। तो एक बार वह राजा और मन्त्री कहीं घूमने जा रहे थे। रास्ते में राजा ने पूछा कि मन्त्री जी बताइये—मेरे जो ६ अंगुलियाँ हैं, लोग मुझे छंगा कहते हैं सो कैसा? तो मन्त्री ने कहा—महाराज यह भी अच्छा है, भले के लिए है सो राजा

को गुस्सा आया, सोचा कि देखो कहाँ तो मैं छंगा और यह कहता कि यह भी भला सो मन्त्री को राजा ने एक कुवें में ढकेल दिया। खैर वह कुवें में पड़ गया, जिन्दा रहा। उधर वह राजा आगे बढ़ता गया। वहाँ एक घटना यह घटी कि किसी दूसरे देश में नरमेध यज्ञ हो रहा था सो अग्नि में होमने के लिए कुछ पंडालोग किसी सुन्दर नर की खोज में निकले हुए थे। उन्हें वह राजा दिख गया। वह राजा सुन्दर, हृष्टपुष्ट तो था ही, सो पंडालोग उसे पकड़कर ले गए, अग्नि के पास एक खूंटे में बाँध दिया। अग्नि में होमने को ही थे कि किसी को यह दिख गया कि इसके तो ६ अंगुलियाँ हैं। सो कहा—अरे पुरोहित जी ठहरो, यह पुरुष हवन-कुण्ड में होमने लायक नहीं है, इससे तो यज्ञ खराब हो जाएगा। सो दो-चार डंडे मारकर वहाँ से भगा दिया। राजा बड़ा खुश होता हुआ उसी जंगल में आया। वह सोच रहा था कि देखो मन्त्री ठीक ही कह रहा था कि छंगा होना भी भले के लिए है। यदि मैं छंगा न होता आज अग्नि में होम दिया जाता। झट वह राजा मन्त्री के पास गया, उसे कुवें से निकाला और अपना सारा हाल कह सुनाया। बाद में राजा ने उस मन्त्री से पूछा कि बताइये मन्त्री जी हमने आपको कुवें में ढकेल दिया सो कैसा रहा? तो मन्त्री बोला— यह भी भले के लिए रहा। .....कैसे?—सुनो, आप तो बच गए छंगा होने से, यदि आप मुझे कुवें में न ढकेल देते तो वे पंडालोग मुझे ही पकड़ ले जाते और मैं अग्नि में होम दिया जाता, इसलिए वह भी भले के लिए हुआ। तो भाई हर जगह हम अपने भले की बात निकाल सकते हैं।

मोक्षमार्ग की आत्मपरिणामरूपता—मोक्ष का मार्ग क्या है? इसका उत्तर प्रथम सूत्र में आया था कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व मोक्ष का मार्ग है, सम्यग्दर्शन क्या है? इसका उत्तर द्वितीय सूत्र में कहा गया है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, मोक्ष का कारण जो सम्यग्दर्शन है वह आत्मा का परिणाम है, इस बात को सुनकर शंकाकार ने यह शंका की थी कि मोक्ष का कारण जैसे सम्यक्त्व नामक आत्मपरिणाम को कहते हो इसी तरह मोक्ष का कारण सम्यक्त्व नामक प्रकृति के उदय को भी कहो। देखो— क्षयोपशम सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का उदय है, फिर भी सम्यक्त्व बना हुआ है, इसका उत्तर दिया गया था कि मोक्ष का कारण तो आत्मपरिणाम ही विवक्षित है, क्यों है? आगे खुलाशा कहेंगे, पर सम्यक्-प्रकृति तो पर पदार्थ है, कर्म है, पौद्गलिक है, वह तो बाह्य है अतः किसी विकार का ही साधन हो सकता है। पर पदार्थ की परिणति मोक्ष का कारण नहीं होती, औपशमिक आदि जो सम्यग्दर्शन हैं वे ही आत्मा के परिणाम हैं, और इसी कारण मोक्ष के कारण हैं, पर सम्यक्त्व नामक कर्म प्रकृति पौद्गलिक है। पर की पर्याय है, पर की परिणति है, वह आत्मा के मोक्ष का कारण कैसे हो सकती है? इस विषय पर शंकाकार पुनः कह सकता है कि देखिए—जितने भी कार्य होते हैं वे स्वपर निमित्त होते हैं, तो उपादान कारण और निमित्त कारण दो कारण हुआ करते हैं कार्य में। जैसे घड़ा बना तो उसमें मिट्टी तो

उपादान कारण है और दंडचक्र आदि निमित्त कारण हैं। तो जैसे स्वपर निमित्त कार्य लोक में होते हैं उसी तरह ये जो सम्यग्दर्शन रूप कार्य है वह आत्मा उपादान के कारण से हुआ और सम्यक्प्रकृति कर्म के कारण से हुआ। सम्यक्प्रकृति निमित्त के कारण है ऐसी शंकापर उत्तर देते हैं कि भाई यह मोक्ष मार्ग का प्रकरण है, अभिन्न और उपादान कारण भी विवक्षा है। जब आत्मा सम्यग्दर्शन रूप आत्मपरिणाम से परिणमता है उस समय सम्यक्त्व प्रकृति भले ही निमित्त रूप बाह्य कारणरूप सामने रहे तो भी क्षयोपशम सम्यक्त्व वेदक सम्यक्त्व में रहता है, अन्य में नहीं, उसे कैसे कारण कहा जाएगा? सम्यक्त्व नाम प्रकृति को कारण क्यों नहीं कहा? एक तो वह पर्याय है दूसरे वह उपकरण मात्र है। बाह्य साधन मात्र है, तीसरे सम्यक्प्रकृति ने सम्यक्त्व को सहयोग नहीं दिया किन्तु सम्यक्त्व का मल उत्पन्न करने में कारण है। तीसरी बात यह है कि मुख्यता तो आत्मपरिणाम की है। आत्मपरिणाम के कारण उस मिथ्यात्व के रस का घात हुआ है जिससे सम्यक्त्वप्रकृति बनी है।

वस्तु स्वातंत्र्य होने पर निमित्तनैमित्तिक योग बिना विकार पर्याय की असंभवता—यहाँ यह कर्म सिद्धान्त की बात चल रही है। सहसा यह प्रश्न हो सकता कि दुनिया में जो इतनी विडम्बनाएं दिखती हैं—धनी होना, गरीब होना, मूर्ख होना, पंडित होना, दुःखी होना, सुखी होना आदि ये विडम्बनाएँ क्यों हुई? आत्मा तो एक समान स्वरूप वाला है, ये विडम्बनाएँ किस कारण से हुईं? आत्मा की ओर से स्वयं ये विडम्बनाएँ नहीं हो सकती, क्योंकि ये विडम्बनाएँ विनाशीक हैं, क्योंकि विनाशीक चीज में स्वयं उपादान निमित्त नहीं होता तब कोई पर उपाधि यहाँ कारण हैं देखो पर उपाधि सबको मानना पड़ा। कोई मानता है कि इस जीव के सुख-दुःख को ईश्वर करता है। कोई मानता है कि जीव के सुख-दुःख को कोई बाहरी लोग करते हैं। तो सिद्धान्त कहता है कि जीव के सुख-दुःख का निमित्त कारण कर्म है। कर्म यद्यपि अपनी परिणति से जीव के सुख-दुःख नहीं कर सकता, क्योंकि वह पर पदार्थ है। जीव भिन्न चीज है लेकिन ऐसे ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि जिस प्रकार के कर्म का निमित्त हो उस प्रकार का आत्मा में परिणाम होता है। देखो अनेक दृष्टान्त सामने हैं—आग पर रोटी धरते हैं तो रोटी सिक जाती है। वहाँ यह बात कहना कि जब रोटी सिंकने की पर्याय आयी तब आग हाजिर हुई, यह बात तो एक हँसी की है। निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी वस्तु की स्वतंत्रता को निरखो। वस्तुस्वातन्त्र्य होने पर भी विकार प्रसंग बिना नहीं हो सकता है। रोटी अपने आप में उस गर्म पर्याय को प्राप्त हुई, पक्व पर्याय को प्राप्त हुई आग ने अपना द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव रोटी में डालकर उसकी परिणति नहीं की। यह बात सही है, पर उसमें यह कहना कि उसमें यह पर्याय पैदा होती है तब आग हाजिर हो जाती है। ऐसा होने में क्या होता कि रोटी सिकना हो गया निमित्त कारण और आग का हाजिर होना हो गया नैमित्तिक कार्य! उल्टी बात हो जाती है। जब आग का सन्निधान हुआ तब रोटी में पक्व पर्याय होता है। इससे स्पष्ट है कि आग है निमित्त और रोटी सिकना है

उपादान और उल्टा जब तक बतलाएँ कि जब रोटी बनती है तब आग हाजिर होती। इससे यह जाहिर है कि रोटी बनना हुआ निमित्त और आग का आना हुआ नैमित्तिक कारण। फिर निमित्त नैमित्तिक की कोई व्यवस्था नहीं रहती। यद्यपि निमित्त और उपादान दोनों एक साथ हैं। एक साथ होने पर भी उल्टा निमित्त नैमित्तिक नहीं घटाया जा सकता। वह सही घटाया जा सकता और लोक की यह बात प्रसिद्ध भी है। तो बात क्या हुई कि वस्तु की स्वतंत्रता न मिट जाए इस डर के कारण निमित्त नैमित्तिक भाव का खण्डन करना पड़ा। लेकिन यह नहीं समझा कि निमित्त नैमित्तिक भाव बराबर रहते हुए वस्तु की स्वतंत्रता पूर्णतया ठीक रहती है। स्वतंत्रता का कोई घात नहीं कर सकता। वस्तु स्वातंत्र्य मिटने के भय से निमित्त नैमित्तिक का खण्डन करना भी ज्ञान की निर्बलता है। बात यथार्थ है। तो ऐसा नहीं है कि जब आत्मा में सम्यग्दर्शन पर्याय होने को होगी तब कर्म का क्षयोपशम हाजिर हो जाएगा। यों नहीं किन्तु अपनी-अपनी योग्यता से दोनों की दोनों पर्याय हो रही हैं। आत्मा में आत्मा की योग्यता से सम्यग्दर्शन पर्याय हो रही है। कर्म में कर्म की योग्यता से कर्म की क्षयोपशम पर्याय हो रही है, पर निमित्त नैमित्तिक भाव यह है कि कर्म के क्षयोपशम का निमित्त पाकर जीव के सम्यग्दर्शन रूप पर्याय हुई स्वतंत्रता नहीं मिटी। वह तो वस्तु का सत्त्व है, प्राण है। स्वतः सिद्ध वस्तु है। सत् परिणमनशील है। पर प्रत्येक वस्तु अगर स्वतः परिणमे, अपने आपके उपादान निमित्त से परिणमे तो वह शुद्ध रूप परिणमेगी। कभी विकार रूप नहीं परिणम सकती। विकाररूप परिणमन में पर पदार्थ निमित्त होता है।

आत्महित प्रयोजन की दृष्टि से नयों के उपयोग की बुद्धिमानी—अब दूसरी बात प्रयोजन की देखिए–प्रयोजन क्या है? मेरे को शान्ति मिले, मुक्ति मिले, मोक्षमार्ग मिले लेकिन वह मिलती है स्वभाव दृष्टि से। तो आपको एक स्वभाव दृष्टि की शिक्षा लेना है। स्वभावदृष्टि की बात प्राप्त करना है। कैसे मेरे को स्वभावदृष्टि हो, तो स्वभावदृष्टि के लिए परमशुद्ध (निश्चयनय की) दृष्टि करके आत्मा के उस ज्ञानमात्र स्वभाव को एकदम सामने उपयोग में ले लेना यह तो उसका एक डाइरेक्ट (सीधा) काम है। परमशुद्ध निश्चयनय के आलम्बन से आत्मा के परमशुद्ध स्वरूप का दर्शन होता है और व्यवहारनय से जहाँ निमित्त नैमित्तिक भाव का वर्णन किया जाए उस वर्णन से कैसे स्वभाव दृष्टि की शिक्षा मिलती है सो सुनो। जहाँ यह देखा कि परिणति तो विकार रूप है, यह इस मुक्त आत्मा की योग्यता से हुआ, आत्मा की पूर्व पर्याय विलीन होकर नवीन पर्याय हुई, ठीक है, पदार्थ स्वयं सत् है, स्वयं परिणमनशील है इसी कारण उनमें अपने आप उत्पाद व्यय होता है, पर स्वभाव के प्रतिकूल किसी पर्याय का उत्पाद तब होता है जब कोई पर उपाधि सामने रहती है। यहाँ एक अवधिज्ञानियों की दृष्टि से या सर्वज्ञ ने जाना इस दृष्टि से यह कह सकते कि पदार्थ में जब जो कार्य होता है, देखा गया है, जब वह कार्य होता है और उस समय जो निमित्त होता है वह निमित्त भी होता है तो निमित्त का होना भी निश्चित है उपादान में पर्याय का होना

भी निश्चित है। ऐसा कहने पर भी यहाँ यह बात देखें कि यह वृत्त घटना की ओर से, व्यवस्था की ओर से नहीं कहा गया है, घटना और व्यवस्था की ओर से तो यह बात है कि जब जिसका निमित्त सन्निधान पाता है तब उसके अनुकूल द्रव्य में वह बात होती है। मतलब यह है कि यह बात भी ठीक, वह बात भी ठीक। इसमें से बात को ओझल करना यह एक नयचक्र से वहिष्कृत बात है। निमित्त नैमित्तिक के वर्णन से हम स्वभाव दृष्टि किस तरह पाते हैं यह देखिए—ये विकार कर्म प्रकृति का निमित्त पाकर हुए, ये मेरे स्वभाव नहीं हैं। ये नैमित्तिक हैं, निमित्त का सन्निधान पाकर हुए इसलिए ये मेरे नहीं हैं, इसलिए इन्हें दृष्टि में न लें, ये पौद्गलिक हैं, विकार हैं, मैं तो एक ज्ञान मात्र स्वभावी हूँ, इसमें निमित्त नैमित्तिक के वर्णन से स्वभाव दृष्टि से हमें प्रेरणा मिली और जब हम यह दृष्टि करते हैं कि आत्मा में आत्म परिणतियाँ होती रहती हैं, बस यह ही हमें देखना है, इस तरह भी कोई देखे तो भी उसे स्वभाव दृष्टि की बात आ सकती है। प्रयोजन है स्वभाव दृष्टि का। वस्तु स्वातंत्र्य के कथन से भी स्वभाव दृष्टि की प्रेरणा मिलती है। निमित्त नैमित्तिक दृष्टि से भी हमें स्वभाव दृष्टि की प्रेरणा मिलती है।

प्रमाण से विज्ञात अर्थ किसी भी नयसे निहारने का श्रृङ्गार—जब हम एक निश्चय दृष्टि की बात करें अर्थात् जीव में पर्याय हो रही है, होती जा रही है, जब जो हो रही है। यों एक के वर्णन में निश्चय दृष्टि की बात करें तब, निश्चय दृष्टि की बात करके हम स्वभाव दृष्टि की प्रेरणा लें, उस समय बीच में निमित्त की बात कह देना अनुपयुक्त बात है। उस प्रसंग में (विधि का) निषेध किसी भी रूप में निमित्त न बोलें क्योंकि तुम उस समय निश्चय के मूड में चल रहे हो। अगर निमित्त की बात वहाँ बोलते तो तुम्हें व्यवहार दृष्टि में चलकर बोलना चाहिए। निश्चय की दृष्टि में चलकर निमित्त की कथा न करें। वह भी एक नय है, आप उस नयसे केवल का दर्शन करते रहें, व्यवहार की बात न चलें, निमित्त नैमित्तिक की बात न करें। क्योंकि उस समय दृष्टा निश्चय के मूड में हैं, लेकिन एक बात यह ख्याल में रखनी होगी कि प्रमाण से ग्रहण किए गए पदार्थ के बारे में एक दृष्टि लेने का नाम नय है न कि एक दृष्टि का निर्णय करके उस दृष्टि में अटल रहने का नाम नय है। वह कुनय है। पहले प्रमाण से ग्रहण करो पदार्थ, फिर एक दृष्टि से निरखते रहें तो कोई हानि नहीं, सर्व नयों से, प्रमाण से कि वस्तु का स्वरूप क्या है, समझने के बाद आप केवल परमशुद्ध निश्चय की दृष्टि ही बनाये रहें, निरन्तर बनाये रहें वह तो बड़ी उत्तम बात है, यह तो बड़ी पूज्य बात है। अथवा अशुद्धनय की दृष्टि भी बनाये रहें, कोई बात नहीं है, अशुद्ध निश्चय की दृष्टि में यह बात आती है कि जीव में जो विकार होता है वह जीव के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होता है, किसी पर पदार्थ की परिणति से नहीं होता है, जीव के परिणाम जीव के ही द्रव्य, क्षेत्र काल, भाव से होते हैं। वह क्रोध, वह विकार, वह मलिनता किसी कर्म की परिणाति से नहीं हुई यह भी समझने के लिए बोला है। अशुद्ध निश्चय की दृष्टि से इतना

भी नहीं कर सकते। निश्चय की दृष्टि से दूसरे की बात करना मना है, बात असल में यह है, क्योंकि निश्चय दृष्टि केवल एक पदार्थ को ग्रहण करती है। तो अशुद्ध निश्चय दृष्टि में जब तक रहे हों तब तक एक ही को तका, जीव में विकार हुआ, जीव द्वारा हुआ, जीव की पूर्व पर्याय बिलीन हुई, उत्तर पर्याय निष्पन्न हुई, जीव में ही होती चली जा रही है, निरखते जावो, कोई दोष की बात नहीं है, क्योंकि वह एक निश्चय दृष्टि से मूड बना। मगर निश्चय दृष्टि का तो मूड बना और इतनी बात कह दें कि लो जब यह विकार होने को हुआ तब कर्म हाजिर हो गए। अरे दूसरे की चर्चा करना निश्चय दृष्टि में होती ही नहीं। जैसे किसी गाड़ी में ऊंट और गधा जोड़ दिया जाए तो वह असंगत बात है, मना नहीं है। जैन सिद्धान्त का कितना स्पष्ट वर्णन है। यहाँ यह वर्णन चल रहा है कि निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तु स्वतन्त्र है। वस्तु स्वरूप की बात दिखाने वाला निश्चयनय है। निमित्त नैमित्तिक की बात कहते तो फिर व्यवहार की बात न करो। श्रद्धा में रखो उस बात को, क्योंकि प्रमाण से जाना हुआ है, इसलिए उस बात को धारणा में रखो कि यह भी एक तथ्य है, मगर बात करना केवल एक द्रव्य की, जबकि तुम निश्चय दृष्टि के मूडमें आए हो। शुद्ध निश्चय के मूड में हो या अशुद्ध निश्चय की दृष्टि में, आत्मा में विकार हो, आत्मा से हो, आत्मा की परिणति से हो, आत्मा की पूर्व पर्याय बिलीन हो, विकार को देखो—अशुद्ध निश्चयनय से देखो, एक आत्मा में देखो, आत्मा से ही सब बातें जोड़ो, उसमें दूसरे पदार्थ का नाम न लो, क्योंकि निश्चयनय के मूड में हो अगर प्रसक्त का नाम लेते तो वह बन गई व्यवहार की दृष्टि। विरोध किसी बात में नहीं आ रहा, लेकिन बात के पीछे विरोध है। बातों में विरोध नहीं है, विरोध कहाँ से आया? बतलावो जब कि अन्य दार्शनिकों के द्वारा कही हुई बातों से भी जब नय चक्र सिद्ध कर सकते हैं तो बतलाओ जैन-जैन में जो बातें हो रही हो, उन बातों को सिद्ध करने में कोई कठिनाई है क्या? तो जरा न्याय से चलें, अन्याय न करें। न्याय यही है कि जिस दृष्टि के मूड में हों उसकी ही बात निरखें। कोई मूड बनाकर बोले तब कुछ और बतलावें साथ में दूसरी दृष्टि करें तो यह बात ठीक नहीं बैठती, हाँ लावें दोनों बातें, पर दोनों लावें तो प्रमाण का मूड बनावें तो बात ठीक बैठ जाएगी।

स्वभावदर्शन और धर्म पालन से आत्मा की शोभनता—आपको चाहिए क्या? स्वभाव दर्शन, इसमें तो कोई विवाद नहीं। जब संसार के दुःखों से छूटने की अभिलाषा है तो स्वभाव दर्शन के बल से ही हम दुःखों से छूट सकते हैं। परिजन, धन, सम्पदा, वैभव इनके लगाव से हम दुःखों से छूट नहीं सकते। जो सामने एक समस्या बनाये रहते कि भाई जब निर्धन थे तब सोचते थे कि कुछ धन हो जाए तो फिर सुख से रहेंगे। अब धन हो गया तो शान्ति तो कुछ मिली नहीं, बल्कि पहले से भी अधिक दुःखी हो गए। इन बाह्य पदार्थों से लगाव लोग क्यों रखते हैं? यों रखते कि उनमें अज्ञान है, उन्होंने भ्रम कर रखा है कि बाह्य पदार्थों के लगाव से, सम्बन्ध से, समागम से सुख शान्ति होती है। सुख शान्ति का

कारण तो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है। सुख शान्ति का कारण बाहरी पदार्थों का लगाव नहीं। देखो शोभा भी धर्म के सम्बन्ध से है इस जीवन की, मोटा दृष्टान्त ले लो, विवाह शादी होती है, एक दो दिन बारात ठहरती है। वहाँ विवाह शादियों में नेगचार होता है। अब अमुक काम हुआ, अब अमुक काम हुआ, अब तैल चढ़ाते, अब टीका लगाते, भावर भी करते, विवाह के सब काम भी करते और धर्म की दो चार बातें भी उस प्रसंग में चलती हैं। मन्दिर में जाना, कुछ चढ़ाना, विधान आदि जो भी धर्म के काम चलते, उनमें धर्म का काम यदि बिल्कुल निकाल दिया जाए, केवल विवाह-विवाह की ही बात रखी जाए तो उस काम की शोभा नहीं जँचती। धर्म की एक भी बात अगर बीच में आ गई तो उसकी शोभा बन जाती है। कोई भी काम हो। घर में रहते हुए आप कितने ही बड़े से बड़े काम करते जाइए, रात-दिन वही कमाई धमाई खाना पीना ऐश आराम में ही अगर जीवन बीते, मन्दिर जाने, जाप जपने, भगवान की भक्ति में रहने आदि के काम न करें तो इससे यह समझिए कि हमारा जीवन अंधेरे में हैं, उस जीवन की कोई शोभा नहीं हैं, न वहाँ जीवन का कोई श्रृगांर है। एक बात और समझिए--इस तरह से कोई जी भी नहीं सकता। जितने मनुष्य हैं, भिखारी से लेकर राष्ट्रपति तक सबका जीवन किसी न किसी रूप में कुछ न-कुछ समय धर्म के प्रसंगों में बीतता है। अगर धर्म के प्रसंग में न आए तो जीना कठिन हो जाएगा। एक भी ऐसा मनुष्य बताओ जो धर्म के प्रसंग में एक भी बात किसी भी क्षण न करता हो? चाहे ढंग से न करे। बात यह चल रही है कि जीवन की शोभा धर्म से है।

सम्यक्त्व की मोक्षमार्गरूपता—मूल में यह बात चल रही थी सम्यग्दर्शन होता है, मोक्ष का कारण बनता है, सो सम्यक्त्व प्रकृति भी तो साथ रहती है उदय में तो वह भी कारण कहलाएगा तो उसके उत्तर अनेक होंगे। वह सम्यक्प्रकृति कारण यों नहीं कि वह पर पदार्थ की पर्याय है, सम्यक्प्रकृति कारण यों नहीं कि वह बाह्य उपकरण मात्र है, निमित्त मात्र है। सम्यक्त्वप्रकृति मोक्ष का कारण यों नहीं कि वह तो सम्यक्व में दोष लगाने का कारण है न कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति का कारण है। सम्यक्त्वप्रकृति कारण यों नहीं कि सम्यक्प्रकृति तो खुद आत्म परिणाम के कारण रसघात से बनती है, मूल में कर्म तो ८ हैं, पर उनके और भेद करने से १४८ भेद हैं, उन १४८ प्रकृतियों में ७ प्रकृतियाँ सम्यक्त्व के घात की निमित्त हैं। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक्प्रकृति और मिथ्यात्व ये ७ प्रकृतियाँ सम्यक्त्व के घात की निमित्त हैं। इनका उदय आदि होने पर सम्यक्त्व नहीं होता। अब ये ७ प्रकृतियाँ हैं तो इसमें से इस जीव के द्रव्य से अनादि से ७ प्रकृतियाँ न रहीं, ५ रहीं मिथ्यात्व, अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ। ७ नहीं रहती गाँठ में, फिर ये ७ आती कैसे हैं? जिस समय इन ५ प्रकृतियों का उपशम होता है, अनादि मिथ्यादृष्टि जीव के उस काल में औपशमिक सम्यक्त्व होता है, तो पहिले समय में यहाँ हो रहा औपशमिक सम्यक्त्व और यहाँ ही हो रहे मिथ्यात्व के टुकड़े। जैसे चक्की में चने दले जाते हैं तो उन चनों की

तीन हालतें होती हैं—कुछ दाल के रूप में कुछ आटा, और कुछ भुसी के रूप से निकलते हैं। तो जैसे चना दलने पर चने की तीन बातें हो जाती हैं इसी तरह उपशम सम्यक्त्व के परिणाम के द्वारा मिथ्यात्व के दले जाने पर तीन भाग हो जाएंगे। कुछ तो मिथ्यात्व ही रह जाते हैं, कुछ दलकर सम्यग्मिथ्यात्व हो जाते, या दो भाग हो गए और कुछ आटा रूप हो गए, वह हो गई सम्यक्प्रकृति बनी, तो सम्यक् प्रकृति बनने में निमित्त है आत्म परिणाम, फिर तो उस सम्यक् प्रकृति को सम्यक्त्व का कारण क्यों न कहा? रसघात हुए सम्यक्त्व के परिणाम में जातित्व तो मिथ्यात्वका है, दर्शन मोहका है। इस कारण यह नहीं कह सकते कि सम्यक्प्रकृति कारण है मोक्ष का। सम्यक्प्रकृति मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि सम्यक्प्रकृति तो हेय है, भिन्न है, छूट जाती है मगर आत्म परिणाम सम्यग्दर्शन रूप परिणाम नहीं छूटता। साथ रहता है, जीव से अभिन्न है इसलिए जीव के मोक्ष का कारण सम्यग्दर्शन परिणाम है। सम्यक्त्व परिणाम ही मोक्ष का कारण है, सम्यक्प्रकृति मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि प्रधान तो सम्यग्दर्शन परिणाम है। बाहरी चीज तो केवल बाह्य साधन है, सो वह सम्यक्प्रकृति तो दोष का उपग्राहक है न कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न करने में उपग्राहक है। आखिरी बात यह है कि सम्यग्दर्शन है निकट की चीज, आत्मा से अभिन्न वस्तु, वह तो मोक्ष मार्ग है, वह मोक्ष का कारण है, किन्तु सम्यक्प्रकृति मोक्ष का कारण नहीं है। इस तरह यहाँ तक यह बात आयी कि वस्तु स्वरूप सहित पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जिस तरह से अवस्थित है उसका उस रूप से श्रद्धान करना सम्यग्ज्ञान है, इस बात को संक्षेप में इतना मान लीजिए कि निज के रूप से निज का श्रद्धान करना, पर के रूप से पर का श्रद्धान करना यह सम्यग्दर्शन है। जब समाधिशतक में पूज्यपाद स्वामी ने मंगलाचरण किया तो उन्होंने कहा कि जिसने आत्मा को आत्मा रूप से जाना और पर को पररूप से जाना ऐसे अक्षय अनन्त ज्ञान वाले सिद्ध भगवान को मैं नमस्कार करता हूँ। तो 'निज को निज, पर को पर जान, फिर दुःख का नहिं लेश निदान।'

आत्मश्रद्धान बिना परतंत्रता के क्लेश से छुटकारे का अभाव—प्रयोजन भूत वस्तु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अपनी शान्ति के लिए प्रयोजनभूत वस्तु कौन है? स्वयं यह निज आत्म। उस निज आत्मा में भी प्रयोजनभूत है शाश्वत स्वभाव, उसका दर्शन होना, परिचय होना, अनुभव होना, अर्थात् ज्ञान में यह चित्स्वभाव आए और यही ज्ञान में कुछ क्षण बना रहे, ऐसी स्थिति में जो स्वयं अलौकिक आनन्द प्राप्त होता है वह कहलाया प्रयोजनभूत वस्तु का यथार्थ अनुभव। तो साक्षात प्रयोजनभूत है यह समयसार और उसके परिचय के लिए प्रयोजन भूत हैं—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, और मोक्ष तत्त्वका श्रद्धान, इसलिए ये ७ तत्त्व भी मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत हैं। प्रयोजनभूत में ही प्रयोजनभूत है। जो अपना प्रयोजनभूत आत्मतत्त्व है उसके परिचय के लिए जो प्रयोजनभूत है वह भी प्रयोजनभूत कहलाता है। ऐसे आत्म वस्तु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। आत्मतत्त्व के

श्रद्धान बिना यह जीव अनादि से अब तक परतंत्र रहता आया है। बाह्य वस्तु में आत्म रूप से इसका श्रद्धान रहा। जिस पर वस्तु में इसने आत्मरूप की श्रद्धा की, उसके आधीन रहा। जिसको परिवार से, घर से, वैभव से मेरे को सुख है, बड़प्पन है, हित है, मौज है इसी में उसका महत्त्व है, ऐसी जब श्रद्धा हो तो यह परिजन आदि के आधीन हो गया। निश्चय से तो आत्मा पर के आधीन होता ही नही है अपने आपके कषाय भाव के आधीन है, पर कषाय भाव का जो आश्रयभूत पर वस्तु है उसकी ओर चूँकि उपयोग लगा है और अनुभव करता है पर वस्तु के लगाव में परतंत्रता का इसलिए उस आश्रयभूत पर वस्तु के भी यह आधीन रहता है। यों अज्ञान में यह उपयोग बना, कषाय बनी, राग बना, विकल्प हुआ उस विकल्प के आधीन है, ऐसी परतंत्रता यह जीव अनादिकाल से भोगता चला आया है। कभी इसने स्वरूप का अनुभव नहीं किया। मैं स्वयं आनन्द स्वरूप हूँ, स्वयं सर्वस्व कल्याण स्वरूप हूँ। मेरा किसी पर वस्तु से सम्बन्ध नहीं है, किसी पर वस्तु की मेरे में आधीनता नहीं, ऐसा अपने आप में कभी विचार नहीं किया। पराधीनता अनर्थ है, व्यर्थ है और बरबादी एवं कष्ट का कारण है। पराधीन भाव में सार कुछ नहीं है। जिस पर वस्तु को ओर दृष्टि देकर हम पराधीन हो रहे हैं वह असार है, विनश्वर है।

किसी की दूसरे से लगाव की वस्तुतः अशक्यता— परवस्तु विनाशीक है, वह अपनी ही योग्यता से अपने आप के अनुकूल परिणमेगी। मेरे को कौन चाहता है? मेरे लिए कौन क्या है? सब की अपने आप की शान्ति के लिए धुन रहा करती है। वहाँ जिस किसी पुरुष को जिसमें अधिक विश्वास हो कि मेरा लड़का आज्ञाकारी है, मेरे को चाहता है, वह भी धीरता से विचार करेगा तो मालूम होगा कि कोई लड़का किसी दूसरे की आज्ञा नहीं मान सकता। वस्तु स्वरूप ही ऐसा है। आप मिथ्या कल्पनाएं बनाते हैं कि यह लड़का मेरी बात मानता है। अरे उस लड़के को खुद अपने आप में विकल्प है, स्वार्थ है, कषाय है, भावनाएं है, वासनाएं हैं, वह समझता है कि मेरे को सुख मेरे को शान्ति इस प्रकार की बात मानने में ही मिलेगी। ऐसे विश्वास के कारण वह बात मानता है। कहीं आप के नाते से वह आपकी बात नहीं मानता। प्रत्येक पुरुष अपनी-अपनी कषाय से अपने आपकी चेष्टा करता है। कोई भी किसी को चाहने वाला नहीं है। यह तो व्यर्थ का ख्याल है कि अमुक कोई मुझे चाहता है। यह तो कह रहे पर्याय की बात और द्रव्य की बात देखो तो इसका तो किसी को परिचय ही नहीं! चाहेगा क्या। और चाहेगा तो उसका अर्थ हुआ कि उसने अपने ही स्वरूप को चाहा। कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं रख पाती, क्योंकि सबका सत्त्व अपने आप स्वतः सिद्ध है। तो जब ऐसा वस्तु स्वरूप है कि कोई भी पदार्थ उसका कुछ नहीं लगता, फिर क्यों किसी पर वस्तु में लगाव और धुन की जा रही है? यह सब मोह में करना पड़ रहा है। मोह की शराब में बेहोश हुआ यह प्राणी अटपटा काम करता है। जैसे शराब पीकर बेहोश हुआ मनुष्य बड़े (अटपटे) कार्य करता है। वह स्वयं तो नहीं

समझ पाता, पर जो शराब नहीं पिये हैं वे जानते हैं कि देखो यह कैसा अटपटे कार्य कर रहा है, इसी तरह ये संसार के मोही प्राणी मोहरूपी शराब का पान करके अटपटे कार्य कर रहे हैं, वे स्वयं तो नहीं यह बात समझ पाते, पर सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जानते हैं कि अहो—संसार के ये प्राणी मोह में कैसा अटपटा कार्य कर रहे हैं। तो यहाँ ही ये परतंत्र हो रहे हैं। पंचेन्द्रिय के विषयों की ओर अपनी दृष्टि लगाना, बस इसी में पराधीनता हैं। वास्तविक स्वतंत्रता तो तब है, जब विषयों की आशा न रहे, किसी भी पर पदार्थ की आधीनता न रहे, किसी प्रकार का चित्त में विकल्प न रहे, मोह न रहे, केवल ज्ञाता द्रष्टा रहे, अपने ज्ञानस्वरूप का अनुभव करे, ऐसी ही स्थिति कहलाती है वास्तविक स्वतंत्रता। ऐसी स्वतंत्रता इस जीव ने अब तक नहीं पायी। इसका परिचय न हुआ, अनुभव न हुआ इसी कारण यह प्राणी बाह्य वस्तुओं में, काम भोगों में अपना लगाव रखता है और यह उसमें परतंत्र होकर अपने को सुखी अनुभव करता है।

विनश्वर समागम में अविनश्वर प्रभुता का दर्शनकर वास्तविक आजादी पाने का प्रयास—मनुष्य देह पाया श्रेष्ठ मन पाया तो इस बड़ी विभूतिका कब सदुपयोग किया जाएगा? इसका सदुपयोग यह कि समग्र बाह्य वस्तुओं को भिन्न असार जानकर उनमें प्रीति न करें, उनमें मोह न बसायें, उसको अनर्थ समझें। यदि बाह्य वस्तु में मोह दृष्टि होती है तो उसे अनर्थ समझें, उस पर से लगाव को हटाकर निज आत्म तत्त्व में अपनी अनुभूति बनायें, यह हो गई वास्तविक आजादी। देखो जैसे देशवासियोंने आजादी प्राप्त की है तो उस आजादी के लिए इन्हें क्या करना पड़ा? तो नेताओं को दो उपाय बनाने पड़े थे—(१) सत्याग्रह और (२) असहयोग। देखो जिन्होंने उस आजादी के आन्दोलन का समय देखा है उन्हें भली प्रकार विदित है कि ये आजादी इन्हीं दो उपायों से प्राप्त कर सके। सत्याग्रह क्या? जो सत्य है उसका आग्रह करना, देश के लिए जो हितरूप था, जो सत्य था, उसका आग्रह था मुझे आजादी ही पाना है, और असहयोग क्या कि जो विदेशी धन है, विदेशी चीजें हैं उन्हें न अपनायेंगे, अपनी स्वदेशी चीजें अपनायेंगे। यह था उनका असहयोग। ये देशवासी उस समय और कुछ तो कर नहीं सकते थे, सभी ब्रिटिश शासन के आधीन थे, उनका कुछ अधिकार न था, वे किसी से लड़ नहीं सकते थे। तो उन्होंने ये दो उपाय काम में लिए थे—सत्याग्रह और असहयोग। इसी प्रकार कर्म शासन के पराधीन हुए इस जीव को इस परतन्त्रता से बचने और आजादी हासिल करने का उपाय हो सकता है तो सत्याग्रह और असहयोग। सत्याग्रह क्या? जो सत्य है उसका आग्रह करके रह जाना। यह हूँ मैं, यह है मेरा, यह ही मुझे चाहिए, सत्य ही चाहिए। सत्य क्या है? सति भवं सत्यं। जो सत् में हो सो सत्य है। सत् हूँ यह मैं आत्म वस्तु। इस निज आत्म वस्तु में जो सहज है उसका नाम है सत्य। इस निज वस्तु में सहजभाव क्या है? सहजभाव में यह आता ज्ञान स्वभाव, यह चित्स्वभाव, यह अखण्ड चैतन्यभाव। इसका आग्रह करना होगा। यह हूँ मैं। यह ही है आनन्द धाम। यह ही है मेरा

शरण। मैं तो इसमें ही रहूँगा, और मुझे कुछ न चाहिए। यह तो हुआ सत्याग्रह और असहयोग क्या हुआ कि जो मैं नहीं हूँ, जो अनात्मवस्तु है, जो नैमित्तिक है, जो परवस्तु है, मानो कर्म की दया पर जो चीज प्राप्त हुई है ऐसे ये वैभव, परिजन, यश, देह, विषय, साधन, सांसारिक सुख, जो कुछ भी ये वैदेशिक चीजें हैं नैमित्तिक चीजें है, प्रभाव की चीजें हैं इनमें हो जाए असहयोग, यह मुझे न चाहिए, और बल्कि जो आए हों उनको दूर करें तो ऐसा पर वस्तुओं से असहयोग हो तो इस जीव को स्वतन्त्रता प्राप्त हो सकती है। जैसे आजादी के जमाने में कई लोग केवल मुख से बोलने वाले थे, वे करना धरना कुछ नहीं चाहते थे तो उनका क्या हाल हुआ? जब वे गिरफ्तार हुए तो जरा सी देर में माफी माँगकर आ गए। अपने संकल्प में दृढ़ न रह सके, ऐसे ही समझिये कि जो केवल मुँह से बोलने वाले हैं, उस पर चल नहीं पाते, चित्त में उसकी रुचि नहीं, उस मार्ग की मन में भावना नहीं, वे बोल-बोल कर ही रह जाते हैं और पद-पद पर फिसल जाते हैं, तो जिनका एक दृढ़ संकल्प है कि मेरे को तो सत्य की प्राप्ति करना ही है वे असहयोग और सत्याग्रह के प्रतापसे अपने आत्मा की आजादी पा सकते हैं। वह आजादी मिलती है वहाँ इस आजादी का प्रारम्भ होता है जहाँ, उस भाव को कहते हैं सम्यक्त्व। अब आजादी का उपयोग प्रयोग, जिसे करने में वर्षों लगते हैं, जैसे भारत आजाद हो गया यह मानों निर्णय तो हो गया, १५ अगस्त से, लेकिन उपयोग प्रयोग तो नहीं हुआ। उपयोग प्रयोग होने में अनेक वर्ष लगे प्रेक्टिकल काम करना पड़ा। इसी तरह सम्यक्त्व होने पर आजादी का निर्णय हो गया कि यह मुक्त होगा, सदा के लिए शुद्ध होगा, अब इस आत्मा की यह चर्या रहेगी, अब यह अपने आनन्दधाम में बसा करेगा, अपना स्वयं शासन सम्हाल लेगा, आजादी का निर्णय हो गया। सम्यक्त्व भाव होने पर किन्तु अभी उपयोग प्रयोग होने में विलम्ब है। उसके लिए मनको केन्द्रित करना, संयम रखना, चारित्र में चलना, बढ़ना, बाह्य तथा अंतरङ्ग चारित्र सभी तरह के प्रयोग चलेंगे, तब जाकर इसे वास्तविक आजादी प्राप्त होगी।

स्पर्शन रसना घ्राणइन्द्रिय के विषयों की आधीनता की विपत्ति—देखिए—यह ध्यान करें, यह निर्णय रखें कि मेरे को जो परतन्त्रता आज बन रही है यह मेरे पर बहुत बड़ी विपत्ति है। स्पर्शन का विषय है स्पर्श होना। अगर कोई कोमल, कड़ी, ठंडी, गरम चीज छू लिया तो इस प्रकिया से आत्मा का उद्धार क्या हुआ? कौन सा आनन्द मिला? क्या शान्ति मिली? पर यह मोही जीव अपने को मौज मानता, कृतार्थ मानता। रसना का विषय है खट्टा मीठा, कड़वा, कषायला आदि रसों का स्वाद लेना। जहाँ इसकी कल्पना हुई कि इसका स्वाद उत्तम है, इसमें बड़ा आनन्द आ रहा, बस मौज में आ जाता है। अभी देखो करेला कड़वे होते हैं मगर एक ऐसी बात बन गई कि यह भी एक साग है, और बड़ा अच्छा है, सो तो उसे खाते हैं, कड़वापन आता जाता है और मौज मनाते जाते हैं। और कहीं कोई बादाम

कड़वी निकल आयी तो उसे थू-थू करेंगे क्योंकि उसमें यह श्रद्धा बनी है कि यह प्रकृत्या कड़वी चीज नहीं है। अरे कड़वाहट दोनों में है लेकिन भाव बना लिया सो करेला खूब खाते हैं, तो यह क्या है? जहाँ जैसी कल्पना बना ली बस उसकी ओर बढ़ चले। कोई चीज खट्टी अच्छी लग रही है, कोई चीज मीठी अच्छी लग रही, कोई कड़वी अच्छी लग रही, कोई कषायली अच्छी लग रही। देखिए ऊँट को तो नीम की पत्तियाँ ही अच्छी लगती हैं। वह उनसे ही आनन्द मानता है। तो जिसे जो रस जंचा बस उस रस में वह आशक्त हो गया। भला बतलावो रसकी आशक्ति से इस आत्मा को शान्ति कहाँ मिली? उद्धार क्या हुआ? खाया, अच्छा लगा। ज्यादा खाया तो नुकसान कर गया तकलीफ हुई। तत्काल भी व्याकुलता है, बाद में भी व्याकुलता है। आशक्ति हो गई उसके फल में तो तकलीफ ही मिलती है। एक विषय है सुगन्ध का। अच्छी गन्ध आयी तो उसे अच्छा मान लिया, दुर्गन्ध आयी तो उसे बुरा मान लिया। जैसे इत्रों में अच्छी गन्ध होती है, लोग मानते हैं कि इत्र की गन्ध से स्वास्थ्य अच्छा बनता है, मगर इत्र सूँघने वालों को देखा होगा, वे कोई स्वस्थ तो नहीं दिखते। बल्कि अधिक गन्ध में रहने के कारण वे कमजोर हो जाते हैं। आप लोग तो कभी-कभी थोड़ा सा इत्र सूँघ लेते हैं इससे आपको पता नहीं पड़ता, पर इत्र के गन्ध से स्वास्थ्य सम्बन्धी लाभ कुछ नहीं है। लोग जरा-जरा सी बातों में घृणा करने लगते। पर इस सुगन्ध दुर्गन्ध से इस आत्मा का क्या सम्बन्ध है? उससे क्या सिद्धि का मार्ग है, लेकिन यह जीव मोहवश इस गन्ध में आसक्त है।

चक्षु और मन के विषय की आधीनता की विपत्ति—चक्षुका विषय है रूप। रूप देखा, सुन्दर रूप जंचा, चित्र देखा, सनीमा के लोग स्त्री पुरुषों के शरीर देखे, कुछ सुहावने लगे, अरे उससे मिला क्या? रूप कोई हाथ में पकड़कर उपयोग में लेने वाली चीज तो नहीं, सिर्फ आँखों से देख लिया। यह रूप अन्य इन्द्रिय मन के ग्रहण में आता नहीं, केवल बाहर-बाहर से इसने आँखों से देखा, और मिला क्या इसमें आत्मा को? मगर परतंत्रता है, पराधीन बन रहा है, और है क्या? वैसे देखो तो जो सुहावना रूप लग रहा वह है क्या? शरीर का रूप है क्या? हड्डी, माँस, खून आदि जो अशुचि पदार्थ हैं उनका यह एक घर बना हुआ है यह रूप। और फिर सुन्दर रूप के मायने क्या? देखो इस पर चमड़ियाँ लगती हैं। जहाँ तीन चमड़ी लग जाएं वह साँवला, काला जैसा रहता है और एक चमड़ी कम हो तो वह गोरा और दो चमड़ी कम हो तो वह इंग्लैण्ड का आदमी हो जाता है। क्या है? बल्कि गैर ठोस की बात है, और जिसे कहते हैं काला, वह ठोस रूप है। पक्का रंग है मगर मन का ऐसा उद्दण्ड भाव है कि जिस चाहे में जैसी कल्पना कर लेता है। तो आँख का विषय क्या है? रूप। रूप को देखा, पराधीन हो गए। देखिए पराधीनता रूप से नहीं होती। पराधीनता पर वस्तु से नहीं होती। पराधीनता कोई स्त्री पुरुष से नहीं होती। पराधीन तो हुआ है वह अपने ख्याल से, अपने विचार से। विचार में इतना तीव्र मोह है, विकार में इतना मोह

है। पर वस्तु में मोह है, यह तो उपचार कथन है। कोई भी पुरुष पर वस्तु में मोह नहीं कर सकता। जब बतला ही रहे हैं कि पर वस्तु से मेरे आत्मा का सम्बन्ध नहीं है तो मोह कैसे कर सकते? पर वस्तु में कोई राग नहीं कर सकता। जो कोई राग करता है, जो मोह करता है वह अपने आप में उत्पन्न हुए विषय, विचार, विकल्प इन भावों से मोह करता, इन भावों से राग करता, पर वस्तु से राग कोई कर ही नहीं सकता।

एक वस्तु के स्वरूप का अन्य में अप्रवेश—जैसे कहते हैं ना कि जिस पदार्थ में जो चीज है, पदार्थ की परिणति में जो बात है बस वही चीज उस पदार्थ की है, उससे बाहर में पदार्थ की कोई चीज नहीं है। जैसे हाथ, हाथ के रूप है तो यह हाथ की चीज है, रूप है, हाथ की चीज है, क्रिया है, हाथ की चीज है। हाथ से बाहर हाथ की कोई चीज नहीं जाती। दर्पण के सामने हाथ किया। दर्पण में फोटो आया वह हाथ की चीज नहीं है। हाथ की चीज हाथ के प्रदेशों में रहेगी, हाथ से बाहर नहीं, दर्पण में जो प्रतिबिम्ब आया, यद्यपि वह आया हाथ का निमित्त पाकर, हाथ का निमित्त सन्निधान बिना वह नहीं हो सकता, तिस पर भी हाथ ने उसमें कुछ नहीं किया। हाथ की समग्र बात हाथ के प्रदेशों में है, पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध है कि हाथ का निमित्त पाए तो वह दर्पण अपनी स्वच्छता तजकर उतने अंश में वह प्रतिबिम्ब रूप परिणम जाता है। हाथ की चीज दर्पण में नहीं गई, इसी तरह यहाँ पर भी परिवार स्त्री पुत्रादि जिन जिन में मोह बस रहा उनकी कोई चीज मुझ में नहीं आयी; मेरी कोई चीज उनमें नहीं गई। मेरी क्रिया, मेरा ज्ञान वह सब मेरे प्रदेशों में चल रहा है। मेरे प्रदेशों से बाहर नहीं जा सकता। जब मेरे प्रदेशों से बाहर मेरी कोई क्रिया, प्रयोग, उपयोग आदि कोई चीज नहीं जा सकती तो मैं कैसे कहूँ कि मेरा अमुक में मोह है, अमुक में नहीं है। तब तो अपने विचार में मोह है और उस विचार के विषय भूत हैं स्त्री पुत्रादि इसलिए उपचार से कहा जाता है कि मेरा स्वतंत्रता से परतंत्र है। परतंत्र में भी स्वतंत्रता से परतंत्र हुआ न कि पर वस्तु की जबरदस्ती से। ऐसी परतंत्रता इस जीव की अनादिकाल से चली आ रही है, उस परतंत्रता को दूर करने का मूल उपाय है सम्यग्दर्शन। यह निर्णय है। सम्यक्त्व का निर्णय हो गया तो आजादी मिल गई अब आजाद होकर रहेगा। सम्यग्दर्शन का इस सूत्र में स्वरूप कहा जा रहा है। प्रयोजनभूत वस्तु का वस्तु स्वरूप सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन हैं। यह सम्यग्दर्शन आत्मा का परिणाम है, आत्मा से अभिन्न है। आत्मा में तादात्म्यरूप से रहता है। आत्मा के साथ इसकी निकटता है ऐसा यह विपरीत अभिप्राय रहित आत्मपरिणाम सम्यग्दर्शन कहलाता है।

उपलब्धसम्यक्त्व जीवों की अपेक्षा से अल्पबहुत्वकी संभवता होने से अधिगमोपाय प्रदर्शक व सम्यक्त्वलक्षणनिदेशक सूत्र की उपयुक्तता में संदेह का अनवकाश—आत्मपरिणाम की बात सुनकर शंकाकार कहता है कि जब सम्यग्दर्शन आत्मपरिणाम

है तो वह तो एक ही रूप रहेगा। आत्मा तो एक स्वरूप है। तो जब पुरुष ब्रह्म एकस्वरूप है और उसका परिणाम ही सम्यग्दर्शन है तो सम्यग्दर्शन के बारे में कोई अल्प बहुत्व का अनुयोग नहीं बन सकता। जैसे कि अगले सूत्रों में बताया है—निर्देश, स्वामित्व, साधन, अधिकरण, स्थिति, विधान, सत्, सँख्या, क्षेत्र, स्पर्शन, काल अन्तर, भाव, अल्पबहुत्व आदि, इनसे पदार्थ का ज्ञान होता है। तो मालूम होता है कि ये जो दो सूत्र रचे गए हैं वे पुद्गलका परिचय कराने के लिए रचे गए हैं, क्योंकि पुद्गल में ही अल्प बहुत्व की बात बनेगी, इस आत्मपरिणाम में कैसे बनेगी? जब अल्पबहुत्वकी बात इसमें नहीं बनती तो यह जाहिर होता है कि इस सम्यग्दर्शन का लक्षण बताने वाले इन सूत्रों का लक्ष्य है पुद्गल और पुद्गल का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है, ऐसी बात जाहिर होती है, ऐसी एक आशंका है, उस आशंका की निवृत्ति में सोचें कि सम्यग्दर्शन में अल्पबहुत्व की बात आ सकती है कि नहीं। सम्यग्दर्शन यानि सम्यग्दृष्टि जीव। धर्मात्माओं को छोड़कर धर्म और कहाँ रहेगा? जो सम्यग्दृष्टि जीव है वह ही सम्यग्दर्शन की मूर्ति है। अब देखो सम्यग्दर्शन का प्रादुर्भाव कैसे होता है? जिसके सम्यग्दर्शन नहीं है उसके कर्म का ऐसा उदय होता है कि सम्यक्त्व नहीं हो पाता, उसके कर्म का क्षय हो, क्षयोपशम हो तब सम्यक्त्व प्रकट होता है। ७ प्रकृतियों का उदय होने पर औपशमिक सम्यक्त्व, ७ प्रकृतियों का क्षयोपशम होने पर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और ७ प्रकृतियों का क्षय होने पर क्षायिक सम्यक्त्व प्रकट होता है। देखो पहले तो इस सम्यक्त्व में भिन्नता हो गई कारण भेद से, क्योंकि कारण भेद से भेद जाहिर होता है। अगर कारण भेद से भेद की बात नहीं मानते तो सब जगह एक रूपता हो जानी चाहिए, क्योंकि भेद का उपाय तो कारण भेद है, उस भेद के होने पर भी यहाँ भेद नहीं माना तो सब जगह बात भेद न मानें। सब एक हो गए। न कोई अलग आत्मा रहा, न अलग नाम रहा, न अलग बात रही तो इस सम्यक्त्व में कारण भेद से भेद पड़ा, अब अल्प बहुत्व लगा लो। दुनिया में सबसे कमजीव तीनों सम्यक्त्वों में उपशम सम्यग्दृष्टि मिलते हैं, उसका कारण क्या है? एक तो उपशम सम्यक्त्व अन्तुर्मुहूर्तको होता है और वह अन्तर्मुहूर्त भी ३०–४० मिनट का नहीं किन्तु अधिक से अधिक दो चार सेकेण्ड का। इसके बाद उपशम सम्यक्त्व मिट जाता है। अब इस नाते से देखें कि दुनिया में उपशम सम्यक्त्व करने वाले भी थोड़े हैं। उपशम सम्यक्त्व का भी समय थोड़ा है तो उपशम सम्यक्त्व करने वाले भी थोड़े ही होंगे। उससे अधिक होते संसार में रहने वाले क्षयिक सम्यग्दृष्टि जीव। उपशम सम्यग्दृष्टि से असंख्यात गुणे हैं संसार के क्षायिक सम्यग्दृष्टि, उनसे असंख्यातगुणे हैं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि जीव। क्षायोपशमिक सम्यक्त्वका समय है अधिक से अधिक ६६ सागर। तो देखिए-इतने समय तक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि रहे, तो उनकी संख्या ज्यादह बन जाएगी। इसलिए क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि असंख्यातगुणें हैं। वैसे अगर संसार की विवक्षा न रखें तो सबसे कम उपशम सम्यग्दृष्टि उससे अधिक क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि और उससे अधिक अनंतगुणे क्षायिक सम्यग्दृष्टि होते हैं।

क्योंकि सिद्ध भगवान तो अनन्त हैं, वे सब क्षायिक सम्यग्दृष्टि है। यहाँ संसार में रहने वाले क्षायिक सम्यग्दृष्टि की बात कह रहे हैं, उनसे असंख्यातगुणें हैं औपशमिक और उनसे असंख्यातगुणे हैं क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि। लो देखो अल्प बहुत्व बन गया ना। तो यह समझना कि यह तो अनुयोगद्वार है जिससे पात्र का परिचय कराया है, वह आत्म श्रद्धान के लिए है और परको पररूप से समझने के लिए भी कहा गया है।

भूतार्थनय व अभूतार्थनय का विषय—मोक्षमार्ग का प्रारंभिक साधन सम्यग्दर्शन है, उसका लक्षण इस द्वितीय सूत्र में कहा जा रहा है। प्रमाणभूत वस्तु का, तत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। जो पदार्थ जिस रूप से है उसका उस स्वरूप में विश्वास हो जाना यह कल्याण के लिए अत्यन्त आवश्यक बात है, इसको संक्षेप में कहें तो 'निजको निज, पर को पर जान', यह ही एक मूल उपाय है। निजको जान लें कि यह मैं हूँ, पर को जान लें कि ये पर हैं। अब जरा इस विषय को गहराई से विचारें, वस्तु के जानने की मूल में दृष्टियाँ दो होती हैं। (१) शुद्धनय (२) अशुद्धनय। इनका दूसरा नाम है भूतार्थनय और अभूतार्थनय। शुद्धनयका अर्थ है सहज शाश्वत अखण्ड स्वरूप को निहारना यह शुद्धनय का काम है, और शुद्धनय के विषय भूत अखण्ड वस्तु में क्रमवर्ती या सहवर्ती विशेषों का भान करना अशुद्धनय का काम है जिसे कहो जोड़ तोड़, यह तो अशुद्धनय का काम है। और अखण्ड ज्यों का त्यों, न कुछ जोड़, न कुछ तोड़, यह शुद्धनय का काम है, जैसे आत्मा ज्ञान वाला है, दर्शन वाला है, चारित्र वाला है, आनन्द गुण वाला है, इस तरह गुणों की बात कहना यह आत्मा को तोड़ने की तरह है। आत्मा तो एक अखण्ड तत्त्व है। इसमें तोड़ क्या है? यद्यपि ये शक्तियाँ हैं और इसकी समझ से आत्मा की समझ बतानी है। व्यवहार के आश्रय बिना निश्चय की समझ हम कहाँ से उत्पन्न करें? है, तो भी वस्तु तो एक अखण्ड है। जैसे अग्नि जो है सो है, अखंड है, अब उसको समझाने के लिए हम दो भेद करते हैं। देखो जो जलाए सो अग्नि, जो प्रकाश दे सो अग्नि। यों अनेक वर्णन कर देते हैं। किन्तु अग्नि जो है सो है। उसमें ये भेद नहीं पड़े हैं। अग्नि क्या है यह समझने के लिए भेद किया गया है। और यह भेद सत्य है, व्यवहार असत्य नहीं, किन्तु वस्तु स्वयं अभेद अखण्ड है। उसके समक्ष भेद की बात कहना स्वयं सहज न होने के कारण अभूतार्थ है, स्वयं सत् में न होने के कारण असत्यार्थ है। अब आत्मा को देखिए—भूतार्थनय से, शुद्धनय से, आत्मा एक अखण्ड वस्तु है। उसमें तत्त्वों के भेद करना यह अभूतार्थ है, गुण के भेद करना अभूतार्थ है, पर्याय के भेद करना अभूतार्थ है, पर अभूतार्थ उपकारी है।

अभूतार्थ का द्विविध प्रयोग—अभूतार्थ दो प्रकार के हैं—कोई अभूतार्थ होते हैं औपचारिक और कोई अभूतार्थ होते हैं सत्य। जो उपचार वाला है उसे उन्हीं शब्दों में समझें तो वह मिथ्या है। उपचार का भी अभिप्राय समझें तो मिथ्या नहीं, पर उपचार की जो भाषा

है उसी को सत्य समझें तो वह है मिथ्या अभूतार्थ। देखो जैसे जिस घड़े में घी रखा है उस घड़े को लोग यही तो कहकर पुकारते हैं कि घी का घड़ा ले आवो। भला बताओ घी का भी कोई घड़ा होता है क्या? कदाचित कोई घी का घड़ा बना भी दे तो वह थोड़ी देर में पिघल जाएगा, घी का घड़ा नहीं होता। घड़े में चूँकि घी भरा है, उसे ही लावें, अन्य न लावें इसलिए उस घड़े में घी का उपचार है, अगर कोई उसे ही सत्य समझ ले तो वह मिथ्या है।

भूतार्थनय व अभूतार्थनय की उपयोगिता—आत्मा एक अखण्ड ज्ञानानन्दमय वस्तु है, उसमें कोई भेद करे, पर्याय भेद करे तो वह कहलाता है अभूतार्थ और भेद न करे तो वह कहलाया भूतार्थनय (शुद्धनय), तो इस शुद्धनय का जो आश्रय करते हैं वे सम्यक्त्व पाते हैं। पर शुद्धनय का आश्रय करने लायक हमारी पात्रता कब बने, जब हम शुद्धनय का बहुत-बहुत परिचय कर लें। एक वेदान्त की जागदीशी टीका में कथन आया है कि एक बार एक पुरुष किसी साधु के पास गया तो कहा—महाराज मुझे कुछ उपदेश दीजिए। तो साधु ने कहा—ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूँ, दुबारा गया तो फिर साधुने वही कहा—मैं ब्रह्म हूँ, चितस्वरूप हूँ, तो वह पुरुष बोला—महाराज मुझे तो और कुछ समझाइये। तो साधु बोला—अगर तुम्हें बहुत कुछ समझना है तो अमुक गाँव में एक विद्वान ब्राह्मण रहता है, उसके पास जावो, वह तुम्हें बहुत कुछ बता देगा। वह पुरुष उस ब्राह्मण के पास पहुँचा बोला—महाराज मैं अपना कल्याण चाहता हूँ, मुझे कुछ विद्या सिखलाइये। तो वह ब्राह्मण बोला—ठीक है देखता हूँ, अगर कोई सेवा कार्य तुम्हें मिल जाएगा तो विद्या सिखा दूँगा...देखो तुम हमारी गौशाला की सफाई का काम प्रतिदिन कर लिया करना हम तुम्हें विद्या पढ़ा देंगे। . . . ठीक है। अब वह ब्राह्मण उसे विद्या पढ़ाने लगा और वह पुरुष प्रतिदिन गौशाला की सफाई का काम करने लगा। इस तरह से १२ वर्ष व्यतीत हो गए। बहुत-बहुत विद्याध्ययन करने के पश्चात् उस पुरुष ने कहा—महाराज अब मैं अपने घर जा रहा हूँ, कृपा करके आप मुझे दक्षिणा रूप में अन्तिम शिक्षा दीजिए। तो ब्राह्मण ने कहा—ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूँ, तो वह बोला—अरे इतनी सी बात तो १२ वर्ष पहले हमें एक साधु ने बतायी थी, फिर बताइये क्या १२ वर्ष मैंने व्यर्थ ही गोबर उठाया। तो वह ब्राह्मण बोला—ठीक है, बताया था गुरु ने, मगर तुम्हीं बताओ कि इस ब्रह्मास्मि का मर्म तुमने १२ वर्ष पहले समझा था या अब १३ वें वर्षमें समझ में आया? तो वह बोला—हाँ मर्म तो अब समझे। ऐसे ही भैया! एक मूलभूत निश्चयनय की बात समझाने के लिए व्यवहारनय, अशुद्धनय, अभूतार्थनय, भेदनय इन सबका आलम्बन लेकर, इनके सहारे समझना होता है, तब समझ में आता है।

अभूतार्थनय की उपयोगिता का एक दृष्टान्तपूर्वक कथन—और भी एक दृष्टान्त लीजिए, जैसे आत्मा राजा अपने दरबार में बिराजा है, उसका दर्शनार्थी पुरुष उसके दर्शन करने चलता है तो पहिले एक पहरेदार मिलता है। मानो उस पहरेदार का नाम था मन। मन पहरेदार

से वह पुरुष बोला कि मुझे आत्मा राजा के दर्शन करना है, कृपा करके कराइये तो मन पहरेदार ने उस पुरुष को साथ लिया और कहाँ तक ले गया, जहाँ तक आत्मा राजा के दर्शन कर सकने का स्थान था। पहरेदार राजा के पास तक नहीं ले जाता, उसे वहाँ तक जाने की इजाजत नहीं होती। अब वह मन पहरेदार वहाँ से लौट आया। अब मिलने वाला पुरुष आत्मा राजा से मिले। तो क्या मतलब हुआ इसका? मन कहो व्यवहारनय कहो, यह व्यवहारनय इस पुरुष को वहाँ तक ले गया जहाँ तक कि उस अखण्ड तत्त्व के बारे में भेदनय से बात करने का प्रसंग था। जहाँ जान लिया कि यह है अखण्ड तत्त्व, समझ लिया व्यवहारनय से, अब उस अखण्ड तत्त्व को अनुभव में उतारने के लिए ज्ञान में उसे विषयभूत बनाने के लिए जो एक अनुभव के समय वाली स्थिति है उस स्थिति में मन काम नहीं करता, व्यवहारनय ज्ञान कराता, व्यवहारनय के बाद निश्चयनय का स्वाद लिया और निश्चयनय के बाद उसका भी सहारा छोड़ा और एक समस्त ज्ञान द्वारा उस ज्ञान के द्वारा उस आत्मा का अनुभव किया। ऐसा अनुभव जिसने पाया वह जो कुछ इस आत्मतत्त्व के बारे में समझता उसका साधन है व्यवहार, वह है तो सही बात, तभी वहाँ होता है इसे सम्यक्त्व। उस सम्यक्त्व का लक्षण इस सूत्र में कहा जा रहा है कि तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, अर्थात् तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। तत्त्व का अर्थ है वस्तु स्वरूप सहित अर्थ का याने पदार्थ का, आत्म वस्तु का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

"अर्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनम्" ऐसा सूत्रलाघव करने में आपत्ति का दर्शन—इस प्रसंग में एक शंकाकार अपनी बात रख रहा है कि यह सूत्र अगर इतना ही बनता कि अर्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, तो क्या हानि थी सूत्रलाघव ही होता। तत्त्व शब्द न बढ़ाते तो कुछ हानि तो न थी। बल्कि सूत्र और भी लघु हो जाता। सूत्र अगर छोटा हो तो उसमें तो व्याकरण के विद्वान बड़े प्रसन्न होते है, सो अर्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, इतना ही सूत्र कहना चाहिए था। तत्त्वशब्द बोलना अनर्थक है, क्योंकि अर्थ पदार्थ है। पदार्थ का श्रद्धान किया, वह सम्यग्दर्शन हो गया। अब इसके उत्तर में विचार करें कि यह तत्त्व शब्द न लगाया जाए, केवल अर्थ श्रद्धान ही कहा जाए तो क्या दोष आता है? देखिए—अर्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। तो अर्थ में सभी अर्थ आ जाएंगे। समस्त अर्थ के मायने यह है कि जहाँ तत्त्व ग्रहण नहीं है। तो अर्थ में सभी अर्थ आ जाएंगे। समस्त अर्थ के मायने क्या है कि जहाँ तत्त्व ग्रहण नहीं है, वस्तु स्वरूप की बात नहीं है ऐसा मिथ्यावादियों के द्वारा बताया गया, व्यवस्थित किया गया जो पदार्थ है जो स्वरूप है उसका भी श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन हो जाता, इसलिए अर्थ करना कि वास्तविक स्वरूप सहित पदार्थ श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। यहाँ कोई सोच सकता है कि अर्थ तो वह कहलाता है जो वचन और विकल्प का विषयभूत हो। तो वचन और विकल्प का विषयभूत जो कुछ है वह सही अर्थ है तो क्या बात है! सभी अर्थों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कह लीजिए। अर्थ वही है जो वचन का विषयभूत हो और विकल्प

का विषयभूत हो। तब अर्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शन इतना ही कहा जाए तो इसमें क्या हानि है? उत्तर—यहाँ यह दोष आता है कि जो यह कहा है कि जो वचन और विकल्प का विषयभूत हो, सो वचन विकल्प का विषयभूत तो अनर्थ है, लोग अनर्थ शब्द बोलते हैं उसके बारे में कुछ सोचते भी हैं तो विकल्प का विषयभूत हो गया। जैसे कोई बच्चा ऊधम करता है तो उसको डराने के लिए या चुप करने के लिए माँ या बहिन कहती है कि देखो हौवा आ जाएगा, चुप रहो। अच्छा यह तो बतलावो—वह हौवा किसी ने देखा है क्या? उसकी कोई शक्ल है क्या? वह हौवा कोई चीज भी है क्या? अरे वह कुछ भी तो वस्तु नहीं है लेकिन वचन का विषयभूत है, विकल्पभूत भी है। तो अनर्थ भी वचन के विकल्प के विषयभूत होते। सो अगर इतना सा सूत्र कहा जाए **'अर्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं'** तो उसमें अर्थ का, अनर्थ का सबका श्रद्धान करने की बात आती है, और मिथ्या जो तत्त्व हैं उनके श्रद्धान को भी सम्यग्दर्शन कहना पड़ेगा। इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धानं यह शब्द बिल्कुल ठीक कहा गया है। और भी समझ लीजिए, केवल अर्थ श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं, इतना ही कहा जाता तो अर्थ में तो बड़ा संदेह हो जाता। अर्थ के अनेक अर्थ हैं। अर्थ के मायने धन भी है। कहते हैं ना आर्थिक स्थिति मायने धन सम्बंधी स्थिति। अर्थ के मायने प्रयोजन भी है। अर्थ सिद्धान्त की भाषा में द्रव्य, गुण, कर्म को भी माना है। वैशेषिक लोग मानते हैं कि द्रव्य, गुण, कर्म ये तो अर्थ हैं और सामान्य, विशेष, समवाय ये अर्थ नहीं किन्तु ये कुछ चीज हैं, सत्त्व का अर्थ भी अर्थ होता है। तो अर्थ शब्द से क्या मतलब लेना चाहिए यह सन्देह होगा, होगा ना सन्देह? फिर कैसे अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। कोई सोचता होगा कि धन का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तो शायद लोग राजी हो जाएंगे, जल्दी समझते चले जाएंगे (हंसी) तो किस अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है? तो बताना होगा कि तत्त्वभूत अर्थ का श्रद्धान करना, सम्यग्दर्शन है।

मोक्षमार्ग में यथार्थ उदारता से ही सिद्धि—अर्थ अनर्थ सबके श्रद्धान के बारे में कोई बात रख सकता है कि क्या हर्ज है? आज कल तो उदारता का जमाना है। अरे सभी के अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन हो जाए तो यह तो बड़ा मेल खा जाएगा। जो अन्य मत वाले हैं वे भी और आप भी सब एक जगह आ जाएंगे। कह दो सबके ही अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसमें तो सबका गुजारा होता है। आपको ईर्ष्या क्यों हो रही है कि जो एकान्तवादी हैं उनके अर्थ को सम्यग्दर्शन नहीं कहा। अरे उनका अर्थ भी सम्यक्त्व बोल लो। अरे सारे लोग उन्नति में लग जाएं तो आपको क्या हर्ज है। नित्य एकान्तवादी जो कहे उसका भी श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वेदान्ती जो कुछ कहें उनका भी श्रद्धान करना तो सबके अर्थ को अच्छा कह दो। सब भला। सबके अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और देखिए लोक में उसकी बड़ी महिमा गायी जा रही है जो सब देवताओं को माने सब मत (मजहब) माने, सबका विनय करे, सबकी पूजा करे उसे लोग आजकल बड़ा उदार मानते

हैं तो तुम तो उदार बनो सबके माने हुए तत्त्व के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं ऐसा कह दो, क्यों नहीं उदार बनते? तो देखो भाई यह बहुत बड़ी बात एक शंकाकार ने रखी समझो किन्तु हित के लिए जरा सोचो तो क्या चाहिए आपको? मोक्ष। मोक्ष कैसे मिलेगा? मोक्ष नहीं है तो क्या है? बन्धन। बन्धन के मायने क्या हैं कि जो पर पदार्थ हैं जो मेरे साथ नहीं रह सकते जो माया रूप हैं उनसे मोह बनायें लगाव बनायें, यह ही तो बन्धन है। यही बन्धन मिटे तो मोक्ष हो। तो ऐसा मोह कैसे मिटे कि सत्य बात समझलें तो या असत्य बात का झूठ का लगाव न करें समर्थन न करें तो? मुक्ति के मार्ग की बात कभी भी वस्तु स्वरूप के विपरीत भाव से नहीं हो सकती। जो एकान्तवाद है वह असत्य अर्थ को विषय करता है तो असत्य अर्थ का विषय करने पर इसको मुक्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। भले ही मोह की दुनिया में मोह भरा जीवन बिताने के लिए यह लोकसंघ सत्य असत्य सबका मेल कर रहा। मोह असत्य है, माया रूप है फिर भी घुल मिलकर रहते हैं ये। तो संसार में रुलने का मार्ग अलग है और मोक्ष में पहुँचने का मार्ग अलग है यहाँ यह सत्य अर्थ का ही विषय बने तब इस जीव को सम्यक्त्व हो, मोक्षमार्ग मिले। हमारी ईर्ष्या नहीं है एकान्तवादियों से। यह मुक्ति का सवाल है, यह मोक्ष मार्ग का प्रयत्न है। इस संसार में रुलने वाले जीव को मोक्ष का मार्ग कैसे प्राप्त हो यह उपाय कहा जा रहा है। तो यह सही है कि असत् श्रद्धान करना तो संसार का कारण है और तत्त्वरूप भूतार्थ वस्तु का श्रद्धान करना मोक्ष का कारण है सब जीवों का उपकार हो, इसलिए यह बात कही जा रही है कि तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। अगर दूसरों को खुश करने के लिए सब की बात में हाँ में हाँ मिलाया जाए तो इससे काम न बनेगा। मोक्ष का काम तो मोक्ष के ढंग से बनेगा। इसमें भी संसार के सब जीवों के उपकार की भावना है कि सब जीव तत्त्व की बात समझ लें और संसार के दुखों से छूट जाएं। तो समस्त जीवों के अनुग्रह के लिए यह कहा जा रहा है कि **तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं** अर्थात् तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है।

विपरीत अर्थ के श्रद्धान का निवारण करने के लिए तत्त्व शब्द के निबंधन की आवश्यकता—मूल शंका की यह बात चल रही थी कि अर्थ श्रद्धान सन्यग्दर्शनं इतनी बात कहना चाहिए, तत्त्व श्रद्धान क्यों लगाते? तो समाधान काफी मिल चुका होगा लेकिन जिस किसी को अभी सन्तोष नहीं हो सकता तो उसके मन में एक बात यह आ सकती कि केवल 'अर्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' कहने से वह ही अर्थ बनता जो कि तत्त्वार्थ कहने से बनता पहिले अर्थ का अर्थ समझें, अर्थते इति अर्थः अर्थात् जो निश्चित किया जाए वह अर्थ है। निश्चित कौन होता है जो सत् है। असत् को निश्चित नहीं किया जाता। मिथ्यावादियों द्वारा कहा जो पदार्थ है वह अर्थ नहीं हो सकता क्योंकि वह असत् है। तब 'अर्थ ग्रहणं सम्यग्दर्शनं' इतनी बात कहने से ही प्रकृत बात हो जाती है फिर क्यों तत्त्व का ग्रहण किया? लो यह एक आखिरी समस्या भी रखी कि अर्थ ग्रहण कहने से ही यह बात आ जाएगी कि अर्थ का

अर्थ है सद्भूत। जो निश्चित किया जाए असत् का निश्चय नहीं होता फिर तत्त्व शब्द डालकर सूत्र को लम्बा क्यों किया। अब समाधान में चलो। देखो बात तो ठीक कह रहे कि अर्थ जो है वह सत् होता है और सत् को ग्रहण करना सम्यग्दर्शन है, लेकिन कोई असत् को ही सत् मानकर चले और कह दे कि सत् तो वही है। तो क्या उसका श्रद्धान करना भी सम्यक्त्व हो जाएगा। बात तो ठीक है—दूध पीने से शरीर पुष्ट होता है, मगर कोई आक के दूध को भी दूध कह कर उसे पाव भर पी ले तो क्या वह पुष्ट होगा। अरे वह तो मर जाएगा। तो सत्का ग्रहण करना सम्यग्दर्शन है, ठीक है, किन्तु कोई असत् को ही सत् मानकर उसके श्रद्धान में चले तो उसके सम्यक्त्व न होगा। तो विपरीत ग्रहण न हो जाए इसके लिए तत्त्व शब्द लगाया गया है, कि प्रयोजनिक तत्त्वार्थ का ग्रहण हो, श्रद्धान हो तो सम्यक्त्व होता हैं। जैसे गन्ना मीठा होता है लेकिन जिसको पित्त का रोग हो वह गन्ना चूसता है तो उसे वह रस कड़वा लगता है मीठा होने पर भी पित्तरोग वाले को वह कड़वा लगता है। उसकी इन्द्रियाँ पित्त से आकुलित हो गई हैंतो वह मीठे रस को भी कड़वा मानता है, इसी तरह आत्मा में मिथ्यात्व कर्मका उदय होनें से वे व्यामोही जन उस दोष के कारण वस्तु को एकान्तरूप से सही मानते हैं तो उस दोष का कैसे निवारण हो उसका भी अर्थ समझें। तो ऐसे विपरीत अर्थ का निराकरण करने के लिए तत्त्व शब्द दिया है कि जो भाव सूत्र में कहा गया है वह कितना नपा तुला है कि जिसका कोई शब्द कम कर दिया जाए तो उस शब्द का अर्थ सही न निकलेगा। जिसमें कुछ जोड़ा जाए तो यह व्यर्थ की चीज रहेगी। ऐसी सूत्रों की रचना होती है। सूत्र वह कहलाता कि जिसमें थोड़े अक्षर हों, मगर स्पष्ट अर्थ का प्रतिपादन कर सकें।

यथार्थ पदार्थ की अपेक्षा न करके कल्पनाभिमत तत्त्वों के श्रद्धान के निवारणार्थ सूत्र में अर्थ शब्द का निबन्ध—अब यहाँ कोई यह भी शंका कर सकता कि चलो तत्त्व शब्द जोड़ते हैं ठीक है, मगर तत्त्व इतना ही बोले, 'तत्त्व श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं।' अर्थ कहने की क्या जरूरत? जो तत्त्व है उसका ग्रहण हो जाए श्रद्धान हो जाए उसीको ही सम्यग्दर्शन कहते हैं, तो उसका तत्त्व तो सभी लोग अपना-अपना कहते। जो एकान्तवादी हैं वे भी कहते कि यह तत्त्व है उत्तर यह है कि अथवा यह अर्थ किया जाए कि तत्त्व है इस तरह का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है तो एकान्तवादी भी अपनी मानी हुई चीज में तत्त्व है इस प्रकार से श्रद्धान कर ले वह भी सम्यक्त्व हो जाएगा। आत्मा नहीं है यह ही तत्त्व है ऐसा भी कहने वाले लोग हैं चार्वाक तो आत्मा नहीं है ऐसा श्रद्धान करते तो यह तत्त्व है इस तरह का श्रद्धान भी सम्यक्त्व हो जाएगा। हैं कोई ऐसे दार्शनिक और उनकी युक्तियाँ ऐसी हैं कि जिसका खण्डन करने को भी कुछ बुद्धि चाहिए। एक क्षणिकवादी लोग हैं जो आत्मा को तो मानते हैं, पर इस तरह मानते हैं कि आत्मा क्षण-क्षण में नया-नया उत्पन्न होती रहती है एक शाश्वत आत्मा नहीं है जो अनादि से अनन्त काल तक रहता है लाखों करोड़ों

आत्मा इस शरीर में एक ही घन्टे में निरन्तर नये-नये पैदा होते जाते हैं। कोई कहे कि यह मैं आत्मा हूँ तो वह संसार में रुलेगा। क्षणिकवादियों की युक्ति देखो जो आत्मा पैदा हुआ वह तो तुरन्त मिट गया तो जो श्रद्धा करे कि भाई मैं आत्मा हूँ इतने समय में दूसरी आत्मा पैदा हो जाएगा तो उसे दूसरा आत्मा मानते कि यह मैं हूँ तो बताओ वह मिथ्या हुआ कि नहीं? क्षणिकवादियों का दर्शन कह रहे हैं। तो जो यह मान लें कि आत्मा हुआ दूसरा तो पहिला मिट गया फिर दूसरा हुआ तब वह भी नहीं तो यह श्रद्धा जो कर ले कि आत्मा यही है उसका मोक्ष न होगा। यह तथागत दर्शन है। तो यह भी तो एक दर्शन है। तो योंभी श्रद्धान करना सम्यक्त्व हो जाएगा। चार्वाक तो खुलकर कहते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु यदि ये मिल गए तो ऐसा एक करेन्ट आया कि यह जानना बोलना आदि चलने लगा। जापानी लोग भी तो ऐसे खिलौने बनाते हैं गुड्डा गुड़िया आदिक कि उनमें कोई मसाला भर दिया, बटन दबा दिया और खिलौने हाथ, पैर, मुख आदि से अनेक प्रकार की क्रियाएं करने लगते हैं। ऐसे ही पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु इनके मेल से एक करेन्ट आ जाता है, जिससे अनेक क्रियाएं होने लगती हैं। वह आत्मा है कहाँ? वे बिखरे तो आत्मा भी बिखर गया। अब बताओ इसके निराकरण के लिए भी बुद्धि चाहिए। लोगों को जहाँ आराम मिले और विषय भोगने में उनको एक सामर्थ्य मिले उस धर्म की श्रद्धा करने में, उस धर्म के मानने वालों को देर नहीं लगती। वे तो चाहते हैं कि हमें कुछ संयम आदि के कष्ट न करने पड़ें, और ऐसा धर्म मिल जाए कि बात बात में गप्प-गप्प में मोक्ष हो जाए, तो ऐसे धर्म का प्रचार तो बहुत जल्दी हो सकता है। तो चार्वाकमत के अनुयायी प्रायः सारी दुनिया है। तो हाँ ऐसे भी लोग तत्त्व मानते हैं, तो ऐसे एकान्त का भी श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन हो जाता यदि यहाँ अर्थ शब्द न होता, तत्त्व तो सभी में निकलता है। हाँ, अगर तत्त्व हो और वहाँ पदार्थ जैसा है जैसा मानते हैं तो वहाँ श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और भी देखो—तत्त्व सामान्य, विशेष, समवाय इनको भी लोग तत्त्व कहते हैं। द्रव्यादि भी जुदा हैं, वे भी और पदार्थ हैं। जो चीज ही नहीं है उसे भी पदार्थ मानें क्या? तो क्या ऐसे असत् का श्रद्धान भी सम्यग्दर्शन होगा? नहीं हो सकता। इसलिए तत्त्वार्थ श्रद्धानं बिल्कुल ठीक कहा है।

'तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं' इन शब्दों में सम्यक्त्व लक्षण की युक्तता—अच्छा एक बात और, इसमें शंका, भी हो सकती कि यदि उसका एक विग्रह कर दिया जाए कि "तत्त्वेनश्रद्धानं" याने तत्त्व के मार्ग से तत्त्व का श्रद्धान का नाम तत्त्व श्रद्धान है, तब तो अनर्थ की बात न आएगी। तो उसमें यह बात सोचने की है कि ऐसा कहने पर भी यही तो पूछा जाएगा कि किसका श्रद्धान करना? तत्त्व से श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। किसका श्रद्धान करना, किस में श्रद्धान करना, यह बात समझना बाकी रह जाती है। उसका नाम है अर्थ। तो तत्त्व से अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। बात आखिर यह ही आयी, इसलिए यह लक्षण बिल्कुल ठीक कहा गया है। तत्त्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वह तत्त्वार्थ क्या है?

आत्मा का वह सहज स्वरूप, अपने को बारम्बार इस तरह से विचारें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान-ज्ञान ही हूँ, ज्ञान सिवाय और कुछ नहीं हूँ। ज्ञान में ज्ञान स्वरूप को ही लीजिए, अन्य सबका ख्याल भुला दीजिए। जब ज्ञानमें यह सहज ज्ञान स्वरूप ज्ञेय बन गया उस समय ज्ञान और ज्ञेय एक हो गए। ज्ञान से भिन्न ज्ञेय न रहा। तो वहाँ एक निर्विकल्प स्थिति उत्पन्न होती अनुभूति होती। उस अनुभूतिपूर्वक जो श्रद्धान है उसे सम्यग्दर्शन कहते हैं।

श्रद्धान का इच्छा से विलक्षण अर्थ—संसार के दुःखी जीवों को संसार के दुःखों से छुटाने का आशय रखने वाले आचार्य इस मोक्षशास्त्र के द्वितीय सूत्र में कह रहे हैं कि **"तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं"**। प्रयोजनभूत अर्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, इस विषय में बहुत कुछ विश्लेषण हो चुका है। अब यहाँ एक बात रखी जा रही है कि श्रद्धान का अर्थ इच्छा ठीक बैठ रही है, क्योंकि किसी वस्तु को त्याग करने की इच्छा, हेय को छोड़ने की इच्छा हो, उपादेय को ग्रहण करने की इच्छा हो तो यह इच्छा तो बहुत अच्छी चीज है और यह ही कहलाता है धर्मपालन। तो इच्छा का ही नाम श्रद्धान है और इच्छा रूप श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है। शंकाकारने बात एक मोटे शब्दों में रखी है, जैसे कि लोगों का भाव बना रहता है कि हेय का त्याग करें, उपादेय का ग्रहण करें, व्रत नियम आदि करें, इस प्रकार की जो इच्छा हुई, बस यह ही तो श्रद्धान है। शंकाकार ने अपनी बुद्धि अनुसार कहा तो यह, लेकिन यह उपयुक्त नहीं बैठता, क्योंकि यदि इच्छा का ही नाम श्रद्धान रखा जाए तो जिनको मोह नहीं है उनको इच्छा भी नहीं है। तो जो मोहरहित हैं ऐसे पुरुषों में फिर श्रद्धान न बन सकेगा, क्योंकि उनके इच्छा तो है नहीं। इच्छा तो मोह का ही कोई परिणाम होता है। तो इच्छा श्रद्धा है ऐसा कहने पर मोही को श्रद्धान नहीं रह सकता। और जब श्रद्धान नहीं रह सकता तो फिर ज्ञान और चारित्र कहाँ ठहरेंगे? फिर तो मोक्षमार्ग ही नहीं मिल सकता। जो मोह रहित जीव हैं उनके इच्छा नहीं, क्योंकि इच्छा तो मोह का कार्य है, अगर मोह रहित जीव के भी इच्छा का प्रसंग हो गया, और जब इच्छा स्वभाव ही बन गया तो फिर मुक्ति नाम ही किसका? मुक्ति तो उसे कहते हैं जहाँ विकार नहीं रहा। जब इच्छा मान ली गई तब तो मुक्ति कुछ न रही, न आत्मीय सुख का कोई उपाय रहा। हाँ शंकाकार की बात लोगों को कुछ भली जंचती हैं। त्याग करने वाली चीज की इच्छा करना इसका नाम श्रद्धान है, और ऐसी इच्छा मोहरहित साधुवों की, त्यागियों की इच्छा यह सब मोह का कार्य नहीं है, वह तो उनका कार्य है। ऐसा यदि अभिप्राय रखेंगे तो यह भी युक्त न बैठेगा, क्योंकि इच्छा को यदि मनका कार्य समझा जाएगा तो जैसा साधुवों का मन है और उनको हेय, त्याज्य, अनुचित पदार्थों को छोड़ने की इच्छा जगती है, तो जिन जिन के मन है उन सबको भी ऐसी इच्छा जग जानी चाहिए, क्योंकि मन इनके भी है और मन असाधुवों के भी है, लेकिन देखा तो नहीं जाता। कोई बिरला ही उदासीन पुरुष हेय को छोड़ने और उपादेय को ग्रहण करने की इच्छा रखता, बाकी तो मन वाले जीव जैसे पड़े हैं कि जिन्हें हेय के त्याग की इच्छा नहीं

जागती। तो कैसे जाना जाए कि यह मन का कार्य है। यदि मात्र मन का कार्य हो तो ऐसी इच्छा सबके जगनी चाहिए थी। तो मालूम होता है कि मात्र मनका कार्य नहीं, किन्तु उसके साथ जो मोहभाव लगा है उसका कार्य है,। इच्छा मोह का कार्य है वह मुक्त जीवों में या निर्मोह साधुवों में कैसे सम्भव हो सकता है, फिर उनका श्रद्धान ही न माना जाएगा और श्रद्धान नहीं, तो ज्ञान और चारित्र कुछ न रहा, यों मुक्ति मार्ग का अभाव हो जाएगा।

सम्यग्ज्ञान सापेक्ष मन कार्य रूप इच्छा में भी श्रद्धानार्थत्व का अभाव—यदि कोई ऐसे मन में आशंका रखें कि सभी जीवों के मन का कार्य नहीं है यह इच्छा, किन्तु सम्यग्ज्ञान के साथ-साथ मनका कार्य चले तो ऐसी इच्छा होती है कि हेय को त्याग दिया जाए तो ऐसी इच्छा जो फैली है, इसी का नाम श्रद्धान होता है, तब तो सभी मन वालों के इच्छा जगे ही जगे, यह तो अनिष्ट आपत्ति नहीं होती। ऐसी आशंका रखने वाले यह सोच विचार करें कि देखो किन्हीं-किन्हीं मिथ्यादृष्टि जीवों के मिथ्याज्ञान हो रहे हों तब भी उदासीन अवस्था हो जाने पर हेय को छोड़ने की और उपादेय को ग्रहण करने की कोई इच्छा हो जाती है, अतः यह भी नहीं कह सकते कि वास्तविक सम्यग्ज्ञान के साथ ही ऐसी इच्छा होती है, और फिर यह तो देखिए कि कई सम्यग्दृष्टि जीव जो गृहस्थ हैं, घर में रहते हैं ऐसे श्रावक के है तो सम्यग्ज्ञान, लेकिन जब राग द्वेष की तीव्रता होती है तो कैसे वे कुटुम्ब, धन आदि को छोड़ सकते हैं? और राग द्वेष विशेष होने पर दीक्षा ग्रहण करने की भी इच्छा न हो तो यह नहीं कह सकते कि सम्यग्ज्ञान के साथ इच्छा होने का कार्य है यह। कहीं ज्ञान के बिना भी इच्छा देखी जाती, कहीं ज्ञान के होने पर भी इच्छा नहीं पायी जाती। इससे यह भी नहीं कह सकते कि सम्यग्ज्ञान सापेक्ष मन का कार्य है इच्छा, जिसे श्रद्धान कहा जा रहा। श्रद्धान इच्छा को नहीं कहते। सम्यग्दर्शन का वास्तविक स्वरूप तो अवक्तव्य है। यों कहो कि जिस शुद्ध भाव को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उस सम्यक्त्व का जिसके सद्भाव हुआ है ऐसे पुरुष का अन्दर में मन संसार से उदासीन है और विरक्त हो जाता है। तो इच्छा का नाम श्रद्धान है। यह बात युक्त नहीं जंचती, किन्तु तत्त्वार्थ की प्रतीति सहित जो ज्ञान की दृढ़ता है वह सम्यग्दर्शन का कार्य है।

सम्यग्दर्शन अद्वैतात्म परिणाम—अब इस समय एक उल्झन यह रखी जा सकती है कि मोक्ष जीव और कर्म दोनों का कार्य मालूम होता है। जब मोक्ष हुआ तो मोक्ष का अर्थ यह है कि जीव और कर्म दोनों अलग हो गए, तो मोक्ष नाम का जो कुछ तत्त्व है वह दो में रहा। एक में कहाँ मोक्ष होता। मोक्ष शब्द घटित होता है जहाँ संयोग पहले दो का हो और फिर उसका वियोग हो जाए। तो जैसे मोक्षरूप परिणमन जीव और कर्म दोनों में घटित होता है इसी प्रकार मोक्ष का कारणभूत जो श्रद्धान है उसे बहुत से लोग कह भी बैठते हैं कि इनका भाग्य अच्छा नहीं है, सम्यक्त्व नहीं हो पा रहा, इस कारण जीव और कर्म दोनों

की पर्याय मानना चाहिए सम्यग्दर्शन को। समाधान—यह बात यों युक्त नहीं बैठती कि यदि सम्यग्दर्शन को जीव और कर्म दोनों की प्रकृति मान लिया जाता है तो मोक्ष में सम्यग्दर्शन का अभाव हो जाएगा। मोक्ष होने पर भी खाली एक जीव ही जीव है, कर्म का तो वियोग हो गया। जब कर्म का सद्भाव नहीं तो कर्म और जीव दोनों में रहने वाले शंकाकार के अभिप्राय वाला सम्यग्दर्शन एक जीव में कैसे हो सकता है? तो मोक्ष अवस्था में भी उसका अभाव हो जाएगा, क्योंकि जब कर्म नहीं हैं तो कर्म का परिणाम कहाँ से हो? तो भले ही मोक्ष जीव और कर्म दोनों के विकार का निमित्त होने से दोनों का अपना-अपना मोक्ष कह लीजिए। वस्तुतः तो जब एक जीव पर दृष्टि डालो तो मोक्ष का अर्थ यह हुआ कि यह जीव अकेला रह जाए। तो जो अकेलापन है वह ही मोक्ष स्वरूप है। अकेलापन का अर्थ है कि शरीर न हो, कर्म न हो, विषय कषाय न हों, किसी प्रकार का विकार न हो, ऐसी जो एक जीव की स्वभावदशा है उसका नाम मोक्ष है। यह स्वभाव दशा कहीं बनाने से नहीं बनती। यह तो जो है सो ही प्रकट हो गया, यों कहो। तो मोक्ष बनता नहीं है, किन्तु जो है सहज सत्त्व इस पदार्थ का अपने आपका निज स्वरूप वही प्रकट हो गया। इसी के मायने है मोक्ष।

दृष्टान्तपूर्वक आत्म विकास में मोक्ष रूपता की सिद्धि—देखिए जैन शासन की परम्परा में, कि पाषाण की मूर्ति बनाते हैं, जिसमें प्रभु की, तीर्थंकर की स्थापना करते हैं, उसका निर्माण भी इसी बात को पुष्ट करता है कि भगवान बनाने से नहीं बनते, किन्तु जो है सो ही व्यक्त हो गया इसी के मायने है भगवान। मूर्ति भी तो इसी तरह बनती। मूर्ति बनायी नहीं गई, किन्तु जो पाषाण में मूर्ति व्यक्त हुई, लोगों को दिखी उतने अंश में, स्कंध में पाषाण पहले उसमें था वही प्रकट हो गया, इसके मायने प्रतिमा है। कारीगर ने उस प्रतिमा में कुछ लगाया नहीं, किन्तु प्रतिमा पर आवरण करने वाले जो पाषाण खण्ड थे उनको हटाना ही हटाना है। पहले बड़े छेनी हथौड़े से बड़ा आवरण हटाया, बाद में छोटे छेनी हथौड़े से छोटे-छोटे पाषाण खण्ड हटाया और उसके बाद अत्यन्त छोटे छेनी हथौड़े से अत्यन्त छोटे पाषाण खण्ड हटाये। लो मूर्ति जो थी सो प्रकट हो गई। तो वहाँ उस कारीगर ने काम क्या किया? तो यही बात सिद्ध भगवान के विषय में समझना। जो स्वभाव है, अनादि अनन्त वस्तु का प्राण, अपने आप जो वस्तु में है वही प्रकट हो गया उसको कहते हैं सिद्ध भगवान। तो मोक्ष भी क्या है? भले ही शब्द दृष्टि से यह कहा जाएगा कि कर्म और जीव का सम्पर्क हटना सो मोक्ष है, पर मोक्ष होने पर जीव की स्थिति क्या होती है इस बात पर विचार करो तो वहाँ भी एक स्वरूप की ही बात समझ में आएगी।

सम्यग्दर्शन की केवलात्मपरिणामरूपता—अद्वैतात्यविकासरूप मोक्ष का कारण जो श्रद्धान है वह तो जीव और कर्म दो की पर्याय है ही नहीं, बल्कि आत्मा के शुद्ध परिणाम के निमित्त से कर्म की सामर्थ्य का घात होना है। तो कर्म का कहीं अकर्मत्व पर्याय होगा?

सम्यग्दर्शन तो स्वयं कर्म का विनाश करने का निमित्त है। वह क्या कर्म को साथ लेकर अपनी परिणति बनाएगा? कर्मका पर्याय या कर्म व जीव दो का मिलकर सम्यग्दर्शन पर्याय नहीं है। सम्यग्दर्शन तो जीवका ही एक अभिन्नपरिणाम है। क्योंकि सम्यग्दर्शन तो मोक्ष का प्रधान कारण है। सम्यग्दर्शन तो आत्मा से कभी दूर होगा ही नहीं। जैसे सम्यग्ज्ञान प्रकट हो गया तो क्या ज्ञानावरण कर्म का कार्य है? ज्ञान तो आत्मा का स्वरूप है। कर्म का अभाव होने पर आत्मा में ज्ञान प्रकट हुआ है। जो था वही परिपूर्ण सामर्थ्य के साथ प्रकट हुआ है। यों ही सम्यग्दर्शन जो सम्यक्त्वपूर्ण है वही आवरण हटने पर स्वयं परिपूर्ण सामर्थ्य में प्रकट हुआ है। मोक्ष का प्रधान कारण सम्यग्दर्शन है, क्योंकि वह असाधारण आत्मा का धर्म है। सम्यग्दर्शन आत्मा को छोड़कर अन्य कहीं नहीं पाया जाता। तो यह सम्यग्दर्शन असाधारण धर्म है। निजधर्म है क्योंकि मुक्त होने वाले पुरुष के अन्य कुछ हो ही नहीं सकता मोक्ष का कारण। आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण ही मुक्ति का कारण हो सकता है। तो श्रद्धान जीवरूप है, आत्मा से अभिन्न परिणाम है, ऐसे सम्यक्त्व परिणाम में भेदनय से देखने पर निर्देश स्वामित्व आदि सब घटित हो जाते हैं, पर यह सब समझाने के लिए हैं। वस्तुतः तो आत्मा एक अखण्ड है और उसका जो कुछ शुद्ध परिणाम है। वह भी आत्मा से अभिन्न परिणाम है।

सरागसम्यक्त्व व वीतराग सम्यक्त्व में भेद व्यदिष्ट होने पर भी सम्यक्त्व लक्षण की समानता—अब सम्यग्दर्शन के लक्षण को निर्दोष बताने के बाद जरा सम्यक्त्व की विशेषताओं पर भी ध्यान दीजिए। सम्यक्त्व तो वस्तुतः एक ही है, पर अपेक्षा-भेद से सम्यक्त्व के दो भेद कहे जा सकते हैं। (१) सरागसम्यक्त्व और (२) वीतराग सम्यक्त्व। सराग सम्यक्त्व तो वह है जहाँ प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि की अभिव्यक्ति है। सराग सम्यक्त्व तो वह है जहाँ वीतराग सम्यक्त्व की भाँति कोई बाहरी चिह्न नहीं है, जितने में सम्यक्त्व की परख की जाए। सराग सम्यक्त्व में मन, वचन, काय की ऐसी चेष्टा होती है कि जिस लक्षण से सम्यक्त्व का अन्दाज कर लिया जाता है। सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व के लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं कि जो रागी जीव के सम्यक्त्व है वह सराग सम्यक्त्व है और जो वीतराग के सम्यक्त्व है वह वीतराग सम्यक्त्व है। दोनों प्रकार के लक्षणों में विरोध कुछ नहीं आता, पर एक समझने के लिए प्रधान लक्ष्य देने का फर्क है। सम्यग्दर्शन तो विशुद्ध निर्मल सबके हुआ करता है, जिसका जितने अंश में प्रकट हो। औपशमिक और क्षायिक तो एक समान प्रकट होते है, क्षायोपशमिक में कुछ भेद है। कारण में भी अन्तर उनका यह है कि औपशमिक और क्षायिक तीन करण परिणाम के बाद होते हैं और क्षायोपशमिक दो करणपरिणाम के बाद होता है। अगर क्षायोपशमिक सम्यक्त्व जग गया तो उसमें कुछ दोष सूक्ष्म हो सकते हैं। सम्यक्त्व प्रकृति का उदय होने से चल, मलिन, अगाढ़ आदि हो जाते हैं। फिर भी सम्यक्त्व जितने अंश में प्रकट है वह तो सम्यक्त्व एक सा ही है। सम्यक्त्व

में सबसे भिन्न अन्य पदार्थों से निराला, विकारों से भी परे आत्मा के सहज स्वभाव का विश्वास होता है। सरागसम्यक्त्व और वीतरागसम्यक्त्व के ये लक्षण कहे जा रहे हैं। लक्षण समीचीन वह होता है जो लक्षण अपने लक्षण में पूर्णतया व्यापकर रहता है। सम्यग्दर्शन का निर्दोष लक्षण सरागसम्यक्त्व और वीतराग सम्यक्त्व से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। सम्यग्दर्शन जिसे कहते हैं वह बात दोनों सम्यक्त्व में है, फिर भी सराग जीव के जो सम्यक्त्व पाया जाता है वहाँ प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य, इस तरह का परिणाम देखा जाता है, जिससे सराग सम्यक्त्व की प्रसिद्धि होती है। यहाँ उन चिह्नों को लिया जो चिह्न रागभाव के बिना नहीं होते, और रागभाव बिना जो परम दर्शन है उसका कोई चिह्न नहीं प्रकट होता। भले ही यह कहें कि जब वीतराग मुद्रा के दर्शन किए जाते है तो कभी वह हंसती हुई मालूम होती और कभी वह प्रतिमा उदास मालूम होती है। तो वहाँ बात क्या है कि जब आप स्वयं प्रसन्न चित्त होकर प्रतिमा के दर्शन करते हैं तो वह प्रतिमा प्रसन्न मालूम होती है, और जब आप उदास होकर दर्शन करते हैं तो आपको वह प्रतिमा भी उदास मालूम होती है। तो वहाँ प्रतिमा की तरफ से कोई बात नहीं है। वह तो आपकी कल्पना से प्रसन्न और उदास दिखी, उस प्रतिमा की ओर से कोई चिह्न मिले यह बात नहीं हो सकती। ऐसी बात तो सराग जीव के ही हो सकती है। सरागसम्यक्त्व का लक्षण है प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य ये प्रकट हुए। और वीतराग सम्यक्त्व का लक्षण है—आत्मा में विशुद्धि मात्र। अब यहाँ कोई यह दोष नहीं ला सकता कि दर्शनमोहनीय का उदय जहाँ नहीं है ऐसा किसी महान आत्मा का जो स्वाभाविक श्रद्धान है, जैसा वह ठीक सराग सम्यग्दृष्टि में पाया जाता है, वीतराग जीव में आत्मरूप श्रद्धान ही तो है। तो सराग सम्यक्त्वका जो लक्षण कहा है वह तो उचित नहीं होता। वह लक्षण वीतराग सम्यक्त्व में भी लगा, सराग सम्यक्त्व में भी लगा। तो जो लक्षण लक्ष्य में सबमें प्रकट हो वह तो निर्दोष होता और लक्ष्य को छोड़कर अन्य में प्रवेश न हो वही तो निर्दोष कहलाएगा। यह कैसे निर्दोष है? तो यहाँ बात यह समझना है कि एक ओर से नियम लगावें प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पादि जहाँ प्रकट होते हैं वह तो सराग सम्यक्त्व ही है। चाहे सब जीवों में यह चिह्न नहीं दिख सकता, पर जहाँ यह चिह्न दिख जाए नियम से वह सराग सम्यग्दृष्टि है।

सरागसम्यक्त्व के चिह्नों में प्रशमभाव का निर्देश—चिह्नों के लक्षण देखिए—प्रशम का अर्थ है—किसी जीव ने चाहे तुरन्त अपराध किया हो या पहले, ज्ञानी पुरुष सम्यग्दृष्टि जीव उन अपराधों की प्रतिक्रिया नहीं करता अर्थात् उसके अहित की भावना नहीं रखता। जैसे माँ बच्चे को दूध पिलाए अथवा दवा पिलाए, और वह बच्चा पीना नहीं चाहता, तो माँ उसे थप्पड़ मारती है तिस पर भी उस बच्चे के प्रति उस माँ के अहित का भाव नहीं होता इसी तरह ज्ञानी जीव अपने किसी शिष्य का प्रतिकार करे, दण्ड दे, इतने पर भी उसकी उस पुरुष के प्रति अहित की भावना रंच नहीं है, वह तो एक व्यवस्था है। प्रशमभाव उसे कहते

हैं, जहाँ क्षमा का भाव प्रकट होता है। देखिए-जिसने सब जीवों में एक उस स्वभावको निरखा है, जो सबमें है, भगवन्तों में है, उस स्वभावका आश्रय करने वाले पुरुष को सर्व जीवों के, प्रति क्षमा का भाव रहता है। क्रोध और ऐब का रंच परिणाम नहीं होता। प्रशम उसे कहते हैं कि चाहे तुरन्त अपराध किया हो चाहे पहिले किया हो तो भी उस अपकारी जीव पर अहित का भाव न लाना और उसे क्षमा कर देना यह है प्रशमभाव। आप समझिये कि जिसने अपने आपके अन्तः प्रकाशमान उस सहज ज्ञान स्वभाव का अनुभव किया है, जिसने उस अनुभव के आनन्द को पाया है ऐसा अनुपम आनन्द पा लेने वाला पुरुष बाहरी बातों में क्या उपयोग फंसाये? उसके सहज प्रशमभाव होता है। प्रशम भाव में अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व का उदय नहीं रहता। सम्यक्त्व प्रकृति का भी किसी-किसी के उदय नहीं है। क्षयोपशम (वेदक) सम्यक्त्व में सम्यक्त्व प्रकृति का जो उदय है तो वह सम्यक्त्व प्रकृति भी इस जीव का बिगाड़ नहीं कर पाती, सम्यक्त्व का विनाश नहीं कर पाती। यद्यपि मिथ्यादृष्टि जीव के भी कुछ क्षमा शान्ति जैसी बात कहीं-कहीं पायी जा सकती है लेकिन अनन्तानुबन्धी और मिथ्यात्वादिक प्रकृतियों के उपशम अनुदय जहाँ न हो, वहाँ भले ही प्रशमभाव ऊपर से जंच रहा हो वास्तविक प्रशम नहीं है। सम्यग्दृष्टि के वास्तविक प्रशमभाव है, क्योंकि अनन्तानुबन्धी आदि प्रकृतियों का अनुदय होने से वहाँ वास्तविक प्रशमभाव प्रकट हुआ। यद्यपि बाहरी दृष्टि से प्रशम और प्रशमाभास कहे गए। अज्ञानी जीव के प्रशमाभास है, ज्ञानी जीव के प्रशमभाव है, लेकिन प्रशम का वास्तविक अर्थ किया गया है कि जहाँ अनन्तानुबंधी आदि की प्रक्रिया न हो वह प्रशमभाव है। तो यह अज्ञानियों में सम्भव नहीं। भली प्रकार से परीक्षा की जाए तो प्रशम और प्रशमाभासका अन्तर भी समझा जा सकता है। तो सम्यग्दृष्टि में यह स्वभाव से गुण प्रकट होता है। वह दूसरे जीवों पर क्षमा का भाव रखता।

सरागसम्यक्त्व के चिह्नों में संवेगभाव का निर्देश—सम्वेग-जो सम्यग्दर्शन का, सराग सम्यक्त्व का चिह्न है उसका लक्षण है कि संसार में भयभीतपना होना सो सम्वेग है। संसार नाम है द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, और भवपरिवर्तन का। इनमें सब ही संसार आ गया, भाव संसार आया, द्रव्य संसार आया। जहाँ अज्ञानमय परिणाम है, भ्रमभरा भाव है वहाँ संसार में कुयोनियों में सर्वत्र जन्म-मरण होता रहता है। वह रागद्वेष रूप संसार है। रागद्वेषादि भाव परिवर्तन में जितने प्रकार के भाव हैं वे सब इस परिवर्तन के कारण बनते रहते हैं, तो वे सब विकार संसार हैं, उन विकारों से भीतता होना यानि विकारों से दूर होने का भाव रखना सो सम्वेग है। जितने भी उपद्रव हम आप पर हैं वे सब रागद्वेष मोह से हैं। मोह से बढ़कर और विपदा क्या? किसी जीव से लेन-देन नहीं, सम्बन्ध नहीं, प्रत्येक जीव अपने कर्म लिए हैं, अपनी परिणति से उसका परिणमन होता है। अनन्तानन्त जीव हैं, उनमें से कोई दो चार जीव आपके घर में आ गए तो आपका उनसे क्या सम्बन्ध? सबका द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव

अपने आपमें है। किसी का किसी से कुछ सम्बंध नहीं, लेन-देन नहीं, फिर भी उनमें इतना लगाव है जिससे इतने कष्ट पा रहे हैं, यह विपत्ति नहीं है तो क्या है? तो इन विपत्तियों से दूर होने का परिणाम होना सम्वेग है याने विपत्तियों से हटने के परिणाम का नाम सम्वेग है। ऐसा सम्वेग ज्ञानी जीव को प्रकट होता है। जिसने अपने आप से स्वाभाविक आनन्द का अनुभव किया है, सत्य ज्ञानानन्दस्वरूप को तका है उस पुरुष को बाहरी सुख दुःख में क्या लगाव होगा? तो संसार से अलग होने, हटने, उपेक्षा होने का नाम सम्वेग है।

सरागसम्यक्त्व के चिन्हों में अनुकम्पा व आस्तिक्यका निर्देश—अनुकम्पा-सर्व जीवों में दया उत्पन्न होना अनुकम्पाभाव है। वास्तविक दया यह है कि इन प्राणियों को जो व्यर्थ का दुःख हो रहा है उनके प्रति ऐसा भाव हो कि अहो, ये प्राणी कैसा अपने आत्म स्वरूप को भूल गए, उसका श्रद्धान नहीं किया, अपने स्वरूप की ओर दृष्टि को नहीं किया। ये अपने निज स्वरूप को जान जाएं तो इनका यह सारा दुःख मिट जाए। इस प्रकार का करुणा का भाव ज्ञानी जीव के उत्पन्न होता है। कारण यह है कि दुःख सहने पर, संक्लेश करने पर इस जीव की अधोगति होती है। क्यों हुई ऐसी निम्न दशा? इनका दुःख दूर हो, प्रशम भाव का अनुभव करें और अपने को मोक्षमार्ग में लगाएं, ऐसी सद्भावना से ओतप्रोत होकर संसार के प्राणियों की दया करना यह है अनुकम्पा। वास्तव में अनुकम्पा तो जीव अपने आप पर ही कर पाता है मैं दूसरे पर दया करता हूँ ऐसा विश्वास करना मिथ्या है। कोई किसी दूसरे पर दया नहीं कर सकता। जो भी दया करता है वह अपने आप पर करता है। जब किसी का दुःख देखकर चित्त में वेदना होती है तो वह अपने आप की वेदना शान्त करने के लिए ही चेष्टा किया करता है। तो किस पर दया की? अपने आप पर। कोई बड़ा भूखा हो, भूख से चिल्ला रहा हो तो उसे देखकर किसी गृहस्थ को उसके दुःख का अन्दाज ही तो हुआ और उस अन्दाज के आने से स्वयं में किसी न किसी रूप में दुःख उत्पन्न हुआ। अब अपने दुःख की शान्ति के लिए वह एक चेष्टा करता है, उस भूखे को भोजन कराता है। तो वास्तव में अनुकम्पा अपने आपकी भलाई के लिए ही तो है। सम्यग्दृष्टि जीव में एक नैसर्गिक गुण ऐसा आता है कि उसकी अनुकम्पा जगती है। ऐसी अनुकम्पा का चिन्ह लखकर कोई भी ज्ञानी पुरुष समझ लेता है कि इसको सम्यक्त्व है। यों सराग सम्यक्त्व का चिन्ह है अनुकम्पा। आस्तिक्य—जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्बर आदि का श्रद्धान करना, विश्वास रखना युक्ति और आगम से अविरुद्ध जो कुछ भी पहिचान है उसमें यथार्थता की दृष्टि रखना यह ऐसा ही तत्त्व है लोक है परलोक है, आत्मा है, पुण्य पाप हैं, संसार है मोक्ष है, ऐसा भाव रखने को आस्तियभाव कहते हैं। जिस पुरुष के आस्तिक्यभाव है उस पुरुष के परिणाम निर्मलता की ओर बढ़ते हैं, और जो कहते हैं कि आत्मा फात्मा कुछ नहीं है, यह सब एक बहाना है, भौतिकतत्त्व है, तो वे आत्मा का बन्धन क्या तकेंगे? और आत्मा में मुक्ति की बात क्या जोड़ेंगे? सम्यग्दृष्टि पुरुष के सब यथार्थ निर्णय है। जीव का निज स्वरूप क्या है। वर्तमान में जीव किस दशामें चल रहा है? उसका

क्या परिणाम बन रहा है? इस बन्धन परिणाम से जीव कैसे हट सकता है? जीव का कल्याणमय परिणाम क्या है? सब पर उसे विश्वास है। उसके आस्तिक्यभाव प्रकट होता है। तो ये चारों ही गुण सम्यक्त्व की पहिचान है।

प्रशमादिलक्षणों की सम्यक्त्वानुमापकता का दिग्दर्शन—वस्तुतः तो प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य से अपने आपके सम्यक्त्व का अनुमाप होता है, क्योंकि सम्यग्दर्शन तो परोक्ष है। सर्वज्ञदेव के अतिरिक्त अन्य जीवों को तो अनुमान से ही ज्ञात हो सकता। तो इन चारों गुणों में से १, २, ३ या ४ जो भी गुण स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष से जाने गए, खुद में खुद का प्रत्यक्ष किया गया उससे ज्ञात यह चिह्न सम्यक्त्व का अनुमान करा रहा है फिर जब अपने ही चिह्न से सम्यक्त्व का अनुमान किया तो ऐसा चिह्न जब दूसरे में दिख गया तो वहाँ उस सम्यक्त्व का अनुमापक होता है। तो इस अतीन्द्रिय सम्यग्दर्शन गुण को सिद्ध करने वाला ज्ञायक हेतु, पहिचान करा देने वाला लक्षण सम्यक्त्व का प्रख्यापक है। प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य इन चार गुणों का जो स्वरूप है और उसका जो एक मर्म है वह सब सम्यग्दृष्टि जीवों में पाया जाता है लेकिन जो इन चिह्नों में अभिव्यक्ति होती है वह होती है किसी मन, वचन, काय की चेष्टा से। तो उस अभिव्यक्ति से सराग सम्यक्त्व का अनुमान होता है। यद्यपि किन्हीं-किन्हीं अज्ञानियों में भी प्रशम आदि के चिह्न दिखाई देते हैं, फिर भी वे वास्तविक प्रशमादिक नहीं हैं। कारण यह है कि उन अज्ञानियों को अपने माने हुए एकान्त में ऐसी हठ हुई है कि वे वस्तु के सत्य अनेकात्मक स्वरूप को नहीं समझते और वे अपने मंतव्यपर मान कषाय बनाए हुए हैं। तो वह वास्तविक प्रशम नहीं है। वास्तविक प्रशम ज्ञानी जीव के ही सम्भव हो सकता है।

सम्यक्त्व के प्रकृति परिणामता का अभाव—अब यहाँ कोई आत्मा के निरपेक्ष स्वरूप का एकान्त करने वाले लोग ऐसी आशंका रख सकते कि आत्मा तो एक निरपेक्ष चैतन्यमात्र है। सम्यग्दर्शन तो एक प्रकृति की पर्याय होगी! क्योंकि अपरिणामी है। प्रकृति का ही विकार है यह श्रद्धान। और आत्मा तो एक शुद्ध चैतन्यमात्र है। ऐसा अभिप्राय रखने वाले कुछ विचार कर चलें तो उन्हें विदित होगा कि श्रद्धान प्रकृति का परिणाम नहीं हो सकता। अगर मान लिया कि सम्यग्दर्शन तो प्रकृति का परिणाम है तो मोक्ष भी प्रकृति का ही करावें, पुरुष के आत्मा के मोक्ष की बात फिर क्यों कहते यदि कोई यह कहे कि आत्मा का जो वास्तविक स्वरूप है, शुद्ध चैतन्य, उसमें न समीचीनता होती है न मिथ्यापन। वह तो केवल संसार अवस्था में है। इस आत्मा के साथ प्रकृति का सम्बंध चल रहा है, इसलिए प्रकृति की समीचीनता होने से चेतन भी समीचीन माना जाता और प्रकृति के विकृत होने से चेतन को विकृत मान लिया जाता। इस तरह प्रकृति धर्म का आत्मा में उपचार किया जाता, तब प्रकृति का ही उपयोग सम्यग्दर्शन हुआ। यह बात मानने से आत्मा के सत्यस्वरूप की

रक्षा हो सकती है। इस समस्या पर भी कुछ विवेक पूर्वक देखें तो यह विदित होगा कि प्रधान चूँकि अचेतन है, इसलिए अचेतन पदार्थ में श्रद्धान, ज्ञानचेतना जैसी बात कैसे आ सकती है? सम्यक्त्व की बात तो चेतना में ही सम्भव हो सकती है। ऐसा मानने पर भी कि प्रकृति का धर्म महान अहंकार आदि चेतन में प्रतिभासते हैं, वहाँ चेतन स्वयं कषायरंग नहीं करता, वहाँ यह तो मानना पड़ेगा कि चेतन चेतना है और अनेक प्रकारों में चेतता है, विरुद्ध चेतने का परिणाम न रहे जब, किसी भी प्रकार हो, प्रकृति की निवृत्ति से हो, उस सम्यक संचेतन के आधार को ही तो सम्यक्त्व कहते हैं। यह सम्यग्दर्शन प्रकृति का परिणाम नहीं, किन्तु आत्मा का अभिन्न परिणाम है।

मोक्ष शास्त्र के द्वितीय सूत्र में सम्यग्दर्शन का लक्षण बताया है। प्रयोजनभूत तत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। देह विषय कषाय से निराले आत्मतत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। वस्तु स्वरूप से सहित पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। भूतार्थनय से तत्त्वों को जानकर परमतत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के कितने ही लक्षण किए जाएं सबका लक्ष्य है निज सहज ज्ञान स्वभाव का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है सम्यग्दर्शन का लक्षण कहने के बाद अब एक जिज्ञासा यह हो सकती है कि वह सम्यग्दर्शन क्या अपने आप होता है या अनादि अनन्त नित्य ही, या नित्य कारण से होता, किस प्रकार उसकी सत्ता होती है, ऐसी एक जिज्ञासा सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में हो रही। सम्यग्दर्शन किस तरह होता है या अपने आप ही पहले से है, उसकी क्या विधि है उसका समाधान करने के लिए सूत्र कहते हैं **तन्निसर्गादधिगमाद्वा।**

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति विधि का विचार—"तत निसर्गात् अधिगमात् वा" यहाँ ४ पद दिए गए कि सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा परोपदेश से होता है निसर्ग का अर्थ है अपने आप यानी उपदेश के बिना। कहीं निसर्ग का अर्थ यहाँ यह न समझना कि जैसे स्वभाव से कोई स्वभाव पर्यायें होती रहती है यों स्वभाव से सम्यक्त्व होता यद्यपि सम्यग्दर्शन स्वभावपर्याय है लेकिन यह अनादि काल से आवरण से ढकी हुई है अतएव इसकी उत्पत्ति का कोई कारण है। तो कारण वस्तुतः ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है, पर बाह्य कारणों का, जाति स्मरण, वेदना, ऋद्धिमदर्शन, दूसरों का उपदेश श्रवण, ये सब बाह्य साधन हो गए। तो जैसे सम्यग्दर्शन के उत्पन्न होने में, उस भाव में दूसरे का उपदेश तो साधन जुड़े किन्तु जाति स्मरण से, वेदनानुभव से ऋद्धि दर्शन से सम्यक्त्व उत्पन्न हो तो उसे नैसर्गिक सम्यग्दर्शन कहते हैं। निसर्ग अर्थ होता है निसर्जनं निसर्गः। यानि स्वभाव। स्वभाव से जो सम्यग्दर्शन हो उसे नैसर्गिक कहते हैं। स्वभाव का अर्थ यहाँ सहज स्वभाव से मतलब नहीं, यानि कोई बाहरी, प्रसंग यहाँ आए नहीं और सम्यग्दर्शन हो सो मतलब नहीं, किन्तु परोपदेश बिना जातिस्मरण आदि अन्य साधन पाकर जो सम्यक्त्व हो उसे नैसर्गिक कहते हैं।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा इस सूत्र में 'उत्पद्यते' क्रिया के अध्याहार की युक्तता—सूत्र में क्या कहा गया है? तन्निसर्गादधिगमाद्वा, इस सूत्र के शब्दों से जो अर्थ पाया जाता है वह इतना ही है कि "वह स्वभाव से और अधिगम से" इतना ही चार शब्दों का अर्थ है। अब इससे आप क्या समझे? वह स्वभाव से अथवा परोपदेश से, इसके आगे और अर्थ नहीं भरा है। क्यों उत्पन्न होता है। ऐसी क्रिया का अध्याहार किया जाएगा, जिसका अर्थ बन गया कि वह निसर्ग अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है। तो यहाँ उत्पद्यते लिखना पड़ेगा। सूत्र में यह नहीं लिखा है, किन्तु ऊपर से लगाना होगा। अब कोई यह शंका कर सकता है कि तुमने ऊपर से क्या लगाया? उत्पन्न होता है उत्पद्यते। और, हम यदि यह लगादें—न उत्पद्यते, अर्थात् नहीं उत्पन्न होता है तो अर्थ यह बन जाएगा कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा उपदेश से उत्पन्न नहीं होता है। ऊपर से मानने का इसका भी अधिकार है। तो न उत्पद्यते यह क्रिया क्यों नहीं लगायी जा सकती? और जब यह क्रिया शब्द लगा दिया जाए तो यह अर्थ हुआ कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता किन्तु सदा है, जैसे जीव उत्पन्न नही होता ऐसे ही सम्यग्दर्शन उत्पन्न नहीं होता, किन्तु वह सदा शाश्वत, विराजमान रहता है, यह अर्थ बन जाएगा। अब समाधान में सोचें कि शंकाकार जब यह कह रहा है कि तन्निसर्गादधिगमाद्वा इस सूत्र में न उत्पद्यते और लगा देना चाहिए तो इससे सम्यग्दर्शन नित्य सिद्ध हो जाएगा। यह ही तो शंकाकार कह रहा। समाधान में उससे पूछें कि तुम जो सम्यग्दर्शन को नित्य कहते हो तो द्रव्य दृष्टि से कहते हो या पर्याय दृष्टि से? अगर द्रव्य दृष्टि से सम्यक्त्व को नित्य कहते हो तो वह बात हमें भी इष्ट है। द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है ऐसे ही द्रव्य दृष्टि से सम्यक्त्व गुण नित्य है। सम्यक्त्व भी गुण है। पर्याय रूप सम्यक्त्व की बात तो कहते नहीं, द्रव्य सम्यक्त्व की बात कह रहे हैं। द्रव्य से सम्यक्त्व सदा काल रहता है, इस में कोई विवाद नहीं। यदि पर्याय दृष्टि में कहते हो तो पर्याय दृष्टि से अगर सम्यग्दर्शन को नित्य कहोगे तो हमेशा सम्यग्दर्शन का अनुभव होना चाहिए। अनुभव होता है पर्याय का, गुण का नहीं। गुण तो एक शक्ति है, उस शक्ति की जो दशाएं होती हैं उन दशाओं का अनुभव होता है। सम्यक्त्व नामक गुण जो कि द्रव्यदृष्टि से निरन्तर है, अनादि अनन्त है, उसकी पर्याय बने, परिणति बने तो अनुभव होगा। अनुभव होता है परिणमनका। तो सम्यग्दर्शन को यदि पर्याय दृष्टि से नित्य समझ लिया जाएगा तो सम्यग्दर्शन का सदा अनुभव होना चाहिए। किन्तु है क्या ऐसा? नहीं है। अगर सम्यग्दर्शन अनादि काल से हो और उसका अनुभव अनादि काल से जीव को हो तो संसार क्यों रहे? मोक्ष क्यों नहीं हो जाता? तो सम्यग्दर्शन का सम्वेदन सदा से नहीं है, वह कभी से होता है। तो जब कभी से सम्वेदन होता है तो उसकी अनुभूति पर्याय दृष्टि में आयी है, सो ही इस सूत्र में बताया कि वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न कैसे होता है।

पर द्रव्यों से भिन्न आत्म तत्त्व में रूचि करने का संस्करण—यहाँ तक क्या बात सिद्ध हुई कि सम्यग्दर्शन किसी जीव के तो परोपदेश बिना हो जाता और किसी जीव के परोपदेश के कारण से होता है। इस तरह से सम्यग्दर्शन दो प्रकार का है। सम्यग्दर्शन का अर्थ क्या तो सरल से सरल शब्दों में पहिचानें। जैसे छहढाला में बताया है—"परद्रव्यन तैं भिन्न आप में रूचि सम्यक्त्व भला है।" अर्थात् पर द्रव्यों से भिन्न अपने आपके आत्म स्वरूप में रुचि करना सम्यग्दर्शन है। देखिए—सम्यग्दर्शन एक अपूर्व निधि है। सम्यक्त्व अगर न प्राप्त हुआ और इस जीवन से जाते रहे तो चाहे लखपति करोड़पति हो जाए, चाहे राज्यपद मिल जाए चाहे कितने ही विषयों के साधन जुट जाएं लेकिन वह सब बेकार हैं। व आगामी काल में दुर्गति के ही कारण बनेंगे, और अगर सम्यक्त्व लाभ हो जाता है अपने इस निज ज्ञान स्वभाव में दृष्टि जाती है तो फिर चाहे कैसी ही दरिद्रता की स्थिति क्यों न हो पर उसे सब कुछ मिल गया। सदा के लिए संसार से छूट जाए ऐसा कारण बन जाये तो इससे बढ़कर और क्या निधि हो सकती है? सम्यक्त्व में क्या बात पायी जाती है।! पर द्रव्यों से निराले अपने आत्म स्वरूप में रुचि हो जाना, श्रद्धान होना, प्रतीति होना, उसकी दृष्टि होना यह सम्यग्दर्शन है। अब उस पर द्रव्य की बात समझिए क्या-क्या वे पर द्रव्य हैं धन मकान आदि जो-जो प्रकट भिन्न क्षेत्र में रहते हैं उनसे मेरी आत्मा बहुत दूर है, वे तो प्रकट भिन्न हैं। और कुटुम्ब परिवार ये जीव ये भी प्रकट भिन्न हैं, और शरीर, यह भी प्रकट भिन्न हैं। जैसे दूध और पानी मिले हुए हों, एकमेक हो रहे हों फिर भी दूध-दूध में हैं और पानी-पानी में हैं। दूध में पानी नहीं चला गया और पानी में दूध नहीं चला गया। पारखी लोग उस मिले हुए दूध और पानी में यंत्रों द्वारा या यों ही किसी सोख्ता आदि में डालकर परख लेते हैं कि इसमें इतना तो दूध है और इतना पानी है, अथवा और भी उदाहरण तो हैं, पानी उस रंग का बन जाता है। वहाँ भी यही बात है कि पानी में पानी है और रंग में रंग है। आप और भी देखिए जैसे इस भींट में यह सफेद (कलई) पुती है तो बताइये भींट सफेद है या कलई! अरे कलई सफेद है भींट तो ज्यों की त्यों है। जो कलई पहले उसी के रूप में थी वह अब पानी का सम्बंध पाकर इस रूप में फैल गई। वहाँ भींट में भींट है और सफेदी में सफेदी। तो ऐसा ही समझिये हम आपका शरीर और आत्मा ये दोनों एक क्षेत्रावगाही बन रहे हैं फिर भी शरीर में शरीर है और आत्मा में आत्मा है। शरीर जड़ है, शरीर जानता नहीं, आत्मा जानने-वाला है तो आत्मा इस शरीर से न्यारा है।

विभाव परिणतियों से विविक्त अन्तस्तत्त्वकी रुचि करने का अनुरोध—विविक्तता में और आगे चलें तो आत्मा में जो रागद्वेष होते हैं, विषय कषाय के भाव होते हैं उन विषय कषाय के भावों से भी आत्मा न्यारा है। वे विषय कषाय के भाव आत्मा के स्वरूप हैं क्या? आत्मा के स्वभाव हैं क्या हैं? आत्मा में सहज ही पैदा हो गए क्या? क्या आत्मा में निमित्त कारण हैं? दर्पण तो अपने स्वभाव से स्वच्छता को लिए हुए है और उसमें

परिणमने का स्वभाव हटा हुआ है, मगर दर्पण स्वयं ही छाया का निमित्त नहीं बनता सामने कोई चीज हो तो हाथ छाया का निमित्त बना और यहाँ दर्पण में दर्पण की परिणति से छाया परिणमन हो गया अब बतलावो वह छाया क्या दर्पण की चीज है? एक दृष्टि तो एक द्रव्य की परिणति ही तो है, तो कह दीजिए, दर्पण की चीज है, लेकिन यह भी आप क्षणिक बता पाएंगे। और घटनाएँ और निर्माण विधि से देखकर आप यह कहेंगे कि यह छाया दर्पण की नहीं है, यह नैमित्तिक है, पर द्रव्य की छाया है, पर द्रव्य का निमित्त पाकर हुई है। तो चूँकि उस छाया का अन्वय व्यतिरेक हाथ के साथ है, हाथ आया तो छाया हुई और हाथ हटा तो छाया हटी। तो कैसे आप सम्बंध जोड़ेंगे? छाया हाथ के प्रति जाए दर्पण में मत रहे। दर्पण तो शुद्ध स्वच्छ है। दर्पण उस छाया से निराला है। जैसे हम यहाँ यह परख करते हैं ऐसे ही विषय, कषाय, विकल्प जो उत्पन्न होते हैं वे क़र्मोदय का निमित्त पाकर होते हैं। एक बात और खास समझने की है, जैसे दर्पण के सामने लाल कपड़ा किया जाए तो दर्पण में लालिमा आ जाती है तो वह कपड़ा स्वयं लाल है। तो दर्पण में लालिमा आयी इसी तरह उस-उस तरह के कर्मोदय सामने हैं, क्रोध, मान, माया, लोभ प्रकृति उस-उस प्रकार की प्रकृति शरीर कर्म सामने हैं, तो उसका निमित्त पाकर इस उपयोग में झलक हुई और झलक के साथ अज्ञानी मोही आत्मा ने उसमें अपना उपयोग जुटाया और उसे अपनाया। तो वह विवेक करें कि ये क्रोधादिक विकार पर द्रव्य हैं, ये मैं नहीं हूँ, उनसे भी निराला समझना है और जो भीतर कल्पनाएं विचार तरंगें हुईं ये भी कर्म क्षयोपशम का निमित्त पाकर हुईं मन इन्द्रिय का साधन पाकर हुई, अतः ये पर द्रव्य हैं, मेरी चीज नहीं हैं। अहो ज्ञान की परिणति होकर भी पर द्रव्य देखे जाते हैं, ऐसे परमात्मतत्त्व से मैत्री भाव भेद विज्ञानी के शुद्ध ज्ञानी पुरुष के होता है। सबसे निराला मैं हूँ, तब क्या रहा? क्या बताया जाए। जो है। लेकिन बताने को अगर चलेंगे तो कहेंगे टंकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभाव है, याने जो अनादि से अनन्तकाल तक अन्तः प्रकाशमान है, जिसको लक्ष्य में लेने के प्रयास में वेदान्तियों ने ब्रह्मस्वरूप माना है उस प्रकार का कोई अविकार स्वरूप वह मैं हूँ। देखिए अन्तः एक ज्ञान की ही बात है। परम ब्रह्म माना तो है, अद्वैतवादियों ने, मगर सर्वथा अपरिणामी माना है। और जो सर्वथा अपरिणामी हो वह तो सत् नहीं हो सकता। फिर और बात सोचना व्यर्थ है। इसलिए वह नित्यत्वैकान्त में ब्रह्मस्वरूप मिथ्या बन गया, और जैन शासन में परम ब्रह्मस्वरूप बताया है अविकारी शाश्वत एकस्वरूप सहज, लेकिन एकान्तवाद नहीं किया है। द्रव्यदृष्टि से देखा जाने पर ऐसा ज्ञात होता है मगर वस्तु तो उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्त है। उसमें परिणमन होता है, पर्याय होती है, अन्यथा सम्वेदन नहीं हो सकता, अनुभव नहीं हो सकता। उसका कोई प्रयोग ही न हो सकेगा। जैसे आपको किसी ने बहुत बढ़िया भोजन तो दिखाया और कहा-साहब इसे देख लो मगर खाना मत, तो भला बतलाओ वह भोजन आपके किसी काम का है क्या? किसी भी काम का नहीं इसी तरह वह पर ब्रह्म जिसका कि परिणाम नहीं, पर्याय नहीं दशा

नहीं, अनुभव नहीं हो सकता प्रयोग नहीं हो सकता वह पर ब्रह्म किस काम आएगा? उसका फिर सत्त्व ही क्या रहेगा?

शंकाकार द्वारा निसर्गज सम्यग्दर्शन की असंभवता का पूर्वपक्ष—अनादि अनन्त अहेतुक सहजज्ञान मात्र आत्मतत्त्व दृष्टि में आये तो समझिए कि सम्यग्दर्शन है। वह सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है दो प्रकार से (१) निसर्ग से (२) अधिगम से, ऐसी बात सुनकर एक जिज्ञासु कह रहा है कि सम्यग्दर्शनमें निसर्ग होना अनुचित जंच रहा है, क्योंकि जिस पुरुष ने इस ज्ञान स्वभावी आत्मा को समझा नहीं, जाना नहीं, उसके वह सम्यग्दर्शन कैसे होगा? जो पदार्थ कभी जानने में आया ही नहीं उसका विश्वास कैसे हो सकता है? तो निसर्गज कहोगे तो वहां यह ही बात समझ में आएगी कि जिस आत्मा को अब तक कभी जाना ही नहीं उसका अपने आप दर्शन हो रहा है। यह ही तो निसर्गज सम्यग्दर्शन का अर्थ हो गया तो ऐसा कभी हुआ नहीं। मूल तत्त्व कभी जान नहीं पाया तो उसका श्रद्धान कभी हो नहीं सकता। जैसे औषधि कोई रसायन की वस्तु अत्यन्त परोक्ष हो और जिस औषधि को कभी देखा नहीं, जाना नहीं, कभी सुना नहीं, ऐसे रसायन के बारे में और उस औषधि के बारे में फल कैसे हो सकता है। जो समझ में अब तक आया ही नहीं, उसके बारे में कैसे विश्वास किया जाए और समझ में आ गया तो उसके मायने हो गया कि अधिगमज हुआ। बाह्य उपदेश से समझ में आया। निसर्गज सम्यग्दर्शन तो कुछ चीज नहीं है यह शंकाकार का अभिप्राय है। उसके समाधान में यदि कोई यह कहे शंकाकार ही कह रहा है कि इस शंका का यदि कोई यह जवाब दे कि जैसे लोक में यह प्रसिद्ध बात है कि शूद्र ने वेद को कभी नहीं जाना। वेदवाले तो कहते हैं कि शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, जब अधिकार ही नहीं तो फिर वे कैसे वेद की बात समझें? तो जैसे वेद की बात कभी सुना ही नहीं फिर भी उसे वेद की बहुत भक्ति रहती है, वह उसे नमस्कार करता है। उस वेद के सम्बंध में कभी चर्चा हो जाए तो वह सामने आकर कहता है कि यह तो मेरा है, वह उस मत की बड़ी श्रद्धा करता है तो देखिए जाने बिना भी वेद में श्रद्धा हो गई। तो उसकी वह श्रद्धा निसर्ग से है। जाना नहीं फिर भी श्रद्धा है। इसी तरह इस सम्यग्दर्शन का विषयभूत आत्म पदार्थ जाना नहीं फिर भी नैसर्गिक सम्यग्दर्शन हो सकता है। ऐसा जो कोई समाधान दे तो शंकाकार कह रहा है कि उसका समाधान ठीक नहीं बैठता। क्योंकि उदाहरण जो दिया वह विषम उदाहरण है। वेद वादियों की धारणा के अनुसार शूद्र को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं मगर उसने कभी सुना तो है और उस वेद के जानने वाले जो लोग हैं वे तो कुछ बताते हैं कि वेद कैसे हैं, किस तरह से उनके जानने में तो आया। जानने में किसी प्रकार न आया हो और फिर उस वेद में श्रद्धा की जा रही हो तब तो यह दृष्टान्त हमारी शंका का समाधान देने में ठीक बैठ जाएगा लेकिन ऐसा नहीं है, यह समाधान ठीक नहीं है। हमारी शंका बराबर खड़ी हुई है। जब पदार्थ जाना नहीं, आत्मस्वरूप को जाना नहीं तो फिर श्रद्धान कैसे हो जाएगा? और जाने बिना

श्रद्धान होता नहीं तब यह सिद्ध हो गया कि नैसर्गिक सम्यग्दर्शन कुछ चीज नहीं होती। तो शंकाकार अपनी यह शंका पुष्ट कर रहा है कि जीव को केवल आत्मा का श्रद्धान नहीं होता अतः निसर्ग सम्यग्दर्शन है ही नहीं। तब इसके भेद न करना चाहिए। शंकाकार कह रहा है कि हमारी शंका के समाधान में यदि कोई यह उत्तर दे कि देखो जैसे किसी पुरुष को मणि (रत्न) की जानकारी नहीं हैं, वह यदि उसे कहीं पा जाए और बाजार में बेचने जाए तो कांच के टुकड़े से अधिक कीमत वह पा लेगा ना? तो नहीं भी जाना मणि को फिर भी उसे ग्रहण कर सकते और उसका फल भी भोग सकते। तो ऐसे ही जिसने आत्मतत्त्व को नहीं जाना उसे भी उसका ग्रहण हो सकता, उसका फल हो सकता, तो नैसर्गिक सम्यग्दर्शन हो जाएगा। यदि कोई हमारी शंका का समाधान इस तरह देना चाहे तो उसका भी कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह भी विषम उदाहरण है, फिर यह कैसे कहा जाएगा कि उसने नहीं जाना? तो निसर्ग सम्यग्दर्शन कोई चीज नहीं, शंकाकार कह रहा है इस कारण भी निसर्ग सम्यग्दर्शन नहीं है। जिस समय सम्यग्दर्शन होता है उसी समय पहले का जो ज्ञान है बस वही सम्यक्त्वरूप परिणम जाता है, मानो ज्ञान सम्यक् बन जाता है, तो वह अधिगमज बन ही गया। इस सम्यग्दर्शन से पहले उपदेश मिला या सम्यग्दर्शन के साथ उपदेश मिला? सम्यग्ज्ञान तुरन्त हो गया, इसलिए मालूम होता है कि सम्यग्दर्शन एक नैसर्गिक चीज नहीं है।

निसर्गज सम्यग्दर्शन की सिद्धि द्वारा शंकाकार की शंका का समाधान—नैसर्गिक सम्यग्दर्शन न माने जाने की शंकाकार की शंका का अब समाधान सोचो। यहाँ नैसर्गिक का यह अर्थ नहीं है कि बाहरी प्रसंग कुछ न आए और हो जाए, यह बात नहीं किन्तु परोपदेश न मिले और जाति स्मरण, वेदनानुभव आदिक बाह्य साधन मिलें तब होने वाला सम्यग्दर्शन नैसर्गिक कहलाता है। सम्यग्दर्शनोत्पत्ति में तो निसर्गज सम्यक्त्व में भी अन्तर में निमित्त अनिवार्य है। सम्यक्त्वोत्पत्तिका अन्तरङ्ग निमित्त सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। इस तरह सम्यग्दर्शन किसी के यों भी हो जाता कि दूसरे का उपदेश नहीं भी मिला किन्तु जाति स्मरण हो जाए अथवा वेदना का अनुभव आदि हो। अनेक नारकियों को वेदना का अनुभव होने से सम्यक्त्व हो सकता है। वेदनानुभव करते हुए वे ज्ञान से सोचते हैं—ओह पूर्वभव में मैंने धर्म नहीं किया, व्रत नहीं किया, विवेकपूर्वक नहीं रहे, अन्याय किया, हिंसा की, पाँचों प्रकार के पापों का हमने बहुत बहुत तरह से सेवन किया इस कारण यह दुःख भोगना पड़ा उन्हें ज्ञान हुआ, वेदना का अनुभव हुआ, उससे उनको अकल ठिकाने हुई। विवेक हुआ और उनके नैसर्गिक सम्यग्दर्शन हो जाता। सम्यग्दर्शन जिसे प्राप्त होता है उसे पहले ५ लब्धियाँ प्राप्त होती हैं। (१) क्षयोपशमलब्धि (२) विशुद्धिलब्धि (३) देशनालब्धि (४) प्रायोग्यलब्धि और (५) करणलब्धि। ज्ञान जब क्षयोपशम को प्राप्त होता है। इस स्थिति में बनता है कि जहाँ विशुद्धि का लाभ हो, कुछ विवेक चले तो इसे कहते हैं क्षयोपशमलब्धि। तो देखो हम आपको क्षमोपशमलब्धि है कि नहीं? इतना तो है ही कि हम आप जान सकते

हैं, सोच सकते हैं। आत्मा अपने निर्मल परिणाम बनाता है तो विशुद्धिलब्धि है उपदेश प्राप्त होता है सो देशनालब्धि है। मगर इसका हम आप ठीक-ठीक उपयोग नहीं कर रहे। ग्रन्थ हैं, विधिपूर्वक उनमें उपदेश भरा है। उपदेश सुनने को मिलता है, उसे भी हम ले सकते हैं, तथा इसके बाद हम कुछ आगे नहीं बढ़ते, कुछ हम अपने सोचने में अपना उपयोग आगे नहीं ले जाते तो हम आगे प्रायोग्यलब्धि नहीं ले पाते। जहाँ प्रायोग्यलब्धि होती है वहाँ परिणाम बड़े विशुद्ध होते हैं। प्रायोग्यलब्धि में ३४ बंधापसरण होते हैं, तो यह कोई मामूली बात नहीं है। ऐसी-ऐसी कर्म प्रकृतियाँ कि जिनका बंध छठे गुणस्थान में सम्भव है उन प्रकृतियों का बंध इस प्रायोग्यलब्धिस्थ इस मिथ्यादृष्टि के रुक जाता है। जो प्रायोग्यलब्धि में हो उसके प्रकृतियों का बन्ध रुक जाए इससे बढ़कर और क्या बात कही जाए? छठें गुणस्थान में अस्थिर, अशुभ, अयश, असाता, अरति, शोक इन प्रकृतियों का बंध चलता है। ७ वें में बंध होता है लेकिन इन प्रकृतियों का बंध प्रायोग्यलब्धि में रहने वाले मिथ्यादृष्टि नहीं करते हैं, पश्चात् सम्यक्त्व होने पर भी इनका बंध होने लगता। परिणामों की इसमें कितनी निर्मलता है। प्रायोग्यलब्धि कदाचित् किसी को प्राप्त हो जाए, और करणलब्धि न प्राप्त हो तो भी सम्यक्त्व नहीं होता। अधःकरण, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण परिणाम के होने पर नियम से सम्यग्दर्शन होता है। तो यद्यपि ५ लब्धियाँ वहाँ अवश्य हैं और जिस किसको भी सम्यक्त्व हुआ है देशानालब्धि भी मिली है लेकिन यह उस भव की बात है जिस भव में देशना नहीं मिल रही किन्तु जाति स्मरण आदि से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है।

सम्यक्त्वोत्पत्ति के निमित्तकारण व बाह्य साधन का विश्लेषण—एक बात और ध्यान में लावें। सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने का निमित्त कारण क्या है? तो कुछ लोग कह देते हैं कि भगवान के दर्शन करना अथवा तप व्रत करना या जाति स्मरण होना, उपदेश मिलना, ये निमित्त कारण हैं, लेकिन सम्यग्दर्शन के ये निमित्त कारण नहीं हैं। देखिए दो तरह के जानने वाले लोग है या उपदेश करने वाले लोग हैं? एक तो इन बाहरी बातों को सम्यग्दर्शन का निमित्त मानकर उपदेश करते हैं कि ये निमित्त हैं। इनका दर्शन करने से, प्रभु के निरखने से या प्रभु का उपदेश सुनने से सम्यक्त्व होता है, ऐसा नियम बनाए हुए हैं। दूसरे लोग जो निमित्त का खण्डन करना चाहते हैं वे जानबूझकर जो निमित्त नहीं हैं उनको निमित्त बता-बता कर यह समझाना चाहते कि निमित्त कुछ चीज नहीं। जैसे कहते हैं कि इसने जिनेन्द्रदेव के दर्शन अनेक बार किया पर सम्यक्त्व न हुआ तो निमित्त कुछ नहीं करता। दोनों ही भूल में हैं। जो जिन बिम्ब का निमित्त कारण कहकर इस बात का खण्डन करते हैं कि निमित्त कारण कुछ नहीं रहा वे आँखे मींचकर जगते हुए भी सोये हुए हैं। देखिए दो तरह के सोये हुए पुरुष होते हैं एक तो सचमुच सोये हुए, जो जगाने पर जग जाते हैं और एक बनावटी सोये हुए। यों ही आखें मीचकर सोने का बहाना कर लिया, तो बहाना करके सोये हुए पुरुष का जगाना कठिन है। उसके आगे कोई ढोल बजावे तो भी वह नहीं जग सकता। तो बात क्या

है? घटना देखिए—जिनेन्द्र भगवान के दर्शन या साक्षात् समवशरण में दर्शन या उपदेश ये सम्यग्दर्शन के निमित्त कारण नहीं हैं, ये तो आश्रयभूत हैं। सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण है ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम। तो एक भी दृष्टान्त बतायें जहां ७ प्रकृतियोंका उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो जाए और सम्यक्त्व न हो? वह उसकी उत्पत्ति का निमित्त कारण है, किन्तु जो विषयभूत पदार्थ हैं उनमें यह नियम नहीं बनाया जा सकता कि जो भगवान के दर्शन करके उसको सम्यक्त्व हो ही जाए। हो भी और न भी हो।

उदाहरणपूर्वक आश्रयभूत व निमित्तकारण में अन्तर का प्रदर्शन—एक और उदाहरण लीजिए आश्रयभूत व निमित्त को समझने के लिए। एक वेश्या मर गई और उसे लोग जलाने के लिए ले जा रहे थे।तो उस मृतक शरीर को किसी मुनि ने देखा तो उनका यह भाव हुआ कि देखो इसने दुर्लभ मानव जीवन पाकर व्यर्थ विषय में कैसा अपना जीवन गंवाया, उसे देखकर किसी कामी पुरुष के मन में ऐसा भाव आया कि यदि यह अभी कुछ दिन और जीवित रहती तो इससे मिलकर कुछ मौज और लूटता। उसी मृतक शरीर को देखकर कुत्ता स्याल आदि के मन में इस प्रकार का भाव आया कि ये लोग व्यर्थ ही इसे जला रहे हैं। यदि इसे यों ही छोड़ देते तो मेरा कुछ दिनों का भोजन बनता। तो देखिए—एक वेश्या शरीर को तीन तरह के लोगों ने देखा तो उनके अलग-अलग भाव हुए। अगर वह बाह्य पदार्थ निमित्त होता तो निमित्त तो सबके लिए हुआ ना, वह वेश्या का शरीर। फिर तो सभी के एक सा ही भाव होना चाहिए। मुनि महाराज का और विचार, कामीका और विचार, स्याल, कुत्ते आदि का और विचार क्यों हुआ? मुनि महाराज के विचार में निमित्त कारण नहीं हैं वह वेश्या। मुनि महाराज के विचार में निमित्त कारण है कर्म का क्षयोपशम। प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं रहा इसलिए उनके वैराग्यरूप भाव चल रहे हैं, उस समय वह वेश्या दिखी तो वह विषयभूत हुई उनके अनुरूप विचार का आश्रयभूत हुई। उसका आश्रय बनाकर मुनि महाराज के ये परिणाम हुए कि इसने सम्यक्त्व न प्राप्त किया। तो निमित्त कारण क्या रहा? प्रकृति की योग्य दशा। कामी पुरुष के मन में जो काम भाव जगा उसमें वह वेश्या का शरीर निमित्त कारण नहीं, किन्तु उस प्रकार के वेद का कामी के तीव्र उदय अथवा उदीरणा है जिससे उसने वेश्या को आश्रय बनाकर काम भाव बनाया। यह ही बात स्याल कुत्ते आदि की है। तो ये बाहरी पदार्थ निमित्त नहीं कहलाये। लोग तो बहकाने के लिए बाह्य पदार्थों को निमित्त बताकर यह बतलाते हैं कि देखो निमित्त कोई चीज नहीं है। देखो वेश्या शरीर मुनिराज ने भी देखा, लेकिन उनके मन में तो विकार भाव नहीं आया तो वह निमित्त तो न रहा। अरे भाई वेश्या शरीर तो निमित्त है ही नहीं। कामी पुरुष के काम कषाय का, वेद प्रकृति का उदय है, उसकी उदीरणा हो तो काम भाव हो सकता है भैया! जैन सिद्धान्त में जो कर्मों का वर्णन है, एक-एक समय की जो दशाएँ बतायी हैं, कैसे उदय है उदीरणा है, कैसे क्षय है, कैसे स्पर्धक है, इतना विस्तृत वर्णन है कि जीवन भर भी कोई

अध्ययन करे तो नई-नई बातें समझ में आवेंगी। तो क्या यह व्यवहारनय झूठ है? प्रमाण में दो अंश हैं—निश्चयनय और व्यवहारनय। व्यवहारनय झूठ है, तो जिसका अंश झूठा है वह प्रमाण भी झूठा है। तो यह अंश झूठा नहीं। जो उपचार करके बोला वह झूठा घड़ा बनने में कुम्हार का व्यापार निमित्त है— यह कहना झूठ नहीं, किन्तु घड़ा कुम्हार ने बनाया यह कहना झूठ है। कैसे झूठ है? भिन्न पदार्थों में कर्ता कर्म भाव लादना झूठ नहीं। निमित्त नैमित्तिक योग होने परभी कुम्हार में कुम्हार की ही परिणति होती, मिट्टी में मिट्टी कीही परिणति होती। अतः निमित्त नैमित्तिक योग व वस्तु स्वातन्त्र्य एक साथ होना विरुद्ध नहीं। बाह्य साधन, निमित्त व उपादान इन तीनों को सही समझे बिना जीव परिणामोत्पाद का रहस्य नहीं समझा जा सकता। निसर्गज सम्यग्दर्शन में निमित्त तो है सम्यक्त्व घातक प्रकृतियों का उपशमादि, वाह्य साधन है जाति स्मरणादि तथा उपादान वह जीव है जिसके सम्यक्त्व हो रहा है। मात्र उस भव में अधिगम (उपदेश) पाए बिना जो सम्यक्त्व हो जाता उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

विपदाओं की कल्पना मूलता—अनादि काल से भ्रम में गोते लगा रहा यह जीव अपनी कल्पनाएं बना कर दुःखी हो रहा हैं। अपनी-अपनी बात देखो इस देह के अन्दर जो यह जाननहार आत्मा है, मैं हूँ, उस मैं की परख करके देखें कि यह भीतर में क्या कर रहा है, जिससे यह क्लेश पाता है और क्या करे कि जिससे इसके क्लेश दूर हो जाएं? तो निहारो यह मैं भावमात्र पदार्थ हूँ, जैसे बाहर देखते हैं—खम्भा है तो कोई पिण्ड, कोई मोटी लम्बी वस्तु है। बाहर परखते हैं तो कोई आकार की चीज है। कठोर नरम वस्तु है। जरा अपने आपको विचारिए—क्या मैं कठोर, नरम वस्तु हूँ? क्या मैं ढेला पत्थर आदि की तरह पकड़ा जाने वाला पदार्थ हूँ? नहीं, मैं हूँ एक जाननभाव मात्र। तो जाननभाव मात्र यह मैं कर क्या सकता हूँ सो देखिए यह केवल जानने का ही तो काम कर सकता, और कुछ नहीं कर सकता। उस जानने में कल्पना बना डालें तो कल्पनाओं का काम कर सकता हूँ। पर जानें कल्पनाएँ करे इसके सिवाय और कुछ यह नहीं करता देखो। दिल को सुहावने वाली बातें इस आत्मा को पार न कर सकेंगी किन्तु भेद विज्ञान वाली बातें आत्मा को पार करेंगी। इससे दिल लुभावने जैसी बात की इच्छा मत रखो। इच्छा रखें इस बात की कि मुझको ऐसा प्रकाश मिले कि जिससे मेरा दुःख कट जाए। देखो—दुःख तो इस जीव के कटे हुए ही हैं। कोई जीव दुःखी नहीं है। किसी जीव का स्वभाव दुःख का नहीं है। लोग मानते हैं कि मैं दुःखी हूँ, मेरे को यह कष्ट है। बाहरी पदार्थों की बात निरख-निरख कर अपने में कष्ट मानते हैं। एक मोटी सी बात देख लो, मर गए, यहाँ से चले गए फिर इसके लिए यहाँ काम क्या? तो आत्मा पर दया कर के ऐसा ही समझ लें कि हम कुछ पहले ही मर गए थे। अब इस नरभव में मानों हैं तो एक मुफ्त हैं, इन लोगों के लिए नहीं, इस बाहरी सम्पदा के लिए नहीं। मेरे को आत्महित कर लेना है, छूटना तो है ही सब। जो छूटेगा उसका मोह जिन्दगी भर

बसाकर पा क्या लोगे? प्रभुभक्ति करने आते, भगवान की उपासना करते तो भगवान स्वरूप ही और क्या है? केवल ज्ञान मात्र, ज्ञान ज्योति, ज्ञानप्रकाश। और कुछ नहीं। जो प्रभु का स्वरूप है सो मेरा है, सो सबका है। प्रत्येक देहधारी में वही स्वरूप है जो प्रभु का है जो मेरा है। सबका एक समान स्वरूप है। वह स्वरूप क्या है? ज्ञान और आनन्द का पिण्ड। यहाँ कष्ट का कोई नाम नहीं है, कष्ट की गुंजायस ही नहीं है इस स्वरूप में, पर कल्पनाएँ करके अपने को ही कष्ट में डाल रहे हैं। हिम्मत नहीं बनाते। बाहर में अगर कुछ हो गया तो हो गया, उसमें इष्ट अनिष्ट की बुद्धि क्यों करते कि यह मेरे लिए इष्ट हो गया यह मेरे लिए अनिष्ट हो गया। मैं आत्मा सबसे निराला केवल भावमात्र, केवल ज्ञान प्रकाशमात्र, इस देह के फन्दे में पड़ा हूँ इतनी ही तो त्रुटि हो रही है और इसी कारण वह सब भार मैं मान रहा हूँ। स्वरूप को सम्हालूं, बोझ न मानूं, ऐसी दृष्टि बनाऊँ और कभी आत्मा के सहज स्वरूप को अनुभव कर लूँ तो सम्यक्त्व हो जाएगा।

आत्महित के लिए स्वभावाश्रय की नितान्त आवश्यकता—देखो भैया क्या करना है? अपने निरपेक्ष आत्मस्वभाव का अनुभव करना है। सम्यक्त्व पैदा करो। वह सम्यक्त्व होता है स्वभाव के आश्रय से। इस अन्तस्तत्त्व के लिए पहले इस भीतर में बड़ी तैयारी करना है। अपने को सबसे अत्यन्त निराला निरखना। निराले विविक्त ज्ञान स्वरूप को दृष्टि में लाते-लाते ही वह क्षण आ सकेगा कि जब मेरे को ज्ञान स्वरूप का अनुभव होगा। कोई ऐसी शंका न करे कि गृहस्थी में रहकर स्वानुभव करेंगे तो गृहस्थी चलायेंगे तो स्वानुभव न होगा। अरे गृहस्थ हो तो, साधु हो तो, सम्यक्त्व की दिशा में दोनों का एक सा कदम होता है फर्क क्या रह गया? एक बाहरी परिग्रह का। बाह्य परिग्रह जितना जिसके कम होता है वह उतनी अधिक देर बराबर स्वानुभव पाने का अधिकारी बनता है। तो गृहस्थ शीघ्र बारबार स्वानुभव प्राप्त करने का अधिकारी नहीं है लेकिन उसको अनुभव का स्वाद लेने का अधिकार तो है। जैसे किसी ने एक छटांक ही मिठाई खायी और किसी ने वही मिठाई एक किलो छककर खायी तो इसमें छक कर खाने का अन्तर तो है मगर स्वाद तो दोनों को एक सा आएगा ऐसे ही गृहस्थ हो या मुनि सम्यक्त्व परिणति समान रह सकती।

आत्महितभिलाषियों के व्यावहारिक कर्तव्यों में स्वाध्याय की प्रमुखता—स्वाध्याय नाम किसका है? प्रथा तो बहुत चली कि मैं स्वाध्याय करता हूँ, स्वाध्याय तप है, स्वाध्याय करना चाहिए, स्वाध्याय से कल्याण होगा, पर स्वाध्याय नाम किसका है? स्व का अध्ययन करना सो स्वाध्याय है। ग्रन्थ पढ़कर, बांचकर, पंक्ति का अर्थ लगा लगाकर, अपने पर घटा-घटा कर अपने आत्मा का अध्ययन करना सो स्वाध्याय है, या दिल सुहावनी बातों को पढ़ने—का नाम स्वाध्याय है? अरे वह तो दिलाध्याय है। कषाय उत्पन्न करने वाला विषय बांचने का नाम कषायाध्याय है। अब समझ लो स्वाध्याय नाम किसका है? जिसमें स्वका अध्ययन

किया जाए वह स्वाध्याय है जीव ने अब तक अनेक बातें कीं, पंचेंद्रिय के विषय और मन का विषय, इन ६ प्रकार के विषयों को इसने बहुत भोगा। भोगता ही चला आया। तो इन ६ विषयों को प्रेरणा मिले ऐसी बात करने का ही उपक्रम रहा तो वहाँ कौन-सा लाभ लूट लिया जाएगा जैसे तेली का बैल कोल्हू में जुतता है तो उसकी आँखों में पट्टी बाँध दी जाती है। वह कोल्हू में चलता रहता है। उसे ऐसा भ्रम रहता है कि मैं तो सीधा ही चल रहा हूँ, और चल रहा वह उसी जगह। उसकी आँखें क्यों बाँधी जाती? इसलिए कि उसे यदि मालूम पड़ जाए कि मैं तो उसी जगह चल रहा हूँ तो उसे चक्कर आ जाएगा और गिर जाएगा। उस कोल्हू के बैल को तेली सही ज्ञान नहीं कराता, उसे भ्रम में ही रखता है आँखें बांधकर कि यह भ्रम में रहे तो यह गोल-गोल चलता रहे और हमारा तेल निकलता रहे इसी तरह हम आप सभी जीव अकेले चल रहे हैं भ्रम रहे हैं चारों गतियों में या दुर्गतियों में नई जगह नहीं चल रहे। क्षेत्र दृष्टि से देखें तो लोग भ्रमण कर रहे, भाव दृष्टि देखें तो इन्द्रिय के विषय और मन के विषय को भोग रहे। वही कल भोग भोगे थे, वही आज भोगा और वही कल भोगेंगे। कोई नई चीज है क्या? अरे उसे तो अनन्त बार भोगा जा चुका है छोड़ा जा चुका है, तो खा-खा कर छोड़े उसे तो लोग कम करना कहते हैं। यह सब जगत का विषय वैभव कय किया हुआ है। भोग-भोग कर छोड़ा हुआ है। यह ज्ञान प्रकाश जगे और उससे विरक्ति जगे कि मुझे विषय भोगों से प्रीति नहीं। मैं तो एक अपने आप के आत्मानुभव के लिए ही जीवित हूँ। परवाह न करें कि क्या होगा हमारा। जो एक मुक्ति का मार्ग मिला बस उस पर चलें। जिस परिस्थिति में हों उस परिस्थिति में अपना कर्त्तव्य निभायें भला ही होगा, बुरा नहीं हो सकता। अच्छा भाव करके चलेंगे तो कभी बुराई नहीं आ सकती। बुरे भाव करके चलेंगें तो भले ही पूर्व पुण्यवश थोड़ा अभी पोल ढक जाए मगर उसका परिणाम अवश्य मिलेगा। भीतर में अपनी गुत्थी सुलझा लें। बाहर में संग्रह विग्रह करने से कभी सच्चा मार्ग न मिलेगा। भीतर में निरखिये–यह मैं भावमात्र हूँ आकाश की तरह अमूर्त हूँ। केवल जानना इसका एक गुण है, उस जानने में आनन्द अपने आप बसा हुआ है। होता क्या है कि पूर्वबद्ध कर्म जब उदय में आते हैं और उनका जब एक विकराल रूप सामने होता है, अनुभाग सामने आता है, उसका विस्फोट होता है तो उस समय ज्ञान में ये सब रंग आ जाते हैं। जहाँ ज्ञान में यह कषायों का रंग आया, इस रूप उपयोग बना कि इसमें नाना कल्पनाएँ होती हैं। मिथ्या श्रद्धान के समान कोई हमारा बैरी नहीं है और सम्यक्त्व के समान मेरा कोई मित्र नहीं। निर्णय ठीक कर लो।

मानव धर्म से आत्मधर्म के धारण की पात्रता—भैया कर्त्तव्य तो गृहस्थी में गृहस्थी जैसा करें, यह तो एक व्यवस्था सौंपी गई है कि तुम इन ५-७ जीवों की, स्त्री पुत्रादि की व्यस्वथा करो, तुम इन दो चार जीवों की व्यवस्था करो। मानों यह व्यवस्था सौंपी गई है, ममता के लिए नहीं हैं ये घर के जीव। क्योंकि मानों तुम्हारे घर में ये जीव न आए होते,

कोई ममता की गुंजाइस रहती क्याकि ये मेरे हैं? जो आए, कोई आए। संसार में चारों गतियों के जीव रुलते फिरते हैं। कोई आ गया आपके पास। आपका है कुछ क्या? कुछ भी नहीं है। सर्व जीव स्वतंत्र हैं। सबके अपने-अपने कर्म साथ हैं। सब अपने-अपने उदय के अनुसार सुख-दुःख पाते। किसी का कोई कुछ लगता नहीं, केवल एक अपने आपके ज्ञान का ही सहारा है, ज्ञान ही परमात्मतत्त्व है, ज्ञान ही सार है, वही मेरे लिए शरण है। जगत में कोई दूसरा मेरे लिए कुछ नहीं है। फिर भीतर में अपनी ईमानदारी खो देना, यह तो मेरा है, यह दूसरे का है, यह भ्रम है और यह बहुत क्लेश देने वाला भाव है। बात सत्य समझें। व्यवस्था अपने जिम्मे जो हैं उनकी करें। वह एक गृहस्थी का कर्त्तव्य है, किन्तु आत्मा का कर्त्तव्य क्या है? देखो बात दो हैं— इसे लोग कहते हैं मानव धर्म, और एक दूसरी चीज है आत्म धर्म। चूँकि मानव धर्मों का ही टोटा पड़ रहा है। इसलिए बड़े-बड़े भाषण होते हैं मानव धर्म पर। मानव बनिये, दानव न बनिये, परोपकार करो, सब पर समबुद्धि रखो दानव न बनिये। परोपकार करो, सब पर समबुद्धि रखो मानव धर्म के उपदेश होते हैं ना। तो पहले मानव धर्म की ही पात्रता नहीं है। मानव अपने कर्त्तव्य से इतना दूर हो गए हैं, तो आवश्यकता है मानव धर्म के उपदेश की। लेकिन एक बात और समझिए—मानवधर्म से बढ़कर है आत्मधर्म। जहाँ आत्मधर्म का प्रसंग आएगा उसका प्रयोजन क्या है कि जन्म छूट जाए, ज्ञाता दृष्टा रहूं, केवल ज्ञान ज्योतिमात्र रहूं और सदा के लिए क्लेश मुक्त हो जाऊँ। आत्मधर्म का प्रयोजन यह है। और मानवधर्म का प्रयोजन क्या है? देश में, समाज में सही व्यवस्था बनी रहे और कोई आपत्ति, गड़बड़ी न आए इस जीवन में यह है मानव धर्म का प्रयोजन। तो भाई पहले मानव बनें, यह तो ठीक है, पर मानव-मानव ही बनकर जीवन गुजारना, यह भविष्य के लिए ठीक नहीं है। मानव धर्म हो और आत्मधर्म में अग्रसर हो। एक बात और भी समझना चाहिए कि जो आत्मधर्म का अभिलाषी होगा उससे मानव धर्म तो अपने आप पलेगा, पर जो केवल मानव धर्म तक सीमित रह जाएगा वह आत्मधर्म से बंचित रह जाएगा। अब समझ लीजिए कि आत्मधर्म का कितना विशेष महत्त्व है।

सम्यक्त्वोपलब्धि की भेदविज्ञानपूर्वकता—सम्यक्त्व पाने के लिए मूल बात यह है कि भेद विज्ञान करो। दो कभी एक नहीं बनते, यह निश्चित बात है, अगर अस्तित्व दो हैं तो वे दो मिलकर एक कभी नहीं हो सकते, किन्तु यह मूढ़ अज्ञानी प्राणी करना चाहता है दो को एक, बस यह ही संघर्ष है जो संसार में इसे रुलाये फिरता है। दो कभी एक नहीं हो सकते और यह दो को एक करना चाहता। देख लो जब मोह होता है, पिता का पुत्र में मोह है तो ऐसा चाहता है कि मैं एक बन जाऊँ, शरीर भी क्यों अलग रहे स्त्री और पति में प्रीति है तो वे चाहते हैं कि मेरा यह शरीर का भी भेद क्यों हो रहा? मैं तो एक बन जाऊं ऐसी-ऐसी कल्पनाएँ करता है यह जीव, पर जो बात हो नहीं सकती उसे कल्पना में लाये तो उसका फल क्लेश है। कोई ५०—६० मनके बोझ वाली गाड़ी बैल अथवा झोंटा लादने के

लिए जा रहे हों, बच्चे लोग उसे हाथ से ढकेलते हों तो यद्यपि वह गाड़ी बच्चे लोग नहीं चला रहे। चला रहे वे बैल अथवा झोंट। अब वह गाड़ी कहीं रुक जाए तो वे बच्चे बड़े दुःखी होते हैं, हैरान होते हैं—हाय गाड़ी क्यों रुक गई? उन बच्चों के जोर लगाने से कहीं वह गाड़ी चल तो न जाएगी, गाड़ी तो बैलों अथवा झोंटे द्वारा ही चलेगी, पर वे यह कल्पना करते हैं कि इस गाड़ी को मैं चलाता हूँ इसलिए उन्हें दुःखी होना पड़ा ऐसे ही घर गृहस्थी के बीच रहने वाले ये अज्ञानी प्राणी मानते हैं कि मैं इस गृहस्थी को चलाता हूँ। मैं धन कमाता हूँ, मैं इस धन को अपनी तिजोरी में रखता हूँ। इस पर मेरा पूरा अधिकार हैं, इन स्त्री पुत्रादि पर मेरा पूरा अधिकार है, ये मेरे से बिछुड़कर जाएंगे कहाँ? बिछुड़ते तो औरों के हैं, ये मेरे से कभी न बिछुड़ेंगे, ऐसा विश्वास किए हैं ना? तो यह उनका झूठा विश्वास है कि नहीं? ऐसा जो विश्वास करेगा उसका फल क्या होगा? क्लेश। ये संग मेरे साथ ही रहे ऐसा वे सदा तो नहीं रह सकते, अपने-अपने समय पर गुजरेंगे। तो जब गुजरेंगे तब यह कष्ट मानेगा। यानी निर्णय यह बनावें कि जितने हमारे कष्ट हैं वे छूटें। कष्ट है अज्ञान का, कष्ट है झूठे विश्वास का अन्यथा मेरे को कष्ट रंच नहीं। कष्ट की कहानी लोग बहुत सुनाते हैं तो उनकी सारी कहानी में बात मूर्खता की भरी हुई, क्या कि परके प्रति झूठा विश्वास जगा, झूठा ज्ञान जगा इसलिए कष्ट पाया। इतनी सी बात है।

कषायों की बलि में स्वानुभूति भगवती की प्रसन्नता—बहुत सी बातें आती हैं ना-जो तुमको सबसे अधिक प्रिय हो उसका बलिदान कर दो। मुसलमानों ने भी कहा है और उसका प्रयोग किया गया। किसी ने सोचा कि मेरे को तो मेरा बच्चा प्यारा है तो उसकी बलि कर दूँ। अरे वह तो अर्थ ही नहीं समझा। बच्चा किसी को प्यारा नहीं, धन किसी को प्यारा नहीं, यह तो लोग झूठ कहते हैं कि हमें अमुक प्यारा है। प्यारी है सबको अपनी-कषाय। बच्चा तो वह ही है मगर कोई गड़बड़ हो जाए, मन न मिले तो फिर उस बच्चे पर प्यार कहाँ रहा? स्त्री तो वही है, उसका मन बिगड़ गया, दिल हट गया, फिर कहाँ रहा प्यारा? ये बाहरी पदार्थ प्यारे नहीं होते किसी को। यह तो झूठ कहते हैं कि मुझे यह प्यारा है। असली बात यह है कि मेरे को मेरी कषाय प्यारी लग रही। उस स्त्री के बारे में जो कुछ मैं सोचता हूँ जो राग भाव होता है वह कषाय मेरे को प्यारी है। जब दिल न मिला उस समय द्वेष कषाय प्यारी हो गयी। पहले राग कषाय प्यारी थी, अब द्वेष कषाय प्यारी हो गई। तो कषाय सबसे प्रिय हुई। उस कषाय की बलि करनी पड़ेगी तब उद्धार होगा अन्यथा नहीं। जो कषायों की बलि कर सकने का साहस बना लेता है उसकी शान्ति कहीं नहीं गई सदा है और जो कषायों को नहीं छोड़ सकता वह कायर है। और कायर पुरुषों को शान्ति का अवकाश नहीं है भेद विज्ञान की बात कही जाती थी। जब तक यहाँ भेद विज्ञान नहीं जगा तब तक बाहर के भेदों की कोई बात कहे तो वह उसकी ऊपरी-ऊपरी बात है। जैसे अनेक लोग कहते हैं अरे भाई किसका मकान है? यह तो बाहर की चीज है, सब छूट जाएगा। अरे तुम्हें अपने अन्दर

का भेद विज्ञान जगा कि नहीं। नहीं जगा तो यह बात तुम्हारी केवल कहने की है, उसे त्याग ही सकते। जिसको यह भीतर में ज्ञान लगा कि मैं तो ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ। कषाय जगना आदि जो कुछ है वह सब कर्म की चीज है, कर्मका रंग है, उसे मैं क्यों अपनाऊँ? मैं तो ज्ञान-ज्ञान हूँ। ऐसा जिसने भीतर में भेद विज्ञान किया उसकी सारी बातें सही हैं और जिसको अन्दर का भेद विज्ञान नहीं जगा उसकी बातें कोरी हैं, ऊपरी हैं। यों तो विचारो—जैसे रेलगाड़ियों में या और भी अनेक जगह देखा होगा कि बहुत से वस्तुओं के नीलाम करने वाले लोग फिरा करते हैं। वे अपनी वस्तु लोगों को दिखाते हैं, उनसे वे उसकी बोली बुलवाते हैं। जो कुछ अधिक बोली बोलता है उसके पास वे उससे रुपया निकलवा कर देखते हैं। अगर रुपया निकल आया तो वे उसे कोई इनाम दे देते हैं और अगर सौदा ठीक-ठीक निपट गया तो वे उन रुपयों को अपनी जेब में करते हैं और उस वस्तु को दे देते हैं। प्रायः करके वे लोगों को बहका देते हैं और उनसे वे कुछ ठग ले जाते हैं। तो ऐसे ही समझिए कि ये दिखने वाले समस्त पर पदार्थ ठग हैं, बहकाने वाले हैं। अरे जिन्हें मेरा-मेरा कह रहे वे सब मायारूप हैं उनसे धोखा ही धोखा है। अरे अपना एक वास्तविक ज्ञान बनाइये कि ये दिखने वाले पर पदार्थ मेरे कुछ नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञान मात्र हूँ ये कषायें, यह दिखने वाला देह यह ही जब मेरा नहीं तो फिर अन्य कुछ मेरा कैसे हो सकता है? जिसे बाहर में अन्धेरा है वह बाहर में जो कुछ भी बोलता है वह केवल उसका बोलना मात्र है।

जन्म-मरण की बाधा से मुक्त होने के लिए अजर अमर अन्तस्तत्त्व की रुचिकी श्रेयता—अनात्मतत्त्व से रुचि न रहे, केवल एक आत्म प्रकाश में रुचि जग जाए, यह काम करने का है अगर जन्म मरण की बाधा से मुक्त होना चाहते हो। सबसे बड़ी विपत्ति हम आप पर जन्म मरण की लगी है। जीवन में कुछ साधन बना लिया, मकान बना लिया और कुछ आराम के साधन बन गए तो वे सब बेकार हो जाएंगे। क्योंकि मरण हो गया तो फिर से वही पाटी पढ़नी पड़ेगी तो यह ठाटबाट किस काम आएगा? थोड़ा सा कुछ साधन सा बन गया, फिर मर गए तो वे सब बातें बेकार हो गईं। यह जीव अनादि काल से यही जन्म मरण करता आया। इस रही सही थोड़ी सी जिन्दगी में ऐसा साधन बनायें कि अपने को ऐसा जंचे कि समस्त बाह्य पदार्थ बेकार की चीज हैं यह बात इस लिए सुना रहे हैं कि उनकी रुचि न रहे। करना पड़ता है सब। रहेंगे कहाँ? रहेंगे मकान में। और यदि सब छूट जाए, इतना बल प्रकट हो जाए तो बहुत उत्तम है, पर नहीं प्रकट होता है तो घर में रहना होता है। पर सत्य-सत्य तो समझते रहें, उससे अशान्ति न रहेगी। सम्यग्ज्ञान से अशान्ति नहीं होती जितनी अशान्ति होती है वह सब मिथ्याज्ञान में है, और ऐसा अपने आपका निर्णय रखिए कि हमको जितने भी कष्ट हैं वे सब हमारे मिथ्याज्ञान के कष्ट हैं। सच्चे ज्ञान में तो कष्ट का नाम नहीं कर्त्तव्य पथ पर चले चलो कमाई के समय कमाई करो, धर्म के समय धर्म करो प्रतीति कभी मत छोड़ो पूजन के समय पूजन में आवो स्वाध्याय के समय स्वाध्याय

करो, पर प्रतीति अपनी कभी मत छोड़ो मैं इन सबसे निराला ज्ञान-स्वरूप मात्र हूँ। भेद विज्ञान ही बंधु है। भेद विज्ञान ही पिता, और भेद विज्ञान ही हमारा रक्षक है, दूसरा कोई रक्षक नहीं। बाहरी पदार्थों में राग मोह करके चोट पर चोट सहते चले जाते हैं और फिर भी ज्ञान प्रकाश में नहीं आते। ऐसा व्यामोह है जीवों को। तो इस जीवन में एक प्रयोजन बनालें कि हमको ऐसा उपाय बनाना है कि मेरा जन्म मरण छूट जाए। इससे बढ़कर अन्य कोई बात अपने हित की नहीं है।

कर्ममुक्त होने के लिए कर्मविविक्त अन्तस्तत्त्व की प्रतीतिकी प्राथमिकता—देखो एक छोटी सी कुँजी है। सर्व दुःखों से, कर्मों से, बाधाओं से मुक्त होने की कुँजी। छूट वही सकती है चीज जो बाहर की हो। जो बात बाहर में लगी हो वह ही चीज छूट सकती है। अन्य की चीज कभी नहीं छूट सकती। चौकी में जो काठ का असली रंग है वह कभी छूट सकता है क्या? बसूले से कितना ही छीला जाए तो छूट नहीं सकता। और जो काठ पर बीट या मैल लग जाए, या पालिस का रंग लग जाए तो वह छूट सकता कि नहीं? अरे धोने का उपाय बनाया जाए तो छूट सकता। तो जो चीज छूट जाने की है उस चीज के लदे हुए होने पर भी भीतर में वह चीज उससे छूटी हुई ही है चौकी का मल झाड़ने से छूट जाएगा तो वह जब तक मल लगा है चौकी पर तब तक भी चौकी अपने आपमें उस मल से छूटी हुई है। खूब समझ लें, और ऐसी जिनको श्रद्धा है वे ही चौकी को साफ करते हैं, इसी तरह आत्मा को जिन-जिन बातों से छूटने की आवश्यकता है, विषय कषाय, राग, कर्म, देह, इनसे निराला होने की आवश्यकता है तो सम्यग्दृष्टि जानता है कि मैं इनसे छूटा हुआ अपना निजी स्वरूप रख रहा हूँ। तभी तो मैं छूट सकता हूँ। और मेरे में ही जन्म मरण घुसे हों मेरे स्वरूप में ही कषाय कर्म पड़े हों तो ये कभी छूट नहीं सकते। कारीगर एक पत्थर में से जिस मूर्ति को निकालता है वह मूर्ति उस पत्थर में पहले से बनी हुई है कि नहीं? बनी हुई है। बस उसको ढकने वाले अगल बगल के पत्थर हटा दिए तो वह मूर्ति ज्यों की त्यों प्रकट हो गई, इसी प्रकार हमें होना है सिद्ध, प्रभु। तो सिद्ध क्या हुए? जो मेरे में स्वभाव है, जो आत्मा में स्वभाव है, वही केवल स्वभाव प्रकट हो गया इसको कहते हैं सिद्ध। तो कैसे प्रकट हो गया? अरे वह था स्वभाव जो प्रकट हो गया, वह अनादि से था, उसको ढकने वाले विषय कषाय के पत्थर लगे थे। उन्हें ज्ञान की छेनी, ज्ञान की हथौड़ी से काट-काट कर हटा दिया तो जो स्वभाव पहले से था वह प्रकट हो गया। उसी को कहते हैं सिद्ध भगवान।

क्लेश मुक्ति का उपाय क्लेशविविक्त अन्तस्तत्त्व की प्रतीति—ममता छोड़ो, मिथ्यात्व हटावो। भ्रम को नष्ट करो। सत्य-सत्य स्वरूप समझो। सम्यक्त्व हो जाएगा। और सदा के लिए क्लेश दूर हो जाएगा। कभी-कभी कोई यों ही कह बैठते हैं, हम तो उसे बहाना समझते कि अगर सत्यस्वरूप समझें तो फिर हम यह घर कैसे चलायेंगे? बात उनकी सही

है। सत्यस्वरूप समझ लें तो कल्पित घर, मिट्टी का माया का घर भ्रम का घर नहीं चला सकते, फिर तो वह उस आनन्द धर्म की ही सम्हाल करेगा। पर स्वरूप को समझना, उस स्वरूप में रत होना, ये दो बातें बनें तब। स्वरूप को समझ लेने पर भी पूर्वबद्ध कषायों के संस्कार के कारण पहले अज्ञान में जो क्रियाएं कर डाला उसके संस्कार के कारण इसे रहना पड़ता है घर में और व्यवस्था करनी पड़ती है, मेरा नाम तो मैंने सिद्धभगवान की लिस्ट में लिखाया है। तो और दृष्टि होनी चाहिए। मेरे को तो सिद्ध होना है मुझे यहाँ नहीं रहना है, मेरे को तो सिद्ध लोगों में रहना है। मेरे को तो शुद्ध स्वरूप में रहना है यह रहने की चीज नहीं राग सताते है रहना पड़ता है रह रहे हैं, रहते जाते हैं मगर प्रतीति में यह बात लावें कि मेरे को रहने का यहाँ काम नहीं। मेरे को तो स्वरूप में रहने का, सिद्ध लोक में रहने का काम है। बात भेद विज्ञान की कही है, जिससे स्वाध्याय बने। स्वका अध्ययन बने और इस स्वरूप की दृष्टि हमारी प्रबल बने तो चाहे बड़ी से बड़ी विपत्तियाँ आएं, पिता गुजर गया, पुत्र गुजर गया, या और कोई भी बड़ी से बड़ी घटना घट गई, कैसी कुछ भी बड़ी से बड़ी विपत्ति आए तो यह उसे देखता रहे, हंसता रहे, बाहर की चीज है, बाहर का बाहर में परिणमन हो गया। यदि ऐसा ज्ञानबल जग जाए तो फिर इसके विपत्ति का नाम नहीं।

मोक्षोपाय व मोक्षोपाय के प्रथम अङ्गका स्वरूप कह कर सम्यक्त्वोत्पत्तिविधि का प्रकरण—मोक्षशास्त्र में सर्वप्रथम संसार के दुःखों से छूटने का उपाय बताया गया है, वह उपाय है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व। सम्यग्दर्शन कहते हैं—पर द्रव्यों से भिन्न पर भावों से भिन्न जो एक अनादि निधन अहेतुक चैतन्यस्वभाव है उस रूप अपने आपकी प्रतीति हो कि यह हूँ मैं, और मैं कुछ नहीं हूँ, बाकी सब मायाजाल है। मैं गृहस्थ हूँ मैं साधु हूँ, तो, यह सब एक पर्याय है। यह मैं नहीं हूँ। यद्यपि इनमें से मैं गुजरता हूँ तो यह तो विनाशीक चीज है, मैं अनादि अनन्त अहेतुक असाधारण चैतन्य स्वभावी हूँ जिसको कारण रूप से ग्रहण करके स्वभाव गुण पर्यायें होती रहती है, इसकी प्रतीति को सम्यग्दर्शन कहते हैं, और इस आत्मस्वरूप के ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं और आत्मस्वरूप में रमण करने को सम्यक्-चारित्र कहते हैं। मोक्षमार्ग के उपाय स्वरूप सम्यग्दर्शन का स्वरूप इस दूसरे सूत्र में कहा गया है। अब तृतीय सूत्र में कहा जा रहा है कि वह सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है? **तन्निसर्गादधिगमाद्वा**—वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से स्वभाव से उत्पन्न होता है अथवा परोपदेश से उत्पन्न होता है? इस सम्बन्ध में कुछ वर्णन किया गया है। निसर्ग का अर्थ है स्वभाव, सहज स्वभाव। यद्यपि सम्यग्दर्शन सभी अपने सहज स्वभाव की ही व्यक्ति है इसलिए सहज स्वभाव से हुआ ऐसा कहने में भी कोई अपराध नहीं लेकिन सम्यग्दर्शन अब तक नहीं है, और अब हुआ। तो जो नहीं है और अब हुआ, इसमें कारण क्या है? अगर सहज स्वभाव ही कारण हो तो वह अनादि से ही रहना चाहिए था, लेकिन अनादि से तो नहीं है और अब हो रहा है तो उसमें कोई कारण तो होगा। या उस कारण का यहाँ

वर्णन है। निसर्ग से अथवा अधिगम से होता है। परोपदेश बिना अन्य कोई कारण जुटे तो वह निसर्ग कहलाता है। परोपदेश हो तो वह अधिगम कहलाता है। इस प्रकार सूत्र का अर्थ कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा परोपदेश से उत्पन्न होता है।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा सूत्र में तत् शब्द से सम्यग्ज्ञान का ग्रहण कर लेने की आशंका—अब इस सूत्र में तत् इस पद का विचार कीजिए। तत् के मायने है, 'तत्'। वह निसर्ग से अथवा उपदेश से उत्पन्न होता है तो वह से क्या अर्थ लिया जाए? वह में कोई नाम तो आया नहीं, यह ही कहा गया—'वह उत्पन्न होता है।' तो वह क्या चीज है? सम्यग्दर्शन या सम्यग्ज्ञान या सम्यक्चारित्र या मोक्षमार्ग या और कुछ। तत् से क्या मतलब है? इस पर कुछ विचार कीजिए। तत् से यहाँ अर्थ है सम्यग्दर्शन केवल सम्यग्दर्शन, वह निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है, कौन? सम्यग्दर्शन। ज्ञान चारित्र मोक्ष मार्ग, इसका अर्थ नहीं है तत शब्दमें, क्योंकि निसर्ग और अधिगम से सम्यग्दर्शन ही होता है। अच्छा, तो बताओ ज्ञान निसर्ग से या परोपदेश से होता है, यह बात रखी जाए याने यदि तन्निसर्गादधिगमाद्वा इस सूत्र का यह अर्थ किया जाए कि सम्यग्ज्ञान निसर्ग से अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है तो इसमें क्या हर्ज है? देखिए सूत्र का अर्थ क्या है यह तो समझते नहीं अथवा समझना भी नहीं चाहते। केवल पाठ कर लिया इतने से ही सन्तोष कर लेते हैं कि हमने उपवास में, व्रत में पाठ कर लिया। यद्यपि वहाँ भी कुछ फल है, पर वह— जैसी श्रद्धा है उतना मात्र है। तत्त्वार्थ सूत्र का पाठ करने से भला होता है, धर्म होता है, पुण्य होता है। उपवास का फल मिल जाता है, श्रद्धा है, उसके अनुसार मंद कषाय है। उस मंद कषाय का उसे फायदा तो हुआ, लेकिन सूत्र में क्या विषय है, किस का प्रतिपादन है यह और कोई उसके साथ में जान ले तो महत्त्व उसका ही है। अच्छा तो कुछ लोग सूत्र का अर्थ भी जानते हैं लेकिन एक दो दिन में ही जल्दी-जल्दी पढ़ लिया, एक दिन में एक अध्याय पढ़ना होता है तो उसे बहुत जल्दी-जल्दी बांचा जाता है, उसमें बड़ी आकुलता बनी रहती है। देखो—तत्त्वार्थ सूत्र का दूसरा नाम है मोक्षशास्त्र। यह एक ऐसा अनूठा ग्रन्थ है कि इसका वाचन, अध्ययन, मनन करें तो वर्षों लग जाए। देखिए—इस तृतीय सूत्र में कहा जा रहा है तन्निसर्गादधिगमाद्वा, वह सम्यग्दर्शन निसर्ग से अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है, यहाँ शंका यह रखी गई कि तत् शब्द से यह ही अर्थ क्यों लगाया? तत् मायने वह सम्यग्दर्शन, सम्यग्दर्शन ही क्यों लिया? हम यह अर्थ करें कि सम्यग्ज्ञान निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है, तो इसमें क्या आपत्ति है। देखिए—शब्द रचना करना सूत्र रचना करना, हर एक के वश की बात नहीं है। जो व्याकरण न्याय, धर्मशास्त्र, सिद्धान्त सभी में पारगामी हो, उसको ही अधिकार है कि वह सूत्र निर्माण करे, कुछ शब्द अधिक हो गए तो वह भी रचना के अनुकूल नहीं है। और अगर कोई शब्द बदल कर आ गया तो वह भी रचना के अनुकूल नहीं है। सूत्र उसे कहते हैं जिसमें थोड़े अक्षर हों और निःसन्देह अर्थ झलक जाए—तो तन्निसर्गादधिगमाद्वा, इस सूत्र का अभिप्राय अर्थ तो है

कि वह सम्यग्दर्शन निसर्ग ओर अधिगम से होता है, सूत्रकारका भी अभिप्राय है कि सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से होता है। शंकाकार यहाँ यह कह रहा है कि यह मान लो कि सम्यग्ज्ञान निसर्ग और अधिगम से होता है। अब इसका समाधान सोचिए।

तन्निसर्गादधिगमाद्वा सूत्र में तत् शब्द से सम्यग्ज्ञान का ग्रहण न किया जाने का कारण बताते हुए उक्त शंका का समाधान—उक्त शंका का समाधन यह मिलेगा कि चूँकि सम्यग्ज्ञान सभी के सभी निसर्ग और अधिगम से नहीं होते। सम्यग्दर्शन ही एक ऐसा है। कि प्रत्येक सम्यग्दर्शन निसर्ग ओर अधिगम से होता है। अगर ज्ञान और चारित्र की उत्पत्ति में निसर्ग अधिगम को कारण माना जाए तो सिद्धान्त से विरोध खाता है। देखिए सिद्धान्त की बात, जरा इस विषय को विकल्प में देखिए, यदि यह कहा जाए कि सम्यग्ज्ञान निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है तो जरा यह तो बतलावो कि कौन सा सम्यग्ज्ञान निसर्ग और अधिगम से होता है। सम्यग्ज्ञान हैं दो प्रकार के, एक समस्त पदार्थों को विषय करने वाला औरा एक नियत पदार्थ को विषय करने वाला। याने केवल ज्ञान, सकल ज्ञान और विकल ज्ञान, तो क्या सकल ज्ञान के बारे में आप कह रहे हैं कि वह निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है। यदि सकल ज्ञान के विषय में कहते हो तो यह यों युक्त नहीं है कि केवलज्ञान निसर्ग से नहीं होता, वह समस्त श्रुतपूर्वक होता है, यानी क्षीणमोह गुण स्थान में सम्पूर्ण श्रुत ज्ञान प्रकट हो जाता है तब वहाँ केवलज्ञान होता है और श्रुतज्ञान उपदेश पूर्वक ही होता है, जिसको श्रुतज्ञान पूर्ण हुआ है, कुछ पहले उपदेश जरूर पाया हो, अध्ययन किया हो, सुना हो दूसरों ने बताया हो, फिर क्षयोपशम बढ़कर श्रुतज्ञान पूर्ण हो जाए लेकिन उसमें मूल प्रभाव तो उपदेश से हुआ तो लो उपदेश पूर्वक हुआ सकल श्रुतज्ञान और श्रुतज्ञान पूर्वक हुआ केवलज्ञान इसलिए केवलज्ञान को हम निसर्गज नहीं कह सकते। यद्यपि केवल ज्ञान में उपदेश कारण नहीं है साक्षात अगर देखें तो, वह एक निर्विकल्प शुक्ल ध्यान से प्रकट होता है, लेकिन केवलज्ञान जिसे भी हुआ हैं उसे सकल श्रुतज्ञान पूर्वक हुआ है और सकल श्रुतज्ञान जिसे होता है उसे परोपदेश पूर्वक होता है, इस धारा से केवलज्ञान को निसर्गज नहीं कह सकते। यो तों सभी ज्ञान निसर्ग से होते हैं किसी दूसरे पदार्थ के आश्रय से नहीं होते है। जैसी दृष्टि करें वैसा उत्तर आता चला जाएगा। लेकिन इस सूत्र में निसर्ग का इतना ही अर्थ है कि परके उपदेश बिना किसी अन्य कारण से हो तो उसे कहते हैं निसर्गज। तो केवल ज्ञान सकल श्रुतज्ञान पूर्वक होता है अतः उसे निसर्गज न कहेंगे। और श्रुतज्ञान परोपदेश पूर्वक होता है। अगर परोपदेश न हो तो श्रुतज्ञान की उत्पत्ति नहीं हो सकती।

स्वयंबुद्ध और बोधितबुद्ध दोनों के ज्ञान की अधिगमजता—अब उक्त समाधान सुनकर आशंका सामने आती है कि दो प्रकार के साधक होते—स्वयंबुद्ध और बोधिबुद्ध। स्वयंबुद्ध वह है जो परके उपदेश बिना स्वयं ज्ञानी बन गया हो और बोधित बुद्ध उसे कहते

हैं जो किसी दूसरे के उपदेश को पाकर ज्ञानी हुआ हो तो उसमें बोधितबुद्ध भले ही परोपदेश पूर्वक श्रुत ज्ञान का धारी माना जाए लेकिन प्रत्येक बुद्ध का श्रुत ज्ञान तो परोपदेश पूर्वक नहीं है। तब यह कैसे कहा गया कि श्रुतज्ञान परोपदेश पूर्वक होता है। लो स्वयं बुद्ध का श्रुतज्ञान तो निसर्गज हो गया। इसके समाधान में देखिए—अभिप्राय ज्ञान के विषय में स्वयं बुद्ध और बोधित बुद्ध के लक्षण के प्रसंग में यह है कि स्वयं बुद्ध को उस भव में दूसरे का उपदेश नहीं मिला और ज्ञानी हो गया। बोधित बुद्ध का अभिप्राय है कि उस भव में दूसरे का उपदेश मिला तब वह ज्ञानी होता है। तो स्वयं बुद्ध को यद्यपि उस भव में दूसरे का उपदेश नहीं पाया था उसका संस्कार बना है और उससे ज्ञान प्रकट होता है। एक कथा सुनी होगी कि एक ब्राह्मण की कोई पुत्री थी। वह एक बार सबके साथ जाकर एक बन में मुनिराज के दर्शन को गई। वहाँ मुनिराज के मुख से उसने ५ प्रकार के पापों का वर्णन सुनावर्णन सुनकर उसका चित्त पवित्र बना और उसने ५ पापों का त्याग कर दिया। घर में लड़की आयी, अपने पिता से कहा कि मैंने तो आज मुनिराज से ५ पापों के त्याग का व्रत लिया है। तो उसकी बात सुनकर पिता नाराज हो गया। बोला—अरे मुनिराज ने बिना मेरी आज्ञा तुझे व्रत क्यों दिया? मैं तेरा व्रत छुड़ा दूँगा। चलो उन्हीं मुनिराज के पास। जब वे दोनों मुनिराज के पास जा रहे थे तो एक जगह रास्ते में लड़की ने देखा कि किसी व्यक्ति को फांसी दी जा रही थी। लड़की ने पूछा—पिता जी यहाँ क्या हो रहा है? तो पिताने बताया कि किसी पुरुषने किसी की हत्या कर दी है तो उसको फांसी की सजा दी जा रही है। तो लड़की बोली—पिता जी जब हिंसा करने का यह फल है तो मैंने हिंसा पाप को छोड़ दिया तो बुरा किया क्या? ठीक किया बेटी पर तू एक यह नियम रख ले बाकी ४ नियम तो छोड़ दे। कुछ और आगे बढ़े तो लड़की ने क्या देखा कि एक जगह किसी पुरुष की जीभ काटी जा रही थी। वहाँ लड़की ने पूछा—पिता जी यह क्या हो रहा है? तो पिता बोला—बेटी यहाँ किसीने झूठ बोला है इसलिए उसकी जीभ काटी जा रही है। तो पिता जी मैंने झूठ बोलने के पाप को त्याग दिया तो क्या बुरा किया? ठीक किया बेटी, तू ये दो नियम रख ले, बाकी तीन नियम तो छोड़ दे। कुछ और आगे जाकर लड़की ने देखा कि किसी पुरुष को सिपाही लोग हाथ में हथकड़ी डालकर पकड़े लिए जा रहे थे। तो वहाँ लड़की ने पूछा पिता जी यह क्या हो रहा है? तो पिता ने बताया— बेटी यहाँ किसी ने चोरी किया है इसलिए उसे सजा देने के लिए सिपाही लोग पकड़े लिए जा रहे हैं। .....तो पिताजी मैंने इस प्रकार के चोरी के पाप को त्याग दिया तो कौन सा बुरा किया?...ठीक है बेटी, तू इन तीन नियमों को रख ले, बाकी दो नियम तो छोड़ दे। कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि एक जगह किसी पुरुष के हाथ पैर काठ में फसाये जा रहे थे। वहाँ लड़की ने पूछा—पिता जी यह क्या हो रहा है— तो पिता ने बताया— बेटी यहाँ किसी पुरुष ने कुशील किया है इसलिए उसे सजा दी जा रही है। .....तो पिताजी मैंने कुशील पाप का त्याग कर दिया तो क्या बुरा किया?

बेटी को क्यों ऐसे नियम दिया? कुछ और आगे बढ़े तो क्या देखा कि एक जगह सिपाही लोग किसी पुरुष को पकड़े लिए जा रहे थे। वहाँ लड़की ने पूछा कि पिता जी यह क्या हो रहा है? तो पिता ने कहा बेटी यहाँ किसी पुरुष ने अन्याय करके धनार्जन किया है इसलिए उसे दण्ड देने के लिए सिपाही लोग पकड़े लिए जा रहे हैं। .....तो पिता जी मैंने ऐसे परिग्रह पाप को त्याग दिया तो क्या बुरा किया? ठीक है बेटी तू यह भी नियम रखले पर चल तो सही उन मुनिराज के पास। उन्होंने क्यों तुझे मुझसे बिना पूछे ये नियम दिए। जब वे पहुँचे मुनिराज के पास तो मुनिराज से वह पिता पूछ बैठा कि महाराज आपने मेरी बेटी को ऐसे नियम क्यों दिए? तो मुनिराज बोले अरे यह बेटी आपकी है या मेरी? लो अब तो और भी गुस्सा आ गया उस पिता को। पिता बोला—अरे यह तो मेरी बेटी है। .....नहीं-नहीं यह मेरी बेटी है। .....कैसे? ज्यों ही मुनिराज ने उस लड़की के सिर पर आशीर्वाद का हाथ किया तो वह लड़की पूर्वभव में उन मुनिराज से जो विद्या में पढ़ी थी वह सब बोलने लगी। वहाँ सभी को आश्चर्य हुआ और यही कहा कि इस लड़की को मुनिराज ने विद्या दिया है अतः यह लड़की मुनिराज की है। तो देखिए उस लड़की ने पूर्व भव का स्मरण किया, ज्ञान किया, ऐसे ही स्वयं बुद्ध की बात समझिए वहाँ उस भव में भले ही उपदेश नहीं मिला हो, लेकिन जिन्हें ज्ञान हो जाता है उन्होंने पूर्व जन्म में उपदेश सुना था, उसका फल है कि जो उन्हें विद्या अपने आप आ रही है। तो यह दोष नहीं दे सकते, स्वयं बुद्ध का ज्ञान परोपदेश से नहीं हुआ इसलिए निसर्ग कह दीजिए। सभी श्रुतज्ञान अधिगमज होते, निसर्गज नहीं होते? और इसी कारण निसर्गज और अधिगमज दोनों का भेद ज्ञान में होना नहीं बताया गया।

पंचविध सम्यग्ज्ञानों में किसी भी सम्यग्ज्ञान में द्विविधहेतुता न होने से तत् शब्द द्वारा सम्यग्ज्ञान का अग्रहण—अब शंकाकार एक नई शंका रख रहा है कि चलो श्रुतज्ञान न सही, निसर्ग और अधिगम से ही उत्पन्न लेकिन जो नियत विषय वाले हैं, एकदेश जिनका विषय है ऐसे मति, अवधि और मनःपर्ययज्ञान ये तो निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न हो जाते होंगे, उनको ग्रहण कर लीजिए। अब इसके समाधान में भी सोचिए मतिज्ञान, अवधि ज्ञान और मनः पर्ययज्ञान ये तीन ज्ञान क्या निसर्ग और अधिगम यों दो प्रकार से उत्पन्न होते हैं? भली भाँति विचार करें तो विदित होगा कि ये तीन ज्ञान निसर्ग से ही होते हैं अधिगम से नहीं। इन तीन ज्ञानों में द्विविध हेतुता नहीं है, अतः मति, अवधि मनः पर्यय की अपेक्षा भी यह नहीं कह सकते कि सम्यग्ज्ञान निसर्ग अथवा अधिगम से उत्पन्न होता है। यहाँ तो सम्यग्दर्शन ही विवक्षित है, क्योंकि त्रिविध सम्यग्दर्शनों में ऐसी विशेषता है कि ये निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होते हैं। अब यहाँ कोई ऐसी आशंका रखे कि चलो ५ ज्ञानों में भी ज्ञान निसर्ग और अधिगम दोनों से उत्पन्न होना न बन सका तो ज्ञान सामान्य को हम यहाँ तत् शब्द से लें और फिर यह बात समझ लेंगे कि कोई सम्यग्ज्ञान निसर्ग से होता कोई

अधिगम से होता। सभी ज्ञान ज्ञान ही तो है और तत् शब्द से ज्ञान सामान्य ले लेंगे, उनमें कोई निसर्ग से होगा कोई अधिगम से होगा तो लो ज्ञान सामान्य में तो द्विविध हेतुता आ गयी ना, ऐसी भी आशंका न रखनी चाहिए क्योंकि इस तरह तो द्विविध हेतुता दर्शन में ही है याने व्यक्तिगत प्रत्येक सम्यग्दर्शन चाहे वह औपशमिक हो, क्षायोपशमिक हो या क्षायिक हों, तीनों निसर्ग से भी हो सकते और अधिगम से भी हो सकते, किन्तु ज्ञान में कोई भी ज्ञान नहीं है जो निसर्ग और अधिगम दोनों से उत्पन्न होता है। मतिज्ञान निसर्ग से होता है, श्रुतज्ञान उपदेश से होता, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान निसर्ग से होता। केवल ज्ञान श्रुतज्ञानपूर्वक होता है और वह श्रुतज्ञान उपदेश पूर्वक होता है यों किसी भी ज्ञान को नहीं कह सकते कि वह निसर्ग और अधिगम दोनों से उत्पन्न है। इसी कारण से तत् शब्द से सम्यग्ज्ञान को न ग्रहण करना, किन्तु सम्यग्दर्शन ही विवक्षित है। तन्निसर्गात् अधिगमाद्वा, वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है।

सम्यग्दर्शन की सहज विशुद्धता—अब सम्यग्दर्शन की बात देखिए सम्यग्दर्शन एक ऐसा सत् प्रकाश है, ऐसी ज्ञान स्वच्छता है, ऐसी आत्मा की विशुद्धि है कि सम्यक्त्व के होने पर उसके ज्ञान और चारित्र सम्यक् हो जाते हैं। देखिए—सम्यक्त्व बिना कितना ही पुष्ट ज्ञान हो फिर भी ज्ञान सम्यक् को प्राप्त नहीं होता। वहाँ वह ऐसी अनुभूति की गई इस आत्मा में कि जो एक सहज निरपेक्ष सत्य निज की अनुभूति है। जिसके होने पर स्पष्ट विदित हो जाता कि जगत का यह समस्त रजकण, जगत के ये सब जीव मुझ से अत्यन्त निराले हैं। आत्मा का किसी से रंच भी सम्बन्ध नहीं फिर मेरे लिए कौन शरण? मैं ही एक मात्र अपना शरण हूँ, ऐसी प्रतीति पूर्वक अनुभूति पूर्वक जिसकी दृष्टि बनी है अब उसे विचलित करने में कोई समर्थ नहीं हो सकता, जब कि मोही जनों को लग रहा कि कषाय करना सरल है, राग की बात सरल है, समागम बनाना सरल है, ज्ञान और वैराग्य तो उनके लिए बड़ी कठिन चीज है, पता ही नहीं कि यह सहज हो सकने वाली चीज है। असम्भव होगी, मोहियों को इस प्रकार दिखता है। देखिए कोई मोही किसी विरक्त पुरुष के वैराग्य की अद्भुत महिमा सुनकर विश्वास नहीं कर पाता। सुकौशल मुनिराज थोड़ी ही उम्र में जबकि उनकी स्त्री के गर्भ था, विरक्त हुआ और छोड़कर चल दिया, लोगों ने बहुत समझाया, अरे बच्चा तो हो जाए तब जाना। यहाँ के मोहियों को विश्वास नहीं होता कि ऐसा हो भी सकता है क्या? लेकिन जहाँ आत्मतत्त्व की अनुभूति होती है वहाँ ऐसा आनन्द प्रकट होता है, कि फिर जिसके सामने सारा जगत धूलवत् दिखता है। उसको जगत के परतत्त्वों में कैसे प्रतीति हो सकती है? हो गए वे मुनिराज।

ज्ञानी के पराक्रम की विलक्षणता—एक कथा सुनी होगी बज्रबाहुकी। वह विवाह करके स्त्री सहित आए ४–६ दिन बाद स्त्री का भाई उदयसुन्दर लेने आया, तो बज्रबाहु को इतना राग था उस स्त्री में कि उसे एक क्षण भी छोड़ नहीं सकता था। जब लेने आया भाई,

तो स्त्री के साथ बज्रबाहु भी चल दिया। अब तीनों प्राणी किसी जंगल में से गुजर रहे थे। रास्ते में देखा कि एक जगह कोई मुनिराज बिराजे थे। मुनिराज की मंद मुस्कान और शान्त मुद्रा को देखकर बज्रबाहु का मोह गल गया। वह इस चिन्तन में पड़ गए कि अहो। धन्य है इन मुनिराज को और धिक्कार है मेरे मोह को, इस मेरे मोह ने मुझे कितना विपत्ति में डाल रखा है यह देखो शान्त सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष कैसा अद्भुत आनन्द पा रहे हैं। वह उन मुनिराज को टकटकी लगाकर देख रहा था। उदय सुन्दर ने उससे मजाक किया। क्या आप भी मुनि बनेंगे? .....क्यों, यदि मैं मुनि बन जाऊँ तो क्या तुम भी बन जाओगे।' तो उदय सुन्दर तो जानता था कि यह मोही पुरुष क्या मुनि बन सकेगा, सो झट कह दिया हाँ यदि तुम मुनि बन जावोगे तो मैं भी बन जाऊंगा। अब क्या देर थी। बज्रबाहु वहीं दीक्षित हो गया। ऐसी अद्भुत घटना देखकर उदयसुन्दर का भी मोहगल गया। वह भी मुनि हो गया। ऐसी दो विचित्र पुरुषों की घटनायें देखकर स्त्री का भी मोह गल गया और वह भी वहीं दीक्षित हो गई। तो मोहियों को विश्वास हो सकता है क्या कि ऐसा भी हो सकता है। वे तो असम्भव सा समझते हैं। मोहियों की तो यह आदत है कि वे घर से बाहर जाएंगे तो स्टेशन पर ही पत्र लिखेंगे, रोज-रोज घर पत्र डालेंगे। भला इन ज्ञानी पुरुषों का पता न पूर्व देश को है न उत्तर देश को और मुनि हो गए दीक्षित हो गए। मोहियों को विश्वास ऐसी घटना में नहीं होता। अब जरा ज्ञानियों की दुनिया में आइए। उन्हें मोही पुरुषों की करतूत पर आश्चर्य होता है। कैसे ये करते हैं, क्या इन्हें पड़ी है, क्यों पर वस्तु में इन्हें मोह बसता है? क्या सम्बंध है? बड़ा कष्ट है, क्यों ये पर का ख्याल रखते हैं, ऐसे ज्ञानी पुरुष को तो मोहियों के प्रति विचित्रता सी मालूम होती है। जिसने सम्यग्दर्शन पाया है उसकी एक अद्भुत दशा हो जाती है, वह अपने ही ज्ञान में मग्न रहता है, अपने ही ज्ञान में संतोष पाता है और अपने ही ज्ञान में आनन्दमग्न रहता है ऐसे पुरुष को किस कारण से अन्तस्तत्त्व का अनुभव उत्पन्न होता है यह प्रसंग चल रहा है। सम्यग्दर्शन की उद्भूति किसी के निसर्ग से और किसी के अधिगम से होती है। यद्यपि उद्भूति के काल में उपदेश का कहीं प्रसंग नहीं है और निसर्ग में भी जो कारण बताये जाते हैं जाति स्मरण, वेदनाप्रभव, देवदर्शन आदिक, ये भी कोई प्रसंग वहाँ नहीं हैं। लेकिन जिनके ये तीन कारण होते हैं, जिनके प्रसाद से सम्यक्त्व होता है उनकी क्या स्थिति थी कि जिससे उत्तरोत्तर बल पाकर सम्यक्त्व किसी के निसर्ग से और किसी के अधिगम से होता है। तो सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है, यह सूत्र का अर्थ है।

'तन्निसर्गादधिगमाद्वा' सूत्र में तत् शब्द से सम्यग्ज्ञान के अग्रहण की भाँति सम्यक्चारित्र व मोक्षमार्ग का अग्रहण होने से सम्यग्दर्शन के ग्रहण की उपयुक्तता का उपसंहार—अब इस प्रसंग में एक नई आशंका और आती है कि तत् शब्द से सम्यग्ज्ञान को नहीं लिया जा सकता तो मत लो, पर सम्यग्दर्शन को ही क्यों ले रहे? सम्यक्चारित्र को

ले लीजिए। चारित्र तो निसर्ग और अधिगम दोनों से उत्पन्न हो सकता है। तो तत् शब्द से हम यहाँ चारित्र अर्थ लेंगे। तो इस आशंका के विषय में भी वही बात सोचिए कि क्या चारित्र भी निसर्ग और अधिगम दोनों से उत्पन्न होता है? न होगा। चारित्र तो अधिगमज ही होता है, क्योंकि चारित्र का पालन जो करता है वह श्रुतज्ञान पूर्वक करता है, उन्होंने सुना, अध्ययन किया, उपदेश में सुना तो उनको उस विषय की सुमति जगी, चारित्र पालने लगे। तो जितने चारित्र हैं वे श्रुतपूर्वक हैं और इसी कारण चारित्र के जो भेद हैं वे सब अधिगमज होंगे तो उनमें कोई निसर्गपना नहीं है, सो चारित्र में भी नहीं कह सकते कि चारित्रपना दो हेतुवों से होता है। तो न तो चारित्र को कह सकते कि वह निसर्ग, अधिगम दोनों से होता न सम्यग्ज्ञान को कह सकते, किन्तु सम्यक्त्व ही एक ऐसा इन तीनों में है कि जो निसर्ग से भी हो सकता और अधिगम से भी हो सकता है। तब तत् शब्द का अर्थ सम्यग्दर्शन का लेना, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र से न लेना, और न मोक्षमार्ग से लेना कोई यह कहने लगे कि तत् शब्द से न सम्यग्दर्शन लें, न सम्यग्ज्ञान लें, न सम्यक्चारित्र लें किन्तु मोक्षमार्ग ले लें? नहीं, मोक्षमार्ग निसर्ग व अधिगम दोनों से उत्पन्न नहीं होता। मोक्षमार्ग क्या चीज है? वह तो तीनरूप है। उन तीनों पर ही तो विचार किया जाना चाहिए कि वे किस कारण उत्पन्न होते हैं? तो तत् शब्द से यहाँ सम्यग्दर्शन ही विवक्षित होता है। तो सम्यग्दर्शन किसी में निसर्ग से होता है किसी में अधिगम से।

अधिगम की अद्भुत कारण रूपता—अब देखिए सम्यग्दर्शन उत्पन्न होने में यद्यपि निमित्त कारण एक ही प्रकार से सब में है। दर्शन मोहनीय की तीन प्रकृतियाँ और अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ, इन ७ प्रकृतियों के उपशम से औपशमिक सम्यक्त्व, क्षयोपशम से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और ७ प्रकृतियों के क्षय से क्षायिक सम्यक्त्व होता है। तो निमित्त कारण तो उन ७ प्रकृतियों का अभाव है। उस पर यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं, वह तो हैं ही, किन्तु व्यवहार में जो सम्यक्त्व देखा जाता है तो वह किसी-किसी कारण को लेकर उत्पन्न होता है? सम्यग्दर्शन अहेतुक तो है नहीं कि किसी कारण से न हुआ हो। जो चीज नहीं है और किसी समय से हो उसका नियम से कोई कारण होता है, अहेतुक नहीं होता। जो अहेतुक हो वह अनादि से होता है। सम्यग्दर्शन अनादि से नहीं है। भले ही चाहे वह अनन्त काल तक रहे, मगर उत्पत्ति की बात कही जा रही है। जो अहेतुक होता है वह किसी दिन से होता हो, उसमें ऐसी बात नहीं कही जा सकती। सम्यग्दर्शन अहेतुक नहीं है, यह तो अनुभव ही बता रहा। जग के इतने मोही जीव ऐसा घोर कष्ट पा रहे हैं, तो यह वेदना भ्राँतज्ञान से है, यह मिथ्यात्व ही तो है। सम्यग्दर्शन हो तो यह कष्ट क्यों भोगना पड़ता इस जीव को। अनादि से मिथ्यात्व बस रहा है और अब हुआ सम्यक्त्व, तो उसका कारण अवश्य सोचना चाहिए। कुछ कारण जरूर है, तो निमित्त कारण तो ७ प्रकृतियों का अभाव अथवा हटना है और बाह्य कारणों में किसी को तो परोपदेश से होता है और किसी को

निसर्ग से अर्थात् उपदेश बिना कुछ अन्य कारण घटना पाकर, जाति स्मरण आदि पाकर। देखिए यहाँ वह बात कही जा रही है—एक ओर तो परोपदेश और दूसरी ओर परोपदेश को छोड़ कर बाकी सब बाह्य कारण। परोपदेश एक अद्भुत कारण है कि सब कारणों के मुकाबले में एक पलड़े में ही रखा गया है और इस परोपदेश की कितनी अद्भुत महिमा गायी जा रही है तो परोपदेश एक बड़ा महत्त्वशाली उपाय है। वैसे देखो तो देशनालब्धि के बिना किसी को भी सम्यक्त्व नहीं हुआ देशनालब्धि अवश्य होती है। चाहे पूर्व भव में हो चाहे इस भव में हो। देशनालब्धि की बात यहाँ नहीं कही जा रही है। इस भव में किसी जीव को पर के उपदेश पूर्वक सम्यक्त्व होता है तो किसी को परोपदेश बिना जाति स्मरण आदि ऐसी घटनाओं को पाकर सम्यग्दर्शन होता है। यों सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम दोनों से उत्पन्न होता है। तो तत् शब्द से यहाँ सम्यग्दर्शन लिया है। सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का ग्रहण यहाँ तत् शब्द से नहीं किया गया है।

प्रधान शब्द मोक्षमार्ग का ग्रहण न हो कर सम्यग्दर्शन का ही ग्रहण हो एतदर्थ तत् शब्द का तन्निसर्गादधिगमाद्वा सूत्र में निबंधन—मोक्षशास्त्र के तृतीय सूत्र में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के कारण बताये जा रहे हैं। सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का निमित्त तो सम्यक्त्वघाती ७ प्रकृतियों का उपशम, क्षय और क्षयोपशम है, पर बाह्य साधन किसी के लिए परोपदेश पड़ता है तो किसी के लिए परोपदेश के बिना जाति स्मरण आदि ही होता है। इस तरह निसर्गज और अधिगमज सम्यग्दर्शन के दो भेद कहे गए हैं। तत् शब्द किसको ग्रहण करता है? जो निसर्ग और अधिगम से होता है। तो वह कौन है। इसको भली प्रकार सिद्ध किया गया है कि वह क्या? मायने है सम्यग्दर्शन। अब एक आशंका और रखी जा सकती है कि इस सूत्र में यदि तत् शब्द न देते, सीधा इतना कह देते निसर्गादधिगमाद्वा, स्वभाव से और अधिगम से उत्पन्न होता है। स्वभाव के मायने निसर्ग से और अधिगम से उत्पन्न होता है। कौन होता है? सम्यग्दर्शन जिसकी बात चल रही वही तो ग्रहण में आएगा तो तत् शब्द निरर्थक है, क्योंकि सूत्र रचना में सामर्थ्य की वजह से दर्शन से सम्बंध हो जाएगा पहले कहा— तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं—में तदनंतर ही कहा गया निसर्गादधिगमाद्वा, बात जहाँ जो चल रही उसकी बात आ जाएगी, तो तत् शब्द न डालना चाहिए। वैयाकरण लोग तो एक भी शब्द लघु हो जाए तो उसमें बड़े खुश हो जाते हैं। तो तत् शब्द हटा लीजिए, ऐसी एक आशंका रखी है। अब चलिये समाधान में—जब सूत्र इतना ही बनाया जा रहा है निसर्गादधिगमाद्वा, निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है। कौन होता है? तो कोई कहेगा सम्यग्दर्शन। कोई कह देगा मोक्षमार्ग होगा तो मोक्षमार्ग का भी सम्बंध बन जाएगा, फिर सूत्र का अर्थ सही न रहेगा इसलिए तत् शब्द डालना पड़ा। यहाँ यह बात विचारी जा सकती कि तत् शब्द न डालें, केवल यह कहें कि निसर्ग और अधिगम से होता है। तो लिया वह जाएगा जो पास में शब्द पड़ा हो। तो तीसरे सूत्र से पहले आया हुआ है दूसरा सूत्र—**तत्त्वार्थ श्रद्धानं**

सम्यग्दर्शनं। तो सम्यग्दर्शनं शब्द कहकर जब निसर्गादधिगमाद्वा कहा जाएगा तो सम्यग्दर्शन ही तो लिया जाएगा। मोक्षमार्ग कैसे ले लिया जाएगा? तो तत् शब्द निरर्थक ही रहा। लेकिन यह बात सही यों नहीं है कि भले ही इस तीसरे सूत्र से पहले दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन शब्द आया है लेकिन एक न्याय होता है कि निकट की अपेक्षा प्रधान बलवान होता है तो इस सारे शास्त्र में मोक्षमार्ग का वर्णन है, सम्यक्त्व का तो प्रकरण पाकर वर्णन चल रहा है, पर पूरे मोक्षशास्त्र में तो मोक्ष का ही वर्णन है, मोक्ष का ही एक अंग सम्यक्त्व आएगा। निकट शब्द है सम्यग्दर्शन, मगर प्रधान शब्द है मोक्षमार्ग इसलिए मोक्षमार्ग का इसमें ग्रहण हो जाएगा तब तो मोक्षमार्ग का सम्बंध ही लाना पड़ेगा। तो मोक्षमार्ग का मतलब इस सूत्र में तत् शब्द से नहीं हैं किन्तु सम्यक्त्व का मतलब है अतएव तत् शब्द डाला 'वह'। और, प्रक्रिया भी ऐसी ही है। इसका नाम सम्यग्दर्शन है और वह निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता। तो वह कहने से निकटवर्ती का ही ग्रहण होगा, प्रधान का नहीं। अगर कुछ न कहें तो प्रधान का ग्रहण होता, मोक्षमार्ग का होता, इसलिए इस सूत्रमें तत् शब्द डाला। बताया भी गया कि सूत्र में कोई शब्द निरर्थक न हो, कोई शब्द अधिक न हो, ऐसी शब्द रचना से सूत्र बनता है जैसे कि ईंटों से भींट बनी। उसमें एक भी ईंट ज्यादा पड़ जाए तो काम न बनेगा, कोई ईंट कम रख दी जाए तो काम न बनेगा, इसी तरह सूत्र में कोई शब्द कम नहीं होता और न कोई शब्द अधिक होता। तो यहाँ तक क्या बात आयी कि तन्निसर्गादधिगमाद्वा, इस सूत्र में तत् शब्द से ग्रहण किया गया है सम्यग्दर्शन को, क्योंकि सम्यग्दर्शन निकट में है। इस सूत्र से पहले सूत्र में आया है।

लिङ्ग व वचन की समानता से भी तत् शब्द से सम्यग्दर्शन के ग्रहण की उपयुक्तता—एक आशंका यह भी की जा सकती है कि पहिले तो मोक्षमार्ग ही शब्द आया। देखो पहले सूत्र में तो मोक्षमार्ग शब्द है। सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः और दूसरे सूत्र में सम्यग्दर्शन शब्द है। तो तीसरे सूत्र से पहले जैसे सम्यग्दर्शन आता है वैसे ही मोक्षमार्ग भी तो आता है तो सम्यग्दर्शन को ही क्यों ग्रहण करते? मोक्षमार्ग को क्यों नहीं ग्रहण करते? उत्तर इसका कारण यह है कि मोक्षमार्ग तो बहुत पहले है और अनन्तर पहिले सम्यग्दर्शन है, इसलिए तत् शब्द से सम्यग्दर्शन ग्रहण किया जाएगा। तब अर्थ हुआ ना-वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है। अब इस सम्बंध में एक बात और परख लीजिए। देखिए—तत् शब्द है नपुंसक लिंग तो तत् शब्द से उसका ग्रहण होगा जो नपुंसक लिङ्ग में उपयुक्त होता है। मोक्षमार्ग और सम्यग्दर्शनं इन दोनों में मोक्षमार्ग है पुल्लिंग और सम्यग्दर्शन है और तत् शब्द नपुंसक लिङ्ग है तो जिसके लिये वह कहा जा रहा है वह भी नपुंसक लिङ्ग ही होना चाहिए। तो नपुंसकलिङ्ग जो सम्यग्दर्शन है उसका ही ग्रहण होगा, मोक्षमार्ग का ग्रहण न होगा। अच्छा तो कोई यह कह बैठे कि चलो न मोक्षमार्ग का ग्रहण करें, न सम्यग्दर्शन का ग्रहण करें, किन्तु इन सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तीनों का ग्रहण कर लिया जाए, मानों तीनों

ही निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होते हैं तो उसका समाधान बिल्कुल ही स्पष्ट है। तत् शब्द है एक बचन में, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि है बहु बचन में, तो इन तीनों का ग्रहण करना अभीष्ट होता सूत्रकार को तब तो बहुबचन शब्द देते ना—तानि निसर्गादधिगमाद्वा, मगर यहाँ दिया है एक बचन, इससे तीनों का ग्रहण नहीं होता। इस प्रकार यह भली भाँति सिद्ध हो जाता कि तत् शब्द से सम्यग्दर्शन अर्थ लेना याने सूत्र का यह अर्थ लेना—वह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से उत्पन्न होता है। निसर्ग का अर्थ तो स्पष्ट कह दिया गया कि परोपदेश नहीं किन्तु अन्य कुछ भी कारण मिले वहाँ सम्यक्त्व जगे तो उसे कहते है निसर्गज सम्यग्दर्शन और दूसरे का उपदेश पाकर हो तो उसे कहते हैं अधिगम सम्यग्दर्शन। निसर्ग शब्द से यह न समझना कि कुछ भी बाह्य साधन न मिलना चाहिए और अपने आप सहज हो जाना चाहिए। देखिए निसर्ग शब्द का प्रयोग, जैसे कहा जाए कि यह बालक निसर्गतः शूरवीर है, यह सिंह निसर्ग से शूरवीर है तो क्या उसकी शूरवीरता में कोई कारण नहीं है? अरे निरोगता हो, शरीर में वात, पित्त, कफ की समता हो या पहले से ढांचा वगैरह ठीक हो देश काल अनुकूल हो, तब शूरवीरता हुई, मगर उसे निसर्ग से बोलते हैं। सिंह निसर्ग से शूरवीर होता है, इसी प्रकार यह सम्यग्दर्शन निसर्ग से हुआ, इसका अर्थ यह न लेना कि कोई बाह्य साधन न मिले। किन्तु यह लेना कि परोपदेश को छोड़कर अन्य कोई कारण मिले और हो सम्यग्दर्शन तो उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं।

सम्यक्त्व से पहिले होने वाले ज्ञान की विशेषता—अब एक बात और सामने रखी जा रही है कि देखो— बताया यह गया है ना कि सम्यग्दर्शन के होते ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान हो जाता है, अच्छा बतलावो—सम्यग्दर्शन से पहले जो ज्ञान है वह सम्यग्ज्ञान है या मिथ्याज्ञान? तो कहा यह जाएगा कि मिथ्याज्ञान है। जब तक सम्यक्त्व न हो तब तक ज्ञान मिथ्याज्ञान है, लेकिन एक समस्या आती है कि सम्यग्दर्शन जिस क्षण में होगा उस क्षण से पहले यदि ज्ञान मिथ्याज्ञान है तो ऐसे मिथ्याज्ञान से सम्यग्दर्शन कैसे हो सकता है? कहीं झूठे ज्ञान से भी सम्यक्त्व जग जाएगा? मोटे रूप में लगता है ऐसा कि सही ज्ञान बने किसी के तो सम्यक्त्व जगेगा, मिथ्याज्ञान से नहीं, लेकिन सिद्धान्त में तो यह कहा जा रहा है कि सम्यग्दर्शन के साथ ही ज्ञान सम्यग्ज्ञान है उससे पहले नहीं। तो उससे तो यह सिद्ध होता है कि सम्यग्दर्शन से पहले जो ज्ञान हुआ वह मिथ्याज्ञान कहलाएगा। तो यह बात जंचती नहीं। सम्यग्ज्ञान से पहले उत्पन्न ज्ञान के विषय में या सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने के लिए जो ज्ञान पहले हुआ है वह ज्ञान मिथ्या कैसे हो सकता है? मिथ्याज्ञान में सम्यग्दर्शन को उत्पन्न करने की योग्यता नहीं हो सकती। तो क्या कहा जाए? यों मिथ्याज्ञान तो कह नहीं सकते और सम्यग्ज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि सम्यग्दर्शन होने से पहले ज्ञान यदि सम्यक् है तो सम्यक्त्व की और जरूरत क्या रही? ज्ञान तो समीचीन हो गया, तो उसे सम्यक् भी नहीं कह सकते। तो क्या कहा जाएगा सो बतलाओ? तो कोई यह सोचे कि चलो न उसे सम्यक् कहें, न उसे मिथ्या

कहें, किन्तु उसे सामान्य कहें। ज्ञान सामान्य है, उस ज्ञान सामान्य के द्वारा जाना गया जो पदार्थ है, उस पदार्थ में प्रवर्तमान हो रहा जो सत्यज्ञान है वह सम्यग्दर्शन के विषय का ग्राहक है और उसे सम्यक्त्व हो जाएगा, ऐसा मान लो। तो इस सम्बन्ध में भी सोचें। अब तीन बातें आयीं सम्यग्दर्शन से पहले होने वाला ज्ञान क्या सम्यग्ज्ञान है? क्या मिथ्या ज्ञान है? क्या ज्ञान सामान्य है? अब सोचिए—सम्यग्ज्ञान भी नहीं कह सकते, मिथ्या ज्ञान भी नहीं कह सकते। ज्ञान सामान्य से भी क्या फायदा निकलेगा? ज्ञान सामान्य तो इस जीव के सदा काल रहता है। तो क्या कहना होगा कि वास्तव में वह ज्ञान मिथ्याज्ञान है, लेकिन समीपता के कारण और सम्यक्त्व का जनक होने के कारण ज्ञान को उपचार से सम्यक् कहा जायगा।

दृष्टान्तपूर्वक सानुभव ज्ञान व निरनुभव ज्ञान का विश्लेषण—देखो सम्यग्ज्ञान व मिथ्याज्ञान के लिए एक दृष्टान्त लो। जैसे जिस पुरुष ने **'श्रवण बेल गोल'** में जाकर बाहुबलि स्वामी के दर्शन नहीं किए और उसकी यह भावना हुई कि मैं दर्शन करूँ, तो वह यहाँ लोगों से उस मूर्ति के विषय में पूछ कर पूरी जानकारी करता है, उसका फोटो देखकर और उसका इतिहास पढ़कर उसकी नाप आदि का भी पूरा ज्ञान कर लेता है। बाहुबलि की प्रतिमा के दर्शन के पहिले ज्ञान तो कहा जावेगा। वह ज्ञान वैसा ही कर रहा है जैसी कि वह प्रतिमा है। एक तो ऐसा ज्ञान किया और दूसरे वह श्रवणबेलगोल जाकर उस बाहुबलि प्रतिमा मुर्ति के दर्शन प्रत्यक्ष रूप में करता है वहाँ जाकर ज्ञान किया। तो अब आप बताइये इन दोनों प्रकार के ज्ञानों में कुछ अन्तर है कि नहीं? अरे अन्तर है। देखिए—उस प्रतिमा के दर्शन करने से पूर्व उसके विषय में जो जानकारी प्राप्त की थी उसे मिथ्याज्ञान तो नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा ज्ञान कर रहा है। तो क्या वह ज्ञान सम्यक् था? सम्यक् भी नहीं कह सकते, अगर वह ज्ञान सम्यक् था तो फिर मूर्ति के दर्शन के समय में होने वाले ज्ञान में कुछ विशेषता न आनी चाहिए थी, क्योंकि ज्ञान तो पहले से ही हो रहा था। तो बात क्या हुई कि दर्शन के समय जो ज्ञान हुआ है वह अनुभव सहित ज्ञान है अनुभव—सहित ज्ञान हो उसे कहते हैं सम्यक् और जो अनुभव रहित ज्ञान है उसे कहते हैं मिथ्याज्ञान। लेकिन विपरीत ज्ञान से सम्यक्त्व नहीं होता, अनुभव न बनेगा, उसके लिए ज्ञान उसके अनुरूप करना होगा। वह अनुभव रहित होने के कारण मिथ्या है और जैसा वह जाना गया वैसा जानने के कारण तो नहीं कह सकते, क्योंकि वैसा ज्ञान कर रहा है। तो क्या वह ज्ञान सम्यक् था? सम्यक् वह सम्यक् है। तो अब देखिए— सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले जो ज्ञान बन रहा है वह ज्ञान कितना विशिष्ट ज्ञान बन रहा है वह ज्ञान कितना विशिष्ट ज्ञान है कि उस अधःकरण, अपूर्वकरण अनिवृत्तिकरण के समय में कितने बंधापसरण होते, कितनी विशुद्धता होती और उसकी निर्विकल्प स्थिति होने लगती है उस काल में इसे अनुभव जगता है, और अनुभव जगा कि वही ज्ञान पूरा सम्यक् हो जाता है।

ज्ञान के सम्यक् होने का विद्यानन्दस्वामी का एक उदाहरण—अब से सैकड़ों वर्ष पहले एक विद्यानन्द स्वामी हुए हैं जो कि बहुत ही दिग्गज आचार्य हुए हैं जिन्होंने समंतभद्राचार्य रचित देवागम स्तोत्र की अष्टशती पर अष्टसहस्री टीका की है। अष्टशती टीका की है अकलंक स्वामी ने। और अकलंक स्वामी की टीका पर इस तरह की टीका विद्यानन्द स्वामी ने की कि अकलंक स्वामी के वाक्य बीच-बीच में ऐसे लगा दिए गए कि वह सारा व्याख्यान एक हो गया। टीका की वह एक अनोखी पद्धति है। टीका प्रायः उसे कहते हैं कि जिस बात पर टीका करना है उसको पहले हेडिंग में लिखते हैं, बाद में वक्तव्य देते हैं लेकिन उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे टीका करते गए। जहाँ अकलंक देव का वाक्य फिट बैठता है वहाँ बैठा दिया, बाद में अपना वाक्य जोड़ दिया, फिर अपनी बात कहने लगे। वह बड़ी कठिन टीका है जो अष्ट सहस्री के नाम से प्रसिद्ध है। बहुत से लोग तो उसे कष्ट सहस्री भी कहने लगे। इतनी ऊँची सूक्ष्म दार्शनिक टीका है। तो उन विद्यानन्द स्वामी का हम जीवन चरित्र बतलाते हैं। उन्होंने मोक्षशास्त्र पर भी टीका की है। वे बहुत दिग्गज विद्वान थे। वेद वेदान्त के विद्वान उस समय सबसे ऊँचे आचार्य कहलाते थे। और जैन धर्म से द्वेष रखते थे। वे राजदरबार में प्रधान पुरोहित थे, राजा उनका बड़ा सत्कार करता था। उस समय उनके ५०० शिष्य थे। घर से दरबार में जाते तो रास्ते में एक पार्श्वनाथ चैत्यालय मिलता था। वे उससे इतना द्वेष करते थे कि उसकी ओर अपना मुख भी नहीं करते थे। वहाँ से मुख फेर कर तिरछे होकर निकलते थे। यानी उस चैत्यालय को देखना भी वह न पसन्द करते थे, इतना द्वेष था। एक दिन उनके मन में आया कि मैं बहत समय से इस चैत्यालय की ओर पीठ देकर जाता हूँ, जरा एक बार इसके अन्दर जाकर देखें तो सही कि इसमें है क्या चीज। तो केवल एक तफरी बतौर देखने के लिए उस चैत्यालय में चले गए। कुछ देखा तो वहाँ एक मुनिराज बैठे थे। और वे मुनिराज देवागमस्तोत्र का पाठ कर रहे थे। वह पाठ उन्हें बड़ा सुहावना लगा।

जैन शासन के रत्नों का ग्रहण करने का अनुरोध—जैनशासन में कितने रत्न पड़े हैं और आचार्यों ने क्या देन दी है इस बात को पहचानने वाले वे ही हो सकते हैं जो कुछ उस ओर ज्ञान करें और उस ओर कुछ प्रवेश करें। समुद्र में रत्न कैसे हैं इस बात को वे ही पहचान सकते हैं जो समुद्र में डुबकी लगायें। क्या-क्या रत्न हैं, क्या-क्या तत्व बसा हुआ है। आज कल तो लोग स्वाध्याय या सभा में आना, प्रवचन सुनना या अध्ययन करना आदि इन कामों को आवश्यक काम नहीं समझते और आवश्यक काम समझते हैं देर से उठना, साबुन से नहाना, चाय पीना, अखबार आदि। मगर भाई अगर अब भी न चेते, दुर्लभ मनुष्य भव पाकर भी अगर सदबुद्धि नहीं आती तो बताओ किस भव में तिरने का उपाय बनाओगे। अगर मरकर पशु-पक्षी हो गए स्थावर हो गए पेड़-पौधे हो गये तो सब गड़बड़ हो गया। अभी तो एक बड़ा अहंकार-सा बना हुआ है, बड़ी शान रखते, बड़े ऐश आराम

की बातें चाहते हैं और हो जाय दुर्गति तो फिर क्या किया जायगा? तो आवश्यक काम है तत्वज्ञान का। घर का काम आवश्यक नहीं। घर का काम तो जो जैसा होता है उसे वैसा होने दो। दुकान आदि में धनार्जन का काम तो पुण्योदय से होता है। वे सब काम तो जैसे होते हैं हों मगर सदा के लिए हम संकटों से छूट जायें ऐसी कोई दृष्टि मिले, ऐसी कोई भीतर में बात मिले तो भला बतलाओ इससे बढ़कर और कोई बात है क्या? यह तो चंद दिनों का समागम है, ये सब समागम तो छोड़ने पड़ेंगें। तो जिन बातों में कुछ सार नहीं रक्खा उनको तो लोग आवश्यक समझते हैं और जो तत्वज्ञान की बात है, सारभूत बात है, कल्याणकारी बात है, जो दृष्टि को निर्मल कर सकने की बात है, ये आचार्यों के बचन, इनको सुनने की बात लोग अनावश्यक समझते हैं—इसे इतना आवश्यक समझिए कि यह बात अगर किसी भी क्षण समझ में आ गई तो आपका भला हो जायगा। लोग तो चाहते हैं कि हम आज ही स्वाध्याय में पहुँचें और आज ही हमें आनन्द मिल जाय, आज ही हमारा कल्याण हो जाय, तो यह बात कैसे हो सकती है? अनादि काल से मोहरूपी विष का पान किए हैं तो उस विष का उतरना इतना जल्दी कैसे हो सकेगा? अरे इसके लिए तो सारा जीवन लगाना होगा।

विद्यानन्द स्वामी पर प्रथम प्रभाव—हाँ तो विद्यानन्दस्वामी वहाँ चैत्यालय में खड़े मुनिराज से देवागमस्तोत्र सुन रहे थे। वह विद्वान तो थे ही। वह बड़ा अच्छा लगा तो वहीं पास में बैठकर मुनिराज से कहा—महाराज हमें आप इसका अर्थ बता दीजिए। तो मुनिराज बोले भाई मैं विद्वान नहीं हूँ, मै पाठ करता हूँ। तो इतनी बात सुनकर विद्यानन्दस्वामी पर और भी अधिक प्रभाव पड़ा। सोचा कि देखो यह हैं तो कितने बड़े महात्मा, पर यह अपनी कमजोरी बताने में रंच भी संकोच नहीं कर रहे हैं। कैसे सच बात कह रहे हैं। लोग तो प्रायः ऐसे होते हैं कि वे दूसरों के सामने अपनी कमजोरी उनसे छिपाते हैं। अभी समय नहीं है, फिर कभी समझा देंगे आदि बातें कह कर टाल देते हैं। पर महाराज तो अपनी कमजोरी हमसे रंच भी नहीं छिपाते। वहाँ विद्यानन्द स्वामी थोड़ा झुक गए और कहा—अच्छा तो महाराज एक बार फिर सुना दीजिए। तो उन्होंने प्रारम्भ से लेकर अन्त तक देवागमस्तोत्र सुनाया। क्या है? देवागमस्तोत्र में भगवान की स्तुति हो रही है और निर्णय हो रहा कि यह एकान्तवाद क्यों सही नहीं।

देवागमस्तोत्र की भूमिका का दिग्दर्शन—प्रथम भूमिका रूप बताया गया है कि हे भगवान आपको हम अपना सिर झुकाते तो क्यों झुकाते? कारण क्या है? तो मानों भगवान बोले, हम आकाश में चलते हैं, देवता गण हमारी भक्ति में आते हैं, देवता चमर ढोरते हैं इसलिए सिर झुकाना चाहिए। तो समन्तभद्र का यह उत्तर है कि इस कारण से हम सिर नहीं नमा सकते। अरे इतनी बातें तो कोई मायाचारी पुरुष भी कर सकता है। कोई विद्या सिद्ध कर ले तो वह भी ऐसी बातें दिखाने लगे। इससे तो आप बड़े नहीं। तो मानों

भगवान बोले कि इससे बड़े न सही तो इससे बड़ा मान लो कि हमारे शरीर में खून नहीं पीव आदिक नहीं है हमारा शरीर परमौदारिक है, इससे तो बड़ा मान लो तो कहते कि इससे भी आप बड़े नहीं हो। अरे देवों के भी तो शरीर ऐसे मिलते हैं। तो मानों फिर भगवान बोले कि अच्छा इससे भी बड़ा नहीं मानते तो न सही लेकिन हमने तो एक धर्म चलाया बोले कि अच्छा इससे तो बड़ा मानो तो कहते कि अरे तीर्थ तो अनेक लोगों ने चलाया। सभी लोग अपने अपने तीर्थ चलाते हैं, इसमें भी आपका क्या बड़प्पन? तो फिर मानों कोई पूछ बैठा कि इन बातों से बड़े नहीं तो फिर यहाँ क्यों आये? और स्तवन करने क्यों आये? तो कहा सुनो बड़ा वह होता है कि जिसमें गुण तो हों पूरे दोष एक भी न हो। कहीं इससे बड़प्पन नहीं कि धर्म चलाया, शरीर निर्दोष है, देवांगनायें आती हैं। बड़प्पन तो इसी कारण है कि गुण तो पूरे हों और दोष एक भी न हो। कहते हैं कि ऐसा हो सकता है क्या? हाँ कोई ऐसा भी मनुष्य होता कि जिसमें गुण तो हों पूरे दोष एक भी न हो। देखो जब हम जीवों में यह देख रहे कि किसी में कम दोष है किसी में और कम तो किसी में दोषों का अभाव भी है। अच्छा तो देखो किसी में ज्ञान कम है किसी में और भी कम है, तो कोई ऐसा भी आत्मा हो सकता कि जिसमें ज्ञान कम है किसी में और कम तो किसी में दोषों का अभाव भी ऐसा आत्मा हो सकता कि जिसमें ज्ञान बिल्कुल न रहेगा। कहते नहीं। ऐसा पटतर मत दो। बात यह है कि जो उपाधि के हटने से हटे वह तो कहीं पूरा भी हट सकता है मगर जो उपाधि के हटने से बढ़ता हो उसमें यह नहीं कहा जा सकता है कि यह ज्ञान कहीं बिल्कुल कम हो जायगा। अच्छा यह भी बात मान ली। मगर एक मैं ही निर्दोष हूँ यह तुमने कैसे जाना? तो कहते हैं कि सुनो-निर्दोष वह कहलायेगा जिसकी वाणी में न युक्ति से विरोध आये, न शास्त्र से। और वाणी से ही मनुष्य की पहचान होती है। जिसके वचन खोटे निकलें। समझो कि उसका अभिप्राय खोटा है और जिसके वचन प्रिय, मधुर निकलें, समझो कि उसके दिल में बड़ी उदारता है और स्वच्छता है। तो वचनों से पहचाना जाता है कि मनुष्य कैसा है। तो हे भगवान मैंने आपके वचनों से ही पहचाना कि आप निर्दोष हैं, क्योंकि वाणी में युक्ति से कहीं विरोध नहीं आता। कैसे विरोध नहीं आता? जब यह बात बतानी पड़ी तो सभी मतों का वर्णन करना पड़ा और बताना पड़ा कि आपके अनेकान्तवाद की बात सत्य बैठती है पर एकान्तवादी की बात सत्य नहीं बैठती है। तो सारे एकान्तों का बहुत पुष्टता से संक्षेप में वर्णन किया है। समन्तभद्राचार्य को तो कलिकाल केवली जैसी बात कही जाती है, इतने ऊँचे दिग्गज विद्वान वे आचार्य थे। जिनकी रचना पर टीका अकलंकदेव ने की और उस पर विद्यानन्द ने की।

विद्यानन्दस्वामी के ज्ञान में सम्यक्त्व आये वाद का प्रकरण—बात यह कह रहे थे। कि विद्यानन्द स्वामी ने उन मुनिराज से पाठ सुना और उनका चित्त बदल गया कि वास्तव में अनेकान्तवाद ही सही है। तो अब उसमें जितनी खोट थी और जितना सहीपन था

वह सब एक साथ नजर आ गया। तो अब तो उनका प्रभात हो गया। अब एक इस ओर की सुध हो गई। तो जब वे रात्रि को सोये उसी चिन्तन में सोये, उस चिन्तन को करते करते एक शंका उनको चित्त में रह गयी थी वह शंका है अनुमान प्रमाण से सम्बन्धित। अनुमान प्रमाण याने धूम देखा और अग्नि का ज्ञान कर लिया। साधन से साध्य का ज्ञान होने को अनुमान कहते हैं। तो अनुमान अन्य प्रमाणों की भांति पुष्ट ज्ञान होता है। तो बौद्ध लोग तो मानते हैं कि भैरूप्य उसका साधन है और नैयायिक मानते हैं कि पांच रूप उसका साधन है। अनुमान की मुद्रा यह है—इस रसोई घर में धुवां होने से जहां जहां धुवां होता है वहां वहाँ अग्नि होती है जैसे रसोई घर और जहां धुवाँ नहीं होता वहां अग्नि नहीं देखी जाती जैसे तालाब। ऐसा लोग बोलते कि नहीं? तो इसमें ५ अवयव आ गए। प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनम व निगमन तो अब शंका यह थी कि अनुमान पचरूप से सिद्ध हुआ या भैरुप्य से? भैरूप्य है—पक्षवृत्ति सपक्षवृत्ति। तो उनको स्वप्न हुआ। स्वप्न में वह बात आयी कि तुम शंका मत करो। उस चैत्यालय में जावो तो भगवान के पीछे तुम्हें इसका उत्तर मिल जायगा। उस स्थान पर वह गए तो उस समय वहां दो श्लोक दिखे, चमत्कार था वे दो श्लोक क्या थे? **अन्यथानुपपन्नत्वंयत्र किं तत्र पंचभिः। नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र किं तत्र पंचभिः अन्यथानुपन्नत्वं, यत्र तत्र त्रयेण किम्। नन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्।** जहां अन्यथानुपपत्ति है वहां पांच से क्या प्रयोजन, जहां अन्यथानुपपत्ति नहीं वहां पांच से क्या प्रयोजन, जहां अन्यथानुपपत्ति है वहां जहां अन्यथापानुपपत्ति नही वहां तीन से क्या प्रयोजन। देखो यह सोचना कि अनुमानका साधन क्या है? पांचरूप्य है या भैरूप्य? तो देखिये केवल एक है—अन्यथानुत्पन्नत्वं मायने अग्नि बिना जो नहीं हो सकता वह चीज अग्नि का साधन है, इसे कहते हैं अविनाभाव। चाहे पचरूप हो चाहे न हो, मगर जहाँ अन्यथानुपपत्ति होती है वहां अनुमान प्रमाण सही कहलाता है। चैत्यालय में गये श्लोक लिखे देखे शंकानिवृत्ति हो गई। अब दूसरे दिन जब विद्यानन्द स्वामी राजदरबार में गए तो व्याख्यान तो रोज देते ही थे। उस दिन जब व्याख्यान दे रहे थे तो उसमें अनेकान्तवाद (स्याद्वाद) की छाया थी। उनके ५०० शिष्य तथा अन्य बहुत से लोग भी वह व्याख्यान सुन रहे थे, तो वहां सभी लोग एक आश्चर्य में आ गए कि आज हमारे गुरु महाराज को क्या हो गया क्या बात है? आज यह क्या बोला जा रहा है? तो उन्होंने कहा कि भाई आज तक हम एकान्तवाद में थे। हमने सत्य शासन अब जाना और जिसे शंका हो वह हमसे वादविवाद कर ले। वह बहुत ऊँचे विद्वान तो थे ही। सबको समझाया। दरबार से चले आये और मुनि हो गए। उनके साथ उनके सभी शिष्य भी मुनि हो गए। तो बतलाया यह जा रहा है कि जो संचित ज्ञान है, जिस दिन दृष्टि समझ ली,उस दिन वह ज्ञान सही ज्ञान बन जाता है। जब यहां यह बात देखी जा रही है तो उसमें भी यह अलौकिक बात है। क्या? कि सम्यक्त्व से पहिले जो ज्ञान है वह सम्यक् भी है, मिथ्या भी है। जो सम्यग्दर्शन से पहले ज्ञान होता है वह ज्ञान झूठा ज्ञान नहीं।

परन्तु स्वरूप के अनुरूप ज्ञान है, हां अनुभव रहित ज्ञान है, इतनी बात जरूर है। जैसे कभी मिश्री तो खाई न हो, सिर्फ गन्ना ही चूसा हो, वह दूसरों से सुनकर पढ़कर उस मिश्री का ज्ञान कर ले तो उसका वह ज्ञान झूठा ज्ञान नहीं। कुछ अन्दाज कर ले तो उसका वह ज्ञान है तो सही, मगर वही व्यक्ति अगर उस मिश्री को चखकर उसका ज्ञान कर ले तो उसका वह ज्ञान अनुभव सहित सम्यग्ज्ञान है और अनुभवरहित ज्ञान मिथ्या ज्ञान है। वह मिथ्याज्ञान है जिस तरह मिथ्या है, मगर वस्तुस्वरूप के अनुरूप होने से वह सम्यक् है।

सम्यक्त्व की कल्याण मूलता—इस जीव का भला कर सकने वाला उपाय सम्यक्त्व है। जिसके सम्यक्त्व नहीं है वह दीन है, गरीब है, असहाय है, संसार में जन्म-मरण करते हुए कष्ट भोगेगा। तब सभी चाहते हैं कि मेरे सुख शान्ति हो। कभी भी क्लेश न आये। जब ऐसा चाहते हो तो भली प्रकार इसका प्रयोग करो, कुछ अमल में लावो देखते तो जा रहे सभी लोग कि बहुत परिकर मिलते, बहुत समागम मिलते लेकिन किसी समागम से कोई लाभ नहीं होता। दुःख ही दुःख मिलता है। रागद्वेष मोह के फल में तो दुःख ही दुःख है। तो जिस बात में कष्ट होता है उसको करते ही क्यों? खूब परख कर लो, किसी भी पर वस्तु में मोह करने का फल क्या मिलता है? मोह पर वस्तु में ही होता है, निज में मोह कौन करता है? निज में तो एक स्वच्छता प्रकट होती है। बेहोशी नहीं होती निज दृष्टि में। बेहोशी आती है मोह से। पर वस्तु के प्रति जो लगाव है यह ही इस जीव को ऐसा बुरी तरह से दुःखी करता है। जैसे कहते हैं कि किसी को बोटी-बोटी छेद करके दुःख देना। इस आत्मा के प्रत्येक गुण पर कैसा आघात पहुँचता है इस राग मोह से। लेकिन यह मोही प्राणी राग मोह से दुःखी होता है और उसी में ही मरना चाहता है। यह जीव स्वयं आनन्द-स्वरूप है। जो लोग कहते हैं आनन्दब्रह्मणोरूपी, वह कुछ असत्य नहीं है। ब्रह्म का स्वरूप आनन्द है, लेकिन वे एकान्त करते कि आनन्द के सिवाय और कुछ नहीं है। बस इतनी ही जो कमी की बात है। आनन्द है क्या नहीं आत्मा में? आत्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है, उसमें तो कष्ट का कोई नाम नहीं, लेकिन यह जीव मोह करके बाहरी पदार्थों में लगाव करके स्वयं दुःखी होता है। व्यर्थ का लगाव है। व्यर्थ का मोह है, मर गए फिर क्या रहा इस जीव का। अब भी क्या लाभ मिलेगा? इसे कोई लाभ नहीं पर वस्तु का मोह रखने में। ज्ञान प्रकाश लावें। घर में तो रहो, गृहस्थ हो लेकिन सत्य बात यदि न समझोगे तो जीवन बेकार है। केवल कमाई करके धन भर लिया अरे किसके लिए धन जोड़ने की धुन बनाते? कहेंगे कि हमारे पुत्र हैं, उनके लिए हमने धन रखा है। अरे मरने पर तुम्हारे पुत्र क्या? मरने पर वे तुम्हें क्या लाभ दे सकते हैं? कहाँ उत्पन्न होंगे! कौन हैं? सारा भ्रम है। तो सम्यक्त्व के बिना यह जीवन व्यर्थ समझिए!

मन का ऊधम छोड़कर उद्धार धर्म में उपयोग लगाने का अनुरोध—धनपर

रखा। जब सबसे बड़े लड़के ने पंगत किया तो उसने पकवान का नाम न रक्खा, सिर्फ दाल रोटी ही बिरादरी के लोगों को खिलाया। वहाँ भी खाने वाले लोग यही चर्चा करते थे कि देखो यह तो सब लड़कों से बड़ा था। इसने तो सबसे अधिक धन अपने पास दाब रखा होगा पर वह कैसा चालाक निकला कि सिर्फ रोटी दाल में ही सबको टरका दिया तो देखिए खुश करने का प्रयत्न तो किया गया पर सभी लोग खुश तो न हो सके। बाहरी बातों में अपना यह निर्णय न बनायें कि मैं ऐसा करूँगा तो ये लोग खुश हो जाएंगे! मैं कौन सी भावना बनाऊँ, कैसी बात सोचूं कि मैं अपने आप में प्रसन्न हो जाऊँ, निर्मल हो जाऊँ ! सदा के लिए संकटों से छूट जाऊं?

मन के ऊधम के फल में पुनः निगोदवास की झंझट का लाभ—जब ये सब जीव अपने-अपने में कष्ट में पड़े है तो उनसे अपने लिए क्या आशा करते हो। मन को स्वच्छंद न बनाना चाहिए ऊधम न करना चाहिए। दूसरों पर दृष्टि रखना, उनमें रागद्वेष मोह करना यह सब ऊधम है और अपने भगवान आत्मा पर अन्याय करना है। अगर ऐसा अन्याय इस भगवान आत्मा पर किया गया तो उसका फल क्या मिलेगा कि जिस दुर्गति से निकल कर आये हो वही दुर्गति फिर मिलेगी। एक कथानक है कि साधु के पास कोई चूहा रहता था। एक बार उस चूहे पर बिलाव झपटा तो साधु ने चूहे को आशीर्वाद दिया बिडालोभव-तू भी बिलाव बन जा। लो वह चूहा बिलाव बन गया। अब उसे बिलाव का डर तो न रहा। फिर एक बार उस बिलाव पर कुत्ता झपटा तो बिलाव को साधु ने आशीर्वाद दिया—श्वानभव, अर्थात् तू भी कुत्ता बन जा। लो वह बिलाव कुत्ता बन गया। एक बार उस कुत्ते पर झपटा तेंदुआं तो साधु ने कुत्ते को आशीर्वाद दिया—व्याघ्रोभव। अर्थात् तूभी तेंदुआ बनजा। तो वह कुत्ता तेंदुआ बन गया। एक बार उस पर झपटा सिंह तो फिर साधु ने आशीर्वाद दिया—सिंहोभव, अर्थात् तू भी सिंह बन जा। लो वह भी सिंह बन गया। अब उस जंगल में उस सिंह को भूख लगी—वहाँ कुछ खाने को तो था नहीं। उस सिंह के मन में आया कि न हो तो मैं इस साधु को ही क्यों न खा जाऊं। यह भी तो हृष्ट-पुष्ट है। जब सिंह के मन की बात साधु ने समझ लिया तो श्राप दिया—पुनर्मूषकोभव, अर्थात् तू फिर चूहा बन जा। लो वह फिर चूहा बन गया। तो इस कथानक से शिक्षा यह लेना है कि हम आप अनादि काल से निगोद में थे। वहाँ से निकलकर एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, तीनइन्द्रिय, चार इन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय में आए। कुछ ऊँचे उठे तो मनुष्य हुए। यहाँ श्रेष्ठ मन मिला हुआ है तो इस मन का दुरुपयोग किया तो इसका फल यही होगा कि आत्मा भगवान का आशीष मिलेगा—पुनर्निगोदोभव-फिर से निगोद जाना पड़ेगा। मन का दुरुपयोग यही तो है कि जो इन पर पदार्थों के प्रति इतना लगाव लगाया जा रहा है। यह तो इस आत्मा भगवान के लिए कलंक है। हाँ गृहस्थी में रह रहे हैं तो पर पदार्थों से सम्बन्ध रखना पड़ रहा है पर श्रद्धा अपनी सही बनाये रखें कि इसमें मेरी बरबादी ही है। यह अपने आपके दया की बात कही जा रही है।

स्वभाव सुधार संगम में शाश्वत शान्ति का संगम—यदि यह आत्मा मिथ्यात्व से हटे, भ्रम से दूर हो जाए, अपने आपके स्वभाव को पहचान ले, उसकी लगन लगाये, उसका आचरण करे तो उसके प्रताप से इसका आनन्द सदा के लिए अरहंत सिद्ध बन जाए, सदा के लिए अनन्त आनन्दमग्न हो जाए, सदा के लिए यह आत्मा पवित्र हो जाए। क्या यह बात आपके लिए बुरी लगती है? अरे वह तो आनन्द की बात है। उसके लिए तो सदा बाट जोहना चाहिए। बाट जोहना चाहिए कि कब सिद्ध होऊं और सदा के लिए मैं संकटों से मुक्त हो जाऊं। यहाँ की झूठी मायामय चीजों की बाट जोहने से काम न चलेगा। यहाँ के धन वैभव की भी धुन बनाये रखें और चाहें कि मैं भगवान जैसा बन जाऊं तो ये दोनों बातें एक साथ न बन पाएंगी। अरे किन के लिए इस धन वैभव की होड़ मचाई जा रही है? यह तो एक बेकार सी बात है। सबका अपना-अपना भाग्य है। गृहस्थी में रहकर तो अपना एक कर्त्तव्य समझो, ८–१० घंटे कमाई के कामकाज में रहेंगे, जैसा सबका भाग्य होगा सो कमाई होगी। क्या है जिन्दगी का गुजारना। इसको तो गरीबी में भी गुजार सकते, कष्ट में भी गुजार सकते। यदि अपने परिणामों में समता रखें, शुद्ध ज्ञान प्रकाश रखें तो इस जीवन का भला हो जाएगा। देखिए अनादि काल से अब तक अनन्त भव पाए, बड़ी-बड़ी विभूतियों के स्वामी भी बने पर वह सब साथ रहा क्या? अरे वह सब छोड़ना ही पड़ा। और इस भव में भी जो कुछ समागम प्राप्त है वे क्या सदा पास रहेंगे? वे भी छूटेंगे। तो इससे रही सही जिन्दगी में इन पर पदार्थों से क्यों लगाव रखना। लगाव रखें आत्मकल्याण का। सम्यक्त्व उत्पन्न करें।

सम्यक्त्वोत्पत्ति में वस्तुस्वातंत्र्य व निमित्तनैमित्तिक भाव के यथार्थ परिचय की उपयोगिता—सम्यक्त्व उत्पन्न करने का सही उपाय यह है कि वस्तु का सही स्वरूप समझें। सही स्वरूप समझने में दो दिशाएं हैं (१) वस्तु स्वातंत्र्य (२) निमित्त नैमित्तिकभाव उसमें जो वस्तु स्वातंत्र्य की ऐसी हठ करते हैं कि जब जो पर्याय होनी है सो होती है, निमित्त कुछ नहीं है क्रम से बंधी है सो निकलती जाती है उस समय जो सामने हो उस पर निमित्त का आरोप करते हैं, यह उनका अज्ञान है, क्योंकि इस दृष्टि में यह बात आयी कि आत्मा में जो भी बात हुई वह सब हमारे स्वभाव से हुई, कोई विरुद्ध बात है ही नहीं। राग किया तो वह भी स्वभाव से हुआ उसे छोड़ने की [illegible]? तो यह स्वातंत्र्य का ऐसा एकान्त जो सीमा का उल्लंघन करे वह भी ठीक [illegible] कि कर्म ने ही किया विकार राग, तो यह एकान्त भी ठीक नहीं। इस एकान्त का अर्थ यह हुआ कि जब ये कर्म दया करेंगे तब राग मिटेगा अन्यथा नहीं, सो उसके इस एकान्त में भी सही मार्ग न मिलेगा। तथ्य सच समझिए जगत के सर्व पदार्थ स्वतन्त्र हैं, सब अपनी-अपनी सत्ता स्वयं रखते हैं। स्वयं सिद्ध हैं। स्वतः परिणमनशील हैं, अपने आप परिणमते रहते हैं। स्वतंत्रता तो यों है मगर देखिए–इस जीव में अनादिकाल से यह बात चली आ रही है कि अशुद्ध बना हुआ है तो क्या इसकी

अशुद्धता स्वभाव से है? यदि स्वभाव से यह जीव अशुद्ध है तो यह फिर कभी मुक्त हो ही नहीं सकता। यह इस तरह अशुद्ध होता चला आया कि कर्म उपाधि का निमित्त पाकर यह जीव उसके अनुरूप होता चला आया है। उसका परिणमन उसकी ही कारण शक्ति से है। कहीं निमित्त की कारण शक्ति से नहीं है निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव, अभाव कुछ भी उपादान में नहीं गया, लेकिन उपादान ऐसा बिगड़ गया तो क्या स्वभाव से बिगड़ कर बिगड़ गया? ऐसा हो तो फिर उसके छूटने का कोई उपाय नहीं रहेगा। बिगड़ा वह उसी तरह से है कि पर वस्तु का निमित्त सन्निधान पाया और यह आत्मा स्वयं अपनी परिणति से उस प्रकार हुआ है। दृष्टान्त देखिए-दर्पण में हाथ की छाया पड़ी तो बताइये क्या वह आया उस दर्पण की है या हाथ की? हाथ में हाथ है, दर्पण में दर्पण है। हाथ का कुछ भी द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव दर्पण में नहीं गया और न दर्पण का हाथ में। हाथ में निमित्तता मात्र थी, दर्पण में योग्यता थी अतः हाथ सामने आने पर दर्पण स्वयं अपनी परिणति से उस रूप परिणम गया। इसमें विवाद की क्या बात है? जैन सिद्धान्त में इसकी बहुत स्पष्ट विवेचना है। एक पक्ष का चिन्तन चित्त में न रहे तो विवाद के लिए एक भी स्थल नहीं बैठता। आचार्य देव की ऐसी परम करुणा है इस जीव को ऐसा सत्यमार्ग बताया गया है।

स्वभाव दर्शन के लिए निश्चयनय व व्यवहारनय के सदुपयोग की कला का दिग्दर्शन—अब देखिए—मोक्ष के लिए, अपना मार्ग अपनाने के लिए कर्त्तव्य क्या है? स्वभाव दर्शन। अपने स्वभाव की दृष्टि बनाएं, इसमें दूसरी राय नहीं है। यदि शान्ति पाना है, मोक्षमार्ग पाना है तो एक ही उपाय है कि अपने सहज स्वभाव की दृष्टि करें और उस ही रूप उसको मानें। यह ही तो काम करना है, इसमें विवाद की कोई बात नहीं, लेकिन स्वभाव दृष्टि हमारी कैसे बने, इसके लिए जो उपाय सोचा जा सकता है उसमें भूल भी हो सकती, कोई सही भी कह सकता, मगर वास्तव में यह धुन बने कि मेरे को स्वभाव दर्शन चाहिए। अन्य बातों की हमें जरूरत नहीं। अगर वास्तव में आत्महित की श्रद्धा हुई है तो भी यह श्रद्धा निर्विवाद सब काम कर देगी। निश्चय दृष्टि से देखो सभी पदार्थ ध्रौव्य रूप रहा करते हैं। ऐसा सोचने का प्रभाव क्या पड़ा कि किसी भी पर वस्तु पर दृष्टि न होगी, किसी भी पर वस्तु का ख्याल न आएगा तो निराश्रय अध्यवसान नहीं हो सकता। तब इसने पर वस्तु का आश्रय छोड़ दिया। अध्यवसान की व्यक्ति कैसी हो। निश्चयनय का आलम्बन करके जब इसने परका आश्रय छोड़ दिया तब फिर निराश्रय तो रागभाव न रहेगा। वहाँ अपने को मार्ग मिल जाएगा। स्वभाव दर्शन हो जाएगा। अब जरा व्यवहार दृष्टि से देखो, कैसे स्वभाव दर्शन मिलता है? व्यवहारनय यह बताता है कि जीव में जो विकार परिणति होती है वह कर्म विद्या का निमित्त सन्निधान पाकर होती है। अहो आत्मा में ये विकार स्वभाव से नहीं हुए है, कर्म उदय का निमित्त पाकर हुए हैं नैमित्तिक भाव है, अथवा कर्मविपाक में स्वयं यह ऊधम पड़ा हुआ है। वह ऊधम इसमें झलकता है, झलका वह करता है, मोही इसे अपना

लेता है। यह न अपनायेगा तो ऐसा विशुद्ध परिणाम होगा कि कर्म का ऊधम भी मिट जाएगा। और स्वभाव दर्शन हो जाएगा। ये समस्त विभाव नैमित्तिक भाव है, परभाव है, मेरा स्वरूप नहीं, मेरा स्वभाव नहीं, ऐसी गंभीर दृष्टि में स्वभाव दर्शन भी हमें मिलेगा। बात सीधी है कि विकार को निमित्त नैमित्तिक भावपूर्वक मानने पर कल्याण की दृष्टि जगेगी और कर्ता कर्म भाव न मानने में ही हमको स्वभाव की दृष्टि और कल्याण का मार्ग मिलेगा। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कुछ नहीं करता। यह निर्णय अपेक्षित है, लेकिन यह भी एक तथ्य है कि जब जो विकार होगा वह पर द्रव्य का निमित्त पाकर ही होगा। निमित्त बिना विकार नहीं होता और निमित्त पर में कुछ करता नहीं। इन दोनों के निश्चय से अपने को कल्याण का मार्ग मिलता है। तो ऐसी दृष्टि बनाकर अपने आपमें एक स्वभाव दृष्टि करें और अपने कल्याण मार्ग में लगें।

बाह्यसमागम में हितलाभ की अशक्यता—भैया देह देवालय में अन्तः विराजमान आत्मदेव को अपना निर्णय बता दें कि धन वैभव परमाणु मात्र भी ऐसा कुछ नहीं है। अपने हृदय में पवित्रता लायें। पर वस्तु का मोह रखने से आत्मा में अपवित्रता जगती है और उससे पाप का बंध होता है। श्रद्धा सही बना लें। देखो बाहर में जो होना है सो होता है। जैसा आपके घर के लोगों का उदय है वैसा सब काम चल रहा है। हाँ ऐसा होता है कि जैसा उन लोगों का उदय है वैसा होने में आपकी बुद्धि भी निमित्त बनती है, वैसी बुद्धि चलती है लेकिन आपका उसमें कोई सम्बंध नहीं, कुछ बात नहीं, आप निराले हैं, यह धन वैभव जड़ आप से निराला है। वह अजीव है आप जीव है। इससे आपका क्या सम्बन्ध? जरा अपने आप पर दया करने के लिए सोंचें कि जिन पर मोह कर रहा हूँ वे कोई आपके साथी नहीं हो सकते। न पुत्र न स्त्री, न पिता, न धन वैभव में कोई आपके शरण, साथ हो सकते। आपके साथी, आपको शरण सब आप ही हैं। कोई दो मित्र थे तो वे दोनों रोज मिलकर स्वाध्याय किया करते थे। तो उनमें एक दिन ऐसा ठहराव हो गया कि हम दोनों में से कोई अगर गुजर जाए और गुजर करके देव बने, तो वह आकर दूसरे को समझाए। उनमें से एक मर गया और देव बना। उसने अवधिज्ञान से परखा और उसी मन्दिर में आया जिसमें कि उसका पूर्वभव का मित्र स्वाध्याय कर रहा था। उसे समझाने के लिए आया क्योंकि वादा निभाना था। उसे देव ने कुछ विरक्ति की बातें कही देखो जिन परिजनों में तुम मोह करते हो वे तुम्हारे कुछ नहीं, तो वह मित्र यही कहे कि अरे मेरे पुत्र बड़े अच्छे, मेरी स्त्री बड़ी आज्ञाकारिणी मेरे परिजन बड़े अच्छे। तो उस देव ने समझाया कि देखो तुम भूल में हो, वे तुम्हारे कुछ नहीं हैं, यों देव ने बहुत-बहुत समझाया पर उसकी समझ में न आया। देव ने फिर कहा—अच्छा तुम एक काम करना, कलके दिन दोपहर को तुम पेट दर्द का बहाना कर लेट जाना, हम वहाँ आएंगे तब तुम्हें समझाएंगे। अच्छी बात! दूसरे दिन वह पुरुष पेट दर्द का बहाना करके लेट गया। घर वाले बड़े हैरान हुए। इसी बीच वह देव वैद्य का रूप रख

कर सड़क पर फिरने लगा। लो दवा खरीदो दवा हमारे पास हर प्रकार की पेटेन्ट दवाएं हैं। जब घर वालों ने सुना तो बुलाया। कहा आप हमारे अमुक की दवा कर दीजिए। जब उस वैद्य ने उस पुरुष की नाड़ी पकड़ी तो कहा अरे इसको तो बड़ी जबरदस्त बीमारी है। इसका बचना मुश्किल है, लेकिन हम इसका इलाज करते हैं। .... अच्छा भाई एक गिलास पानी ला दो, आ गया पानी। अब उसमें कोई झूठ मूठ की दवा या भस्म डाल दी और कोई झूठ मूठ का मंत्र सा पढ़कर उन घर वालों से जैसे, उस पुरुष के माता, पिता, स्त्री, पुत्रादि से, कहा लो तुममें से कोई इस दवा को पी लो, अभी तुम्हारा आदमी अच्छा हुआ जाता है। .... अरे ऐसी क्या बात कह रहे हो? बीमार तो वह है, दवा हमें पीने को क्यों कह रहे? .... अरे यह दवा मंत्रसिद्ध है इसमें विशेषता यह है कि इसे जो पीता है वह तो मर जाता है और जो बीमार होता है वह अच्छा हो जाता है। .... अब उस पुरुष की माँ सोचती है कि अभी तो मेरे पास ३-४ लड़के हैं, यदि मैं ही मर गई तो फिर पुत्रों का सुख कहाँ से देख सकूंगी, यह सोचकर उसकी माँ ने यह दवा पीने से इन्कार कर दिया। ऐसा ही कह कर उसके पिताजी ने भी इन्कार कर दिया, जब उसकी स्त्री से दवा पीने को कहा तो मैं अपने पुत्रों को न देख सकूंगी, इसलिए उसने भी मनाकर दिया। ऐसा ही लड़कों ने भी मना कर दिया। बाद में वह वैद्य बोला—तो क्या मैं पी लूं? .... हाँ हाँ आप ही पी लीजिए। आप तो बड़े दयालु मालूम होते हैं .... अच्छा तो तुम लोग यहाँ से जावो, हम पी लेंगे। सब लोग वहाँ से चले गए। अब वह देव पुरुष के कान में कहता है समझ गए न? जिसको तुम बड़ा आज्ञाकारी कह रहे थे वे तुम्हारे लिए कुछ न हुए ना। उस पुरुष की समझ में झट आ गया।

आत्महित के लिए आत्मबोध व आत्माश्रय करने के दृढ़ नियम की आवश्यकता—भैया अपना दृढ़ निश्चय करो—मुझे तो पवित्र बनना है। उसके द्वारा ज्ञान प्रकाश पाना है, अपने आपका मन शुद्ध करना है केवल जीवन में उसका एक ही लक्ष्य है, बाकी सभी लक्ष्य छोड़ दें, ऐसा भाव बने तो इस जीव को कुछ लाभ भी मिलेगा और अगर नहीं करते तो फिर जो करते सो करो। होगा यही कि इस संसार में जैसे अभी तक चलते आए, कीड़े-मकोड़े बनते आए वैसे ही बनना पड़ेगा। उससे इस जीव को लाभ क्या है? लो सम्यक्त्व पाने के लिए उपाय है तत्त्वाभ्यास। ज्ञान की बात सीखें, जो पदार्थ जैसा है उसे वैसा समझलें। यह बात कहीं १०-५० वर्ष सुनने मात्र से बोध हो जाए? ऐसा करने में सारा जीवन लगाना पड़ेगा। तत्त्वज्ञान करते हुए समय व्यर्थ की गप्पों में निकला जाता है। अपने दुर्लभ क्षणों का सदुपयोग करो। अच्छा, लो जरा हम आपसे कहते हैं कि आप २४ घंटे धन कमाओ। खूब कमाओ। मगर कोई २४ घंटे धन कमाता है क्या? और २४ घंटे किसी से कमाई बनती है क्या? कोई २४ घंटे का समय धन कमाने में लगा सकता है क्या? कितना समय लगाते? मुश्किल से ९-१० घंटे। अब बताइए आप के पास जो १४

घंटे का बाकी समय है उसमें आप क्या करते हैं? उसे फालतू ही तो गंवाते है। अरे मित्रों में, दोस्तों में कभी भी ऐसी बात तो कर लिया करो कि यार बताओ तो सही कि मेरे आत्मा का उद्धार कैसे हो? इस ओर तो चलना चाहिए। धर्म के मार्ग में खुद भी लगो और दूसरों को भी लगाएं। अगर ऐसी बात मित्रों में होती है तो वह सच्ची मित्रता है, और यदि ऐसा नहीं हो सकता है तो धोखा है, उसे दुःख में डालता है और खुद भी दुःख में पड़ता है, ऐसी गोष्ठी बने कि दूसरों का भी उपकार और खुद का भी उपकार हो। तो एक निर्णय कर लीजिए कि मेरा परमाणु मात्र से भी प्रयोजन नहीं, परिस्थितिवश करना पड़ता है। सो जिस कर्म के उदय से हम मनुष्य हुए हैं उसमें इतनी बात तो होती ही रहेगी कि बिना किसी विशेष चिन्ता के इतना तो मिल ही जाएगा कि गुजारा ही चलता रहे। मान लो अधिक धन जोड़-जोड़ कर रख लिया और उसको किसी ने छीन लिया, अगर सरकार ही कोई कानून बनाकर आपसे छुड़ाये तो उससे आपको फायदा क्या रहा? और छुटेगा तो है ही। अभी न छूटा तो मरने पर एकदम सारा का सारा धन छूट जाएगा। इससे धनार्जन करने का अपना मुख्य लक्ष्य न बनाएं। अपना लक्ष्य बनाएं आत्म-कल्याण का। यही सारभूत बात है।

प्रत्येक आत्मा में धर्म की एक रूपता और उसके प्रारम्भिक विकास का साधन निसर्ग व अधिगम—सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से होता है अर्थात् किन्हीं जीवों को सम्यग्दर्शन दूसरे के उपदेश सुनकर होता है। तो जो अपने आप होता याने उपदेश सुने बिना अन्य किसी कारण घटना को देखकर होता है उसे कहते हैं निसर्गज सम्यग्दर्शन और जो दूसरे का उपदेश सुनकर सम्यग्दर्शन लाभ होता है उसे कहते हैं अधिगमज, सम्यक्त्व क्या वस्तु है? आत्मा का परिणाम। जगत में जितने जीव हैं वे सब सुख शान्ति चाहते हैं और दुःख से दूर होना चाहते हैं। उस ही का उपाय है सम्यग्दर्शन। यही आत्मा का धर्म है। जो भी जीव है उसका यह स्वभाव है। धर्म है। प्रत्येक जीव अपने आपके धर्म को सम्भाले तो वह पवित्र हो जाएगा। इस लोक में मुद्रामुद्रित जो धर्म फैले हैं, जो मजहब चल रहे हैं वे धर्म नहीं कहलाते हैं। वह तो एक परिस्थिति है। मार्ग में लगने वालों का एक समूह है, धर्म तो आत्मा में है और वह है आत्मा के स्वरूप का सही श्रद्धान होना ज्ञान होना और आचरण होना। मुक्ति इस ही उपाय से मिलती है।

श्रद्धान ज्ञान आचरण बिना लौकिक कार्य की भी सिद्धि की अशक्यता—जगत में जितने भी कार्य होते हैं वे सभी कार्य विश्वास, ज्ञान, आचरणपूर्वक होते हैं। कोई रोगी निरोग होना चाहे तो वहाँ पर भी औषधि का विश्वास, ज्ञान, और आचरण चाहिए। कोई कहे कि औषधि का विश्वास न करें और खालें तो ऐसा कहाँ होता? वह तब खायेगा जब उसके प्रति विश्वास होगा विश्वास बिना खाए तो वह औषधि असर भी नहीं करती। प्रथम तो यह बात है, जब उसे विश्वास नहीं है तो खायेगा कैसे? चाहे एक थोड़ा विश्वास करे

करना ही तो पड़ता है और ज्ञान न हो—कैसे खाया जाता है, इसमें क्या चीज है, तो उससे उसका आचरण नहीं बनता और आचरण करे तो निरोग हो जाएगा। जैसे कोई रसोई बनाता है तो क्या वह विश्वास, ज्ञान, आचरण बिना बना सकता। अरे उसे विश्वास है कि कल तो रोटी बनायी थी। आज भी उसी तरह से बन जाएगी। क्या कोई यह सोचता है कि कल तो आटे से रोटी बन गई थी, आज पता नहीं बनेगी भी या नही? अरे उसे पूरा विश्वास है कि आटे से रोटी बना करती है और ज्ञान भी है कि इस तरह से रोटी बन जाती है। आटे को पहले भिगोया और फिर उसे गूंथ कर ऐसा लसादार बना लिया कि उसे उठावें तो वह थाली भी साथ उठ जाए। उसकी पहचान है कि रोटी अच्छी बनेगी। परोथन होना चाहिए आटे से पतला, फिर रोटी बनायी, तवे पर डाली, पहली बार जल्दी रोटी को बदल दिया, फिर उसे देर तक तवे पर रोके रहे, फिर रोटी को तेज अंगारे में डाल दिया, अगर कोई उस रोटी में छेद हो जाए तो उसे चिमटे से बन्द करदें। यों सब ज्ञान है, ना तो वह रोटी बनाता है, उस क्रिया का आचरण करता है, उस तरह की क्रिया करने से बन गई रोटी। बात यह बतला रहे हैं कि विश्वास, ज्ञान, आचरण बिना कोई काम नहीं बनता। चाहे वह व्यापार आदि के कार्य करे, चाहे कुछ भी करे, विश्वास, ज्ञान, आचरण तो होना ही चाहिए।

स्वयं के श्रद्धान ज्ञान आचरण स्वभाव से लाभ लेने का विवेक—जीव में यह स्वभाव पड़ा है कि वह विश्वास ज्ञान, आचरण बिना रहता ही नहीं है। यह विभाग की बात है कि कोई अच्छे काम में विश्वास, ज्ञान, आचरण करता है तो कोई खोटे कामों में मगर इनके बिना कोई नहीं रहता है। तो जिसे मुक्ति चाहिए तो मुक्ति भी एक कार्य है, कर्मों से छूटना भी एक कार्य है, उसके लिए विश्वास, ज्ञान, आचरण क्या? क्या काम चाहिए हमें? छूट जाना। किससे? कर्मों से, शरीर से छूट जाना। तो देखो जिसको छोड़ना है पहले उसका विश्वास हो कि हाँ इसका छूटना स्वभाव है तब ही छूट सकता है तो अपने आप का वास्तव में विश्वास होना चाहिए और जिससे छूटना है उसका विश्वास हो कैसे छूटना, उस उपाय का विश्वास हो, ज्ञान हो और फिर वैसी ही क्रिया करे यानी ज्ञान की भीतर में ही वैसी ही वृत्ति बने तो उसे मुक्ति प्राप्त हो जाएगी। तो उस ही सम्यक्त्व की बात कही जा रही है कि वह क्या है। देखिए—अभी तक बहुत-बहुत बातों में आनन्द लिया। स्पर्शन, रसना, सुगन्ध लेना, रूप, देखना, राग के शब्द सुनना, मान प्रतिष्ठा नामवरी की इच्छा रखना और उस कार्य में लगना आदि, अब तक बहुत-बहुत काम कर डाले मगर किसी काम में भी शान्ति न मिली तो फिर यह निर्णय तो बनाएं कि जारो-जिगार हमने अब तक किया, विषय से मन का व्यापार जो अभी तक करते आए, इसमें अभी तक टोटा ही टोटा पड़ा तो अब यह काम बदल दो, यहाँ तो आप रोजिगार में अगर ४–६ वर्ष टोटा ही टोटा पड़ता रहा, नफा कुछ नहीं होता तो आप उस काम को बन्द कर देते हैं, कोई दूसरा काम करने लगते हैं, किन्तु अनादिकाल

से जो अब तक स्पर्शन, रसना, घ्राण चक्षु, कर्ण और मन इसके विषय लगे हैं, इसमें बराबर तुमको नुकशान ही नुकशान रहा, बरबादी ही रही, चारों गतियों में परिभ्रमण करते रहे, इसमें तो सारा नुकशान ही नुकशान है। तो इसे बदलना क्यों नहीं चाहते। तो क्या बदल करना चाहिए? आत्मदर्शन, आत्मज्ञान और आत्मआचरण, ये उपाय करें।

यथार्थ ज्ञान में ही कष्टविध्वंसन की क्षमता—देखो अपना अनर्थ करने में कितने विकल्प उठा करते हैं? जैसे मरते समय मोहियों को दुःख होता कि मैंने जीवन भर कमाई की, मकान खड़ा किया, दुकान बनायी, इतने ठीक बच्चे तैयार किए और इन सबको छोड़कर जाना पड़ रहा है, इसका ही तो दुःख होता है, और विशेष दुःख क्या होता है। मरना तो सभी को पड़ता है। मरने में कष्ट क्या? अरे एक कमरे से उठकर दूसरे कमरे में हम बैठते तो उसमें दुःख तो नहीं मानते, इसी तरह एक इस शरीर कमरे से निकलकर किसी नये कमरे में, शरीर में पहुँचे तो वहाँ दुःख की क्या बात है? दुःख तो इस बात का होता कि मैंने बड़ी कठिनाई से इतनी कमाई की, पर यह सब छूटा जा रहा है, इसका कष्ट मानता है यह। और, जिसे ज्ञान हो जाए कि मैंने इसे कमाया ही नहीं, यह तो यों ही जुड़ गया, उदय था, जिनको भोगना है उनके उदय से यों ही जुड़ गया। क्या किया मैंने? इसे मैंने नहीं कमाया, मैंने इसका कुछ नहीं किया, ये पर द्रव्य हैं, इनकी मैं परिणति नहीं कर सकता। अगर ऐसा जान कर मर जाता तो मरते समय इसको कष्ट न होता। तो जितने भी कष्ट हैं जीवको वे सब भ्रम के कारण हैं। विपरीत बुद्धि है उसका कष्ट है। इसलिए क्या करें कि भ्रम दूर करें। समस्त पर द्रव्यों से निराला, शरीर से निराला, कर्मों से निराला, विषय कषाय भाव विकल्प विचार से निराला, शुद्ध सहज एक ज्ञान स्वभावी मैं आत्मा हूँ। यहाँ तक कोई दृष्टि लिए जाए तो उसे मोह कहाँ सताएगा? सब भिन्न हैं, सब पर हैं। यों ही अचानक मिल गए। जैसे रास्ता चलते-चलते किसी चौहट्टे पर वहाँ सामने से आते हुई कोई आदमी मिल जाए तो वहाँ आप कितनी देर तक उनसे मिलते? बस जरासा नमस्ते या रामराम या जय जिनेश किया, बस आगे चल दिया। तो जैसे वह थोड़ी देर का मिलाप है ऐसे ही यह थोड़े समय का मिलाप है। कोई किसी गति से आया कोई किसी गति से रास्ते में मिल गए तो थोड़ी देर का मिलाप हैं। उस ही समय को रागद्वेष, मोह, कषाय कर लिया।

यथार्थ परिचय होने पर रागद्वेष मोह का अनवकाश—अरे भाई किस पर कषाय करते, किसपर द्वेष करते, किसपर विरोध करते? जिसे देखकर आप विरोध करते उसे आप जीव मानते, वह तो मायारूप है, परमार्थ वस्तु नहीं है। जिसपर विरोध करते वह जीव तो कई बार तुम्हारा कुटुम्बी हो गया बन्धु हो गया। किस पर मोह करते। तुमसे सभी जीव भिन्न हैं एक कथानक है कि एक कसायी एक बकरा मारने के लिए कहीं लिए जा रहा था। वह किसी शहर से निकला। रास्ते में एक सेठ की दुकान थी। वहाँ वह सेठ खड़ा हुआ था।

सो वह बकरा जब उस दुकान के पास पहुँचा तो झट दुकान पर चढ़ गया और उस सेठ के चारों ओर चक्कर मारने लगा। सेठ के शरीर में बहुत-बहुत चिपटने लगा। सेठ ने कसायी से बहुत-बहुत कहा कि भाई यह बकरा यहाँ से हटता नहीं इसे मुझे दे दो। तो कसायी बोला—यदि आप दो हजार रुपये मुझे दें तो मैं यह अपना बकरा आपको दे दूँ। वह सेठ क्यों दे दो हजार रुपये? उसने सोचा कि बकरे तो ४०—५० रुपयों में बिकते हैं। आखिर सेठ ने बकरे को ढकेल दिया तब वह कसायी बकरे का कान पकड़ कर हत्यागृह में उस बकरे को ले गया और फिर जो करना था सो कर दिया अब वह सेठ एक मुनिराज के पास पहुँचा। मुनिराज से सेठ ने पूछा कि महाराज आज एक ऐसी घटना घटी कि एक बकरा मेरी दुकान पर चढ़ आया और वह मेरे पास आकर मेरे शरीर से चिपट रहा था और मेरे चारों ओर चक्कर लगा रहा था। मैंने बहुत भगाया, भागा नहीं, बड़ी मुश्किल से मैंने उसे खदेड़ा। यह क्या मामला है! तो मुनिराज बोले-बेटा वह तेरे बाप का जीव था। तेरा बाप गुजर गया तो वह मरकर बकरा हुआ था। कसायी उसे मारने के लिए ले जा रहा था सो वह बकरा अपने प्राण बचाने की आशा से तेरे पास आया मुनिराज की बात सुनकर सेठ जल्दी ही वापिस आया, कसायी के हत्यागृह में पहुँचा तो वहाँ तब तक वह मर ही चुका था। तो बात यह है कि वे ही जीव जो तुम्हारे घर में आज हैं वे मरकर दूसरा भव धारण कर लें तो उनमें फिर आपको ममता जगती है क्या? आपके घर का कोई जीव मरकर मान लो गाय की बछड़ी बन गयी तो उससे आप प्रेम करेंगे? अरे उसे तो आप डंडे ही लगाएंगे। वह जब दूध देने वाली बन जाएगी, दूध देने लगेगी तब तो आप उसे कुछ हरी भरी घास तथा दाना खिलाएंगे, नहीं तो वही रुखा सूखा भुस ही देंगे। तो कोई किसी से क्या प्रेम करता, क्या राग करता? जगत में जितने भी समागम हैं वे सब बेकार हैं। व्यर्थ पर द्रव्यों में मोह किया जा रहा और अपने आपको दुःखी किया जा रहा। व्यर्थ ही कर्म बन्धन किया जा रहा अगली गति बिगाड़ी जा रही। किसी का कोई दूसरा शरण नहीं। सब अपने आपके जिम्मेदार हैं दूसरा जिम्मेदार नहीं। यह ख्याल रखना कि मेरे को क्या परवाह है, मेरा तो अभी बाप जिन्दा है, मेरा तो सपूत सदा हाजिर रहता है। मेरे को क्या परवाह है। मेरी स्त्री आज्ञाकारिणी है, ये सब बातें थोथी हैं, इस जीव के लिए कोई शरण नहीं है। ऐसा जब देखते है तो चित्त में यह बात लाएं कि ये जो बाहरी बातें हैं ये मेरे लिए कुछ नहीं हैं। इस ज्ञानस्वभावी आत्मतत्त्व के लिए ये बाहरी बातें क्या महत्व रखती हैं? भिन्न हैं, बाहरी चीजें हैं। भैया? तृष्णा न करो। बाहरी तृष्णा में क्या फायदा पा लोगे? ये तो अत्यन्त भिन्न चीजें हैं। ज्यादा आ गई तो क्या, न आयी तो क्या? तो अपने आपको पहचानो तो अपने आत्मा को जानने की और आत्मा के शुद्ध ज्ञान प्रकाशमें मग्न होने की तृष्णा करो। अपने आपको समझें, मैं ज्ञानमात्र हूँ। देखो एक यह ही बुद्धि रखें कि बस जो ज्ञान प्राप्त है, मैं वहीं हूँ, दूसरी बात ज्ञान में न लावें। कहते हैं ना कि ऐसे-ऐसे लोग अन्जन चोर या और भी लोग ऐसे हुए जिन्हें विशेष

ज्ञान न था, वे भी तर गए। तो किस बलपर वे तर गए? न था उन्हें अधिक ज्ञान लेकिन मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान प्रकाश हूँ, इतना ज्ञान तो उन्हें हुआ था ही। तभी तो तर गए! भैया! ऐसी भावना लावो कि यह दिखने वाला शरीर भी मैं नहीं, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। जब कोई शरीर में रोग हो जाए, कोई वेदना हो जाए तो यह जैसी कि शरीर में वेदना हुई है दवा कर लिया, कुछ बात नहीं है, मगर उसमें ममता न करें। मेरे दुःख का कारण तो शरीर की ममता ही है बाह्य के मोह में, वाह्य साधन के लगाव में दुःख का होना प्राकृतिक है, क्योंकि वह सब कोरी कल्पना है भ्रम है, अज्ञान है। देखिए जितने भी कष्ट हो रहे हैं उनमें यह शरीर साधन बनता रहता है, तुम कोई भी कष्ट की बात सामने रखो, अन्त में उत्तर यही मिलेगा कि तुम्हारा शरीर है दुःख का कारण। कोई कहे कि वाह अमुक ने मेरा अपमान किया तो इसमें दुःख का कारण शरीर ही रहा! तो सुनो आपको है इस शरीर में ममता, इस शरीर को आपने माना कि यह मैं हूँ, फिर ध्यान में लाएं कि इसने मेरा अपमान किया तो यह आपकी शरीर में आत्मीयता की बुद्धि हुई इस कारण आपने अपना अपमान महसूस किया। अगर आपका यह ध्यान बन जाए कि मैं शरीर ही में तो एक ज्ञान पुञ्ज हूँ तो फिर आप किसके सम्मान अपमान की बात सोचोगे उस ज्ञान पुञ्ज का कोई अपमान कर सकता है क्या? अगर कहीं अपमान का दुःख हुआ तो उसका भी कारण यह ही शरीर बना।

शरीर का शरीरों से रिश्तेदारी का तांता—अच्छा मान लो कोई रिश्तेदार में खटपट हो गई, बात नहीं बनती है तो कहते हैं कि मेरे को बड़ा दुःख है इस रिश्तेदार की वजह से। अरे वह रिश्तेदार किसने बनाया! इस शरीर ने। इस ज्ञान पुंज चैतन्यस्वरूप आत्मा को कष्ट है क्या! रिश्तेदारी है शरीर की शरीर से। इसलिए इस दुःख का कारण यह शरीर हुआ। भैया किसे कहते हैं! जिससे यह शरीर पैदा हुआ उसी से जो अन्य शरीर पैदा हो, उसका नाम है भैया। देखो सब शरीर के नाते से बोले जाएंगे। बहिने किसे कहते हैं! स्त्री किसे कहते हैं! जो इस शरीर को रमाने वाली, ऐसा जो कोई शरीर हो उसे कहते हैं स्त्री पुरुष किसे कहते हैं? इस शरीर को रमाने वाला। जैसा शरीर यह है वह शरीर जिससे पैदा हो उससे जैसा और पुरुष जाति का शरीर पैदा हुआ हो उसका शरीर है साला। स्वसुर किसे कहते हैं! इस शरीर को रमाने वाला जो शरीर है वह शरीर जिस शरीर से पैदा हुआ हो उसका नाम स्वसुर। यों सब नाते रिस्ते शरीर के साथ मिलेंगे। जब कोई बड़ा सा हल्ला होता है तो लोग कहते हैं कि अरे यह कलकल क्यों मचा रहे हो! वह कलकल क्या चीज है! कल मायने शरीर, याने शरीर-शरीर की ही बात हो रही, सारे बचन व्यवहार ये सब इस शरीर के ही कारण तो होते हैं। तो शरीर-शरीर का ही तो सब कुछ होता है। यहाँ यह बात कही जा रही है कि जितने भी कष्ट होते हैं उनमें माध्यम है यह शरीर। भूख प्यास लगी तो इस शरीर की वजह से ठंड गर्मी लगी तो शरीर की वजह से लगी। हाँ कोई अगर टोटा आ गया, घर गिर गया, दुकान फेल हो गई या पैसा डूब गया तो उसका भी कारण यह शरीर

है। शरीर कैसे कि इस शरीर में ममता हैं। इस शरीर को माना कि यह मैं हूँ। कोई नुकशान हो गया तो कहते कि मेरा नुकशान हो गया। वे इस शरीर को ही मैं हूँ ऐसा समझकर कहते हैं वे यह नहीं कहते कि मेरा शरीर है। अगर वे ऐसा बोलें तो कुछ गुंजाइस निकले, इतनी भी बात नहीं चलती है। हाथ उठा-उठा कर कहते हैं, कि पहलवानों की तरह छाती ठोक-ठोक कर कहते हैं इसने मुझे यों कष्ट दिया।

अज्ञानजन्य विपरीत कल्पनाओं में क्लेश का विलास—अरे भोले प्राणी! अज्ञान में तू कितना दुःखी हो रहा है, कषाय करके कितना दुःख पा रहा है। अपने को समझ जाओ कि मैं ज्ञान मात्र हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ मैं स्वतंत्र सत् हूँ मैं स्वयं उत्पाद व्यय धौव्य से सहित हूँ मेरे में मेरा परिणाम होता रहता है। मैं दूसरे का परिणमन नहीं करता। दूसरा कोई मेरा परिणमन नहीं करता। कोई मुझे क्या कहेगा! कोई मेरा क्या बिगाड़ करेगा जो कोई करता है अपना करता है। कोई दो लड़के २०–२० हाथ की दूरी पर खड़े हों, उनमें एक जरा कमजोर है या मान लो कैसा ही हो। एक लड़का दूसरे लड़के को अंगुली मटका कर या जीभ निकाल कर चिढ़ा रहा हो तो वह २० हाथ दूर खड़ा हुआ बच्चा चिढ़ता है, दुःखी होता है। बताओ अज्ञान में वह करे क्या, वह यह सोचकर दुःखी होता कि यह तो मुझे यों यों कर रहा, यह मेरे को यों चिढ़ा रहा। दुःखी हो रहा। अब कोई सज्जन आता हैं तो वह कहता है कि अरे बालक तू क्यों रो रहा है ! तो वह कहता है कि वह मुझे चिढ़ा रहा है! अरे वह कहाँ तुझे चिढ़ा रहा! वह तो अपने हाथ की अंगुली मटका रहा है अपनी जीभ निकाल-निकाल कर अपने को कष्ट दे रहा है, वह तो तेरा कुछ नहीं कर रहा। तो ऐसे ही समझिए कि जितने गाली देने वाले हैं, तिरस्कार करने वाले हैं वे अपना कष्ट कर रहे हैं, तुम्हारा क्या बिगाड़ करते! तुम तो ज्ञान स्वरूप हो। ज्ञानी बनो तो सुखी रहोगे। अज्ञान में कोई सुख न पावोगे। उस अज्ञान को छोड़ना पड़ेगा। कोई कहे वाह इस अज्ञान को तो हमने अनादिकाल से अब तक पाला पोषा है। अब मैं इसे कैसे छोड़ूं। जैसे कोई मोही कहते हैं कि मैंने तो इस परिवार को अब तक ऐसा पाला पोषा है इसे मैं कैसे छोड़ूं! अथवा ये मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र इन्हें मैंने अनादिकाल से पाला पोषा है, इन्हें मैं कैसे छोड़ूं। अरे अनादि काल से ही इन्हें रखते आए तो क्या कल्याण हो गया? अरे इन्हें छोड़ना ही होगा। शान्ति का दूसरा कोई उपाय नहीं। कोई सोचे कि मैं ऐसा धन कमालूँ तो सुखी हो जाऊँगा। कमा लें, पर कभी ऐसा मौका न आएगा कि आप सुखी हो सकें। बल्कि धन अधिक हो जाएगा तो उसे कहाँ रखना, कहाँ छिपाना किसे दो, यों अनेक उलझनें सामने आएंगी। तो भाई जैन सिद्धान्त यह उपदेश देता है कि तुम्हारे थोड़े परिश्रम में जो धन आता हो आने दो, उसी में सन्तुष्ट रहो। उसी में अपनी सारी व्यवस्था बना लो। लोग तो सोचते हैं कि हम कैसे व्यवस्था कर लें? हमारे पास तो धन बहुत कम है। अरे भाई जितनी आमदनी हो बस उतने में ही व्यवस्था बनानी है। उदाहरण के लिए जिनके पास कम धन हैं उनको देख लो, वे भी जिन्दा

रहते कि नहीं? जिसके पास जो है उसी में व्यवस्था बना लें। उसी में कुछ हिस्सा पालन पोषण के लिए रखें कुछ दान के लिए रखें। और उसी में आनन्द से जीवित रहें।

पर को अपने तंत्र बनाने की मूढता में क्लेश का विलास—भैया दुःख तो तब है कि जब अपने मन में ऐसी इच्छा बनायी है कि मेरे को तो ऐसा ही बनना चाहिए। उसके बिना गुजारा नहीं। उसको कहते हैं ऊधम जब कोई बच्चा ऊधम करता तब तो बड़े लोग उसे बहुत डाँटते, पर जब खुद ही ऊधम कर रहे तो फिर उन्हें कौन डांटे? घर वस्तुओं पर जिन पर आपका अधिकार नहीं उन की आप इच्छा किए हुए हो। अगर कोई बच्चा किसी दूसरे बच्चे का खिलौना देखकर रोता है तो आप उसे डांटते हैं—अरे क्यों रोता है, वह तो दूसरे का खिलौना है, मगर आप भी तो इन दूसरों के खिलौनों को देखकर, उनकी तृष्णा करके दुःखी हो रहे हो! जितने भी पर द्रव्य हैं वे दूसरे खिलौने ही तो हैं, वे तुम्हारे कुछ लगते ही नहीं। और नहीं तो इतना तो लोग कह ही देते हैं कि क्या यह तुम्हारे बाप की चीज है? यह पुद्गल, यह धन, यह पैसा, यह तुम्हारे बाप की चीज है क्या? वहाँ क्यों नहीं दृष्टि लगाते। तो जो बात जैसी नहीं है उसे वैसी न जानकर विपरीत करें और विपरीत चेष्टाएं करें तो उसे उधम कहते हैं। सहारनपुर की एक घटना है। एक बजाज का लड़का था तो उसका घर जम्बू प्रसाद की हवेली के सामने था। वह जैनियों के बड़े रईस हुए है। सुनते हैं कि जमींदारी के जमाने में उनके पास ७०० गाँव थे तो बजाज का लड़का एक बार किसी हाथी को देखकर अपने पिता से मचल गया कि पिता जी हमें हाथी खरीद दो। तो हाथी खरीदना तो उनके लिए कठिन था खरीदे भी कोई तो पर उसका इन्तजाम कौन करे? सो उस लड़के के पिताने महावत से कहकर अपने द्वार पर हाथी खड़ा करवा दिया और कहा—लो बेटे तुम्हारे लिए हाथी खरीद दिया। फिर भी वह बालक रोने लगा। पिता ने फिर पूछा—अरे बेटे अब क्यों रोता है? अब तो हाथी खरीद दिया? तो वह लड़का बोला—इस हाथी को मेरी जेब में धर दो। अब भला बतलाओ यह काम कौन करे? तो जैसे वह बच्चे की हठ है जो काम कभी हो नहीं सकता तत्काल सम्भव नहीं और उसकी हठ करे तो ऐसी हठ में रो रहा है तो उसका रोना कैसे मिटे? तो इसी तरह जानें कि ये सब प्राणी अनहोनी हठकर रहे हैं। यह दुकान ऐसी ही बन जाए। अरे वह तुम्हारी चीज है क्या? तुम्हारे आत्मा की चीज है क्या? तुम्हारे आत्मा की परिणति है क्या? यह काम ऐसा ही बन जाए यह काम ऐसा होना चाहिए, ऐसी हठकर रहा यह बच्चा ही तो है। तो इस हठ में कभी भी सुख नहीं पाया जा सकता। हठ छोड़ना पड़ेगा, मिथ्यात्व हटाना पड़ेगा, सम्यक्त्व का संगम करना पड़ेगा यदि यह श्रद्धा नहीं है कि जो कुछ जड़ वैभव हमें मिला है लाख दो लाख का ये सब कुछ महत्त्व नहीं रखते और मेरे आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान, तत्त्वाभ्यास, व रत्नत्रय बने वह ही महत्त्व की चीज है। यदि यह श्रद्धा नहीं है कि जो कुछ जड़ वैभव हमें मिला है लाख दो लाख का ये सब कुछ महत्त्व नहीं रखते और मेरे आत्मा का ज्ञान, श्रद्धान, तत्त्वाभ्यास, व रत्नत्रय

बने वह ही महत्त्व की चीज है। यदि ऐसी श्रद्धा हो तो वह धर्म को पाल रहा है। हम छोड़ने की बात नहीं कह रहे, काम सब करते रहो मगर जो सच्ची बात हो उसमें श्रद्धा बना लो और झूठ हो तो हमें समझाओ सच है ना। जितने भी बाह्य समागम हैं वे सब भिन्न है, मेरे लिए असार हैं, ऐसा श्रद्धान बनाओ और अपने ज्ञान में लगो। तत्त्व-चिन्तन के काम में लगो सम्यक्त्व पालो।

सभी सम्यग्दर्शनों की अधिगमजता ही होने से निसर्गज सम्यक्त्व की असंभवता की शंका—सम्यक्त्वका वर्णन इस सूत्र में चल रहा हैं। वह सम्यक्त्व पैदा कैसे होता है? तो कोई तो निसर्ग से और कोई अधिगम से उत्पन्न होता है। इस विषय में कुछ गत दिवस ऊहापोह किया गया है। पहले उस निसर्ग का अर्थ क्या और अधिगम का अर्थ क्या? इसको अब भले प्रकार समझ लेना चाहिए। कुछ यहाँ कोई शंकाकार-शंका रख सकता है कि हमें तो ऐसा मालूम होता है कि जितने भी सम्यक्त्व हैं वे सब अधिगमज हैं मायने उपदेश से उत्पन्न होने वाले हैं। निसर्गज नहीं है कोई सम्यग्दर्शन अधिगम के बिना उत्पन्न हो ऐसा कोई सम्यग्दर्शन नहीं। देखो जिसे सम्यग्दर्शन होता है तो इतनी बात देखी जाती है कि वह ज्ञान से जाने हुए पदार्थ में ही तो विश्वास करता है, ज्ञानमात्र से अधिगत पदार्थ में उसके सम्यग्दर्शन की प्रवृत्ति होती है। सम्यग्दर्शन वहीं होता है जहाँ सामान्य ज्ञान से कुछ जाना गया, हो। और सामान्यज्ञान से कुछ जाना गया हो तो चूँकि सामान्यज्ञान से कुछ जाना गया तो यह ही तो एक उपदेश हुआ। बाँचकर जाना गया, उपदेश सुनकर जाना गया या कुछ भी घटनाएं सुनकर जाना गया, इसी को उपदेश कहते हैं। देखिए कहते हैं ना कि कोई आदमी बोले भी नहीं और शान्ति से है। साधु संत बहुत शान्ति से विराजे हों तो उन्हें देखकर लोग कहते हैं कि इनकी शकल उपदेश दे रही है, इनकी मुद्रा उपदेश देती है। तो उपदेश मुद्रा से भी होता है स्वाध्याय से भी होता है और शब्द सुनने से भी मिलता है। किसी भी प्रकार उसे आत्मा के बारे में ज्ञान जगे। ज्ञानसामान्य हो तब तो उसमें सम्यग्दर्शन की प्रवृत्ति होती है। इसलिए यह सिद्ध है कि सम्यग्दर्शन सभी अधिगमज होते हैं।

निसर्गज सम्यक्त्व न होने की शंका का समाधान—उक्त शंका के समाधान में सोचें कि अधिगमजका अर्थ क्या है और निसर्गज का अर्थ क्या है। अधिगम का अर्थ है पर के उपदेश की अपेक्षा रखकर जो तत्त्वज्ञान हुआ है उसे कहते हैं अधिगम। उस अधिगम से जो सम्यक्त्व होता है उसे कहते हैं अधिगमज। दूसरे का उपदेश सुनकर जो तत्त्वज्ञान हुआ उस तत्त्वज्ञान से जो सम्यक्त्व हुआ उसे अधिगमज कहते हैं। यह बात सुनकर शंकाकार बोला कि तब तो और बड़ी कठिनाई हो गई। इसमें तो इतरेतराश्रय दोष हो गया। कैसे कि आप कह रहे हो कि परोपदेशापेक्ष, तत्त्वज्ञान से सम्यग्दर्शन होता है। तो यहाँ दो बातें रखीं तत्वज्ञान से सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्दर्शन से तत्त्वज्ञान, उपदेशापेक्ष तत्वज्ञान से सम्यग्दर्शन होता है। अब

यहाँ यह समझिए कि जब सम्यग्दर्शन होवे तब बने तत्वज्ञ और जब तत्वज्ञान होवे तब बने सम्यग्दर्शन, इसे कहते हैं इतरेतराश्रय दोष। जैसे बिना चाबी के कोई ताला लग जाता है, अब चाबी तो धर दी सन्दूक में और ताला लगा दिया तो अब समस्या सामने आ गई ना। चाभी निकले तो ताला खुले ओर ताला खुले तो चाबी निकले। ऐसे ही यहाँ समस्या आएगी कि जब वह तत्त्वज्ञान हो तो सम्यक्त्व हो और जब सम्यक्त्व हो तब तत्त्वज्ञान हो। इसमें तो इतरेतराश्रय दोष हो जाता है। इसका समाधान करने के लिए कोई अगर ऐसा कहे कि यह तो परोपदेश देने वाले ज्ञान की अपेक्षा बात कह रहें कि उपदेश देने वाले को तो ज्ञान है तत्त्वज्ञान का और उससे फिर इसको सम्यक्त्व हुआ, तो यह उसका समाधान कोई सिद्ध नहीं, क्योंकि तत्त्वज्ञान तो इसे होना है इस ही एक की बात करिए। अथवा यह समाधान कि जो उपदेश देने वाला है उसका ज्ञान परके उपदेश से होता है। तो यह भी निश्चय नहीं है कि उपदेश देने वाले का ज्ञान परोपदेश से होता है, संभव है निसर्गज होता है, अपने आप होता हो, स्वयं संचित होता हो उनका ज्ञान तो परोपदेश की अपेक्षा वह नहीं रखता हो अतः यह भी सही उत्तर न माना जाएगा। तब फिर क्या? उत्तर यह है कि जो पहले बताया था कि सम्यक्त्व होने से पहले जो तत्वज्ञान है वह तत्त्वज्ञान अनुभव रहित होने से तो मिथ्या और चूँकि वैसा ही ज्ञान किया जैसा ज्ञान सम्यक्त्व होने पर हो गया उस अपेक्षा से वह सम्यक् है। ऐसे इस तत्त्वज्ञान से परोपदेश से यह अधिगमज सम्यग्दर्शन होता है। तो सम्यग्दर्शन का हम आप उपाय करें, और शास्त्राभ्यास करें, दूसरे के मुख से उपदेश सुनें। सम्यक्त्व का कारण तो यह ही है पुरुषार्थ। इस बात पर मत रहें कि जब जो होना होगा हो जाएगा। ऐसा भी हो सकता जिससे यह नहीं हो सकता उसका ऐसा भाव बने वैसा। पौरुष करें। वह पौरुष है, ज्ञानमय पौरुष। अपने ज्ञान से अपने आत्मा के सहज ज्ञान स्वरूप का बोध बनावें और निर्णय बनावें कि मैं हूँ, यह मैं हूँ।

सम्यग्दर्शन की अधिगमजता के विषय में शंका का निवारण—मोक्षमार्ग का प्रारम्भ सम्यग्दर्शन होने पर होता है। जहाँ जाना है, जहाँ रमना है उसका ही श्रद्धान न हो, उस धाम का ही पता न हो तो रास्ते पर चला ही जाएगा कैसे! नही जाएगा तो मुझे रमना है, आनन्द मग्न होना है आत्मा के सहज धाम में जो कि आनन्दमय हैं, विशुद्ध ज्ञान स्वरूप है। और जिन कारणों से हम अपने मे मग्न नहीं हो पाते थे उन कारणों से छुटकारा पाना है, तो ऐसी बात तब ही तो हो सकेगी जब हमें उस रम्य स्थान का परिचय हो। तो सर्व प्रथम मोक्षार्थी जीव को यह आवश्यक हो गया कि सम्यक्त्व प्राप्त करे। वह सम्यक्त्व प्राप्त करे वह सम्यक्त्व कैसे प्राप्त होता है! तो उसके बाह्य साधन को बताया जा रहा है कि वह निसर्ग और अधिगम से होता है। अधिगम से होता है इस सम्बन्ध में चर्चा चल रही है ईश्वर के उपदेश से होता है, इस चर्चा में अब तक यह कहा गया कि अधिगम सम्यग्दर्शन इस विधि से होना है कि परका उपदेश मिले और उससे तत्त्वार्थ का ज्ञान जगे तब सम्यग्दर्शन

होता है अर्थात् परोपदेशसे तत्त्वार्थ ज्ञान का नाम है अधिगम और उस अधिगम से जो सम्यग्दर्शन हो उसे कहते हैं अधिगमज इस अधिगम के विषय में शंका की गई थी इसका निष्कर्ष यह निकला कि जो प्रतिपाद्य है शिष्य है जिसे सम्यक्त्व लाभ हुआ है उसे परोपदेशापेक्ष तत्त्वार्थ ज्ञान हो तो वह सम्यग्दर्शन का जनक है। अब एक समस्या और रखी जा रही है कि परोपदेशापेक्ष तत्त्वज्ञान से सम्यग्दर्शन होना मानने पर इतरेतराश्रय तो दिया था ना तो उसका निवारण भी हो और उसकी आशंका आ जाए इस तरह एक समस्या रखी जा रही है कि परोपदेश से प्रतिपाद्य शिष्य को तत्त्वार्थ ज्ञान होता है, तत्त्वार्थज्ञान होते ही सम्यग्दर्शन हो जाता है। यों सम्यग्दर्शन और यह परोपदेशापेक्ष तत्वज्ञान दोनों ही साथ होते हैं। उसमें इतरेतराश्रय दोष की गुंजाइस नहीं रहती है। इतरेतराश्रय दोष क्या था कि जब उपदेशापेक्ष तत्त्वज्ञान हो तो सम्यग्दर्शन हो वहाँ भिन्न समय मान लिया जाए भिन्न-भिन्न बात मान लिया जाए तब ही तो इतरेतराश्रय है लेकिन समय इसका एक ही है। जिस समय उपदेशापेक्ष तत्त्वज्ञान होता है उस ही समय सम्यग्दर्शन होता है। इस तरह की एक समस्या रखने वाले शब्द मर्म को नहीं जानते। क्योंकि कारण यह है कि सम्यग्दर्शन का जनक परोपदेश हैं। वह परोपदेश जो कि तत्वार्थ ज्ञान का साधन है वह तत्वार्थ ज्ञान पहले होता है और उसके बाद से सम्यग्दर्शन होता है। तब ही तो वह जनक कहा जाएगा कि परके उपदेश को सुनकर तत्वविषयक ज्ञान हुआ। उस ज्ञान से फिर सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति हुई। अतः यह मानना होगा कि शिष्य को ही तत्वार्थ का ज्ञान जागा। परोपदेशापेक्षा से, और उसे ही सम्यग्दर्शन होने के समय जो ज्ञान होताहै उसका नाम जो सम्यग्ज्ञान है और सम्यग्दर्शन होने के अनन्तर पूर्व जो तत्वज्ञान होता है उसे न सम्यक् कहते न मिथ्या कहते, किन्तु अनुभवरहित ज्ञान है इस कारण मिथ्या कहते और अनुभवसहित ज्ञान हो जाने पर फिर सम्यक्त्व के साथ होने वाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वैसे वह तत्त्वज्ञान मिथ्या नहीं हैं। जैसा सम्यक्त्व के साथ होने वाले ज्ञान को सम्यग्ज्ञान कहते हैं। वैसे वह तत्त्वज्ञान मिथ्या नहीं है। जो सम्यक्त्व होने पर ज्ञान जागेगा वैसा ही ज्ञान अब बन रहा है लेकिन जैसे एक तो सुनी सुनाई बात कहना और एक ऑखों देखी वही बात हो जाना। तो बात वही जाना, पहले भी अब भी, लेकिन पहले जाना सुने सुनाए ढंग से वह अनुभवरहित है। अब यह हो गया स्वसम्वेदन प्रत्यक्ष। तो इस तरह अधिगमज सम्यग्दर्शन परोपदेशापेक्ष तत्वज्ञान से उत्पन्न होता है।

स्वकारणजन्यता होने पर भी विधि की अनपक्षर की अनुपेक्ष्यता—अब यहाँ एक जिज्ञासु अपनी बात रख रहा है कि देखिए—पर के उपदेश से हुआ तत्वार्थक ज्ञान। वह भी अपने कारण से ही हुआ। जैसे कि निसर्गज सम्यग्दर्शन में जो तत्वार्थ-ज्ञान होता है वह अपने कारण से होता है याने ज्ञानावरण का क्षयोपशम हो, बुद्धि विवेक वैसा बने तो ज्ञान जगता ना, निसर्गज सम्यग्दर्शन से पहले, तो इसी तरह अधिगमज सम्यग्दर्शन से पहले भी तो तत्त्व ज्ञान है वह भी अपने कारण से ही उत्पन्न होता है। फिर वहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं

कह सकते तत्वार्थज्ञान अपने कारण से हुआ, सम्यग्दर्शन अपने कारण से हुआ। वहाँ यह दोष नहीं लगता कि तत्वार्थ ज्ञान हो तो सम्यग्दर्शन हो। सम्यक् यह तो है मगर सम्यग्दर्शन हो तो तत्वार्थज्ञान है, ऐसा वहाँ आश्रय नहीं है, क्योंकि ज्ञान का कारण है अपना क्षयोपशम, अपनी ही योग्यता सो कारण निसर्ग में है सो अधिगम में है तब तो इतरेतराश्रय न आएगा। एक बात जिज्ञासुओं ने रखी तो यह सिद्धान्त भी यह ही मानता है कि जो भी ज्ञान जागा जिस ज्ञान के बाद सम्यग्दर्शन होगा वह ज्ञान अपने कारण से जागा। क्या कारण थे उसके। ज्ञानावरण का क्षयोपशम था, उस प्रकार का ज्ञान जागा, ऐसा ही उपयोग बना, सो यह ही बात उपदेश पाने पर भी ज्ञान जगने में होती है, और यह ही बात उपदेश न पाने पर भी ज्ञान जगने में होती है। तो ठीक है मगर वह परोपदेशापेक्ष तत्वज्ञान हुआ, उससे तो हुआ अधिगमज सम्यग्दर्शन। और जो उपदेश बिना नाना कारणों से सम्यक्त्व जागे उसे कहते हैं निसर्गज सम्यग्दर्शन। देखो सम्यग्दर्शन क्या चीज है? सम्यक् मायने सच्चा दर्शन मायने देख लेना। सही स्वरूप देख लेना। सही स्वरूप किसे कहते हैं? जैसे दर्पण के आगे हाथ कर दिया और उसमें हाथ की छाया आ गई तो क्या दर्पण का सही स्वरूप है? नहीं, क्योंकि वह अपने आप होने वाला स्वरूप नहीं है। वह परापेक्ष स्वरूप हो गया अर्थात नैमित्तिक बात हो गई। वह सही स्वरूप नहीं है। इसी प्रकार आत्मा में जो विषय कषाय हैं, विचार विकल्प हैं, ये क्या आत्मा के सही स्वरूप हैं? नहीं, ये भी नैमित्तिक हैं। पुद्गल कर्म का उदय क्षयोपशम आदि का निमित्त पाकर होते हैं।

आत्मस्वरूप का दिग्दर्शन—विभाव परभाव है तब आत्मा का सही स्वरूप क्या है? तो मानो, सोचो कि आत्मा जब सत् है तो अपने आप सत् है। किसी दूसरे की दया पर अस्तित्व किसी का नहीं होता। जिसका अस्तित्व है उसका अपने आप स्वयं सहज हुआ करता है। तो जो अस्तित्व हुआ है आत्मा का वह किसी अन्य वस्तु के कारण नहीं हुआ। है सत्! अपने आप है, अकेला है, तो ऐसा ही वह अकेला सत् कैसा होता है इस बात पर दृष्टि दीजिए। जहाँ शरीर न हो, कर्म न हो, कषाय न जगे, विषय विकल्प न जगे। यह पर व परभाव का सम्बन्ध न रहे तो अपने आप यह जीव किस स्वभाव में है, ऐसा ध्यान में लाइये। और उस स्वभाव रूप से अपने आपका श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। देखो भैया सब लोग अपने आपके बारे में कुछ न कुछ ख्याल निरन्तर बनाये हुए हैं मैं हूँ जो गुजर रहा है भीतर उस पर और अपने आपके बारे में क्या हूँ, इस प्रकार का ख्याल अवश्य बना हुआ रहता है मैं हूँ व्यापारी हूँ, बैंक वाला हूँ, जायदाद वाला हूँ, फर्म वाला हूँ, सर्विस वाला हूँ, अथवा मैं धर्म का प्रबन्ध करने वाला हूँ, विद्वान हूँ, मूर्ख हूँ, कुछ न कुछ यह अपने हूँ के साथ एक बात और लगाये रहता है। हूँ तो सब तो मानते हैं, पर हूँ के साथ एक चीज और लगी रहती है। बस हूँ के साथ जो एक बात और लग रही है वह क्या हूँ, वह इस पर ही सम्यक्त्व और मिथ्यात्व की बात का फैसला है। मैं क्या हूँ? मैं एक सहज स्वच्छ ज्ञानमात्र

हूँ, यह तो सम्यक्त्व की दिशा है और उसे छोड़कर बाकी और कुछ मानना मैं गृहस्थ हूँ, मैं मुनि हूँ, मैं साधु हूँ, मैं इनका गुरु हूँ, नेता हूँ, मैं इनको समझाने वाला हूँ, मैं समझने वाला हूँ, कुछ भी ऐसी बात लगावे कोई तो समझिए यह सब मिथ्यात्व हो गया। तो जहाँ अनादि अनन्त अहेतुक सहज ज्ञान स्वभावरूप में आत्म श्रद्धा है वहाँ सम्यक्त्व है। ऐसी श्रद्धा हुए बिना शान्ति न मिलेगी। मुक्ति का मार्ग न मिलेगा। यह सब खटपट बनी रहा करेगी। वह श्रद्धा लावें। तो ऐसे इस सम्यग्दर्शन की यहाँ चर्चा चल रही है।

स्वकाल में स्वकार्य होने पर भी सहेतुकता की अप्राप्तिसिध्यता—अब यहाँ एक जिज्ञासु अपनी एक बात और रख रहा है कि सम्यग्दर्शन के जो भेद किए गए–निसर्गज और अधिगमज ये दो भेद इष्ट नहीं हैं। मैं तो ऐसा समझता हूँ कि सभी सम्यग्दर्शन नैसर्गिक ही हैं, स्वाभाविक ही हैं, क्योंकि उनकी उनके समय में उत्पति होती है। लोग कहते हैं कि जिस समय जो होना है उस समय वह होता है। तो फिर जिस समय जो होना है उस समय वह होगा ही, उसमें कारण की क्या बात है? नैसर्गिक हो गया। जब अपने काल में स्वयं उत्पत्ति हुई तो वह सम्यक्त्व नैसर्गिक है। जैसे मोक्ष के बारे में भी तो कहते हैं लोग कि जिस समय में मोक्ष होना है उस समय मोक्ष होगा न ज्यादा समय में होगा न कम समय में होगा! जब होना है तब होगा। ऐसी ही सम्यक्त्व की बात है। अपने काल में उत्पन्न हुआ तो वह नैसर्गिक ही रहा। अधिगमज कैसे हुआ! शंका एक रखी गयी है कि जिसके बारे में लोग ऐसे भ्रम वाले अब तक भी हैं पहले भी थे और अब भी है, जब जो होना है सो होगा–उसमें कारण की कोई जरूरत नहीं। देखिये, ऐसी शंका करने वालों ने इसका रहस्य नहीं समझा ऐसी बात बोल ले, कुछ हर्ज नहीं। जिस काल में जो होना है सो होता है, जब मोक्ष होना है तब होता है, जब सम्यक्त्व होना है तब होगा ऐसा बोल लें। बोलने में कुछ हर्ज नहीं मगर मर्म तो समझें। कहीं वह काल की वजह से नहीं हो गया किन्तु ऐसा उस काल में ऐसा साधन जुटना हुआ ऐसा निमित्त हुआ ऐसा पुरुषार्थ हुआ तो उस प्रक्रिया पूर्वक हुआ वह। जिस काल में जो होना है उस काल की बात कहते हैं यहाँ काल विवक्षा करके बात न सोचना नहीं तो सिद्धान्त विरुद्ध बात हो जाएगी। जिस काल में ऐसा हुआ बस उस कालकी बात कह देते। जैसे कहते हैं ना, कलियुग पंचमकाल। यह काल नाम का द्रव्य है जो लोकाकाश के एक-एक प्रदेश में एक-एक ठहरा हुआ है। और उसकाल द्रव्य की प्रति समय में नई-नई परिणति होती है, तो क्या उस समय में भी ऐसी विशेषता आ गयी कि कलियुग में या पंचम काल में लोग ऐसे गिरे भावों के बनेंगे? नहीं। काल की वजह से नहीं, किन्तु एक ऐसा प्रवाह है जिस समय ऐसा संस्थान हीन संहनन हीन काय, हीन चित्त आदि सब साधन मिलने हैं, उस काल में ऐसी बात होती है। तो काल तो एक उदासीन कारण है। काल में काल की वजह से पदार्थों का परिणमन हुआ ऐसी बात नहीं, किन्तु सभी पदार्थ जिस विधि से होना होते हैं उस विधि से होने होते हैं। गुरुजी सुनाते थे एक वेदान्त कथा

की बात कि कोई एक राजा था, उसके कोई लड़का न था तो राजा एक साधु के पास पहुँचा और कहा महाराज मेरे कोई बालक नहीं कृपा करके एक पुत्र का आशीर्वाद दे दीजिए। तो साधु ने कहा-तथास्तु, ऐसा हो जाएगा। तो राजा बड़ा खुश होकर अपने महल आया अपनी रानियों से सारा समाचार कह सुनाया। सभी रानियाँ वह समाचार सुनकर बहुत प्रसन्न हुई। अब राजा ने रानियों से कहा कि अब तो आशीर्वाद मिल ही चुका, संतान तो होगी ही, इसलिए अब अपन लोग ब्रह्मचर्य से रहने लगें। जब काफी दिनों तक कोई संतान न हुई तो उसने किसी से पूछा कि भाई हमें तो साधु से आशीर्वाद मिल चुका है पर अभी तक संतान क्यों नही हो रही! तो वहाँ बताया क्योंकि देखिए जो काम जिस विधि से होना है वह उस विधि से होता है। संतान आदि होने के कारण है उपद्रव, करे। संतान होगी तुम बन गए उपद्रवरहित, वह तो मुक्ति का मार्ग है, कैसे संतान की प्राप्ति हो? तो जो काम जिस विधि से होना है वह उसी विधि से होगा। लोग तो उस काल का बहाना लगाते हैं। लेकिन बात तो कारण कलापपूर्वक होती है। हाँ, यह बात अवश्य है कि वस्तु की स्वतंत्रता है।

अपनी-अपनी परिणति में पदार्थों की स्वतंत्रता—निमित्त अपना असर प्रभाव कुछ भी उस उपादान में नहीं डालता है। निमित्त और उपादान दोनो स्वतंत्र हैं अपनी-अपनी परिणति में, मगर योग उनका हो, वो वैसा परिणमन है। जैसे कोई देहाती आदमी कभी कचहरी नहीं गया, उसे कभी जाना पड़ा तो वह जज को हौवा जैसा समझता है, डर तो पहले से ही बैठा था सोचता था, वहाँ भगवान सा कोई बैठता है अनेक कल्पनायें थी उसके सामने जाने में वह कांपता है। कहो डरके मारे वह मूत्र भी कर दे तो बताओ उस देहाती पुरुष पर जज ने कोई प्रभाव डाला क्या? अरे वह तो जैसा बैठा है सो बैठा है। वह पुरुष स्वयं अपने में कल्पनाएं करके अपने आपमें सोच विचार करके अपने आप में प्रभाव बनाता है। और उस प्रभाव के समय में विषय वह जज हुआ। इसलिए जज का नाम हुआ, आरोप हुआ मात्र, अन्य का देखो तो इतने वकील वगैरह जाते हैं उनके कुछ नहीं होता है। तो यह सब अपनी-अपनी बात है अपनी-अपनी योग्यता की बात हैं। जब जैसी योग्यता है, जैसा ढंग है उस योग्यता से वह अपने में प्रभाव लाता है। सो देखो यहाँ आश्रयभूत निमित्त वह रहा ना। तो इसी तरह से सर्वत्र यह ही बात समझ लो कि निमित्त पाकर विकार होता है पर निमित्त विकार में कुछ डालता नहीं। ऐसा ही सहज योग है कि जिस समय योग्य उपादान अनुकूल निमित्त का सन्निधान पाए तो वह इस प्रकार का विकृत बन जाए। ऐसा ही सहज योग चल रहा है। व्यवस्था है ऐसी, तब ही सारे काम चल रहे हैं। तुम्हें चाहिए मोक्षमार्ग वह मिलता है स्वभाव दृष्टि से। तो स्वभाव दृष्टि की अभिलाषा रखने वाले के निमित्ताधीन दृष्टि न रहना चाहिए। ऐसा उपयोग बनावें कि केवल आत्माराम ही दृष्टि में रहे। यह है उसका पुरुषार्थ मोक्षमार्ग में बढ़ने की चीज किन्तु यह कह बैठे कि विकार हुआ तो अपने स्वभाव से हुआ, बिना कारण के हुआ, अपने कालमें हुआ। तो यह ऐसी सुविधा रखने वाले पुरुषने विकार

को अपने गाँठ की चीज मान ली। तो वह कैसे निवृत्त हो सकेगा? तो यथार्थ तत्वज्ञान में सब दिशा मिलती है। स्वभावदर्शन की सब विधियाँ प्राप्त होती हैं। तो सम्यग्दर्शन जिस काल में होना था हुआ, पर उस काल की वजह से ही हुआ। अज्ञानियों ने समझ लिया, जान लिया इस वजह से नहीं हुआ। वह सब अपने कारण कलाप से हुआ।

उदाहरण पूर्वक भवितव्य के कारणकलाप संभवत्व की सिद्धि—नेमिनाथ स्वामी के समवशरण में जब यह बात प्रकट हुई कि यह द्वारिकापुरी १२ वर्ष में जल जाएगी और इसके जलने का निमित्त बनेगा यह द्वीपायन, सब कुछ बता दिया, तो सबने किसी ने दीक्षा ले ली, कोई विरक्त हो गए, कोई घर द्वार छोड़ कर चले गये। जिसका जैसा उपादान था उसने वैसी चेष्टा की। द्वीपायन ने जब यह जाना कि मेरे कारण यह नगरी जलेगी तो वह मुनि हो गए और उस नगरी को छोड़कर जंगल चले गए। सोचा कि जब मैं निमित्त ही न बनूँगा तो फिर नगरी कैसी जलेगी? देखिए किसी साल में १२ महीना होते हैं तो किसी साल में १३ महीने भी तो हो जाते हैं। १२ वर्ष बीत चुकने पर द्वैपायन ने सोचा कि अब तो १२ वर्ष का समय व्यतीत हो गया, अब मुझे अपने नगरी लौट जाना चाहिए सो द्वैपायन १२ वर्ष बाद उस नगरी में आए। महीनों के घट बढ़ होने से उन्हें समय का सही ख्याल न रहा, इसके कारण हुआ क्या कि जब वह नगरी में आए तो वह १२ वें वर्ष का अन्तिम महीना था। वहाँ रहने वाले लोगों ने किया क्या था कि उस नगरीका ऐसा प्रबंध कर लिया था कि शराब जैसी नशीली बेहोशी ला देने वाली चीजों को नगरी से बाहर फिकवा दिया था, यह सोचकर कि कहीं ऐसा न हो कि नशीली चीजों का सेवन करने से बेहोशी हालत में कोई अग्नि फेंक दे तो जब वहाँ द्वीपायन मुनि पहुँचे तो लोग दर्शनार्थ गए। कुछ लोगों ने फिके शराब के गड्ढे का पानी पिया, इन लोगों को मुनि पर बड़ा क्रोध आया। सोचा कि देखो इसीके कारण नगरी जलना बताया था और यह आ पहुँचा, बेहोश लोगों को उन पर इतना क्रोध उमड़ा कि उनपर ढेला पत्थर आदि बरसाना शुरू कर दिया। उन मुनिराज को तपस्या के कारण तैजसऋद्धि प्रकट हो गई थी। तो तैजस ऋद्धि में होता क्या है कि अगर वह प्रसन्न हो जावें तो उनके दाहिने कन्धे से एक पुतला निकलता है कि उसके आसपास चारों और बहुत दूर-दूर तक दुर्भिक्ष मिट जाता है, सब लोग आनन्द में आ जाते हैं, और अगर नाराज हो गए तो बायें हाथ से ऐसा तैजस निकलता है कि उनके चारों ओर आसपास के लोग भस्म हो जाते हैं। तो वहाँ हुआ क्या कि द्वीपायन मुनि को उस समय ऐसा क्रोध उमड़ा कि उनके बाँयें कन्धे से तैजस निकला उस समय वे सम्यग्दृष्टि नहीं रहे तब उससे सारी द्वारिका नगरी भस्म हो गई। देखो उस काल में यह सब हुआ, पर कहीं उस काल की वजह से ऐसा नहीं हुआ। वह हुआ कारण कलाप से। जिस साधन से जो बात होती है उस साधन से वैसी बात होगी काल की नहीं होती किन्तु कारण कलाप से होती है। ऐसे ही समझिए कि मोक्ष जिस काल में होता है, मोक्ष जिस काल में होना था हुआ, मगर उसका

अर्थ यह नहीं है कि बिना विधि के हो गया। और सम्यग्दर्शन के बारे में तो यह निश्चित ही है कि ज्ञानमात्र से भी अगर कुछ जाना नहीं गया उस सामान्यज्ञान से जिसे न हम मिथ्या कहते न सामान्य कहते उस सामान्य ज्ञान से कुछ समझा नहीं गया आत्मतत्त्व श्रद्धान भी कैसे बनेगा? यहाँ कोई इस तरह बात रख सकता है कि जैसे अन्य लोगों में यह बात प्रसिद्ध है कि भाई शूद्रों को वेद के प्रति भक्ति तो देखी जाती है नम्रता है विनय करता है। तो देखो उसकी भक्ति निसर्गज हो गई कि नही? इसी तरह से कुछ जाना भी नहीं, उपदेश भी नहीं सुना तो भी सम्यग्दर्शन हो जाना चाहिए। तो यहाँ बताया गया था। कि शूद्र से भी जो वेद की भक्ति हुई वह बिना जाने नहीं हुई। सुना तो है दूसरों से अपने कुलवालों से सुनता है तो उससे उसे ज्ञान हुआ। जितना ज्ञान हुआ उसके माफिक भक्ति हुई। किसी विषय का ज्ञान जरा भी न हो, भक्ति हो, श्रद्धान हो, विश्वास हो तो ऐसा कैसे हो सकता है। इसलिए ऐसा कहना कि सारे सम्यग्दर्शन निसर्गज ही तो हैं सो बात ठीक नहीं और निसर्गज में भी अन्य कारण तो है इससे यह समझना कि सम्यक्त्व होता है निसर्ग से भी और अधिगम से भी।

प्रत्येक अपूर्व दशाओं की कारण कलाप संभवता—जो शंकाकार ने यह बात रखी थी कि अपने आप होता है सम्यग्दर्शन तो उनका कहना ठीक यों नहीं कि स्वाभाविकपना साधन दर्शन का नहीं है। कैसे? तत्त्वज्ञान हो, उसके उपाय में लगें अभ्यास में लगें। उसका ध्यान करें, चिन्तन करें, ये सब बातें करते हैं तब ही तो वह ज्ञान हुआ। तब ही तो वह सम्यग्दर्शन होता है। तो सम्यग्दर्शन निसर्गज नहीं है, अपने आप नहीं है कि अपने आप ही वह निकल गया। जैसे कहते हैं ना भैया भाड़ में चने भुनते हैं तो कोई चने ऊपर उछल जाते हैं। अब कोई कहे कि अपने आप वे चने निकल गए तो वे भी अपने आप नहीं निकले। किसी से सिका, किसी से चोट लगी, उसे मौका मिला तो वह उचट गया। तो क्या वह बिना कारण के उचका ! नहीं। बिना कारण के कोई बात नहीं होती। स्वतंत्रता की यह बात समझना है कि वस्तु का परिणमन अपने आप की परिणति से होता है, अन्य की परिणति से नहीं, यह है स्वतंत्रता का सिद्धान्त। मगर जो बात जिस विधि से है वह उससे होती है। तो यह जो कहते हैं कि मोक्ष जिसका जब होना है होता है, उसका उन्होंने अर्थ नहीं समझा अर्थ उसका यह कि भले ही कोई संख्यात काल में मोक्ष जाएगा, कोई असंख्यात काल में जाएगा, कोई अनन्त काल में जाएगा, कोई अनन्तानन्त काल में भी न जाएगा ऐसा काल बताया है मगर उसका अर्थ यह है कि किसी के तो संख्यात काल में ऐसे कारण कलाप जुटेंगे कि उसका तत्त्वज्ञानपूर्वक, पौरुष सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्रपूर्वक मोक्ष हो जाएगा। ऐसा नहीं है कि निरुपाय मोक्ष हो जाएगा। बात यह ही आएगी सबमें, पर उस काल में होने का है इसलिए ऐसा कह दिया। सम्यग्दर्शन के कारण हैं क्या? अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यग्मिथ्यात्व, सम्यक् प्रकृति इन ७ प्रकृतियों का क्षय हो तो सम्यक्त्व हो, उपशम

हो तो सम्यक्त्व हो और साथ में छह का उदयाभावी क्षय और उपशम हो और एक सम्यक्त्व प्रकृति का उदय हो तो क्षायोपशमिक सम्यक्त्व होता है। कारण तो है, स्वकाल में हुआ, ठीक है, यों तो हर एक बात है कि जिस काल में जो होता है, पर इसका अर्थ यह नहीं है कि वह अपने आप ही होता है, अपनी परिणति से होता चला जाता, इसमें कुछ सन्देह नहीं। किसी पर की परिणति से नहीं होता, मगर जो परिणति जिस साधन का निमित्त पाकर होती है वैसी ही होती है। तो युक्ति से भी विचारो। सम्यक्त्व के मायने क्या? विपरीत अभिप्राय का विनाश हो जाना। विपरीत अभिप्राय जब तक जीवों के लगा है तब तक उसका नाम है मिथ्यात्व। विपरीत अभिप्राय क्या लगा? जैसे शरीर को मानना कि यह मैं आत्मा हूँ, अपनी कषाय, इच्छा, विकार को माना कि यह मैं आत्मा हूँ, यह ही है विपरीत अभिप्राय। यह विपरीत अभिप्राय जब न रहे तो उसे कहते हैं सम्यग्दर्शन।

सम्यक्त्व की निषेध वचन गम्यता—भैया एक बात और समझ लो दृष्टान्त में, देखो भाई न तो किसी ने किसी का रोग देखा, न किसी ने किसी की स्वस्थता देखी। किसी ने किसी का रोग देखा है क्या? अरे वह आँखों से नहीं दिखता। हाँ फिर भी वह समझ में आता है। छूने से भी समझ में आ जाता। जैसे बुखार है तो उसे नाड़ी देखकर झट समझ लिया जाता। ऐसे ही क्या निरोगता के किसी ने दर्शन किया? अरे जब रोग न रहा तो एक प्रकार की जो स्वच्छता है उसे कहते हैं स्वास्थ्य। थोड़ी देर को रोग का तो हम वर्णन कर सकते हैं। रोग की हम विशेषता सद्भावात्मक बना सकते हैं। सद्भावात्मक सुधार किसे कहते? जिसमें इतनी गर्मी हो। खाँसी किसे कहते? जिसमें दूसरे को खाए जैसा लगे खाँसी। जब कोई खाँसता है तो ऐसा मुँह हो जाता है कि मानों किसी को खाने को तैयार हो। अब आरोग्य का वर्णन करो। आरोग्य में क्या होता तो आरोग्य का वर्णन नकारात्मक तो कर सकेंगे पर सकारात्मक नहीं, देखो, जहाँ एक भी रोग न हो, खाँसी भी नहीं, बुखार भी नहीं, पित्त, कफ की, विषमता भी नहीं, तो उसे कहते हैं आरोग्य। रोग का वर्णन करने के लिए आपके पास हजारों शब्द मिलेंगे आरोग्य के वर्णन को शब्द नहीं। वह आरोग्य एक ऐसी स्वच्छता है कि जहाँ एक भी रोग नहीं, इसी तरह मिथ्यात्व की बात वर्णन करने वाले शब्द आप अनेक बता सकेंगे। जो देह में ममता करे, विषय कषाय को अपना माने, यों बहुत-बहुत बातें करते जावो। मगर सम्यक्त्व का वर्णन करने के लिए आप के पास क्या शब्द हैं? किसका नाम सम्यक्त्व? जरा बतलाओ तो सही। आप कहेंगे जहाँ आत्मतत्त्व की रुचि जगे वह सम्यक्त्व है। अरे रुचि की बात तो तुमने एक चरित्र की बात कही। हाँ जो जहाँ आत्मतत्व की प्रतीति बने सो सम्यग्दर्शन हैं। तो प्रतीति की बात तो तुमने सम्यग्दर्शन की कह दी। जरा बताओ तो सही, किसका नाम सम्यक्त्व है? अच्छा सुनो जहाँ विपरीत अभिप्राय न रहा, देह जीव को एक नहीं मान रहा, विषय कषायों को अपना आप नहीं मान रहा। विषय कषायों से जो निराला हो गया, इस प्रकार जो गुण है उसका नाम सम्यक्त्व है। कहते हैं कि हाँ अब

आए ठिकाने। सम्यक्त्व का वर्णन विपरीत अभिप्राय दूर करने की बात कहकर बता सकेंगे तब ही तो पुरुषार्थसिद्युपाय में जहाँ लक्षण किया गया है। वह इस तरह किया गया है कि विपरीत अभिप्राय दूर होने का नाम तो सम्यग्दर्शन है। उसको तो व्यय, अभाव विनाश के रूप में बताया गया है। आत्मतत्व का ज्ञान, आत्मतत्व में रमण यह तो प्रसिद्ध बात है, मगर विपरीत अभिप्राय दूर होने का नाम सम्यक्त्व है।

सम्यक्त्व की उत्पत्ति की साधनपूर्वकता—विपरीत अभिप्राय का जो विनाश है क्षय है, यह विपरीत अभिप्राय का क्षय यों ही नहीं हो गया, वह कारणपूर्वक हुआ। प्रकृतियों का क्षय, क्षयोपशम, उपशम, ये निमित्त पा करके वहाँ हुआ है। तो तत्त्वार्थ श्रद्धान जो परोपदेशापेक्ष तत्त्वार्थ ज्ञान से उत्पन्न हुआ वह अधिगमज है और जो परोपदेश के बिना अन्य घटना पाकर हुआ हो वह नैसर्गिक है। चाहे नैसर्गिक सम्यक्त्व हो, चाहे अधिगमज सम्यग्दर्शन हो, दोनों ही इस निमित्त कारण पूर्वक होते हैं ७ प्रकृतियों का उपशम हो, क्षय हो, और क्षयोपशम हो। ऐसे इस सम्यक्त्व के प्रसंग में जो इसका वर्णन सुना उसको सुनकर हम अपने आपके भीतर एक ऐसी भावना रखें कि समय पर बारबार ऐसी दृष्टि आए, ऐसी सुध हो कि मैं तो केवल ज्ञानमात्र हूँ। चैतन्यमात्र हूँ, प्रतिभास स्वरूप हूँ, बस प्रतिभास ही मेरा वैभव है, वही स्वरूप है, उसका ही मैं कर्त्ता हूँ, उसका ही मैं भोक्ता हूँ। अपने आपके प्रदेश में इस प्रक्रिया होने के अलावा बाहर में मैं रंच मात्र भी कुछ नहीं करता हूँ। ऐसी प्रतीति श्रद्धा सहित समय-समय पर करें तो आपका ऐसा अमूल्य मानव जीवन सफल हो जाएगा।

स्वभावद्रष्टा का सर्व जीवों में परमात्मत्वस्वभाव का दर्शन—हम आप संसारी जीवों पर जो विपत्ति छायी है वह भ्रम और कषायों की विपत्ति है। भ्रम से ऐसा मानते हैं कि मेरे को कष्ट देने वाला कोई दूसरा प्राणी है। इस बेचारे को यह सुध नहीं है कि जीव-जीव सब एक समान हैं। मूल जीव द्रव्य में किसी का किसी के साथ रंच भर भी अन्तर नहीं है, जहाँ यह स्थिति है कि मैं वह हूँ जो है भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान, वहाँ वह बात भी नहीं मान सकते कि संसार में जितने प्राणी हैं वे सब जीव चैतन्य भाव से एक समान नहीं हैं। एक का दूसरे से रंच मात्र अन्तर नहीं है। लेकिन यहाँ व्यवहार में जो अन्तर दिख रहा है वह सब अज्ञान का प्रसाद है। अज्ञान के ही कारण यह बड़ा भारी अन्तर देखा जा रहा है। पहले तो अपना ही अन्तर क्योंकि मैं हूँ एक शुद्ध चैतन्यस्वभावमात्र। उसकी सुध न होने से, उसका अज्ञान होने से इसकी दृष्टि बाह्य की ओर ऐसी तृष्णामयी हो गई कि इसको यह रुचता है कि सारा सार तो धनमें है। इस बात के कहने वाले लोग भी तो बहुत हैं। कहते हैं कि आज कल तो धन का युग है। धन है तो सब कुछ है और धन नहीं है तो कुछ नहीं है। तो ऐसा उन्हें कहने दो, तुम्हें संसार में रुलना है या संसार के दुखों से सदा के लिये छूटना है। क्या मंजूर है? अगर संसार में रुलना है तो यह संसारी प्राणी

जैसे चलते हैं वैसे चलो तो वह भी काम बनेगा और संसार में रुलने का भी काम बना रहेगा, और यदि समझ में आया हो कि यहाँ तो पग-पग पर संकट ही संकट हैं यहाँ रमने की जगह नहीं है तब फिर ठिकाने आइए। अपने आप के स्वरूप की सुध कीजिए। बाहर का सारा बैर विरोध हटावो। देखो जिस घर में रहते हैं ना कुछ परिवार के लोग तो जो समाज के बड़े पुरुष हैं वे बच्चों को क्षमा करते, स्त्री को भी क्षमा करते, अपने से बड़े बूढ़ों को भी क्षमा करते तब उनको उदारतापूर्वक रहने के कारण उनकी महिमा बढ़ती है। तो यहाँ हम सब पर क्षमा भाव रखें, सब जीव मेरे ही समान हैं, अन्तर क्या है? भीतर में ऐसी श्रद्धा बनायें और ऐसी निगाह से ही सबको निरखते रहें। बाहरी अन्तर के विचार का स्वरूप में मानने का भ्रम लगा हुआ है, अज्ञान से ऐसा बहक रहा है मेरे को गाली दे रहा। कुछ कर रहा। बेचारा क्या करे? अज्ञान है,भ्रम से भरा हुआ है। दया कर दें। इस तरह से भी क्षमा करें। मतलब यह है कि जिस तरह प्रत्येक प्राणी के अन्दर आप यह न निरखेंगे कि सबका वही स्वरूप है जो मेरे अन्दर है, सबका वही स्वभाव है जो मेरे अन्दर है, इतनी बात अगर सब प्राणिवों के अन्दर नहीं निरख सकते तब तक धर्म में पग नहीं है।

अनेक बाह्य धर्म क्रियाएं होने पर भी स्वाभावाश्रित धर्म की अनुपलब्धि—भैया भले ही कल्पनाएं जगती हैं कि मैं धर्म कर रहा हूँ, पूजा करता हूँ, स्वाध्याय करता हूँ, पढ़ता हूँ, प्रवचन करता हूँ, अथवा अनेक उत्सवों के, समाज के कार्यों में भाग लेता हूँ मैं तो बड़ा धर्म कर रहा हूँ। अरे भाई सोचो जो कर रहा हूँ सो ठीक है, वह भी करना चाहिए। वह भी एक धर्म रुचि मंद कषाय की बात है लेकिन वास्तविक धर्म तब होगा जब यह समझ में आएगा कि अहो मेरे ही स्वरूप के समान सब जीव हैं। यह बात कब समझ में आएगी जब अपना स्वरूप समझ में आएगा मैं स्वयं ज्ञानानन्द स्वरूप हूँ। सहज ज्ञानस्वरूप हूँ, यह जो शरीर लपेटे फिर रहा हूँ यह तो कीचड़ है, मेरे लिए विडम्बना है, विपत्ति है। मैं तो स्वयं अपने आप में एक सहज ज्ञानमात्र हूँ, पवित्र हूँ, स्वयं परिपूर्ण हूँ, कल्याणमय हूँ। यहाँ अपूर्णता का कोई काम नहीं है। मैं ऐसा शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, इतनी बात यदि अन्दर में न परख सके तो अनुभूति न जगेगी तो जीवन निष्फल है, बेकार है। बड़े धनी बन गए, प्रतिष्ठा वाले बन गए चेला बन गया और जो कुछ कषाय में हम पर का अनुग्रह निग्रह करना चाहते हैं सो भी कदाचित हो जाए तो भी सब बेकार है।

मोहनिद्रा में दृष्ट मायाजाल की असारता—यह दृश्यमान सब स्वप्न का जाल है। किसी को नींद आती है। वह स्वप्न देखता है तो स्वप्न में सब सार समझता है। क्या स्वप्न के समय में वह यह समझता है कि यह सब कुछ झूठ बात है? कोई नहीं समझता। इसी प्रकार जहाँ मोह में सोचा, निद्रा आ रही है, इस मोह की नींद में क्या कोई यह समझ सकता है कि जो कुछ यह दिख रहा है। जो कुछ मेरे पास लदा है वह सब असार है? कैसे

समझे? मोह की नींद है ना! एक कथानक प्रसिद्ध है कि कुछ घसियारे लोग घास बेचने के लिए सिर पर गट्ठर लादे हुए एक गाँव को चले जा रहे थे। गर्मी के दिन थे। दोपहर के समय में वे एक पेड़ के नीचे बैठकर विश्राम करने लगे। उनमें से किसी घसियारे को निद्रा आ गई सो वह सिर के नीचे ईंट का सिरहाना रखकर लेट गया और सो गया। अब उसे सोते हुए में एक स्वप्न आया कि मैं राजा बन गया हूँ। मेरे सामने अनेक राजा महाराजा चरणों में आकर नमस्कार कर रहे हैं। मैं उन पर हुक्म चला रहा हूँ। बड़ा आनन्द आ रहा। लोग मेरे गीत गा रहे। वह बहुत खुश हो रहा। अब उसी स्वप्न-स्वप्न में ५ बज गए तो और घसियारों ने सोचा कि अब तो सिर्फ दो घंटे दिन रह गया है, कब घास बेचेंगे, कब लौटेंगे। यह सोचकर उस घसियारे को जगा दिया। जगने पर उसका वह स्वप्न में दिखने वाला सारा सुख समाप्त हो गया। अब वह घसियारा उन लोगों से लड़ने लगा—तुमने मेरा राज्य क्यों खो दिया, तुमने मेरा वैभव क्यों खो दिया! सब लोग उसकी बातें सुन कर बड़े आश्चर्य में पड़ गए। सोचा कि यह घसियारा क्या बक रहा है! कपड़े भी इसके तन पर नहीं है, फटी हालत है फिर भी कहता कि मेरा राज्य क्यों खो दिया। तो जैसे उस घसियारे की वहाँ मूर्खता भरी बात है इसी प्रकार यहाँ सभी जीवों की मूर्खता भरी बात हो रही है। मैं धनिक हूँ, मैं समाज का खास व्यक्ति हूँ, मेरी बड़ी प्रतिष्ठा है, बड़ा सुख है, बड़ा आराम है, बड़ा मौज है खाली ये सब मोह की निद्रा के स्वप्न हैं।

सम्मीलनेनयनयोर्नहिकिञ्चिदस्ति—यहाँ मोह करना व्यर्थ है। कुछ करने का स्मरण होगा, यहाँ से कूच करना पड़ेगा, फिर क्या रहेगा आपका? पूर्व समय में एक राजा भोज हो चुके हैं। वह विद्वानों का बड़ा आदर करते थे। कवियों को एक-एक कविता पर लाखों रुपया दे दिया करते थे। एक-बार एक कवि को संकट होने के कारण बहुत दिनों से इनाम न मिल सकने के कारण ऐसा मन में आया कि अब मैं क्या करूँ? कैसे खाऊँ? मुझे चोरी करनी चाहिए लेकिन किसके यहाँ चोरी करूँ? छोटे मोटे लोगों को सताने से क्या लाभ? राजा के यहाँ चोरी करनी चाहिए। यह सोचकर वह किसी तरह से रात्रि को राजा के महल के अन्दर जा पहुँचा। वहाँ कोई आहट मिली, छिपने को कोई जगह न मिली तो झट राजा भोज के पलंग के नीचे छिप गया। वहाँ राजा भोज रात्रि में अपने पलंग पर बैठे हुए एक कविता बना रहे थे। वह कविता इस प्रकार थी—**चेतोहरा युवतयः सुहृदोऽनुकूलः, सद्बान्धवाः प्रगतिगर्भगिरश्च भृत्याः। गर्जन्ति दन्तिनिवहास्तरलास्तुरङ्गाः।** बस ये तीन चरण तो बन गए थे, चौथा चरण नही बन पा रहा था। वे ही तीन चरण बार-बार दोहराते थे। तो वहाँ वह चोर (विद्वान कवि) सुन रहा था। उससे न रहा गया। जैसे कोई बड़ा संगीत का प्रोग्राम होता है तो वहाँ नाचने की कला जानने वाले को चैन नहीं पड़ता ऐसे ही उस विद्वान कवि को भी चैन न पड़ी और झट चौथा चरण बोल उठा। वह चौथा चरण इस प्रकार था।

सम्मीलने नयनयोर्नहि किञ्चिदस्ति। राजा भोज अपनी कविता में अपने वैभव का वर्णन कर रहे थे। जिसमें यह अर्थ भरा हुआ था कि मेरी सभी स्त्रियाँ चित्त को हरने वाली हैं जैसा मैं चाहता हूँ वैसी आज्ञा मानती है। मेरे मित्र मेरे बड़े अनुकूल हैं। मेरे बन्धुजन बड़ी नम्रता से भरे हुए हैं। मेरे सेवक सदा मेरे चरणों के पास हाजिर रहते हैं। मेरी अश्वशाला में घोड़े तथा गजशाला में हाथी गर्जते रहते हैं यों वह अपने वैभव का वर्णन कर रहा था तो नीचे से जो उस चोर ने चौथा चरण बोला तो उसका अर्थ था कि नेत्रों के मिच जाने पर फिर आपका कहीं कुछ नहीं है। अब उस चौथे चरण को सुनकर राजा का चित्त आश्चर्य से भर गया, अरे कौन से गुरू महाराज ने ये शब्द कहकर मेरे ज्ञान नेत्र खोल दिए? मैं कैसा कुमार्ग में जा रहा था किसने मेरी अज्ञानता दूर कर दी? यह सोचकर वह इधर-उधर देखने लगा। नीचे छिपा हुआ जो कवि था वह बाहर निकल आया। राजा ने उसे गले से लगा लिया और कहा धन्य हो गुरुराज, तुमने मेरा बड़ा उपकार किया, मैं बड़े कीचड़ में धंस रहा था, मिथ्यात्व में बढ़ रहा था, अब तुमने मुझे विवेक दिया तो उस कवि ने कहा-महाराज मैं चोर हूँ, तो राजा ने कहा-नहीं, नहीं, तुम चोर नहीं, तुम तो मेरे गुरू हो राजा ने उस कवि को बहुत कुछ पुरस्कार देकर विदा किया। तो यों समझिए कि जो कल्याण की बात है उसे सुनने में तो अरुचि होती है मोह में तो यही होता है और जो विषय कषाय, कमाई या विषय सेवन की बात है उसकी रुचि जागती है मगर यह तो बताओ कि ऐसी बेढंगी रफ्तार में चलकर आप पार क्या पा लोगे? कुछ तो उत्तर दो। जैसा चक्कर रोज-रोज लगाया जा रहा है वैसा ही चक्कर जीवन भर लगाते रहे तो उससे फिर आपके आत्मा का क्या भला होगा! कुछ अपने आप पर दया नहीं लाना चाहते। दया क्या? अपने आपको शान्ति प्राप्त हो, आनन्द मिले, ऐसा काम बनाना जिसमें दया है। जिसमें आत्महित हो वह काम करें। किसी भी बात का दुःख अब मत उठाओ। इच्छा, कषाय यह सबको पीड़ा दे रहा है, पर यह कषाय वाला जीव अपने आपकी भूल को नहीं तक पाता कि मेरे में क्यों कषाय उठी! मैं इसे क्यों भोगूँ, यह ही तो मेरे को कष्ट देने वाली है जगत में कौन दूसरा कष्ट देने वाला है! लेकिन हम आपको क्या कहें! अपनी भूल क्यों नहीं देखते! जैसे हम भी कभी दुःखी तो हो जाते, यह सोचकर कि लोग क्यों नहीं तत्त्वाभ्यास में लगते! क्यों नहीं ज्ञानमार्ग में लगते! जो अपने कल्याण की बात है उसमें क्यों नहीं लगते! अरे हम अपनी गलती तो नहीं देखते। आखिर मेरे में ही तो कमी है। जो दूसरे लोग रुचि पूर्वक नहीं आ सकते तो इसमें दूसरे का क्या अपराध! इसी तरह मानो सब लोग अपनी-अपनी बात सोचें। अगर अपनी भूल को निरखें और अपनी भूल को निकालें तो इस जीव को शान्ति का बहुत कुछ मौका मिलता है।

सम्यक्त्व की पात्रता के लिए मायाजाल की उपेक्ष्यता—यह प्रकरण सम्यग्दर्शन का चल रहा है। तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम अध्याय के तीसरे सूत्र की यह चर्चा है कि यह सम्यग्दर्शन निसर्ग और अधिगम से होता है। जो सम्यग्दर्शन होता, कैसे ही होता उस

सम्यग्दर्शन में बनना क्या है! यह बात बतला रहे हैं। पहली बात यह बनेगी कि अपने स्वरूप के समान संसार के सब जीवों का स्वरूप निरखना। अन्दर में घुसें, भीतर में चलें। बाहरी बातें मोहजाल की हैं। बाहरी बातों की हठ न करें। उस वीतराग स्वरूप का हठ करें। ऐसा मेरा स्वभाव, ऐसा मेरा स्वरूप। बस इस स्वरूप में मैं प्रीति करूँ, रत रहूं, मग्न होऊँ, दुनिया का कुछ भी हो जाए, उन उनका उन उनकी परिणति से सब होता है। अपने आपमें निशंक बनो, अपना स्वरूप सही समझो। किसी भी प्रकार की शंका मत करो। मेरा क्या होगा इस लोक में? मेरा कैसे गुजारा हेगा इस लोक में, यह शंका भी मिटा दें और ध्यान बनावें, जैसी वर्तमान में परिस्थिति है, जितनी आय है, जितनी चीज है उसके भीतर ही त्याग भाव करें। और परिवार के पोषण का भी भाव करे, धर्म हेतुवों में भी लगाएं। आपकी नगरी में अहमदाबाद में एक महानुभाव ऐसे हैं कि जिन्होंने यह नियम ले रखा है कि २५ हजार रुपये सालाना से अधिक आमद मैं न रखूँगा और होती है लाखों की आमद। तो देखो उनका कुछ घट गया क्या? कुछ बात हो गई क्या! अरे घर में धन भरते जावोगे तो वह धन भरने से आपको कोई नहीं पूछता, उस धन का त्याग न करने से अपको कोई नहीं पूछता। ऐसी एक उमंग होनी चाहिए कि मैं जो कमाऊँ उसका आधे से भी अधिक भाग त्याग में जाए तो देखो कितनी प्रसन्नता रहती है। और अपने आपकी कहाँ सुध रहती है। जगत में और भी तो जीव हैं। इस धन वैभव को तृणवत् जानें। वह असार वस्तु मिली है तो उसे अच्छे कार्यों में लगाया जाए, उसका सदुपयोग किया जाए तो उसमें अपने को प्रसन्न मानें। देह, धन वैभव, विषय कषाय, इच्छा, इन सब बातों को कलंक समझ करके इसके त्यागने का भाव बनाना चहिए। किसी प्रकार से त्याग हो वह भाव बनना चाहिए। और अपने आपके बारे में शंका छोड़ दें कि मैं इस लोक में किस तरह जिन्दा रहूँगा। रहोगे जिन्दा। भिखारी भी तो जिन्दा रहते, गरीब भी तो जिन्दा रहते, ऐसी हिम्मत बनावें।

न्यायनीति व सात्विकता से मनः प्रसाद—आपको एक घटना सुनकर आश्चर्य होगा कि बुन्देलखण्ड में एक कटेरा ग्राम है, वहाँ एक रायसाहब थे, वे जैन थे और वहाँ राजा का राज्य था। तो राजा उसका कर्जदार बहुत रहता था। तो राजा उसका बड़ा सम्मान करता था। जब कभी जरूरत पड़े तो लाखों रुपया वह राजा को उधार दे दिया करता था। वह बहुत बड़ा आदमी था, लेकिन सब कुछ करने के बाद उसका एक प्रोग्राम और रहा करता था। क्या प्रोग्राम रहा करता था कि वह एक बोरे में नमक, धनिया, हल्दी, मिर्चा आदि भरकर अपनी पीठ में लाद कर पास पड़ोस के गाँवों में एक घंटा फेरी कर लिया करते थे। किसी ने उनसे कहा कि रायसाहब आपकी तो हजारों रुपये प्रतिदिन की आय है फिर आप यह रुपये दो रुपये कमाने का काम क्यों करते हैं? तो उन्होंने यही कहा कि देखो धनियाँ, मिर्च, नमक आदि की फेरी लगाने के कई कारण हैं। एक तो कारण यह है कि मेरे में यह प्रतीति बनी रहे कि जैसे ये गरीब लोग हैं वैसा ही मैं भी हूँ। दूसरा कारण यह है कि उससे मेरे

को धन का अभिमान भी नष्ट हो जाता है, तीसरा कारण यह है कि आज हम बड़े हैं और पाप का उदय आने पर फिर गरीब हो जायें तो फिर मुझे ऐसा काम करने में शर्म तो न आवेगी। देखिये, कैसे कैसे पुरुष हो गए हैं, उनका कैसा सात्विक रहने सहन था। एक राजा की भी तो कथा है। एक राजा ने एक सन्यासी को आमंत्रित किया। वह सन्यासी आया भोजन करने के लिए। उस सन्यासी को तो हलुवा, पूड़ी, खीर आदि परोसा गया और राजा को ज्वार की रोटी, भाजी परोसी गई। भोजन करते हुए वह सन्यासी बड़े आश्चर्य में था, वह सोच रहा था कि क्या कारण है कि मुझे तो हलुवा, पूड़ी बगैरह खिलाया और खुद राजा ने ज्वार की रोटी भाजी खायी, भोजन करने के बाद सन्यासी ने पूछा-राजन बताइए, क्या कारण है कि आपने मुझे तो मिष्ठान्न खिलाया और आपने सिर्फ रोटी भाजी खाया? तो राजा ने उत्तर दिया मेरी इतनी गुंजाइश है, इतनी ही आमदनी है, इससे अधिक नहीं। . . . . क्या कहा राजन? आपकी इतनी आमदनी, यह आप क्या कहते हैं? . . . . मैं ठीक कहता हूँ, देखिए–इस राजदरबार में प्रजाजनों से जो भी कर, टैक्स आता है उसका प्रबंध मंत्रीजन करते हैं और वह प्रजाजनों के उपकार में लगता है, वह मेरा नहीं है। मेरे लिए तो जो यह १०–५० बीघा जमीन है उसी में कुछ मैं कर लेता हूँ, कुछ नौकर लोग कर लेते हैं कुछ मेरे बच्चे लोग कर लेते हैं बस वही मेरी आमदनी है, उससे ही मेरा गुजारा होता है। राजा की ऐसी बात सुनकर वह सन्यासी श्रद्धा से झुक गया और विचार करने लगा–अरे "मैं काहे का सन्यासी? सन्यासी तो यह है।" ऐसा आराम में बड़े-बड़े विषयों के प्रसंग में, इन बातों में रहकर प्रसन्नता कितनी आती है। अपने आपके दिल से पूछो। किसी पुरुष का ज्ञान जग जाए, और उसकी वृत्ति पर के उपकार में लग जाए, जैसे पहले महात्मा गाँधी हुए, विनोबा भावे हैं, और भी ऐसे लोग हुए हैं जिनकी धुन केवल यही रही कि मैं परका उपकार करूँ उनके मन में जो प्रसन्ता रहती है वह एक विलक्षण जाति की है, उसे और लोग नहीं पा सकते।

नितान्त भिन्न पदार्थों में प्रीति ना होने से निःशंका मात्र अभ्युदय—भैया चित्त में यह बात लाओ कि मेरे आत्मा का तो मैं मात्र आत्मा हूँ। मेरे को तो यह ज्ञानस्वरूप ही वर्णन है, यह ही सार है, इस जगत की कोई भी चीज मेरे लिए सारभूत नहीं है। यह संकल्प बनावें और मोक्ष पाने के लिए एक संकल्प लें। तन, मन, धन, वचन, प्राण आदि भी देकर अगर मेरे को मुक्ति का मार्ग प्राप्त होता हो तो इससे बढ़कर दुनिया में कोई विभूति नहीं है। सम्यक्त्व के समान जगत में कोई भी वैभव नहीं है, क्यों नहीं इसकी धुन बनाते? क्यों नहीं इस धन को तृणवत् जानकर विचार चित्त में लाते? इसमें सार नहीं है तब कह रहे हैं। अत्यन्त असार है तब आपको यह बात कह रहे हैं। इसमें कोई आनन्द की बात नहीं होती। और जिसे आप आनन्द मानते हैं यह विष है। जरा यहाँ के लोगों ने कुछ प्रशंसा कर दिया, यश गा दिया तो मान लिया कि मेरे को बड़ा सुख है। अरे यह तो विष है। ऐसा विषपान कर रहे कि अगर हलाहल विषपान किया जाए तो एक बार ही मरण होगा मगर यह ऐसा

विषपान है कि इससे अनेकों बार जन्म मरण होगा। फिर क्यों नहीं उससे हटते? अब तो चेतो। जो उम्र गई सो गई, अज्ञान में गई, भ्रम में गई। जो सिद्ध हुए उनका भी अनन्त काल पहले भ्रम में बीता, अज्ञान में बीता। वह भी कभी हम आपके ही समान दुःखी थे। जब उन्होंने ज्ञान प्रकाश पाया। मोक्षमार्ग में लगे तो उन्होंने सिद्ध अवस्था पायी और सदा के लिए वे परम पवित्र हो गए। तो हाँ पहली बात है कि निशंक बनो। मेरा कहीं बिगाड़ नहीं, मेरे को कहीं कष्ट नहीं, मेरे में कोई विपदा नहीं, विडम्बना नहीं। मैं तो यह ज्ञानमात्र परमेश्वर की तरह भगवत्स्वरूप अपने आप में सहज शुद्ध स्वभाव को लिए हुए हूँ। यह बात कब बनेगी? जब आपके भीतर में इतना त्याग हो जाएगा कि पुत्र मेरा कुछ नहीं, परिवार मेरा कुछ नहीं, धन मेरा कुछ नहीं।

कषाय की बलि करने से परमार्थ मनोरथ की सिद्धि—कथानकों में कभी-कभी आता है, मुसलमान भी कहते हैं कि खुदा के नाम पर कोई ऐसी चीज चढ़ावो (बलि करो) कि जो तुम्हें सबसे प्यारा हो तो अपना बेटा तो वह बेटे का ही कत्ल करने को तैयार हुआ। वह उसकी अज्ञानता है। हम वह बात नहीं कह रहे मगर वहाँ इस बात का ज्ञान कराया गया था कि जो तुम्हें सबसे प्यारा है उसकी बलि करो। देखो वह अज्ञान की बात है। क्या अधिकार है कि दूसरा जीव हो, प्राणी हो या मनुष्य हो उसे कष्ट दे या उसकी बलि कर दे। अरे उसे भीतर में बिचारें। जो तुमको सबसे प्यारा हो उसकी बलि कर दो। देखो बाहर दुनिया में जितने जीव हैं। वे किसी को प्यारे नहीं हैं, आपको भी प्यारे नहीं हैं। आप भ्रम से मानते हो कि मेरे को बच्चा बड़ा प्यारा, मेरे को स्त्री बड़ी प्यारी। यह सब झूठ बात है। भ्रम में, बेहोशी में आप ऐसा बोल रहे। जैसे शराब पीने वाले लोग बेहोशी में बोलते हैं इसी तरह मोह की बेहोशी में बोल रहे हैं कि यह घर मुझे प्यारा है, यह वैभव मुझे प्यारा है। अरे किसी पर वस्तु से आप प्रेम कर ही नहीं सकते। अरे आपका आत्मा स्वयं सत् जो परिणमेगा वह अपने आप में ही तो परिणमेगा। बाहर में तो वह न जाएगा। आप प्रेम करेंगे तो अपने आप में करेंगे। आपने अपनी कषाय से प्रेम किया, पुत्र से नहीं। असलियत यह है। आप झूठ बोलते हैं कि मैंने पुत्र से प्रेम किया, घर से, वैभव से प्रेम किया। अरे त्रिकाल में भी आप किसी पर वस्तु से प्रेम नहीं कर सकते। आप कषाय करते हैं। इससे बाहर रंच मात्र भी आप कुछ करतूत नहीं करते। तो आपको सबसे प्यारी लग रही कषाय। और बातें तो झूठ हैं। तो उस कषाय की बलि कर दो, फिर देखो मोक्षमार्ग मिलता है कि नहीं। देखो आपका कल्याण होता कि नहीं। अनादि से लेकर अब तक अनन्त भव बिता डाले, इसी बेढंगी रफ्तार में यह जीवन बिताया जा रहा है। पञ्चेन्द्रिय के विषय भोगने जैसी बेढंगी रफ्तार में समय बिता रहे, ऐसे ही अनन्त भव बिता डाले, पर उनसे कुछ लाभ भी मिला क्या? अरे अनन्त काल बिताया परभाव के लिए। अब जरा एक यह ही भव अगर अपने आत्मा के लिए लगे, तो इसमें आपका कोई टोटा पड़ता है क्या? अनन्त भव जब तुमने

विषयों में, कषायों में, भ्रम में बिता डाला, इसमें एक यह भव बिना ऊधम का सही कल्याण के लिए बिता डालें तो इसमें क्या हानि है? कल्याण के लिए भव बिताने की बात तब बनेगी जब कषायों का त्याग कर दें। विषयों का पहाड़ आप की मुक्ति को रोकने वाला है। कोई दूसरा नहीं।

आत्मा के अभिन्नात्म पदार्थ में ही आत्म प्रतीति होने में कल्याण—भैया भ्रम छोड़े, कषाय छोड़ें, तत्त्वज्ञान करें, अपने आप में विश्वास बनाएं, निशंक बने, अपने आपकी बात बनालें तो आत्मकल्याण है और पर के लिए अब तक मरते रहे, बर्बाद होते रहे, अपने विषय भावों के लिए बर्बाद होते रहे। अब जरा अपनी बात बनावें। आत्मा का यह आत्मा सत् है कि नहीं? अगर यह आत्मा नहीं है तब तो अच्छी बात है। अगर मैं न होऊँ तो फिर दुःख किसे हो! मैं हूँ। करीब ६ वर्ष की उम्र में जब हम पाठशाला में पढ़ने जाते थे तो वहाँ देहातों में ऐसी पाठशालाएं होती थी कि बस पढ़ते जावो, पर कक्षा का कुछ पता नहीं। जब हम दो साल पढ़कर सागर पढ़ने गए तो हमको छटवीं कक्षा में भर्ती किया। तो वहाँ हमने एक बार देखा कि एक पंडित जी ने किसी बालक को पीटा। हम तो नहीं पिट पाते थे, पता नहीं क्यों न पिटते थे, पर दूसरे को पिटते देखा तो हम पाठशाला न गए और एक दिन की बासी रोटी खाने का रिवाज था। बासी रोटी और मक्खन खा रहे थे जैसे कि लड़के बच्चे खाते हैं। तो माँ बोली—आज पढ़ने न जावोगे क्या! तो हमने कहा—नहीं हम आज नहीं जाते! क्यों न जावोगे! हम चुप रह गए। तो मेरी माँ एक रहपट मारकर बोली, तुम्हें पढ़ने जाना पड़ेगा। तो उस समय रोता-रोता मैं सोच रहा था कि यह जो खम्भा खड़ा है काठ का, जिस पर मट्ठा बिलोया जाता है, यदि मैं लकड़ी का होता तो पिटता नहीं। यह उस समय की हमारी एक कल्पना थी। तो अगर मैं नहीं हूँ, तब तो यह बड़ी अच्छी बात है। अगर मैं हूँ तो अब कहाँ जाऊँ? सदा के लिए हूँ, मेरी सत्ता मिट नहीं सकती। कोई वैज्ञानिक बता दे कि जो पदार्थ मूलतः है उसका क्षय होता है क्या? जब मैं हूँ तो मेरा विनाश न होगा। यह बात तो हम देखते ही हैं कि मनुष्य को मरना पड़ता है, शरीर जल जाता है तो यह भी बात देख रहे, तो इसके बाद मैं हो जाऊँगा। भगवान तो न हो जाऊँगा। भगवान जैसी करतूत तो नहीं हो रही, तब फिर क्या हो जाऊँगा? ये ही जो जगत के जीव दिख रहे कीड़ा मकोड़ा, सूकर, कुत्ता, गधा, पेड़ पौधे आदिक, और क्या होंगे? एक शराबी गया किसी शराब वाले की दुकान पर। उससे कहा भाई मुझे बहुत ही बढ़िया शराब दो। अजी हमारे पास बहुत ही बढ़िया शराब है। जब वह बहुत-बहुत ऊँची शराब की बात करने लगा तो उस दुकानदार ने कहा अगर आपको हमारी शराब का विश्वास न हो तो ये जो नाली में कई लोग बेहोश पड़े हुए हैं जिनके मुख में कुत्ते भी मूतते हैं, इनको ही देख कर अन्दाज कर लो कि हमारी दुकान की शराब अच्छी है या नहीं। सो भाई अब विश्वास न हो तो ये कुत्ता, गधा, सूकर, कीड़ा-मकोड़ा इनको ही देख कर विश्वास कर लो कि खोटी करनी का फल यह

होता है। खराब करतूत का फल यह होता है, मोह बसाने का फल यह होता है। तो अपना हृदय विशुद्ध बनावें और आत्मकल्याण के लिए दृढ़ संकल्प हो और अपना यह जीवन का ढांचा बिल्कुल बदल करके चलना चाहिए।

सम्यक्त्वोत्पत्ति में निसर्ग व अधिगम का स्थान—सम्यग्दर्शन के प्रकरण में यहाँ यह चर्चा चल रही है कि सम्यग्दर्शन अहेतुक है या सहेतुक, याने हेतु के बिना होता है या किन्हीं हेतुवों से होता है, यहाँ यह जानना कि निश्चय से तो प्रत्येक पर्याय अपने आपके उपादान से ही होता है। अतएव सभी पर्यायें हेतु के बिना होती है, तो कोई भी बाह्य पदार्थ अपनी परिणति नहीं देता, वहां प्रभाव नहीं करता फिर भी जो पर्याय होती है वह किसी विधि से होती है, इस पर विचार करें तो वहाँ हेतुवों की बात आती है। कोई भी परिणति अहेतुक नहीं है और नहीं तो स्वभाव पर्याय भी है ना इस में भी काल परिणमन हेतु है और फिर अब तक जो स्वभाव परिणमन न था अब हो रहा है तो उसमें कुछ और हेतु बनाने पड़ते हैं फिर विकार तो सहेतुक है ही विकार तो किसी निमित्त सन्निधान बिना होता ही नहीं है। यह सब करते हुए भी निर्णय यह रखना कि प्रत्येक पर्याय अपने आपके उपादान की परिणति से होता है, वह उपादान अपने में उस पर्याय का प्रभाव लाता है तो वह किसी निमित्त को पाकर लाता है। तो यहाँ सम्यग्दर्शन को कहा जा रहा है कि यह सम्यग्दर्शन अधिगम से उत्पन्न होता है और निमित्त दृष्टि से तो दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम का निमित्त पाकर होता है। तो सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कहो या विपरीत अभिप्राय की निवृत्ति कहो, दोनों का एक भाव है। विपरीत अभिप्राय न रहना, यह भी सहेतुक है अर्थात विपरीत अभिप्राय चल रहा था मिथ्यात्व कर्म के उदय का निमित्त पाकर। तो मिथ्यात्व कर्म का, दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो तो विपरीत अभिप्राय का क्षय हो, सम्यग्दर्शन का उत्पाद हो।

कर्म विध्वंस में आत्मपरिणाम की निमित्तता—यहाँ एक शंका की जा सकती है कि दर्शन मोहनीय का उपशम होना, क्षय होना, क्षयोपशम होना यदि वह तत्त्वश्रद्धान का कारण हो तो सब जीवों को सब समय सम्यग्दर्शन उत्पन्न कर देगा क्योंकि दर्शनमोहनीय का उपशम क्षय. क्षयोपशम अहेतुक है वह तो किसी हेतु से नहीं बनता। सम्यग्दर्शन भले ही दर्शन मोह के उपशम आदि हेतु से बने मगर दर्शनमोह के उपशम आदि तो बिना हेतु के हो गए तब तो सभी समय सबके सम्यग्दर्शन उत्पन्न हो जाना चाहिए और अहेतुक होने पर भी यदि सब समय किसी को सम्यग्दर्शन नहीं होता तो फिर कभी भी न हो या जब चाहें बिना नियम के किसी के भी हो बैठे एक यह शंका रखी गई है। उत्तर इसका साफ है। दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम भी सहेतुक है अर्थात् दर्शनमोह के क्षय का प्रतिपक्षी है विशुद्ध भाव। विशुद्ध भाव जगे, कुछ तत्त्वाभ्यास जगे, कुछ ज्ञानाभ्यास बने तो यह प्रवृत्ति दर्शन मोह के

उपशम आदि का कारण है। इस बात को युक्तितः सोचिए जो पदार्थ कहीं कभी किसी से उपशान्त होता है, दबता है तो या क्षय को प्राप्त होता है या कुछ दबता, कुछ उमड़ता है तो वह बात अपने प्रतिपक्षी पदार्थ की वृद्धि की सदृशता से होती है तो विशुद्धि बढ़ी तो कर्मों में भी क्षय, क्षयोपशम, उपशम हो गए। कर्म दूर हों इसका कारण है आत्म निर्मलता। आत्मा को सम्भालिये। आत्मा में से रागद्वेष की गीलाई को हटावो तो कर्म निर्जरा को प्राप्त होंगे। जैसे धोती धोयी, निचोड़ी, गीली धोती हो गई उसे दो खूँटो में बाँधकर सूखने के लिए डाल देते हैं। अब मानो धोती का एक खूँट छूट गया, धोती नीचे गिर गई, उसमें धूल लग गई तो वहाँ लोग क्या करते हैं? जिनको विशेष बोध नहीं है वे उस धूल को लकड़ी या हाथ से छुटाते हैं। परिणाम उसका यह होता है कि वह धूल और भी गहरी होती जाती है। पर जो विवेकी लोग हैं वे क्या करते हैं कि उस धोती को यों ही खूँट से बाँध देते हैं। जब वह धोती सूख जाती है तो एक ही झिटके में सब धूल झड़ जाती है। तो इसी तरह आत्मा में जो कर्म का बन्ध हो रहा है वह मोह रागद्वेष की गीलाई से चिपटकर हो रहा है। तो लोग करते क्या हैं? जो उस विषय में ज्यादा बुद्धि नहीं लगाते वे मन, वचन, काय की चेष्टा को लम्बा करके, देकर के उस कर्म को हटाना चाहते हैं। जैसे बोलते है ना, अष्ट कर्म ध्वंस करने के लिए मैं धूप चढ़ाता हूँ। भाव तो वहाँ कुछ भीतर का है कि भाई यह द्रव्य रख दिया है तो इसके सहारे इतना समय पूजा में लग जाएगा।

आत्मविशुद्धि के अर्थ व्यहार धर्म की प्रकृति—द्रव्य पूजा किस लिए है? जो चावल वगैरह धोकर लोग चढ़ाते हैं, पूजा चढ़ाते हैं तो यह चावल वगैरह धोना, चढ़ाना यह किसलिए हैं? यह इसलिए है कि उसके सहारे ऐसा करने के माध्यम से इतना समय घंटा भर पूजा में लग जाएगा। और बीच-बीच में हम अपने भाव सम्भाल सकेंगे। न कि द्रव्य चढ़ा देना यह ही पूजा है, या द्रव्य चढ़ाने से कर्म नष्ट होते हैं। तो जो इस रहस्य को नहीं जानते और जब वह मंत्र आता है कि अष्ट कर्म के ध्वंस करने के लिए मैं धूप चढ़ाता हूँ तो वह उमंग से मुट्ठी भर धूप लेकर बड़े जोर से आग पर पटक देते हैं। अब उनका लक्ष्यकिधर है। उनका उपयोग किधर है। स्व की ओर छुवा नहीं है। कुछ बाहर की प्रवृत्ति हैं। तो बात यह कह रहे हैं कि धर्म के नाम पर भी मन, वचन, काय की चेष्टा को ही दृढ़ जमाना और भीतर के मर्म को न पहचाने तो यह काम ऐसा है कि जैसे गीली धोती धूल में गिर गई। धूल चिपट गई तो उस धूल को आप हाथों से निकालना चाहते तो कैसे निकले? अरे यह समझो कि यह द्रव्य पूजा तो हमारा उपयोग लगाने के लिए है। इससे यह भाव भरते हैं कि वह वीतराग सर्वज्ञ देव का जैसा स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है। हे प्रभो! जिस विधि से आपने अपना वह पद पाया उसको प्राप्त करने की कला मुझमें भी है। मैं उस पर चलूँ तो उसको पा सकता हूँ।

परमें कुछ भी करने की अशक्यताकी आस्था से धर्मधारण की सुगमता—देखो हम आप रात दिन २४ घन्टे क्या किया करते हैं? इस पर जरा विचार तो करें। यह बात तो झूठ है कि मैं दुकान चलाता हूँ मैं कुछ चीज बनाता हूँ। मैं कुछ कला करता हूँ। मैं ड्राइंग करता हूँ, मैं कुछ लिखता हूँ आदि बातें, तो यह मिथ्या है। मिथ्या क्यों हैं? निश्चय से कह रहे हैं। यों मिथ्या है मेरा जो आत्मा है वह अपने प्रदेश में अपना ही काम कर पाता है, अपने प्रदेश से बाहर कुछ नहीं कर सकता है। तो अब अपनी बात देखिए कि मैं रात दिन क्या किया करता हूँ। घर में हो तो वहाँ भी क्या करता? दुकान पर जाता तो वहाँ भी क्या करता? धर्म स्थान में आता तो वहाँ भी क्या करता? देखो—सबका एक ही उत्तर है, नाना उत्तर नहीं है कि जैसे कोई कहे कि मैं घर में जाता हूँ तो रोटी बनाता हूँ। घर में जाता हूँ तो कोई सागभाजी लेकर जाता हूँ। घर में जाता हूँ तो मैं बाल बच्चों को डांटता हूँ। या कोई मैं व्यवस्था बनाता हूँ। और दुकान में जाता तो मैं दुकान का काम करता हूँ। धर्म स्थान पर जाता तो मैं पूजा करता। जाप देता। ये नाना उत्तर न आएंगे। उत्तर एक आएगा। मैं क्या करता हूँ? मैं कुछ उपयोग बनाता रहता हूँ। घर पर भी मैं उपयोग को ही करता हूँ। अपना ज्ञान बनाएं, समझ बनाएं, अपना उपयोग बनाएँ, यह ही काम मैं घर पर करता, यह ही काम दुकान पर करते। यह ही काम मैं धर्म स्थान पर करता ऐसा विचार करिए। यह तथ्य की बात कह रहे हैं। हम सब जगह उपयोग की ही बात करते हैं। अन्य कुछ नहीं करते। तब उपयोग में हम क्या किया करते हैं? जरा इसका भी जवाब लें तो इस जवाब में भी आप बहुत-बहुत बात कह सकते हैं। उस उपयोग में कभी बच्चों की बात लाते। कभी घर की बात लाते, वहाँ भी अनेक उत्तर देंगे। पर वहाँ भी अनेक उत्तर न आकर दो उत्तर आएंगे। आप उपयोग में क्या किया करते हैं! कभी तो आप पर का उपयोग देकर परका उपयोग करते हैं और कभी स्वका उपयोग देकर स्वका उपयोग करते हैं। ये दो उत्तर हैं स्व और पर में सारा उत्तर आ गया। स्व में आया निज और पर में आया निज को छोड़ कर बाकी के जीव चाहे घर के जीव हों चाहे विदेश के जीव हों तो सब जीव एक समान हैं पर में आए पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। पर को महत्व देने में लाभ क्या पाते हैं? अब जरा इस पर दृष्टि भी दीजिए। और स्व को महत्व देने में लाभ क्या मिलता है इस पर विचार कीजिए। पर को महत्व देने में होता क्या है! क्षोभ, आकुलता और स्व को महत्व देकर स्व की दृष्टि करने में स्व में रत होने में मिलता क्या है? शान्ति। और पर के उपयोग में मिलती है अशान्ति। बुद्धि जगे, सुमति बने।

तत्त्वज्ञान और कष्टसहिष्णुता की वाञ्छनीयता—प्रभू से प्रार्थना करें कि हे प्रभो मैं आपसे यह माँगने नहीं आया कि मेरा घर अच्छा बन जाए, मेरा बंगला बन जाए, घर के लोग सुखी रहें। मैं मुकदमे में बिजय पाऊँ या मेरा अमुक काम बन जाए या मेरा यश फैल जाए, मेरी प्रतिष्ठा हो. . . .' हे प्रभो मैं आपसे ये कुछ माँगने नहीं आया। मेरे को कष्ट न

आए, विपत्तियाँ न आएं, सुख ही सुख रहे, यह माँगने मैं नहीं आया। मैं तो यह बात चाहता हूँ कि मेरे को सत्य ज्ञान का प्रकाश मिले। सही जैसा वस्तु स्वरूप है, जैसा मेरा आत्मरूप है वैसा जानने का प्रकाश मुझे मिले। अरे इसमें तू क्या पाएगा? तुमने तो फोकट की बात माँगी। इसमें तो तेरे हाथ कुछ न आएगा। न देखने की बात, न पकड़ने की बात। तू ऐसी बात माँगने क्यों आया? मैं तो एक सत्य ज्ञान का प्रकाश चाहता हूँ! मैं और कुछ नहीं चाहता। इसमें मुझे सब कुछ मिलता है। क्या मिलता है? कष्ट अगर आए तो आए, उसको सहन करने की मुझे क्षमता मिलती है। एक बात। दूसरे मुझ में उपयोग जाने से परके विकल्प हटने से कष्ट भी दूर होता है। कष्ट का दूर होना और कष्ट आए तो उसे सहन करने की क्षमता होना यह सत्य ज्ञान प्रकाश में ही सम्भव हैं। अन्य प्रकार सम्भव नहीं है। तो हे प्रभो मैं तो यथार्थ तत्त्व ज्ञान प्रकाश चाहता हूँ। अन्य कुछ मैं नही चाहता। उस ज्ञान प्रकाश की बात कह रहे हैं कि वह मिलता कब है? सम्यक्त्व होते ही मिल जाता है। सम्यक्त्व होता कब! निमित्त दृष्टि से दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम हो तो मिलता है। यों दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम भी कब होता है? जब आत्मा में विशुद्धि बढ़ती है। पहले हुई क्षयोपशम लब्धि। मायने कर्म में उस प्रकार का कुछ क्षयोपशम हुआ, फिर आत्मा में विशुद्धि हुई, उससे मैंने तत्त्व-ज्ञान किया, उसमें मेरा भाव बढ़ गया, फिर वही सम्यक्त्व के लिए सहकारी कारण बन जाता है।

स्वावलम्बनकी कर्मविध्वंसन क्षमता—भैया! आत्मलाभ के लिए क्या करना! कर्म को आँख के आगे धरना, देखना, और मैं इनका नाश कर दूँ, यों सोचना इससे काम न बनेगा, किन्तु निजका स्वरूप सामने रखना, एक सहज ज्ञान स्वभाव और उसमें मग्न होना, उससे काम बनता है। कहते हैं ना कि जब किसी दुष्ट से पाला पड़ जाए, किसी दुष्ट से फसाद होजाए तो उस दुष्ट का आमने सामने मुकाबला करके हम वहाँ विजय नहीं पा सकते। युक्ति से, धीरता से, चतुराई से, साम्यभाव से कोई काम बनावें तो उस दुष्ट से पिण्ड छूट जाएगा। इस प्रकार इन कर्मों का, इन बाह्य पदार्थों का, इस शरीर का जो बंध है। सम्बन्ध है यह ही दुष्ट प्रसंग है। इस दुष्ट प्रसंग से हम इन दुष्टों के साथ लड़ करके, अनुग्रह करके इनसे छुटकारा नहीं पा सकते, किन्तु हम कुछ धीरता लाएं, अपने आपकी ओर अपना उपयोग बनाएं, साम्यभाव लाएं तो ये अपने आप सब दूर हो जाएंगे। तो कर्त्तव्य क्या है! आवो अपने पास, आवो अपने धाम में ठहर जावों अपने आपके भगवान के दर्शन करके अपने आपसे मिलो। अब तक सम्यग्दर्शन न हुआ और हो रहा तो सही बात, यह सिद्ध होती है कि इस सम्यक्त्व का कोई प्रतिपक्षी था जिसका सन्निधान होने पर नहीं हो रहा था उस प्रतिपक्षी को हटाओ तो सम्यक्त्व हो। वह प्रतिपक्षी है कर्म, दर्शनमोह। दर्शनमोह का क्षय पहले से न था। अब हो रहा है तो यह इस बात को सिद्ध करता है कि दर्शन मोह का प्रतिपक्षी भी कोई होता है। वह क्या है! निर्मलभाव, विशुद्धभाव। अपनी उन्मुक्तता। यह

बात जैसी बढ़ी वैसे ही दर्शन मोह दूर हुआ, कर्म दूर हुए। कर्म दूर हुए तो सम्यक्त्व निधि प्राप्त हुई। जैसे कोई पुरुष बेहोश न था, अब बेहोश हुआ तो कोई कारण तो है। क्या कारण है! शराब पी ली। अच्छा, वह पुरुष शराब पी के बेहोश है और अब कोई चीज खिला दी, बेहोशी में न रहा सचेत हो रहा तो उसका भी कारण है कि उस शराब के नशे का प्रभाव हट गया, यों ही समझिये कि जो बात अब तक नहीं है और अब हुई है तो उसका कोई कारण होगा।

अलौकिक कार्य में अलौकिक साधन की उपयोगिता—यद्यपि वस्तु स्वातंत्र्य को देखें तो वह स्वयंसत् है, स्वयं परिणमनशील है। अपने आपकी करण शक्ति से परिणमता है; किन्तु इसका तो उत्तर बताओ जरा कि अब तक यह न था और अब यह हुआ। उसको भी अगर यों कहो निमित्त की बात हटाकर कि वह तो उपादान में जिसमें जो होने की योग्यता है सो होती है तो इसमें व्यवस्था नहीं बनती, इसमें किसी प्रकार का समाधान न हो सकेगा। निमित्त नैमित्तिक योग है और वस्तु स्वातंत्र्य है। दोनों को भली भाँति समझने से सब बात हो जाएगी। एक बात और सोचना चाहिए कि कल्याण लाभ के लिए हमारा कर्त्तव्य क्या है! स्वभावदर्शन। हमारे स्वभावदर्शन में अगर विघ्न आए जिस ज्ञान से तो वह ज्ञान तो न करना चाहिए और जिस ज्ञान से हमको स्वभावदर्शन में मदद मिले, सहायक बने उसें ज्ञान में कोई बाधा है क्या! जब निश्चय दृष्टि करते हैं कि पदार्थ अपने आपकी शक्ति से अपने आपमें अपनी पर्यायों को करता चला जाता है। यह भी एक प्रामाणिक मार्ग है, इससे भी स्वभावदर्शन मिलेगा कि एक द्रव्य की निगाह में जब हम रहते हैं, दूसरे द्रव्य की निगाह भी नहीं कर सकते तो पर पदार्थ का निमित्त न होने से, आश्रय न होने से हमको स्व भावदर्शन बनेगा। लेकिन निश्चय की तो हम दृष्टि बनाकर बात करें और वहाँ निमित्त की चर्चा छेड़ें चाहे न रूप से या चाहे हां रूप से तो वह अनधिकार बात है। जैसा दृष्टि में आया हो, उस ही दृष्टि की बात करते जाओ, उसमें अन्य दृष्टि की बात मत मिलाओ, स्व भावदर्शन होगा। अच्छा अब व्यवहार दृष्टि की बात देखिए, व्यवहार दृष्टि में यही तो बताया गया कि ये जो विकार हैं ये कर्म का निमित्त पाकर हुए हैं, ये मेरे नहीं हैं, यह शिक्षा मिली, ये मेरे नहीं हैं, ये नैमित्तिक भाव हैं, ये मेरी कला नहीं है, इनका मैं ग्रहण नहीं करता। ये पर द्रव्य हैं, ये परभाव हैं। इनसे मेरे को क्या मतलब! ऐसी जो दृष्टि रखेगा वह तो स्वभावदर्शन की ओर मुड़ेगा। जरा इस विषय को जैसा कि तथ्य है, जैसा कहा हो थोड़े समय के लिए, अगर वहाँ कुछ बात कठिन जँचे तो भी समझने की ओर पौरुष करना। इसको समझे बिना काम न बनेगा। चाहे आज समझ लो, चाहे कुछ दिन बाद समझो, आज कल्याण पाएंगे। इस समझ के बिना कल्याण मार्ग न पाएंगे, इसलिए कठिन लगे तो भी समझना, सरल लगे तो तत्काल उसका आनन्द लेना।

प्रकृति धर्म की शक्ति व व्यक्ति—देखो जिस कषाय के कारण, जिस विषय के कारण, जिस वासना के कारण, जिस विकल्प के कारण हम इतना कष्ट पा रहे हैं, रात दिन दुःखी हो रहे हैं। वे विकल्प, वे विषय कषाय क्या चीज हैं, इस बात को सोचना चाहिए। क्या है सो देखिए। इस जीव के साथ पूर्व काल से बाँधे हुए कर्म की सत्ता है। पहले शुभ अशुभ भाव बनाकर पुण्य पाप परिणाम करके यह कर्म का बंध हुआ था, उसकी सत्ता है अतः तो जिस काल में कर्म बंध हुआ था उस ही काल में कर्म में क्या हुआ, प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग का निर्णय बन गया। प्रकट घोषणा है जैन सिद्धान्त में। कर्मकाण्ड देखिए, करणानुयोग के ग्रन्थ देखिए, जिस काल में इस जीव ने शुभ या अशुभ भाव किया उसही काल में प्रकृति बंध, प्रदेश बंध, स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध हो गया। क्या हो गया! जिन कर्म परमाणुओं का यहाँ बन्धन हो गया, इनके साथ रहना निश्चित हो गया, उन कर्म परमाणुओं में प्रकृत्ति निश्चित हो गई कि इनमें ज्ञानावरण की प्रकृति हो गई ये ज्ञान को ढकने के कारण बनेंगे ये सुख आदि के हेतु-भूत बनेंगे। उनमें प्रकृति पड़ गई और कितने दर्जे के ये दुःख के हेतुभूत बनेंगे ऐसा अनुभाग पड़ गया और ऐसे ये कर्म कितने दिन तक यहाँ रहेंगे, यह स्थिति पड़ गई। तो देखिए जैसे चूना का डगला है ठोस है, रखा है, मगर उसमें स्थिति है। क्या वह चूना का गला दो चार वर्ष तक ठहर सकेगा! नहीं ठहर सकता। जैसे कि सीमेन्ट होता है ना, तो सीमेन्ट का उपयोग जल्दी ही कर लेना चाहिए। उसे बहुत दिन तक धरे रहते हैं तो उसमें कमजोरी आती है, बल्कि कभी-कभी तो बिल्कुल खत्म हो जाता है। वह पत्थर वन जाती है, टपला बन जाती है ऐसे ही जो कर्म सत्ता में पड़े हैं उन कर्मों की स्थिति है, सो जब तक स्थिति है जब तक आखिरी समय नहीं आया, उदयकाल न आया तब तक वे अच्छे हैं। उनसे कोई कष्ट नहीं होता इस जीव को, लेकिन जब उनका उदयकाल आता है, स्थिति पूरी होती है उस काल में उन कर्मों में अनुभाग बनता है, फैलता है, उस कर्म विपाक में भी कोई विकृति आती है। जब तक कर्म में सत्ता थी विकृति नहीं आयी, जब उदयकाल आया तो विकृति आयी।

कर्मविपाककाल में कर्म की उपयोगिता—एक दृष्टान्त समयसार में दिया कि किसी ७—८ वर्ष की बालिका का विवाह हुआ किसी नवयुवक से अभी वह बच्ची अत्यल्पायु है। वहाँ कोई प्रकार का विकार नहीं है, वह उपभोग के योग्य नहीं है। जिस काल में वह युवती हो जाती है तो क्या हुआ, विपाक काल आ गया अब वह उपभोग के योग्य हुई, इसी तरह जो कर्म सत्ता में पड़े हैं वे भी उपभोग के योग्य नहीं हैं, वे फल के योग्य हो जाते हैं। तो उन कर्मों में स्वयं राग द्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रकृति है उसी पर उस-उस नाम का वह कर्म है वही बात उनमें उस काल में होती है। वे अचेतन हैं सो वे सब बातें कर्म की अनुभव में न आएंगी। भवन में अवश्य हैं। पर पदार्थ की बात हमारे अनुभव में नहीं आ सकती। लेकिन बन्धन तो यही है, एक क्षेत्रावगाह ही तो है, जैसे वहाँ ऊधम मचाया उन कर्मों

न तो इसकी जानकारी से वे दूर कैसे हो सकते! झलका तुरन्त ज्ञान में आया और चूँकि हम बुरे हैं, बुरी वासना लिए हैं, अनादि से खोटे संस्कार में पले हुए हैं तो जानने तक की बात नहीं रहती किन्तु जानने के ही साथ, झलक के ही साथ हम उस ओर आकर्षित हो जाते हैं। हमारा उपयोग उस ओर पहुँच जाता है, हम उसको अपनाने लगते हैं, और अपनाकर के हम अपने में बड़ा विकार उत्पन्न कर लेते हैं। तो ऐसा दुःख मेटने के लिए हमको कर्त्तव्य क्या करना है? कर्मानुभाग और तथा विधानुभव इनमें भेद विज्ञान करना चाहिए। वहाँ की बात क्या है, मैं क्या हूँ। और पुद्गल क्या है कर्म तो पुद्गल के हैं पुद्गल बात क्या है और मेरी बात क्या? ऐसा वहाँ भेदविज्ञान करना चाहिए। इस बात को समयसार में एक स्थल में बड़े ढंग से बताया गया है,कर्तकर्माधिकार में कर्मविपाक, कर्म विकार हुआ ना। हाँ कर्म का जो विकार है, कर्म में जो स्वयं अपने आपकी दशा है वह कर्म में तन्मय है कि मेरे आत्मा में? वह कर्म में तन्मय है। विकल्प हुआ तो विकार कर्म में तन्मय है कि मुझ में! पुद्गल परिणाम का पुद्गल फल का ज्ञान हुआ, वह मुझ में तन्मय है और ज्ञान से आगे बढ़कर जो हम खिंच गए, लीन हो अपना उपयोग बहुत रंग बिरंगा बना डाला यह बात किसमें तन्मय है, कर्म में कि मुझमें वह भी निज में तन्मय है। अब रंग बिरंगा उपयोग बना डालना ऐसी तन्मयता तो मेरे लिए है अहितरूप, उसे तो हटाओ और पुद्गल परिणाम का ज्ञान, वह तो एक अनिवार्य है, उसे हम हटा नहीं सकते, हो रहा है उसके ज्ञाता रहो, और वह भी हटेगा। वह हटेगा जब हम पहले से ज्ञाता दृष्टा रह-रह कर अपने आप में दृष्टि बहुत बढ़ा लें अपने आपमें सन्तुष्ट होने का हम काम पहले बनालें तो मेरी इस तृप्ति के कारण से उन कर्मों की निर्जरा हो जाएगी। बन्धन दूर हो जाएंगे, विपाक ही न रहेगा, तब ज्ञान किसका किया जाएगा? ज्ञान यों ही सहज विशुद्ध बन जाएगा।

कर्म विपाक और उपयोग वृत्ति में भेदविज्ञान करने का कर्त्तव्य—हमारा इस समय कर्त्तव्य क्या है? हम ऐसा समझें कि ये कर्म विपाक जितना जो कुछ हो रहा है, इसका मैं करने वाला नहीं हूँ। यह तो कर्म विपाक है, हो रहा है, इसका तो मैं ज्ञान कर सकने वाला हूँ, और जो लोग ज्ञान से आगे बढ़कर जाननहार देखनहार से आगे बढ़कर और कुछ फंसते हैं, और कुछ लगते हैं तो वे संसार परिभ्रमण करते हैं, उसका कर्त्तव्य है जो विकार का कर्ता है मगर अपने उपयोग के दुरुपयोग का कर्ता है, न कि पुद्गल के विकार का कर्ता है और विकार का कर्ता कहना यह भी अशुद्ध निश्चय की बात है। स्वभावतः तो यह अकर्ता है, तो तीन बातों का निर्णय करें, यह जीव पुद्गल कर्म का कर्ता नहीं। पुद्गल कर्म में आए हुए फल का कर्ता नहीं किन्तु पुद्गल के ज्ञान का कर्ता है। पुद्गल के फल के ज्ञान का कर्ता है और कोई मोही जीव पुद्गल कर्म के फल में लिप्त होता है और अपने उपयोग को विकृत करता है तो वह उसका भी कर्ता हो गया। पर वस्तुतः आत्मा उन पुद्गल कर्मों का कर्ता नहीं है। पुद्गल फल का कर्ता नहीं तो फिर उपयोग के विकार का कर्त्तव्य हम जोड़ें भेदविज्ञान

से। भेदविज्ञान ही एक ऐसा सुधा अमृत है कि जिसका पान करलें तो सदा के लिए संकट छूटते हैं। इस दुनिया में जिस प्रसंग में मनुष्य रह रहा है—घर-घर में परिवार में कुटुम्ब में, समाज में, लोगों में रह रहा है, इस ओर जिसकी दृष्टि है, इस ओर जो ख्याल करता है वह कीचड़ में फंस रहा है, उसे सन्तोष नहीं मिलता है और जो सब में रहे तो और जंगल में जाकर अकेला रह जाए तो, जो अपने उपयोग को एकान्त में रख लेता है अर्थात् एक निज आत्म तत्व में ही अपना अभ्यास बनाता है, ऐसे अपने उपयोग का एकान्तधाम बना लेता है, निर्जन विविक्त ऐसा अपने उपयोग को जो कोई बना ले, चाहे घर में बैठकर बना ले, बना सकता है, शान्ति पा लेगा, देखो आप करें तत्व ज्ञान। कैसे सम्यक् बोध हो? कैसे समीचीन तत्व ज्ञान की बात जगे? अभ्यास करें इसका। अब तत्वज्ञान की बात तो कुछ भी मन में लावें नहीं और घर छोड़कर जंगल चले गए तो क्या लाभ होगा? जैसे पुष्पडाल की कथा है, वे घर छोड़कर चले गए पर उन्हें अपनी कानी स्त्री का ख्याल रहा और मानो कोई सद्गृहस्थ है ज्ञानी गृहस्थ, घर में रह रहा तो संग के मध्य उसे आसक्ति नहीं होती। जो चीज पास में हो उसका फिर ज्यादा ख्याल नहीं होता है। वहाँ आपको ऐसे मौके मिलेंगे कि जरा अपनी भी दृष्टि बना लेंगे, परिवार के बीच रहकर भी भेदविज्ञान में कुशल बन सकेंगे। चाहिए दृष्टि, चाहिए एक लक्ष्य। इस लक्ष्य को प्राप्त करें और अपना जीवन सफल करें।

सम्यग्दर्शन के स्वरूप का शब्दों में दिग्दर्शन एवं सम्यग्दर्शन के गतिपथ की सफाई—सम्यग्दर्शन में दो शब्द हैं (१) सम्यक् (२) दर्शनासम्यक् का अर्थ है प्रशस्त, भला, उत्तम, तो सम्यग्दर्शन का अर्थ है कि सम्यक् में, सम्यक् के द्वारा, सम्यक् के लिए ही सम्यक् निरखना इसे कहते हैं सम्यग्दर्शन। सम्यक् में सम्यक् है यह स्वयं सहज स्वभावी आत्मा इस आत्मा में सम्यक् के द्वारा अर्थात् एक भक्ति परिणति के बल से, विशुद्धि के बल से सम्यक् के लिए अर्थात् एक सही शान्तिपूर्ण वर्तना रहने के लिए सम्यक् को निरखना अर्थात् जो सहज स्वभाव है उसको अनुभवना, निरखना सो सम्यग्दर्शन बहुत ही सरल सहज सीधी वस्तु है तत्व है, जिसमें दूसरे का लपेट नहीं, जिसमें दूसरे की परतन्त्रता नहीं, आधार भी स्वयं है, वर्तता भी स्वयं है, ऐसा अपने आप में सम्यक् स्वरूप का दर्शन है। अब बात एक सामने यह आती है कि सम्यग्दर्शन अब तक न था और अब हुआ है तो इसमें कोई कारण अवश्य होना चाहिए। जो अहेतुक होता है अनैमित्तिक होता वह अनादि से अनन्त काल तक वर्तता ही रहता है। पदार्थ में स्वयं ऐसी स्वच्छन्दता नहीं है कि वह अपने आप अपनी ही परिणति से, अपने ही स्वभाव से अपने ही निरपेक्षतया, जिस चाहे रूप परिणमें। उसे ऐसी जरूरत क्या पड़ी? अगर निरपेक्ष पदार्थ है, पर उपाधि रहित पदार्थ है तो वह एक समान ही बर्तेगा। जैसे कि धर्म द्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य, ये अनादि से अनन्त काल तक एक प्रकार से बर्तते चले जा रहे हैं, जीव और पुद्गल से जो विभिन्नता पाई जाती है उस दशा के लिए यह नहीं कहा जा सकता कि द्रव्य में इतनी पर्यायें बंधी है, क्रम से निकल रही है,

वे अपने स्वभाव से निकल रही हैं, और कोई कुछ चर्चा छेड़ दे, निमित्त की बात कहे तो यों कहा जाता कि जो सामने हाजिर हो, उसे निमित्त कहा है, यद्यपि एक ही वस्तु की दृष्टि में तथ्य तो यह है किन्तु एकान्त वाद में विकार स्वभाव बन जाएगा सो व्यवस्था इस प्रकार नहीं बनती। व्यवस्था यह है कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त का सन्निधान पाकर स्वयं अपनी परिणति से वह उपादान अपने में अपना प्रभाव उत्पन्न कर लेता है। जैसे मैं तख्त का निमित्त पाकर मैं अपनी शक्ति से, अपनी परिणति से अपने आप में अपना प्रभाव बनाकर बैठ गया, इसमें स्वतन्त्रता का कहाँ घात हुआ? स्वतन्त्रता का घात तो तब कहलाए जब निमित्त उपादान की परिणति करे। उपादान स्वयं परिणति न करे। मैं तो अपनी स्वतन्त्रता से अपने आप में ऐसा परिणमन करके बैठा, पर यह क्या गलत है कि इस तख्त का निमित्त पाकर बैठा? इसमें कौन सी बाधा है? निमित्त नैमित्तिक योग न हो तो विकार अवस्था कभी सम्भव ही नहीं हो सकती। निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी वस्तु में अपने आपकी स्वतन्त्रता है।

सर्व जीवों में सम्यक्त्व शक्ति का स्वभाव—यहाँ विचार यह किया जा रहा है कि सम्यग्दर्शन न था और अब हुआ तो कैसे हुआ? तो बताया गया कि दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशमका निमित्त पाकर यह जीव अपने आपकी स्वच्छता से, अपनी परिणति से अपने आप में सम्यक्त्व लाभ लेता है। अब एक बात और सामने आती है कि यह सम्यक्त्व लाभ किन जीवों को होता है? तो उत्तर सही है। निकट भव्यों को सम्यक्त्व लाभ होता है। दूर भव्यों को भी होता हैं, पर उनका समय अधिक है, जब वे सम्यक्त्व की पात्रता पाएंगे। तो निकट भव्यों को ही सम्यक्त्व लाभ होता है, दर्शनमोह का विनाश होता है, इसका कारण क्या है ? अन्य जीवों को क्यों नहीं होता जो कि निकट भव्य नहीं हैं, उसके अन्तरंग संभव नहीं, दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम संभव नहीं। अतएव जो निकट भव्य हैं उनके दर्शन मोह का प्रतिपक्षी परिणाम, विशुद्ध परिणाम उत्पन्न होते हैं। निकट भव्यों के अतिरिक्त और भी भव्य हैं, उनके भी होता है, पर बहुत समय के बाद होता है। उनके अतिरिक्त एक दूरातिदूर भव्य हैं, जिनका नाम भव्य तो है पर उन्हें सम्यक्त्व लाभ कभी न होगा, मोक्षलाभ कभी न होगा, चौथे कहलाते हैं अभव्य, जिनमें सम्यक्त्व लाभ की और मोक्षलाभ की योग्यता ही नहीं है। इतना होने पर भी सब जीवों में सम्यक्त्वगुण चारित्र गुण, आनन्द गुण सब एक समय से बर्त रहे हैं। कितनी ही विलक्षणता है कि जैसे भव्यों में सम्यक्त्व गुण है, शक्ति है उसी प्रकार की अभव्य में भी है, मगर उस शक्ति के व्यक्त होने की योग्यता नहीं है। सम्यक्त्व की शक्ति नहीं है। ऐसा मत कहो। अगर सम्यक्त्व की शक्ति नहीं है तो दर्शन मोहनीय कर्म के आने की जरूरत ही क्या पड़ी? केवलज्ञान की शक्ति नहीं है अभव्य में तो फिर केवलज्ञानावरण का क्या अर्थ रहा, उसके मानने की क्या आवश्यकता हुई? केवलज्ञानावरण तो उसे ही कहते हैं कि जिसके होने पर केवलज्ञान प्रकट न हो। तो केवलज्ञान की शक्ति तो है लेकिन अभव्य जीव में शक्ति की व्यक्ति की योग्यता नहीं है।

एक दृष्टान्त लो जैसे एक साध्वी सुशील महिला एक सुशील विधवा व एक बन्ध्या। सुशील महिला में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति है और पुत्र उत्पन्न होता है, जैसे कि भव्य जीवों में सम्यक्त्व शक्ति है और उसकी व्यक्ति होती है। अब सुशील विधवा की बात देखो—जैसे दूरातिदूर भव्य, उन में सम्यक्त्व प्रकट करने की शक्ति है, मगर सम्यक्त्व कभी प्रकट होता ही नहीं, जैसे कि सुशील विधवा में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति है मगर वह तो सुशील है, सदाचारिणी है। उसके जीवन में कभी पुत्र उत्पन्न होगा नहीं मगर पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति की व्यक्ति की योग्यता है कि नहीं? है, और बंध्या में पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति तो है मगर उस शक्ति की व्यक्ति की योग्यता नहीं है। यहाँ आप जरा सोचिए। आप कहेंगे कि बंध्या में तो पुत्र उत्पन्न करने की शक्ति ही नहीं है सो बात गलत है। अगर शक्ति न होती तो वह स्त्री ही न बनती। स्त्री है, पुत्र उत्पन्न करने की उसमें शक्ति है मगर उस शक्ति के व्यक्त करने की उसमें योग्यता नहीं है। यह बात कुछ गहराई से समझने पर समझ में आएगी। इसी तरह अभव्य जीव में भी केवलज्ञान की, सम्यक्त्व की शक्ति है मगर उस शक्ति के व्यक्त करने की योग्यता नहीं हो सकती। तो यों यहाँ तक यह बात सिद्ध की गयी कि दर्शनमोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम निमित्त है, और सम्यग्दर्शन उस जीव को अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण पूर्वक अपने उपादान से प्रकट होता है।

निमित्त नैमित्तिक संबंध और वस्तुस्वातन्त्र्य का संगम—देखो निमित्त और उपादान के बारे में यह जिज्ञासा बनी है कि इसमें तथ्य कहाँ है? निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है या नहीं? निमित्त उपादान में परिणति कराता है या नहीं या उपादान स्वयं निरपेक्ष परिणति करता है। कुछ ऐसी जिज्ञासाएं लोगों को बनी रहती हैं। इस विषय में तथ्य है कि जैसे अध्यात्म सूत्र के एक सूत्र में है कि **"निमित्तं प्राप्योपादानं स्वप्रभाववत्"** अर्थात् निमित्त को पाकर उपादान अपने प्रभाव वाला होता है। इन शब्दों में सब समाधान आ गए। निमित्त पाए बिना विकार भाव नहीं होता जिस पर भी निमित्त उपादान में विकार परिणति को नहीं करता। निमित्त अपने आपमें अपने ही विकार को करता है और उपादान अपने आपमें अपने ही विकार को करता है, पर जितने भी विकार होते हैं ये पर निमित्त का सन्निधान पाए बिना हो जाएं तो वे स्वभाव कहलाएंगे, विकार नहीं कहला सकते तो उस सम्बंध में इतना ही एक निश्चय है कि निमित्त के सन्निधान बिना विकार होता नहीं और निमित्त उपादान में विकार परिणति करता नहीं। उपादान ही विकार परिणति करता है अपने आपकी कारण शक्ति द्वारा, पर निमित्त सन्निधान बिना यह बात नहीं हो सकती। दृष्टान्त के लिए स्पष्ट उदाहरण ले लो। एक दर्पण के सामने हाथ किया तो दर्पणमें जो छाया आयी वह हाथ की छाया आयी। हाथ के सन्निधान न होने पर तो नहीं आ सकती, लेकिन हाथ ने कुछ दर्पण में छाया रूप परिणति की हो सो बात नहीं। हाथ जो कुछ कर सकेगा वह अपने आप में कर सकेगा। अपना रूप बदले, अपना रस बदले, अपना स्पर्श बदले, अपनी क्रिया करे, अपने में चेष्टा करे, जो हो सो

यहाँ होगा और दर्पण में छाया रूप परिणति होगी तो वह दर्पण की शक्ति से दर्पण की परिणति से ही होगी। मगर सामने बात तो स्पष्ट है कि हाथ का सन्निधान निमित्त पाकर दर्पण ने अपने में छाया परिणति की। अब इसमें समझे कि क्या, ये शब्द ठीक लग रहे कि दर्पण में जब छाया होने को हुई तो हाथ को हाजिर होना पड़ा? अरे यह सहज निमित्त नैमित्तिक योग है कि हाथ का सन्निधान पाए तो यह दर्पण छाया रूप परिणम जाए। अब इन शब्दों में कोई यह कहे कि तब तो दर्पण की परिणति परतंत्र हो गई। अरे वह स्वतंत्र है, पर स्वतंत्र का अर्थ है कि दर्पण में दर्पण की योग्यता से, दर्पण की परिणति से करण शक्ति से छाया हुई, पर उसमें यह अर्थ नहीं है कि वह परसन्निधान न हो तो भी वह उस रूप परिणमे। स्वतंत्र परिणति का अर्थ है कि अपनी ही शक्ति से अपने में परिणमन करे।

स्वभावदर्शन के लिए ही नयों की उपयोगिता—देखिए प्रयोजन की बात क्या है? जान लो सब बातें। अपने लिए लाखों और करोड़ों बातों में सार बात क्या है? स्वभावदर्शन। एक इस ही स्वभाव दर्शन के प्रयोग में लगे रहें। यह मानव जन्म बड़ी मुश्किल से प्राप्त हुआ है, यह रागद्वेष विकल्प विकार करने के लिए नहीं है, यहाँ जो कोई यह उपाय कर लेगा कि स्वभाव दर्शन, अपने में अपने स्वभाव की दृष्टि बना ले। वह कृतार्थ हो जावेगा। बस अपने को चाहिए स्वभाव दर्शन, क्योंकि स्वभाव की दृष्टि, स्वभाव के दर्शन, अपने सहज ज्ञानमात्र की रुचि, उसमें लीनता बिना शान्ति और मुक्ति हो नहीं सकती। एक यह अमिट निर्णय है। आपको स्वभावदर्शन चाहिए और स्वभाव दर्शन के लिए ही सारे प्रतिबोध बनाए गए। यह तो बड़े सुभीते की बात है प्रमाण से जानो, नय से जानो और फिर प्रमाण नय सबको छोड़कर एक निर्विकल्प प्रतिभास से जानो। देखो दोनों आँखे मूँद सोच कर दाहिनी आँख से हम देख सकते हैं नां? देख सकते हैं। दाहिनी आँख बन्द करके बांई आँख से भी देख सकते हैं नां? देख सकते हैं। दोनों आँखे खोलकर देखते हैं ना, देखते ही हैं, और दोनो आँखों को बन्द करके भी हम कुछ देखते हैं ना? देखते हैं। इसी तरह जानने के साधन हमारे चार हैं (१) निश्चयनय (२) व्यवहारनय (३) प्रमाण और (४) अनुभव। निश्चयनय को समझिए दाहिनी आँख, व्यवहारनय को समझिए बाई आँख, प्रमाण को समझिए दोनों आँखें और अनुभव समझिए नय और प्रमाण तीनों को बंद करके एक जो अन्तर्दशा है उसे। हम व्यवहारनय को गौण करके निश्चयनय से देखें तो देखते हैं ना? जानते हैं? अब आँखों को बन्द करके दाहिनी आँख से देखें और बीच में थोड़ा बन्द करे कराने में ही बांयी आँख से देखने का पौरुष करें तो वह अटपट लगता है। दाहिनी आँख से देखना चाहते हो तो बाँई आँख को पूरा बंद करके देखते रहो, क्या हानि है? निश्चयनय से आप वस्तु का स्वरूप जानना चाहते हैं तो व्यवहारनय को गौण करके देखते रहो। बन्द करके शब्द यों नहीं कह रहे कि संस्कार में, ज्ञान में अगर व्यवहारनय का विरोध है तो वह निपट अज्ञान है और उसमें कभी मुक्ति सम्भव नहीं है इसलिए व्यवहारनय को बन्द करके न कहना, किन्तु व्यवहारनय

को गौण करके कहना, क्योंकि प्रमाण से ग्रहण किए गए अर्थ में किसी एक दृष्टि से देखने को नय कहते हैं। प्रमाण से तो वह जाने और निश्चय व्यवहार दोनों नयों से ज्ञान होता है। पर प्रमाण से जान कर अब व्यवहार नयको गौण करके निश्चयनय से देखिए तो खूब देखिए, द्रव्य अपने में अपने द्वारा अपनी परिणति से परिणमता रहता है। यह बात सत्य है। इसमें किसी भी प्रकार का कोई विवाद नहीं है। अच्छा अब व्यवहारनय से देखिए, निश्चयनय को गौण कर लीजिए। निश्चयनय को बंद करके मत देखिए यदि निश्चयनय को बंद करके व्यवहारनय से देखा तो मिथ्या हो जाएगा, क्योंकि प्रमाण से ज्ञान किए गए पदार्थ में ही किसी एक दृष्टि को ग्रहण करने को नय कहते हैं। निश्चयनय की बात जानिए, संस्कार में रखा समझिए। अब कुछ परिस्थिति है, प्रयोजन है, अतः व्यवहारनय से जाने। अब इन प्रसंग में निश्चयनय को गौण करके व्यवहार नय से देख रहे तो यों देखा जाएगा कि ये विकार कर्म विपाक का निमित्त पाकर आत्मा में उत्पन्न हुए हैं। व्यवहारनय यह न कहेगा कि यह राग अनुभव, यह चैतन्यराग कर्म में हुआ है। व्यवहारनय यों न कहेगा कि कर्म ने चेतन में राग उत्पन्न किया है। जब किसी-किसी प्रसंग में कर्ता कर्म की बात व्यवहारनयकी की गई हो कि व्यवहारनय का कर्म जीव में राग कराना है तो वह व्यवहारनय नहीं है किन्तु उपचार से कहा हुआ है उपचरित व्यवहार हो तो उपचार मिथ्या हुआ। वह नय से परे की बात है, पर नयको मिथ्या नहीं बोलते। सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश हैं निश्चयनय और व्यवहारनय, पर व्यवहारनय कर्ता कर्म की बात नहीं कहता। कर्त्ता कर्म की बात एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य में उपचार से कही है और ज्यों ही व्यवहार शब्द से कहा हो पर उसमें निर्णय रखना कि यह व्यवहार की भाषा नहीं है, किन्तु उपचार को साथ लेकर व्यवहार की भाषा बनाई गई है। उपचार मिथ्या है, व्यवहार मिथ्या नहीं। व्यवहारनय ने तो एक घटना बता दी। कर्म विपाक का निमित्त पाकर जीव में राग परिणति हुई है, बात भी बहुत समझने की है और बारबार यदि उस पर उपयोग लगाएं तो भेद विज्ञान की बड़ी दृढ़ता आएगी।

प्रकट भिन्न अचेतन परिग्रह से आत्मतत्त्व की विविक्तता—भैया जैसे सामने कोई रस्सी पड़ी है। उसमें साँप का भ्रम हो गया तो हम उसके पास जाने में डरते हैं। जरा हिम्मत बाँधकर चलें यह सोचकर कि देखें तो सही कि यह साँप है कैसा? जब कुछ आगे बढ़े तो सोचा कि अरे इसमें तो जरा भी चल विचल नहीं हो रहा। कुछ और पास गए तो देखा कि अरे यह तो कोरी रस्सी है। जब उस रस्सी को रस्सी समझ लिया तो फिर क्या भ्रम में पड़ता है? क्या वह पहले जैसा डरता है? अरे अब उसके ज्ञान को कोई बदल नहीं सकता। इसी तरह भेद विज्ञान जो बात निरखता है उस बात को अपने ऊपर घटाकर समझो, यदि तथ्य निरख में आ जाएगा तो उसे स्पष्ट हो जाएगा कि भेदविज्ञान की कितनी उत्कृष्ट उपयोगिता है। हमें भेदविज्ञान करना है। किसमें भेदविज्ञान करना है? दो बातें होंगी तो, तब ही तो भेद विज्ञान की बात कहेंगे। यह इससे अलग है, यह जुदा है, यह जुदा है। दो को

समझना है ना, तो दो को समझिए, स्व और परको, स्व तो एक है पर अनेक हैं। पर में किस-किस को समझना है? चलो पहले तो यही एक मोटी बात है कि धन वैभव से अपने को जुदा समझें। जुदा हर एक कोई समझ रहा है, पर भीतर में मोह की प्रेरणा ऐसी है कि बाहर में ही पड़े रहते हैं। किसको समझ नहीं है कि मकान मेरे से अलग है। अज्ञानी भी जानता है कि मकान मेरे से अलग हैं। मैं इतना हूँ। भले ही शरीर तक को समझता कि यह मैं हूँ और मेरे से यह मकान वैभव अलग है फिर भी मोह की ऐसी प्रेरणा है कि अलग क्षेत्र में रहने वाले मकान आदि से भी इसका ऐसा लगाव है कि उसको वैराग्य नहीं जागता।

चेतन परिग्रह से आत्मतत्त्व की विविक्तता—अच्छा, अब अपने को कुटुम्ब से अलग निरखो। देखो अचेतन वैभव से चेतन परिग्रह के लगाव से उलझन अधिक बढ़ जाती है। अचेतन परिग्रह से चेतन परिग्रह जबरदस्त और कठिन है। कैसे कि अचेतन परिग्रह से हम राग करते हैं तो अचेतन की ओर से कोई ऐसी चेष्टा नहीं होती जो हमारा राग बढ़ाने का कारण बने। मकान तो जहाँ खड़ा है सो खड़ा है, चीज तो जहाँ रखी है सो रखी है, इसकी ओर से कोई चेष्टा ऐसी नहीं होती कि जो हमारा राग बढ़ाने का आश्रय बने! यह तो हम अकेले ही अपनी ओर से साधनों में राग करते हैं। कर्म इस घटना में अन्तर निमित्त है उसकी बात नहीं टाल रहे! उपयोग के विकार के आश्रयभूत के लिए बात कह रहे हैं कि हम अपनी ओर से ही इन अचेतन पदार्थों में राग लपेटे हुए हैं मगर चेतन परिग्रह वे छोटे-छोटे बच्चे और नई-नई स्त्री उससे जब बात करता है, प्रेम करता है तो वह पुरुष तो उसकी ओर से भी राग की प्रेरणा पाता है। राग भरे शब्द स्त्री आदि के निकलते, हाव भाव निकलते, कटाक्ष होते, बच्चे तोतले बोल बोलते, उनको सुन-सुनकर इस जीव में राग बढ़ने का एक मौका होता है। तो अचेतन परिग्रह से चेतन परिग्रह कठिन हैं जैसे कुपूत से सुपूत ज्यादा कठिन होता है। अगर पुत्र कुपूत हो गया तो वह उतना कष्टकारक नहीं जितना कि सुपूत। पिता को बर्बाद करने वाला, कठिन लगने वाला, विपत्ति में डालने वाला है वह सुपूत। अगर पुत्र कुपूत हो गया तो उससे आप कुछ अपना मतलब ही नहीं रखते। उसे चाहे जहाँ जो कुछ हो, बल्कि आप अखबारों में भी निकाल देते है कि अब इस पुत्र से मेरा कुछ सम्बंध नहीं। लो सारा झगड़ा मिट गया, और अगर पुत्र सुपूत हुआ तो उसके पीछे जीवन भर आपको बड़ा परिश्रम करना पड़ेगा, उसका लक्ष्य रखकर—मैं इसे इतना धन कमा करदें जाऊँ कि यह जिन्दगी भर सुखी रहे। तो देखिए जिन्दगी भर मरे उस सुपूत की वजह से। यों समझिए कि अचेतन से चेतन परिग्रह कठिन है,

विकार निर्माण विधि—निमित्त नैमित्तिक भाव के प्रसंग में यह भी बात खास करके समझ लीजिए कि जिस बात की चर्चा बहुत कम है। प्रसिद्धि नहीं है या कोई लोग जानते तो भी नहीं बनाता चाहते। जीव के विकार होने में, रागद्वेष होने में तीन प्रसंग होते हैं

(१) निमित्त, (२) उपादान और (३) आश्रयभूत। आश्रयभूत की बात लोग कोई जानकर नहीं कहते, अथवा उसकी प्रसिद्धि नहीं है। पर तीनों बातें समझने से एक बहुत बड़ी दिशा मिलेगी। रागभाव हुआ तो उसमें निमित्त कारण, उपादान कारण और आश्रयभूत कारण, ये तीन प्रसंग आते हैं। क्या? राग प्रकृति का उदय, यह तो है निमित्त कारण और यह जीव रागपरिणमन जो कर रहा है वह है उपादान कारण, मगर राग परिणाम व्यक्त बनता तभी है ना कि जब किसी की ओर लक्ष्य हो, किसी का ख्याल हो, किसी पर राग हो रहा हो। तो जिस वस्तु को ख्याल में लाकर राग करते-मानो पुत्र को ख्याल में लाकर राग करते तो पुत्र हुआ आश्रय भूत। आश्रयभूत के साथ नैमित्तिक कार्य होने का नियम नहीं है, विभाव हो अथवा न भी हो। जैसे—मुनि महाराज को आश्रयभूत नहीं बन पाता वही पुत्र जो कि पहले गृहस्थावस्था में आश्रयभूत था। तो आश्रयभूत कारण में कोई कार्य की नियामकता नहीं है। पर निमित्त कारण में नैमित्तिक कार्य होने का नियम है। इसका अविनाभाव सम्बंध है। निमित्त न होने पर विकार नहीं होता, निमित्त के होने पर ही विकार हो सकता है या पुत्र के न होने पर राग नहीं हो सकता है। दोनों तरह से नियम नहीं है। देखिए आश्रयभूत कारण में नियामकता नहीं है, इससे कभी यह शंका न करें कि देखो यह जीव समवशरण में गया और सम्यक्त्व न हुआ। तो निमित्त कारण कुछ नहीं है, उसे उलाहना मत दो, क्योंकि समवशरण में जाना सम्यक्त्व का निमित्त कारण नहीं, भगवान के दर्शन करना सम्यक्त्व का निमित्त कारण नहीं। वंदना जाति स्मरण या दूसरे से उपदेश सुनना सम्यक्त्व का निमित्त कारण नहीं, ये सब आश्रयभूत कारण हैं। निमित्त कारण तो वह है जिसका कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक सम्बन्ध हो, हाँ परस्पर निमित्त उपादान में अत्यन्ताभाव तो जरूर है। अध्यात्मसूत्र के एक सूत्र में आया—**अत्यन्ताभाववदन्यव्यतिरेक सम्बन्ध वच्छिन्नानि-निमित्तानि।।** ये सब बातें समझने का प्रयोजन क्या रहा? स्वभावदर्शन का लाभ स्वभाव की ओर आना। इसी के लिए सारे प्रयास हैं।

चारों अनुयोगों की स्वभावदर्शन प्रयोजकता:—प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग, इन सब शास्त्रों का प्रयोजन यह है कि यह पुरुष स्वभावदृष्टि की ओर लगे। जब कथा में पढ़ते हैं तो वहाँ कुछ उत्साह जागता है ना कुछ वैराग्य की बात आती है ना, कुछ उमंग उठती है ना, जब चरणानुयोग के शास्त्र पढ़ते हैं तो इसमें यह बात सीखते हैं कि देखो अध्यवसान परिणाम निराश्रय नहीं होते। समयसार में स्पष्ट घोषणा की है कि बाह्य वस्तु का आश्रय किए बिना रागादिक भाव अपना स्वरूप नहीं बना पाते। चरणानुयोग हमें यह शिक्षा देता है कि तुम अध्यवसान के आश्रयभूत पदार्थों का परित्याग करो। यह ही तो चरणानुयोग कहलाता है। अब उसके साथ कोई यदि बाहर-बाहर की दृष्टि रमाकर रहजाए कि बाहरी चीज का त्याग करें तो काम न चलेगा। यह बाह्य पदार्थों का त्याग किसलिए किया कि मेरे में रागभाव न हो। अब बाह्य पदार्थों का हम ख्याल कर करके राग

कर रहे और बाह्य पदार्थों को छोड़े रहें तो यह करने की बात नहीं है। ख्याल ही मत करें उसका। यह तो है छोड़े रहना। बाहर से छोड़ दिया, ख्याल में नहीं छोड़ा तो वह छोड़ना नहीं कहलाया। मगर एक अवसर जबरदस्ती में भी आ सकता कि मानों छोड़ दिया और ख्याल में आता रहता है; कभी ख्याल मिट भी जाएगा। जैसे कोई पुरुष घर में मर जाता है तो वह उन घर वालों से छूट ही तो जाता है मगर उसका कुछ दिनों तक ख्याल बना रहता है। तो ऐसे ही विषयों का त्याग भी करें, कषायें भी मंद करें तो न भी हो अधिक ज्ञान तो भी वह उससे कुछ न कुछ लाभ उठा लेता है। व्रत, तप, संयम आदि हानिकारक नहीं है, पर हानिकारक हैं ये तीव्र कषायें। कषायों की तीव्रता में आकर व्रत करे कोई तो वह हानिकारक है, मंदकषाय करे सम्यक्ज्ञान न जगे तो भी मंद कषाय से व्रत तप करे तो मोक्षमार्ग का लाभ तो नही होगा मगर हाँ कुछ लाभ है। जब तक रहेगा तब तक उस की दशा ठीक होती रहेगी। मोक्षमार्ग का लाभ होता है सम्यग्दर्शन में। तो उस स्वभाव दृष्टि के लिए ये सारे उपाय किए जाए। करणानुयोग में भी जब गुणस्थानों में होने की दशा का वर्णन करते हैं, जानते हैं और उसमें उपयोग लगाते हैं तो एक तो उपयोग लगने से बाह्य विषय कषायों का उपयोग दूर हुआ और फिर उसमें गुरुजनों की एक ज्ञानशीलता उनकी सम्यग्दृष्टिता, उनका एक भाव यह भी रचयिता का अनुमान में आता है और परिस्थितियाँ भी जो हैं वे भी मोक्षमार्ग की प्रेरक होती हैं, सभी शास्त्र स्वभावदर्शन के अनुरूप भाव कराने वाले हैं, उस स्वभावदर्शन की ही बात यहाँ देख लीजिए।

आश्रयभूतकारण पर कारणत्व का उपचार:—ये आश्रयभूत पदार्थ मेरे में राग नहीं कराते, ये राग के कारण भी हैं, किन्तु मैं ही विकल्प करके इनका ख्याल करते हुए मैं ही इन्हें निमित्त बनाता हूँ। जैसे कहते हैं ना कि जब यह राग करे तो पर पदार्थ निमित्त बन जाता है। उस पर निमित्त का उपचार होता है यह बात आश्रय भूत के साथ ही लगावें कि जब यह जीव राग करता है, जब यह राग करने को होता है तो जो हाजिर हो वह कारण बन जाता है। यह बात आश्रयभूत के साथ लगती है। और चूँकि जीव को आश्रयभूत पदार्थ सामने दीखा करता है तो उनके साथ जो बात होती है उसी बात का और जगह जिक्र कर देते हैं। करें क्या? जिसके सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं हैं उसके बारे में जो एक रूढ़ि चलती आयी है उस तरह की बात लगा देते हैं। जैसे जब पहले ट्रेन निकली थी। लोगों को पता पड़ गया कि भाई अमुक दिन रेलगाड़ी निकलेगी तो गाँव के देहात के आदमी बहुत से जुड़कर आये होंगे तो वे देखकर यही कहते होंगें कि इस रेल में जो आगे काला-काला है उसमें काली देवी रहती है वह इसी गाड़ी को चलाती रहती है। जब समझ में ही न आया कि ऐसा निमित्त नैमित्तक योग है कि जिससे वह चल रही है तो वे उसमें काली देवी की कल्पना कर बैठे, तो इसी तरह हम जो आश्रयभूत पदार्थ के साथ जो बात देखते हैं, क्या कि जब जीव राग करने को होता है तो बाहरी पदार्थ जो हाजिर हुआ वह निमित्त बन जाता है।

यह बात आश्रयभूत पदार्थ के साथ फिट बैठती है। जब इस जीव को क्रोध प्रकृति होती है तो सामने नौकर आये तो उसे ही देखकर कोई न कोई बात उमड़ जाती है। कभी-कभी प्रयोजनवश किसी पर ख्याल करके रोना उमड़ जावे और कभी बिना प्रयोजन के भी उमड़ जाता है तो यह आश्रयभूत कारण के साथ तो फिट बैठता हैं, पर निमित्तकारण के साथ फिट नहीं बैठता हैं, कि जब जीव में राग की परिणति आने को होती तो उस समय निमित्त को हाजिर होना पड़ता। यह निमित्त के साथ नहीं है, किन्तु ऐसा सहज योग है निमित्त का सन्निधान पाकर योग्य उपादान अपनी परिणभन शक्ति से विकार करता है।

जीव विकार में कर्म दशा के निमित्तत्वका दिग्दर्शन—सत्ता में पड़े हैं कर्म, और उनकी स्थिति पड़ी थी उनकी स्थिति जब पूरी होती है तो उदयकाल आता ही है अथवा किन्हीं विशुद्ध परिणामों से अथवा किन्हीं परिणामों से बाहर उदीरणा कर दी तो उदीरणा का भी भाव यही है कि उनका समय पूरा हो गया। उदीरणा में तो समय से पहले समय में पार कर देगा और उदय में अपने आप निश्चित समय में पार कर देने में आखिरी हुआ, तो स्थिति पार होते समय ही वे कर्मविपाक निमित्त हैं। उस निमित्त का सन्निधान पाकर चूँकि यह जीव उपयोग स्वरूप है तो इसमें उस कर्म का विपाक, कर्म की दशा, कर्म का उद्यम, कर्म का क्षोभ वह अनुभव करता है, और न उसे जीव करता, क्योंकि कर्म अपने परिणाम को भी नहीं जानता, अपने परिणाम के फल को नही जानता, अपने को नहीं जानता तो वे कर्म अपने आप में होने वाले राग का तो अनुभव क्या करे? मगर राग प्रकृति का उदय आने पर उसमें राग है। जैसे कपड़ा लाल है तो लाल है। कपड़ा अनुभव नहीं करता कि मैं लाल हूँ। उस कपड़े में लालिमा है और हमने उसकी लालिमा का अनुभव किया तो हमारे उपयोग में भी लालिमा आयी। अगर हमने लाल कपड़ा देखा तो कपड़े में भी लालिमा है ओर हमारे उपयोग में भी लालिमा है। कपड़े की लालिमा तो है अचेतन और उपयोग में जो लालिमा आयी वह है चेतन लालिमा। तो हम न तो इस कपड़े की लालिमा का अनुभव करते न कपड़ा अपनी लालिमा का अनुभव करता किन्तु उस लालिमा को विषय करके हमारे उपयोग में जो लालिमा का परिचय हुआ है उसके ज्ञान का हम अनुभव करते हैं। यह ही बात वहाँ रख लीजिए। **कर्म विपाक** हुआ, कर्म में क्षोभ हुआ, राग, क्रोध, मान, माया, लोभ हुए, बताते ना, मिथ्यात्व भी दो तरह का है, विषय भी दो तरह का है। इस कर्म की भी कुछ बात हुई जो कर्म में हुई। वह मेरे क्षेत्रावगाह में है ना, तो वह उपयोग से बाहर नहीं जा सकता। उपयोग में छलका और तुरन्त यह मोही जीव उसे अपना लेता है। यह दशा बनती है। तो यहाँ यह जानना कि कर्म ने रागभाव नहीं किया। जीव का राग कर्म ने नहीं किया, कर्म का राग कर्म ने किया जीव का राग जीव ने किया, मगर ऐसा सहज योग है कि कर्म के राग का निमित्त पाकर इस जीव ने अपने में राग परिणति की। निमित्त नैमित्तिक योग भी है और वस्तु स्वातंत्र्य भी है कितना एक स्पष्ट वर्णन है, कहीं विवाद का काम नहीं एक तो यह बात। दूसरी बात

जो कुछ थोड़ा अपने प्रवाह में परम्परा में कुछ थोड़ा बहुत एक अटकाव सा हो गया वह एक अटकाव हो गया मुनियों को मानने ना मानने का। पर जरा गम्भीरता से तो सोचिए मुनि क्या है? एक साधक यानी आत्मशुद्धि के लिए जिसने अपनी तैयारी की हो उसे कहते हैं साधक-साधक निर्दोष हो सकता है क्या? अगर निर्दोष है तो साधक क्यों बन रहे हैं। जितने साधक हैं वे साधना करेंगे तो उनमें कुछ दोष भी रहेंगे और उन दोषों को दूर करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहेंगे। यथार्थता ध्यान में रखिए। व्यर्थ विकल्प करके अपना समय खोटा न कीजिए।

ज्ञान अपरिमित लोक व अनन्तकाल के बीच थोड़े से क्षेत्र व काल में पर्याय का यश चाहने का दुष्परिणाम—जगत की कितनी ही बातों से परिचय कर लेना, बहुत सी बातों को समझ लेना और एक अपने आत्मा की बात की सुध न होना, ऐसी अगर स्थिति है तो चाहे वह जगत का बड़ा से बड़ा वैज्ञानिक हो जाए तो भी वह शान्ति का पात्र नहीं है, और कोई पुरुष बहुत-बहुत बातें नहीं भी जान पाता, नहीं बोल पाता और एक अपने आपके अन्तस्तत्त्व की परख कर लेता है जो बहुत सुगम है, स्वाधीन है, सहज है, कठिन नहीं, एक दृष्टि द्वारा साध्य है तो आत्मतत्त्व की परखकर लेने वाला पुरुष ज्ञानी है, शान्ति का पात्र है, जन्म मरण की विपदा से दूर हो जाएगा। तो उस अन्तस्तत्त्व की परख करने के लिए दो बातों का सही निर्णय करना बहुत आवश्यक है। (१) वस्तु स्वातंत्र्य और (२) निमित्त नैमित्तिक भाव। यह बात केवल सुन लेने की नहीं है, बोलने मात्र की नहीं हैं, किन्तु अपने आपमें घटित करके समझने की बात है। जीव का धन केवल ज्ञान ही है, दूसरा कुछ नहीं। वे लोग तो गरीब है, दीन हीन हैं जो बाह्य वैभव में, धन में दृष्टि लगाये हैं और अपना बड़प्पन समझते हैं वे तो संसारसंतति के बढ़ाने का ही प्रयत्न कर रहे हैं। है उनमें भी परमात्मस्वरूप, पर अपने उस स्वरूप की दृष्टि न करने से उनका जीवन व्यर्थ ही जा रहा है। मोटे रूप से सोचो कि यह सारा लोक कितना बड़ा है? जिसे बतलाया है ३४३ घनराजू प्रमाण। उसके सामने यह परिचय वाला क्षेत्र कितना है। जैसे समुद्र के आगे एक बिन्दु। इतनी बिन्दु भर जगह में पर्याय बुद्धि के कारण नामवरी की बात कोई सोचे तो वह मूढ़ता है और कितनी हानि कर रहा है। काल कितना गुजर गया ? अनन्तकाल। आगे कितना गुजरेगा? अनन्तकाल। उस समस्त काल के आगे आज की पायी हुई यह १००—५० वर्ष की जिन्दगी या जिसने हजारों, लाखों, करोड़ों वर्ष की जिन्दगी पायी हो, सागर पर्यन्त की भी जिन्दगी क्यों न पायी हो, पर वह एक बूँद माफिक भी नहीं है। जैसे समुद्र के आगे एक बूँद की गिनती है उतनी भी गिनती नही है, क्योंकि काल अनन्त है। तो जरा से जीवन के लिए अपने को महान समझना, दूसरों को तुच्छ समझना पर्याय बुद्धि करना, पाए हुए समागमों में मोह ममता करके इस जीवन को गुजार देना यह सब मूढ़ता है और यह इतना बड़ा अपराध है कि जिसके फल में कीड़ा मकोड़ा पेड़ पौधा आदि होकर नाना यातनाएं सहनी पड़ेंगी।

अनन्तानन्त जीवों में से न कुछ सँख्या के कुछ जीवों में यश का विकल्प बनाकर अपने को बर्बाद करने का दुष्परिणाम—जगत में जीव कितने हैं? अनन्तानन्त। यह मनुष्य मोहवश ऐसा चाहता है कि लोग मेरी तारीफ करें। कितने लोग तारीफ करें? क्या इस गाँव के सभी लोग तारीफ करने लगें। . . . . अरे गाँव के ही क्या, इस देश के भी सभी लोग तारीफ करें। मगर ऐसा कभी हो सकता है क्या? प्रथम तो व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा कोई मनुष्य न मिलेगा कि जिसकी सभी मनुष्य तारीफ करते हों। कुछ मान भी लो तो जगत के अनन्त जीवों पर दृष्टि दें तो उन अनन्त जीवों के समक्ष यह कितनी सी सँख्या है? ये कुछ करोड़ मनुष्य उन अनन्त जीवों के समक्ष कुछ भी तो गिनती नहीं रखते। कितने जीव हैं संसार में . . . . अनन्तानन्त। जिसका अनुमान यों कर सकते कि सबसे कम जीव तो मनुष्य हैं। दोनों तरह के मनुष्यों को जोड़ लें तो भी सबसे कम हैं दो तरह के मनुष्य कौन से? एक तो जो शरीरधारी ऐसे दिखने वाले हैं, जिन्हें पर्याप्त मनुष्य कहते हैं, ये कुछ सँख्या में ही हैं, पर असँख्यात मनुष्य वे हैं जो निगोद की तरह यातनाएं भोगते एक २ स्वांस में १८ बार जन्म-मरण करते और काँख आदि से पैदा होते रहते, वे सम्मूर्च्छन हैं, उन सब मनुष्यों को भी जोड़ लो, तो सब गतियों से कम मनुष्य हैं। उनसे अनगिनत गुने हैं नरक गति के जीव। उनसे अनगिनत गुने हैं देवगति के जीव और देवों से अनगिनत गुने हैं त्रस जीव और त्रस जीवों से अनगिनत गुने हैं पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति और उनसे अनन्त गुने हैं सिद्ध भगवान और सिद्ध भगवान से भी अनन्त गुने जीव हैं निगोद जिनके बारे में बताया है कि अब तक जितने सिद्ध हुए हैं वे सब सिद्ध अभव्यों से तो अनन्त गुने हैं मगर निगोद से अनन्त वें भाग हैं, और इतने अनन्तवें भाग हैं कि अनन्त काल के बाद भी यह ही कहा जाएगा कि अब तक जितने सिद्ध हुए हैं वे निगाद के अनन्तवें भाग हैं। तो जगत के जीवों की सँख्या समझलो, और यहाँ सन्तोष करो कि अगर कुछ हजार मनुष्यों ने मुझे बुरा कहा तो कहने दो, उससे बुरा क्या हुआ? कुछ हजार लोगों ने भला कह दिया तो उससे भला क्या हुआ। मेरा बड़प्पन यदि भगवान के ज्ञान में झलक रहा हो तो वह तो मेरी सच्ची बात है। बाकी यहाँ का क्या? तो ऐसे संसार की बात समझकर यहाँ मुग्ध न होना और जैसे अपने आत्मा का हित हो उस प्रकार का ज्ञान बनाना, चिन्तन करना, मनन करना यह ही एक इस विनश्वर जीवन का लाभ है।

वस्तु स्वातन्त्र्य व निमित्त नैमित्तिक भाव की समझ में शौर्य और स्वच्छता का अभ्युदय—दो बातें, निमित्त नैमित्तिक-भाव वस्तु-स्वातंत्र्य निर्णय में आए तो अपना आत्मतत्त्व, अपना सहज स्वरूप और जगत का वास्तविक रूप दृष्टि में सामने रह सकता है। वस्तु स्वातंत्र्य तो यही है कि प्रत्येक पदार्थ है और प्रति समय उत्पादव्यय शील है और उसके ही उपादान में, उसके स्वरूप में, उसके ही परिणमन में उत्पादव्यय आता है। उस उत्पादव्यय को दूसरा पदार्थ नहीं करता। एक हाथ दूसरे हाथ को मरोड़ दे, इतने पर भी उस एक हाथ

ने अपने में ही कुछ काम किया। पर उस मरोड़े हुए दूसरे हाथ में कोई क्रिया नहीं की। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि ऐसा ही वह एक हाथ के बीच फंसा है कि यह हाथ जैसी क्रिया करे वैसा इस उंगली को भी करना पड़ा। इतना होने पर भी मरोड़ने वाली उंगली अपनी क्रिया से ही मरोड़ी गई है। अनेक जगह आप यही बात समझें तो उससे मुझे बल क्या मिलता कि जब अपना उपयोग भाव और कर्मोदय इन दो का निर्णय करने चलते हैं तो यह स्पष्ट जाहिर होता कि कर्मोदय का निमित्त सन्निधान होने पर जीव ने रागद्वेष विकार रूप परिणमन किया। इस प्रसंग में अगर वस्तु स्वातन्त्र्य न मानें तो मैं उन्नति नहीं कर सकता हूँ और निमित्त नैमित्तिक भाव न मानूं, तो मैं उन्नति नहीं कर सकता हूँ। सो कैसे? अगर वस्तु स्वातन्त्र्य नहीं मानते, जिसका अर्थ यह हुआ कि कर्मोदय ने मेरे को रागी बना दिया। जैसा कि अनेक लोग कहते ना कि ईश्वर उस जीव को सुख-दुःख देता है तो ऐसा समझने वाला मनुष्य इतना कायर बनता है कि उसके मन में यह है कि ईश्वर जो करता है सो होगा, मैं कुछ कर ही नहीं सकता। मेरी कुछ सामर्थ्य ही नहीं, अथवा वह स्वच्छंद हो जाएगा तो इसी तरह यदि यह बात किसी के चित्त में बसी हो कि कर्मोदय ने मेरे को राजी किया, अब मैं क्या कर सकता हूँ? वे कर्म जब कभी अवसर दें तो मेरा उत्थान है मैं कुछ कर ही नहीं सकता। जबकि बात इसके विपरीत है। कर्मोदय कितना ही आए वह अपने आपके प्रदेशों में ही अपना अनुभाग, अपना विस्फोट करता है, इसके आगे उसका काम नहीं। जैसे दर्पण के आगे लाल चीज आई तो लाल कपड़ा अपने में ही लाल रूप परिणमता है, उससे बाहर कपड़े का कोई काम नहीं। हाँ निमित्त नैमित्तिक योग है कि ऐसी घटना में दर्पण भी लाल प्रतिबिम्बित हो जाता है, हाँ लेकिन कर्ता कर्म भाव नहीं है। यह तो ज्ञानी पुरुष है, यह तो ज्ञान बल बना सकता है। दर्पण तो ज्ञानबल नहीं बनाता। तो कर्मोदय होने पर यह जीव अपने ही उत्पादव्यय से अपना उत्पाद व्यय करता है। कर्मोदय ने मेरे में राग नहीं किया, ऐसे वस्तु स्वातन्त्र्य की परख से यह अपने में शौर्य प्रकट करता है कि मैं क्यों अज्ञानी बनकर दुःखी हो रहा हूँ। अज्ञान छोड़ूँ तो शान्त होऊँ वस्तुस्वातंत्र्य न मानने पर अपने को हानि ही है। इसी प्रकार निमित्त नैमित्तिक योग न मानने पर भी हानि है। बात यह है कि कर्मोदय का सन्निधान होने पर यह मैं विकार रूप परिणम गया। अब निमित्त नैमित्तिक योग माने नहीं और यह ही कहे कि मैं अपनी योग्यता से रागी बना, दूसरों का इसमें क्या ? यद्यपि राग परिणमन मेरा ही है परिणमन, लेकिन मैं अपनी ही सामर्थ्य से, अपनी ही योग्यता से अपने ही आप रागी बन गया यदि यह सोच बैठे कोई कि मेरे में मेरे ही कारण से राग हुआ, निमित्त की तो लोग तंग करते सो लेना पड़ता, ऐसे सोचने में राग स्वभाव बन गया, अब उस राग को हटाने का क्या उपाय सोचूँ निमित्त नैमित्तिक योग मानने पर तो यह ज्ञान प्रकाश रहता है कि राग मेरी चीज नहीं है, यह तो कर्म की लीला है। यह मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो उपयोग मात्र हूँ। इस राग भाव से उपेक्षा करना है और अपने ज्ञान परिणमन को अपने

ही उपयोग वृत्ति को अपने में आत्मसात् करना है। तो स्वभाव दर्शन मिला ना उसे। वस्तु स्वातंत्र्य मानने से भी स्वभावदर्शन को प्रेरणा मिली। निमित्त नैमित्तिक भाव मानने पर स्वभावदर्शन की प्रेरणा मिली। तो ये दो निर्णय ऐसे अद्भुत निर्णय हैं कि जिनके पाए बिना कोई आत्मा मोक्षमार्ग में लग नहीं सकता।

वस्तु तथ्य निर्णीता की शान्ति पात्रता—जब वस्तु स्वातन्त्र्य और निमित्त नैमित्तिक योग ये दो वस्तुतथ्य निर्णय में आ जाते हैं तो स्वयं ही उसके बड़े प्रशमभाव, चारों कषायों की मंदता होती है, क्रोध नहीं होता, घमंड नही होता, सरल रहता। किसी बाह्य पदार्थ से लगाव न रखना, यह सहज ही उसमें प्रकट होता है। और चारित्र में उन्नति उसके फिर होने लगती है। कषायें दूर हों, यह ही चारित्र कहलाता है। तो ये दो निर्णय अनेकानेक ज्ञानाभ्यास करके करलें। और, वास्तविकता तो यह है कि गुरुचरण प्रसाद मिले बिना यह सँतापहारी, छाया प्राप्त नहीं होती। गृहस्थों को जिज्ञासुवों को गुरुचरण कहीं साक्षात् मिलें तो उनकी उपासना के प्रसाद से प्राप्त शुद्ध अन्तस्तत्त्व अनुशासन से यह आनन्द भरने वाली बात प्रकट होती है, और उसे पात्रता तब समझिए कि जब यह विभूति, यह अचेतन परिग्रह जड़ पदार्थ, ये सब यों मालूम होने लगेंगे कि मेरे आत्महित के लिए तो ये सब पूर्णतया बेकार हैं। आत्महित इनमें नहीं है। परिस्थिति वश इनमें रहना पड़ता है और हमें इनका संग्रह विग्रह रखना पड़ता है। यों पर से उपेक्षा हो, आत्मतत्व में रुचि हो, ज्ञानाभ्यास का प्रयत्न हो तो जीवन की सफलता है।

सम्यग्दर्शन की मधुराई—सम्यग्दर्शन शब्द सुनने में भी मधुर है और अर्थ भी मधुरही है और जब इस रूप उपयोग होता है तो उसकी मधुराई तो एक बहुत उत्तम है। जहाँ सम्यग्दर्शन है वहाँ अन्तरंग में आकुलता नहीं है। नारकी जीव भी जो सम्यग्दृष्टि है। बाहर में बहुत कष्ट सह रहे हैं एक नारकी दूसरे नारकी के तिल-तिल बराबर खण्ड कर डालता है। वहाँ की पृथ्वी के स्वयं कठिन दुःख हैं। भूख प्यास सर्दी गर्मी आदि की बहुत तेज बाधा है ऐसी बाधाओं में रहकर भी सम्यग्दृष्टि नारकी अन्तरंग में व्याकुलता नहीं करता। आकुलता तो होती है मगर भीतर में उसे आकुलता नहीं है वह स्वरूप ठीक-ठीक समझ रहा है मेरे आत्मा का स्वरूप यह उपयोग मात्र है। यह शुद्ध ज्ञानमात्र है। ये सब कुछ जो बीत रही हैं वे सब कर्म की दशाएं हैं। वे विपत्ति भी आए उससे भी बिगाड़ नहीं है जीव का, किन्तु मिथ्यात्व हो तो उससे बिगाड़ है। चाहे बड़ी सम्पत्ति के बीच भी रह रहा हो—सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष तो भी वह उसमें मुग्ध नहीं होता। जैसे कोई सम्यग्दृष्टि देव है वह अपनी अटूट ऋद्धि के मध्य रह रहा है, उसकी जो देवियाँ हैं नारियाँ हैं वे वैक्रियक शरीर वाली हैं उनके पसीने का काम नहीं, बदबू का काम नहीं, फोड़ा फुन्सी आदिक का काम नहीं, मल मूत्रादिक का काम नहीं वह हांड़ माँस रहित दिव्य शरीर है, यहाँ तो मनुष्य मलमूत्रादिक महा अपवित्र चीजों

से भरे हुए इस शरीर को देखकर बहुत सुहावना समझते हैं और घृणा योग्य पदार्थ पर दृष्टि तक नहीं पहुँचती। ऐसा घृणा योग्य शरीर भी जब यहाँ बड़ा मनोज्ञ लगता है और उसे छोड़ा नहीं जाता, मोहीजन ऐसे अपवित्र शरीर की प्रीति भी नहीं छोड़ पाते तब देखो वहाँ ऐसे सम्यग्दृष्टि देव ऐसे पावन धातुरहित वैक्रियक शरीर के बीच रहकर भी, देवियों के बीच रहकर भी उनमें बेसुध नहीं रहते हैं, सहज विरक्त रहते हैं, इनसे मेरा क्या पूरा पड़ेगा? मेरा स्वभाव तो यह है, उपयोग है शुद्ध ज्ञानमात्र जैसे सम्यक्त्व के होने पर सम्पदा से भी क्षोभ नहीं होता, विपदा से भी क्षोभ नहीं होता ऐसे ही यह सम्यक्त्व यह ही हम आपके लिए उन्नति और उद्धार के लिए हेतुभूत है। सम्यक्त्व में मुख्य प्रतीति यह रहती है कि यह तो मैं ज्ञान मात्र हूँ, और उपयोग का परिणमन है, ज्ञान का परिणमन है वह ही मेरा काम है, ज्ञान में जो आया है, अनुभवा जाता है वह ही ज्ञान मेरे अनुभव में आता है और यह ही मात्र मेरा वैभव है, ऐसी प्रतीति रहती है। जैसे कोई पुरुष समझता है कि यह गैर आदमी है तो उसके कारण अपने में राग नहीं लगाता। गैर है यह तो। देशवासी लोग समझते हैं कि अन्य देश के लोग गैर हैं, वे उनकी क्षति से अपने में क्षोभ नहीं लाते हैं, तो राग नहीं लाते हैं, यहाँ सम्यग्दृष्टि समझता है कि जो मेरे में कषाय आदिक विचार जग रहे हैं ये सब कर्म विपाक हैं मुझसे विविक्त हैं। सो ऐसा जानकर कि वे पर द्रव्य हैं, परभाव हैं, परतत्व हैं, इनसे मेरा क्या नाता है। यदि इनमें लगता हूँ तो मैं बर्बाद होता हूँ। उनसे प्रीति को छोड़ देता है। ऐसे सम्यक्त्व की बात कही जा रही है।

दर्शनमोहोपशमादि में विशुद्ध परिणाम की निमित्तभूतता—सम्यक्त्व का निमित्त कारण है दर्शनमोह का उपशम, क्षय और क्षयोपशम। चाहे निसर्गज सम्यग्दर्शन हो और चाहे अधिगमज सम्यग्दर्शन हो, दोनों में ये निमित्त होते हैं और दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम कैसे होता? तो उसका कारण है विशुद्ध परिणाम। देखो जैसे किसी ने विष खा लिया हो तो विष को दूर करने के चार साधन देखने में आते हैं। एक तो वह द्रव कोई चीज पिला दी गई, कोई औषधि पिला दी गई जो उस विष को मारने वाली हो। तो यह तो है उसकी द्रव रूप चिकित्सा और क्षेत्र अनेक लोग विष खाए हुए मनुष्य को किसी क्षेत्र पर ले जाते हैं। जो मंत्रशाला का क्षेत्र हो या जहाँ कुछ सुन रखा हो, कोई देव स्थान हो तो ऐसे क्षेत्र पर ले जाते। तो क्षेत्र भी एक चिकित्सा बन गई। तो कई व्याधियों को दूर करने के लिए काल योग्य काल देखा जाता है। कोई किसी खास नक्षत्र में, किसी खास दिन में चिकित्सा करना है, इस तरह व्यवहार लोक में देखा जाता है, और कुछ चिकित्सा भाव साध्य है। जैसे धनंजय सेठ के लड़के को साँप ने डँस लिया था उस समय धनंजय सेठ तो पूजा में थे। वहाँ उनकी स्त्री आयी और बोली; तुम तो यहाँ पूजा पाठ में लगे हो, वहाँ बच्चे को साँप ने डस लिया। धनंजय सेठ ने कुछ न सुना। स्त्री ने उन्हें बड़ा भला बुरा कहा, फिर भी कुछ न सुना। पूजा में ही मग्न रहे। स्त्री को गुस्सा आया तो वह उस बेहोश लड़के को वहीं मन्दिर में छोड़ गई

और यह कह गई कि अब इसे तुम जानो, हत्या लगेगी तो तुम्हें लगेगी। धनंजन सेठ अपने भावों में मग्न रहे। तो उस लड़के का विष दूर हो गया। तो यह विशुद्ध भाव लड़के के विष को दूर करने में कारण हो गया। तो ऐसे ही समझिए कि दर्शनमोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने के लिए भी योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होते हैं। चाहे सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति के लिए कहो चाहे दर्शनमोह के उपशम, क्षय, क्षयोपशम के लिए कहो, ये चार बातें आती हैं। देखो जब कोई बड़ा कठिन रोग होता है तो औषधि पिलाने से भी वह दूर नहीं होता, पर जैसे औषधि एक साधन है करते ही हैं लोग उसका उपचार तो इसी प्रकार हमारे व्यवहार के जो साधन हैं—जिनेन्द्रदेव के दर्शन करना, गुरुजनों की सत्संगति करना, गुरुजनों की वैयावृत्ति करना, स्वाध्याय करना आदि यह सब द्रव्य का सन्निधान हुआ। योग्य क्षेत्र तीर्थ पर गए, जहाँ ज्ञानीजन विराजे हों उस क्षेत्र में गए, यह क्षेत्र का सन्निधान है। काल का सन्निधान है। काल का सन्निधान—दशलक्षण पर्व आया उसमें विशेष उपाय बनाया, धर्मसाधन किया, अष्टान्हिका आयी तो उसमें विशेष उपाय बनाया। और योग्यभाव—उसके योग्य विशुद्ध परिणाम बनें, मंद कषाय रखें और विशेष परिणाम तो अधःकरण, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण हैं, तो योग्य द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव होने पर कर्म में भी यथायोग्य फेरफार होता ही है। उनका उपशम, क्षय क्षयोपशम होता है। और जहाँ दर्शनमोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम मिला वहाँ यह जीव अपने आपकी परिणति से, अपनी करणशक्ति से, अपनी विशुद्धि के बल से सम्यक्त्व को उत्पन्न करता है। ऐसा यह सम्यक्त्व निसर्गज हो अथवा अधिगमज हो, यह इस प्रकार का कारण पाकर उत्पन्न होता है।

सर्व जीवों में अन्तःस्वरूप की समानता—अब जीव के एक अन्तःस्वरूप पर पुनः दृष्टिपात कीजिए—देखिए हम आपका शरण है तो आत्मा का सहज ज्ञान। स्वभाव का जितना लगाव हो, दृष्टि हो बस वही शरण है जगत में कोई दूसरा शरण नहीं। बल्कि जगत में दूसरे को शरणमानने की बात ही असहाय हो जाने की बात है। उल्टा काम होता है परको शरण मानने में अशरणता बढ़ती है और निज को शरण मानने में सशरणता बढ़ती है। तो यह सम्यक्त्व जो इस जीव को शरणभूत है इस सम्यक्त्वगुण की शक्ति की अपेक्षा समस्त संसारियों में भेद नहीं है तो भी किसी में सम्यग्दर्शन सम्भव हो पाता है, व्यक्त हो पाता है, किसी में असम्भव रहता है, ये भेद पाए जाते हैं। देखो लोक में आपको अनेक दृष्टान्त मिलेंगे। जैसे कनक पत्थर होता है स्वर्णपाषाण होता है तो जिस खान से ऐसी मिट्टी निकलती है कि जिसमें उपाय से स्वर्ण निकल आता है, भले ही १० मन मिट्टी में कोई एक आधा तोला स्वर्ण निकले, पर वहाँ मिट्टी में स्वर्ण व्यक्त होने की बात है। तो जैसे कितनी ही कनक भूमि, स्वर्णभूमि कनक पाषाण बहुत ही जल्दी उपाय से स्वर्णरूप में आ जाता है तो कुछ बहुत दिन बाद स्वर्णरूप हो पाते हैं, तो कुछ ऐसे भी कनक पाषाण हैं जिन्हें अंधपाषाण कहते हैं, उनमें स्वर्ण की शक्ति होने पर भी, अनेक उपाय किए जाने पर भी उनमें स्वर्णत्व नहीं व्यक्त होता। यही

आप देखलो मूँग की दाल बनाई जाती है, कोई तो छिलका सहित बनाता है और कोई बिना छिलके की बनाता है। छिलका सहित बनने वाली दाल तो साग जैसा काम करती है तो जो छिलका सहित मूँग की दाल बनती है उसमें कोई दाना कुरड़ू मूँग होता अथवा साबित मूँग को पकाई जावे तो उसमें हजारों लाखों दानों में से कोई एक दो दाने ऐसे भी होते हैं कि जिन्हें चाहे कितना ही पकाया जाए वे पकते नहीं हैं। जिसे कुरड़ू मूँग बोलते हैं। तो मूँग तो मूँग है, वह उसी वृक्ष से ही तो पैदा हुआ, मूँग में जो गुण है, रूप है, रस है, गंध है, भीतर जो बात है, जो स्वाद है, जो कुछ भी है वह शक्ति तो दोनों में बराबर है, चाहे कुरड़ू मूँग हो चाहे सही मूँग हो। जाति एक है, फिर भी कोई दाने नहीं पकते हैं। तो ऐसे ही एक ही जाति का सम्यग्दर्शन गुण हो, अन्य गुण हो, इस जाति की अपेक्षा से भव्य अभव्य में अन्तर नहीं है, लेकिन कोई जीव सिद्ध हो पाता। ऐसे भी जीव हैं। यहाँ ऐसा न सोचना कि जो भव्य जीव है वह तो कभी मोक्ष जाएगा ही। सारे भव्य मोक्ष चले जाएंगे तो संसार अभव्यों की वजह से रहेगा, ऐसा नहीं है। भव्य जीव भी अनन्तानन्त ऐसे हैं कि जो कभी भी मोक्ष न पा सकेंगे। और भव्य हैं वे। तो ऐसे सम्यग्दर्शन की शक्ति समान होने पर भी किन्हीं में व्यक्त होने की शक्ति है और किन्हीं में नहीं है।

शरीर के आठ अंगों की मुद्रा का दृष्टान्तः—अब जरा सम्यग्दर्शन का एक रूपक देखिए—जैसे एक शरीर है, शरीर में आठ अंग है। २ हाथ, २ पैर, १ पीठ, १ छाती, १ सिर और १ नितम्ब। ये आठ अंग इस शरीर के होते हैं। तो आठ अंगोंमय यह शरीर है ना? अगर अंग न हों तो फिर शरीर किसका नाम? तो जैसे अष्टांग सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन के भी आठ अंग हैं। उन आठ अंगों में वे भावरूप हैं, वे पौद्गलिक नहीं हैं, सम्यक्त्वभाव है। तो सम्यक्त्व के अंग भी आठ हैं। वे आठ भाव निश्चय दृष्टि से भी समझ में आने की चीज है और व्यवहारदृष्टि से भी। निश्चयदृष्टि के जो ८ अंग हैं वे तो सबके होते ही है। व्यवहार दृष्टि के जो ८ अंग हैं वे सराग अवस्था में व्यक्त हो सकने वाले हैं, वे आठ अंग हैं। उनका वर्णन जब किया जाएगा तब शरीर के अंगों की विधि मुद्रा की तरह लगेगा। जैसे जब चलते हैं तो दोनों पैरों की क्या मुद्रा बनती है। जैसे मानो चलते में एक दाहिना पैर आगे रखते हैं तो कैसा निःशंक रखा जाता है, बड़ी निर्भयता से रखा जाता है। यह निःशंक भाव हुआ। पीछे का पैर, बायाँ पर कैसी उपेक्षा से पीछे के स्थान से उठाया जाता है, जरा सी उसकी आकांक्षा नहीं, मानों उस जमीन से अब काम ही नहीं कुछ पड़ेगा। यह निकांक्षित भाव हुआ। दोनों हाथों में से बाँये हाथ से लोग रोज २—३ बार शौच साफ करते हैं, फिर भी उस हाथ से घृणा की किसी ने क्या, उसे काटकर फेकेगा कोई ? नहीं, दाहिने हाथ की तरह उससे भी स्नेह रहता। यह निर्विचिकिसतभाव हुआ। दाहिने हाथ की तर्जनी से निर्णय विवेक की कैसी मुद्रा बनती है यह ऐसा ही है' यह अमूढ़ दृष्टि का भाव है। नितम्ब (पौंद) जैसे ढाके ही रहते है वस्त्र से यह उपगूहण हुआ। पीठ पर बोझ रखकर चलते

हैं यह स्थितिकरण हैं। हृदय में प्रेम वात्सल्य है, यह वात्सल्य है। और शिर से प्रभावना होती है यानि मस्तक मुख मुद्रा से लोगों पर प्रभाव पड़ता है। यह प्रभावना का उदाहरण है।

सम्यक्त्व के आठ अंगों की मुद्रा में निःशंकित अंग की मुद्रा का दिग्दर्शन—देखिए शरीर के अंग मुद्रा की भांति सम्यक्त्व के व्यवहारिक आठ अंग सम्यक्त्व के ८ अंग हैं—पहला अंग है निःशंकित अंग। बहुत ध्यान से सुनने की बात है, और हमारा जीवन कैसे बने, हमारा आचरण कैसे बने, यह सब इससे विदित हो जाएगा। पहला अंग है निःशंकित अंग। अन्तरंग में हम भय रहित रहें, मेरे पर कोई भय नहीं आ सकता, क्योंकि मैं तो उपयोग लक्षण ज्ञानमात्र हूँ। उस ज्ञान में क्या कोई उपद्रव आएगा? यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान को ही करता हूँ, ज्ञान को ही भोगता हूँ, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान ही मेरी दुनिया है। मेरे को दुनिया में क्या भय? इस ज्ञान स्वरूप में न टिक सकने वाले लोग इस लोक का बड़ा भय रखते हैं। सरकार बड़े कानून बना रही है, सम्पति की मियाद भी बना देगी, सरकार छुड़ा लेगी। बड़ी कठिन बात आएगी। अरे कठिन कुछ नहीं है। सरकार क्या करेगी? जैसा मेरा अनुभव चलता, जो मेरी करतूत है, जितनी मेरी दुनिया है जहाँ आनन्द भरा हुआ है, इस ज्ञानस्वरूप को कोई भेद सकता है क्या? इस लोक का क्या भय करना? अरे जिसका भय मानते हो,मानों १०, २० वर्ष जिन्दा रहेंगे, आखिर यह सब छूटेगा तो सही, आगे क्या रहेगा इसके साथ? इसका यह स्वरूप, इसका यह स्वभाव। स्वरूप को देखो। देखो इस सम्यक्त्व लाभ के लिए अपने आप को बहुत-बहुत बलिदान करना पड़ेगा। घर में रहने वाले स्त्री पुत्रादि परिजन, धन, वैभव, मकान, महल इन सबको दिल से हटा देना होगा। इनको दिल से श्रद्धा में न चिपकाना होगा। अपनी श्रद्धा में ऐसी बात रखें कि ये मेरे कुछ नहीं हैं, मैं तो एक ज्ञानमात्र स्वरूप हूँ। ज्ञानस्वरूप के सिवाय मेरा और कोई वैभव नहीं। मुझे इस लोक का क्या भय, परलोक का क्या भय? परलोक में भी जीव तो मैं यही रहूँगा। रहेगा मेरा यही स्वरूप। यह मेरी दृष्टि में रहे। परलोक का भय क्या? वेदना का भय—शरीर में थोड़ी हरारत सी हुई बस डर गए, अरे अब न जाने क्या होगा। कहीं यह बहुत बड़ी बीमारी न बन जाए। अरे इतना डर तो तेज बुखार में भी नहीं होता। कदाचित तेज बुखार हो जाए तो वहाँ तो यह सह लेता है, और जहाँ यह आशंका हुई कि अब न जाने मेरा क्या होगा? अरे हरारत हो तो, बुखार हो तो, एक निर्णय तो करो कि हो क्या रहा है? शरीर में शरीर की गर्मायी है गर्मायी कहीं जीव में आ सकती है? गर्म तो होता है यह शरीर। कहीं कोई नस चसकती है तो वह पुद्गल में हो रहा है, कर्म विपाक है, वह कर्म में हो रहा है। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। मेरे ज्ञान में यह सब आ रहा हैं। ज्ञान में आ रहा है इतनी भर बात रहे तो कुछ हानि नहीं। केवल जानन देखन हार रहूँ यहाँ तक कुछ हानि नहीं मगर ज्ञान में आया और तत्काल ही यह उसको पकड़ लेता, अपने उपयोग में इन्हें ग्रहण कर लेता। परको अपनाना दुख इसमें है, और पर को मैं रूप से न अपनाये। मैं अजर अमर हूँ। अमृत का सरोवर हूँ।

इसे किसी प्रकार का कष्ट नहीं। कष्ट है कषाय को अपनाने में, शरीर को अपनाने में। तो क्यों ये कष्ट सहते? अपने ही भीतर के समझ की तो बात है। अपने आप भीतर में ऐसी दृष्टि करें कि मेरा मैं ही हूँ। क्यों कष्ट पाऊँ? कभी-कभी देखा होगा कि घर में जो बड़ा है वह जब तक रह रहा है तब तक घर वालों का ऐश्वर्य नहीं बढ़ सकता। कई कुटुम्ब ऐसे मिलेंगे जिस पर लोग बड़ा गौरव रखते हैं कि इसके बिना फिर कमाई न रहेगी, फिर पालन पोषण का कोई जरिया न रहेगा और कहो उसके मरने के बाद ऐसा हो जाता कि वे लड़के मालोमाल हो जाते हैं। तो यह अभिमान करना व्यर्थ हुआ कि मैं इनका पालन पोषण करने वाला हूँ। अरे तुम इसके पालन पोषण करने वाले नहीं हो। जितने लोग घर में हैं उनका अपना-अपना उदय है, और उनका इतना उदय है कि आपको उनकी नौकरी करनी पड़ रही है। आप कर्त्तव्य का अभिमान कर रहे तो आपको कष्ट इसी बात का है। जिसने ज्ञानस्वरूप को प्रतीति में लिया है उसे शंका का भय नहीं, वेदना का भी भय नहीं। जो हो रहा है उसे जान रहा है। जो पुरुष अपने ज्ञानस्वरूप में अपने आत्मा की प्रतीति लिए हुए है उसको किसी प्रकार का संशय, शंका, शल्य अन्दर में नहीं रहता। देखो बताया है कि जब तक ये तीन शल्य हैं—(१) माया (२) मिथ्या (३) निदान, तब तक व्रत नहीं। और व्रत ही क्या? सम्यक्त्व भी नहीं। तो वह शल्य क्या हैं? यह ही कि पर को अपना मानने में शल्य हुआ ही करता है। यह ही शल्य काँटे की तरह चुभती है। कौन? पर को अपना मान लेना। तो शल्य नहीं रहती ज्ञानी जीव को। वह किसी प्रकार का भय नहीं करता। उसकी सर्वत्र रक्षा है। मैं सब जगह सुरक्षित हूँ जबकि मोहीजन मानते कि ये किवाड़ ठीक नहीं है, मेरी तो रक्षा नहीं है, यहाँ यह ज्ञानी पुरुष सोचता है कि मेरा यह स्वरूप का किला अभेद्य है। इसमें किसी अन्य का प्रवेश नहीं। देखिए मैं अमूर्त ज्ञानमात्र निज धाम से ही प्रयोजन रखूँ, ऐसी दृष्टि बनावे और देखो जो वैभव में प्यार है, जो बाह्य वस्तु में राग है, बाह्य वस्तु का ख्याल है इन विषों को उगल देवें। चाहे जब उगल दो हम यह नहीं कहते कि अभी छोड़ दो, मगर जिस समय आपको धर्म धारण करने की अभिलाषा हो और उसे भीतर में घटाने की बात हो उस समय तो उस विष को त्याग दीजिए। परिग्रह के राग के विष को भुला तो दीजिए तब ही अपने आपकी बात चित्त में आएगी। मैं सुरक्षित हूँ, अरक्षित मैं नही हूँ। मेरा मरण भी नहीं है। मेरे प्राण तो चेतन हैं। ज्ञान दर्शन हैं। वस्तु का प्राण वह कहलाता कि जिसके कारण वस्तु की सत्ता रहती है। मेरी सत्ता मेरी चेतना से है। मेरी सत्ता इन्द्रिय, बल, आयु और श्वासोच्छवास से नहीं है। मेरा बल कहीं बाहर नहीं हो सकता। न मिट सकता। मैं मरणरहित हूँ। मेरे को कोई भय नहीं। कहीं अचानक भी भय नहीं आ सकता। मैं रक्षारहित नहीं हूँ। मेरा मैं रक्षक हूँ, यह सब प्रतीति रहती है इसलिए वह ज्ञानी भीतर में निशंक रहता है। देखो यह सब बात जिनवाणी में लिखी है जिन वाणी से सुना है, जिन वाणी से समझा है। जिनेन्द्र के वचन मिथ्या नहीं होते यह व्यवहार में भी निशंक है और अन्तः भी निशंक है।

सम्यग्दृष्टि का निःकांक्षित गुण—दूसरा अंग है निःकाक्षित अंग। श्रद्धा में तो उसे किसी भी परवस्तु की इच्छा नहीं है। कुछ कर्मोदय है, घर में रहना पड़ता है, इच्छा बिना रहना होता नहीं, और धर्म धारण करके उसके एवज में किसी बाह्य वस्तु की इच्छा नहीं करता। सम्यग्दृष्टि ज्ञानी के यह इच्छा न होगी कि मेरे मुकदमा लगा है, मैं महावीर जी जाऊँ। अथवा मैं रोज पूजा करता हूँ तो उसके पुण्य से मेरे घर में सुख शान्ति रहे। इन बाहरी बातों की इच्छा करके वह धर्म नहीं करता। वह धर्म करता है एक अपने आपके स्वरूप को समझने के लिए, मोक्षमार्ग के लिए वह धर्म करता है? धर्म धारण करके भोगों की इच्छा ज्ञानी जीव के नहीं होती। भला बतलाओ—जो भोगों से विपत्ति समझता हो, विडम्बना समझता हो, बताओ वह भोगों की क्या इच्छा करेगा? धर्म धारण करके तो वह उन भोगों को बिडम्बना समझता है, विपदा समझता है। है तो कुछ और बन रहा कुछ और, जैसे कहते हैं ना कि—"आए थे हरि भजन को, औटन लगे कपास।" अरे इस संसार में आए तो थे हरि भजन को। हरि का अर्थ है जो पापों को हरे, अर्थात् जो अपना स्वरूप प्रकट करे, ऐसा कौन है? यही अपना आत्मा, तो आए तो थे आत्मा की उपासना करने के लिए पर करने क्या लगे कि कपास ओटने लगे। यहाँ कपास ओटने का मतलब यही है कि कपास को बहुत-बहुत ओटने पर उसमें बिल्कुल अन्त में थोड़ा एक किलो ही कपास ओंटने में, २ किलो बिनोला कपास जहाँ रखना हुआ एक साथ रख दिया जाता है। दिन भर परिश्रम करने के बाद कोई मुश्किल से एक दो किलो बिनौला बच पाता है, मतलब, आए तो थे इसलिए कि सदा के लिए शान्त हो जाएं ऐसा मैं उपाय बनालूं, पर करने क्या लगे? व्यर्थ के काम, भोग विषय। जरा सोचो तो सही कि जो घर के लड़का लड़की आदि से मोह कर रहे हो तो ऐसा करते हुए कितने दिन काम चलेगा? कितने दिन अपना पूरा पाड़ लोगे? एक दिन भी तो नहीं चलता। उससे दुःख ही तो होता। वे दूसरे जीव हैं, उनसे कोई लेन-देन नहीं, कोई मतलब नहीं, पर उन्हें ऐसा मान रहे कि ये तो मेरे ही हैं, इनसे मेरा बड़ा सम्बन्ध है। अरे रंच भी सम्बन्ध नहीं, रंच भी कोई बात नहीं है, केवल मोह की नींद में एक स्वप्नसा ले रहे हो, ऐसी बात है और यहाँ मोह में बेसुध हुआ जाए तो यह कितनी अज्ञानता की बात है, कितना अपने आपके अकल्याण की बात है, उसे छोड़ो उसकी इच्छा न रखो, अभिलाषा करो तो मुक्ति की करो, स्वरूपदर्शन की करो। मैं अपने आपमें आनन्दमग्न रहूँ, ऐसी अभिलाषा कीजिए। तो सम्यग्दृष्टि जीव निःशंकित होते है।

सम्यक्त्व का निर्विचिकित्सित अंग—सम्यग्दृष्टि जीव के एक निर्विचिकित्सा गुण होता है, वह ग्लानि नहीं करता। भीतर कोई क्षुधा तृषा इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग सुख-दुःख आदि जितनी भी चीजें है उन सब में अधीर नहीं होता है। इनमें अलग रहता है, इनमें विषाद नहीं करता है। अन्दर में तो यह स्थिति है और बाहर में कोई ग्लानि की चीज (मलमूत्र वगैरह) देख ले तो उसे देखकर जानता है कि यह ऐसी वस्तु हैं। उसे देखकर वह नाक भी नहीं

सिकोड़ता, जबकि लोग जरा-जरा सी बात देखकर तुरन्त थूक देते हैं। अरे थूक क्या खराब चीज है ? जब तक मुख में थूक है उसे गुटकोगे तो स्वास्थ्य सुधरेगा। जैसे कहते हैं ना कि देवताओं के कंठ से अमृत झरता है। जरा आराम से बैठे हो उस समय गुटकोगे तो उस समय देखो कितना सन्तोष मिलता है। तो क्या थूक ऐसी चीज है कि उससे घृणा करें ? अच्छा और आगे चलो। मानों कोई मुनिराज हैं, साधु संत हैं उनको कोई रोग हो गया, फोड़ा फुंसी आदि हो गई तो उनकी सेवा करना, उनसे ग्लानि न करना। सम्यग्दृष्टि को तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र में प्रीति है। तो जो रत्नत्रय की मूर्ति है उनकी सेवा करते हुए में ग्लानि न आना यह है निर्विचिकित्सा अंग।

सम्यक्त्व का अमूढदृष्टि अङ्ग व प्रसक्त लोकमूढता का प्रदर्शन—सम्यग्दृष्टि का एक अंग अमूढ़ दृष्टि है। किसी भी गुरु के चमत्कार को देखकर उनमें मुग्ध न होना। चमत्कार तो एक बाहरी चीज है, वह तो बहुत से लोगों में देखने से मिल सकता है। वह इस जीव का लाभ करने वाली बात नहीं है। वह सम्यग्दर्शन ज्ञान चरित्र में अपनी प्रीति बनाये रहता है। गुरु का महत्व, चमत्कार रत्नत्रय की प्रतिष्ठा के बल पर ही करता है। इस तरह सम्यग्दर्शन के इन अंगों में उसकी प्रकृति रनी सनी रहती है। ऐसा यह सम्यग्दृष्टि जीव इस संसार समुद्र से तैर कर सदा के लिए दुःखों से दूर हो जाता है। अमूढदृष्टि में कैसी-कैसी मूढताओं का विच्छेद है इस पर दृष्टिपात कीजिए मोह भरी दृष्टि होने को मूढ़ दृष्टि कहते हैं। जहाँ धर्म नहीं वहाँ धर्म की रुढ़ि कर लेना सो मूढ़ दृष्टि है। मूढ़ दृष्टि में तीन प्रकार की मूढ़तायें होती हैं। (१) लोकमूढ़ता (२) देवमूढ़ता (३) पाखण्ड मूढ़ता। लोकमूढ़ता—जैसे लोक में धर्म की रुढ़ि फैली है। नदी स्नान करना, गंगा स्नान करना, पर्वत से गिर जाना, या कहीं ईंट पत्थर का ढेर लगा कर उसे देवता मान लेना या पेड़ पौधों में देवता मानना आदि जो धर्म के नाम पर रुढ़ियां हैं उनको माने तो उसे लोकमूढ़ता कहते हैं। यद्यपि कुछ बातों को देखकर उनमें अच्छाई की ओर खोज करने पर ज्ञात होगा कि कोई न कोई मूल में बात थी ठीक ढंग की लेकिन वे बातें तो नजर से उतर गई और एक मूढ़ता की बात रह गई। जैसे नदी स्नान करना धर्म है। धर्म तो नहीं है, पर नदी में किसी ने स्नान किया तो उसके स्नान करने से शरीर में हल्कापन आता है, मैल दूर होता है, शरीर हल्का होता है, कुछ मन भी हल्का हो जाता है, भावों में कुछ विशुद्धि का अवसर होता है उस समय यदि जाप, ध्यान वगैरह करें तो मन लग जाएगा, इसलिए वह धर्म करने की पहले की एक बात थी लेकिन उसी को ही लोग धर्म मानने लगे। तो ऐसी किन्हीं-कन्हीं बातों में कोई ढंग से, कोई स्थिति की बात थी, लेकिन वह भी न मिटी, और-और ऐब भी इसमें आ गए। लोकमूढ़ता में जैसा लोग करते वैसा खुद भी करते। एक बार एक सन्यासी जी गंगा स्नान करने गए, उनके पास था एक कमण्डल। तो उसके रखने के लिए उन्होंने गंगावरी रेत में एक गड्ढा खोदा, उसमें कमण्डल धर दिया और उसे बालू से ढक दिया। बाद में वह गंगा स्नान

करने चले गए। वहाँ अनेक लोगों ने सोचा कि गंगास्नान करने की यही पद्धति होती होगी, सो उन्होंने भी रेत का ऊँचा ढेर बनाकर गंगा स्नान करना शुरु कर दिया। थोड़ी ही देर में वहाँ सैकड़ों ढेर बन गए। अब सन्यासी जी गंगा स्नान करके लौटे तो उन बहुत से ढेरों के होने की वजह से उनका कमण्डल गुम गया। तो कितनी ही ऐसी बातें होती हैं। जहाँ मूल में प्रयोजन तो कुछ और था, मगर लोगों ने देखा देखी रुढ़ि बना दी। ऐसे ही आत्मानुशासन में एक संकेत दिया है कि एक सन्यासी महाराज एक लड्डू लिए जा रहे थे। रास्ते में एक जगह बिष्टा के ऊपर एक ओर वह लड्डू गिर गया उस सन्यासी को लड्डू में इतनी आशक्ति थी कि उसे उठा लिया और पौंछकर अपने बर्तन में रख लिया उसे एक शंका बनी रही कि शायद किसी ने लाडू उठाते हुए मुझे देख लिया होगा, सो अपनी पोल ढांकने के लिए उस सन्यासी ने उस बिष्टा को कुछ फूलों से ढाक दिया। जब लोगों ने सन्यासी जी को उस जगह फूल रखते देखा तो सोचा कि शायद इस जगह कोई देवता होगा। सन्यासी तो चला गया, पर जो भी वहाँ से निकले वह उस जगह देवता समझ कर फूल चढ़ा दे। अब तो वहाँ फूलों का बहुत बड़ा ढेर लग गया। कुछ लोगों के मन में आया कि यहाँ जो फूलों का इतना बड़ा ढेर लग गया है। उसमें देखना चाहिए कि वास्तव में वहाँ है कैसा देवता, उसके दर्शन करें। जब सारे फूल उठा लिया तो वहाँ बिष्टा (मैला) निकला। तो कितने ही स्थल ऐसे हो जाते हैं कि किसी बड़े पुरुष ने किया तो था किसी और प्रयोजन से, मगर अन्य लोगों ने उस प्रयोजन को भूलकर उसको करना शुरू कर दिया तो वह एक रुढ़ि बन जाती है। जैसे किसी सज्जन के मन में आया कि इन पत्थरों को उठा कर मैं एक जगह रख दूँ, ये यहाँ से आने जाने वाले लोगों के पैरों में लगते हैं। अब प्रयोजन को ध्यान में न रखकर लोग उसे देवता समझ कर उस पर पत्थर डालना शुरू कर देते हैं। वह एक दिन रुढ़ि बन जाती है। काशी करवट की तथा सिद्धवरकूट के पास के किसी पहाड़ की बात सुनते हैं कि कभी कोई समय ऐसा था कि लोग उस पर्वत से गिरकर नदी में खतम हो जाने में अपना धर्म समझते थे, वह भी एक लोकमूढ़ता की बात थी। अनेक प्रकार के जंत्र मंत्र, खोटे गुरूवों के दर्शन, खोटे देवों की आराधना आदि में रुचि रखना और इसमें अपना कुछ धर्म समझना यह सब लोकमूढ़ता की बात है। इसमें रूढ़ि विशेष कारण हुई। अब रुढ़ि का कहना क्या? रुढ़ि ऐसी बन जाती है कि बात हो कुछ और बन जाती है कुछ। जैसे एक सेठ के यहाँ उसकी लड़की का विवाह था, सो भांवर के समय में घर में पली हुई बिल्ली बार-बार आती जाती थी। सेठ ने सोचा कि ऐसे शुभ काम में यह तो असगुन जैसी बात हो रही है सो उसने उस बिल्ली को एक पिटारे के अन्दर बन्द करवा दिया अब वह सेठ तो गुजर गया। अब उसके किसी लड़के ने अपनी लड़की की शादी की तो वहाँ भांवर पड़ते समय किसी ने कहा ठहरो अभी एक दस्तूर बाकी है। उस दस्तूर के किया बिना भांवर नहीं पड़ सकती।" क्या दस्तूर बाकी है? अभी एक बिल्ली पिटारे के अन्दर बन्द करके रखना है। अब बिल्ली

यों ही सहज तो नहीं पकड़ में आ जाती। उसे पकड़ने के लिए कई लोग निकले, ४, ५, घंटे में पकड़कर लाये। उसे किवाड़ में बन्द किया तब भांवर पड़ी। तो ये रूढ़ियां हैं। ऐसी-ऐसी कितनी ही लोकमूढ़तायें होती हैं।

सम्यक्त्व के अङ्गभूत अमूढ़दृष्टिअङ्ग में देवमूढ़ता व पाखण्डमूढता का प्रदर्शन—देवमूढ़ता क्या? कि जो देव नहीं है उसे देव मानना। अब देव कौन है कौन नहीं? जिसने बाहर से स्त्री पुत्रादि रखा है वह कुदेव ही तो है। कुदेव भी कुछ नहीं है। या तो कोई देव है या फिर अदेव है। याने कोई भी पुरुष या तो देव है या देव नहीं है। कुदेव की क्या बात है? अगर देव नहीं है और देव की प्रसिद्धि करे तो उसका नाम कुदेव होता है। अपने आप कौन कुदेव है? प्रारम्भ में कौन कुदेव है? या तो कहो कि भगवान है या कहो कि भगवान नहीं है। खोटे देव का क्या मतलब? देव तो नहीं है मगर खुद या कोई उसे देव के रूप में प्रसिद्ध करे, देव नाम से लोग बोलने लगें, तो वह है कुदेव। तीसरा है। पाखण्डमूढ़ता। याने जो कुगुरु हैं उनकी सेवा, उपासना, आराधना करना, उसमें धर्मपालन मानना यह पाखण्ड मूढ़ता है। कुगुरु कौन है? जिनका चिन्ह है कि वे ऊपर से कुछ लिए हुए होते हैं, जैसे डंडा रख लिया, तिलक लगा लिया, जटा रख लिया, पट्टी लगा लिया, त्रिशूल ले लिया, दूसरी कुछ भी चीज जोड़े। तो पहले इसी बाहरी चिन्ह से ही कुगुरु समझ लें। मुनिलिङ्ग तो यह है कि छोड़ने छोड़ने से ही जो अपने आप रह जाए। वैसे वे पिछी, कमण्डलु, शास्त्र थोड़े से जो मुनि के उपकरण माने गए उनकी संयमसाधना के लिए, स्वाध्यायार्थ शुद्धि आदि के लिए जरूरत पड़ती है इसलिए उन्हें अपने साथ रख लेते हैं, पर उनके न होने से कहीं उनका मुनिपना नहीं मिटता। जैसे जब वे विहार करते हैं तो उस समय उनको पिछी की जरूरत पड़ती है, नहीं तो पिछी की कोई जरूरत नहीं, अथवा जब शौच करते हैं तब उन्हें कमण्डल की जरूरत पड़ती है अन्यथा क्या जरूरत? अथवा यों ही अकेले बैठे हुए समाधि में नहीं रह पाते इसलिए शास्त्रों का आधार लेकर अपने समाधिभाव बनाते हैं। तभी वहाँ शास्त्र की भी जरूरत पड़ी, वर्ना शास्त्र की भी क्या जरूरत? तो ये पिछी कमण्डल और शास्त्र उपकरण के रूप में रख सकते हैं, इसके अतिरिक्त अन्य कुछ भी रखना ठीक नहीं। अब इन चीजों के अलावा अन्य उस भूल को ही एक धर्म का रूप दें तो ये सब बातें कुगुरु के रूप में आती है। तो ये कुगुरु के बाह्य चिन्ह हैं और भीतर में सम्यग्दर्शन, ज्ञान-चारित्र की जिन्हें प्रीति नहीं है और बाहरी विषय कषायों की प्रीति है, यदि यह बात हो तो ऐसे गुरुजन का आराधन करना कुगुरु की मान्यता है। किसी का चमत्कार देखकर उसके प्रति भक्ति करना कुगुरु की भक्ति कहलायेगी। चमत्कार तो कोई भी कर सकता है। क्योंकि चिच्चमत्कारस्वरूप जीव के छोटी-छोटी बुद्धियाँ कला जगना साधरण-सी बात है। बहुत से मदारी लोग भी बड़े-बड़े चमत्कार दिखाते हैं। जैसे कि हमने एक बार वरुवासागर में देखा कि एक मदारी खेल दिखा रहा था। उसने किसी से कहा भाई क्या खाओगे? तो उसने

कहा—करमकल्ला। अब करम कल्ला क्या होता हम तो जानते नहीं, पर उसने गोभी के फूल जैसे आकार की चीज अपनी पेटी से निकाल कर दे दी और कहा लो करमकल्ला निकाल दिया। किसी ने कहा—भाई हम तो रसगुल्ला खावेंगे तो उसे भी खिला दिया। तो ऐसे बड़े-बड़े चमत्कार के खेल तो जादूगर लोग भी दिखाया करते हैं। तो ऐसे ही किसी प्रकार के चमत्कार देखकर कोई माने कि यह तो हमारे गुरु हैं, इनकी पूजा करने से हमें धर्म होगा, इस प्रकार समझ कर उन्हें पूजना सो मूढ़दृष्टि है। सम्यग्दृष्टि जीव को इस तरह का मोह कहीं भी नहीं उत्पन्न होता, मूढ़दृष्टिपना नहीं बनता।

सम्यक्त्व का अङ्गभूत उपगूहन गुण—सम्यक्त्व का एक गुण है उपगूहन, इसका दूसरा नाम है उपवृंहण। देखिए जिसने अपने आपके सहज स्वरूप का परिचय पाया और दृढ़ता पूर्वक जिसके यह अनुभव में आया कि लोक में मेरे लिए सार तो केवल एक अपने सहज ज्ञानस्वरूप का बोध, उसका श्रद्धान और उसमें रमण करना है, शेष सब बातें असार हैं। अन्य जितने भी कार्य किए जाते हैं वे सब बेकार हैं। करने पड़ते हैं राग अवस्था में, लेकिन सब बेकार चीजें हैं। ऐसा जिसे अनुभव हुआ है ऐसे पुरुषको यह ही उत्सुकता रहती है कि मैं गुणों में बढ़ूं। आत्मा का जो रत्नत्रय गुण है, चरित्र गुण है इसकी मेरे में वृद्धि हो, दूसरों में भी वृद्धि हो। एक तो यह भावना रहती, दूसरी भावना यह रहती कि किसी धर्मात्मा के द्वारा किसी परिस्थितिवश कोई दोष बन जाए तो उस दोष को समाज में प्रकट न करना यह ज्ञानी का गुण है। कर्मों का उदय है, विपाक है, कोई दोष हो गया धर्मात्मा से तो उसे समाज में प्रकट करने से बुराई यह आती है कि लोगों की धर्म से श्रद्धा हट जाएगी। जो सुनेगा वह यही कहेगा कि ऐसे धर्मात्माजन भी ऐसा करते हैं, यही धर्म होगा यानी धर्म कुछ नहीं है। धर्म के प्रति आदर न रहेगा, यह बुराई होगी, धर्म की अप्रभावना होगी। कितने ही लोग तो किसी दोष को ढांकने का ऐसा भी प्रयत्न करते हैं कि उसको अपने ऊपर ले लेते हैं। एक अभी की घटना है। बुन्देलखण्ड में एक शहर है ललितपुर। तो वहाँ कोई एक ब्रह्मचारी वेश में मन्दिर में ठहरा हुआ था। वह एक बार वहाँ से मन्दिर की धोती लेकर भागा। धोती चुराकर चला तो माली को खबर पड़ी। बुन्देलखण्ड में माली मन्दिर का बड़ा जिम्मेदार पुरुष होता है। वह मन्दिर में एक मालिक की तरह होता है। तो वह माली उस ब्रह्मचारी के पीछे दौड़ा। कुछ दूर जाकर माली ने उस ब्रह्मचारी को पकड़ लिया। उस ब्रह्मचारी को बहुत-बहुत भला बुरा कहा। बाजार में उसी जगह वहाँ के जैन प्रमुख की एक दुकान थी तो वह दुकान से बाहर आया और माली के दो एक तमाचे मारकर कहा—अरे तू क्यों इसे भला बुरा कहता? इन धोतियों को तो मैंने मंगाया था। लो चला गया वह ब्रह्मचारी और माली भी मन्दिर आ गया। उधर माली सोच रहा था। कि देखो मैंने चोर को पकड़ा, मन्दिर के सामान की रक्षा की फिर भी मैं ही पीटा गया। उधर वह जैन प्रमुख क्या विचार करता है कि देखो यदि मैं इस जगह माली को न मारता तो जनता में कितनी धर्म की अप्रभावना

होती। लोगों के मन में आता कि जैनियों के ब्रह्मचारी इसी तरह के हुआ करते हैं। अब वह जैन प्रमुख मन्दिर में माली के पास पहुँचा और उससे हाथ जोड़ कर कहने लगा भाई आज तुमने मन्दिर के सामान की रक्षा की, बड़ा अच्छा किया। हमने आपको परिस्थितिवश थप्पड़ मारा था, हमारी उस गल्ती को माफ करो। वहाँ तुम्हारी गल्ती कुछ न थी। हमने वहाँ यह सोचकर तुम्हें मारा था कि यदि मैं ब्रह्मचारी को चोर बताता हूँ तो वहाँ धर्म की अप्रभावना होगी। देखिए यह तो अभी-अभी की घटना कही। अब पुराणों की एक घटना सुनो—एक जिनेन्द्रभक्त सेठ थे। उनके मन्दिर में एक बार एक चोर क्षुल्लक का भेष बनाकर रहने लगा। उसके मन में यह था कि मौका मिलने पर यहाँ से सोना चाँदी के छत्र चमर वगैरह चुरा ले जावेंगे। सेठ को एक बार कहीं जाना था तो सेठ ने क्षुल्लकजी से कहा—महाराज हम ४—५ दिन के लिए यहाँ से बाहर जाएंगे। आप मन्दिर की रक्षा करना (सेठ को क्षुल्लकजी से बढ़कर विश्वास बताओ और किस पर हो सकता था?) सो वह सेठ तो बाहर गया हुआ था, वहाँ वह क्षुल्लक मौका पाकर मन्दिर के छत्र चमर व रत्न उठा कर भाग गया। शहर का कोतवाल तथा कुछ सिपाही उसके पीछे लगे थे उसको पकड़ने के लिए। उसी रास्ते से वह सेठ भी अपने घर आ रहा था, जो बाहर गया हुआ था। वहाँ उसने जब अपने **धर्म की अप्रभावना** होते देखी तो कहा—भाई इन्हें मत पकड़ो, यह सामान तो हमने ही इनसे मंगवाया था। तो यह क्या है? जिस किसी भी प्रकार हो, धर्म की प्रभावना न हो ताकि लोगों की धर्म में श्रद्धा बनी रहे। कदाचित किसी में आप दोष देखें तो उसे अलग में आप बार-बार समझायें। बहुत-बहुत समझाने पर भी यदि वह न माने तो उसे समाज में जाहिर कर दो ताकि सब लोग जान जाएं कि यह तो इस तरह का है, गुरु नहीं है। वहाँ फिर अप्रभावना की बात न रहेगी। देखिए—कुछ न कुछ दोष तो सभी में होते हैं, दोषों के निवारणकरने केलिए ही तो वह साधु हुआ है, उसके दोष देख कर समाज में उसके दोष बखाने, यह बात सम्यग्दृष्टि पुरुष से न बन सकेगी। यह है उपगूहन अंग। अपने गुणों को बढ़ाना, यह है उपवृंहण।

सम्यक्त्व का अङ्गभूत स्थितिकरण गुण—सम्यग्दृष्टिजन, जिन्होंने अपने आपके स्वभाव का दर्शन किया, परिचय किया, जिस सहज स्वभाव की दृष्टि के आनन्दका अनुभव किया उनके अन्दर में ऐसी उत्सुकता रहती है कि मैं इस सहज भाव को, इस आनन्द को बढ़ाऊँ, प्राप्त करूँ, इसी में स्थित रहूँ, इससे हटूँ नहीं, और कदाचित कर्मोदयबश कोई खोटे भाव बीच में आयें और धर्म से च्युत होता हो वह तो फिर जल्दी इस दोष से हटकर अपने आपको धर्म में स्थिर करने का पौरुष करता है, और इसी प्रकार अगर दूसरे लोग भी धर्म से च्युत होने लगें तो उनकी भी तन, मन, धन, वचन सब प्रकार से सेवा करके धर्म में स्थिर करता है, यह स्थितिकरण अंग है। आज इसकी बहुत कमी है कि साधर्मीजन साधर्मी को साधर्मी के रूप में व्यवहार नहीं करते हैं। बहुत सा खर्च कर डालते है अनाप सनाप खर्च करते हैं, पान बीड़ी में ही देख लो, लोग कितना खर्च कर तो डालते हैं। एक जगह मैंने खुद देखा है कि मन्दिर का

माली जो कोई ४० रु० माहवार ही पाता था उसके मुख में हरदम पान भरा रहा करता था। एक बार हमने उससे पूछ ही लिया कि भाई तुम रोज कितने पान खा डालते होंगे? तो शायद उसने बताया था कि हम तो रोज करीब ३० पान खा डालते हैं। फिर हमने पूछा कि एक पान कितने पैसे में आता है? तो बताया ५ पैसे में। हमने कहा कि फिर तो तुम्हारे डेढ़ रुपये रोज के पान हो गए। भला बताओ यह फिजूल खर्च ही तो है अरे अगर वह पान खरीद ले और स्वयं ही कत्था सुपाड़ी डालकर खा लिया करे तो कोई ४-६ आने में ही उसका काम हो जाए मगर उसे भी करे कौन? तो कितना फिजूल खर्च किए जा रहे हैं। न जाने कितने प्रकार के शौक लोगों ने लगा रक्खा है। आपके गुजरात में तो शायद उतना फालतू खर्च नहीं किया जाता जितना कि यू० पी० और पंजाब वगैरह में। इन फालतू खर्चों की बात कहना क्या? आप सभी जानते हैं इन व्यर्थ के खर्चों को दूर करो। अगर कोई गरीब साधर्मी बन्धु हो, साधुजन हों तो उन्हें ऐसा गुप्त रूप से मदद कर दो कि जिससे वे विपदा में न पड़ें। देखिए—आजकल मजदूर भी अधिक दुःखी नहीं बड़े-बड़े उद्योगपति भी अधिक दुःखी नहीं, पर मध्यम दर्जे के लोग अधिक दुःखी हैं। आखिर वे करें क्या? मजदूरी वे कर नहीं सकते। वे मजदूरी करने में अपनी तौहीन समझते हैं। लोग समझते हैं कि मजदूरी करने में हमारी शान घट जाएगी, पर बताओ तो सही कि उसमें शान घटने की कौन-सी बात है? महाराष्ट्र में और इधर इटारसी बगैरह में अनेक जगह मैंने देखा है कि बहुत से जैन भाई मजदूरी भी करते हैं। अपनी पीठ पर बोझा ढोने का भी काम करते हैं, कारीगरी भी करते हैं, कास्तकारी भी करते हैं। ऐसा करने में कौन-सी बेशान की बात हो गई, बल्कि यह तो एक व्यापकता का परिचय कराने वाली बात होगी कि सब तरह के लोग जैन धर्म का पालन करते हैं। तो यह सोचना गलत है कि इसमें हमारी शान घटती है, अरे यह सोचें कि पालन पोषण करने के लिए हमें कुछ भी उचित काम करना पड़े तो उसमें हमें कोई लज्जा की बात नहीं है। फिर धर्म में, स्थिर रहना कितने बड़े लाभ की बात है। अब संकोच संकोच में आखिर बुरी दशा आ जाती है। कोई बड़ा आदमी अगर गरीब हो रहा है तो वह पहले के सोना चाँदी रत्न जवाहरात आदि के गहने बेच सकता था, मगर वह यह लज्जा करता है कि मैं खुद बेचूँगा तो लोग मुझे क्या कहेंगे? इस लज्जा के कारण वह उन्हें दूसरे लोगों के द्वारा बिकवाता है या धरोहर धराता है। आखिर उसका फल यही देखने को मिलता है कि उसका सारा जेवर गायब हो जाता है। उसके हाथ कुछ नहीं लगता है। यहाँ तक कि उसकी ऐसी नौबत आ जाती है कि बस मिट्टी के बर्तनों में ही उसे गुजारा करना पड़ता है। यह देखिए जरा-जरा-सी, बातों में शर्म करने का फल तो हमें विवेकपूर्वक रहना चाहिए। बाहरी बातों में किसी भी प्रकार का उचित कार्य करेंगे तो उसमें कोई शर्म की बात नहीं। कुछ भी कर लें, पर धर्म की क्षति न होने पावे। धर्म में हमारा मन न लगे तो क्षति कहलाती है। तो जिस किसी भी प्रकार हो, जो दुःखी हैं, गरीब हैं उनको तन, मन, धन, वचन से सब प्रकार से धीरता देकर उसे धर्म में स्थिर करना यह है स्थितिकरण।

सम्यक्त्वका अङ्गभूत वात्सल्य गुण—जिसने अपने आपके स्वरूप में वात्सल्य बनाया है, प्रीति को जगाया है, अपने गुणों में अनुराग जगाया है उसका बाहर भी अनुराग पुषता है। अपने गुणों में वृद्धि करना, अपने गुणों में अनुराग करना आनन्द मानना, जब निर्विकल्प समाधि जैसी स्थिति होती हो, अपना ज्ञान अपने ज्ञानस्वरूप में लग रहा हो और ज्ञान में ज्ञानस्वरूप समा रहा हो उस समय एक निर्विकल्प जैसी दशा होती हो, सामान्य प्रतिभास बढ़ रहा हो तो उसमें उसको कितनी उमंग है, कितना आनन्द वह मानता है। जैसे कि लौग जिस कार्य को बहुत महत्त्व वाला समझते हैं तो वे उमंग से लगते हैं। ज्ञानी सम्यग्दृष्टि जीव अपने आप के स्वरूप के स्मण में उमंग बनाते हैं। उसका कारण क्या? एक वात्सल्य, निज वात्सल्य तो ऐसा जो निज वात्सल्यवान पुरुष है वह दूसरे धर्मात्मा जीवों में भी निष्कपट वात्सल्य करता है। उसकी उपमा दी है गाय बछड़े की तरह। जैसे गाय को अपने बछड़े से कोई प्रकार की उम्मीद नहीं होती कि यह मुझे घास खिलाएगा या यह मेरे किसी काम आएगा, पर उसे अपने बछड़े से बड़ी प्रीति रहती है। और ऐसी प्रीति रहती कि अगर बछड़ा नदी में गिर जाए तो वह भी नदी में गिरकर अपने प्राण गंवा दे। इतनी अधिक प्रीति होती है गाय को अपने बछड़े पर। लेकिन उस गाय को बछड़े से कोई स्वार्थ नहीं होता, वह एक निष्कपट प्रीति है, इसी तरह प्रत्येक धर्मात्मा पुरुष को दूसरे धर्मात्मा पुरुष के प्रति निष्कपट प्रीति होती है, यह कहलाता है वात्सल्य अंग।

सम्यक्त्व का अङ्गभूत प्रभावना अङ्ग—सम्यक्त्व का अन्तिम अंग है प्रभावना अंग। प्रभावना किसे कहते हैं? देखो अज्ञान अंधकार दूर करने का कोई प्रोग्राम न हो, ज्ञान की प्रसिद्धि करने का कोई प्रोग्राम न हो वह तो प्रभावना का काम नहीं है। जैसे समारोह करना। बहुत से लोगों को बुलाते हैं, हजारों लाखों रुपये की कीमत का सामान निकलता है। छत्र, चमर, रथ आदि निकलते हैं। गाजे बाजे से बड़ा हो हल्ला होता है। दिन भर इस तरह से व्यतीत कर दिया, फिर वहाँ से आकर जहाँ का तहाँ सामान पहुँचा दिया। लो समारोह पूरा हो गया। उसमें न तो कोई धर्मशास्त्र सभा का प्रोग्राम रखा, न कोई ज्ञानचर्चा का प्रोग्राम रखा तो भला बतलाओ उससे सीख किसने पायी? अरे न तो उससे समाज ने सीख पायी और न अन्य समाज ने, बल्कि अन्य लोगों को ईर्ष्या हो गई। यह एक बात बतला रहे हैं कि जो ढंग की चीज है उसके विरुद्ध चलने से कोई न कोई कष्ट ही आएगा। और कष्ट आया है, ऐसे अनेक उदाहरण भी हैं। जिन लोगों ने देखा कि यह बड़े धनिक है, इस तरह कमाते हैं, ऐसा कमा डालते हैं और यह दिखाते हैं, यों अनेक प्रकार के भाव उठते हैं। तो वहाँ गलती क्या हुई? काम तो करे, काम करने को मना नहीं, जैसे बने यथोचित समारोह भी करें व जप, तप, व्रत, संयम, आदि भी करें मगर मूल बात को न छोड़ें। मूल बात क्या है कि अज्ञान दूर होना। अपना अज्ञान दूर करें दूसरों का अज्ञान दूर करें और ज्ञान की प्रभावना के साथ-साथ प्रभावना हो तो वह प्रभावना है, उसमें आपत्ति भी नहीं आती। यदि

व्याख्याताओं के व्याख्यान में किसी भी अजैन बन्धु की समझ में आ जाए कि तत्व यह है, स्वरूप यह है, यह तो मेरे आत्मा की बात कही जा रही है। धर्म तो आत्मा का होता है, व्यक्ति का नहीं, समाज का नहीं। आत्मा को दुःख से हटाने के लिए, सुख में पहुँचाने के लिए अपने आपका धर्म है। तो देखो उनका तो आपसे और प्रेम बढ़ेगा, उनकी तो आपकी ओर रुचि बढ़ेगी, आपसे वात्सल्य बढ़ेगा। समन्तभद्राचार्य ने स्पष्ट कहा है **"अज्ञानतिमिरव्याप्तिमपाकृत्य यथायथम् जिनशासनमाहात्म्यप्रकाशः स्यात्प्रभावना"** अज्ञान रूपी अंधकार को दूर करके फिर यथायोग्य जैन शासन के माहात्म्यको प्रकट करना सो प्रभावना है।

सम्यक्त्व के अष्ट अङ्गों का पारमार्थिक व व्यावहारिक प्रयोग का उपसंहार—उक्त प्रकार ८ अंगों सहित सम्यग्दर्शन है। तो अपने आप में विचार करें, पौरुष करें, मेरे को ये ८ अंग प्राप्त हों, इन अंगों में व्यवहार क्या? सो देखिए जिनेन्द्र भगवान की वाणी में शंका न करना, धर्म पालन करके किसी भी संसारी काम की इच्छा न करना। धर्मात्माजनों को देखकर उनकी सेवा करके ग्लानि न करना। कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु इनके चमत्कार को देख कर उसमें रीझ न जाना, धर्मात्माजनों से कोई दोष बन जाए तो उस दोष को प्रकट न करना, धर्मात्माजन अगर किसी कारण से धर्म से कुछ गिरने वाले हों, कठिनाई से गरीबी से, किसी कारण से तो उनको किसी प्रकार बने धर्म में स्थिर करना और ज्ञान की प्रभावना करना ये ८ बातें व्यवहाररत हैं। और निश्चयतः अपने स्वरूप में शंका न रखना, ज्ञानमात्र ही मैं हूँ, यह निर्विघ्न है, यह सहज आनन्दमय है, यह ही मैं हूँ। अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। कभी अन्य बातों की इच्छा न लाना, श्रद्धा में यह न रखना कि ऐसी चीज प्राप्त हो तो मेरा कोई हित है। अपने को कोई बाधा आए तो उसमें ग्लानि न करना। उसे समता से सहना, विषाद न करना और अपने आपके स्वरूप में सजग रहना, उसमें मूढ़ता न लाना। और अपने गुण प्रकट करना, दोष दूर करना, और खुद धर्म से च्युत होता हो तो पुनः उसमें स्थिर होना अपने स्वभाव में रुचि रखना और अपने ज्ञान का विकास करना, यह ८ अंगों सहित सम्यग्दर्शन है।

शरीर के आठ अङ्गों द्वारा सम्यक्त्व के अष्टाङ्गों का समर्थन—देखो इस शरीर के भी ८ अंग है—२ पैर २ हाथ, छाती, पीठ, नितम्ब और मस्तक। इन अंगों से भी ऐसा ही काम लिया जा रहा है। जैसे कि सम्यग्दर्शन के अंगों का काम है। देखो जब कोई आदमी चलता है तो वह अपना दाहिना पैर निशंक होकर रखता है और फिर मानो उपेक्षा करके पिछला पैर उठाता है। तो दाहिना पैर निशंकित जैसा काम करता है और पिछला (बांया) पैर निःकांक्षित जैसा काम करता है। जैसे सम्यग्दृष्टि जीव को भोग साधनों में आकांक्षा नहीं रहती ऐसे ही इस पुरुष को वह पिछला पैर उठाने में आकांक्षा कुछ नहीं रहती। वह बायें पैर की छुई हुई जमीन को देखता तक नहीं है। अच्छा अब देखो बायें हाथ की बात। लोग शौच करके इसी बायें हाथ से शुद्धि करते हैं फिर भी इस बायें हाथ से कोई ग्लानि तो नहीं करता।

बल्कि बायें हाथ को तो और भी अधिक मुद्रिकाओं से सजाया जाता है। तो इस तरह से सम्यग्दृष्टि को निर्विचिकित्सा होती है। वह धर्मात्माजनों से ग्लानि नहीं करता। अब दाहिने हाथ की बात देखो जैसे अमूढ़ दृष्टि में जीव को मूढ़ता की बात नहीं आती और बात भी सत्य कहता है कि यह है देव। ऐसे ही दाहिना हाथ भी आगे बढ़कर यही कहता कि बात तो यह सत्य है, बाकी झूठ है। तो देखिए इस दाहिने हाथ ने अमूढ़दृष्टि का पार्ट अदा किया। अब इसके बाद आता है उपगूहन अंग। इस उपगूहन अंग का पार्ट अदा करता है यह नितम्ब। देखो नितम्ब को कोई उघाड़कर तो नहीं रखता, ढके रहता है उघाड़ने वाला वह ही होगा जो अलौकिक पुरुष हो। जैसे लोग नितम्ब ढकते हैं ऐसे ही सम्यग्दृष्टि पुरुष धर्मात्मा के दोषों को ढकते हैं। ये शरीर के अंग भी सम्यक्त्व का पार्ट अदा कर रहे हैं। इसके बाद है स्थितिकरण। यह पीठ स्थितिकरण का पार्ट अदा कर रही है। चाहे मन दो मन का वजन इस पीठ के उपर रख दो फिर भी उस बोझ को स्थिर कर दे। तो देखिए यह पीठ स्थितिकरण का पार्ट अदा कर ही है। इसके बाद है वात्सल्य अंग देखिए आपकी यह छाती वात्सल्य अंग का पार्ट अदा कर रही है। जब आप किसी से वात्सल्य करते हैं तो उसे छाती से लगा लेते हैं। इसके बाद है प्रभावना अंग। तो यह मस्तक प्रभावना अंग का पार्ट अदा कर रहा है। मस्तक से (दिमाग से) सोचकर ज्ञान बनाया जाता, फिर उससे ज्ञान की प्रभावना का काम किया जाता। तो देखिए यह मस्तक प्रभावना अंग का पार्ट अदा कर रहा है। तो ये शरीर के अंग देखों। इनमें भी सम्यक्त्व के ८ अंगों की जैसी बात बसी हुई है। ऐसा यह साष्टाङ्ग सम्यग्दर्शन है कैसा है कि किसी के निसर्ग से होता और किसी के अधिगम से होता। इस बात का वर्णन इस तीसरे सूत्र में पूर्ण किया है। मोक्ष के उपाय बताने वाले इस मोक्षशास्त्र ग्रन्थ में द्वितीय सूत्र में जो कहा गया था कि तत्वार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इसी के सम्बन्ध में तब से चर्चा चली आ रही है। अब यहाँ यह जिज्ञासा हो रही कि वह तत्त्व क्या है जिस तत्त्व से निर्णय किए गए पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस तत्त्व की बात अब इस चतुर्थ सूत्र में कही जा रही है। **"जीवाजीवाश्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षास्तत्त्वम्"।**

मोक्षशास्त्र प्रवचन द्वितीय भाग

आचार्य संतों की वाणी में निश्चय व्यवहार समन्वय की झलक—जीव, अजीव आश्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व हैं पहले इस बात पर ही दृष्टि दीजिए कि आचार्यों की नीति निश्चय व्यवहारात्मक रही। प्रतिपादन रीति देखिए प्रथम सूत्र कहा गया **सम्यदर्शनज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः** तो इस ही सूत्र में मोक्षमार्गः निश्चय वचन है और सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि व्यवहार वचन है। ये हैं तीन और है बहुवचन। जो तीन है, बहुवचन है वह तो व्यवहार हुआ। और जो एकत्व को लेकर एक वचन में प्रयोग है—मोक्षमार्गः वह

निश्चय का प्रतीक हुआ। फिर द्वितीय सूत्र कहा गया तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, यहाँ तत्त्वार्थ श्रद्धानं है व्यवहारवचन, सम्यग्दर्शनं है निश्चयवचन। प्रयोजनभूत अर्थों का श्रद्धान करना, एक तो यह विवरण किया, कैसा श्रद्धान जो कि ज्ञान से विशेष सम्बन्ध रखता है उस माध्यम से वर्णन किया वह व्यवहार वचन हुआ। और सम्यग्दर्शन जो लक्ष्यभूत है वह निश्चय प्रतीक है। तृतीय सूत्र में कहा गया, **तन्निसर्गादधिगमाद्वा तत् निर्सगात् अधिगमात्वा** इसमें तत् शब्द है निश्चय प्रतीक, निसर्गाद् अधिगमाद्वा यह है व्यवहार प्रतीक। तत् एक संकेत है, एक वचन है, लक्ष्य को दिखाने वाला है, और निसर्ग से अधिगम से उत्पन्न होता है इस प्रकार का विश्लेषण, हेतु का वर्णन यह सब व्यवहारनय है, तो अब इस चतुर्थ सूत्र में भी देखिए **जीवाजीवास्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः** यह है व्यवहार वचन और तत्त्वं यह है निश्चयवचन। ये ७ हैं, सँख्या है अनेक है, सो बहुवचन है। यह व्यवहारवचन हुआ तत्त्वं एक वचन है, लक्ष्य को दिखाने में समर्थ है, अथवा एकत्व का अभिप्राय लिए हुए है अतः हुआ निश्चयवचन। अब सूत्रार्थ क्या हुआ जीव-अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा, मोक्ष ये सब तत्त्व हैं एक वचन से तत्त्व का जुड़ान बनेगा।

तत्त्व का तथ्य—बात यहाँ यह है कि तत्त्व तो जो है सो है। वह क्या है? एक है, इस रूप में भी नहीं कहा जाएगा किन्तु अनुभव में नजर में जो आया सो तत्त्व। इसके सम्बन्ध में समयसार के एक कलश में बताया है कि इस शुद्ध तत्व का साक्षात् दर्शन कराने वाला शुद्धनय है अर्थात् दर्शन तो होता है अनुभव में, जहाँ शुद्धनय भी नहीं रहता, लेकिन उस अनुभव से पहले शुद्धनय का उपयोग था, इसलिए कहा जाता कि शुद्धनय से शुद्ध तत्त्व का निश्चय होता अनुभव निश्चयनय से न होगा। अनुभव तो अशुद्धनय, शुद्धनय, निश्चयनय, व्यवहारनय सब नयों का परिहार करके एक निर्विकल्प स्थिति में होगा, लेकिन उसके नजदीक क्या था? वह शुद्धनय था विकल्प। तो उस शुद्धनय की बात कही जा रही है। **आत्मस्वभावं परभावभिन्नमापूर्णमाद्यन्त विमुक्तमेकं, विलीनसंकल्पविकल्पजालं प्रकाशयन् शुद्धनयोऽभ्युपेति।** अर्थात् शुद्धनय आत्मस्वभाव से प्रकाशित करता हुआ उदित होता है। कैसा है वह आत्म स्वभाव? प्रभाव भिन्न है, पर पदार्थों से निराला है, परिपूर्ण है, सनातन है, एक है इतना भी विकल्प से पर है। देखिए हम आप सबकी शान्ति के लिए, सदा के लिए संकटों से छूटने के लिए कोई यदि तत्त्व है, विवेक है निधि है तो यह सम्यग्ज्ञान है। वैभव बंधन तो कलंक है, कीचड़ है, मलिनता का हेतुभूत है, जिसका आश्रय करके क्रोध मान, माया, लोभ आदिक कषायें जागृत होती हैं। भला, बताओ इस आत्मा का इस ज्ञानस्वभावी जीवतत्त्व का क्या लेन-देन है इन बाहरी पदार्थ से? मोटे रूप से न साथ लाए न साथ ले जाएंगे। और मोटे रूप से जब तक यहाँ है तब तक इसके कारण शान्ति नहीं प्राप्त हो रही। अनेक परेशानियाँ हैं। राज्य की, बन्धुओं की, कुटुम्बियों की, समाज की, और भी अनेक परेशानियाँ हो रही हैं, जिनका आश्रय करके यह उपयोग अपने स्रोत से चिगकर विकल्प में, विचार में, बाह्य अर्थ

में चल रहा है। एक बार तो उसकी उपेक्षा कर। कोई भी परपदार्थ मुझे न चाहिए। यहाँ तो पर से विमुख हो लो। यहाँ से उठने के बाद घर जावोगे, दुकान जाओगे, परिस्थिति होगी! काम पड़ेगा। बना लेना वे विकल्प, पर यहाँ एक धर्म का अमृत पीने के उद्देश्य से आप लोग बैठे हैं। सदा के लिए निःसंकट होने के उद्देश्य से आप लोग बैठे ही हैं, नहीं तो यहाँ आने और बैठने की क्या आवश्यकता थी? यहाँ क्या कोई धन बंट रहा क्या लाइसेंस मिल रहा, क्या कोई पासपोर्ट मिल रहा, एक विशुद्ध अभिप्राय से आप लोग बैठे हैं ना कि मेरे को वह तत्त्व मिले जिसका ज्ञान करने से, जिसे प्राप्त कर लेने से मेरे सारे संकट सदा के लिए छूट जाएं।

स्वरूपतः स्वयं की संकटहीनता व स्वयं की गलती से संकटी बनने का चित्रण—देखिए—हम आप सब संकटहीन हैं, संकट कुछ नहीं है। किसी पर-चीज से संकट आ ही नहीं सकता। धन से संकट आएगा क्या? धन का तो मेरे में प्रवेश ही नहीं फिर संकट कहाँ से आएगा? क्या कुटुम्ब से संकट आएगा, क्या भाई बंधु से संकट आएगा? इस ज्ञानस्वरूप चैतन्य मात्र इस आत्मा में किसी भी पुद्गल से संकट आएगा क्या? उसका सम्बन्धही न हो पाता। तो क्या किसी जीव से संकट आएगा? जीव-जीव का तो सम्बन्ध सदा असम्भव है। देखो—जीव का तो सम्बन्ध सदा असम्भव है देखो—जीव और पुद्गल का तो सम्बन्ध हो जाता है। सम्पर्क हो गया, बन्धन हो गया, मगर एक जीव का दूसरे जीव के साथ तो कभी बन्धन न हुआ न हो सकेगा। शरीर से बन्धन हो गया, कर्म से बन्धन हो गया, पुद्गल का तो बन्धन हो गया, निमित्त नैमित्तिकभाव बन गया, मगर इस जीव का दूसरे जीव के साथ कभी भी न तो निमित्त नैमित्तिक भाव बन सका और न बन्धन बन सका। पर कितनी भूल पड़ी है इस ज्ञान नेत्र पर कि जितना आकर्षित यह पुद्गल पर नहीं होता उतना आकर्षित यह पर जीवों पर होता है। सो यह भी एक उपचार वचन है। पर वस्तु में तो कोई लगाव नहीं रख सकता। तो बाह्य पदार्थ से मेरे में कोई विपत्ति नहीं है तब फिर यह विपत्ति आयी तो कैसे आयी। मैंने अपने उपयोग में ही अपने उपयोग की कोई वृत्ति बनाकर एक संकट मोल लिया है। अच्छा तो ऐसा संकट क्या अकारण है? अनादि से है क्या? स्वभाव रूप है क्या? नहीं-नहीं, इसमें निमित्त कारण तो जरूर है। पर, निमित्त कारण की भी बात देखिए। निमित्त कारण क्या है? कर्म विपाक। जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं वे कर्म जब उदय अवस्था में आते हैं तो वे कर्मविपाक पर पदार्थ वाह्य उपाधि व निमित्त है। होता क्या है तब कि ये कर्म ये कर्मप्रकृतियाँ विपाक समय में स्वयं में अपना अनुराग फैलाती हैं चूँकि उनमें अनुराग बंध था ना? जब उदय में आया तब स्थिति हो रही है पूरी, उस काल में कर्म का, प्रकृति का अनुराग बना। जैसे कि किसी चूना के डले में मानो एक महीने की स्थिति है वह अपने ठीक स्वरूप में अपनी सत्ता में बिना गड़बड़ किए जैसे वह एक महीना रह सकता है, एक महीने के बाद वह फूल जाएगा। उसमें उमाड़ आ जाएगा, उसके भीतर में रहने

वाले अनुराग वह खिलने लगेगा, इसी तरह बंधे हुए जो हमारे कर्म हैं वे कर्म अब खिल रहे हैं। कौन खिल रहा? कर्म खिल खिला रहे? कर्म। कर्म में तो यह हालत हो रही और साथ ही यह क्या हालत हो रही? उपयोग में सब झलका। हम को पता नहीं पड़ता कि यह झलका। जैसे दर्पण के आगे अंधेरा आ जाए तो अंधेरा झलकता तो है पर पता तो नहीं लगता। वह वैसा ही पता है। तो फिर इस उपयोग ने क्या किया? झलक के ही समय झलक के ही साथ इस उपयोग ने उसको ग्रहण किया? झलक के ही साथ इस उपयोग ने उसको ग्रहण किया। माना अपने रूप से अपने में हुआ और आत्मा का स्वरूप है प्रतिभासमात्र, चैतन्यमात्र उपयोग तत्त्व। जो है उसे न समझने के कारण बाह्य को अपना लिया कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह एक इतना बड़ा पाप है, महापाप है, मिथ्यात्व मोह महापाप है कि जिस पाप का मुकाबला करने वाला कोई पाप नहीं हो सकता। मोह पाप को रखते हुए धर्म न हो पाएगा। स्व और परका सही प्रतिभास किए बिना, सही परिचय किए बिना, सही जानकारी किए बिना बतलाओ क्या धर्म मिल जाएगा।

अपूर्व अवसर न खो देने का अनुरोध—ओह, था कोई महान सौभाग्य जो एक सत्य स्वरूप का दर्शन कराने वाले एक जैन दर्शन की परम्परा में हम आपने जन्म पाया, अब ऐसा दुर्लभ जन्म पाकर काम वही करें जो अनादि काल से अनेक भवों में अब तक करते आए हैं, तो इसके पाने और न पाने का क्या अर्थ रहा? बराबर रहा। यहाँ बाह्य पदार्थों का लगाव रखकर कौन सा आनन्द पाना चाहते सो तो बताओ? अगर खाने पीने और स्वाद लेने का आनन्द पाना चाहते हैं मनुष्यभव पाकर तो खाने-पीने स्वाद लेने का आनन्द तो पशु-पक्षी, कीड़ा-मकोड़ा आदि सब को आ रहा है। यदि मनुष्यों को यहाँ लड्डू, पेड़ा, हलुआ वगैरह मजेदार लग रहे हैं तो इन गाय, भैंस, बैल वगैरह पशुओं को हरी घास वगैरह कम मजेदार नहीं लग रहे हैं। उन्हें घास मजेदार ही मालूम होती है सो यह कोई खास बात नही प्राप्त की। ऐसा इन्द्रिय सुख चाहिए था तो पशु बनकर घास खाकर भी पा लेता। किसलिए मनुष्य हुए? कौन-सा आनन्द पाने के लिए इस मनुष्यभव का निर्णय किया है सो तो बताओ? अच्छा, एक धनी और परिग्रह वाले बहुत धनिक ऊँचे आदमी कहलाने के लिए ना, इन बाह्य पदार्थों से, इन पुद्गलों के ढेरों से अगर इनका मौज पाने के लिए करते हैं तो देखो जिसकी जितनी बुद्धि विकसित हुई है, जितनी बुद्धि में मनुष्य हुए हैं वे अपनी बुद्धि में पाए हुए परिग्रह को काफी मानते हैं और उसे सारभूत मानते हैं। यह एक प्राकृतिक बात है। जंगल में रहने वाले भील जब आपस में बात करते हैं और किसी राजा की चर्चा करने लगें तो वे यही तो कहेंगे कि राजा बड़ा सुखी है, क्या कहना राजा के सुख का वह तो रोज गुड़ ही गुड़ खाता होगा। अब देखिए उन भीलों की बुद्धि उत्कृष्ट पदार्थ में गुड़ तक ही सीमित है। तो वे उत्कृष्ट पदार्थ में वे गुड़ तक ही संतुष्ट रहते हैं लेकिन भीतर तथा इन चींटा चींटियों के पास क्या परिग्रह नहीं रहता? अरे होता है परिग्रह, कुछ जोड़ कर भी रखते हैं, कुछ अपना

समझकर भी रखते हैं। चैत्र के महीने में ये चींटा-चींटी अपनी चोंच में अनाज ला लाकर अपने बिलों में संग्रह करते हैं। देखा खलियान में उनकी इतनी ही बुद्धि है, वे उसी को उत्कृष्ट मानते हैं। यहाँ लाख दो लाख करोड़ हो गया, उसको उत्कृष्ट मानते हैं। चक्रवर्ती इतने से विशेष वैभव को उत्कृष्ट मानता है। तो यह यों अपने मानने की बात है। परिग्रह का मौज जैसे मनुष्य लेते हैं वैसे ही पशु-पक्षी भी लेते हैं। कौन-सी बड़ी बात आप करते हैं सो तो बताओ? कुटुम्ब का राग, लड़के बच्चे खेलें, कूदें उनका राग उनका मजा। यह मजा क्या गाय भैंस वगैरह पशु नहीं पाते? उनका मजा देखें। अपने बच्चे को देखकर वे कितना सुन्दर आवाज में बोलते हैं। जब बछड़ा गाय के पास आता है तो गाय जीभ से अपने बच्चों को चाटती है, क्या वह मौज नहीं लेती? अगर कुटुम्ब का मौज लेना मनुष्यों का उद्देश्य है तो क्या ऐसी मौज पशु-पक्षियों को नहीं मिलती? कोई भी मौज बता दो। आप कहेंगे—बड़े अधिकारी बनते हैं उसका बड़ा मौज होता है। देखो सब बुद्धि से सीमित चीज चलती है। गाय बैल का जहाँ जत्था होता है उनमें प्रकृत्या ही कोई भी बैल उनमें अपने को राजा अनुभव कर लेता है। जो बलवान है। जिसकी चलती है, जिससे और गाय, बैल, भैंस डरते हैं वह तो अपने में गौरव अनुभव करता है ना। उनकी भाषा में जो बातचीत होती है उनकी आज्ञा का पालन भी वे गाय, भैंस आदि करते हैं। खूब निगाह से परख लो। सारी बात हो रही वैसी उन पशुपक्षियों में जो मनुष्यों में होती है। है न अपनी-अपनी बुद्धि की बात। तो संसार का कौन-सा मौज ऐसा है कि जिसके पाने के लिए यह मनुष्यभव समझा? कुछ नहीं है। चाहिए तो यह कि अपने में मनुष्य का नाता ही मत लगाओ। मत समझो कि मैं मनुष्य हूँ और मनुष्य का जो आवरण है वहाँ से और खिंचकर भीतर आवो, मैं मनुष्य नहीं हूँ यह ध्यान में लावो।

अन्तर में रहस्य समझे बिना धर्म में प्रगति की अशक्यता—देखो दो बातें हैं। एक तो है मानवधर्म और एक है आत्मधर्म। आत्मधर्म की बात कह रहे हैं जिससे कि यह आत्मा संसार के दुःखों से छूटकर मुक्ति पा सके। सदा के लिए दुःखों से दूर हो सके। और मानवधर्म? मानवधर्म भी अच्छा है। जो मानव नहीं बन सकता वह आत्मधर्म का पात्र भी कैसे बने? पहले तो यही बात है कि इन्सान में इन्सानियत होनी चाहिए। कोई जरा-जरा-सी बात में लड़ बैठे अपशब्द बोले खुदगर्जी बहुत हो, स्वार्थ हो, किसी दूसरे का उपकार नहीं कर सके। मानो नहा धोकर आए मन्दिर जा रहे हैं और रास्ते में कोई जीव जन्तु किसी जगह गंदले पानी में फंस गया है, बड़ा दुःखी हो रहा है, उसे तो देखते जाएं और कहते जायेंगे ओहो यह कैसा दुःखी हो रहा और बस आगे चलते जाएं, क्योंकि अगर इसको छू लेंगे तो अशुद्ध हो जाएंगे, अभी मन्दिर जाना है। याने मानवधर्म क्या बतलाता है? तुम्हें देर हो जाएगी, तुम चार पूजा करते थे, तीन ही कर लेना, फिर बाद में नहा लेना। और जो तड़फ रहा है पशुपक्षी या कोई भी जीव जो तुम से सहायता चाह रहा है तो उसका उपकार कर

दो। देखो जिसने जीव स्वरूप से नाता मान रखा हो वही तो ऐसी करुणा कर सकेगा। यानी अपने सुख के लिए कितना अपने को अपने अन्दर में लाना है? इसका अन्दाज करते जाइए। मानवधर्म का भी सही पालन करने के लिए कुछ तो अन्दर में आना पड़ेगा, अन्यथा सही न बनेगा। अभिमान से करेंगे। किसी खुदगर्जी से किसी कपट से या किसी अन्यभाव से करेंगे। कुछ अन्दर में आना पड़ेगा तब मानवधर्म बनेगा, और अतीव अन्तर में आना पड़ेगा तब आत्मधर्म बनेगा। तो आत्मा के धर्म की बात कह रहे हैं। हाँ किसके लिए अपना यह जीवन है, इसका निर्णय करना है। हिम्मत बनावो। देखो कई जगह ऐसा कहते हैं कि धर्म के लिए आओ, धर्मयज्ञ है तो अपने प्यारे की बलि दो। तो देखो आपको प्रिय हैं रागद्वेष मोह और उनका विषय बन रहे हैं घर कुटुम्ब आदि तो आपको इस रागद्वेष मोह की बलि देनी पड़ेगी। यहाँ कोई बहुत बड़ा ऊँचा काम होता हो तो उस ऊँचे काम को करने के लिए आप बड़ा प्रोग्राम करते, बड़ा खर्च करते, बड़ा परिश्रम करते। जैसे कोई बड़ा फर्म या मिल वगैरह खोलना हो तो आज ही जमीन ली तो क्या तभी से लाभ मिल जाएगा। उसको तैयार होने में, उसके चलने में काफी समय लग जाता है। कई वर्षों तक आप उसकी आमदनी के लिए बड़ी धीरता रखते हैं। कहीं उसी समय से तो लाभ नहीं मिलने लगता। तो ऐसे ही आत्मकल्याण के मार्ग में उस जीवन में कुछ धीरता तो रखो इस तत्त्वज्ञान के मार्ग में तो लगना चाहिए। तो एक निर्णय बनाएं कि मेरा जीवन है केवल आत्मतत्व का ज्ञान, श्रद्धान और आचरण बनाने के लिए। बाकी काम तो भव-भव में किए।

कर्म और नोकर्म से छुटकारा पाने की रीति—भैया इस शरीर से सम्बंध है अतएव इस शरीर को मनाये रखने के लिए कुछ जरूरी हो गया। कुछ अगर यह बिगड़ गया, कोई इन्द्रियाँ बिगड़ गईं, कुछ और हो गया तो संक्लेश का अवसर न आ सके इसलिए इस दुष्ट को मनाने के लिए कुछ काम करते जाइए, क्योंकि दुष्ट से फंस गए हैं, चिरकाल से फंसे हैं। अब इस दुष्ट से हम इसकी दुष्टता जानकर व्यवहार करें। यानी मेरे सारे कष्टों का कारणभूत यह मेरा शरीर है। कुछ ऊपर की बात कह रहे हैं। अन्दर में कर्म है निमित्तभूत, तो ऐसा समझ करके चाहें कि इसकी तो अभी हत्या कर दी जाए, जैसे कहते कि अभी खंजर चला दो, क्योंकि यह शरीर दुष्ट है, तो क्या ऐसा करने से शरीर का पिण्ड छूट जाएगा? अरे जाएंगे तो और नया शरीर मिलेगा। छूटेगा तो नहीं। जिस शरीर में इस जीव ने इतना मोह बना रखा है वह शरीर देखो सारे कष्टों का एक साधन है या नहीं? भूख प्यास, ठंड गर्मी आदि की बाधायें,मान, अपमान, संयोग वियोग आदि की बाधायें ये सब क्लेश शरीर न हो तो क्या हो जाएंगे? जितनी भी बुराई समझी जाती है, जितनी भी लोगों को अशान्ति होती है उस सब में भीतर में साधन है तो यह शरीर साधन है। तो इस शरीर से अलग होने की बात चित्त में आनी चाहिए। शरीर को सजाने, इतर फुलेल लगाने खूब बढ़िया-बढ़िया श्रृंगार करने के लिए चित्त न डुलाइये। चित्त में यह बात आनी चाहिए कि मेरा कब वह समय आए कि

इस शरीर से मेरे को मुक्ति प्राप्त हो। तो यह बात कैसे मिले? इस शरीर से छुटकारा कैसे मिले? कर्मों से छुटकारा कैसे बने? बाह्य दृष्टि करने से नहीं, किन्तु अपने को ज्ञानमात्र, उपयोगमात्र, स्वच्छतामात्र, प्रतिभासमात्र समझने से, अनुभवने से यह बात स्वयं सहज अपने आप हो जाएगी। जैसे गीली धोती में धूल चिपट गई हो तो उसकी गीलाई समाप्त होने पर अर्थात् धोती के सूख जाने पर धूल अपने आप झड़ जाएगी? ऐसे ही इस जीव ने गीलाई बना रखी है, काहे की गीलाई? राग द्वेष मोह की गीलाई। तो जीव में राग द्वेष मोह की गीलाई आ गई है। उससे कर्म चिपट गए अब इस कर्म धूल को झाड़ने के लिए, कर्म दूर करने के लिए मोह राग द्वेषादि विकार ही करते-करते जाएं तो इससे वह कर्म चिपटन दूर न होगी। अरे इस रागद्वेष मोहादि की गीलाई को सूखने दो, ये सब सूखने पर कर्म धूल कण अपने आप ही समाप्त हो जाएंगे। राग की गिलाई भी सूखने दो और द्वेष की गीलाई भी सूखने दो। द्वेष की गीलाई भी कैसी है सो जरा देखो—किसी को किसी से दुश्मनी हो तो वह कहता है कि यह मेरा शत्रु है। अहो, उसे कैसा अपना बना रहा है। कहता है कि मेरा दुश्मन। अहा एक बार ऐसा वह कह ही लेता है। भले ही उस द्वेष में गीलाई बसी हुई है। रुक्षता है, विद्वेष है मगर भीतर में लगाव बसा हुआ है। यह मेरा दुश्मन। प्यार से तो बोल रहा, मेरा दुश्मन, वह अपना लगाव तो कर रहा है। देखो मूल में उसने कैसा लगाव लगाया है और चल रहा है द्वेष। मोह रागद्वेष इन तीनों में गीलाई भरी है। उससे कर्मधूल चिपट रही है उसको दूर करना है।

आत्महित की भावना होने पर मोक्षमार्ग में उमंग की दृष्टि—देखो आत्महित की बात अगर चित्त में आ गई है तो उसके पक्ष नहीं रहता। उसको हठ नहीं रहता। उसमें तो यह ही भाव रहता है कि किस प्रकार से मैं इन कर्म और शरीर के बन्धनों से मुक्त हो जाऊँ? और—जब उस मार्ग में चलता है और जब इसे देखने लगता है भीतर में उसको नजर आने लगता है कि यह है ज्ञानस्वरूप। यह हूँ मैं। यह है ज्ञानमात्र। और, उस पर दृष्टि होती है, उस पर उपयोग जमता है तो ऐसी स्थिति में उसे बड़ा विश्वास होता है, दृष्टि होती है, ओह यह ही मुक्ति का मार्ग है, मुक्ति मेरे निकट ही है। जैसे कोई मुसाफिर किसी गाँव को जा रहा है और जाते-जाते उसका गाँव निकट हो तो आ रहा है। उसका गाँव निकट ही तो आता जा रहा है उसका ध्यान मार्ग में है तो वह कितनी गम्भीरता से चलता है। लो अब तो आया अपना धाम। और जैसे-जैसे वह निकट आता जाता है वैसे ही वैसे और और उमंग बढ़ती है। ठीक यही बात मोक्षमार्ग में चलने वाले ज्ञानियों की होती है। ज्ञानी जीव ने समझा कि यह है मार्ग। यह ही तो है मोक्षमार्ग। क्या कि ज्ञानमात्र इस निज तत्त्व का श्रद्धान करना, उपयोग होना, उस पर दृष्टि होना, उस ओर रहना, उसमें तृप्त रहना, यही है मोक्षमार्ग। यह ही किया भगवान ने। ऐसी दशा पाई वह दशा बाहर नहीं है। उसको अपने आप में सन्देह नहीं है। यह ही तो है मुक्ति, कहाँ बाहर है। देखो दूरी की भी समझ अनेक

दृष्टियों से होती है। एक समझ ऐसी होती है कि चाहे कितनी ही दूरी हो, निकट लगती है। दर्पण में बहुत दूर रखी हुई चीज का जब प्रतिबिम्ब पड़ता है तो बड़ी सूक्ष्मदृष्टि से देखें तो वहाँ भी आप केवल दर्पण दर्पण को देखकर पहचान जाएंगे कि जिसकी यह झलक है वह इतनी दूर है। बहुत गहरी दृष्टि से देखें तो यह पहचान सकते, केवल दर्पण को देख कर कि इस दर्पण में जिसकी झलक आ रही वह चीज कितनी दूर रखी है। बहुत दूर रखी होने पर भी आपके लिए तो बिल्कुल निकट है। दो दृष्टियाँ आएंगी। निकट की भी दृष्टि है और दूर की भी दृष्टि है। कोई समझ ऐसी होती है। जो ज्ञान के लिए यह मोक्ष की दूरी भी इतनी निकट है कि उसमें लम्बापन नहीं दिखता है। चाहे वह कई भवों के बाद हो, लेकिन जिसने आत्मतत्त्व का दर्शन किया, मोक्षमार्ग पर जिसका विश्वास है, जो मोक्ष के पथ में चल रहा है उसे कितनी ही देर में मुक्ति हो, मगर देखता है कि यह है मुक्ति जैसे लोग कहते हैं ना मानो अहमदाबाद से कलोल जाना है तो किसी ने पूछा भाई कलोल कितनी दूर है? तो वह कहता है कि बस यही तो है कलोल। तो क्या है? जिसके ज्ञान में साफ स्पष्ट झलक रहा—यह ही तो है सामने। कहाँ दूर है? अरे जिसकी ओर मुख किया वह पास है और जिसकी ओर पीठ की वह दूर है। बुन्देलखण्ड के कई व्यापारी सांवर नामक ग्राम में नमक खरीदने गए। वे व्यापारी थे समरिया ग्राम के। तो जब वे नमक खरीदकर वहाँ से लौटे कोई मील दो मील ही गए होंगे कि वहाँ उनमें साथियों में से किसी ने पूछा कि सिमरिया ग्राम कितनी दूर है? तो था तो मानो २०० मील दूर पर अभी सिमरिया, पर वह बोल उठा—साँवर दूर सिमरिया नीरी-नीरी का अर्थ है नजदीक। यानी जिसकी ओर पीठ है वह तो दूर हो गया और जिसकी और मुख किए हैं वह नजदीक है। तो ऐसे ही समझिए कि जब हमारा मुख मुक्ति की ओर है यानी मुक्ति की ओर जब हम चल रहे हैं तो हमारे लिए तो वह मुक्ति निकट है, दूर कहां है। यह बात किसकी कही जा रही? गपोड़ा मारने वालों की नहीं कही जा रही किन्तु भीतर में जिसके आत्मतत्त्व का निर्णय है, जो अन्तः देखता है, समझता है उसकी बात कही जा रही है।

अन्तस्तत्वदर्शी की वृत्ति—अन्तस्तत्त्व दर्शी को स्पष्ट समझ है कि जो यहाँ बीत रहा है यह सब कर्म की लीला है। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरा तो काम जानन्न मात्र का है। हुआ क्या? कर्म में तो कर्म की लीला है और उसके ही साथ में झलक और ज्ञान चल रहा है इसलिए संसार चल रहा है। देखो—तीन तरह के विकारी जीव होते हैं। एक तो आशक्तिपूर्वक झलके हुए विकार को ग्रहण करने वाला। दूसरा है अनाशक्त झलके विकार को ग्रहण करने वाला और तीसरा विकारी है वह विकार की झलक तो है, पर ग्रहण नहीं करता। विकार तीनों में है जो लोग ऐसा कहते हैं कि विकार ग्रहण करे तो विकार है और ग्रहण न करे तो विकार नहीं, सो बात नहीं। यह उपयोग स्वरूप है, जिस काल में कर्मविकार आया वह विकार झलके बिना नहीं रह सकता। झलके, पर कोई उस झलक को, उस विकार को क्या अनाशक्ति

से ग्रहण करता है? वह तो बुद्धि पूर्वक उसमें लगता और उसको आशक्ति से लेता है तो यह समझ लीजिए कि आशक्ति से विकार को ग्रहण करने वाला तो हुआ। पहला गुणस्थान, दूसरा गुणस्थान, तीसरा गुणस्थान वाला जीव, उसमें भी कमी बेसी लगेगी और अनाशक्ति से ग्रहण करने वाला है चौथा, ५वां, ६वां गुणस्थान वाला जीव। वह भी ग्रहण करता है, क्रोध, मान, लोभ आदि कषायें आती। अपने-अपने दर्जे में तीव्र मन्द की बात जाने, पर ७वें गुणस्थान से लेकर १०वें गुण स्थान तक वहाँ तो विकार झलकता है, उपाधि है, विकार, मगर उनको ग्रहण नहीं करता। वहाँ भी कुछ और भेद है यों भेद अभेद करेंगे तो बहुत कक्षाएं रखनी पड़ेंगी। तो यहाँ यह समझ लो कि हम क्या गलती कर रहे। हम गलती यह कर रहे कि विकारों को ग्रहण कर रहे, अपना रहे। यह ही मैं हूँ ऐसा समझते। कषाय करते हुए समझते हैं कि मैं ऐसी कषाय न करूँ, लोभ न करूँ तो मेरा जीवन क्या? तो इस तरह हम अपने आपमें देखें कि मेरा अपराध तो यह है कि मैं इस झलके हुए विकार को ग्रहण करता हूँ, अपनाता हूँ, उनको ग्रहण न करूँ, उन्हें न अपनाऊँ, सिर्फ उनका जानन देखनहार रहूँ तो इसमें मेरी विजय होगी।

ध्रुव तत्त्व के आश्रय से मन का स्थैर्य व विलय—हम चाहते हैं कि हमारा मन स्थिर हो लेकिन करते क्या हैं? अस्थिर विषय का ध्यान। देखिए दोनों ओर से गलती हो गई। मन भी अस्थिर है और जिसका ध्यान किया गया वह भी अस्थिर है तो जहाँ दोनों ओर से त्रुटि हो वहाँ मन की स्थिरता की आशा कैसे की जा सकती है? सर्वप्रथम जबकि मन की ओर भी अस्थिरता की त्रुटि नहीं बन रही तो कम से कम इतना तो करें कि विषय स्थिर तत्त्व को बनायें। मन भी स्थिर होगा और स्थिर तत्त्व का विषय करें तो सम्यक्त्व भी होगा। वास्तविक तत्त्व क्या है जो दृष्टि में आए तो नियम से सम्यक्त्व हो? उसकी ओर किसी भव्य जीव की दृष्टि होती है। यों दिल को सुहावनी लगने वाली बातें दिल का रोग दूर नहीं कर सकतीं। दिल ही जहाँ शान्त हो जाए, ऐसी स्थिति, ऐसी तपश्चर्या में कोई लगे तो उसे सन्तोष और शान्ति मिल सकेगी। जैसे राग के वचन राग को शान्त नहीं कर सकते ऐसे ही दिल पसंद बातें दिल के रोग को नहीं मिटा सकती और करना क्या चाहिए, जो आत्मार्थी पुरुष है, जिसको केवल एक यह ही प्रयोजन रह गया कि मेरी आत्मा का तो उद्धार हो, मुक्ति हो, जन्म-मरण के संकटों से छुटकारा हो उसको एक बहुत बड़े तपश्चरण में चलना होगा और वह तपश्चरण है दिल की आशा, दिल की लुभावनी बातें, इन सबकी बलि करनी होगी। कोई सोचे कि मेरे में बुद्धि नहीं, प्रतिभा नहीं, हम नहीं समझ सकते हैं आत्मा के उस गम्भीर गहरे अंतस्तत्त्व को तो उसका कहना एक प्रमाद भरा है जो आर्थिक कमाई के धंधों में बड़ी चतुराई रख सकता, जो दूसरों से छल करने में बड़ी-बड़ी कला बना सकता, उसमें क्या यह क्षयोपशम नहीं है कि वह अपने आत्मा के सीधे सादे सरल भोले अंतस्तत्त्वका दर्शन कर सके, पर रुचि नहीं है। जब तक निकट भव्यता न हो, जिसका होनहार ठीक नहीं

है उसे नहीं होती है आत्मतत्त्व की रुचि, तो ऐसी रुचि जिसको नहीं है मत हो, पर स्वयं एक अपनी-अपनी बात तो निश्चित बना लें कि मेरे को और कुछ न चाहिए। केवल यही चाहिए कि मेरी आत्मा-आत्मा में तृप्त हो, सन्तुष्ट हो और आत्मा के असली उस आराम को मैं अभी अभी-अभी पा सकूँ, उसके अतिरिक्त और जो कुछ हैं परिस्थितिवश लगना तो पड़ता है, लेकिन हैं सब उसके लिए बेकार। उनसे मेरे आत्मा का सुधार नहीं। तो ऐसे आत्मतत्व की परीक्षा के लिए अगर तन, मन, धन, वचन सर्वस्व न्यौछावर होता हो तो हो, मगर पहले आत्मा के अंतस्तत्त्व को तो समझो कि मुफ्त ही पाया। कुछ खोया नहीं। विनाशीक चीज थी वह भी खोया नहीं गया। यहाँ न रहा और जगह रहा अथवा यों न वर्ता और तरह बर्ता पर यह सब आन्तरिक लाभ मुफ्त ही तो प्राप्त हुआ। तो इससे तीव्र आस्था होनी चाहिए कि मेरे को तो अपने आपका वास्तविक सहजस्वरूप ही ज्ञान में लाऊँ। अवश्य आएगा ज्ञान में। कुछ थोड़ा उद्यम करना होगा। जो ज्ञानी पुरुष हो आत्मार्थी हो उनका कुछ प्रसाद पाना होगा।

आत्मतत्त्व प्राप्त करने के लिए आत्मविभवका सदुपयोग—बड़े-बड़े संत भी कुन्दकुन्दस्वामी भी उनके भक्त अमृत चन्द्र सूरि जहाँ यह बात बतलाते हैं कि आत्मा का अधिकार पाने के लिए कुछ वैभव चाहिए ना? तो वे वैभव चार किस्म के होते हैं एक तो वैभव है—शब्द ब्रह्म का बहुत ज्ञान हो, श्रद्धान हो। जिसके प्रथम बात में ही गलती हो वह आगे के वैभव को नहीं प्राप्त कर सकता। जिसे वीतराग जिनेन्द्र देव की वाणी में सप्ततत्त्वका दिग्दर्शन युक्तिपूर्ण जंचा जिसमें जरा भी सन्देह नहीं ऐसे वाणी परम्परा से जो कुछ कहते चले आए स्वर्ग नरक की बात तिरेसठ शलाका के पुरुषों के चारित्र की बात, उन सबको झूठ बोलने का प्रयोजन क्या था उन वीतराग ऋषीसंतोंको? ज्ञानी पुरुष जिन्होंने सप्ततत्त्वका वर्णन और अपने आपके भीतर सप्ततत्त्वका घटन, दिग्दर्शन किया है मेल खोजा है जो प्रभुने बताया सो मुझमें आया, जो मुझमें अनुभूत हुआ वही इस ग्रन्थ में मिल रहा ऐसा जिन्होंने मेल बना लिया उनके लिए जिनेन्द्र वाणी में जितना जो कुछ कहा गया है उनमें अनास्थाकी रंच भी गुंजाइश नहीं होती। जिनको सप्ततत्त्वकी श्रद्धा हुई है, वह प्रभुकी वाणी को असत्य कहने के लिए जिह्वा नहीं उठाता। तो आत्मा का अधिकार पाने के लिए पहला वैभव है समस्त ब्रह्म की उपासना, आत्मज्ञान। दूसरा वैभव यह है कि ऐसी प्रतिभा जगे कि समस्त विपक्ष की युक्तियों को दूर कर सके, अर्थात् दार्शनिक शास्त्र का भी बहुत अधिक मंथन किया गया हो। यह एक वैभव है आत्मापर सही अधिकार पाने का। तीसरा वैभव है—गुरूचरण सेवा इतनी की हो कि उनके प्रसाद से उनके संकेत से या सहज ही सेवा करतेमें एक उस तत्त्वज्ञान की झलक बन जाए जिसे कहते हैं गुरुचरण प्रसाद पाया, औरजो शुद्ध आत्मतत्त्व का अनुशासन मिलता है एक वह। जैसे कोई आदमी अपने आप कुछ चीज सीखे और कोई उसी चीज को किसी गुरु से सीखे तो उन दोनों की शिक्षाओं में अन्तर देखते हैं इसी तरह अपने आप अध्ययन करके, अपने आप पढ़ करके, अपने आप बाँच बुँचकर जो ज्ञान पाया जाता है एक

वह ज्ञान और दूसरा जो आगमवेत्ता है, जो युक्तियों से परख चुका है, अनुभव से समझ चुका है ऐसे गुरु की परम्परा से पाये ज्ञान तो इन दोनों ज्ञानों में ऐसा ही अन्तर है। तो आत्माधिकार पाने वाले का तीसरा वैभव है गुरुचरण प्रसाद से पाया हुआ तत्त्वानुशासन और चौथा वैभव है अपने आपमें उसको ऐसा घटित करना, ऐसा अपने आपके भीतर समझना कि निरन्तर आनन्द झरे और उस आनन्द का जो संवेदन उस संवेदन से ही जो एक पुष्टता होती है वह वैभव अनुपम वैभव है। तो इस वैभव में हम प्रवेश करें, इसके अधिकारी बनें, ऐसा हमारा यत्न हो। जो बात जिस विधि से होती है वह बात उस विधि से हुआ करती है। संसार में रुलने का विधान है पर द्रव्यों की अपनायत करना और मुक्ति का विधान है अपने सहज स्वरूप में आत्मा की प्रतीति करना, यदि अनात्मतत्त्व में आत्मश्रद्धा करने से संसार होता है, जन्म-मरण होता है और होना चाहिए तो सहज आत्मतत्त्व में आत्मत्त्व की श्रद्धा करने पर मुक्ति क्यों न होगी? होनी पड़ेगी।

शुद्धनय के अवलम्बन से उपलब्ध ध्रुव अन्तस्तत्त्व के आश्रय से उपयोग की स्थिरता—भैया प्रयत्न करना ऐसे तत्त्वज्ञान की ऐसे उस तत्त्व को विषय लेने की कि जो स्थिर है, ध्रुव है और अपने से कभी अलग नहीं होता। जो ध्रुव हो और अपने आप में सहज बना हुआ हो उसको उपयोग में लें तो मन को स्थिर होना पड़ेगा। मन को स्थिर करना अतीव यह ऊँची बात नहीं, पर मन का काम ही न रहे यह है ऊँची बात। तो चित्त की अस्थिरता से अधिक महत्त्व है चिन्तन अस्थिरता और चित्त की स्थिरता से अधिक महत्त्व है चित्त से अलग हट जाने का। तो ऐसे उस तत्त्व में दृष्टि जाए तो जैसे प्रभु-प्रभु बन गए वैसे ही यहाँ भी कर्म दूर होकर प्रभुता मिलेगी। वह तत्त्व क्या है? उसको ही समझाया गया है शुद्धनय से। शुद्धनय कहते हैं ऐसे ज्ञान को कि जिस ज्ञान में केवल एक अभेद अखण्ड अवक्तव्य वचनातीत अंतस्तत्त्व विषय में हो। जिसके बारे में अगर जोर लगाकर किसी को समझाएं तो यह कहते बनता कि वह तो जो है सो है। इससे अधिक बात तो कुन्दकुन्दाचार्यदेव भी नहीं कह सकते। उन्होंने यही कहा कि वह शुद्ध आत्मतत्त्व न तो प्रमत्त है न अप्रमत्त है किन्तु यह ज्ञायकभाव है। ऐसा ऋषि जन कहते हैं। और वह क्या है? जो है सो है। जो ज्ञान है सो है। ये शब्द कुन्दकुन्द प्रभुके हैं, क्योंकि उसके बारे में कुछ भी कथन करना, कुछ भी बात बोलना भेद किए बिना नहीं होता। और भेद में वह यथार्थ वस्तु आती नहीं। तो हम आपने बहुत-बहुत चीजें परखी, जानी, लेकिन ऐसा घनिष्ट, वचनातीत अपने आप में अन्तः प्रकाशमान सहज स्वरूप का परिचय नहीं किया और इसीलिए संसार में भटक रहे हैं। तो ध्रुव अंतस्तत्त्व की दृष्टि से मन स्थिर होता है और यह मन भी ऊँची स्थिति बनाकर स्वयं भी विलीन हो जाता है।

निरानन्दतत्त्वका आश्रय न कर आनन्दस्वरूप अन्तस्तत्त्व के आश्रय में आनन्द की उपलब्धि—हम चाहते हैं आनन्द पर उपयोग में लाते हैं हम आनन्द–रहित वस्तु को।

जहाँ विषय आनन्दरहित वस्तु बन रहा हो वहाँ आनन्द की आशा करना व्यर्थ है। जगत में जितने भी पौद्गलिक अचेतन पदार्थ हैं वे सब आनन्दरहित हैं। उनको हम दिल में बसाते, उपयोग में रखते हैं और आशा करते हैं कि आनन्द मिले। गलत नहीं बताया गया, आनन्द रहित वस्तु में दृष्टि गड़ाकर कोई आनन्द पाले तो कोई तुक नहीं है इसका। तो जब हम आनन्द पाने के अभिलाषी हैं तो हमें परखना चाहिए आनन्दमय अन्तस्तत्त्व को। अपनी बात कठिन लगे और बेकार की बात सरस लगे उसका सुभटपना अधिक समझा जाएगा, क्योंकि ऐसा बल पाना तो भगवान के वश की भी बात नहीं है। जो पर पदार्थ है जो कभी अपना हो नहीं सकता उसको पाने की बात, उसको कमाने की बात, उसको भोगने की बात सरल लग रही हो और निज सहज ज्ञानतत्त्व की बात जिसे कठिन जंच रही हो यह तो अज्ञानी है, ज्ञानी की बात कह रहे हैं यहाँ केवल। उसे तो समझना चाहिए। क्यों भगवान से बढ़कर चला जावे? लोक में कहावत है कि जो बहुत बढ़कर चलता है वह ठोंकरे खाता है। जो प्रभु से भी बढ़-बढ़कर बातें करता हो वह तो ठोकर ही खायेगा। यह ही हाल हो रहा है मोही जीवका कि वह प्रभु की चाल से भी आगे बढ़कर अपनी चाल बना रहा है। तो उसका फल यह ही है कि वह चतुर्गति में भटकेगा और दुःखी होगा। अपनी आनन्दमय स्थिति पाना है तो आनन्दरहित वस्तु को हितरूप न मानें किन्तु आनन्दमय जो निजतत्त्व है उसको ही हितरूप मानें तो इसे आनन्द की स्थिति भी मिल सकती है। अपना सब कुछ हित, अपना सर्व कुछ कल्याण सामने रखा भीतर पड़ा है। केवल एक दृष्टि करने की बात है। सब कुछ दृष्टि द्वारा ही साध्य है, और उसकी दृष्टि के लिए विद्याभ्यास चाहिए और कुछ प्रकृति भी सुन्दर चाहिए। नम्रता हो, क्षमाशीलता हो, छल, कपट की बात न सोचें, उदारता हो, और एक मुक्ति पाने का लक्ष्य कल्पवृक्ष की तरह है। जो सोचे सो कर सकता है। जब यह खराब सोचता है तो खराब होता जाता है इसी से यह अन्दाज बनाओ कि आत्मा कैसा परमेश्वर है कि जैसा चाहे वैसा बन सकता है। खोटा चाहता है तो खोटा बन लेता है। यह मन में नहीं जान पाता कि मैं खोटा बनूँ, पर खोटा चाहे तो खोटा रहेगा, अच्छा चाहे तो अच्छा बन जाएगा। सब दृष्टि के द्वारा ही साध्य है। अपनी दृष्टि निर्मल बनाएं और भेदनय से सब चीजें परख परखकर जो अभेद ज्ञान ज्योति है, जिसके कहने के लिए शब्द नहीं हैं, किन्तु भीतर में ही ऐसी दृष्टि बनाएं, ऐसा ही प्रयोग करें, ऐसा ही अपने आपमें विश्राम पाकर सहज निरख बनायें तो किसी क्षण यह परमात्मतत्त्व दर्शन देता है। वह दर्शन जिसे मिले वह है, भाग्यवान, वह है अमीर, इस ही परमात्म स्वरूप के दर्शन बिना अगर बाहर की सम्पदा कुछ-कुछ बात मिलती भी जाए तो उससे इसका कोई सुधार नहीं है।

आत्मतत्वकी परभावविविक्तता—अपने आप में जो सारभूत तत्व है, जिसका आश्रय करने से संसार के समस्त संकट दूर होते हैं, तत्काल भी शान्ति है और आगे सदाकाल शान्ति रहे, एतदर्थ जो अनाद्यनन्त अन्तः प्रकाशमार्ग सहज ज्ञानानन्द स्वरूप है, ऐसा वह परम उपासनीय

तत्व ऐसा वह भगवत् स्वरूप अपने आप में शाश्वत प्रकाशमान है उसकी बात कही जा रही है, उसे जो यथार्थ में निरखे कि वह प्रभुता तो मेरे पर्याय में है सो बात नहीं है। जो मैं हूँ सो सिद्ध हूँ ऐसा मैं नहीं, किन्तु मेरा स्वरूप सिद्ध के समान है। वह स्वरूप अपने आप में अन्तर्निहित है उसकी बात चल रही है तो उसका परिचय किस तरह से होता है? उसका परिचय होता है शुद्धनय से और अनुभव होता है शुद्धनय, अशुद्धनय सभी नयों का परिहार करके, त्याग करके एक स्वयं सहज होने वाली निर्विकल्प दशा से। उस आत्मस्वभाव की बात देखिए—वह कैसा हूँ मैं? परभावों से भिन्न हूँ मकान आदि से भिन्न हूँ। शरीर से भी भिन्न हूँ। यहाँ तक तो समझने में अधिक दिक्कत नहीं पड़ती। अब उसके अन्दर और चलते हैं तो ये कर्म भी मैं नहीं हूँ। जहाँ यह विषय बनता है। आगमद्वारा कुछ युक्ति द्वारा कि कर्म एक मेरे से भिन्न पदार्थ हैं तो वह भी भिन्न है। अब उसके अन्दर में और चलें कि जो कषाय विषय इच्छाओं के भाव उत्पन्न होते हैं, यह मैं आत्मतत्त्व उनसे भी निराला हूँ। यह समझने के लिए एक तो परमार्थ स्वभाव दृष्टि के परिचय की जरूरत है। यहाँ ये विकार हैं विषय कषाय। दूसरे यह समझने की जरूरत है कि आत्मा में उठने वाले कषाय अज्ञान परिणाम क्या हैं कि कर्मोदय में आए, उनका विपाक हुआ, कर्म में भी अनुभाग स्फुरण हुआ और उसी समय आत्मा में झलका और ग्रहण हुआ अर्थात् कर्मविपाक का निमित्त पाकर जीव में विकार अज्ञान परिणाम हुआ। किया इस जीव ने ही। अगर कर्म राग करे, जीव के ज्ञान परिणाम को कर्म अगर करे तो जो ईश्वरवादी हैं वे भी कहते हैं कि ईश्वर ही जगत को बनाता है, सुख-दुख देता है और उनकी तकदीर बनाता है, फिर तो उनके कहने में और यहाँ इस कर्मवादी के कहने में कोई अन्तर न रहा, पर कर्म तो राग परिणाम को नहीं करता, किन्तु कर्मोदय का निमित्त पाकर जीव में स्वयं राग परिणमन करने की बात बनती है। ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है। तो इस योग को ध्यान में लेकर जानना चाहिए कि कषायभाव जो है वह परभाव हैं। पर निमित्त पाकर हुआ है, इसलिए परभाव है। स्वभाव से यह विपरीत है अतएव परभाव है। मैं अन्तस्तत्व तो अपने आपके स्वभावरूप ही हूँ। यह निबद्ध नहीं है, बँधा हुआ नहीं है। अब बँधा है पहले न था ऐसा मैं नहीं मगर रागादिक परिणाम तो निबद्ध हैं, न थे अब हुए। तो जो बात ऐसी हो कि स्वभाव से विपरीत हो और पहले न था, अब हुआ हो तो वह नियम से सहेतुक होता है, अनैमित्तिक नहीं होता है। यह निमित्त नैमित्तिक योग की बात है। वस्तु स्वातंत्र्य तो समझ लीजिए वस्तु स्वरूप को देखकर। वह स्वयं उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त है। उसमें स्वतः अपने आप ही उत्पादव्यय होता जाता है, मगर विकार परिणाम जो होता है कभी भी किसी पदार्थ में वह तो स्वयं उपादान और स्वयं निमित्त से ही बने तो शाश्वत हो जाएगा, तो उसमें निमित्त पर उपाधि है, यह निमित्त उपाधि है, परभाव है, मेरा स्वरूप नहीं है। इन विषय कषायों से मैं निराला हूँ। और इसी के प्रसंग में और भी निरखिए विकल्प, विचार, बुद्धि तर्कणा ये सब भी मैं नहीं हूँ क्योंकि ये भी नैमित्तिक हैं। कर्म का

क्षयोपशम और उस जाति का राग ये सब जब आते हैं तब ये विकल्प विचार की स्थितियाँ बनती हैं, उनसे भी मैं निराला हूँ।

निर्विकल्प आत्म स्वभाव की निरख—हाँ तो अब ध्यान में आया कि परभावों से मैं भिन्न हूँ, तो कोई कह रहा हाँ मैं खूब समझ गया। आप यह कहते हैं कि यह आत्मा रागद्वेषादि विकार भावों से निराला, है, तो फिर ये जो ज्ञान उठते हैं हमारे मतिज्ञान, श्रुतज्ञान आदि, तो उस रूप तो मैं होऊँगा? तो दूसरा विशेषण देते हैं, नहीं-नहीं, इस रूप भी मैं नहीं हूँ मैं तो परिपूर्ण हूँ। मतिज्ञान, श्रुतज्ञान तो अधूरे ज्ञान हैं, इस रूप मैं नहीं हूँ। ये मेरे स्वरूप नहीं है, किन्तु मैं तो पूर्ण हूँ। इसको सुनकर कोई दूसरा बोला, मैं समझ गया। आप कह रहे हैं कि मैं केवलज्ञानस्वरूप हूँ। वही मेरा स्वरूप हुआ, वही स्वभाव हुआ। तो तीसरा विशेषण देकर आचार्यदेव कहते हैं कि नहीं-नहीं, केवल ज्ञानस्वरूप भी मैं नहीं हूँ। लक्षण की बात कह रहे हैं, स्वरूप और स्वभाव की बात कह रहे हैं। जो स्वरूप होता है उसका आदि, मध्य अन्त नहीं हुआ करता, याने पहले न था अब हुआ, ऐसा नहीं, अथवा है और मिट जाएगा ऐसा नहीं। तो कहते हैं कि आद्यंतविमुक्तं अर्थात् आदि और अन्त से रहित है ऐसा मैं हूँ अन्तस्तत्व। केवलज्ञान का अंत तो न होगा प्रवाह रूप में लेकिन आदि तो है। किसी दिन केवलज्ञान प्रकट हुआ है तो वह स्वभाव नहीं है। तो कोई चौथा श्रोता बोला, मैं समझ गया। आप यह कह रहे हैं कि मैं एक ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञानस्वरूप हूँ, सहज ज्ञानरूप हूँ। तो उसका उत्तर यह है कि हाँ भाई कुछ-कुछ समझे तो हो कि मैं एक सहज ज्ञानस्वरूप हूँ। जो अनादि अनन्त है। जिसकी न आदि है न अन्त है, जो ध्रुव है, सनातन है; ऐसा यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, आप यह कह रहे हैं। हाँ समझ तो गए कि यह कह रहे, लेकिन अभी ठीक नहीं समझे। अरे कैसे नहीं समझे? यों नहीं समझे कि जब तक आप उस स्वभावको यों सामने रखकर बोलेंगे कि वह एक रूप है, एक स्वरूप है, एक है, तो जिसके विषय में आपको एक कहने का विकल्प होगा आप उस समय उसका अनुभव नहीं कर पा रहे तो उस एक के विकल्प में भी अनुभव नहीं होता और अनुभव में जाना गया स्वभाव, आत्मस्वभाव परमार्थ यथार्थ है। तो अंत में निर्णय होता है कि संकल्पविकल्पमुक्तं। वह आत्मस्वभाव तो संकल्प विकल्प से रहित है। एक है इतना भी जहाँ संकल्प विकल्प नहीं, किन्तु जब ज्ञान में ज्ञान स्वभाव ज्ञेय होकर उस ही रूप उपयोगी बन गया है, वहाँ जाना गया कि यह है आत्मस्वभाव। ऐसा यह आत्मस्वभाव है, विलीन संकल्प विकल्प जाल है।

आत्मतत्व के जानने के यत्न में जीव विस्तार की अटकलें—जिसके आश्रय से मुक्ति मिलती उस तत्त्व को समझने के लिए यह सब प्रयास चल रहा है। कैसे समझें उस तत्त्व को? मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व उसे समझाने के लिए व्यवहारनय से विवरण करके बताया जा रहा है। तत्त्व ७ प्रकार के हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। अच्छा अब एक निर्विकल्प ज्ञानस्वरूप तत्त्व को समझाने के लिए इतना फैलाव क्यों

किया जा रहा है? यों किया जा रहा है कि अनादि से जीव फैलाव में ही तो पड़ा हुआ है। कषायभाव हो रहे, कितनी विडम्बनायें हैं। कितनी योनियों में जन्म है। कितनी तरह के फैलाव हैं। ऐसे फैलाव में सन्तुष्ट रहने वाला ऐसे फैलाव में अपनी विधि बनाने की धुन रखने वाला यह जीव कैसे समझे? उसको समझने के लिए प्रयास चल रहा है। तो ये ७ तत्त्व हैं यह जानें। उनके समझने पर जान लीजिए यह है भूतार्थ परमार्थ ज्ञानस्वरूप। इन ७ के समझने से कैसे समझ में आता है? तो पहले समझें। जीव किसे कहते हैं? जिसमें ज्ञान हो, चेतना हो, समझ हो उसे कहते हैं जीव। देखो पहले तो अपने आप में यह ही श्रद्धा होनी चाहिए कि मैं जीव हूँ। लोग सोचेंगे कि सभी लोग तो समझते हैं कि मैं जीव हूँ। सभी लोग कहते हैं कि मैं जीव हूँ। उसकी श्रद्धा तो बनी हुई है। कहाँ मिट्टी। नहीं-नहीं, सबकी श्रद्धा नहीं हो रही है कि मैं जीव हूँ। कोई कहता है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये चार तत्त्व मिल गए तो जीव बन गया। ऐसा कहनें वाले पौराणिक दृष्टि से तो चार्वाक कहलाते हैं, किन्तु ऐसा कहने वाले बहुत सँख्या में जीव मिलेंगे। क्या है? मिट्टी, जल, आग और हवा ये चार मिल गए तो जीव बन गया। ऐसा भी तो कहने वाले बहुत व्यक्ति हैं। तो कैसे समझें कि मैं जीव हूँ। जब यह समझो कि मैं जीव नामक पदार्थ अलग स्वतंत्र सत् हूँ तब जीव की श्रद्धा कहलाती है। यों कहने को तो कुछ भी कहिए, कहना पड़ेगा चार के समूह को—पृथ्वी, जल, अग्नि और हवा। ऐसा कहने में उनको मदद किसने दी? यहाँ भी देख रहे कि यह शरीर पृथ्वी की तरह है। इसे यों ही बेपरवाह छोड़ दिया जाए तो कुछ दिनों में वह मिट्टी रूप बन जाता है बहुत साल की बात है, एक दिन मैं जा हा था, सुबह शौच से लौट रहा था तो वहाँ मैंने अपनेमन में विचारा कि देखो माँस तो छूने लायक होता नहीं और माँस कच्चा हो तो जीवोत्पत्ति होती। और वह अगर सड़ जाए तो जीवोत्पत्ति होती अब यहाँ कितनी ही मल मूत्रादि के साथ माँस खण्ड भी पड़े हुए हैं, यह सब पृथ्वी अशुद्ध है, तो फिर मैं कौन-सा डला लेकर हाथ धोऊं? यह पृथ्वी सब अशुद्ध है। यहाँ तो पहले माँस पड़ा था, उसका पृथ्वी में मिलन हो गया। अनेक जगह टट्टी गोबर आदि पड़े हुए थे वे पृथ्वी बन गये, तो वे सब पड़े हुए मिट्टी के डले माँस ही तो हैं। मैं कैसे हाथ धोऊं तो धोना ही था, धोये बिना तो चलता नहीं। एक दो दिन बाद ये परिवर्तन करके जब मिट्टी रूप बन जाते हैं तो मिट्टी एक पृथ्वी कायिक बन गई। स्थावरों में माँस होता नहीं तो उनमें माँस की गंध आएगी कहाँ? तो समझ में आया तो बात क्या चल रही थी कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार के पिण्ड को जीव कहते हैं, इन्हें चार्वाक कहते हैं, जिनके गुरु का नाम वृहस्पति है, याने जो चार्वाक हैं उनके गुरु का नाम है वृहस्पति जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु इन चार के पिण्ड को जीव कहते हैं। जीव अलग नहीं है, इसी पर यह सिद्धान्त बना कि जब तक जियो सुख से जियो, चाहे कर्ज लेना पड़े, उसकी परवाह न करो, पर जियो तो सुख से जियो इस जीव को मरने के बाद फिर आना कहाँ होता है?. . . .

सर्वस्थितियों में आत्मश्रद्धा से लाभ की सम्भावना—एक बार ऐसे ही गृहस्थावस्था में छोटी उम्र में कुछ मित्रजन एक चर्चा कर रहे थे। उनमें यह विवाद छिड़ गया कि सुख किसमें है? जीव की श्रद्धा करने में, धर्म करने में, व्रत उपवास आदि करने में सुख है या खूब खावो पियो, खूब भोग भोगो। खूब मौज करो, इसमें सुख है? ये दो पक्ष चले। अब हमने तो यह पक्ष लिया कि जीव की श्रद्धा करने से शान्ति मिलेगी। उसने यह पक्ष लिया खूब खाओ, पियो मौज करो, भोग भोगो, खूब यश फैलावो, खूब आराम के साधन जोड़ने से सुख होता है। बहुत देर तक चर्चा चलते-चलते अन्त में हमने एक यह बात रखी कि देखो सभी जीव सुख शान्ति चाहते हैं, और कुछ नहीं चाहते। ऐश आराम के साधन भोगकर भी आखिर उनकी चाह क्या है? सुख शान्ति। दूसरी कोई चाह तो नहीं है। अब यह विचार कर लो कि २४ घन्टे की चर्चा में भी देख लो, जिसने यह ख्याल बनाया है कि धन जोड़ लें, ऐश आराम के साधन जोड़ लें, खूब अच्छा खाने पीने में, कुटुम्ब आदि का वर्द्धन करने में सुख शान्ति है, वे भी यह देखलें कि ऐसा करते हुए में उनको वास्तव में कुछ चैन मिलता है या नहीं। सुख की बात छोड़ दो, शान्ति, विश्राम, विराम कुछ मिलता है कि नहीं। जैसे शरीर थक जाए और शरीर को यों ही ढीलाढाला छोड़कर पड़ जाएं, एक विश्राम मिलता है ना, इसी तरह इन सब विषय प्रसंग की बातों में पड़कर कभी किसी को विश्राम मिलता है क्या? नहीं मिलता। चाहते हैं सुख शान्ति। अच्छा अब ध्यान दीजिए कि मैं जीव हूँ। सबसे निराला हूँ, केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। सबसे निराला हूँ। केवल ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरा काम केवल जानने का है। इससे कुछ सम्बन्ध नहीं। यह शरीर न्यारा है। मैं जीव न्यारा हूँ। ऐसे जीव का जब उपयोग करें तो उस समय कुछ शान्ति मिलती है कि नहीं? चाहे वह बात झूठ हो, जैसे कि विपक्षी ने कहा कि जीव नाम की कोई चीज नहीं है, मानों जीव की सत्ता मान लें कि मिथ्या है, मिथ्या सही, लेकिन इस मिथ्या पर भी दृष्टि डालते हैं कि मैं सबसे निराला हूँ, ऐसा कोई एक विलक्षण जीव हूँ ऐसी दृष्टि डालते हैं। जरा डालकर देखो तो सही कि कुछ चैन मिलता है कि नहीं? उसने कहा? हाँ कुछ मिलता तो है क्योंकि बाहर के बहुत से विकल्प हटने से कुछ चैन तो मिलता है ही? ठीक है। अच्छा मान लिया। मगर इन सांसारिक सुख साधनों से इस भव में तो मौज मिलता है। ठीक है, इस भव का मौज लूट लिया मगर पर भव निकल आया तो क्या करोंगे? तब तो फिर कुछ सुख न पा सकोगे। इससे एक जीव तत्त्व की श्रद्धा करो। इस जीव तत्त्व की श्रद्धा करने से इस भव में भी सुख साता रहेगी और परभाव भी अच्छा रहेगा। इस जीव के बारे में तो सबका अनुभव है। जिसे कहते हैं। अहँप्रत्ययवेद्य। यानी हूँ हूँ इस प्रकार के ज्ञान के द्वारा सबको समझ है कि मैं हूँ। हूँ के बारे में किसी को सन्देह नहीं। मैं हूँ। और बाहर में भी लोग समझते हैं कि यह जीव है। जैसे कोई पुरुष किसी कुत्ता बिल्ली आदि जानवर के लाठी मारे तो लोग उसे रोकते हैं भाई इस बेचारे को क्यों मारते हो? और अगर कोई ईंट पत्थर वगैरह में लाठी मारे तो उसे तो कोई

नहीं रोकता ! वह तो सीधे चला जाता है। कोई यह तो नहीं कहता कि भाई तुम इस ईंट को क्यों मार रहे? तो सबकी दृष्टि में यह बात है कि यह जीव नहीं है और यह जीव है। यह सबको श्रद्धा है। तो इतनी भी श्रद्धा से काम न चलेगा। किन्तु एक विशुद्ध जीव याने स्वयं खुद अपने आप जितना है उतना ऐसा जीव स्वरूप ज्ञान में आये बिना धर्म के मार्ग में गति नहीं होती।

जीव विस्तार में सहज जीव स्वरूप की खोज—इतना जानें तो यह भी बहुत है कि यह जीव है, पशु जीव है। पक्षी जीव है, कीड़ा मकौड़ा, जीव है। जान लिया कि जीव है। इसमें कुछ तो फायदा हुआ, कुछ तो दया का काम चला। कुछ तो तुम्हारा ठीक व्यवहार हुआ। लेकिन सदा के लिए संसार के संकटों से छूटना बने उसका प्रयोजनभूत जो जीवतत्त्व का श्रद्धान है वह अभी पूर्ण नहीं हुआ। कुछ और समझना होगा ये जो नरक तिर्यञ्च मनुष्य, देव आदि जीव दिखते हैं ये जीव विशुद्ध जीव नहीं अर्थात् स्वयं अपने आप अपनी सत्ता से स्वयं जो कुछ हो सकता है वह जीव नहीं। अच्छा जीव के बारे में यहाँ जो कहा जा रहा है सो उस विशुद्ध जीव की बात इन ७ तत्त्वों में अभी नहीं रखी जा रही है। क्यों नहीं रखी जा रही हैं कि ऐसे विशुद्धतत्त्व को अगर इस जीव नाम से लें तो उसका बंध भी नहीं, मोक्ष भी नहीं। वह तो स्वभावमात्र है। उस जीव को इन तत्त्वों में जो प्रतिपाद्य है उनको नहीं लिया, किन्तु पर्यायदृष्टि से भी जीव, अजीव, आस्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्त्वों में लिया गया है, किन्तु इन ७ में दिव्य दृष्टि से निहारने का पौरुष कराया जाएगा, और अंत में जो एक निष्कर्ष तत्त्व मिलेगा। वह है आश्रय के योग्य चीज, जिसके सहारे पुरुष मोक्षमार्ग में चलता है। यहाँ जीव तत्त्व की बात कह रहे जीव पदार्थ यह स्वतंत्र सत् है। जैसे अणु-अणु सत् हैं इसी प्रकार जीव भी सत् हैं कहीं पृथ्वी आदि के मिलने से नहीं बना। अगर मिट्टी आदि के मेल से यह जीव बना तो जीव नाम का कोई स्वतंत्र सत् नहीं है, और मेल से जीव बन जाए तब तो बड़ी गड़बड़ी जो जाएगी। बड़ी मुश्किल पड़ जाएगी। कोई अगर मिट्टी की हांडी आग पर चढ़ा दी जाए उसमें पानी भर दिया जाए, उसमें खूब आग जलाकर खिचड़ी पकाई जाए तो देखो वहाँ मिट्टी भी है, आग भी जल रही है, पानी भी भरा है, और हवा भी वहाँ खूब भरी है। तभी तो देखो उस हांडी के ऊपर रखा हुआ ढक्कन उछलता है। तो देखो वहाँ ये चारों चीजें मौजूद हो गई फिर तो उस रसोई घर में हाथी, घोड़ा, शेर, बाघ आदि अनेकों प्रकार के जीव निकल पड़ने चाहिए। कोई कहेगा कि देखो जैसे एक कोदो नाम का अनाज होता, उस कोदो की रोटियाँ भी बनाकर खाई जाती है, उसके खाने पर तो कोई हानि नहीं होती पर उस कोदो की विधिपूर्वक शराब बनाली जाए तो उसमें तो बेहोशी पैदा कर देने की शक्ति आ जाती हैं। इसी तरह इस पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु में भी एक ऐसी शक्ति है कि यदि वह इस तरह से मिल जाए तो वह जीव बन जाता है। यह दृष्टान्त देते हैं वे गुरु वृहस्पति। लेकिन वे यह तो बतलावें कि वैज्ञानिक भी जानते हैं कि जो मूल

में जिस-जिस जाति का तत्त्व है उसमें कितना ही मेल मिलावट हो, कितना ही कुछ हो वह अपनी जाति को छोड़ सकता है क्या? वह तो अपने स्वरूप में है। तो जीव भी एक चेतना जाति को लिए हुए पदार्थ है। वे पदार्थ कहीं उन्हें मलिन भी बना सकेंगे क्या? कोदो में शक्ति चाहे वह व्यक्त हो गई, वह भी अचेतन हैं, वह भी उसी का रूप है वह तो ठीक है कि हो गई शराब, पर वहाँ अचेतन से अचेतन ही हुआ। किसी अचेतन से चेतन बन जाए यह नहीं हो सकता, क्योंकि जाति भी न्यारी-न्यारी है। तो चेतन जाति एक जुदा चीज है। वह चेतना जिसमें पायी जाए उसे कहते हैं जीव। उस जीव का श्रद्धान करना चाहिए। मैं जीव हूँ। उस जीव का ही परिचय कराने के लिए गुणस्थान मार्गणाओं का बहुत वर्णन है। मार्गणाओं की दृष्टि से देखों तो जीव ५ प्रकार के मिलेंगे। नारकी तिर्यञ्च, मनुष्य, देव और सिद्ध। इन्द्रिय जाति की दृष्टि से बतायेंगे तो कहा जाएगा कि जीव छः तरह के मिलेंगे, एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, चारइन्द्रिय, पन्चेन्द्रिय और इन्द्रियरहित। यों मार्गणावों द्वारा जीव का परिचय कराया गया है।

धर्म प्रियजनों का मूल लक्ष्य ज्ञानभाव—उस अंतस्तत्वका परिचय करें जो सहज है, सनातन है, शाश्वत है, जिसे निरख करके वेदान्तियों ने एक वेदान्त बनाया। वेदान्त क्या है? वेद का अन्त है जहाँ उसे कहते हैं वेदान्त। वेद मायने है ज्ञान, हमारा यह ज्ञान, यह विकल्प, यह विचार, वह कहलाता है वेद। ज्ञान का जहाँ अन्त हो गया, समाप्ति हो गई उसे कहते हैं वेदान्त। यानी ऐसी एक निर्विकल्प स्थिति; ऐसा एक चैतन्य स्वरूप सत् जहाँ विकल्प विचारों का अन्त हो जाता, वह है वेदान्त। शब्द तो सबके अच्छे होते हैं। जितने भी मजहब हैं उनके जो-जो भी शब्द हैं वे उत्तम हैं और तत्त्व को बताने वाले हैं। जैसे बौद्ध, यानी ज्ञानस्वरूप, ज्ञानस्वरूप अंतस्तत्व को माने सो बौद्ध। वेदान्त, जिसमें विकल्प विचारों का अन्त हो जाए उसे कहते हैं वेदान्त और आज कल के शब्दों में जैसे हिन्दू जो हिंसा से दूर रहे उसे कहते हैं हिन्दू। मुसलमान जो ईमान (सच्चाई) पर कायम रहे सो मुसलमान। शब्द किसी के ऐसे नहीं हैं जो धर्म के विरुद्ध अर्थ बताते हों। लेकिन जब कभी-कभी पक्ष हो जाए तो क्या उस शब्द के आधार पर कुछ भी दृष्टि जाती? जैसे जैन-जैन कोई सम्प्रदाय है क्या? अरे जो राग द्वेष को हटाये उसे कहते हैं जिन और जिनके द्वारा प्रणीत धर्म को जो माने उसे कहते हैं जैन। मायने राग द्वेष को मेटने के लिए जो सत्य मार्ग है उस पर जो चले उसे कहते हैं जैन। ये गाय बैल भैंस वगैरह भी तो जैन हो सकते। सूकर, सर्प, बन्दर आदि भी बहुत से जीव भी तो जैन हो गये थे। उन्हें सम्यग्दर्शन हो गया, वे वीतराग विज्ञान का अनुभव करते थे यथा-यथा समय। तो सभी शब्द ले लो जैसे विष्णु यानी जो लोक में सर्वाधिक फेलने वाली वस्तु हो उसे कहते हैं विष्णु। वह है ज्ञान देखो सबसे अधिक फैलने वाला होता है ज्ञान। कैसे? जरा यही बतलाओ—दो तरह की चीजें सामने रख रहे, मोटी और पतली। मोटी बड़े का नाम है और पतली सूक्ष्म का नाम है। एक बात सामने रख रहे कि

बतलाओं मोटी में पतला समाना है या पतला में मोटा? आप लोग तो सोचते होंगे कि क्या जवाब दें। तो इसका उत्तर भी दे रहे, क्योंकि अधिक समय न लगे। देखो पतले में मोटा समा जाता है। जो सूक्ष्म है उसमें बड़ा समा जाता है। कैसे, तो जरा वैज्ञानिक हिसाब से भी देखो और अपने सिद्धान्त से भी देखो जैसे जमीन और पानी, इसमें मोटी है जमीन-जमीन को अब देखो पानी के बीच जमीन है या जमीन के बीच पानी है, तो आजकल के जो वैज्ञानिक लोग हैं वे भी बता देंगे कि समुद्र के बीच में ही तो पृथ्वी है, देखो पानी के बीच जमीन हैं, तो पानी में जमीन समा गई। पानी पतला है जमीन मोटी है तो पानी में जमीन समा गई। सिद्धान्त से भी देखो—जम्बूद्वीप से दुगुना है लवण समुद्र, कितना दुगुना है, दो लाख योजन का है? और दोनों तरफ ४ लाख योजन हो गया। उसका विस्तार देखिए—जिसे कहते हैं वर्ग। तो लवण समुन्द्र में जम्बूद्वीप समाया हुआ है। सभी द्वीप ले लो तो अन्त में जो स्वयंभूरमण समुद्र है उसमें कितना विस्तार है कि उसमें सब असँख्याते द्वीप समा गए।तो पानी अधिक है कि जमीन? पानी। अच्छा अब पानी को लें, जमीन छोड़ दें, जमीन का मुकदमा निपट गया। अब पानी और हवा में पतला कौन है? हवा। तो हवा में पानी समा गया। जहाँ पानी है वहाँ भी हवा है। और पानी के बाहर भी हवा न हो तो पानी कैसे टहरे? हवा में पानी समा गया। पानी का मुकदमा मिटा। अब हवा का मुकदमा लो। हवा और आकाश, दो को सामने रखें। हवा पतली है कि आकाश। आकाश तो इतना बड़ा है कि जहाँ हवा है वहाँ भी आकश है और जहाँ नहीं वहाँ भी आकाश है। जिसे कहते हैं, अलोकाकाश जहाँ केवल आकाश ही आकाश हो—जीव पुद्गल धर्म, अधर्म, और काल, ये कोई द्रव्य न हो उसे ही कहते हैं ना अलोक आकाश। तो देखो आकाश बड़ा है ना? आकाश में हवा समा गई, लो हवा का भी मुकदमा निपटा। अब आकाश का मुकदमा लो। आकाश और ज्ञान में बतलाओ क्या पतला है? ज्ञान। देखो अब यह विधि बन गई कि जो अधिक जगह फैलता हो वह पतला। तो ज्ञान कितना फैला हुआ है? आकाश से भी बड़ा ज्ञान है। कैसे कि ज्ञान ने लोक को भी जाना। अलोक को भी जाना, समस्त आकाश को जाना और उस ज्ञान में अभी इतनी सामर्थ है कि ऐसे असँख्याते लोक और भी हों तो उनको भी जान ले उतने-उतने द्रव्य और भी हों तो उन्हें भी जाने। ज्ञान में कमी नहीं आती, क्योंकि ज्ञान का काम है कि जो सत् हो उसे जान जाए। सत् जितने हैं उतने जानने में आ ही जाते हैं शुद्ध ज्ञान के। अब उतने ही और भी सत् होते तो उनके जानने में क्या ज्ञान में ढील पड़ जाती कि ऐ सत् अब तुम हमारे ज्ञान में मत आवो? क्या ऐसी कोई बात आती है कि यहाँ जगह खाली नहीं है? अरे कितने ही सत् आते, सब उस ज्ञान में समा जाते। तो देखो सबसे सूक्ष्म हुआ ज्ञान इतना सूक्ष्म है विष्णु है, व्यापक है तो ऐसे विष्णु स्वरूप ज्ञान को माने उसे कहते हैं वैष्णव। और-और भी [illegible] हो सबके अर्थ एक शुद्ध अंतस्तत्त्व को झलकाने वाले ही मिलते हैं।

कानों-कान जाते-जाते मौलिकता का रूप—तर्कणा करो—जब बहुत पूर्व में जब धर्म परम्परा चली होगी तब उस मूल में प्रायः सब उस अंतस्तत्त्व के नजदीक ही आए होंगे। जैसे-जैसे वचन का विस्तार बढ़ा वैसे ही वैसे यह बात बढ़ती गई। जैसे कहते हैं ना कभी-कभी अजी हमने सुना कि आपने ऐसा कहा था। अरे तुमने सुना था तो भाई सुनी बात तो सच्ची नहीं होती जरा उसे देखकर बोलो। अजी बात ऐसी है कि हमने सुना है। अरे सुनी बात हम न मानेंगे। जो देखी बात हो सो सच है। हम सुनी बात नही मानेंगे, क्योंकि एक ने एक से कहा उसने फिर किसी दूसरे से कहा, इतना बदल-बदल कर कहना होता जाएगा। तो १०० कानों के बाद उस पहुँची बात में कितनी बदल हो जाएगी। तो हम सुनी बात नहीं मानते। हम तो देखी बात मानते हैं। कोई कहे अजी आप क्या कहते? हमने तो खुद ऑखों देखा। तो कोई यह भी कहेगा कि भाई देखी हुई बात भी तो सही नहीं है। हम तो देखी हुई बात भी झूठ समझते हैं। फिर कैसे सच समझें? जो अनुभव में उतरा हो वह सच है। कैसे सुनी बात झूठ है इसके लिए तो कोई दृष्टांत देने की जरूरत नहीं है, इसे तो सब मानते हैं मगर देखी हुई बात भी झूठ हो सकती है क्या ? हाँ हो सकती है। एक दृष्टांत देते हैं लोग एक राजा का पलंग सजाने वाला नौकर था। वह रोज राजा का पलंग सजाया करता था। वह पलंग स्प्रिंगदार था। उस पर हाथ धरें तो झट वह दबजाये। रोज-रोज बिछाते हुए एक दिन उस नौकर के मन में आया कि देखो हमें यह पलंग बिछाते हुए बहुत दिन हो गए, परन्तु अभी तक हम यह न जान सके कि इस पलंग में सोने से कितना सुख मिलता है। मन में आया कि जरा एक-दो मिनट इस पर लेटकर देखें तो सही। ज्यों ही वह उस पर लेटा तो ऊपर से चद्दर डाल ली। हुआ क्या कि दो-चार मिनट में ही उसे निद्रा आ गई। सो गया। कुछ देर बाद में रानी आयी तो वह भी रोज की भाँति उसी पलंग पर सो गई। उसे पता न था कि यह नौकर सो रहा है। वह तो उसे राजा ही समझ रही थी सो नौकर और रानी दोनों सो रहे थे, राजा आया तो यह दृष्य देखकर क्रोध से भर गया। सोचा कि यह कौन मेरी रानी के साथ सो रहा? शायद मेरी रानी दुराचारिणी है। सोचा कि मैं तलवार से इन दोनों का सिर अभी उड़ा दूँ। पर ध्यान आया कि अरे विद्वानों ने तो कहा है कि जल्दी में कोई कार्य न कर डालना चाहिए उसके प्रति कुछ सोचना चाहिए। अब राजा ने सर्वप्रथम रानी को जगाया। रानी ने अपने सामने राजा को देखा और पलंग पर पड़े हुए व्यक्ति को देखा तो वह आश्चर्य से भर गई और बताया कि मैं तो यही समझकर इस पलंग पर सो गई थी कि आप सो रहे हैं ! बाद में नौकर को जगाया तो वह नौकर भी डर के मारे काँप रहा था। उसने सारा हाल बताया। तब राजा को सही ज्ञान हुआ। तो देखिए आँखों देखी बात भी झूठी रही। अनुभव की बात सही होती है। जैसे एक वन्ध्या सौत ने अपनी सौत के लड़के को लेने के लिए मुकदमा किया, कहा यह मेरा लड़का है जो पति का सो मेरा। दोनों कहें मेरा मेरा। तब चतुर निर्णायक ने कहा कि ठीक है दोनों का है सो इसके

आधे-आधे दो टुकड़े तलवार से किए देते हैं सो एक-एक टुकड़ा ले लेना। तलवार वाले को बुलाया। तब पुत्रवती कहती है कि महाराज यह लड़का मेरा नहीं, इसका है इसे ही दे दो। राजा ने अनुभव से समझ लिया कि इस मना करने वाली का ही यह लड़का है। खैर बात यह कह रहे कि कानों कान बात जाते-जाते धर्म रूप भी कुछ से कुछ बन सकता। तो मूल में धर्म आत्मा के सहज स्वभावरूप ही है।

पदार्थ के विकृत होने की पद्धति—पदार्थ कैसे विकृत होता है और कैसे मुक्त होता है इसकी व्यवस्था सभी में एक समान है। जैसे चौकी गंदी हुई तो वहाँ दो बातें ध्यानमें रखनी होंगीं कि एक चौकी और एक अचौकी जो चौकी नहीं है वह सब अचौकी पदार्थ हैं। प्रकृत में जो चौकी से चिपट सकता है वह अचौकी है चौकी में अचौकी का आना आश्रव है। चौकी में अचौकी का बंधना बंध है। चौकी में नई अचौकी न आये सोसंवर है और चौकी में जो अचौकी आयी है वह झड़े सो निर्जरा है और जब अचौकी बिल्कुल हट जाए, केवल वही चौकी रह जाए जो अपने सहज सत्व से है इसे कहते हैं मोक्ष। प्रत्येक पदार्थ में विकार होने की पद्धति एक ही है, वह किसी परसंग को पाकर विकृत होता है। अपने आप ही कोई निमित्त अपना ही लेकर विकृत हो जाए तो इसमें पदार्थ का स्वरूप नहीं ठहरता, पदार्थ का विकार स्वभाव बन जाता और कभी भी उस विकार से मुक्त होने का अवकाश नहीं हो सकता। विकार होने की यह ही पद्धति है कि उपादान खुद इस योग्य हो और अनुकूल निमित्त सन्निधान हो तो विकार होता है। अनुकूल निमित्त सन्निधान होने पर विकार होता। ऐसा सुनकर यह अर्थ न लेना कि फिर वस्तु परिणमने में परतंत्र हो गई। बात भली प्रकार समझना कि एक पदार्थ से अन्य वस्तु का सन्निधान मिला इतनी ही तो बात हुई। और उस काल में उस पदार्थ को तो परिणमना ही था। परिणमे बिना कोई पदार्थ रहता तो है नहीं तो अब यह पदार्थ ऐसे ही योग्य उपादान में था सो विकाररूप परिणम गया। जैसे दर्पण के सामने कोई लाल पीला पदार्थ आया और दर्पण लाल पीला प्रतिबिम्ब रूप हो गया तो दर्पण को लाल पीला रूप प्रतिबिम्ब रूप परिणमने में परतंत्रता नहीं है अर्थात् परिणमन मात्र उस तरह का जो परिणमा वह दर्पण अपने आपके बल से अपनी शक्ति से परिणमा पर इतनी बात अवश्य है कि अन्य पर उपाधि का सम्बंध हाने पर ही यह परिणमा, पर परिणमने में परतंत्र नहीं है। योग ऐसा निमित्त नैमित्तक है कि परसंग में ही विकार रूप परिणम सकता है। ऐसे आत्मा की बात यह जीव जो अजीवरूप परिणम रहा, क्रोध, मान, माया, लोभादि रूप परिणम रहा तो यह ऐसे ही कर्म का सन्निधान पाकर परिणमता है। इस अन्तः रहस्य को जिसने जाना वह एक साक्षात् उस तत्त्व का ज्ञाता बन गया।

उत्तम विवेक—कौन पदार्थ किस रूप तक परिणम सकता है इसका विवेक एक बहुत ऊँचा विवेक है। जैसे मिट्टी का घड़ा-घड़ा रूप बना तो उसमें निमित्त है कुम्हार का व्यापार,

जब जीव, क्रोध रूप परिणमा तो वह क्रोध जीव की निज गाँठ की चीज है क्या परिणमते हुये कर्म की झलक है। जीव तो ज्ञानमात्र है। यह जानन स्वरूप को । उसके जानने में ही विकार हुआ। जानने में ही वह रंग आया। वह रंग कर्म का अचेतन है। वह खुद अनुभव कर सकता नहीं, परन्तु अनुभाग जो मरा पड़ा था वह ाग फूटा कि वह कर्म ही विकृत हुआ और विकार रूप परिणमते हुए कर्म की झलक जीव में इसने अपने आप में उस रंग को अपना लिया। न अपनाये तो इसमें व्यक्त कार रह जाता है। अपनाये, बुद्धि में ले, उपयोग में आए तो वह व्यक्त विकार बन गया। ा यह कर्म रंग है, यह मेरा स्वरूप नहीं है, उससे मेरे को कुछ पड़ा नहीं है,मैं तो विविक्त हूँ। निराला हूँ, अब भी निराला हूँ। जीव-जीव स्वरूप में है, कर्म-कर्म स्वरूप में है। पर ऐसा विपाक जब आया तो जीव के उपयोग में वह रंग बन गया। पानी में रंग घुल जाए और सारा पानी रंगीला हो जाए। उस रंगे हुए पानी में, जैसे लाल रंग डाला तो पानी लाल हुआ, उस लाल पानी में जैसे यह विवेक करना कठिन हो जाता कि पानी तो अपनी एक स्वच्छता मात्र है। इसमें जो रंग है वह पर द्रव्य का रंग है और जल एक ऐसी चीज है कि जिसमें वह रंग इस प्रकार समा गया है। वही रंग, वही पुड़िया किन्हीं और पदार्थों में मिला दें तो वहाँ तो नहीं समाता ऐसे ही जीव एक तो स्वच्छता मात्र है कि यहाँ कर्मविपाक हो तो वह रंग इसमें समा जाए। ऐसा रंग कितना ही समा जाने पर भी आत्मा तो एक जानन मात्र है। उसका तो एक ज्ञान विकल्प बन गया। वह विकल्प भी रंग के सम्बन्ध से बना। कैसी भेद विज्ञान की सूक्ष्म प्रक्रिया है जिसे कहते हैं सूक्ष्मसंधि में एक विवेक छैनी को पटक दिया। यह कर्म रज है और यह जीव का एक चित्स्वरूप है, चित् क्रिया है, ऐसा विवेक करने वाला ज्ञानी पुरुष समझ गया अपने आपके भीतरी स्वरूप को, अब उसे कोई भी बाह्य पदार्थ संक्लेश के हेतुभूत नहीं हो पाते। परिस्थितिवश कुछ भी हो, फिर भी अन्तरात्मा अंतः निराकुल रहते हैं। जो गान गाया जाता है, सम्यग्दृष्टियों का कि रमते अनेक देवांगनाओं के साथ फिर भी सम्यग्दृष्टि देव उससे हटा हुआ है। और कष्ट पा रहा है अनेक नारकियों के द्वारा सम्यग्दृष्टि नारकी फिर भी वह अन्तः निराकुल है।

आत्मबोध का अलौकिक प्रताप—आश्चर्य होता है कि सुकौशल सुकुमाल आदि मुनीश्वर ऐसे बड़े-बड़े उपद्रवों के बीच रहकर भी शुक्ल-ध्यान में आए और उन्होंने ऊर्द्धगति प्राप्त की। क्यों क्षोभ नहीं हुआ? यहाँ तो एक चींटी भी काटे तो उपयोग उस ओर ही रहता। उसे हटाते हैं, चैन नहीं पड़ती और उन्हें स्यालनी खाये, सिंहनी खाये और एक आत्मस्वरूप में ऐसा अविचलित रहे तो वह किसका प्रताप है? यह सब इस भेद विज्ञान का प्रताप है। जिसको मान लिया कि यह मैं हूँ, मेरा है, उसको उसमें और मेरा मैं के अलावा अन्य जो कुछ है उस पर कुछ बात पड़े तो उसका क्लेश नहीं मानता। यहाँ भी तो अनेकों लोग दूसरे का घर जल रहा हो तो कष्ट नहीं मानते, क्योंकि जान रहे कि दूसरे का है। खुद

के घर में कोई बात बन रही हो ईंट भी खिसके तो ख्याल करते हैं कि अरे करना है यहाँ भी तो ऐसी ही आदत पड़ी है कि जिसे मान लिया कि यह बिगाड़ होने पर खेद मानता है। जो बड़े पुरुष हैं बड़ा विशाल जिनका प्रताप स्वयं परमेश्वर स्वरूपता को रख रहे वे बिगड़ी हालत में भी अपनी मूल बात छोड़ते। यहाँ भी जो ज्ञानी हुआ उसने जाना कि जो चेतना है वह तो है मेरा तत्त्व, मे और जो कर्मरंग है, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें हैं, विकल्प हैं तरंग हैं, ये भी नहीं हैं। मेरा बिगाड़ मेरे से नहीं हो रहा। मेरा बिगाड़ उस पर विषय से हो रहा विषय में ही तो आया। उसे इस मोही प्राणी ने दृढ़ता से अपनाया। ज्ञानी जानता है। तो एक चित्मात्र हूँ थोड़ा अन्दाज कर लोकि ऐसा कोई लक्ष्य रख रहा हो। और उसके में कुछ भी कठिन बाधाएं आएं, कोई गुजर गया, कोई वियोग हो गया तो उस स्थिति ज्ञान-ज्ञान रखने वाला दुःखी तो नहीं होता वह जानता है कि परद्रव्य है। परतत्त्व है, परसत्ता है, वह अपने सत्त्व से अपने आप में खुद में हैं, मेरी उससे हानि कुछ नहीं है, और एक अज्ञानी मोही पर पदार्थ में आत्मीयता की इतनी बुद्धि किए हुए है कि किसी इष्ट के गुजर जाने पर वह अपने को महा दुःखी कर लेता है। वह मानता है कि मेरे लिए तो दशों दिशाएं सूनी हो गईं। मैं तो नष्ट हो गया। बर्बाद हो गया हूँ। ज्ञान और अज्ञान का कितना महान अन्तर है।

ज्ञान प्रकाश के प्रयत्न की शान्ति साधकता—शान्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिए ज्ञान प्रकाश पाने का। शान्ति का कोई दूसरा उपाय नहीं है। और ज्ञान प्रकाश भी क्या? निज में इस भेद विज्ञान के बल से केवल एक चित् प्रकाश मात्र अपने आपको ग्रहण कर ले, पकड़ ले ऐसा चाहिए ज्ञान प्रकाश। इसी को कहते हैं बोधि—समाधि परिणामविशुद्धि, स्वात्मोपलब्धि। यह इस जीवने अब तक नहीं पाया। उसकी निशानी यह है कि यह अभी तक संसार में रुलता फिर रहा है। भेद विज्ञान होने पर फिर रुलने का कोई कारण न रहेगा। निःशंक बात है। जैसे यहाँ आग पर कोई चीज हो तो जले, पानी में कोई चीज पड़े तो गल जाए। जैसा अनुकूल उपादान दीखता है। वैसा-वैसा होता है। यहाँ कोई शंका नहीं करना, रोटी बेला, तवे पर डाला, आग में डाला, पक गई, वहाँ कोई वह शंका नहीं करता कि कल तो इस तरह से रोटी बनी थी, पता नहीं आज भी सिकेगी या नहीं। किसी को ऐसी शंका तो नहीं होती। आया समय, बना लिया, बन गई। जो बात जिस विधि से होने की है उस विधि से वह होती ही है, उसमें शंका नहीं। तो जिसकी दृष्टि, जिसका उपयोग इस खुद निज में है, परमार्थशरण स्वभाव को छूकर केवल अभेद स्वरूप को लेकर जो आत्मप्रतीति करेगा उसको अशान्ति न रहेगी उसे बाधाएं न होंगीं, संसार में वह न रुलेगा जन्म-मरण से मुक्त हो जाएगा। जीव की सब अवस्थाओं में सार अवस्था है तो अपने एकत्व में रत होने की अवस्था है। जो इसके लिए प्रेरणा दे वही मेरा पिता, वही मेरा बन्धु, वही मेरा शरण, और जो इस एकत्व से हटाये, कहीं विकल्प में पहुँचाये ऐसा व्यवहार बनाये तो वह तो मेरा मित्र नहीं, बन्धु

नहीं, पिता नहीं, रक्षक नहीं। वह तो सब एक संसार के खाते में ही लिया है। कम से कम इतना भी अनुभव हो, ख्याल में आए कि हम अभी अपने असली कर्त्तव्य से बहुत दूर हैं, हम यहाँ केवल, सारभूत एक सम्यक्त्व रूप कर्त्तव्य की ही बात कह रहे। इस कर्त्तव्य को पालने पर बाकी सब कर्त्तव्य भेद विज्ञान में आसान हो जाते हैं। जो वास्तविक हूँ, जो खास मैं हूँ, जो सहज हूँ उस रूप का दर्शन होना, उसका अनुभव होना, उसकी प्रतीति होना, उसे ग्रहण कर लेना, यह मैं हूँ। इस दृष्टि में विपदा का काम नहीं है।

अत्यन्त निर्लेपता में सम्यक्त्व का अभ्युदय—जैसे किसी गणित का उत्तर थोड़ी गलती कर लेने पर माफी के योग्य नहीं होता, वह तो गलत ही हुआ, ऐसे ही अपने आप में धर्म पालन की दिशा में अपने आपको ले जाने के हिसाब में थोड़ी भी गलती माफ नहीं होती। जैसे कोई सोचे कि घर में हम हैं, हमारी स्त्री है, दो ही प्राणी हैं, खूब धन है, खूब मौज है। किराया आता है, किसी को सताते नहीं, किसी से बुरा बोलते नहीं, किसी का दिल दुखाते नहीं और हमको अन्य सबसे वैराग्य हो गया, किसी अन्य से हम व्यवहार करते नहीं तो उसमें तो बहुत राग छूट गया, सबका ही राग छूट गया। सिवाय एक स्त्री के हमारा और किसी से अनुराग नहीं, ऐसा सोचकर ऐसी कोई धारणा बनाएं कि बस हमको तो ९९ प्रतिशत सम्यक्त्व हो गया, यानी रुपये में ९९ पैसा सम्यक्त्व हो गया और एक पैसा रह गया सम्यक्त्व में बाधा देने वाला, क्योंकि मुझे एक स्त्री ही से प्रीति है बाकी से नहीं, तो केवल रुपये में पैसा भर कमी है, अरे ऐसा न होगा। चाहे एक स्त्री में प्रीति हो, चाहे बहुत में हो, सम्यक्त्व का वहाँ अंश नहीं है, व्यामोह जहाँ हो वहाँ सम्यक्त्व नहीं है। बल्कि यह सम्भव है कि आप अगर एक जीव में मोह बनाये हैं तो वह मोह आपका प्रबल है अन्य सारे जीवों को पर मानकर, एक अन्य को अपना मानने का क्या मतलब? उन्होंने स्वरूप से अत्यन्त उपेक्षा की और एक जीव की पर्याय में ही मुग्ध हो जाए तो और उल्टा प्रबल मोह बढ़ता है। माफी नहीं है, यहाँ तो जैसे सम्यक्त्व की दशा आती हो उस प्रकार से पूर्ण रूप से उद्यम हो, बात हो तब ही वह सम्यक्त्व की ज्योति होती है, इतना निरन्तर का अभ्यास न होना ही एक खुद का प्रमाद, खुद का बैरी बन रहा है। जीव करते भी और कुछ नहीं है। हर जगह केवल ज्ञान का अभ्यास बनता रहता हैं ज्ञान में कुछ न कुछ जानकारी बनी रहती है। हर जगह काम यही करते हैं। इसके अलावा दूसरा व्यापार नहीं करते कोई भी जीव कोई दूसरा व्यापार कर ही नहीं सकता। बस ज्ञान में व्यापार बनाया, ज्ञान में कल्पना, ज्ञान की ही बात। न कोई चीज बना सकते हैं कोई किसी दूसरे का और कुछ कर सकता है। न सुख कर सकता है न दुःख कर सकता है। कुछ भी करने में समर्थ नहीं है। केवल एक अपना ज्ञान विकल्प बनाते हैं। तो हमारे हाथ तो कुछ नहीं आता करोड़ भी कमा लिया हो तो भी वहाँ क्या हाथ आया? इस जीव में कौन सी समृद्धि बनी? कौन-सा एक उद्योत पाया? शान्ति नहीं पायी, कुछ अभ्युदय भी नहीं है। अपनी बात कम आने का ही नाम कमाना है। जैसे कहते

हैं कि हमने खूब कमाया, तो उसका अर्थ है अपनी बात बहुत कम आई। कमाना तो एक हानि है, क्षति है। जैसे कोई अपना बल नष्ट करते हुए खुशी माने तो समझता है वह समृद्धि है और हो रही है क्षति। इसी तरह पर द्रव्य के सम्पर्क में लाभ में, संग्रह में यह जीव खुश होता है मगर हो रही इसकी हानि।

तत्त्वदर्शीकी पावनता—जिसने तत्त्व देखा उसको सर्वत्र दिखता, जिसने नहीं देखा उसे अनेक यत्न करने पर भी नहीं दिखता। कर्म कैसे हटते हैं, शान्ति कैसे मिलती है। सारी बात तत्त्वदर्शी को बिल्कुल आसान है क्योंकि वह स्वाधीन है, अपने आपके ही अपने में बात है, स्वयं के स्वरूप रूप है। तुमने तो यह उद्यम किया कि सच जान गए। सच जानने के सामने इसका शरण और वैभव कुछ है ही नहीं। सारी उन्नति, सारा, अभ्युदय, सच समझ जाने में है। और सारा नुकशान, संसार का रुलना एक असत्य को सत्य समझ लेने में है। भीतर के इस भेदविज्ञान की महिमा भेदविज्ञानी अथवा उस भेदविज्ञान के लायक पुरुष ही समझ सकता है। जिस तत्त्व के समझने पर छल कपट का कोई काम नहीं रहता। मायाचार का भाव नहीं रहता। कहाँ मायाचार करना? प्रसंग ही नहीं रहता। चाहे क्रोध सताये और किसी समय मान कषायें भी सतायें अथवा परिस्थितिवश लोभ भी करना पड़े लेकिन हर परिस्थितियों में आन्तरिक माया ज्ञानी के नहीं रहती है। यही कारण है कि इस माया को शल्य बताया गया है। सरल होओ सबके हितैषी होओ सबको क्षमा करने का परिणाम रखो। किसी भी जीव से अपने आपको बड़ा अनुभव मत करो। भले ही कोई पर्याय में तुच्छ है, हो, हम उसकी पर्याय की तुच्छता को दृष्टि में लेकर अपना अनर्थ क्यों करें? पड़ी है मुझे? हम सर्वत्र दिव्यदृष्टि करके, सब जीवों में परमात्मस्वरूप निरखकर अपने विचार में, अपने उपयोग में उस परमात्मस्वरूप की आस्था बनाएं। जो आत्मार्थी पुरुष है, जिसको आत्मकल्याण की वाञ्छा है उसके गर्व नहीं रहता। किसके आगे गर्व करना? जितने जीव हैं सब मेरे स्वरूप के समान हैं। कोई अगर तुच्छ पर्याय में है, मनुष्य होकर भी कुछ एक हल्की दशा में है तो कर्म का रंग है वह तो हल्का नहीं है। कोई भी जीव हल्का नहीं है अपने चैतन्यस्वरूप में। किसको गर्व दिखाना? ज्ञानी पुरुष के मान कषाय का भाव नहीं रहता है। क्रोध करके किसका बिगाड़ करना? कौन बिगाड़ के योग्य है? मेरा कोई बिगाड़ करता ही नहीं। मेरा कोई बिगाड़ करने वाला ही नहीं, फिर किस पर क्रोध हो? कोई करता हो कुछ प्रतिकूल क्रिया तो उसकी मूढ़ता से उसे खुद का बिगाड़ करने वाला समझें। भले ही चाहे वह दूसरा अभिप्राय में खराब है, लेकिन वह अभिप्राय में खराब है तो खुद अपने आपके लिए है। जैसा योग है वैसा परिणमन करता है। किसी भी परपदार्थ का यत्न मेरा सुधार या बिगाड़ करने के लिए नहीं होता है। ज्ञानी जीव को किसी पर क्रोध नहीं आता। लोभ कषाय भी वह नहीं रखता। है समीप में, पुण्योदय है तो उसका उपयोग करने से नहीं चूकता। उसका कारण यह है कि उसे एक तो यह श्रद्धा है कि ये बाह्य पदार्थ हैं, मैं आत्मा ज्ञानस्वरूप हूँ,

मेरे भाव से ये पदार्थ खिंचकर नहीं आए। भले ही पूर्व में भाव विशुद्ध किया। पुण्य का बंध होने से, उदय से यह योग समागम मिला, फिर भी आत्मा तो केवल भावों का कर्त्ता हैं और वह केवल भावों के करने में ही समर्थ है। उसको किसी पर क्रोध नहीं होता। कहीं लोभ कषाय नहीं जगती। ऐसी जिसकी सब कषायें मंद हैं, निरन्तर धुन एक अपने एकत्वगत् चित्स्वरूप चिल्क्रिया पर ही रहती है और हर जगह विवेक करके अपने आपके स्वरूप को समझता रहता है वह पुरुष किसी पर एहसान नहीं कर रहा, है वह अपने आप दुःखों से मुक्त होने का काम कर रहा है।

सहजस्वरूप की अप्रतीघातरूप से दृष्टि का कर्तव्य—भैया! खुद में ऐसी दृष्टि जगे, अपने आप ऐसी पकड़ बने कि जैसे एक्सरा लेने वाला यंत्र केवल हड्डी की फोटो लेता, खून, मांस, चाम वगैरह को छोड़ देता है ऐसे ही यह मैं उपयोग केवल अपने सहज ज्ञानज्योति स्वरूप की पकड़ करूं। बाकी सब को छोड़ दूँ। सब अजीव हैं सब कर्म रंग हैं, सब बाह्य पदार्थ हैं, सब बेकार की चीजें हैं। मेरा तो एक चित्धन चैतन्यरूप चित् है मेरी ऋद्धि है, इस रूप में ही मैं हूँ, ऐसी जिसने अपने उपयोग में पकड़ बनायी बस वही परमपुरुष है। यही एक कल्याण की बात है। हम आप सब जो कोई भी ऐसी वृत्ति से रहें और अपने आपके स्वरूप मात्र को ग्रहण करें, बाकी सब पदार्थों में सत्यज्ञान रखें, विमुग्ध न हों, तो अपने कल्याण का पात्र है। और वह बुद्धिमान है। ऐसे ज्ञानस्वरूप की आराधना के लिए हमारा तन, मन, धन, वचन सब कुछ न्योछावर हो। विनाशीक चीज का उपयोग करके अगर अविनाशी चीज प्राप्त कर ली तो यह कितना बड़ा भारी लाभ पाया? बाहर में जितना जो कुछ होता हो, उससे अपने में कोई विकल्प जाल न उठायें। खुद के लिए तो यह ही निर्णय है कि मैं अपने स्वरूप की ही धुन में होऊं, पकड़ में होऊं, शान्ति पाऊं, कर्म-मुक्त होऊं। वह ही आवश्यक मेरा काम है, इसके अतिरिक्त मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है।

जीव की ज्ञान में ही कुछ परिणमनेकी शक्यता—यह जीव ज्ञानस्वरूप है तो ज्ञान का ही काम किया करता है। सर्वत्र यह जानने का काम करता है, पर जानने की ही ऐसी विशेषता होती है कि जिस प्रकार का विषय होता है जानने में, उस प्रकार का विकल्प उत्पन्न होता है। यह बात जैसे इन बाहरी पदार्थों के लिए है कि जिस पदार्थ को हम जानते हैं उस पदार्थ का विकल्प उत्पन्न होता है, आकार बनता है। तो यहाँ तो बाहरी पदार्थों के साथ एक उपाधि का सम्बन्ध है, किन्तु जब यह ज्ञान अपने आपमें झलकी हुई कर्म परिणतियों को जानता है तो इसमें विभाव रंग होता है और वह एक भाव्यभावक भाव के सम्पर्क से दूषित होता है। जानता है। यह सर्वत्र जानने का ही काम करता है वस्तुतः पर जानने के साथ जो रंग आता है, राग होता है वह इतना लिपटा हुआ होता है, ज्ञान की ही एक अद्भुत लीला है कि ज्ञान का स्वरूप ही सारा रंगीला हो जाता है। जैसे जल में कोई रंग पड़े तो

जल रंगीला हो जाता है, वहाँ भी भेद मालूम नहीं पड़ता। जो कि साक्षात् भेद है, स्पष्ट समझ में आता है, जल की परिणति ही नहीं है। रंग तो एक अलग चीज है जो पुड़िया में रखा हुआ था वही बिखर गया, और जल का सम्बन्ध पाकर इतना फैल गया कि वह रंग जल की चीज ही नहीं, परिणति ही है, फिर भी जल का और रंग का भेद जानना मुश्किल हो जाता है। तो यहाँ जब ज्ञान उस कर्म की कषाय को जानता है, क्रोध, मान, माया, लोभ अनुभाग जब इसमें प्रतिफलित होता है तो यहाँ तो उस प्रतिबिम्ब रूप ज्ञान ही परिणम गया। यहाँ तो यह परिणति ज्ञान की हो रही और जल में रंग आया है तो वह रंग परिणति जल की नहीं हो रही। वहाँ इतना भेद है स्पष्ट, तो जहाँ इतना भेद भी परख में जिसके नहीं आया उसको अपना ज्ञानस्वभाव और ज्ञान में आयी हुई रंगीली परिणति इनके भेद को कोई क्या समझे? कैसा है यह विवेचक कि अपने आप में अपने ज्ञानस्वभाव को उस प्रकार प्रतीति में लिए उदाहरण जल और रंग का उतना उपयुक्त नहीं है, क्योंकि वहाँ स्पष्ट भेद है। दर्पण का दृष्टान्त अधिक उपयुक्त है। जैसे—पदार्थ सामने आया तो दर्पण में प्रतिबिम्ब आया। वह प्रतिबिम्ब बाहरी पदार्थ की परिणति नहीं है। वह दर्पण की परिणति तो भले हीं है लेकिन यह प्रतिबिम्ब दर्पण का नहीं है। प्रतिबिम्ब तो बाहरी पदार्थ का है और उस प्रतिबिम्ब को बाह्य पदार्थ की ओर ढकेलता है। जानने वाले पुरुष दर्पण को एक स्वच्छ ही अंगीकार करता है, ऐसे ही परमार्थ ज्ञानी पुरुष अपने आपके उपयोग में जो प्रतिबिम्ब है, प्रतिफलन है, क्रोध का, मान का, माया का, लोभ का उससे अपने आपको स्पष्ट भिन्न निरखता है और वह यद्यपि प्रतिफलन जीव की परिणति बनी है, जैसेकि प्रतिबिम्ब दर्पण की परिणति बनी है, ज्ञान ने जो रूप रखा है, ज्ञान ने जो विकल्प किया है, ज्ञान में जो कुछ मलीमसता आयी है उस रूप तो यह उपयोग परिणमा, ऐसी परिणति रहने पर भी ज्ञानी जीव जानता है कि यह मलीमसता ज्ञान की गाँठ की नहीं है, यह है कर्म उपाधि और वह उसको कर्म की ओर ढकेलता है। जैसे समझदार पुरुष दर्पण में आयी हुई छाया को बाह्य पदार्थ की ओर ढकेलते हैं, यह दर्पण का नहीं, यह तो उसका है। इसी तरह ज्ञानी पुरूष इस समस्त राग रंग को, इस समस्त कषाय परिणाम को कर्म की ओर ढकेलता है। यह तो सब उसका ठाठ है, मेरा नहीं है। निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय का कितना सदुपयोग ज्ञानी पुरुष करता है कि उसको स्पष्ट विविक्त भिन्न स्वच्छता मात्र अपने आपका स्वरूप अनुभव में आता है,

अन्तः परिच्छेद से ज्ञानित्व—अन्तः स्वभाव व विभाव में जिसने भेद ज्ञात किया उसे ज्ञानी कहते हैं। लौकिक बातों में चतुराई आ गई, कोई ढंग आ गया, खाने का बोलने का, व्यवहार का, इज्जत का, किसी प्रकार की चतुराई बन गई या बनाली तो वह ज्ञान नहीं। ज्ञानी वही है जो अपने ज्ञान स्वरूप को सबसे निराला अपने ज्ञान में लें, रस लें, स्वाद लें ऐसा होने के लिए कितना विरक्त होना चाहिए और कितनी तैयारी होनी चाहिए कि मानो अपना सब कुछ जाना पहचाना समझा, कमाया, सब कुछ जावो, छिदो भिदो, ले जावो, कुछ

भी हो, सब कुछ धूल में मिले, सब कुछ कहीं भी जावे मैं तो अपने आपके अन्तः ज्ञान स्वरूप में ही सुरक्षित हूँ, ऐसी तैयारी होती है मुमुक्षुकी। जो इस संसार से सदा के लिए यात्रा कर जाने वाला है, उसको संसार की किसी भी चीज में मोह नहीं होता। बाहरी चीज में तो व्यामोह करता ही कोई नहीं है। अपने आपके परिणाम में परिणमन में, राग रंग में, अपनी समझ में, अपने विकल्प में यह जीव व्यामोह किया करता है। पर पदार्थ में न तो कोई मोह कर सकता, न राग द्वेष कर सकता, न कोई किसी को चाहता है, न चाह सकता है, न कोई किसी से प्रेम कर सकता है। न द्वेष कर सकता है। बाह्य पदार्थ पर तो इस जीव का कुछ वश चलता ही नहीं है। मोह करता है तो अपने विकल्प से, राग करता है तो अपने विकल्प से। द्वेष करके भी द्वेष से राग तो कर ही रहा है, अन्यथा द्वेष से अगर द्वेष हो जाता तो उसको फिर कोई उलझन, अशान्ति ही नहीं होती। यह द्वेष से राग करता, राग से भी राग करता। ऐसा व्यामोह इस जीव में पड़ा है कि अपने आप में जो इस उपयोग पर्दे पर चित्रण हो सकता है उसको ही समझता है कि यह ही मैं सर्वस्व हूँ, उस चित्रण से निराला अन्तः प्रकाशमान ज्ञानस्वरूप कुछ है, इसका परिचय नहीं कर पाता। और फल यह होता है कि सारा जीवन जो दुर्लभता से मिला है सब अशान्ति में खो दिया जाता है। यह भी एक कला है, पर उपदेश कुशलता होना, सभी में है, पर इसी कला से तो खतरा है। अपने आपका लाभ नहीं। जो बोले, जो समझावें वह अपने आपको समझाता हुआ बोले। अपने आपमें अनुभव करते हुए बोले। तो जैसे किसी को परोपदेश का व्यसन होता है तो किसी को सुनने का व्यसन होता है। सुनना भी वही है कि जहाँ इतनी तैयारी से सुना जाता हो कि जो बात सुनी जा रही है वह एक मार्ग है और उस मार्ग से अपने आपकी इस दृष्टिपग को चलाता है, यही चलाता है। बल्कि वक्ता की अपेक्षा श्रोता का दर्जा उत्तम है और उसे हितयत्न का अवकाश बहुत है। उसे अलग से कुछ नहीं सोचना है, अलग से कुछ नहीं पहचानना है, एक शब्दतार के माध्यम से अपने आपकी दृष्टि को ले जाना है। बड़े आराम से। जैसे कोई पाए हुए धन में एक-एक पाई का सदुपयोग की धुन रखता है। ऐसे ही ज्ञानी के एक-एक शब्द को वह बोले, सुने तो उसके सदुपयोग की धुन रहती है। सदुपयोग बिना मेरा बोलना न हो जाए, सदुपयोग बिना मेरा सुनना न हो जाए। और इसी लिए सुनना भी सीमित और बोलना भी सीमित है। उपयोग बने सही उसका ही इसको लाभ है और यथार्थ उपयोग इसमें ही है कि अपने आपके उस सहज भाव, पारिणामिक भाव, निरपेक्षभाव रूप से अपने आपका परिचय हो।

जीव की अन्य से अशरणता की बुद्धि से समता का प्रादुर्भाव—इस जीव का मदद करने वाला दूसरा कोई नहीं है। और जिस पर कोई दृष्टि गड़ाता हो, यह पुत्र है, स्त्री है, माँ है, कुटुम्ब है, अन्य लोग हैं, उनका उदय जैसा है वैसा होगा लेकिन उनकी दृष्टि करके तो यह अपनी बर्बादी करता है और इस दृष्टि से जिसको माना अपना वह कहलाता है बैरी।

जहाँ एक परमार्थ पथ का निर्णय कर लिया गया है—मुझे तो परमार्थ पथ पर चलना है, उसके लिए यह बात स्पष्ट समझ में रहती है कि सब निराले हैं वैसे ही घर में बसने वाले जीव भी निराले हैं, बल्कि बाहर के निराले अच्छे हैं। उनके कारण उनका विषय बनकर हमें कुछ मलीमसता तो नहीं होती, और जिनमें संग बना, संगम बना उनको विषय करके तो पद-पद पर मलीमसता होती है। यथार्थ बात पहचानने के बाद गृहस्थ बहुत समय तक संगम में नहीं रह पाता, पर जब तक रहता है तब तक उसकी मलीमसता नहीं रहती। सब ज्ञान का प्रताप है। जहाँ विशुद्ध ज्ञान जगा, वहाँ कुछ भी बर्ते, कैसे भी हो, उससे मलीमसता नहीं आती। उसको तो सबसे निराला केवल एक निज तत्त्व की ऐसी धुन रहती है कि सदा निर्णय है, किससे क्या सम्बन्ध बनाना? किसको क्या प्रसन्न करना? किसको क्या कुछ भी सताना? जब सर्व जीवों में एक परमार्थ स्वरूप की दृष्टि जगी है, उसको अब अपनी इस बाहरी रूप, बाहरी परिणति, पर्याय शरीर के लिए कुछ भी वाञ्छा नहीं रहती। सुख दुःख को समान मान लेना यह सामान्य तपश्चरण नहीं प्रशंसा निन्दा को समान समझ लेना यह सामान्य उद्यम नहीं। इस समता से पहले इस ज्ञानी की ऐसी प्रतीति परिस्थिति रहती है। कि निन्दा की अपेक्षा प्रशंसा अधिक भयानक है। अपमान की अपेक्षा सम्मान अधिक भयानक है। दुःख की अपेक्षा सुख अधिक भयानक है। दुःख में तो एक सत्य प्रसन्नता रहती है परन्तु सुख में किसी के सत्य प्रसन्नता नहीं रहती है। यह बात अपने अनुभव से भी परख सकते हैं। कष्ट आते हैं। शारीरिक या अन्य प्रकार के उस समय में कितनी धीरता, कितनी शूरता, कितनी आत्मा की सम्भाल, कैसी प्रभु की भक्ति, कैसा विशुद्ध ध्यान, ऐसा वैभव, ऐसा शृंगार क्या विषय सुख में भी किसी को प्राप्त हो सकता है? जब किसी भी इन्द्रिय का सुख भोगा जा रहा हो तो क्या उस समय उसके धीरता एवं वीरता रहती है? उसका शुद्ध वात्सल्य, प्रभु भक्ति, आत्मा की सुध, ये सारी बातें ठहरती हैं क्या? आनन्द तो एक अपनी ज्ञान वृत्ति के अनुसार होता है। ज्ञान की जैसी वृत्ति होती है उस प्रकार का उसको आनन्द होता है। बाहरी समागम, बाहरी बातों से आनन्द का निर्णय नहीं है। अपना भीतरी प्रकाश, भीतरी ज्ञान, भीतरी वृत्ति के अनुसार आनन्द का निर्णय है। ज्ञान की विशुद्धता दुःख में हो, निन्दा में हो, अपमान में हो, यह बहुत कुछ सम्भव है, पर सम्मान में, प्रशंसा में अपने आप की सम्हाल रहे, यह कुछ विशेष शूरबीरों का ही काम है। ऐसे ही कुटुम्ब मित्र परिवार से बिछुड़ गए, कुछ भी कोई पुरुष अपने आपको सम्भाल करले, ज्ञान को सही बनाले, उसकी अपेक्षा उसकी वीरता अधिक होती है। जो कुटुम्ब के बीच रहकर भी उससे निर्लेप रहता है। सत्य ज्ञान का प्रकाश रहता है कि यह मेरे लिए कुछ नहीं है।

आत्महित में अन्तस्तत्त्व के निर्णय की आवश्यकता—मेरे लिए मात्र मैं हूँ, ऐसी परिणति, अनुभूति, प्रतीति उस संत के रहती है, जिसने परमार्थ तत्त्व की निरख कर ली है। वह तत्त्व क्या? वह जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष इन सातों से अलग है।

७ बिना नहीं है तो भी ७ से अलग है। और, इसी बात का प्रकाश दिया है संतों ने, आचार्यों ने कि ये ७ तो हैं अभूतार्थ और वह आश्रेय तत्त्व है भूतार्थ। सुनकर कुछ हैरानी हो सकती कि क्या मोक्ष भी अभूतार्थ है? क्या संवर और निर्जरा भी अभूतार्थ है? क्या जीव भी अभूतार्थ है? आश्रव बंध के बारे में तो झट समझ में आता है कि यह तो भूतार्थ है, लेकिन जीव, मोक्ष ये भी अभूतार्थनय से ही समझ में आते हैं, यह समझने में कुछ थोड़ी हैरानी सी होती है, लेकिन यहाँ परखिए कि क्या अभूतार्थ के विषय का आलम्बन करते समय किसी को सम्यक्त्व की अनुभूति हुई? मोक्ष को भी पहचानें। मोक्ष सिद्धशिला में है। वहाँ रहते हैं, सिद्धशिला से कुछ ऊपर कर्म से छूट गए है। यह ही तो मोक्ष कहलाता है। ऐसे मोक्ष का भी कोई वर्णन करे, जानकारी करे, लोक के अन्त में अपने दिमाग को पहुँचा दे, ज्ञान को पहुँचा दें, ऐसी स्थिति में भी निर्विकल्पता आती है क्या? जितने भी भेद हैं वे समस्त भेद सम्यैक्त्व का कारण नहीं हैं, पर भेद से समझे बिना हम उस अवक्तव्य परमार्थ तत्त्व का परिचय भी नहीं पा सकते ऐसे ही एक समस्या है यह कि जैसे कोई पूछे कि सीढ़ी पकड़ ने से ऊपर चढ़ेंगे या सीढ़ी छोड़ने से? तो उसका कोई उत्तर न बन पाएगा। सीढ़ी पकड़ने से कोई ऊपर नहीं चढ़ता और सीढ़ी छोड़ने से भी कोई ऊपर नहीं चढ़ता। सीढ़ी पकड़कर छोड़ने से ऊपर चढ़ता है। सीढ़ी पकड़े बिना भी ऊपर न आएगा, सीढ़ी छोड़े बिना भी ऊपर न आएगा। ऐसे ही इस परमार्थ पद का रहस्य व्यवहार पाए बिना भी न आएगा, व्यवहार छोड़े बिना भी न आएगा। और, इसमें दिमाग क्यों लगाया जाए? जैसा होना होगा सो हो जाएगा। क्या अनेक बातों का निर्णय करना आवश्यक है? श्रेणी के चढ़ने वाले ऋषी संतों को अप्रमत्त दशा में ८ वें ९ वें १० वें गुणस्थान में रहने वाले संतों को क्या कुछ निर्णय रहता ही है? मैं इस परिणाम में हूँ, मेरे ये कर्म छिद रहे हैं, मेरी स्थिति हो रही है। ये कर्म कट रहे हैं, क्या ऐसी उनकी जानकारी चलती है? खूब अधिक जानकार हो कोई, श्रुतकेवली भी हो जो समस्त द्वादशांग रहस्य को सबको जानते हैं। क्षण-क्षण में कर्म की जो दशा होती है उनको समझते हुए भी, श्रेणी में चढ़ते हुए में तो विकल्प न करने से उनमें उपयोग नहीं उलझता। जानने में आया तो भी ऐसा सामान्य जानने में आता कि वह जानने का जो उपयोग है वहाँ नहीं विकल्पना बनती। जो जानने का लोग उपयोग चाहते हैं वह नहीं बनता। तो सभी चीजों का निर्णय करना आवश्यक नहीं, किन्तु तत्त्व क्या है, निरपेक्ष भाव क्या है ? पारिणामिक भाव क्या है, इसका निर्णय करना अत्यन्त आवश्यक है। एक इस ही अंतस्तत्त्व का अनुभव किए बिना, जाने बिना सब कुछ जानना भी बेकार है। ऐसी अन्य बातों के जानने की महिमा बतायी जाए, बखानी जाए समझी जाए तो बहुत बड़े-बड़े वैज्ञानिक लोक में हैं, क्या हम यह कह सकते हैं कि वे सभी मुक्ति के मार्ग में हैं। तो बात यहाँ यह समझना कि अनेक बातों की जानकारी हमको आवश्यक नहीं, किन्तु अंतस्तत्त्व को जानने के लिए जो भी जानकारियाँ चाहिए वे सब आवश्यक हैं, और ये सारी कलाएं तो अपने पौरुष के बल

पर जीव चाहे तो अपने में सहज पा सकता है।

अन्तः पवित्रता का लाभ—उपदेश सुनके भी उपदेश से कोई कुछ कर नहीं पाता। जो पाता है तो अपने आपमें अपनी ज्ञानवृत्ति से सहज पाता है। कोई उपदेश का सहारा लिए बिना भी अपने आप में ऐसा ज्ञान पौरुष बना सके तो वह भी पा सकता है। आखिर पाएंगे सब सहज ही। बाह्य कारण का तो नाम लेना और एक मार्ग में साधन बनना है, पर सम्यक्त्व की उत्पत्ति किसी भी बाह्य पदार्थ से नहीं होती। इसी तरह शान्ति भी किसी पदार्थ से नहीं होती, हो लेकिन कहते हैं कि जिसके पास जितना धन हो उसे उतनी ही आकुलता रहती है, तो ऐसे ही समझिए कि जिसके बाह्य पदार्थ के विषय में बहुत ही लगाव-व्यामोह का रंग होना बने वह उतना ही गरीब है। दीन है, कभी-कभी परख में भूल हो सकती है। जैसे कि लोग कहने लगते कि सीता के जाने पर राम इतना बिह्वल हुए कि जितना बिह्वल यहाँ कोई हो तो उसे पागल कहेंगे, भरत चक्रवर्ती को इतना क्रोध आया था कि उससे बढ़कर प्रचंड और कोई क्रोध नहीं हो सकता। लेकिन जो समर्थ हैं, ज्ञानी हैं उनके क्षोभ भी आए तो वह बहुत बड़े व्यापार को बना देता है। जो असमर्थ है वहाँ बहुत-बहुत सोच करके, तीव्र कषाय करके भी साधारण व्यापार कर पाता है। तो दूसरे की परख से क्या पड़ी है। खुद में खुद की परख से ही तो काम निकलेगा। कितना एक संयत मार्ग से चलने की आवश्यकता है कि जिसको सिवाय एक आत्महित के चित्त में किसी प्रकार की धुन नहीं होती। तो परखना है अपने आप में बीती हुई बात को और ऐसा रास्ता निकालना है कि हम भीतर में कैसा पौरुष बनाएं कि हम उस मलीनता से दूर हटें और सदा के लिए पवित्र बन सकें।

बाह्यक्षेत्रस्थ पदार्थों से आत्मा की प्रकट भिन्नता—आत्मा भ्रम से उत्पन्न हुआ दुःख आत्मा के भ्रम के नाश से ही नष्ट होना सम्भव हो सकता है, उसका और कोई दूसरा उपाय नहीं है। वह भ्रम क्या है? जो आत्मा अभी अनात्मा है उसमें यह मैं हूँ इस प्रकार की जो प्रतीति हैं यही एक भ्रम है। जितने भी दुख हैं वे इस भ्रम के ऊपर लदे हुए हैं। भ्रम दूर हो जाए तो सारे दुःख खत्म हो जाएंगे। कितने भ्रम लगे हुए हैं, परखें और उन भ्रमों में अपने में कोई बात जची हो तो उस पर खेद लायें, पछतावा करें और उस भ्रम का ध्वँस करने के लिए धुन बनायें। प्रथम तो व्यामोही जीवों को यह ही भ्रम लगा है कि ये मकान, घर मेरे हैं। यह कितना मोटा भ्रम है। ये जड़ हैं, अचेतन हैं, कोई सम्बन्ध नहीं, परक्षेत्र में हैं। मतलब क्या? कहाँ तो यह ज्ञानानन्दमय परमात्मस्वरूप भगवान आत्मा और कहाँ अत्यन्त विपरीत ये बाह्य पदार्थ, किन्तु जिनको इतना तीव्र भ्रम रहता कि और किसका है? मेरा ही तो है यह मकान। इसी तरह धन वैभव का भ्रम। और कुछ पास आएं तो देखो कुटुम्ब का भ्रम, पक्ष पार्टी का भ्रम, मित्रों का भ्रम, ये मेरे ही तो हैं, और किसके हैं? मेरे बहुत आज्ञाकारी हैं, विनयशील हैं और इनका मैं ही तो जिम्मेदार हूँ। ये मेरे से ही तो लगे हैं। उनको निरख

निरखकर एक अपने आत्मा में हर्ष होना, लगाव होना, आत्मा की सुध खो देना और उससे ही अपना महत्त्व आँकना, मैं इन्हीं से तो महान हूँ। ये न हों तो मेरा महत्त्व क्या? फिर तो मैं कुछ नहीं हूँ। अपने आपके स्वरूप के कारण अपना महत्त्व नहीं आँकते और इस चेतन परिग्रह के कारण, कुटुम्ब के कारण, मित्रों के कारण अपना महत्त्व आँकना, इन्हीं से तो मैं महान हूँ और उन्हीं के लिए सारे श्रम किए जाते और श्रम करके अपने में गर्व का भी अनुभव होता है। जैसे कोई सांड किसी धूल को सींग से उछाले तो वह अपनी पीठ पर ही तो फेकता है। और कुछ कूड़ा फैंकने के बाद चारों पैर पसार कर, पूंछ उठाकर, सिर उठाकर अपनी आँखें उठाकर कैसा गर्व से अपनी मुद्रा बनाता है। तो जैसे इन बैल सांडों की करतूत है ऐसे ही योगी मनुष्य की करतूत है। बाहरी पदार्थों को अपनी कल्पना में उकेरकर जोड़कर संग्रह विग्रह करके एक गर्व से अपने शरीर को तानकर या जो भी मुद्रा बन गई हो, अनेक मुद्राएं होती है, उनमें अपने को गर्व का अनुभव करता है। पर आत्मा की सुध इन वृत्तियों में नहीं बनती। और कुछ अन्तः चले तो इसको शरीर में आत्म बुद्धि है। शरीर दुर्बल है मैं दुर्बल हूँ। शरीर मिटे तो मैं मिटता हूँ। शरीर की परिस्थिति देखकर अपने आपकी परिस्थिति का अनुभव करता है। अरे शरीर अत्यन्त कमजोर है तो रहो, पड़ा है, जहाँ हैं तहाँ है। इस शरीर से मेरा क्या मतलब? मैं तो इससे निराला एक चैतन्यमूर्ति भगवान आत्मा हूँ। वह जाए तो जाए इस चैतन्य रस का स्वाद लेता हुआ मरे तो वह मरना नहीं, और जो बाहरी पदार्थों के रस का स्वाद लेता हुआ जिन्दा रहे तो भी मरा हुआ है। तो ऐसे अपने एक अंतस्तत्त्व में ऐसी बुद्धि, ऐसी आत्मीयता होनी चाहिए। देह प्रकट भिन्न है। जला दिया जाता है। और ज्यादा कुछ सोचना हो देह के बारे में तो दो बातें सोचिए। प्रथम तो इसमें जो घिनौनापन है क्या वैसा घिनौनापन इस आत्मा में भी है ? अरे मैं आत्मा तो अनन्त आनन्द वाला हूँ। ये नाक, आँख, थूक आदि क्या मैं हूँ तो देह में इतनी तीव्र आशक्ति हुई एक तो यह सोचिए कि जैसे तुमने अनेकों शरीर अपने हाथ से जलाये होंगें वह ही दृश्य अपने आपके इस शरीर में लगावो। यह भी किसी दिन ठठरी पर बंधकर जाएगा। जला दिया जाएगा इस देह में कोई दम है क्या? इस देह में कौन सी सार बात है जिससे मैं इस देह में इतना आशक्त होऊं।

अन्तःस्थ परतत्त्वों से आत्मा की विविक्तता—देह से और अन्तः चलें तो अन्तः देखा कर्मविपाक। मुझ पर जो कुछ बीत रहा हैं, जो रंग हो रहा है, जो मलिनता आ रही है वह तो कर्मविपाक की है। यह मैं नहीं हूँ। मैं तो इनसे निराला चित्वृत्तिमात्र हूँ मैं एक चैतन्यस्वरूप हूँ। दर्पण में प्रतिबिम्ब आया तो वह दर्पण की चीज नहीं है। रंगीला हो गया दर्पण, पर वह प्रतिबिम्ब दर्पण की निज की जेब की चीज नहीं है। रंग हो गया। मैं इनसे निराला चैतन्यवृत्ति मात्र हूँ। और इससे भी अन्तः चलें तो मेरे में जो विचार आते हैं, कल्पनाएं उठती हैं, तर्कणायें जगती हैं, ये तर्कणायें, ये ज्ञानवृत्तियाँ ये कर्म के उदय से तो नहीं होती।

लेकिन कर्म का जितना क्षयोपशम होता है उतना यह प्रकट होता है तो वहाँ भी इतनी मलिनता है कि इन्द्रिय और मन के द्वार से ही हो सकता है। इसका आत्मपन स्वयं अपने आप में सहज ही होता। तो क्षयोपशम और कुछ उदय से सभी मिलकर कारण बने हैं। क्षयोपशम में स्वयं उदय बसा हुआ है। क्षयोपशम मात्र क्षय और उपशम में नहीं बनता किन्तु उदयाभावी क्षय, उपशम और उदय इनके मेल से क्षयोपशम होता है। तो यद्यपि वह ज्ञानवृत्ति जो प्रकट हुई है वह ज्ञानभाव से हुई, किन्तु उसके साथ उदय भी लगा है इस कारण विचार नैमित्तिक है इन्द्रिय द्वारा और मन, इनके निमित्त से प्रकट होता है यह ज्ञान। सो यह विचारात्मक ज्ञान भी पर समझ लें, इनमें परतंत्र होकर ही मुझमें बात होती है। ये विचार ये तर्क, ये शक्तियाँ इनमें भी लोग आत्मबुद्धि करते हैं तब ही तो कोई कुछ समझा रहा हो, उसे दूसरा न मान सकता हो, उससे उल्टा होता हो तो कुछ दुःख मानता है वक्ता, क्योंकि उसके विकल्प में आत्मबुद्धि है। ओह यह मेरी बात है, ये लोग मेरी बात क्यों नहीं मान जाते कैसे विकल्प में आशक्ति बुद्धि बनायी है, वह भी शल्य है, भीतर दुःख प्रदान करता है धर्म चर्चा करते-करते भी लोगों में आपस में लड़ाई हो जाती है, जैसे बच्चे लोग खेलते तो हैं बड़े मेल के साथ मगर उनका खेल प्रायः करके बंद (पूरा) तब होता है जबकि उनमें लड़ाई हो जाए और थोड़ी मार पीट हो जाए। तो ऐसे ही यह जीव कब छोड़ता है यह खेल जबकि इसको कोई चोट पहुँचती है। भीतर में निरखिये ये तर्कणायें, ये विचार, ये विकल्प, ये जानकारी ये मेरे स्वरूप नहीं, मेरा स्वरूप तो इनसे निराला है।

चित्स्वभाव की पहुँच में यथार्थ विश्राम—अब कहाँ तक पहुँचना है? चेतन की जो सहजवृत्ति है, बिना इन्द्रिय का सहारा लिए, बिना मन का आश्रय लिए, अपने आप जो इसमें जगती हुई वृत्ति है वह भी मैं नहीं किन्तु है वह मेरी शुद्ध वृत्ति तथापि वह भी परिणति है, परिणति नित्य नहीं, मैं अध्रुव नहीं मैं तो एक ध्रुव शाश्वत चित्पदार्थ हूँ, यहाँ तक जो आ सके उसके लिए पवित्रता का अवसर आता है, पर इसका जो इच्छुक हो, इस अंतस्तत्त्व का जो अभिलाषी हो वह अपनी सब हठों की बलि दे देता है, अपनी सब कषायों की बलि दे देता है। वह अपने को लोक दृष्टि में न कुछ मानता है। मैं कुछ नहीं हूँ। मेरे को तो यही एक अध्यात्मरस चाहिए। इस अंतस्तत्त्व के पाए बिना जगत के जीव अब तक संसार में रुलते चले आए हैं। वही स्थिति हम आप सबकी चली आयी है। अब इससे किनारा करके निज अंतस्तत्वकी ओर अभिमुख होऊं तो इसमें ही हम आपका भला है। बाकी सब हठों को त्याग दें, भीतरी विकल्प वासनाओं को त्याग दें। भला बतलाओ, लोग चाहते हैं कि मेरा बहुत से जीवों में नाम फैले। तो भाई अच्छी बात है। अगर ऐसा हो जाए तब तो बड़ी ऊँची चीज है, लोक दृष्टि से, मगर जीव तो अनन्तानन्त हैं। अगर कुछ हजार या लाख लोगों ने कुछ झूठी प्रशंसा कर दी तो अभी तो अरबों आदमी तो और भी छूटे हुए हैं। उन अरबों आदमियों में भी तो अपना यश प्रकट करो। प्रकट ही नहीं कर सकते। और मानो कि आज

का माना हुआ सारा विश्व भी आपको जान ले, ऐसा हो नहीं सकता। तो भी तो और भी जीव छूटे हुए हैं। पशु पक्षी ये तो मेरे को कुछ भी नहीं समझते। और बाकी जीव तो अनन्तानन्त छूटे। तो फिर इन थोड़े से लोगों में अपनी यश की अभिलाषा करके अपने में मलिनता क्यों बनायीजा रही है? जीव कहता है कि मेरा सदा काल यश रहे, अरे इस अनादि अनन्त काल के सामने जब अवसर्पिणी उत्सर्पिणी काल की भी कुछ गिनती नहीं है एक कल्पकाल की भी सारे काल के आगे एक बिन्दु बराबर भी गिनती नहीं है तो सारे काल में जब यश नहीं हो सकता तो फिर न कुछ बात में प्रशंसा की चाह करके अपने को मलीमस क्यों बनाया जाए? तो इन्द्रिय और मन के विषय में आशक्ति न हो। देह में बंधा हूँ, कसा हूँ इस नाते से जो कुछ करना पड़ता है सो करो, लेकिन धुन होनी चाहिए कि मेरे में अपने अन्दर बसे हुए एक सार को, एक मक्खन को, एक जिस की कोई उपमा नहीं दी जा सकती ऐसे अलौकिक तत्त्व को निरखें और इसके निरखने में ही मेरे क्षण व्यतीत हों, इस भावना और पौरुष के अतिरिक्त लोक में सब कुछ बेकार है।

शान्तस्वरूप शाश्वत सहज अन्तस्तत्त्व के ध्यान की परमार्थशरणरूपता—शान्ति का उपाय शान्तिस्वरूप का ध्यान करना है। अशान्त व्यक्ति से लगाव रखना और वह लगाव मोह रागद्वेष पूरक हो तो उस लगाव से शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। शान्ति चाहते हैं तो शान्त स्वरूप का ही ध्यान करना होगा। अब बाहर में शान्त स्वरूप का ध्यान हो तो वह कहलाता है व्यवहारशरण और निज में अन्तः स्वरूप का ध्यान हो, निज शान्तस्वरूप का ध्यान हो तो वह कहलाता है परमार्थशरण। पर जो स्वयं शान्त नहीं, स्वयं मुक्ति के मार्ग का जिसको परिचय नहीं ऐसे लोगों से आत्मीयता की पद्धति से दृष्टि लगाना यह तो विपदा का मूल है। वह शान्तस्वरूप क्या है? निज अखण्ड चैतन्यस्वरूप। उसका ध्यान नहीं है तो है आश्रव बंध। उसका ध्यान है तो होता है संवर निर्जरा। कभी उसका ध्यान न भी हो और कभी किया हो ध्यान, उसकी प्रतीति हो तो भी ध्यान का अंश है। तो यह बनी है पर्याय, आश्रव, बंध, संबर, निर्जरा, मोक्ष, लेकिन पर्याय का आश्रय करने से, पर्याय की उपासना करने से शान्ति अथवा मुक्ति प्राप्त नहीं होती जो निज द्रव्य स्वरूप है उसकी उपासना करना। उपासना का अर्थ है कि उस ही ज्ञानस्वरूप में अपने ज्ञान को मग्न कर लेना, वह है शान्ति का साधन। जब यह स्थिति नहीं होती तब क्या-क्या गुजरता है इसी का विस्तार है आश्रव के प्रकार और बंध के प्रकार। कोई भी वस्तु हो वह अपने आप सहज स्वरूप में होती है, अपनी सत्ता के कारण जो मेरा स्वरूप है वह मेरा असली रूप है। मैं भी एक सत् हूँ। तो मेरी सहज सत्ता के कारण जो मेरा स्वरूप है वह मेरा रूप है, वह एकस्वरूप है। अब यह सब जाल कैसे फैला? जब मूल में एक रूप हैं। मूल में एक चैतन्यमात्र हूँ, तो यह जाल कैसे फैला? उसका कारण तो यही कहा जाएगा कि अनादि से अशुद्ध है, और विकल्प करता चला आया, पर यह हुआ किस ढंग से?

अद्वैत अखण्ड निज आत्मा की विडम्बनामें मूल करतूत ज्ञान ज्ञेय का द्वैतीकरण—मूल में यह मैं आत्मा एक हूँ, किन्तु इसकी प्रकृति है, इस चैतन्य का स्वभाव है कि सब कुछ इसके प्रतिभास में आवे। यह कहाँ जाए? प्रतिभास में आया, जानने में आया। जानता यह है। अब यहाँ होता क्या है कि जैसे ही जाना तो जानने के साथ ही ज्ञान और ज्ञेय में द्विविधा हो गई। यह जाना, मैंने जाना। ये दो बातों के द्वन्द्व के साथ ही ज्ञान और ज्ञेय में द्विविधा हो गई। यह जाना, मैंने जाना। ये दो बातों के द्वन्द्व हो गए इसमें। काम जानने का ही हो रहा है भगवान के भी, पर भगवान के द्वन्द्व नहीं होता। यहाँ वहाँ हम काम करते हैं। और द्वन्द्व हो गया। इसका कारण अशुद्धता ही कही जाती है। पर जैसे किसी को किसी झगड़े के जानने की इच्छा होती, इससे झगड़ा क्यों हो गया, क्या बात थी, ये तो बड़े मेल से रहते थे,पड़ोसी आदमी हैं, बड़ा हमदर्द था। ऐसा कोई आश्चर्य करते हैं ना? क्या बात हो गई? अरे झगड़ा जानने की बड़ी उत्सुकता हो जाती है। किसी दूसरे से क्या लेन-देन, कुछ मतलब नहीं, दूसरे गाँव के दूसरे मुहल्ले के, घर जाए बिना चैन नहीं पड़ती, क्यों हो गया, झगड़ा? तो दूसरे के झगड़े में जाए बिना चैन नहीं पड़ती। मगर खुद में जो झगड़ा है उसे जाने बिना क्यों नहीं चैन ली गई? मुझमें दंद फंद कल्पनाएं करते विकल्प करते, जन्म-मरण करते, परको अपनाते, परको अपनाकर उनके पीछे विछोह के बड़े क्लेश भी सहते जाते फिर भी अपने असली रास्ते पर नहीं आते। इसका द्वन्द्व किस तरह हो रहा और इतना बड़ा जन्म-मरण नाना देहों का अदलने बदलने का यह व्यापार क्यों लग रहा इसमें? तो इसको भली भाँति मूल से समझना है। आखिर मूल में पहली बात क्या गुजरी? बाद में जो बात निकलती है, जो निकट की बात है उससे फैसला नहीं होता। जैसे किसी बच्चे ने मार दिया किसी को, क्यों मारा? इसने मुझे मारा। .... क्यों इसने मारा? .... इसने गाली दी। .... इसने गाली क्यों दी? .... अजी इसने उस इस तरह से अँगुली और जीभ मटकाकर मुझे चिढ़ाया। .... अच्छा तो मूल में जो बात होती है उस पर से ही तो निर्णय होगा। तो मूल में बात क्या थी? क्यों झगड़ा हुआ? उसके मूल से चलो चाहे शाखाओं से। मूल से ही चलो। हुआ क्या कि इसके जानने की आदत है, यह स्वरूप तो कहीं जाता नहीं, पर यह भगवान इतना समर्थ है कि वह सब कुछ जानकर भी द्वन्द्व नहीं लाता। कितना विशुद्ध स्वरूप है इसका। इसी को कहते हैं परमात्मा। जिसका ऐसा विशुद्ध स्वरूप है कि सब कुछ जानकर भी द्वन्द्व नहीं होता। मैंने जाना, यह जाना ऐसा जहाँ द्वन्द्व नहीं, द्वैत नहीं, भेद नहीं, उसे कहते हैं प्रभु। जो बड़ा होता है उसमें कोई खास गुण भी तो होता है तब वह बड़ा है। तो परमात्मा तीनों लोकों का अधिपति, शतइन्द्र जिसकी वन्दना करें, गणधर, बड़े-बड़े मुनीन्द्र जिसका स्मरण करें उसमें विशेषता क्या है? यह विशेषता है कि जानने का तो स्वभाव है, जान गए सब। सो भैया सूक्ष्मता से देखो तो यहाँ सब जानने की महिमा नहीं है क्योंकि किसी ने थोड़ा जाना, किसी ने ज्यादा जाना, भगवान ने सब जान लिया, तो जानने की महिमा

अगर हो तब तो कहना चाहिए कि इनमें भी कुछ महिमा है, उनमें जरा बड़ी हो गई, क्या हो गया, पर महिमा उनकी असलियत में यह है कि जानकर भी उनमें द्वैत नहीं उत्पन्न होता। तो मूल में बात यह आयी कि हम जानते हैं समस्त पर को और वहाँ द्वैत करते हैं—मैंने जाना, इसे जाना।

आत्म विडम्बना में द्वितीय करतूत पर में स्व पर का विकल्प—मैंने जाना, इसे जाना जब ऐसा द्वैत बन गया तो जो कुछ जानने में आया ऐसी जो ५० चीजें हैं उनमें अब यह द्वैत करने लगा। अभी तो निज में और पर में द्वैत किया अब यह कर रहा है पर में ही द्वैत। यह भला है, यह बुरा है, अभी जानने से ज्ञान ज्ञेय का भेद कराया था अब पर ज्ञेयों में भेद डाल रहा है कि यह भला है और यह बुरा है कोई समझाए कि तुम्हें क्या पड़ी है? पर पदार्थ हैं। क्यों सोचते हो कि वह भला है, यह बुरा है? अरे वे दोनों ही पर हैं, भिन्न हैं, समझाये भी अथवा न समझाये भी, यह तो अपनी उस हठपर है, उन्हें मानता है कि यह भला है, यह बुरा है। अब जब वहाँ पर में स्व और परका भेद आ गया तब उनमें अन्तर जचने लगा। और, अन्तर जचा इतना कि एक इष्ट हुआ एक अनिष्ट हुआ।

द्वैतबुद्धि का फल—ज्ञान ज्ञेय का द्वैत होना, पर में इतना जानना, स्वरूप का द्वैत होना इष्ट अनिष्टका द्वैत होना इतना भेद करना, इतना अन्तर डालना, इन सब बातों का आखिर परिणाम क्या है? तो जब इतनी बातें चल रही हैं तो वहाँ क्रिया-कारक की बात इसके साथ हुई, इससे यों करना चाहा, मैं इसको यों करूँगा, इष्ट में और तरह का विकल्प, अनिष्ट में और तरह का विकल्प। तो अब जब इसके क्रिया-कारक चलने लगे तो उन क्रिया कारकों से बना इसका अध्यवसाय। अध्यवसाय ३ प्रकार के होते हैं, एक तो होता है अपने को अहंरूप मानने का। मैं मनुष्य हूँ, अमुक हूँ, कुलीन हूँ, गाँव का मुख्य हूँ, त्यागी हूँ, व्रती हूँ आदि, यों अनेक प्रकार की बातें भीतर में आने लगें यह कहलाता है धिपच्यमान अध्यवसाय। दूसरा है क्रिया गर्भ अध्यवसाय मैं तो इसको यों कर दूँगा, और तीसरा अध्यवसाय वह होता है कि जो कुछ जाने उसमें चतुराई मानना और उसमें आत्मबुद्धि करना, आत्मतौत्त्व का विकल्प करना जहाँ यह अध्यवसाय हो वहाँ कर्म का आश्रव है। कर्म का बंध है। और जो बंध गया कर्म जब उसका उदय आता है तो उसके अनुकूल दुःख-सुख भोगना पड़ता है। जन्म-मरण करना पड़ता है। जैसे कोई कहीं विपत्ति में फंस जाए तो कुछ वह सोचता है—अरे विपत्ति में फंस गया, कोई मौका मिले तो फिर इसके फन्दे में न जाऊँगा। तो यहाँ भी तो देखिए, हम आप कितनी विपत्ति में पड़े है, कितने फन्दे में पड़े हैं तो इतना तो भाव होना चाहिए कि हमें तो इस फन्दे में पड़ना नहीं है। बाहर के फन्दे में पड़ना नहीं, ऐसा तो बहुत से लोग सोच सकते हैं। घर में खड़े हों वहाँ भी सोच सकते, कहीं मनन मिला वहाँ भी सोच सकते हैं इस फन्दे में नहीं पड़ना है। जरा सा कुछ भी बाहर में काम हो, परोपकार वाला काम हो,

उसमें भी आपत्ति आती है और अपने भीतर जो फन्दे चल रहे हैं और बड़े सन्तोष के साथ जो बैठते हैं तो उनके प्रति क्यों नहीं भाव जगता कि मुझे तो फन्दे में नहीं पड़ना है। फन्दा तो असली यह है। बाहर की चीज तो जो होती है होने दो, जैसा होता है ठीक है मन, वचन, काय लगा है, उनकी प्रवृत्ति बिना रहा नहीं जाता, ऐसी वर्तमान स्थिति है बाहर की बातों से लाभ-हानि नहीं। लाभ-हानि तो अन्तर के आशय से है, विपरीत आशय हो तो वहाँ हानि है, अनुकूल आशय हो क्षायिक भाव अन्तस्तत्त्व का, तो लाभ है। यह बात उपदेश से नहीं बनती, सिखाने से नहीं बनती, बनावट से नहीं बनती। जिसको बने उसको लाभ है, गुपचुप। वह अपने हित में है। उसकी परख कुछ नहीं है। दूसरा क्या करे? खुद की बात खुद में है। परख तो होती है, वह एक अंदाज होता है। हित चाहिए हमें तो हम में ऐसी अनुकूल परख हो कि जो मेरे स्वभाव में फिट बैठे। उससे हमारा हित है।

आस्रव का विधान—बात मूल में दो आयीं जब हम प्रयोजन तत्त्व की भूमिका में चलते हैं। जीव और अजीव, जीव चेतन है, अजीव कर्म है, इन कर्मों का साक्षात् नाता कर्म से है जीव से नहीं। लेकिन जीव ऐसा यह बीच में पड़ा है कि जीव के आदेश बिना ये कर्म दूसरे कर्म से नाता भी नहीं लगा पाते। नवीन कर्म का आश्रव होता है तो उसका आमंत्रण देने वाला उदय में आया हुआ कर्म है जीव नहीं। जिसे कहते हैं निमित्त। लेकिन उदय में आने वाले कर्म में इतनी सामर्थ्य नहीं कि जीव के रागद्वेष का संकेत न मिले तो वह नवीन कर्मों को बुला कर घर में रख सके ऐसी सामर्थ्य उदय वाले कर्म में नहीं है। नवीन कर्म आते हैं उदय में आए हुए कर्म का निमित्त पाकर, लेकिन उदय में आने वाले कर्म निमित्त बन जाएं ऐसी समर्थ्य उनको मिलती है राद्वेष का निमित्त पाकर। शास्त्रों में ऐसा विश्लेषण करके वर्णन प्रायः आता नहीं है, और कहीं आता है तो वहाँ प्रायः पढ़ने वाला भी गौण रूप से पढ़कर चल देता है। और ऐसा विवरण देने का कोई अधिक प्रयोजन भी न था, इसीलिए यह ही बात प्रसिद्ध है कि नवीन कर्म के आने का निमित्त कारण जीव का रागद्वेष भाव है। सीधा यों ही कहा जाएगा। अगर किसी ने अपने पालतू कुत्ते को दूसरे आदमी पर संकेत कर दिया और कुत्ते ने बढ़कर उस आदमी को काट लिया, तो इसमें कोई भी आदमी उस कुत्ते में अपराध नहीं लगाता किन्तु उस आदमी पर लगाता है। जिसका पालतू कुत्ता है। जिसके संकेत पर कुत्ते ने हमला किया जज भी निर्णय देता है तो कुत्ते को दण्ड नहीं देता किन्तु जिसका पालतू कुत्ता है उसे दण्ड देता है। इसलिए वह बात प्रसिद्ध है कि उस मनुष्य ने उस पर हमला किया। वह तो बिचारा आदेश मानने वाला कुत्ता है, पशु है, उस पर अपराध नहीं मढ़ा जाता। तो इसी प्रकार उदय में आए हुए द्रव्य कर्म तो बेचारे पालतू थे, हुकुम मानने वाले। इस जीव ने रागद्वेष मोह का छुटकारा दिया तो उन्होंने नवीन कर्म का आश्रव किया। आश्रव हुआ और वे ठहर गए तो उसी को बंध कहते हैं। यहाँ एक बहुत बड़ी विपत्ति की घटना चल रही है, यह रात-दिन चलती रहती है। निज स्वरूप का

ध्यान हो तो वह विपत्ति भी मालूम पड़े। अन्य की विपत्ति भोगते हुए भी विपत्ति मालूम नहीं करना। आश्रव हुआ, बंध हुआ, अब बंध के साथ ही, आश्रव के साथ ही उसमें उसी समय शक्ति निर्णीत हो गई और प्रकृति हो गई। उन परमाणुओं में ऐसा तुरन्त बँटवारा हो जाता निमित्तत्व का कार्माणवर्गणा में कि यह तो इस जीव का ज्ञान घातेंगे। ये कर्म जीव के दर्शनगुण को घातेंगे। ये शरीर बनाने में काम करेंगे। ये ऊँच-नीच व्यवहार में काम देंगे, ये शरीर में जीव को रोके रखेंगे। यह सब प्रकृति बन जाती है। जैसे कोई बेचारा एक आदमी ७–८ बैरियों के बीच पड़ गया हो या जब कोई भी बालक ७–८ बच्चों के बीच पड़ गया हो, जो इसका प्रतिपक्षी हो तो कोई बालक हाथ पकड़ता है, कोई कमर पकड़ता है, कोई आँखें नोंच लेता, कोई मुक्के मारता। यों ही कर्मों में सब बाँट हो गई और सब अपने-अपने हिसाब से अपने-अपने प्रभाव में रहते हैं और जीव इन ८ कर्मों के बीच फंसा हुआ दुःखी होता है, बन्धन को प्राप्त होता है। कब होता? बंधे हुए बाद उनका तब उदय आया। जब बहुत दिनों तक किन्हीं पुरुषों का द्वेषभाव चलता है, तो उनमें एक पुरुष अपनी पार्टी में सलाह करता है कि देखो इस तरह पीटना है, इस तरह बरबाद करना है तो ऐसे ही उनमें निश्चित हुआ और जब उदयकाल आया तो यह जीव अकेला उन कर्मों के बीच पिटने लगा। पिटा और इसी समय यह जीव रागद्वेष मोह करने लगा, अकड़ गया, बुरे विचार बनने लगे तो और नवीन कर्म और-और अधिक बैरी बन बनकर इसके बन्धन को कसने लगे। होता है सब निमित्त नैमित्तिक भाव से। करने वाला कोई किसी दूसरे का नहीं है। तो किस तरह होता है? निमित्त नैमित्तिक भाव से। बस-इस आपत्ति के बीच फंसा है। सब कर्मों में ऐसा बँटवारा है। जन्म होता है, मरण होता है, आयु अपना काम करती है। नाम कर्म अपना काम करता है। दुःखी पड़ा हुआ है। जिस समय उसने अपना होश सम्हाला कि मूल में यह गलती है। जिस पर ये सब बातें लदी हैं। ज्ञान ज्ञेय का द्वैत करना। मूल में यह बात थी। तो ज्ञानी क्या करता? ज्ञान ज्ञेय का द्वैत मिटाता।

मात्र सहजभाव लक्षित होने में धर्मपालन की यथार्थता—ज्ञान ज्ञेय का द्वैत मिट जाना, यह बात जिस ध्यान में बने उसे उत्तम ध्यान कहते हैं। जैसे ऐसी बात सम्हाली तो उस सम्हाल के प्रसंग में कमी भी रही आयी, लेकिन सम्हाल का संकल्प है, सम्भाल की दृष्टि है। सम्हाल का उद्यम है तो उसके बीच भी संवर, निर्जरा होती रहती है। होते-होते जहाँ पूर्ण सम्हाल हुई वहाँ मुक्ति होती है। जीव इस तरह बन्धन में जकड़ा और इस तरह बन्धन से मुक्त होता, यह बात अपने भीतर की जानें तो वह हमारे लिए बहुत बड़े ज्ञान की बात है। और, दुनिया की सारी बातें तो जानें पर अपने भीतर की अनुभूति की बात न जानें तो वह दुनियावी ज्ञान कुछ भी कार्यकारी नहीं है, अन्यथा वह तो बच्चों जैसा ज्ञान है। जैसे बच्चों को दुनिया का ज्ञान कराया जाता है—अमेरिका में अमुक अमुक नदी, रूस में अमुक पहाड़, चीन में अमुक-अमुक जंगल . . . . यों दुनिया का सारा ज्ञान तो करा दिया गया, पर उनसे

पूछा जाए कि अच्छा यह बताओ कि तुम्हारे घर के पीछे से जो नाला निकला है वह कहाँ से निकला है और कहाँ गिरा है तो वे बता नहीं सकते। तो इसी तरह हम बाहरी-बाहरी बातों का बहुत ज्ञान कर लें और अपने निज तत्त्व की बात की रुचि न हो, धुन भी न हो, सुहाये भी नहीं, तो बस वह हमारा बाल ज्ञान है। तो बात अपनी मजबूत बनावें। यहाँ तो अपनी दुकान की बात मजबूत बनाते, घर मजबूत बनाते, यों बाहर में तो जो भी काम आप करते हैं वहाँ मजबूत और ठोस ही करने का ध्यान रखते है पर अपने अन्दर में अपने आपको ठोस मजबूत काम करने का ध्यान भी नहीं रखते। जो बात चलते-चलते भी हो सकती। बैठे-बैठे भी हो सकती, पड़े-पड़े भी हो सकती। और बात करते-करते भी हो सकती। जो इतनी सहज है, स्वाधीन बात है उसकी तो रुचि न जगे और बाहर-बाहर की अनेक बातों के ज्ञान की बात जगे तो हित का मार्ग तो न मिल पाएगा। हित का मार्ग तो इसी उपाय से मिलेगा। उसी को आचार्यों ने ७ तत्त्वों के रूप में बांधा है। करने का काम एक ही है, निज सहज स्वरूप की दृष्टि और होने के काम अनेक हैं। अनेक तो काम नहीं होते, लेकिन चूँकि अनेक गलती में पड़े हैं तो उन गलतियों को हटाने के काम भी अनेक हो जाते, लेकिन करने का काम केवल एक ही है, ऐसी दृष्टि हो, ऐसा आशय हो, ऐसा ध्यान हो, जहाँ सहजभाव लक्षित हो। लोग बाहर की बात जान समझकर वहाँ परख करते हैं कि वह इस तरह चलता है, यह धर्मात्मा है, यह इस तरह बैठता है, यह ऐसा करता है वह धर्मात्मा है। यद्यपि धर्मात्मा की ऐसी बाह्य प्रवृत्ति चिह्न तो है मगर वह चिह्न तो गलत भी हो सकता, सही भी हो सकता। अन्दर में जिसको अपने उस सहजस्वभाव की दृष्टि है। अन्य कुछ चाहता ही नहीं है, धर्मात्मापन तो वहाँ है। ऐसा धर्म परमात्मास्वरूप भगवान आत्मा है, जिसका सहजस्वभाव है ज्ञानवृत्ति। उसकी चाह हो, उसकी दृष्टि हो, उसका आलम्बन हो, आश्रय हो वही कहलाता है धर्मपालन। धर्म ही जीव का हितु है, और कुछ जीव का हितु नहीं है।

प्रयोजनभूत सात तत्त्वों में जीव और अजीव का अर्थः—जिस तत्त्व से निश्चित किए गए पदार्थों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं वह तत्त्व क्या हैं? उन तत्त्वों के सम्बन्ध में यह चतुर्थ सूत्र चल रहा है। वे ७ तत्त्व है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध संवर, निर्जरा और मोक्ष। पहले इन सातों का संक्षेप में स्वरूप सुनो। जीव किसे कहते हैं? जिसमें चेतना हो उसे जीव कहते हैं। वहाँ पर्याय प्रधान्य रूप से जीव को देखना है। यहाँ शुद्ध जीव या भूतार्थ से परिचित किया गया जीव नहीं निरखना है, क्योंकि उसके साथ तत्त्व का सम्बन्ध न बन सकेगा। वह तो एक रूप है, अखण्ड है, अविकार है, बन्ध मोक्ष की व्यवस्था से रहित है इसलिए जीव कहा है जो सामान्य रूप से समझने में सब जगह लागू हो जाए जीव, जिसमें चेतना हो उसे जीव कहते हैं। अजीव जिसमें चेतना न हो उसे अजीव कहते हैं। चेतना का अर्थ कया है? जीव शब्द से कुछ भी अनेक अर्थ लगाये जा सकते हैं। जो दश प्राणों से जीवे, सो जीव, लेकिन यह लक्षण संसारी जीवों में ही घटित हो पाएगा। मुक्त में नहीं, तब

कहना जो पहले जिया हैं, जी रहा अथवा जीयेगा वह सब जीवों में साक्षात् घटित होवे वह लक्षण है मुख्यता चेतन प्राण करके जीवे सो जीव अर्थात् जिसमें चेतना होवे सब जीव। अजीव—जिसमें चेतना न हो उसे कहते हैं अजीव, अजीव में पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल ये पाँचों आ गए, लेकिन प्रकृत में मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीव में क्या लेना? वे कर्म पौद्लिक हैं, चेतना रहित हैं।

जीव और अजीव के निमित्त नैमित्तिक योग का प्रभाव—कर्म का जीव के साथ कैसा निमित्त नैमित्तिक योग है और निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी प्रत्येक वस्तु किस प्रकार स्वतंत्र है, यह सब मर्म जब विदित हो जाता है तो मोह छूट जाता हैं, जितने भी प्रयास धर्म के लिए करते हैं उसमें उसकी सफलता की निशानी यह है कि यह देखें कि मोह छूटा कि नहीं छूटा। मोह कहते किसे हैं? परवस्तु में लगाव रखना यह मैं हूँ, यह मेरा है, उससे हित समझना इस प्रकार परवस्तु के साथ जो अपना लगाव है उसे कहते हैं मोह। लोक में दुःख देने वाला कुछ है तो मोह ही है। सब आनन्द में हैं। सब शान्त हैं, सब सुखी हैं, सब निर्बाध हैं। किसी को कोई प्रकार का कष्ट नहीं है, क्योंकि सब जीव हैं, स्वतन्त्र हैं, सत् हैं, अपने आप सिद्ध हैं। यानी निष्पन्न हैं, अपनी परिणति करते हैं, उसे कष्ट क्या? उसमें किसी बाह्य वस्तु का प्रवेश ही नहीं है तो उपद्रव कहाँ से आएगा? लेकिन जो उपयोग में मोह समाया है, बाह्य वस्तु को मान लिया कि यह मेरा है, बस इसके आधार पर कष्ट लगे हुए हैं। क्यों जी, यदि किसी भी परवस्तु को न मानें कि यह मेरी है तो क्या प्राण नष्ट होते हैं? क्या कोई नुकसान पड़ता है? हाँ नुकसान पड़ेगा तो यह पड़ेगा कि दुःख का नाश हो गया। जीव आनन्दमय हैं, सत् परिपूर्ण है, पर मोह जो बन गया कि यह मेरा है, यह मैं हूँ, बस इससे दुःख है। अब यह मोह कैसे बन गया? तो इसके बारे में एक वस्तुस्वातंत्र्य का दर्शन कराने वाला निश्चयनय की ओर का एकान्त करके यह कह देना कि जीव में जब मोह आना था आ गया, जब राग आना था आ गया तो मात्र यह उत्तर एक सुघटित नहीं है। यह एकान्त से उत्तर दिया है। अगर मोह ऐसे ही आ गया तो वह जीव का स्वभाव बन बैठेगा। आया तो वह जीव की परिणति से है स्वतंत्र है वस्तु, किसी अन्य की परिणति से नहीं परिणमती है, लेकिन अपनी स्वतंत्रता से ही यह परतंत्र हो रहा है। अपने स्वतंत्रता से ही यह विकार करता रहा है, पर स्वयं निमित्त बनकर नहीं कर रहा है। अगर स्वयं निमित्त बनकर यह जीव विकार करे तो सदाकाल विकार रहेगा। ये विकार परभाव हैं, यह कहने की गुंजाइस न रहेगी। होता क्या है कि इस पुद्गल कर्म विपाक का निमित्त पाकर जीव अपने आप में अपने परिणति से, अपनी स्वतंत्रता से विकार करता है।

मोह की अनर्थकारिता—हाँ तो प्रकरण में यह बात कही जा रही है कि मोह दुःख दायी चीज है। मोह जीव को बड़ा सुहावना लगता है। जब स्त्रीपुत्रादि के प्रति रागभरी दृष्टि जाती है तो लगता कि ये पुत्र कैसे सुहावने हैं, यह स्त्री कैसी आज्ञाकारिणी है, वह अपने में

गौरव अनुभव करता है। यह कितना महान अन्धकार है। भगवान आत्मा जो अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का स्वभाव रखता है ऐसा यह भगवान आत्मा इस बेकार के कलंक की चीज में मस्त होकर अपने दुर्लभ मानव जीवन के क्षणों को गंवा देता अन्त में क्या हालत होगी? मरना पड़ेगा, बुरी मौत मरेंगे। यह जन्म-मरण की परम्परा रहेगी तो इस जीव का कोई भला नहीं है। जीव का कल्याण है इसमें कि मोह को जड़ से मिटावे। उसमें रंच गुंजाइस न रखें कि मोह छोड़ देगें तो घर में न रह पायेंगे। घर में न रहेंगे तो भूख प्यास आदि का गुजारा कैसे चलेगा? यह शंका न रखें। मोह को मूल से मिटाके मोह को मिटाने पर भी हमारे जैसा राग विद्यमान है उसके अनुसार घर में रह लेंगे और अगर राग मिट जाए तो इसकी फिक्र क्यों पड़ी कि घर मिट जाएगा? घर छोड़कर घर का विकल्प न आये तो घर का छोड़ना बुरा है क्या? घर का छोड़ना तब विडम्बना है जब कि घर तो छूट जाए, पर घर का विकल्प बना रहे। अगर यह स्थिति आए कि सब कुछ छूटे और विकल्प न रहे तो यही उत्तम चीज है, यह तो भगवान होने का मार्ग है, लेकिन जब तक घर नहीं छूटता, राग रहता, तब तक घर में रहना होगा, रहो। मोह छोड़कर भी घर में रह सकते। यह शंका न रखो कि मोह छोड़ देंगे तो घर भी छूट जाएगा। मोह मिट जाने पर इस जीव को जो आनन्द आता है वह अद्‌भुत और विलक्षण है। मोह केवल घर के मोह को ही नहीं कहते, मोह कहते हें अपनाजो विकार भाव है उन विकार भावों को यह मैं हूँ, इससे ही मेरा जीवन है। यह ही मेरा प्राण है। उन विकार भावों को अपनाने का नाम मोह है। मोह मिटने पर न घर छूटता, न घर रहता किन्तु क्या छूटता ? विकार भाव का लगाव छूटता है। मोह छूटने पर भी घर बना रहता है। सदा तो न रहेगा, मगर जब तक राग है तब तक घर रहता है। मोह छूटन के मायने है, अपने विकार भावों में लगाव छूट गया है। तो विकारों का लगाव छोड़ कर भी ज्ञानी पुरुष घर में रहता है। उसका तो घर में रहना और ढंग से बनता है कि आकुलता भी नहीं है। सारे काम बन रहे हैं और घर में भी रह रहे हैं। और देखो घर में भी अच्छी तरह वह रह सकता है जिसके मोह नहीं है। आप सोचेंगे कि क्या बात कही जा रही है? देखो जिस पुरुष को मोह है, अपने विकार विकल्प में लगाव है उसमें मोह है और घर में रह रहा है तो बात-बात पर उसके साथ झगड़ा ठन जाएगा। क्योंकि उसने विकार में लगाव रखा ना? तो अपनी कषाय पर वह अड़ता रहेगा। उसके स्त्री है, पुत्र है, चाचा है, भाई है, सबकी कषायें तो अपनी-अपनी हैं। कभी प्रतिकूल भी होता है तो झगड़ा बना रहेगा। जीवन कष्ट में जाएगा। और लोग इसका आदर भी न कर पायेंगे, क्योंकि यह मोही है। वह अपने आदर का पक्ष लेगा तो कुछ से कुछ बात करेगा जो दूसरे के प्रतिकूल बैठेगी, और निर्मोह गृहस्थ है तो चूँकि उसे अपने कषाय का आग्रह नहीं है, पकड़ नहीं है, और परिस्थिति वश रह रहा है। रहना पड़ेगा, रहना चाहिए, क्योंकि ऐसी परस्थिति है तो सब बातें उसकी अपने आप सम्भल जायेंगी। अनसुनी कर देगा, उपेक्षा कर देगा, ऐसा

उदार चित्त होकर घर में रहने वाले का आदर विशेष बढ़ता है। तो घर में रहन की भी सुन्दर कला है निर्मोह होकर घर में रहना। जिसको मोह है वह घर में रहकर भी आनन्द नहीं पाता। यह भ्रम है कि मोह छोड़ेंगे तो घर छूट जाएगा। मोह और राग दोनों छूटें तो घर छूटता है। अगर ऐसा आपका सुन्दर भवितव्य होने को हो कि सब छूटे तो उसमें भी पीछे क्यों हटते? जब तक राग नहीं छूटा तब तक घर में रहो, पर मोह छोड़कर तो रहो। मोह छोड़ने के मायने राग छोड़ना नहीं। राग बात अलग है, मोह बात अलग है, मोह में अंधेरा है और राग में प्रीति है।

मोह के त्याग में सर्वत्र हित—अंधेरा रहते हुए जो प्रीति है उसको लोग राग कह देते हैं, अथवा अंधेरा न रहकर भी जो राग है उसे लोग मोह कह देते हैं पर ये दोनों भिन्न-भिन्न चीजें हैं। मोह जुदा है, राग जुदा है। मोह क्या है? जैसे कोई रईस पुरुष बीमार हो गया तो उसे सुन्दर शय्या से राग है, डॉक्टर से भी राग है, औषधि से भी राग है, है कि नहीं है राग? अगर समय पर औषधि नहीं मिलती तो उसे क्रोध आता कि नहीं? क्रोध आता है, अगर समय पर डॉक्टर नहीं आता तो उसे बुरा लगता—क्यों डॉक्टर नहीं आया? इसी समय बुला लावो। तो डॉक्टर से प्रेम है कि नहीं उस रोगी को? और औषधि से भी प्रेम है कि नहीं? और पलंग से भी प्रेम है कि नहीं? आराम से प्रेम है कि नहीं? मगर यह तो बतलावो कि उस रोगी को डॉक्टर से मोह भी है क्या? मोह तब कहलाये जब यह श्रद्धा रहे कि ऐसी बात तो मेरे पास जिन्दगी भर रहे। क्या रोगी ऐसा सोचता है? वह तो यही सोचता कि कब इसका आना टले, और इसका आना टल जाए इसीलिए वह डॉक्टर बुला रहा, मुझे औषधि खानी न पड़े इसके लिए वह औषधि खा रहा है, तो उसे औषधि से मोह है क्या? उस प्रसंग से उसे मोह है? अगर पलंग पर कोई बिनोला है, वह गड़ता है तो उसे भी वह हटवाता है। बहुत कोमल गद्दा चाहिए, पर उसे उस गद्दे से मोह है क्या? अरे वह तो सोचता है कि कब मेरा यह गद्दा छूट जाए और मैं मील दो मील की दौड़ लगाऊँ। तो राग होने पर भी मोह नहीं है। और भी दृष्टान्त देखिए—एक मुनीम जो किसी बड़े सेठ की किसी फर्म में कार्य करता है वह सेठ की सारी सम्पत्ति का सुन्दर हिसाब किताब रखता है। उस सम्पत्ति का उसको इतना पता रहता जितना कि मालिक को भी पता नहीं रहता। मालिक की सम्पत्ति को वह ग्राहकों से मेरी-मेरी भी कहता, मेरा तुम पर इतना गया, तुम्हारा हम पर इतना आया, यह भी कहता, फिर भी उसके चित्त में यह बात बसी है कि यह मेरा कुछ नहीं। तो देखिए उस मुनीम को वहाँ राग है, पर मोह नहीं है। तो इसी तरह से समझिए कि मोह न रहने पर भी राग होता है, उस राग की प्रेरणा से यह घर का काम चलेगा। तो इस मोह को त्याग कर घर में रहने में आपकी शोभा है, आपका आदर है, आपका श्रृंगार है। तो निर्मोह बनकर घर में रहते हुए, आपकी घर में भी शान है, घर का जो कुछ है सो हो रहा है और मोक्षमार्ग भी चल रहा है। निर्मोह होना अपने हाथ का काम है, अपने उपयोग का काम है।

निर्मोह होने के पौरुष का अनुरोध—निर्मोह होने के लिए ही यह बात सोचना सीखना है कि निमित्त नैमित्तिक क्या है और वस्तु स्वातंत्र्य क्या है? ये दो बातें सीखनी हैं वे बेकार नहीं हैं वे बड़े काम की हैं। मोह मेरा मिटे उसके लिए हमें इन दो बातों का निर्णय करना होगा। अब इन दो बातों में कोई एक का एकान्त कर लें तो वह मोह नहीं छोड़ सकता। वह इन दो बातों को सही समझे तो उसे मोह छोड़ने की अपनी दिशा मिल जाएगी अन्यथा क्या दशा होती है? जैसे कभी पूजा करते हुए भी लोग लड़ने लगते—तुम यहाँ क्यों खड़े हो गए? यहाँ तो हम रोज खड़े होकर पूजा करते थे। लो लड़ाई हो गई। तो भाई जो धर्म करता हो, उसके साथ तो लड़ाई होती नहीं कभी। वह तो कभी लड़ेगा ही नहीं। उसको तो क्रोध न आना चाहिए। तो मालूम होता है कि वह शुद्ध भाव से पूजा के लिए नहीं खड़ा था। वह कुछ रुढ़ि से या कुछ कषाय के आग्रह से, मैं जैन हूँ, मैंने व्रत लिया है, मेरा कर्त्तव्य है,मेरा इसमें श्रृङ्गार है। उससे लोग मुझे धर्मात्मा कहते हैं। लोगों में धर्मात्मपने की प्रसिद्धि है। न जाने कितनी तरह के विकल्प करके वह खड़ा है तो जरा-जरा सी बात में उसके क्रोध उमड़ आता है। वह धैर्य नहीं कर सकता और एक सिर्फ ध्येय का पता होना कि मैं बड़े कष्ट में हूँ, संसार में यह कर्मलीला है। मेरे ऊपर बड़ी आफत है। मैं अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हो जाता हूँ, विकल्प में रहता हूँ। मैं उन विकल्पों से छुटकारा पाने के लिए और एक ऐसा धैर्य पाने के लिए, कर्म लीला कैसे ही प्रकट हो उससे अधीर न होऊँगा। मैं उसके कारण क्षुब्ध न होऊंगा। मैं ज्ञातादृष्टा रहूँगा। यह कर्मलीला है। यह मेरा स्वरूप नहीं, मेरा स्वभाव नहीं। मैं तो एक उपयोग स्वरूप शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। यह भाव करने के लिए मैं मन्दिर आया हूँ और उपयोग की स्वच्छता का विकास, ऐसा ही परिणाम, ऐसी ही परिस्थिति अरहंत प्रभु की है। तो उस स्वरूप को निरखकर और अपने आपमें उसको भा-भा कर स्वभाव दृष्टि करके आत्महित करने के लिए मैं यहाँ आया हूँ ऐसा उसका भाव होता तो उसको पद-पद पर लड़ाई की बात नहीं आती। यह तो पूजा की बात है। और धर्मचर्चा करते-करते क्रोध आ जाता है तो उसने भी धर्म नहीं किया तब ही तो क्रोध आया। जो मैं कह रहा हूँ, वह तो सच है, इसने मेरी बात क्यों न मानी? इस प्रकार का कषाय में आग्रह करने से वह खेदखिन्न होता है। जहाँ चल तो रही मीठी-मीठी तत्त्व की बात, लेकिन उस तत्त्व के विकल्प में चूँकि आग्रह है, मिथ्यात्व लगा है, विकल्प का लगाव लगा है तो उसके खिलाफ कोई अगर बोलता है तो वह अनमना हो जाता है। क्यों अनमना हो जाता है। संसार के जीव बन्ध रहे हैं। ज्ञाता दृष्टा होने का जहाँ यह उपदेश है कि तुम्हारे स्वयं में, खुद में होने वाली जो कर्मलीला है और कर्मलीला की झांकी है उसके भी ज्ञाता दृष्टा रहो। उसमें भी लगाव मत रखो। लेकिन, मोह है ना सो उल्टे चल रहे हैं कि मेरा जो ख्याल है, मेरी जो बात है उसे क्यों नहीं मानते? उसके विरुद्ध क्यों यह कहते? ऐसा जो एक प्रकार का विषाद चित्त में होता है उससे क्रोध जग जाता है तो समझो कि वहाँ अभी धर्म का मर्म नहीं समझा गया। कोई धर्म करे और दुखी हो ऐसा हो नहीं सकता।

धर्म का फल आनन्द—धर्म करने वाला कभी दुःखी हो ही नहीं सकता, लेकिन जो धर्म नहीं है उसको करते हुए में यदि यह सन्तोष हो जाए कि मैं धर्म कर रहा हूँ तो समझो कि वह अभी धर्म में आया ही नहीं है और इसीलिए उसे दुःखी होना पड़ता है। किसी की संतान नहीं है, किसी के धन अधिक नहीं है, लेकिन वह धर्म दृष्टि रखता है, धर्म पाल रहा है तो उसे दुःख नहीं होता, बल्कि वह तो एक आराम मान रहा है कि मेरे पास अगर कुछ सँतान होती तो उनमें मैं फँसा रहता। मुझे अधिक मौका न मिलता और मैं अपने इस आत्मा के ध्यान में चर्चा में अधिक मग्न न हो पाता। इसलिए वह तो उसमें अपने को और अच्छा मान रहा है। दुःख कहाँ होता? जो धर्म पाल रहा है वह अगर निर्धन है तो भी दुःख नहीं मानता। वह तो सोचता है कि क्या बात है? खाने-पीने की जितनी सुविधा है वह तो है खाए जा लगाकर दो-तीन रुपए का काम कर लिया जाएगा। घर के दो—चार आदमियों के गुजारे के लिए काफी है। अगर धन को अधिक महत्त्व कोई देता तो फिर धन के कम होने पर वह दुःखी होता। जब धन को वह महत्त्व ही नहीं देता तो फिर धन के कम रहने से वह दुःख ही क्यों मानेगा? बल्कि वह तो यह समझता है कि अच्छा है कि सुगमतार्पूक जो आय हुई उसी में वह अपनी सारी व्यवस्था बनाकर चैन से रहता है। आत्मध्यान का मौका भी मिलता है। वह दुःख नहीं मानता। तो क्या जिसके पास धन है, जो धर्मपालन कर रहा, क्या वह दुःख मानता है? अरे वह भी दुःख नहीं मानता। उदयानुसार उसको आय होती है। कोई समस्या सामने आ गई। कोई धर्म का काम आ गया तो उसे देर नहीं लगती। हटाओ, छोड़ो, क्योंकि उसे आग्रह नहीं है। वाह्य वस्तु में तो वह दुःख कैसे मानेगा। दुःख तब होता है जब धन में आग्रह हो। धन को जिसने समझा कि यही मेरा प्राण है। जैसे १० प्रकार के प्राण माने गए है मगर ११ वाँ प्राण धन को भी मानते हैं ना मोही। तो जो लोग इस धन को अपना प्राण समझते हैं वे धन के कम होने पर दुःखी तो होंगे ही। और जो सही मार्ग में लगा है उसके लिए क्या है? धन कम हो तो क्या? अधिक हो तो क्या? वह तो जानता है कि यह मेरी चीज नहीं है, यह तो विनाशीक चीज है, मेरे से अत्यन्त भिन्न है, उसके न रहने पर मेरी क्या हानि है? उसकी उदारता रहती है। उदारता करने से कहीं धन कम नहीं हो जाता। वह तो उदयानुसार आता है। न जाने किस-किस उपाय से आता है। तो धनकम होने में भी दुःखी नहीं होता, सन्तानहीन होने पर भी दुःखी नहीं होता धर्मपालक महात्मा। बाहरी बातों से दुःख नहीं होता। दुःख तो होता है मोह से, विकार को अपनाने से, विकार का लगाव करने से दुःख होता है। बाह्य बातों से दुःख नहीं होता।

अपनी सम्भाल में आत्महित—देखो भैया! अपनी-अपनी सम्हाल कर लो तो सबकी सम्हाल हो जाएगी। और यदि दूसरे-दूसरे की सम्हाल में ही लगे रहे तो किसी की भी सम्हाल न हो पाएगी जैसे कभी देखा होगा कि रेलगाड़ी में १०—२० बुढ़ियों का जत्था बनकर मथुरा बृन्दावन की यात्रा को जाता है तो वैसे भी बुढ़िया अपने-अपने पास एक-एक पोटली रखती

हैं। जब वे रेलगाड़ी से उतरती हैं। तो सब की सब बुढ़िया अपनी-अपनी पोटली की सम्हाल रखती हैं। कहीं ऐसा नहीं होता कि वे दूसरे-दूसरे की पोटलियों की सम्हाल में रहें। यही कारण है कि वे बुढ़िया अच्छी तरह से यात्राकर आती हैं। उनके सामान की कोई गड़बड़ी नहीं होने पाती। और यदि उनमें उस जगह इतनी उदारता आ जाए कि अपनी पोटली की तो कुछ भी फिकर न करें, और दूसरों की पोटली की बड़ी फिकर करें तो इससे तो उनकी पोटलियों की सम्भाल न हो पायेगी। ठीक यही हाल होता है मिथ्यादृष्टि का। मिथ्यादृष्टि पुरुष अपने जत्थे में कितना थोता उदार नेता बन रहा है कि वह अपनी तो कुछ फिकर नहीं कर रहा, पर दूसरों की बड़ी फिकर रख रहा है। ये लड़के ऐसे बन जाएं, ये मित्र ऐसे हो जाएं, अगर ऐसी उदारता कहीं उन मथुरा वृन्दाबन जाने वाली बुढ़ियों में आ जाए तो न जाने उनका क्या-क्या खो जाए। मगर अपनी-अपनी सम्भाल रखने से उनकी गठरी नहीं खोती और वे ढंग से पहुँच जाती हैं इसी तरह धर्म के मामले में सब लोग अगर अपने-अपने स्वभाव की, अपने-अपने सामर्थ्य की, अपने-अपने स्वरूप की दृष्टि रखें तो समझो कि जितने हैं वे सब धर्मात्मा हैं। और दूसरे-दूसरे की दृष्टि रखें तो समझो कि कोई धर्मात्मा नहीं है। मानों १०० आदमी हैं। उनमें से अगर ९९ लोगों ने यह सोच लिया कि ये ९९ आदमी ज्ञान सीखें पूजा करें, धर्मात्मा बनें तो समझो कि उनमें एक ही पुरुष धर्मात्मा बना क्या? एक भी धर्मात्मा नहीं है। और उन १०० में से अगर २ लोग भी अपनी-अपनी बात सोचते हों तो नम्बर तो आया, २ तो है धर्मात्मा सम्भव है उन दो के सत्संग में अन्य भी कोई धर्मी बन जावे तो जो यह आदत बनी हुई है कि दूसरे-दूसरे ज्ञान सीखें, ये धर्म में लगें, ये भी लगें, ये ज्ञान में लगें, ये ऐसा करें, यह आदत छोड़कर स्वयं धर्म करने लगें, तो धीरे-धीरे वह भी धर्म में लग जाएगा और जो स्वयं धर्म न करेगा वह कभी धर्म में न लग पाएगा। इसलिए अपने आपकी सम्हाल कर लें दूसरों को धर्म में लगाने के लिए नहीं, किन्तु खुद संसार के संकटों से घिरे हुए हैं तो इन संकटों से मुक्तिपाने के लिए खुद अपने आपको धर्म में लगायें तो अपना कल्याण हो जाएगा।

आत्म प्रयोग बिना सत्यहित की असम्भवता—एक बार किसी राजा ने अपने मन्त्री से पूछा—मन्त्रिवर सच बताइए कि मेरी सारी प्रजा में सच्चे लोग कितने हैं? तो मन्त्री ने कहा,—महाराज देखने में तो आपकी प्रजा के सारे लोग सच्चे हैं मगर अन्तरङ्ग में बिरले हीं दो-चार लोग सच्चे होंगे। बाकी सब झूठे हैं।.... कैसे ? इसका मतलब समझाइएगा। तो मन्त्री ने सारी प्रजा में यह घोषणा कर दी कि आज रात को महाराज को ४०—५० मन दूध की जरूरत है, महाराज का यह आदेश है कि सारी प्रजा अपने-अपने घर से एक-एक लोटा दूध लाकर राज महल के अन्दर बने हुए हौज में छोड़ जाए। मंत्री द्वारा महाराज का आदेश सुनकर सारी प्रजा के लोग अपने-अपने घर में विचार करने लगे कि अब हमें इस अवसर पर क्या करना चाहिए तो प्रायः करके सभी ने अपने-अपने घरों में यही विचार किया

कि सभी लोग तो दूध ले ही जाएंगे एक हम दूध न ले गए, पानी ही ले गए तो उसमें क्या फर्क पड़ेगा। यह सोचकर सभी लोग अपने-अपने घर से पानी से भरा हुआ लोटा लेकर गए और उस हौज में डाल आए। कोई दो-चार लोग दूध भी डाल आए। अब जब सबेरा हुआ तो उस हौज में क्या पाया गया कि उसमें सारा का सारा पानी भरा हुआ था। दूध तो नाम मात्र का था मात्र दिखने में कुछ सफेद रंग का था। वह दृश्य देखकर राजा की समझ में आ गया कि मंत्री ठीक ही कहता था। तो ऐसा ही समझिए कि प्रायः करके ऐसे ही चिन्तन विचार वाले लोग अधिक पाए जाते हैं, कि जो धर्म के नाम पर बाहर-बाहर तो दृष्टि रखते हैं, ऐसा होना चाहिए, यों व्यवस्था करें, ऐसे ही यों करें। इसको यों करें, इस तरह प्रभावना होगी, इस तरह प्रताप होगा। मगर यहाँ जो विकार भावका लगाव बनाया है और उससे जो निरन्तर दुःखी रहा करता है इस दुःख को मेटने के लिए खुद भी खुद में कोई प्रयोग किया जा रहा है क्या? जो खुद में प्रयोग करे वह है धर्मात्मा, ज्ञानी। और जो बाहर-बाहर की व्यवस्था में ही धर्ममान करके सन्तुष्ट रहे उसने धर्म नहीं पाया। तो ऐसा धर्म ऐसा निर्मोह भाव आत्मा में आए तो आत्मा का कल्याण है।

वस्तुस्वातंत्र्य और निमित्त नैमित्तिकयोग के परिचय की मोहध्वंसक्षमता—कैसे मोह हटे, इसके लिए आपको निष्पक्ष सही निमित्त नैमित्तक योग और वस्तु स्वातंत्र्य की व्यवस्था समझनी होगी। अच्छा पहले तो उनके एकान्त का स्वरूप देखिए वस्तु स्वातंत्र्य का एकान्त करने का क्या रूपक है कि प्रत्येक पदार्थ सत् है, स्वयं परिणमनशील है। देखो बात सही है पर जैसे एक समुद्र भर पानी में विष की एक कणिका भी डाल दी जाए तो वह सारा जल विषैला बन जाता है तो ऐसे ही सही बात सही-सही होने पर भी अगर एक भी बात विषभरी हो जाए तो उसका हम लाभ नहीं ले सकते। खैर मान लो कलश भर पानी है, वह लाभ लेने की चीज है, मगर विष की एक कणिका भी मिल जाए तो उससे हम लाभ नहीं उठा पाते। हाँ तो इसमें बात सब सही है। वस्तु स्वतंत्र है, सत् है, स्वतः सिद्ध है, परिणमनशील है, अपना उत्पाद अपनी करण शक्ति से करता है, अपनी परिणमन शक्ति से करता है, परिणमन करते हुए त्रिकाल रहता है, बात पूर्ण सत्य है। अब असत्य का हिस्सा लें। उसमें जब विकार का पर्याय आने को होता है, तो विकार आता है। इस तरह विकार चलता हुआ चलता जाता है। यह भी सत्य है। मगर वह विकार जब आने को होता है, इसका जब हम विश्लेषण करने चलते हैं और वहाँ यह कहते हैं कि यह तो अपने आप हुआ। वहाँ सामने जो हाजिर हो उसे निमित्त कह देते हैं। यह भी ठीक है, किन्तु जब तक का विपरीत प्रयोग उल्टा सिद्धान्त बना देता है। लो फिर तो विष कणिका आ गई। कैसे आ गई और कैसे इसका लाभ हटा सो सुनो—यहाँ तो जब जो विकार आने को है सो आएगा ही। जब सामने जो हाजिर हो वह भी कहने की क्या जरूरत है? हाजिर हो तो न हो तो, वह तो विकार आएगा ही, स्वभाव है, हम कैसे निवृत्त करें। उसमें यदि इतना तथ्य जोड़ दिया जाए कि वस्तु स्वतंत्र सत् है,

अपने परिणमन से परिणमती है, परिणमन शक्ति है, अपनी करण शक्ति से उत्पाद करती हैं, ऐसा उत्पाद करता हुआ यह जीव, परिणमन करता हुआ यह जीव जब कर्म विपाक का सन्निधान पाता है तो यह अपनी स्वतंत्रता से, अपने ही विकार से, अपनी ही परिणति से विकार भाव करता हैं। देखो समझने में कोई दिक्कत न आएगी। दर्पण सामने है और मान लो हाथ सामने है तो दर्पण में छाया आयी है तो वह दर्पण की परिणति से आयी है। वह दर्पण के प्रदेश में आयी है, बात सही है, मगर यह कहना कि दर्पण में जब छाया आनी होती है तो उस समय जो सामने हो उसे निमित्त कहते हैं। यह केवल कहने की बात रही। निमित्त नैमित्तिक योग समझ में नहीं आया। हाँ निमित्त सन्निधान आया, उस समय यह दर्पण अपने आप की स्वतंत्रता से अपने आपकी परिणति से हाथ की परिणति ग्रहण न करके अपने आप में छाया रूप परिणम गया। स्वतन्त्रता कहाँ मिटी? निमित्त नैमित्तिक योग सही रहा।

वस्तु स्वातंत्र्य और निमित्त नैमित्तिक योग के परिचय का सदुपयोग—जब हम वस्तु स्वातंत्र्य देखते हैं तब तो हमें यह शिक्षा मिलती है कि वस्तु तो अकेला है, अपने आपमें अपना परिणमन करता है। एक वस्तु का दूसरी वस्तु से कुछ मतलब नहीं है। कुछ नहीं करता है। जो कुछ होता है वह इसके करने से इसमें अपने आपकी परिणति से होता है। निश्चय की दृष्टि का लाभ हम कैसे उठाते? इस एक को देखें, वहाँ निमित्त का ख्याल भी न करें। केवल एक द्रव्य को देखें और एक द्रव्य को ही निगाह में रखें, पर लक्ष्य हट जाएगा, निमित्त दृष्टि हट जाएगी। स्वभाव दृष्टि में हम झट आवेंगे। यह तो हुआ एक निश्चय दृष्टि से देखने का लाभ, जो कि मोह मिटा देगा। अब निमित्त नैमित्तिक योग से भी देखें, वहाँ भी मोह मिटाने की शिक्षा मिलेगी। कैसे? देखो यह बात यहाँ ऐसी घट रही है कि जीव अनादि से अशुद्ध है ना? और अनादि से कर्म सम्बन्ध भी चल रहा है ना? यह सब तो एक सन्तान रूप में चल रहा और जब यह खोटा भाव बना तो उससे ये नवीन कर्म बंधते हैं और बंधकर उनकी सत्ता हो जाती है तो उस बंधे हुए कर्म में प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग ये चार चीजें आती हैं, किन्तु उसकी सत्ता पूरी होती है तो उसके अनुभाग खिलता है। कर्म में ही अनुभाग की स्फुरणा होती है कर्म में कर्म का अनुभाग खुला क्रोध प्रकृति है। तो क्रोध प्रकृति में भी क्रोध दशा उत्पन्न हो गई। अचेतन क्रोध है। वह पर पदार्थ है। उसके क्रोध का अनुभव जीव भी नहीं कर सकता, अचेतन कर्म तो करेगा क्या? तो अचेतन प्रकृति में जो क्रोध परिणाम आया, जो क्रोध अनुभाग आया तो वहाँ वे अपने आपमें अपने ढंग से खिल गए। वे एक क्षेत्रावगाह थे। निमित्त नैमित्तिक योग कैसे बनता है। कि जैसे वह खिला वैसे ही उपयोग में भी उसकी झांकी थी झांकी आए बिना नहीं रह सकती। झांकी आयी। दर्पण में अन्धकार की झांकी आयी तो वह अपनी स्वच्छता से चिग गया, इसी तरह यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव से चिग गया और वह क्रोध, राग आदि विकारों को अपनाने लगा और वह क्रोधी बन गया है। अब इसकी परम्परा बन गई कि नवीन कर्म का बन्ध हुआ। उसका

जब उदय जाएगा तो वहाँ फिर ऐसी स्थिति होगी। हम आपको आज भी क्षयोपशमलब्धि तो प्राप्त है ही, इसमें सन्देह नहीं। इतना ज्ञानावरण का क्षयोपशम है कि हम तत्त्वज्ञान कर लें, विचार करलें, निर्णय करलें और विशुद्धिलब्धि भी बनायें तो हो सकती है। और नहीं तो क्षयोपशम प्राप्त होने पर भी विशुद्धि न लायें, लगे रहें रगड़ा में, तो यों भी समय खोया जाता है, फिर विशुद्धलब्धि का अवसर हम आप लोगों को प्राप्त है। वक्ताओं से सन्देह हो तो ये ग्रन्थ हैं। क्या इनसे बात नहीं सीखी जा सकती है? देषना लब्धि भी प्राप्त है। अब प्रायोग्यलब्धि की बात और करणलब्धि की हम कर नहीं पाते। इन तीन लब्धियों की विशेषता के प्रताप से ये भी प्राप्त होंगी, मगर जितनी लब्धियाँ हमें प्राप्त हुई उनका लाभ तो उठा ही लेना चाहिए।

पाँच पर्यायतत्त्वों की सिद्धि का आधारभूत जीव और अजीव—मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीव, अजीव, आश्रव, बंध संवर निर्जरा और मोक्ष, ये ७ तत्त्व हैं। प्रयोजनभूत याने काम के, जिसके समझे बिना काम न बने उसे प्रयोजनभूत कहते हैं। तो इन ७ का लक्षण समझने पर यह समझ आवेगी ही कि वास्तव में इन सात तत्त्वों का यथार्थ परिचय संसार में रुलने वाले प्राणियों को मोक्षमार्ग के लिए बड़े काम का है। पहला तत्त्व कहा गया है। जीव—जिसमें चेतना पायी जाए उसे जीव कहते हैं। जीव हम आप सब हैं। हम आप सब इस समय दुर्दशा में हैं, और चाहिए हमें कोई ऊँची दशा, इतनी तो बात सबके चित्त में रहती ही है। तो जीव तत्त्व तो एक प्रधान बात है, जिस पर सब कुछ निर्भर है। दूसरा तत्त्व बताया गया है अजीव। अजीव ५ जाति के होते हैं—पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। यहाँ मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व की बात चल रही है, तो ऐसा ज्ञेय प्रयोजनभूत तत्त्व है कर्म, क्योंकि हम आप जब चेतनामात्र हैं तब वजह क्या है कि नाना विकल्प सुख दुःख जन्म-मरण दुर्दशा ये चल रही हैं। किसी एक की ओर से कभी खराबी नहीं होती हर जगह देख लो। एक हो स्वयं, जैसा अपने आप हो, तो एक में, अकेले में कोई विकार नही होता। किसी भी वस्तु में कोई विकार होता है तो यद्यपि विकार तो हुआ उसी में उसकी परिणति से लेकिन किसी पर उपाधि के सन्निधान बिना तो हो नहीं सकता। तो कोई पर उपाधि लगी है जीव के साथ, उसका नाम है कर्म। तो कर्म के बारे में भी पहले कुछ समझने की जरूरत है। इसे ८वें अध्याय में बताया ही जाएगा, पर साधारणतया यहाँ यह समझलें कि कर्म एक बहुत सूक्ष्म जाति की वर्गणायें हैं, जिसकी जाति उपजाति कर्मवर्गणा हैं, ये कर्मवर्गणायें जीव का दुर्भाव शुभ, अशुभ भाव का सन्निधान पाकर, निमित्त पाकर, ये कर्मरूप परिणम जाते हैं। यह सब निमित्त नैमित्तिक योग है। जो बात प्रकृत चली रही है उसमें क्या और क्यों का कोई प्रश्न नहीं उठना। स्वभाव तर्क के विषयभूत नहीं है। कोई स्थूल पदार्थ जीव के साथ चिपके तो वह नहीं हो सकता है विकार का कारण। स्थूल का, मोटे का प्रभाव निमित्त न हो सकेगा कि यह जीव विकार कर सके। जीव के साथ जीव चूँकि अति सूक्ष्म है, तो इसके

साथ कोई उपाधि हो तो वह भी सूक्ष्म होगा कोई न कोई। जीव तो अमूर्त सूक्ष्म है, पर अमूर्त सूक्ष्म जीव केसाथ लगे, सजातीय साथ में लगे तो उससे विकार नहीं हो सकता। जल-जल इकट्ठा हो जाए तो उससे कहीं गर्मी नहीं आती, जल के विपरीत कोई चीज साथ में हो, अग्नि हो तब विकार आता है। इससे जीव के साथ जीव के विरुद्ध चेतना रहित कोई पदार्थ हो और हो वह सूक्ष्म, ऐसा जो कुछ है वह कार्माणवर्गणा है। तो यह कार्माणवर्गणा जीव के साथ लगी है उसे कहा यहाँ अजीव।

जीवगणना—थोड़ा कुछ विशेष एक प्रतिभास या पात्रता होने के लिए इस जीव अजीव की सँख्या पर ध्यान दीजिए। जगत में जीव कितने हैं? अनन्तानन्त हैं। देखे ही हैं। कहीं कीड़ा-कीड़ी निकल आते हैं तो कितने निकल आते हैं। यह तो एक मोटी सी बात है। और देखो कहीं पानी बरस गया तो हरी घास कितनी अपने आप हो जाती है। यह जीव ही तो है, कितनी तरह के वनस्पति हैं, जीव ही तो हैं, पृथ्वी, जल, अग्नि वायु ये भी जीव ही तो हैं। और एक होती है ऐसी वनस्पति जो हरी नहीं है, छूने, खाने में नहीं आ सकती, उसे कहते हैं साधारण वनस्पति। वे अनन्तानन्त हैं। जैसे एक किसी दृष्टान्त में देखो—एक आलू में असँख्याते निगोद शरीर के पिण्ड रूप कोई जिसे पुलवी कहते हैं ऐसा बड़ा शरीर है, उसके भीतर असँख्याते और शरीरी हैं, उनमें से एक शरीर के आधार में अनन्त निगोद जीव हैं। अब समझलो कि एक आलू में कितने निगोद जीव हैं। ऐसे अनन्त स्थावर होने के कारण आलू को अभक्ष्य बताया है, ऐसे और भी वर्णन हैं पर अभक्ष्य की बात अगर देखो तो आलू से अधिक अभक्ष्य गोभी का फूल है। जलेबी, सड़ी बुसी बाजार की दही, पुरानी रोटियाँ, ऐसी अनेक चीजें हैं जिनमें आलू से भी अधिक दोष है, पर प्रसिद्धि आलू की अधिक है, उसकी आफत लोगों ने ज्यादा कर रखी है और उससे अधिक अभक्ष्य जो गोभी के फूल हैं, पुराना अचार है, बाजार की पुरानी दही है, बाजार की सड़ी जलेबियाँ हैं ये तो आलू से भी अधिक अभक्ष्य हैं, क्योंकि इनमें त्रस जीव का घात होता है, तो उसका दोष अनन्त स्थावर घात के दोष से अधिक है, पर उसका प्रचार नहीं है। तो यहाँ बतला रहे हैं कि लोक में जीव कितने हैं? अनन्त तो एक आलू में ही मिल गए। आलू के टुकड़े-टुकड़े हो जाएं तो एक-एक टुकड़े में भी अनन्त जीव हैं। तो ऐसे कितने जीव हैं? अनन्तानन्त जीव हैं। उनको कुछ स्थूल रूप से समझना हो सब जीवों में मनुष्य गति के जीव सबसे थोड़े हैं। चारो गतियों में मनुष्य गति के जीव सबसे थोड़े हैं, फिर भी वे अनगिनते हैं, सँख्या से परे हैं। जिनमें पर्याप्त मनुष्य तो २७ या २९ अंक प्रमाण हैं, लब्ध्यपर्याप्त असँख्याते हैं। उससे असँख्याते जीव नरक गति में हैं। उससे भी असँख्याते जीव देवगति में हैं और उससे भी असँख्याते जीव त्रस जीव हैं उससे भी अधिक असँख्याते जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हैं, उनसे भी अधिक जीव अनन्तगुने निगोद जीव हैं। हाँ उन सबसे निगोद से पहले जितने कहे गए हैं उन सबसे अनन्तगुने जीव सिद्ध जीव हैं और सिद्ध जीवों से अनन्तगुने निगोद जीव हैं।

पुद्गल परमाणुगणना—अब यहाँ देखो पुद्गल कितने हैं। एक जीव के सहारे कितने पुद्गल हैं? पहले तो यह बात सोचना। एक जीव के आश्रय से कितने हैं? तो एक-एक शरीर में ही देख लो। जो शरीर बना हुआ है। इसमें अनन्त परमाणु हैं, फिर इनसे अनन्तगुने परमाणु हैं ऐसे शरीर परमाणु जो अभी शरीर तो नहीं बन पाए, पर शरीर बनने के उम्मीदवार रहते हैं, उन्हें कहते हैं विस्रसोपचय। जो शरीर बन गया उस से भी अधिक परमाणु हैं उस शरीर के कि जो अभी शरीर तो नहीं बना किन्तु शरीर बन सकेगा, शरीर योग्य परमाणु और इससे भी अनन्तगुने हैं तैजसके परमाणु। तैजस शरीर जिसके होने से शरीर में तेज रहता है। और उनसे अनन्तगुणे हैं कर्मवर्गणायें, कर्मपरमाणु तैजस परमाणु से अनन्तगुणे हैं उनसे अनन्तगुणी है ऐसी कार्मणवर्गणायें जो अभी कर्मरूप तो नहीं हुए, किन्तु कर्म बँधने के उम्मीदवार हैं। अब सोच लो कि एक जीव के सहारे कितने परमाणु हो गए। यह एक साधारण बात कही, किन्तु जो दो इन्द्रिय आदि जीव हैं उसके साथ भाषा वर्गणा के परमाणु और बढ़ गए। जो संज्ञी जीव है उसके साथ मनोवर्गणाके परमाणु और बढ़ गए, जिससे कि मन बनता है। ये तो एक जीव के सहारे वाले परमाणु हैं। और जीवने जिन्हें छोड़ दिया हैं ऐसे परमाणु बहुत पड़े हैं। और ऐसे भी परमाणु हैं जिन्हें जीव ग्रहण न कर सका, न कर सकेगा। तब समझ लीजिए कि अजीव पुद्गल परमाणुओं की सँख्या कितनी है भैया। कर्म की बात प्रकृत है यहाँ। तो ये कर्म हैं। बहुत से लोग तो व्यवहार में तकदीर, भाग्य, किस्मत यों अनेक शब्दों में बोलते हैं, पर किन्हीं से भी पूछो कि तकदीर क्या चीज होती है। तकदीर में क्या बात बनती है? तो वे बतावेंगे ही नहीं। कहते हैं भाग्य है। कोई अधिक से अधिक बढ़ गया तो यह कहेगा कि तकदीर एक भाग्य की रेखा है। उसका कोई प्रमाण भी दे देंगे कि देखो कहीं मर घट में किसी मरे हुए व्यक्ति की खोपड़ी पड़ी हो तो उसमें कोई चीज हो? रेखाएं तो दिख ही जाती हैं, यो उन्हें कह देते हैं कि ये देखो जो रेखायें दिख रही हैं ये तकदीर हैं उनको विधाता ने लिख दिया है। यों अनेक प्रकार से लोग बोलते हैं, पर तकदीर क्या है? कर्म क्या है? उसके रग-रग की बात, निर्जरा की बात, कहाँ कितने परमाणु हैं, कैसे बँधते हैं, यह सब व्यवस्था जैन शासन में आपको देखने को मिल सकेगी। कर्म का बन्ध, कर्म का इतना परिचय अन्यत्र कहीं न मिल पाएगा। और, कर्म सब लोग बोलते हैं। तो ऐसी ये कार्माणवर्गणायें जो कर्मरूप हो गई हैं उनका यह प्रकरण है।

आस्रव की व्याख्या—आस्रव क्या है? आस्रव कहते हैं आने को। जीव में अजीव का आना सो आस्रव है। इस तत्त्व का विशेष विवरण आगे कहेंगे। अभी तो संक्षेप में थोड़ा स्वरूप कह रहे हैं, इसलिए कि यह कहने का, बताने का मौका मिले कि तत्त्व ७ ही क्यों कहे गये और इनको इस ही क्रम से क्यों रखा? इतनी बात थोड़ा कहने के लिए थोड़ा स्वरूप अभी कह रहे। विशेष आगे कहेंगे-- आस्रव का अर्थ है जीव में अजीव का आना। अच्छा आस्रव शब्द ऐसे आने को बताता है कि लोगों को पता न पड़े और आ जाय। वैसे तो

आने को आगमन भी कह देते हैं, और भी धातु लगाते हैं पर आस्रव का क्या अर्थ है? **आसमन्तात्स्रवणंइतिआस्रवः** यानी जो चारों और से चू कर आये। जैसे कि पहाड़ों से पानी झरता है तो कहीं-कहीं तो यह भी पता नहीं पड़ता कि किधर से आ रहा है। वह तो चारों ओर से एक पसीने के रूप में चू-चू कर आता रहता है। उसमें सही पता नहीं पड़ता कि यह कहाँ से आया है, किस विधि से आया है, बस चू गया, स्रवण हो गया, तो इसी प्रकार इस आत्मा में जीव में सर्वप्रदेशों में चारों ओर से कर्मों का स्रवण होता है। चू आता है जिसको कहते हैं स्रवण। इस तरह कर्म आते हैं। एक आना ऐसा होता है कि बाहर है कोई और वहाँ से यहाँ आ गया, चलकर आ गया, कर्म का ऐसा आना नहीं होता है, किन्तु अभी जो बताया गया कि जितने जीव के साथ कर्म लगे हैं उसमें अनन्त गुने ऐसी कर्मवर्गणायें हैं कि जो अभी कर्म तो नहीं बनीं, पर कर्म बनने की उम्मीदवार हैं। विस्रसोपचय वह भी जीव के साथ ऐसा बंधन को प्राप्त है कि मरने के बाद जीव जायेगा परभव में तो जीव के साथ कर्म न. जाते ही हैं पर वह विस्रसोपचय भी जीव के साथ जाता है, जो कर्म बनने के उम्मीदवार हैं, ऐसा जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह हुआ। तो मामला तो तैयार है। कोई कर्म बाहर से नहीं आने हैं। उनमें भी तो विस्रसोपचय में मिलकर आस्रव को प्राप्त होती है। यहाँ जीव के शुभ अशुभ भाव हो तो उसका निमित्त पाकर वे कार्माणवर्गणायें जो उम्मीदवार हैं वे कर्मरूप परिणम जाती हैं, ऐसा स्रवण (चूना) हो गया उसे कहते हैं आस्रव। कैसे आस्रव होता है यह बात भी आगे कहेंगे।

बन्धव्याख्या और संवर निर्जरा मोक्ष का निर्देश—इस सूत्र में तत्त्वों का बहुत वक्तव्य है वह कई दिवसों तक चल सकेगा। अब यहाँ बताते हैं कि ७ ही तत्त्व क्यों हैं? इनको इस क्रम से क्यों रखा है? इसके लिए थोड़ा सा उनका स्वरूप कह रहे हैं। बंध क्या है? जीव में अजीव का बंध जाना उसको कहते हैं बन्ध। आना और बंधना इसमें अन्तर है। आना तो स्थिरता को सूचित नहीं करता। आने का अर्थ है आया। दौडकर भी यहाँ से निकल जाए उसे भी तो आना ही कहेंगे और ठहरना कहो या बंधना कहो वहाँ बंधने में कुछ समय लगता। कहने में समय नहीं लगता। बंधने में समय नहीं लगता। तो जो एक ही समय की बात हो तो उसे आता है कहिए और कम से कम दो समय की बात हो तो ठहरता है कहिए जैसे एक रेखा खींच दी तो रेखा खींचने में एक यूनिट समय लगता है। उसको जितना काल समझलो और उस रेखा को मोड़ा जाए तो उसे दो यूनिट लग जाएंगे। ठहरना अवश्य पड़ेगा। ठहरे बिना मुड़ना नहीं हो सकता। कोई कहे कि अगर गोल-गोल खींच दें तो? तो कैसा ही खींच दो मगर वह रेखा कहलायेगी मोड़ न कहलायेगी। जहाँ मोड़ आएगा वहाँ समय अवश्य अधिक लगेगा। तो रेखा की तरह तो हो गया आना और मोड़ की तरह हो गया बंधना, एक बात। दूसरी बात यह समझिये कि आना पहले समय में हुआ और बँधना वह भी पहले समय में हुआ। अगर दूसरे समय तक रहे तो बंधना कहलाता है। जैसे

कोई आकर ठहर जाए तो यह भी कहा जाएगा कि एक समय में तो आया और इसके बाद ठहरा, आया, तब ठहरना कहलायेगा। अगर वह दूसरे समय ठहरता है तो। तो इसी प्रकार बंध और आस्रव होते, ये दोनों एक साथ हैं, मगर बंध संज्ञा कब पड़ती है जबकि वह दूसरे समय ठहरे। यह एक दृष्टांत में कह रहे हैं। कोई कर्म ऐसा नहीं है जो दो समय को आए, तीन को आए, वह तो असँख्यात समय को और अनन्त समय को आता है, पर बंध की बात बताई है कि दो समय कम से कम ठहरे तो उसे बंध कहते हैं। कर्म आया, कर्म बंधा, संवर क्या है कि अब नये कर्म न आए, रुक गए, और निर्जरा क्याकि जो पहले से बंधे हुए कर्म हैं। उनका झड़ना, निकलना सो निर्जरा है, और जब सारे कर्म निकल जाते हैं, झड़ जाते हैं, एक भी अणु नहीं रहते हैं तो उसका नाम है मोक्ष, यों ये ७ तत्त्व हैं।

प्रयोजनभूत तत्त्व सँख्या का निर्णय—अब इन ७ तत्त्वों के बारे में कुछ विचार कीजिए कि ७ ही तत्त्व क्यों कहे गए? कम और ज्यादा भी तो हो सकते हैं। तो इसके विषय में कोई यदि यह उत्तर दे कि भाई देखो अगर बहुत कम कहते, जिसे कहते हैं संक्षेप (Short) कर दिया जाए तो एक भी कह लो। मैं जीव हूँ। प्रयोजन उसी से है। उसी को देखने की बात है, वह ही तत्त्व है। तो क्या इतने से कुछ बातें समझी जा सकेंगी? धर्मस्वरूप को नासमझ को कुछ समझ बन जाएगी। इस कारण संक्षेप से तो काम नहीं चल सकता। और विस्तार अगर कर देवें तो १०, २०, ५० लाख करोड़ और अरब भी तो तत्त्व बताये जा सकते, कि जिनको गिनने बैठें तो समय लगता ही चला जाए। तो क्या विस्तार से वस्तु को बताने में भी काम चल सकेगा? न चल सकेगा। इसलिए तो न संक्षेप में हो न विस्तार में हो, एक मध्यम सँख्या ले ली; कोई ऐसा कह दे तो यह भी जवाब अभी पूरा सही नहीं बैठा, क्योंकि मध्यम में ७ ही क्यों लिया? ६ लें, ५ लें, वे ऐसे बनाये जा सकते हैं। जैसे मान लो जीव, अजीव और बन्ध और मोक्ष। और बढ़ाओ—जीव, अजीव, बन्ध, संवर, मोक्ष। बात आ जाएगी किसी न किसी ढंग से पूरी। जीव अजीव, बंध-बंध हेतु, मोक्ष, मोक्ष हेतु। यह बोल लो। कितनी प्रकार से बोला जा सकता है ? ७ ही क्यों रखे गए ? तो इसके विवरण में सब समाधान हो जाएगा कि मोक्षमार्ग में जो जीव चलना चाहता है उसको ये ७ प्रकार के तत्त्वों की श्रद्धा करनी आवश्यक होती है।

अन्य प्रकाराभिमत तत्त्वसँख्यासे मोक्षमार्ग प्रयोजनता की असिद्धिः—प्रयोजनभूत तत्त्व सँख्या के बारे में और भी चर्चा चलेगी अभी, पर इससे पहले एक बात और सुन लीजिए, जिसे अन्य दार्शनिक कह सकते हैं। यह तो अभी जैन सिद्धान्त की ही बात है, पर अन्य दार्शनिक यह कहते हैं कि भाई तत्त्व ७ नहीं हैं। कोई तत्त्व २५ मानते हैं, कोई तत्त्व ७ मानता है कोई तत्त्व दो ही मानता है इस तरह अनेक प्रकार की सँख्या में तत्त्व मानने वाले अनेक दार्शनिक हैं। जैसे उदाहरण में लो—एक साँख्य है वे २५ तत्त्व मानते हैं और वे

इस २५ सँख्या को प्रदान करते हैं और इसी पर उनका नाम साँख्य पड़ा है। जो सँख्या से लगे रहें उन्हें कहते हैं साँख्य। तो २५ तत्त्व किस प्रकार हैं? एक तो पुरुष, जिसे आत्मा कहो, ब्रह्म कहो, जीव कहो, चेतना कहो, चेतन कहो, एक तो हुआ पुरुष और इसके बाद प्रकृति जिससे कि महान, अहंकार और फिर ५ शरीर की इन्द्रियाँ और ५ कर्म की इन्द्रियाँ, ५ ज्ञानेन्द्रियाँ होती हैं। ५ ज्ञानेन्द्रियों तो जानते ही हैं—स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण और ५ कर्म की इन्द्रियों को, मन, वचन, काय, तब दो और। तो जहाँ से शौच करते वह भी एक कर्मेन्द्रिय मान लीजिए, वहाँ भी तो कुछ फड़कन होती है, क्रिया होती है और एक जननेन्द्रिय। इस तरह से ५ कर्म की इन्द्रियाँ हैं, एक मन और ५ तन्मात्र। शब्द, स्पर्श, रूप रस, गंध याने जो इन्द्रिय द्वारा जाना जाए और फिर है आकाश और पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, ये चार महाभूत इस तरह २५ तत्त्व मानते हैं। देखो—तत्त्व तो कहते हैं प्रयोजनभूत को। पदार्थ की दृष्टि से भी देखें तो पदार्थ की जाति उतनी छांटनी चाहिए कि जितनी कम से कम जाति में सारे पदार्थ आ जाएं, कोई पदार्थ छूटे नहीं और कोई अव्युक्ति न बन जाए, दुबारा न बन जाए। पदार्थों की जाति तो वहाँ लायी जा सकेगी। जैन सिद्धान्त में पदार्थों की जातियाँ ६ बताई गई हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म आकाश और काल। जीव का गुण, जीव का कार्य शेष ५ नहीं कर सकते, पुद्गल का कार्य शेष ५ नहीं कर सकते। धर्म जैसा कार्य, धर्म जैसा स्वरूप शेष ५ में नहीं है। तब ही तो ६ जातियां हैं। और कोई छूटा नहीं है। किन्तु यहाँ आप विचार करेंगे तो कुछ छूटे मिल जाएंगे। काल द्रव्य का यहाँ वर्णन ही नहीं है। धर्म अधर्म द्रव्य जिसे आज वैज्ञानिक लोग भी कुछ उसका अंदाज करने लगे हैं कि कोई एक ऐसी जाति की तरंग है जो शब्द, वायु, किरण आदि के चलने में सहायक होती है। न हो उस तरह का कोई धर्म तो ये चल नहीं सकते। तो ऐसे धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य ये तो उसमें आ न सके और कई दुबारा बोले गए। पृथ्वी जल, ये पिण्डरूप हैं ना रूप रस, गंध, स्पर्शमय हैं ना। इनको दुबारा कहने का क्या प्रयोजन? स्पर्श, रूप, रस, गंध, इनको अलग से कहने का क्या प्रयोजन? जब पृथ्वी, जल, आदि कहा तो इनमें कुछ तो अधिक हो गए और कुछ छूट गए। इस तरह से द्रव्य जाति में बात नहीं आती। और प्रयोजन-भूत की दृष्टि से देखें तो देखो भाई दुनिया में पदार्थ बहुत हैं। प्रयोजन तो अपने आपको समझने के लिए और पर जानने का है तथा परसे हटकर स्वको शुद्ध रखने का है। इसकी सिद्धि इन सात तत्त्वों से हो जाती है। जीव तो स्वयं है इसके साथ अजीव बँधा है अभी, यह भी निश्चित हो गया। जीव में अजीव आया, आस्रव। जीव में अजीव ठहरा, बंध। जीव में अजीव न आ सके, संवर। पहले आये हुए अजीव जीव से हटने लगें, निर्जरा। और, जीव से अजीव, पूर्णतया हट जाएं सो मोक्ष है।

शान्तिधाम में पहुँचने के लिए प्रयोजनभूत तत्त्वों की सँख्या का समर्थन—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संबर, निर्जरा, मोक्ष ये ७ तत्त्व है, जिनका भली भाँति से निश्चय किया जाए तो मोह दूर होगा और सम्यक्त्व का लाभ होगा। इसी के विषय में कुछ दार्शनिक चर्चा

चल रही है कि ये तत्त्व ७ ही क्यों कहे गए। पहली बात तो यह देखिए कि अन्य दार्शनिकों ने नाना सँख्याओं में तत्त्व माना है, जैसे कि सांख्य मानते हैं २५ तत्त्व मीमासंक मानते हैं, ७ तत्त्व अथवा ६ तत्त्व। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव। उन मीमासंकों में जो प्रभाकर है वे मानते हैं, द्रव्य, गुण कर्म, सामान्य, विशेष, परतंत्रता, शक्ति और नियोग यों ८ तत्त्व तथा जो और नवीन प्रभाकर हैं वे नियोग के स्थान पर सँख्या को तत्त्व मानते हैं। परतंत्रता की जगह समवाय को मानते हैं। यों नाना प्रकार के तत्त्व विवादी हैं। उनका समाधान हो इसलिए ७ तत्त्व कहे। बात ठीक है लेकिन ७ ही तत्त्व क्यों कहे गए। कम बेसी क्यों नहीं कहे गए? एक बात यह सामने आती है। तो बात यह है कि इन ७ बातों के जाने बिना श्रद्धान का मार्ग नहीं मिलता। मैं जीव हूँ, मैं दुःखी हूँ। मुझे दुःख दूर करना है, इतनी बात तो पहले आनी चाहिए ना। हाँ मैं जीव हूँ, तो क्या मेरे स्वभाव से दुःख लगा है? अगर स्वभाव से दुःख लगा है तो उस दुःख में राजी रहे। फिर तो वह दुःख कभी छूट ही नहीं सकता। तो यह दुःख स्वभाव से नहीं होता विभाव परिणति से होता है। दूसरे की परिणति से भी नहीं हुआ अन्यथा दूसरे की परिणति हुई तो दुःख तो वह दूसरा ही भोगेगा। मैं क्यों भोगूंगा? तो परिणति मेरे आत्मा की मेरी ही है। लेकिन किसी पर उपाधि का निमित्त पाकर यह मुझ में दुःख आया है और, क्यों आया है, कि किसी उपाधि के कारण उपाधि आयी है, उपाधि बंध गई है, यह तो मेरी दुर्दशा है। और, यह दुर्दशा मिटे कैसे कि पहले उपाधि का आना दूर हो और पहले बंधे हुए भी कर्म खिर जाएं तो ये सब दुःख दूर हों। दुःख दूर होने का नाम है मोक्ष। कैसे सही सीधी व्यवस्था है। इससे कम कहने में स्पष्टता नहीं आ सकती। इससे अधिक तत्त्व बढ़ाने में व्यवस्था नहीं बन सकती। फिर तो कोई कहे कि ७ की जगह ९ कर लें, १०० कर लें, हजार कर लें, लाख कर लें, यों कितने ही विकल्प बनाये जा सकते हैं। तो आचार्यदेव जो कुछ बताते हैं, जो उनके द्वारा रचना हुई है वह बड़ी दृढ़ हुई है, बिल्कुल सही हुई है, न कम वचन निकलते हैं न अधिक। तो ऐसे ही मध्यम उत्पत्ति में इन ७ तत्त्वों का वर्णन किया है।

मुक्ति संभवता की श्रद्धा की परमावश्यकता—देखिए सबसे पहले दुःख से छुटकारा पाने वाले पुरुष को मोक्ष का तो श्रद्धान करना ही चाहिए कि हाँ मेरा मोक्ष हो सकता है। जिसको यह ही श्रद्धा नहीं कि मेरा मोक्ष हो सकता है वह फिर उपाय में लगेगा कैसे? जो बात असम्भव समझी जाए यह तो कभी हो ही नहीं सकती, तो कैसे उसमें पार पाया जा सकता है? एक छोटी सी घटना है कि मानो पहले जब महाभारत युद्ध हो रहा था तो उस समय धीर वीर पुरुष बड़े उत्साह से, बड़ी वीरता से घर से निकलकर युद्ध में शामिल हो जाते थे, उस समय एक घर ऐसा था कि जिसका पुरुष घर वाली से (स्त्री से) बड़ी वीरता की बातें हाँकता रहता था, और पुरुषों में यह आदत होती है, दूसरी जगह कहाँ शूरवीरता की बातें हांके? और जगह तो वे बातें फैल जाएंगी, पर स्त्री के सामने वे बातें बड़ी मुश्किल में

फैल पाती हैं। तो वीरता की बातें वह पुरुष हाँकता था। एक बार उसकी स्त्री ने कहा कि देखो इस समय सब लोग देशहित के लिए युद्ध में शामिल हो रहे हैं, तुम वीर पुरुष हो, तुम भी ऐसा करो कि युद्ध में जाओ और अपना फर्ज अदा करो। तो वह पुरुष बोला कि युद्ध में हम जाएंगे और वहाँ अगर मारे गये तो? तो स्त्री ने क्या किया कि दरेती में उड़द, मूँग या चने दल दिए। उसमें कुछ दानों की दो दालें बन गईं, कुछ तो यों ही समूचे दाने निकल आए और कुछ चूरा बन गए। अब वह स्त्री कहने लगी देखो जैसे इस दाल के दल जाने पर सभी दाल तो चूरा नहीं बनी, कुछ दाने भी तो निकल आए, इसी तरह युद्ध में सभी लोग तो नहीं मर जाते, कुछ रक्षित भी तो रहते हैं, बल्कि युद्ध में बचकर आने वालों की सँख्या बहुत रहती है, तो वह पुरुष बोला—अरे हम इन बचे हुए दानों में से नहीं हैं, हम तो चूरा वाले नम्बर में हैं। ऐसी श्रद्धा जो रखेगा वह क्या फतेह पाएगा? जो माने कि मुक्ति तो मुनि महाराज की ही होती है, मुक्ति तो इन पंडितों की ही होगी, ज्ञानियों की ही होगी, हम जैसों को मुक्ति कहाँ धरी? हम कहाँ मुनि व्रत पाल सकेंगे, कहाँ चरित्र बनेगा। हमारे लिए ये ग्रन्थ नहीं है, ये दूसरे के लिए हैं। जो पहले से ही अपना कंधा डाल दे उसको मुक्ति का मार्ग कहाँ से हो? अब जरा अन्तर्दृष्टि देकर विचार करें तो ऐसा लगेगा कि मुक्ति सामने है। जैसे कोई गाँव जाने वाला पुरुष यह जानता है कि यह गाँव तो नाक के आगे रखा है, कहाँ बाहर है। तो जिसने अर्न्तदृष्टि की है उसे विदित होती है कि मुक्ति तो यह है। तो भावका ही तो नाम मोक्ष है।

विकार के दुःख हेतु तत्त्व का निर्णय होने पर कष्ट का विध्वंस—ज्ञानी ने यह निर्णय कर लिया कि मेरे ऊपर जो कुछ विकार बीत रहा है, जिन विकारों से हम परेशान होते हैं वे विकार इनसे मेरे को लेन-देन क्या? यहाँ तो यह घटना बन रही है कि पहले बाँधे हुए कर्म अपने अनुभाग में खिले हैं और यहाँ झलकते हैं और फिर उनकी यह घटना बन रही है कि नवीन बंधे और बांधे हुए कर्म अपने अनुभाग में खिले हैं और यहाँ झलकें, फिर उनकी बुद्धि से कुछ व्यवसाय किया, फिर उनका उपयोग किया और अपना लिया तो इसने यहाँ यह गलती की है मगर जो झलका है, झलक में जो आया है, इस पर जो बीत रही है वह तो कर्म का नाच है, कर्म की लीला है। मैं तो उससे निराला एक उपयोग स्वरूप शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ। यह तो कर्मलीला है, यह बाहरी बातें हैं, ये बेकार की बातें हैं। ये भ्रम में रहने वाली, भटकाने वाली जन्म-मरण की परम्परा में रहने वाली बातें हैं। तो इस कर्मलीला को क्यों अपनाऊँ? जिन्हें गैर मानते, जिन्हें दुःख का कारण मानते उनसे कोई प्रीति करता है क्या? यह झलक, यह लगाव, यह उपयोग का जुड़ना जब मेरे दुःख के लिए है तो मेरे को नहीं करना जुड़ान। कर्म विपाक आया, नैमित्तिक भाव होकर रहेगा। अब करना क्या है। कर्मविपाक झलका, अब इसको ज्ञेय बनाकर ही हम रह सकें, जानने के लिए ही रह सकें, कि है, यह कर्मविपाक है यह मुझ में झलका है। यह बरबादी का कारण है, अशुचि है, अपवित्र

है, दुःख का हेतु हैं। इससे मेरा लेन-देन क्या? मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरा व्याप्यक व्यापक भाव बनता रहता है तो इस झलक और जुड़ान के साथ बन रहा। उस अचेतन कर्म के साथ मेरा व्याप्यव्यापक भाव भी नहीं है तो उसमें मेरा कर्त्ता कर्म भाव भी नहीं है। मैं अपने में राजा हूँ, वह अपने में राजा हैं, पर निमित्त नैमित्तिक योग है, हो रहा है यह। हम जो आगे बढ़ते हैं सो दुःखी हो जाते हैं। दुःख का हेतु जब समझ लिया, यह है दुःख का कारण, बाहर कुछ दुःख का कारण नहीं, फिर तो कष्ट होना नहीं।

भ्रम करने की बेवकूफी में पद पदपर आपत्तियां—भैया! आनन्दस्वरूप होकर भी जीव परेशान होते हैं केवल इस भ्रम से कि बाहर से मेरा कोई सम्बन्ध हैं। इस दुकान से, इस फर्म से, इस पार्टी से, इस गोष्ठी से, इस कुटुम्ब से मेरा कोई सम्बन्ध है, ऐसी बात भ्रम में रखते तो पद-पद पर दुःखी होना पड़ता है। कोई पुरुष स्त्री थे, तो पुरुष का नाम था बेवकूफ और उसकी स्त्री का नाम था फजीहत। सो उन दोनों में जब चाहे दिन में लड़ाई हो जाती थी और शाम को फिर उनमें सुलह हो जाती थी। एक दिन उनमें जरा ज्यादा लड़ाई हो गई तो फजीहत घर छोड़कर कहीं भाग गई। अब वह बेवकूफ अपने पड़ोसियों से पूछता फिरता भैया तुमने कहीं मेरी फजीहत देखी? तो वे तो झट समझ गए और तुरन्त साफ उत्तर दे दिया कि हमने तो नहीं देखा। अब उस पुरुष ने एकबार किसी ऐसे आदमी से भी पूछा जो कि अन्य गाँव का था क्या तुमने मेरी फजीहत देखी? सो वह तो कुछ अर्थ ही न समझ सका। वह पूछ बैठा—भाई आपका नाम क्या है? तो उस पुरुष ने बताया कि मेरा नाम है बेवकूफ। . . . . अरे तुम बेवकूफ होकर फजीहत को कहाँ बाहर ढूंढते फिरते हो? बेवकूफ के लिए तो हर जगह फजीहत हाजिर है। बस यही दशा संसारी जीवों की हो रही है कि बेवकूफ बन रही हैं। कैसे बेवकूफ कि ये बाहरी वैभव अत्यन्त भिन्न हैं। अत्यन्त भिन्न क्षेत्र में हैं, उनको मानते कि ये मेरे हैं। देह जो दिख रहा है यह भी बाहर की बात है, स्थूल है। अचेतन है, पौद्गलिक है, भिन्न है। उसे मान रहे कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, और, तो जाने दो, जो कर्मोदय होता हैं, जो कर्म की दशाएं होती हैं वे भी बाहर की चीजें हैं, पौद्गलिक हैं। उसके विपाक की झलक हुई कि तुरन्त कर्म विपाक को मान लिया कि यह मैं हूँ, यह मेरा है, यह ही सब कुछ मेरा प्राण है, तो जो इतनी बेवकूफी कर रहा हो उसे तो पद-पद पर क्लेश है। लोग सोचते हैं कि मेरे को बड़ा क्लेश हो रहा। यह क्लेश कैसे दूर हो? तो क्लेश दूर होने की क्या यह विधि है कि बाह्य पदार्थ में हम निग्रह और अनुग्रह करें? उसमें कुछ सुधार बिगाड़ करें, क्या यह उसकी रीति है? अरे यह तो बेवकूफी की बात है। भ्रम से दुःख हुआ और भ्रम को दूर कर दें तो सारे कष्ट दूर हो जाएंगे। तो यह ही तो समझने की बात है, धर्म के लिए इस जीवन में प्रारम्भ से लेकर अब तक बहुत-बहुत श्रम भी करे, काम भी करे, लगे भी रहते हैं, सब कुछ करते हैं फिर भी शान्ति नहीं मिली, तो भाई कुछ तो सोचो कि हमने वास्तव में विधिपूर्वक ढंग से धर्म नहीं किया तभी तो शान्ति नहीं मिली?

सविधि धर्म होने पर अशान्ति का अनुद्भव—यदि हमारी विधि सहित धर्म की बात बनती तो अशान्ति के दिन हमें देखने को न मिलते। तो वह विधि क्या? यह भेद विज्ञान? पहले यहाँ अन्तर में भेद विज्ञान करें। दूध और पानी मिले हुए हैं, जिनको भेदविज्ञान होगा कि दूध यह कहलाता, दूध में दूध है, पानी में पानी है। दोनों जुदी-जुदी चीजें हैं। कोई पुरुष विधि से यंत्र डालकर कुछ चीज डालकर दूध को अलग भी कर देगा और पानी को अलग कर देगा इसी तरह यह कर्मविपाक, यह कर्म और यह उपयोग की वृत्ति ये दोनों एक जगह मिले हुए हैं। जो यह भेदविज्ञान करेगा यह तो है कर्मविपाक और यह है वृत्ति उसके उपयोग की वृत्ति, चिद्वृत्ति, वही तो कर्मविपाक को हटाकर अपने स्वरूप को ग्रहण कर सकेगा। पहला कार्य क्या? एक इस भव में, इस जीवन में इस बात को मान लें, ठान लें कि मेरे को तो अंतस्तत्त्व का ज्ञान करके ही रहना है। ये बाहरी बातें मेरे लिए कीचड़ हैं, विकार हैं। बाहरी वैभव मिला तो क्या और गरीब रहें तो क्या? वैभव की चिन्ता उसकी शल्य तो बहुत की, जरा गरीबी का आनन्द तो लूटो। क्या धनिकता में ही आनन्द है? गरीबी में क्या आनन्द नहीं है? बाहरी पदार्थों के, परिग्रह के न रहने से गरीबी कहें तो ऐसे सबसे बड़े गरीब तो मुनि महाराज हैं, कोई परिग्रह नहीं है, कोई संग नहीं, निर्ग्रन्थ एकाकी हैं, उनका आनन्द का पद है। कितना विशाल आनन्द रहता है। अच्छा—बात यह कह रहे हैं कि सम्यग्ज्ञान साथ है, ज्ञान साथ है तो गरीबी में भी आनन्द है, अब गृहस्थी की बात ले लो। गरीब है गृहस्थ, मकान अच्छा नहीं है, कहीं चू भी रहा है, कहीं नीचा ऊँचा भी है, रह रहा है, उठ रहा है, बैठ रहा है, यहाँ बैठा वहाँ बैठा, कुछ भी करे। जिसके यह ध्यान है, यह कर्मलीला है, मैं तो उपयोग स्वरूप ज्ञानमात्र हूँ। वह तो गरीबी में भी आनन्द ले रहा है। कोई भी स्थिति हो, धनी हो तो, गरीब हो तो, कुछ भेद मत समझें कि अन्तर हैं इन दोनों में। अन्तर पड़ता है तो ज्ञान और अज्ञान से सही अन्तर पड़ता है। सम्यग्ज्ञान को सम्हालें, अपनी बातों को लें और अपने आपका आनन्द लूटें। वैभव मिला है तो उपेक्षा की कला सीखें, नहीं तो इस जीवन में भी दुःख और परलोक में भी दुःख। गरीबी है तो क्या हुआ? धन वैभव तो एक पंक है, इस प्रकार की श्रद्धा की कला सीखें। धर्मभाव होने पर सब जगह आनन्द ही आनन्द है।

विकल्पों द्वारा दुःखों का आमन्त्रण—भैया! भीतरी दृष्टि करें—किसी को भी कष्ट नहीं। जो भाई बैठे हैं, जो भी लोग हैं एक को भी दुःख नहीं है। अपने को देखो कि मैं स्वतंत्र अकेला हूँ। भार क्यों लादते हो? घर में अगर १० व्यक्ति हैं तो उनके पुण्य नहीं है क्या? कोई जो ६ महीने का बच्चा है उस बच्चे के आराम के लिए आप कितना उद्यम करते हैं? छोटी सी एक गाड़ी भी ले देते, उस गाड़ी को चलाने के लिए नौकर भी रख लिया, अच्छी गद्दी भी लगा ली, खिलौने भी रख दिए और कभी-कभी उस बच्चे को हाथ में लेकर देखना चाहते कि यह थोड़ा मुस्करा तो जाए। जरा मैं इसकी मुस्कराहट देख तो लूँ, ऐसी

आप प्रतीक्षा करते हैं यानी जिसके खुश होने की मुद्रा देखने के लिए आप यहाँ बड़े उत्सुक होते हैं—हमें यह बतलावो कि पुण्य आपका बड़ा है या उस बच्चे का? यहाँ ही निर्णय करके देख लो। जिसकी ओर मुखताकते रहते जिसकी बाट जोहते, जिसकी सेवा के लिए नौकर रखा, बुवा बुलायी, इस बच्चे को दुःख न होने पावे, ऐसी और भी बहुत सी चेष्टायें आप करते हैं तो ऐसी चेष्टा करने वाले बाप का पुण्य अधिक हैं या उस ६ महीने के बच्चे का पुण्य अधिक है? अरे पुण्य तो उस बच्चे का ही अधिक है। तो जिसका पुण्य बड़ा है उसकी तो आप चिन्ता कर रहे और जिसका पुण्य घट गया ऐसे अपने आप की कुछ भी चिन्ता नहीं कर रहे। कहते हैं ना—"आए मुट्ठी बाँधि मनोहर, हाथ पसारेजाना। दो दिन का यह खेल तमासा, मिट्टी में मिल जाना" आए मुट्ठीबांध, इसका अर्थ क्या है? कि जब पैदा हुए थे तो पुण्य साथ लाये थे। और हाथ पसारे जाएंगे का अर्थ है, कि मानों सारा पुण्य बहाकर जाएंगे। तो उस बच्चे की क्यों सेवा होती कि उसके पहले भवका पुण्य है। उसकी ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है, ज्यों-ज्यों उसमें मायाचार, छल-कपट आदि विकार आते जाते हैं, उनका प्रयोग करता है तो उसका वह पुण्य दूर होता है। तो नौबत आ जाती है कि उसे हाथ पसारे जाना पड़ता है।

विभाव से उपयोग न जोड़कर स्वभाव में जुड़ान होने पर मुक्ति का आश्वासन—भाई बात यह कह रहे है कि अपने को जरा भगवत स्वरूप में देखो। सब शल्य दूर करो, सब चिन्ता दूर करो, मैं हूँ, अपना जिम्मेदार हूँ, अपने आप में हूँ, मेरा सब कुछ मेरे में है मेरे से बाहर कुछ नहीं है, सो ये भी भले हैं। इनका इनके उदय से काम चलता। मैं इनका कुछ नहीं करता। होने दो, उपेक्षा भाव रखें और आत्म ज्ञान से, तत्त्व ज्ञान से, सम्यक्त्व लाभ से इनसे प्रीति जगावें, यह है करने का काम। तो देखिए उसको मुक्ति ऐसी लग रही है कि यह तो है, नियम से मुक्ति मिली ही तो है। जहाँ यह भेद विज्ञान आ गया और समझ लिया कि मैं तो एक विशुद्ध ज्ञान मात्र चैतन्य मात्र हूँ, चैतन्य की वृत्ति जग रही है। अब भ्रम से हटकर निजमें शुद्ध वृत्ति जगायी। अब स्वयं के स्वरूप में उपयोग चल रहा है विशुद्ध वृत्ति जग रही है, उपयोग की वृत्ति तो अब नहीं रही। हो जाए ऐसी सहज वृत्ति तो वह कभी न मिटेगी, अब उपयोग जोड़ने की बात क्या रही? ऐसी स्थिति पाने के लिए ज्ञानी का अभ्यास चल रहा है भेद विज्ञान करता है। समझता है, सब स्पष्ट बात, जैसे दर्पण के आगे हाथ आया तो हाथ का रंग हाथ में है कि दर्पण में? हाथमें, पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि दर्पण में हाथ के अनुरूप रंग आ गया। अब दर्पण स्वच्छता से हट गया। उसमें चेतना नहीं है, नहीं तो उस छाया को अपनालेता। उससे अपना लगाव कर लेता। अचेतन है। तो अचेतन होने से उतनी बात हो गई जितनी कि आत्मा में बात हुई कि कर्म विपाक आया तो कर्म में भी उद्यम मचा। पहले अनुभाग बँधा था, तो अब अनुभाग (विपाक) आया तो जैसे चूना का डगला जब तक अच्छा है स्थिति तब तक है, ठीक है। बाद में वह फूल ही तो गया। वह ही विपाक कहलाता है। तो जब तक अनुभाग खिला उस काल में निमित्त नैमित्तिक

योग है जो चल रहा है। यहाँ भी उपयोग में वह बात आयी, वह रंग आया, वह छाया आयी, किन्हीं शब्दों से कहो, अनर्थ क्या हुआ? यहाँ तक ज्ञान को कोई अनर्थ नहीं है। इसके आगे की घटनायें पहला अनर्थ होता कि उपयोग जुड़ा, दूसरा अनर्थ यह होता कि यह उसे अपना मान बैठता।तो भेद विज्ञान में पुरुष के लाभ की बात देखें कि अब उसको पर तत्त्व अपना नहीं रहा। सम्यक्त्व होने पर भी कुछ काल जो कषाय जगती है विषय में उपयोग जोड़ने की बात है तो वह पुराना संस्कार जो बनाया ना सो ज्ञान होने पर भी पूर्व भ्रम था और उसका संस्कार है, उसके कारण फिर राग में लग जाता, याने उपयोग में जुड़ता। उपयोग में जुड़ने का कारण है इसका पूर्व संस्कार।

व्यवहार और निश्चय दोनों नयों के परिचय से लाभ उठाने का स्मरण—भैया निमित्त नैमित्तिक योग में जो अनिवार्य है वह तो होकर रहता। तब ही तो देखो—करणानुयोग में बताया है कि उदय का जब समय आता उस समय उसे नहीं टाला जा सकता। उदयक्षण से एक समय पहले टाल ले जिसको संक्रमण कहते और उससे पहले जोड़ लें अपने विशुद्ध परिणाम को तो परिवर्तन हो जाता जिसे कहते हैं अपकर्षण अथवा निर्जरणा करना तो आत्मा केवल भाव ही है, इससे आगे और कुछ नही, करता। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं, कर्त्ता कर्म सम्बन्ध नहीं, पर निमित्त नैमित्तिक योग प्रत्यक्ष दिखता है। स्वच्छ ज्ञान से हमें लाभ मिल रहा है। यह कर्म विपाक जो मेरी भूमिका में आया यह कर्मलीला है, यह मेरा स्वरूप नहीं, ये नैमित्तिक भाव हैं, मेरा स्वरूप तो ज्ञानमात्र है, चेतनामात्र हैं। मैं जानता हूँ, चेतना, बस यही मात्र मेरा स्वरूप है। उससे स्वभावदर्शन लाभ भी मिला। जिसका प्रयोग मोहियों ने अधिकाधिक किया है, ये पौद्गलिक हैं। मेरे स्वभाव नहीं, मेरे स्वरूप नहीं, पुद्गल परिणाम में निष्पन्न हैं। मैं तो एक ज्ञान स्वभाव मात्र हूँ। चाहिए क्या? स्वभावदर्शन। जिसके बिना उद्धार नहीं हो सकता। प्रतीति मात्र, यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। ऐसी ही प्रतीति, अनुभवन, आचरण, यह ही तो बात चाहिए, तो इस बात के लिए हमें उस व्यवहार से भी रास्ता मिल रहा, निश्चयनय से भी रास्ता मिल रहा। दोनों नय हमें रास्ता दिखाते हैं। निश्चयनय असत्य नहीं, व्यवहारनय असत्य नहीं। असत्य तो उपचार होता है। तो जब उपचार की भाषा में व्यवहारनय को ढाल कर बोलते हैं तो उस व्यवहार को भी हम असत्य कहते हैं पर व्यवहार का जो सत्य विषय है वह असत्य नहीं है, पर उपचार कथन है वह असत्य है। व्यवहार का जो शुद्ध रूप है उस भाषा में बोलें तो क्या असत्य है? कर्मविपाक का निमित्त पाकर जीव में उपयोगवृत्ति ऐसी जगी तो उस उपयोगवृत्ति का तो जीव के साथ व्याप्यव्यापक भाव है और उस कर्म में होने वाले कर्मविपाक का उसके साथ व्याप्यक व्यापक भाव है। व्यवहारनय तो एक बड़ा विश्लेषण कराता है। एक का ही ध्यान दिलावे वह तो कहलाता है निश्चय, और जो सब तरह का विश्लेषण करे, स्पष्टीकरण करे उसे कहते हैं व्यवहारनय। हाँ इस बात को जब हम इस भाषा में बोलने लगें कि कर्म ने किया तो यह

उपचार कथन हो गया, यह मिथ्या हो गया, एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य के साथ व्याप्य व्यापक सम्बन्ध नहीं, कर्त्ता कर्म–सम्बन्ध नहीं। उसको बताने वाली भाषा में बोलें तो असत्य हुआ, पर सम्यक् श्रुतज्ञान के अंश हैं ना दोनों। उपचार नहीं है सम्यक् श्रुतज्ञान का अंश। वह तो एक व्यवहार और रूढ़ि, बात और आदत के अनुसार कथन है। उसके बिना तो काम चलता न हीं तो निश्चय और व्यवहार दोनों श्रुतज्ञान के अंश हैं। इसलिए दोनों ही सत्य हैं। असत्य तो वह उपचार कथन है। जैसे देखो–यह मकान मेरा है, यह बात सत्य है कि झूठ? झूठ है, और, इस मकान को विषय बनाकर मैं ममता भाव कर रहा हूँ, यह बात असत्य है कि सत्य? यह तो सत्य घटना है, ऐसा ही तो हो रहा है। झूठ की क्या बात है। आपके हित की बात नहीं है। अगर यह कहा जाए कि मकान मेरा है, तो यह सच ही तो, है अरे भाई सच तो वह है जो भगवान जानते हैं। भगवान यह नहीं जानते कि यह मकान अमुक का है। यदि भगवान इस तरह जान जाएं कि यह मकान अमुक का है तो फिर वह मकान उससे कभी छूट ही नहीं सकता। उसकी तो फिर पक्की रजिस्ट्री हो जाएगी। चाहे आपकी तहसील की रजिस्ट्री फेल हो जाए या दिल्ली से कोई रजिस्ट्री होती हो वह भी फेल हो जाए, परन्तु भगवान जान जाएं तो फिर वह तो पक्की रजिस्ट्री हो जाएगी? वह फिर कभी फेल नहीं हो सकती। तो भैया प्रभुवत् थोड़ा-थोड़ा सही तो जानो, कल्याण हो जाएगा।

टंकोत्कीर्णवत् निश्चल अन्तस्तत्त्वका आश्रय करने का अनुरोध—भाई आज बड़ी दुर्लभता से यह मानव जीवन पाया है तो इसमें पाए हुए साधनों से लाभ उठा लेना चाहिए। लाभ उठाना क्या? स्वभावदर्शन। टंकोत्कीर्णवत् निश्चल ज्ञायक स्वभाव का दर्शन। टंकोत्कीर्णवत् निश्चल, वह जो है सो ही है, वह कभी चलित नहीं होता। जैसे टांकी से उकेरी गई प्रतिमा जो है सो है, वह कभी चलित नहीं होती, गोबर का, या मिट्टी का या मोम का जो देवता बनाया जाता है वह निश्चल तो नहीं रह पाता। उसे तो जिस चाहे जगह से मोड़ा जा सकता है, पर टांकी से उकेरी गई पाषाण की प्रतिमा निश्चल होती है, वह तो जो है सो है। तो इसी तरह निश्चल है यह मेरा शाश्वत ज्ञायक–स्वरूप। दूसरी बात देखो–टंकोत्कीर्णवत् प्रतिमा की दृष्टि से हमें क्या बात विदित होती है कि जैसे टांकी से उकेरी गई प्रतिमा को कारीगरने बनाया नहीं, यहाँ वहाँ से कोई चीज लाकर उसमें कुछ जोड़ा नहीं। जो मूर्ति कारीगर ने प्रकट की है वह तो पहले भी उस पाषाण के अन्दर मौजूद थी। उसे कारीगर ने बनाया नहीं है बल्कि उसने तो हटाने का ही काम किया है। उस मूर्ति का आवरण करने वाले जो पाषाण खण्ड थे उनको हटाने का ही काम किया है। वहाँ कुछ लगाने की जरूरत नहीं, क्योंकि वह मूर्ति अपने आप परिपूर्ण है। अच्छा अब उन पाषाण खण्डों को हटाने की भी विधि देखो सबसे पहले बड़े छेनी हथोड़े से बड़े-बड़े पाषाण खण्डों को कारीगर ने हटाया। वहाँ अधिक सावधानी रखने की जरूरत न थी। सावधानी तो रखनी ही थी क्योंकि असावधानी करने से तो वह पाषाण टूट जाता, पर विशेष सावधानी रखने की जरूरत न थी। उसके बाद उससे

छोटे छेनी हथोड़े से उस मूर्ति के आवरक छोटे-छोटे पाषाण खण्डों को कुछ अधिक सावधानी से हटाया। सबसे अन्त में अत्यन्त छोटे छेनी हथौड़े से अत्यन्त बारीकी से अत्यन्त बारीक पाषाण खण्डों का हटाने का काम कारीगर ने किया। दिन भर में कोई तोला दो तोला ही पाषाणचूर निकलेगा, जिसे देखकर लोग यह भी कह सकते कि आज तो इस कारीगर ने कुछ भी काम नहीं किया। व्यर्थ ही १५ रु० दिन भरके लिया। पर बात ऐसी नहीं है। यह काम तो बड़ा कुशल कारीगर ही कर सकता था। मोटे आवरण हटाने का काम तो कोई भी साधारण कारीगर कर सकता था। तो ऐसे ही यहाँ भी समझ लीजिए कि परमात्मा बनना है तो जैसे पत्थर में मूर्ति प्रकट हुई ऐसे ही हमें अपने में परमात्मस्वरूप निकालना है तो परमात्मस्वरूप निकालने के लिए उसमें कुछ जोड़ना पड़ेगा क्या? अरे उसमें कुछ भी जोड़ने की जरूरत नहीं, क्योंकि वह परमात्मतत्त्व तो परिपूर्ण है। जोड़ने की क्या आवश्यकता? अच्छा, यदि परिपूर्ण है तो उसे निकालें कैसे? जरा भेद विज्ञान का छेनी हथौडी ले लो और जो उस परमात्मस्वरूप का आवरण करने वाले हैं उनको हटाओ। लो विवेक किया। ओह ज्ञान की छेनी, ज्ञानी की हथौड़ी, ज्ञान ही मारने वाला, इस भेदविज्ञान से पहले तो बाहर की चीजें हटायीं, धन, वैभव, पुत्र, मित्र, शरीर आदि ये बाहरी चीजें ही तो हैं। जैसे पहले प्रोग्राम में बड़े पत्थर हटाये गए थे वैसे ही ये बाहर में मोटे रूप से दिखने वाली चीजें हटायी गईं। अब और भेद विज्ञान करें, कर्म विपाक उससे भेद विज्ञान करें, कर्म का विपाक कर्म का कर्म में है। जो कर्म का विपाक कर्म में स्वयं खिल रहा है उसका व्याप्य व्यापक भाव कर्म में है, मेरे में नहीं, यहाँ भेद विज्ञान हुआ। और, जो कर्म झलके और मुक्ति आगम से विज्ञात उस कर्म विपाक में उसके नोकर्म में उपयोग न जुड़े तो वहाँ भी समझो जिसकी उपेक्षा की, समझो कर्म विपाक को छोड़ दिया। भेद विज्ञान होता है प्रकृत विकल्प रूप हुआ, मगर इन दोनों में एक को ले लिया उस उपयोग की वृत्ति को, जिसके साथ व्याप्य व्यापक भाव चल रहा है, उस चेतना वृत्ति को, उस झलक को जो एक में हैं टंकोत्कीर्णवत् निश्चल शाश्वत प्रकाशमान, ज्ञायकस्वरूप। अन्तर में है विकल्प तो भी यह मेरा स्वरूप नहीं, यह कादाचित्क है। नैमित्तिक है, यह मैं नहीं, हटायें उसे। अच्छा अब जरा इसका अभ्यास बनायें तो सही कि मैं ज्ञान मात्र हूँ। अभ्यास बनायें तो व्यवहार और झूठ हट जाता है। अरे राग संस्कार बहुत हैं। घर में रह रहे, दुकान भी है, बच्चे भी हैं, काम काज भी करते हैं, कितने संस्कार लगे हैं? ये बाधक हैं, इन्हें हटावो। गृहस्थी को हटाया लो मुनिव्रत हुआ। अब वह किस धुन में हुआ कि वह जो मेरा टंकोत्कीर्णवत् निश्चल स्वरूप है, जिसकी श्रद्धा करने से मुक्ति होती है, उसकी उपासना करने में जो बाधक है उन्हें हटाया-हटाया ही गया, ऐसा निर्ग्रन्थ रहे कि शल्य का मौका ही न आए। फिर एक धुन से हम उस काम को सिद्ध कर सकते। वहाँ भी बहुत बाधाएं आतीं। शिष्य हैं, उपदेश दे रहे, पूजा बदंना होती है, जो कि बाधक है, सहज ही उनके फिर अप्रमत्त दशा होती है। यह बाधा भी हटे। उस आवरण को भी हटाया और

वह परमात्मस्वरूप निकल आया। व्यक्त हो गया। वह विधि है उस परमात्म तत्त्व को पाने के लिए, परमात्म स्वरूप को पाने के लिए।

तत्त्व के सही प्रयोग में सन्मार्ग का लाभः—जीवादि ७ तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। ये ही ७ तत्त्व हैं जिनका श्रद्धान सम्यग्दर्शन है। यह बात ७ तत्त्वों के नाम देने से स्पष्ट होती है और अन्य प्रकार से माने गए तत्त्वों का निराकरण होता है। चाहते तो सभी दार्शनिक सुख शान्ति हैं, पर कुछ तो शान्ति के स्वरूप का निर्णय भी न कर सके और कुछ उनके उपाय का निर्णय न कर सके। जैसे नैयायिकजन द्रव्यादि अनेक पदार्थों को कहकर संयोग, विभाग, पृथक्त्व आदि अनेक जैसा समझ में आया झट उस तत्त्व में डाल-डाल कर यहाँ तक कह देते हैं कि छल निग्रह जाति भी तत्त्व है। छल निग्रह जाति का अर्थ किया है कि जैसे कोई वादविवाद कर रहे और वादविवाद में जैसे राजनीति और कूटनीति चलती है ऐसे ही वादी को कोई छल करके कुछ से कुछ अर्थ बताकर उसे चुपकर देवे, ऐसी कला खेलने का नाम छल आदि तत्त्व है, ऐसा नैयायिक मानते हैं। जैसे कोई नया कम्बल ओढ़कर आया हो और कोई यह कहे कि नवकम्बलोंयं याने यह नवीन कम्बल वाला है। तो दूसरा कह बैठे कि तुम बड़े झूठे हो। तुम तो कहते हो कि यह ९ कम्बल वाला है। अरे यह तो एक ही कम्बल वाला है। चूँकि नव के अर्थ दो हैं नया और नौ तो उसने कहा नये के नाम से और इसने कहा मजाक के रूप में, कहते कि ९ कम्बल वाला कहाँ आया, यह तो एक ही कम्बल वाला आया। तो ऐसे ही बात-बात में कहा जिस किसी भी प्रकार हो, चुपकर देना एकमात्र ध्येय हो तो वहाँ भी छल ही समझो। ऐसा इस शासन के आधुनिक सिद्धान्त दर्शन से अनभिज्ञों में अनेक जगह घटित होता है। जैसे वस्तु स्वातंत्र्य और निमित्त नैमित्तिक भाव दोनों का यथार्थ श्रद्धान कर लें, निमित्त नैमित्तिक का एकान्त कर लें कि भाई जो कुछ है वह सब निमित्त ने किया। जीव ने राग किया सो निमित्त ने किया। तो अब बतलाओं मोह मिटाने का कैसे अवसर मिले? जैसे और लोग मानते—ईश्वर ने किया तो कुछ लोगों ने मान लिया कि कर्म ने किया। हम विवश हैं। जब कर्म की कृपा होगी तब हमें सहूलियत मिलेगी। तो इस निमित्त नैमित्तिक भाव के एकान्त में रास्ता तो नहीं मिला। कोई वस्तु स्वरूप का एकान्त खींच ले कि वस्तु में जब जो पर्याय होती है वह अपने आप होती है। बाहर में तो निमित्त वैसे ही कह डालते हैं मुफ्त में। जो सामने हाजिर हो उसे कह देते हैं। सो भैया! निमित्त सन्निधान बिना हो गया राग तो वह स्वभाव हो गया, कैसे छूटे फिर। उसमें भी मोह दूर करने का ढंग नहीं रहा तो किसी एकान्त में कोई रास्ता नहीं मिलता और यथार्थ प्रमाणभूत ज्ञान हो कि वस्तु स्वतंत्र सत् है, प्रत्येक पदार्थ अपने आप की करण शक्ति से उत्पाद करता रहता है बस उसका तो यह ही काम है कि उत्पाद करता रहे। अब जहाँ ऐसा निमित्त योग मिला, उपाधि सन्निधान को पाकर यह जीव चूँकि अशुद्ध पहले से था तो योग्य उपाधि को पाकर यह विकार रूप बन गया। जैसे दृष्टान्त में ले लो कि दर्पण के आगे

हाथ किया और उसमें छाया आ गई, वहाँ कोई वह एकान्त करे कि यह तो हाथ की छाया है, हाथ ने ही किया, तो जैसे इसमें सही तत्त्व का दर्शन नहीं होता, तो कोई कहता कि दर्पण में जब छाया आने को होती है तो हाथ हाजिर हो जाता तो इसमें क्या कह डाला कि दर्पण की छाया है वहाँ निमित्त का क्या काम जब छाया होने को होती है तो हाथ हाजिर हुआ है इसमें २ प्रसंग आते हैं एक तो छाया स्वाभाविक हो जाएगी, दूसरे छाया के निमित्त बनेगी हाथ की हाजिरी नैमित्तिक यों उल्टी बात हो जाती है। तो एकान्त में कोई सिद्धि नहीं होती।

वस्तु स्वातंत्र्य और निमित्तनैमित्तिकयोग की यथार्थता—तत्त्व तो यह है—**निमित्तप्राप्योपादानं स्वप्रभाववत्** "यानी पर उपाधि का निमित्त पाकर (सन्निधान में) उपादान अपने ही प्रभाव वाला होता है। वह प्रभाव निमित्त का नहीं है। निमित्त की कोई भी बात निमित्त के प्रदेश से बाहर नहीं जा सकती। द्रव्य हो, क्षेत्र हो, काल हो, भाव हो, प्रभाव हो, कुछ हो, नहीं जा सकता अब देखो यथार्थ बात मानने में दोनों तरीकों से मोह मिटाने का रास्ता मिल जाता है। निश्चय दृष्टि जब की जाए व्यवहार को गौण करें निश्चय को गौण करें, गौण के मायने यह है कि उस समय दृष्टि से एक को ही तो देखना होता है। एक को एक में ही देखना होता है। दूसरे की न विधि कर सकते, दूसरे का न निषेधकर सकते। दूसरे **का तो ख्याल ही नहीं कर सकते**। अगर दूसरे का ख्याल किया तो वह निश्चयनय से हट गया है। तो जहाँ एक दृष्टि में ही चल रहे तो वहाँ परका ध्यान न होने से, उसको आश्रय न मिलने से रागादिक भाव दूर हो सकते हैं, उसे स्वभावदर्शन हो जाएगा, और जहाँ निमित्त नैमित्तिक भाव से देखें, यह विकार है, यह कर्मलीला है, पौद्गलिक है, ये सारे भाव, ये सारे विकार पुद्गलकर्म का उदय पाकर उत्पन्न हुए। पुद्गल का विपाक पुद्गल में पाया जाता, पर चूँकि एक क्षेत्रावगाह है नहीं तो उपयोग में झाँकी आये बिना रहेगी नहीं, झांकी हुई सो उसी समय यह शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ उसी समय यह उसमें जुट गया। उसी समय मोह हुआ तो उसे अपना लिया। ऐसा बिल्कुल स्पष्ट जो संकेत है उसके अनुसार देखें तो यह भावना करने का खूब अवसर मिला कि यह कर्मलीला है, कर्मविपाक है, इसमें मेरा कुछ नहीं है। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, अपने उस ज्ञानमात्र स्वभाव में यह ग्रहण करता है।

प्रयोजन को न भूलकर तत्त्व दर्शन में लाभ—तत्त्व की बात चल रही थी कि मोक्षमार्ग का प्रयोजनभूत तत्त्व तो वही हो सकता है जिसमें मोह मिटे, शान्ति मिले। मगर छल निग्रह आदि करने में तो मोह नहीं मिटता। जैसे किसी ने कोई निमित्त नैमित्तिक की बात कही तो ऐसा मानने वाले भी भली भाँति श्रद्धा किए हुए हैं कि एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य में कर्तृ कर्मभाव त्रिकाल नहीं होता। एक का दूसरे में कुछ प्रवेश ही नहीं है। तो ना कर्तृ कर्म भाव है, न व्याप्य व्यापक भाव है, और न कुछ लेन-देन है, पर है निमित्त नैमित्तिक योग जैसे कि व्यवहार में रोज-रोज देखते हैं उसी प्रकार कर्म उदय का निमित्त पाकर जीव

ने अपने रागादि भाव परिणाम में किया। ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग बताया तो कह बैठे--तो क्या कर्त्ता है कुछ? या निमित्त को कह दिया यह कहते हो? तो जाति निग्रह दोष ऐसे ही तो हैं। कोई कहे कि वस्तु अपने आपकी शक्ति से परिणमती है, अन्य की शक्ति लेकर नहीं परिणमती है, ऐसा कोई वस्तु स्वातंत्र्य का वर्णन करे तो ऐसा जानने वाला पुरुष जो निमित्त नैमित्तिक योग की बात देखता हैं वह एक दृष्टि का वर्णन कर रहा तो उसे कहा तो क्या यह अपने आप यों ही हो गया। वह स्वभाव बन बैठा। अरे हम श्रद्धा में तो लिए हैं कि स्वभाव न बनेगा, क्योंकि उसमें जो कर्मविपाक की झांकी है यहाँ तक तो यह सहज भी हुआ। अब उपयोग जुड़ा यहाँ से चली बुद्धि पूर्वकता की बात, बुद्धिपूर्वक उपयोग जुड़ा, अपनाया तब बन्धन है ना। तो किसी प्रकार कुछ से कुछ बात कहना ये नैयायिकों के तत्त्व हैं। तो बतलावो--जैसे लोगों ने यह कह दिया कि जो मेरे बेद को माने सो आस्तिक और न माने सो नास्तिक। जो मेरे इस्लाम को माने सो सही और न माने सो काफिर। ऐसे छल निग्रह का दोष बताने वाले सिद्धान्त ने मानो यही तो स्पष्ट किया कि जो हमारी बात माने वह सही है और न माने तो वह गलत है। उसे छल करके निग्रह करके किसी भी प्रकार से चुप कर देना उसी में नैयायिक सिद्धान्त अपनी विजय मानता है और समझता है कि हम धर्म में चल रहे हैं, ऐसे-ऐसे दर्शन अनेक दर्शनिकों ने माना है, भला बतलाओ--जीवादि ७ तत्त्वों का उपदेश करना हमारी वीतराग परम्परा से जो है वह कितना निर्दोष है, और, जो पदार्थ हैं क्या? द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव, ये कोई ६ चीजें हैं? एक ही चीज हैं। द्रव्य--इस द्रव्य में ही जो शक्ति है उसी का नाम गुण है द्रव्य की जो अवस्था है उसका नाम कर्म है। द्रव्य में सामान्य दृष्टि से जो निरखे सो सामान्य, विशेष दृष्टि सो निरखे सो विशेष और चूँकि ये गुण कर्म ये सब कुछ समझ में आ रहे हैं और उस समझ के अनुसार उनकी भेद दृष्टि बन गई है तो अब यह नौबत आ गई कि द्रव्य तो भिन्न है, गुण तो भिन्न है, कर्म तो भिन्न है, फिर काम कैसे बनेगा? ये एक साथ कैसे रहेंगे? उसके लिए मानना पड़ा समवाय यों विशेष बढ़ाते जावो विकल्प हीं बढ़ेंगे।

मोक्ष तत्त्व की श्रद्धा में मोक्ष की प्रतीक्षा--भैया? ऐसे प्रसार से क्या? कोई मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व की बात खोज लो। वह इस तरह है सीधी कि सब जीवों को मोक्ष तो बहुत दृष्ट है स्कूल में पढ़ने वाले बच्चों की जब छुट्टी होती है, तो देखो अपना बस्ता लेकर कैसे उछलते कूदते हुए अपने घर को भगते हैं। उस समय मानो उन्हें इतनी खुशी होती है कि जितनी खुशी लड्डू खाने में भी नहीं होती। लड्डू खाने में क्या है? आया और खड़े-खड़े खा लिया चल दिया, उसमें उसे कोई विशेष खुशी नहीं मालूम होती, पर स्कूल में छुट्टी की घंटी बजते समय विशेष खुशी मालूम होती है। कोई व्यक्ति ऐसे भी होते कि मानो कभी शास्त्र-सभा में आ गए और वहाँ बैठ हुए काफी देर हो गई तो वहाँ वह सोचता है कि अब मैं कैसे उठकर जाऊं? लोग क्या कहेंगे? [illegible] अपने विषय को कुछ

और बढ़ा दिया तो वह श्रोता दुःखी होता है। और जब व्याख्यान पूरा हो गया तो उसे कितनी खुशी होती है। यह बात उस व्यक्ति के लिए कही जो यह सोचता है कि मैं कहाँ आज शास्त्र सभा में फंस गया? कब छुट्टी मिले। तो ऐसे ही कोई ज्ञानी पुरुष है और वह घर में फंसा है। पूजा में जाना है, स्वाध्याय में जाना है। घर में स्त्री ने बच्चे ने कोई झंझट लगा दिया तो वह बड़ा दुःखी होता है। वह खूब परिश्रम से बड़ी जल्दी उनसे छुट्टी लेता है, स्वाध्याय करने जाता है तो जिस समय वह छुट्टी पाता है उस समय वह कितना खुशी मानता है। सो छुट्टी में प्रसन्नता है। तो भला बतलावो जिसे संसार के संकटों से सदा के लिए छुट्टी मिलती हो तो उसकी प्रसन्नता का तो कहना ही क्या है? कुछ चित्त में यह बात आयी कि हमें तो इससे छुट्टी पाना है और कुछ ध्यान में आने लगा कि अब तो कुछ छुट्टी पाने का मौका सा मिल रहा है तो छुट्टी पाने से पहले भी उस आनन्द को लोग अनुभव करते हैं। तो मुक्ति सबको इष्ट है। जो मूर्ख है वह भी छुट्टी चाहता है। अब किससे छुट्टी चाहता है उसका ही फर्क है। तो मोक्ष जो है वह दुःखों से मुक्ति पाने के इच्छुक को अवश्य श्रद्धा के योग्य है। कोई अगर मोक्ष की श्रद्धा नहीं कर रहा तो वर्तमान में कर्मों से बंधे हुए अपने को मोक्ष की अभिलाषा करना बन न सकेगा। वह मोक्ष की बाट कैसे जोहेगा। छहढाला में एक छोटा सा जो छन्द कहा मगर वह कितना तर्क पूर्ण है मोक्ष के विषय में उल्टी श्रद्धा। शिवरूप निराकुलता न जोय, मोक्ष का स्वरूप, निराकुल स्वरूप, उसमोक्ष की बाट नहीं जोहता। मिथ्या दृष्टि। देखो ज्ञान की बात कितनी स्पष्ट आ गई। ऐसा मोह है कि वह बाट जोहेगा अगर कोई लड़का किसी काम से बाजार गया उसको वहाँ से लौटकर आने में कुछ देर हो गई तो वह मोही पुरुष उसकी बाट जोहता है, अरे अभी वह क्यों नहीं आया? मानो किसी को अपने घर आना है तो वह मोही पुरुष उसकी बाट जोहता है कि अरे अभी तक वह क्यों नहीं आया? तो जैसे मोही पुरुष इस तरह की बाट जोहता हैं इसी तरह ज्ञानी जीव मोक्ष की बाट जोहता है। मुझे मोक्ष (छुटकारा) कब मिले, बस उसी मोक्ष की ओर ही उसकी धुन लगी रहती है।

मुक्ति प्रोग्राम में होनहार की उमंग—साबर दूर सिमिरिया नीरी सँसार पीठ पीछे हो गया क्योंकि उसने मुख कर लिया है मुक्ति की ओर। तो पहली बात तो यही है कि मोक्ष की श्रद्धा होती है, ज्ञानी पुरुष को। मोक्ष की बाट जोहने की बात लगी रहती है। मेरे को मुक्ति मिले "मुझे न है परका पतियारा, मुक्ति का प्रोग्राम हमारा।" एक भजन में लिखा है। तो चल रहा है, जैसे कोई छेड़ता है हाथ पकड़ कर कि अरे ठहरो तो सही। नहीं, नहीं, मेरा दूसरा प्रोग्राम है। इसी तरह से घर में बाल बच्चों का समागम छेड़ता है तो यह कहता है कि मुझे न है पर का पतियारा, मुक्ति का प्रोग्राम है, मुझे मत छेड़ो। और छेड़ने से तुम्हारा हित भी कुछ नहीं होता। तुम्हारे बीच में हम रहेंगे तो न हमारा ही लाभ होगा और न तुम्हारा ही लाभ होगा। लाभ तो दोनों की राजी में है। अब ज्ञानी और अज्ञानी, इन दो का संग

कैसे निभेगा? एक जुवा में ऊँट और बकरा जोड़े जाएं तो वे कैसे चल सकेंगे? सोचते होंगे कोई भाई ज्ञानी पुरुष घर में रह रहा है तो उसे तो वहाँ कुछ भी मौज नहीं है, उसे कुछ सुख नहीं है, सुख तो मोही लोगों को है। बच्चे को जब गोद में लेकर खिलाते हैं तो खूब उडटकर उससे प्रेम करते हैं, खूब उछाल उछाल कर छाती से लगाकर बड़ा मौज लूटते हैं, मगर यह सम्यग्दृष्टि पुरुष भले ही बच्चे को अपनी गोद में लिए है, घर में बच्चे हैं तो उन्हें खिलायेगा तो है ही, उन्हें प्यार से भी रखेगा, पर वह सोचता यही है कि ये बच्चे, ये परिजन मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं, इनके कर्म न्यारे, इनकी परिणति न्यारी। इस कारण ज्ञानी पुरुष उसमें मुग्ध नहीं होता, उनसे विरक्तिचित्त रहता है। अब जरा अन्तर तो विचारो कि घर में रहने वाले ज्ञानी को आनन्द है कि अज्ञानी को। अब सच्चे ढंग से विचारो। भीतरी प्रसन्नता तो विचारो। ज्ञानी पुरुष को आनन्द है। अच्छे ढंग से तो ज्ञानी पुरुष ही रह सकता है, उसकी किसी से कभी लड़ाई भी न होगी। वह उपेक्षा कर जाएगा। हाँ चलो बाबा, ऐसा ही ठीक। तुम कह रहे सो ठीक। यों ज्ञानी पुरुष सबको वहाँ स्याद्वाद्व से घटाता है। पर अज्ञानी जीव को उसकी हट में जरा भी बाधा हुआ तो वह अपनी बात में अड़ जाएगा।

दूसरों से हठ करने में समय का दुरुपयोग—एक पंचायत बैठी थी। सभी लोग कोई घटना का हिसाब लगा रहे थे--३० और ३० = ६०, होते हैं, तो वहाँ एक किसान बोला, ३० और ३० = ८० होते हैं। वहाँ बहुत-बहुत समझाने पर भी उस किसान के ऐसी हठ हो गई कि अगर ३० और ३० मिलकर ८० न होते हो तो हम अपनी ४--६ भैंसे दूध देती हैं वे सब दे देंगे, अब तो सभी पंच लोग खुश हुए कि अब तो भैंस मिल ही जाएंगी। यह सब बात उस किसान की स्त्री ने भी सुन ली। जब किसान घर पहुँचा तो वहाँ स्त्री को उदास देखकर पूछा कि तुम क्यों उदास हो? तो स्त्री ने कहा--तुम तो बोल आए हो पंचों में कि ३० और ३० मिलकर ८० न होते होंगे तो हम अपनी सभी भैंस दे देंगे सो अब हमें इस बात का दुःख है कि हमारी सभी भैंस चली जाएंगी। तो वह भाई बोला--अरी तू तो बड़ी बेवकूफ है। जब हम अपने मुख से यह कहें कि ३० और ३० मिलकर ६० होते हैं तभी तो भैंस जाएंगी। यों तो कोई नहीं ले सकता? तो भाई हठ में, मोह की हठ में और आग्रहमें तो चूँकि हठ है, उसकी बात उसके साथ है, मगर बाह्य वस्तु में क्या आग्रह करना? कोई धर्म का प्रसंग है, धर्म की बात चलती है ठीक है, चलने दो। एक ही भाव रखो, जिस तरह हो यह धर्म का काम आगे बढ़े, धर्म की बात, धर्म की प्रभावना आगे बढ़े, उस प्रसंग में कभी यह बात चित्त में न आनी चाहिए कि चूँकि मैंने कहा इसलिए ऐसा होगा। कोई हठ न करनी चाहिए। हमारी अनेकों हठ हों तो भी उन्हें घुला मिला सकते धर्म की प्रभावना के आगे। धर्म की प्रभावना हो यह बड़ी चीज है। यहाँ हठ करके हमें किसे क्या दिखाना? यहाँ मुझे पहचानने वाला कौन है? मुझे कोई जानने वाला भी नहीं है। मेरा पहचानने हार दूसरा न कोई रे, ज्ञाता की दृष्टि भली, बुरी नहीं होय रे। जो ज्ञाता है वह सोचता है कि मेरा

पहचानने वाला यहाँ कोई दूसरा नहीं है। अच्छा रेलगाड़ी में जा रहे और वहाँ जान पहचान वाले लोग तो मिलते नहीं हैं, किसी ने आपको वहाँ गाली दे दिया या कुछ भला बुरा कह दिया तो वहाँ तो आप बुरा नहीं मानते। वहाँ तो आप उससे बड़े नम्र बन जाते हैं और यहाँ समाज में या घर में कोई जरा-सी बात कह दे तो वह कितना तेज हो जाता। तो यहाँ फर्क किस बात का आया? समाज के बीच में अगर किसी ने भला बुरा कह दिया तो वहाँ ऐसा अनुभव करते कि मेरा तो इसने सब कुछ बिगाड़ दिया। यह भ्रम है।

धर्म के प्रवाह में अपने को समाकर पावन कर लेने में विद्वत्ता का सदुपयोग—धर्म तो अमिट है। व्यवहार की बात कह रहे कि यह तो धर्म प्रवाह चल रहा है यहाँ क्या मेरा है कुछ? सब जीवों के शान्त सुखी होने का एक प्रवाह चल रहा, परम्परा चल रही। तुम भी उसी में रह जावों। देखो एक ने बताया अपनी बातचीत में कि विद्वत्ता को पचाना बहुत कठिन होता है। ऐसा कह रहे तो इससे उसका अर्थ पूछा तो कहा कि अर्थ यह है कि जिसने विद्वत्ता पायी वह धर्म की परम्परा में और आचार्यों के स्वरों में अपनी बात रखकर एक अपने अस्तित्व को अलग न जताने की बात रहती किसी के चित्त में तो उसे कहते हैं विद्वत्ता का पचाना। नहीं तो बड़ा मुश्किल होता। थोड़ी भी जानकारी पाए तो ऐसा कहेंगे कि दूसरों को कुछ अटपटी सी बात लगे, कुछ आकर्षण सा हो, फिर उसे नामवरी के लिए अलग सी बात बना देवें। ऐसे-ऐसे ही तो होते चले आए हैं। तो देखो विद्वत्ता के पचाने में उसका खुद का बड़ा लाभ होता। उसे मायाचार न करना पड़ेगा। समझदार का मायाचार ऐसा होता है कि दुनिया जानती है कि यह बड़ा सरल है, कठिन मायाचार ऐसा होता है कि उस मायाचार को कोई पहचान न सके, पर ऐसा होता नहीं। कोई न कोई पहचानने वाला जरूर होता है। पास रहने वाले पहले पहचान लेते हैं बात छिपती नहीं है लेकिन मायाचार वह कि जिसकी बात सर्वसाधारण न समझ सकें। तो क्या है? अरे भाई अनन्त भवों में जन्म-मरण करते-करते आज बड़ी दुर्लभता से मनुष्यभव पाया है। किसे क्या बताना है कि यह भी कोई है। मत जाने मुझे कोई। मैं तो उसी धर्म परम्परा में उसी में एकमेक होकर उसी में रच पचकर, उसी में एक रस होकर अपनी गुप्त विधि से गुप्त कल्याण हासिल हो जाए, बही मेरी सर्वसिद्धि है।

कषाय व अहङ्कारको दूर करने पर ही धर्मपात्रता—देखो शिवमय धर्म के पंथपर चलना बहुत कठिन है। अथवा कठिन नहीं है, बहुत सरल है, मगर कितना कठिन बना दिया। सर्व कषायों में कठिन एक मान कषाय है कषायों के हिसाब से बताया कि नरकगति में क्रोध कषाय की प्रबलता है, तिर्यञ्चों में माया की, देवो में लोभ की और मनुष्यों में मान की प्रबलता है। आप कहेंगे कि देवों में लोभ कषाय की तीव्रता कैसे? उनके पास तो अटूट वैभव है। उन्हें कमाने की व्यापार वगैरह करने की कोई जरूरत नहीं है, फिर लोभ कैसे? तो

देखो वे अपने से अधिक ऋद्धिधारी देव को देखकर मन ही मन में कुढ़ते रहते हैं, जलते रहते हैं तो यह लोभ कषाय ही तो हुई। और मनुष्यों में देखो, लग तो ऐसा रहा कि मनुष्यों में लोभ कषाय बड़ी तेज है क्योंकि वे भी बहुत-बहुत परिग्रह जोड़ते हैं। और लोभ करते हैं, धन जोड़ने के लिए करते हैं या अपने परिवार को बहुत अच्छा बनाना चाहते हैं, जो कुछ भी करते हैं उस सबके नीचे मान कषाय की आग धधक रही है, जिस दिन उसे जच जाय कि बहुत बड़ा धनी होने में मान नहीं है तो उसे लोभ न सताएगा। खूब देख लें—जो कुछ भी करना चाहता यह जीव वह मान कषाय के वश होकर करता है। आत्महत्या भी कर डालता है मान के वश में बड़ी विपत्तियों के बीच फंसते हैं तो इस मानके वश होकर फंसते हैं। तो भाई कुछ बताने, समझाने, जताने से कोई बात स्पष्ट नहीं होती। वह तो उसका उसके साथ है। नहीं तो जैसे कि उर्दू सभ्यता में कोई संस्कृति आती है व्यवहार करने की, कैसे शब्द बोलते हैं कि उनमें विनय टपकता है। कुछ शब्द भी अच्छे हैं और कुछ उनकी बोलचाल भी बड़े विनय को सिद्ध करती हैं, साथ ही हाथ, मुँह, कमर की मुद्रा भी सुहावनी रहती है, पर क्या वहाँ यह निर्णय कर सकते हैं कि वह विनय है ही? कहो वह उस प्रकार के विनय युक्त शब्द बोलने वाला यह समझ रहा हो कि इस प्रकार का विनय बर्ताव करने से महत्त्व बढ़ता है, प्रतिष्ठा बढ़ेगी, तो वह विनय भी मान का साधन बन गयी। उसने तो उस विनय का माध्यम बनाकर अपने चित्त में गौरव को महत्त्व दिया। जैसे कोई किसी पर बड़ा क्रोध कर रहा हो तो उसे कोई समझाता कि भाई क्यों क्रोध करते हो? इतना नाराज न होओ? तो वह कहता—अजी हम तो बड़े चैन से रहते, हमारे कोई कषाय नहीं है, वह अपने घर में सुख से रहे, हमें क्या मतलब? और बोल रहा गुस्सा में होता है ना ऐसा, तो बतलावो उस शान्ति वाले बचन से आप क्या निर्णयकर लेंगे कि इसके चित्त में क्रोध नहीं है? वह तो जिम्मेदारी उनकी उनके साथ है। उनके क्रोध हो भी सकता है। ऐसी ही मायाचारकी बात है। मायाचार में भी बड़ी सरलता दिखायेंगे। और ऐसी दिखायेंगे। कि यह तो बच्चे की तरह है। कुछ जानता नहीं है। मगर सारा ढाँचा, सारी करतूत सब खेलता तो रहता है मगर ऐसा वचन निकलेगा कि लोग जानेंगे कि बहुत सरल है। लोभ कषाय की बात देख लो। लोभ कषाय में मान लो कहीं कोई बोली हो रही है, कोई बड़ा सम्मान हो रहा है तो वहाँ झट कह बैठते कि हमारा एक लाख रुपया। देखिए एक लाख रुपये का त्याग तो कर दिया, मगर चित्त में यह बात बैठी है कि लोग मेरा सम्मान करेंगे। मेरी प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अब बताइये वहां लोभ छूटा क्या? नहीं छूटा, धन तो त्यागा, किन्तु एवज में मानकषाय है और यश का लोभ है अगर किसी ऐसी जगह ऐसी धर्म के कार्य में थोड़ा खर्च किया जा रहा हो, जिसमें कि अधिक नाम जाहिर नहीं होता, एक गुप्त सा काम है जैसे गरीब परिवार का स्थितिकरण करना, गुप्त भंडार देना स्कूल के बच्चों को इनाम बाँटने का काम समझलो जहाँ नाम जाहिर न हो ऐसा काम, तो वहाँ कुछ भी धन खर्च करने का भाव नहीं होता, वहाँ कुछ भी उदारता

नहीं बर्तती तो क्या कहा जा सकता है कि उसके लोभ कषाय नहीं है? तो मतलब यह है कि मनुष्य मान के लिए सब कुछ करता। अहंकार छोड़ें तो धर्मपात्रता आवे।

पर्याय की कीर्ति का विकल्प छोड़कर आत्मस्वरूप की उपलब्धि के यत्न का अनुरोध—भैया हित अपने हाथ की बात है। क्यों सोचते हो कि दुनिया हम पर खुश हो जाए? एक भी उदाहरण ऐसा बतलावो जिसपर सारी दुनिया खुश हुई हो? तीर्थंकर देव पर भी उनके समय में सारी दुनिया खुश नहीं हुई। भले अल्पांश फर्क पड़ जाय मगर ऐसा हो नहीं सकता कि दुनिया के सभी लोग आप पर खुश हो जाएं। बच्चों की किताब में एक कहानी लिखी है कि कोई बाप बेटा एक घोड़ा लिए हुए किसी गाँव को जा रहे थे। बाप तो घोड़े पर बैठा था और बेटा पैदल जा रहा था। वे एक गाँव से निकले तो उस गाँव के लोगों ने कहा देखो यह आदमी कितना बेवकूफ है। हट्टा कट्टा। आप तो घोड़े पर बैठा है और बेटे को पैदल चला रहा है। बाप ने अपने बेटे से कहा—बेटे तुम घोड़े पर बैठ जावो, हम पैदल चलेंगे, क्योंकि लोग हमारा नाम धरते हैं। वह बेटा घोड़े पर बैठ गया और बाप पैदल चलने लगा। जब दूसरे गाँव में पहुँचे तो वहाँ भी लोगों ने नाम धरना शुरू किया। . . . यह देखो जवान, हट्टा कट्टा बेटा घोड़े पर बैठा है और अपने बाप को पैदल चला रहा है। अब तो उन दोनों ने (बाप बेटा ने) सोचा कि ऐसे भी लोग नाम धरते हैं, चलो दोनों ही बैठकर चलें। जब दोनों ही घोड़े पर बैठकर जा रहे थे तो तीसरा गाँव मिला वहाँ लोगों ने कहा कि मालूम होता है कि यह घोड़ा मांगे का है। तभी तो ये दोनों हट्टे कट्टे घोड़े पर लदे हैं। जब फिर भी नाम धरा तो दोनों पैदल चलने लगे। अब दोनों उस घोड़े को लगाम पकड़कर पैदल चले जा रहे थे। आगे जब चौथा गाँव मिला तो उस गाँव के लोग कहने लगे कि ये दोनों कितने बेवकूफ हैं। अरे जब इन्हें पैदल ही जाना था तो साथ में घोड़ा लेकर चलने की क्या जरूरत थी? अब बताओ इसके बाद वे दोनों क्या करते? हाँ यही कर सकते थे कि उस घोड़े के चारों पैरों को बाँधकर उसके बीच लाठी डालकर उसे कंधे में लादकर ले जाते सो तो करना मुश्किल था। तो सबको प्रसन्न कर सकने का कोई उपाय है क्या? अपनी ऐसी धुन बनायें कि मेरी आत्मा प्रसन्न हो। और आत्मा की निर्मलता इसी में है कि बाहर में जो आश्रयभूत पदार्थ हैं उन पदार्थों का व्यामोह छोड़ें। ये सब बेकार हैं, हमारी बर्बादी के साधन हैं। इनसे मेरा हित नहीं होने का मेरा जो सहज निरपेक्ष अन्तः प्रकाशमान ज्ञान स्वरूप है उसको अपनी ज्ञान योग्यता के माफिक विचारने की कोशिश करें और उसका अनुभव करें कि मैं तो यह हूँ और कुछ नहीं हूँ, ऐसा सोचने में मेरा हित है। बाकी बाहर की दृष्टि में कुछ भी लाभ नहीं मिल सकता।

वर्तमान बन्धन की और उससे मुक्त हो सकने की श्रद्धा—जिनको मुक्त होने की अभिलाषा है उनके चित्त में दो प्रकार की बातें तो आनी ही चाहिए कि मैं अभी तो

बँधा हूँ किन्तु प्रयत्न पौरुष करके मुक्त हो सकता हूँ! मैं बँधा हूँ, इसका निर्णय तो आसानी से हो सकता है। कितना मोह में बंधा हूँ, किस किस राग में बंधा हूँ किन-किन चिन्ताओं में रहा हूँ। ये कोई बाहरी चीजें साथ जाती नहीं, मेरी शान्ति में कारण बनती नहीं अत्यन्त भिन्न हैं, अहितरूप हैं, फिर भी इनमें कैसा मोह लगा है कैसा राग लगा है, जैसे कहते हैं ना-चोर-चोर मौसेरे भाई। इसी तरह जब जगत में सब मोही जीव बस रहे हैं तो सबको ऐसा सच दिख रहा है कि यह ठीक ही तो है। खूब धन कमाया तो यह ठीक ही तो है, ऐसे मौज से रहे तो ठीक ही तो है, पर मूल में किसी ने नहीं सोचा। किसी बिरले ही पुरुष ने सोचा कि इनमें बड़ा दुःख है। जो बाह्य पदार्थों की ओर ख्याल, रुचि, मोह जाता है इससे यहाँ भीतर कितनी अशान्ति, कितनी बेचैनी हो जाती है। यह तो एक बहुत बड़ी विपत्ति है, बन्धन है। और, जो जरा १०–५ दिन की पढ़ाई करके ऐसा सोचे कि मैं तो मुक्त हूँ, मैं तो शुद्ध हूँ, मेरे को क्या रखा है। यह तो शरीर ही बदमाशी करता है इस तरह का जो भाव बना हुआ है, जिसको अपने बन्धन की श्रद्धा नहीं है कि मैं अभी बँधा हूँ, मैं कष्ट में हूँ, तो वह संकटों से मुक्त ही क्या होगा? वह तो जान रहा है कि मैं सिद्ध हूँ। चौथे गुणस्थान में बताया है कि अनुभूति होती है। बात तो सच है, स्वानुभूति बिना सम्यक्त्व पैदा ही नहीं हो सकता किन्तु कोई-कोई यही सोचले कि जो स्वानुभव सिद्ध में है वही हममें है, जरा भी यह न सोचे कि सिद्ध का स्वानुभव कितना उत्कृष्ट है। यहाँ तो हम आपके रागचल रहा है, अबुद्धि पूर्वक है, वे हमारे उपयोग में नहीं आते। वह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बंध है। कर्म विपाक हुआ कि यह झांकी हुई। झांकी हुई कि वहाँ अबुद्धिपूर्वक राग परिणमन हुआ? स्वानुभूति में यह विशेषता है कि उपयोग राग को नहीं ग्रहण करता, झांकी को ग्रहण नहीं करता और अपने विशुद्ध ज्ञान स्वभाव को ज्ञान में लेता है, पर अनुभूति तो वह कही जाएगी जितना सारा एक यह द्रव्य है, उस द्रव्य में जो गुजर रहा है इस अनुभूति का नाम अनुभूति है। ज्ञानानुभूति से तो यह ज्ञान में ज्ञान की अनुभूति कर रहा है। स्वानुभव वाले जो यह कहें कि सिद्ध समान अनुभूति है सो बात नहीं हैं। आत्मानुभूति भी कहो, ज्ञानाभूति भी कहो मगर सिद्ध समान अनुभूति नहीं कही जा सकती। सिद्ध तो राग संस्कार से रहित हैं। वहाँ तो झांकी तक नहीं है। "सिद्ध में जैसी निर्मल अनुभूति है, वैसे हममें है अनुभूति में अन्तर नहीं है हाँ यह एक समय को होती है वह अनुभव सदाकाल रहता है। अनुभूति में अन्तर नहीं है, ऐसा कहकर अपने आपका मन क्यों खुश किया जा रहा है? चतुर्थ गुणस्थान में जैसी अनुभूति होती है उसमें क्या बल नही हैं? ऐसा उत्कृष्ट बल है वहाँ ऐसा उत्कृष्ट बल है कि भव-भव के बांधे हुए कर्म क्षण मात्र में खिरा सकते हैं? सही बात, तथ्य की बात समझने से मोक्ष मार्ग निर्बाध रहता है। तो पहले तो यह समझें कि मेरे को बन्धन लगा है और यह निर्णय बनायें कि इस बन्धन से मैं मुक्त भी हो सकता हूँ।

बन्धन की निबद्धता—देखो बन्धन क्या है? इस जीव को बन्धन किसी बाह्य पदार्थ

से नहीं हैं, यह उपचार से बोलते हैं, मिथ्या बोलते हैं कि मेरे मकान से, मेरी स्त्री पुत्रादि से मेरा बन्धन है, जैसा बोला वैसा यहाँ हो नहीं रहा है। यहाँ तो यह हो रहाहै कि कर्मविपाक का निमित्त पाकर मुझ में हुआ प्रतिफलन, उसके साथ हुआ शुद्ध स्वभाव से हटना, उसके साथ ही उसका ग्रहण तो उसके साथ ही किया विकल्प में, ज्ञान में अपनाने की समझ। बस यह बंधा हूँ तो अपने विचारों से अपने-अपने विकल्पों से बंधा हूँ, अन्य किसी बाह्य पदार्थ से नहीं। निमित्त नैमित्तिक सम्बंध है तो इतना ही है कि कर्मविपाक उदय में आया है और उसका निमित्त पाकर जो कर्म में रागादि है, कर्म में जो प्रकृति है उसकी झांकी हुई और इसमें उसे ग्रहण किया और अपनाया, यह उसने गलती की। देखो एक मोटी सी बात है जो अनेक बार ध्यान में लाना है। जीव के विकार के प्रसंग में तीन प्रकार के कारण होते हैं (१) उपादानकरण (२) निमित्त कारण (३) आश्रयभूत कारण। उपादान कारण तो यह अशुद्ध जीव है। विकारों का यह उपादान है। कर्म को उपादान कारण नहीं कहा। जीव के विभाव का उपादान कारण कर्म नहीं हैं, किन्तु जीव स्वयं है। राग होता है दो जगह जैसे दर्पण में लाल रंग का चित्रण आया तो लालिमा दो जगह है, कपड़े में भी लालिमा है और दर्पण में भी लालिमा है। तो चूँकि लालिमा दोनों में है इसलिए भ्रम हो जाता है कि लालिमा तो दर्पण में ही है, कपड़े में लालिमा नहीं है। या कपड़े में लालिमा है, दर्पण में नहीं है, परन्तु ऐसा नहीं है। देखो-लाल रंग दो जगह साफ नजर आएगा, कपड़ा भी लाल है, और दर्पण भी लाल है। कैसे हुआ? तो कोई यों कहता कि दर्पण को जब लाल होना था तो लाल कपड़ा हाजिर हो गया और बात क्या हुई कि जिस समय लाल कपड़े का सन्निधान पाया, चाहे लाल कपड़ा के सामने दर्पण को लाकर सन्निधान हुआ हो या पहले से रखा हुआ दर्पण के सामने लाल कपड़ा लाया गया हो कुछ भी किया गया, मगर बात यह है कि उस लाल कपड़े का सन्निधान पाकर दर्पण अपने आपकी परिणति से अपने आपमें लाल बना। तो देखो लाल दो जगह है कि नहीं? है। तो इसी तरह क्रोधादि विकार कर्म में भी है और जीव में भी। अब बतलाओं जैसे कपड़े में लालिमा है? अरे दर्पण में तो स्वच्छता है, पर विकार रूप लाल है। इसी तरह कर्म में जो क्रोध, मान, माया, लोभादिक होते हैं वे ही क्या जीव में भी होते हैं? . . . नहीं। वे तो अचेतन हैं, जड़ हैं। जैसा अनुभाग बांधा था उस प्रकार से हैं। इस तरह का नहीं है तो किस तरह का है? उपयोग में ज्ञानस्वरूप, ज्ञेयरूप, जाननरूप, समझरूप, विकल्परूप इस तरह का है। इस तरह का विकार कर्म में नहीं है, कर्म में अचेतन के ढंग का है क्रोध, मान, माया, लोभ, किन्तु जीव में चेतन के रंग का है क्रोध, मान, माया, लोभ। तब ही तो उस जीव के क्रोध, मान, माया, लोभादि को चिदाभास कहा है, चेतन नहीं कहा, जड़ भी नहीं कहा।

धर्म परम्परा में अपने को विलीन रखकर हित संपादन करने को संदेश—देखिए वस्तु स्वरूप का कितना स्पष्ट कथन है और कैसा मोह को नाश करने का इसमें मार्ग मिलता है। सीधी सादी बात और उस को फिर तोड़ मरोड़कर रखना यह एक कोई महान अज्ञान

भरा संकल्प उठा रखा हो, उसके बिना नहीं हो सकता। अगर सीधे सादे आत्महितकी भावना हो तो उसे एक नवीन बात उत्पन्न करने की आवश्यकता नहीं है। जिस परम्परा में समंतभद्र, अकलंक देव तथा विद्यानन्द आदि आचार्य हुए हैं, और जिन्होंने अपने नाम का कोई प्रचार नहीं किया, कोई अलग बात नहीं रखी, दुनिया की दृष्टि में मैं कुछ अलग से अपनी बात रखकर दुनिया में अपना बड़प्पन जताऊं, ऐसी बात उनके चित्त में न थी, इसे ही तो कहते हैं विद्वत्ता को पचाना। तो अब यहाँ देखो—कर्मविपाक हुआ वह तो है निमित्त। और नैमित्तिक भाव में क्या हुआ? वह झलका, झांकी हुई, और झांकी हुई तब उसमें तीव्र अनुभाग और तीव्र विपाक आया। अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ, इसका प्रदेश परिस्पंद हुआ, योग हुआ। तो जीव योग उपयोग का कर्त्ता है, कर्म का कर्त्ता नहीं। जीव तो अपने प्रदेश परिस्पंद और उपयोग का कर्त्ता है, बाह्य का कर्त्ता नहीं, इसी तरह कर्म तो अपने आपके विपाक का कर्त्ता है, जीव की झांकी का कर्त्ता नहीं, पर ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि वह झांकी आयी और उसे ग्रहण किया। देखो आपके ज्ञान में कितने पदार्थ आ गए। आपका ज्ञान बन रहा है, आप उन सबको जान रहे हैं तो आपका जानना क्या इन पदार्थों ने उत्पन्न किया? नहीं किया, और, यह सब जानने में आ रहा है तो इसका ज्ञेयपना क्या आपके ज्ञानने उत्पन्न किया? नहीं किया, मगर बात साफ तो दिख रही है कि ये पदार्थ विषयभूत हो रहे हैं और यह मैं जान रहा हूँ तो इसके जानने में ये सब पदार्थ आश्रयभूत हैं, विषयभूत हो रहे हैं। जो देखिए असत् हैं वे क्यों नहीं ज्ञान में आते। जो जगत में है ही नहीं उसका ज्ञान क्यों नहीं होता? आप कहेंगे कि अच्छा हम उसका भी ज्ञान करेंगे लो आकाश का फूल, खरगोश के सींग देखों ये असत् हैं, उसे भी हम जान गए अरे सर्वथा असत् बात ज्ञान में नहीं आ रही खरगोश भी कोई चीज है और सींग भी कोई चीज है तब विकल्प बन रहा कि खरगोश के सींग, आकाश के फूल, अगर सींग नाम की चीज दुनिया में कुछ न होती तो शब्द ही न बनता, सींग शब्द का ही ज्ञान न होता। आकाश भी चीज और फूल भी चीज है। तभी तो ये शब्द हैं।

आत्मस्वातन्त्र्य होने पर भी औपाधिक भावों में परसंगनिमित्तत्व—प्रत्येक पदार्थ अनादि काल से स्वतंत्र है वे अपना-अपना परिणमन करते चले जा रहे हैं, किसी की सत्ता किसी दूसरे के कारण नहीं है, मगर इस जीव में जो रागादि विकार हो रहे हैं उनके कारण यह जीव बड़ा दुःखी है, हम आप बड़े दुःखी हैं। और, जब यह मान लें कि राग तो बिना निमित्त के होता है मेरी करतूत से होता है, इसमें दूसरा कोई निमित्त नहीं है तब फिर राग को छोड़ने का उत्साह हम कहाँ से जगाएं? जब राग होना होगा तब हो जाएगा, जब मोक्ष होना होगा तब हो जाएगा। अरे यहाँ निमित्त नैमित्तिक बात देखिए-राग हमारी वस्तु नहीं है, राग एक विकार भाव है। यह यों ही नहीं है कि अपने आप बन गया हो। है अवश्य केवल जीव की परिणति, किन्तु स्वयं निमित्त भी हो विकार का सो नहीं है। पुद्गल कर्म का सन्निधान

हुआ विकार की झांकी हुई और इसने अपना उपयोग बनाया। तुम्हारी रक्षा किसमें है? कर्म विपाक होता है तो उपयोग से उसे पकड़ें नहीं अपनायें नहीं कि यह मैं हूँ तो इसमें तुम्हारी जीत है। अगर कहो कि मेरे में राग होता ही नहीं है, या किसी निमित्त से होता ही नहीं है, वह राग मेरे ही कारण से हुआ, इसमें दूसरे का कोई निमित्त नहीं है तो बात न बनेगी? और जो थोड़ी बहुत निमित्त की कोई बात छेड़ दे, क्योंकि ग्रन्थों में खूब लिखा है। कर्म काण्ड में इसका बहुत-बहुत वर्णन है, तब यह कहना पड़ता है। कि जिस समय विकार आता है उस समय निमित्त सामने खड़ा हो जाता है। जिस समय रोटी सिकनी होगी उस समय आग खड़ी हो जाएगी। यों कह बैठेंगे। इसका अर्थ भी क्या है, इसको कहने वाले भी नहीं समझ रहे। तथ्य की बात यह है कि आग का सन्निधान पाकर रोटी पक जाएगी। रोटी को आगने नहीं पकाया याने रोटी में घुसकर नहीं पकाया, आग-आग की जगह है। देखो—मान लो एक मन बूँदी बेसन की आपने घाट ली। बूँदी बन गई। आग का सन्निधान पाकर कड़ाही का सन्निधान पाकर तेल या घी गरम हुआ। उस तेल या घी का सन्निधान पाकर बेसन की छोटी-छोटी बूँदिया पकीं, पर देखो आग कड़ाही में नहीं घी, आग बूँदी में नहीं घुसी। तो कड़ाही में घुसकर आग कर्त्ता नहीं बनी, प्रवेश करके आग कर्त्ता नहीं बनी। कर्त्ता कर्मभाव एक दूसरे का कतई नहीं है, फिर भी यह तो देखा ही जा रहा है कि आग का निमित्त पाकर यह बूँदी पकी। इसमें क्या कोई सन्देह है? या ऐसा है कि जब बूँदी पकना हुआ तो आग खड़ी हुई? अरे निमित्त नैमित्तिक योग होने पर भी वस्तु स्वातंत्र्य नहीं मिटता। तो उससे यह शिक्षा मिलती है कि ये रागद्वेषादि भाव मेरे नहीं है ये कर्म का सन्निधान पाकर होते है। जैसे दर्पण में लाल कपड़ा सामने रखने पर उसमें लालिमा होती है तो लाल तो वह कपड़ा है और दर्पण में आयी हुई लालिमा दर्पण की स्वच्छता का विकार हैं। यह लालिमा हट जाएगी। किन्तु किसी दर्पण के भीतर खराबी होने से उसमें कुछ सफेदी जैसी हो जाती, कुछ सफेद जैसी हो जाती, उसमें कोई भद्दापन सा आ जाता तो वह तो उसके उपादान में है, वह कैसे हटेगा। तो यों ही अगर उपादान में रागादि विकार इसके ही कारण आ गए हों वह विकार और उसमें कोई पर उपाधि निमित्त नहीं है। तो वह किसी प्रकार हट नहीं सकता।

स्पष्ट कथनों को तोड़ मरोड़कर दूसह बनाने वाले प्रियँवदों का चलन कलयुग का वरदान—समयसार में निमित्त नैमित्तिक योग की बात बहुत-बहुत समझाया और रास्ता सही बता दिया कि ये सब पौद्गलिक हैं याने जीव का रंच मात्र भी लेश नहीं रखा, यह क्या निमित्त उपादान की बात नहीं है। इसमें यह शिक्षा दी है कि ये सब चीजें पौद्गलिक हैं। क्योंकि पुद्गल कर्म से निस्पन्न है। इतना कहकर स्पष्ट मार्ग दिखाया कि हे आत्मन्? तू निशंक होकर ऐसा अनुभव कर कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मैं तो उपयोग स्वरूप हूँ। मैं इनकार करने वाला नहीं हूँ। मैं करता हूँ तो राग को ही अपनाता हूँ। यही मेरा कर्तापन है। राग क्या है? योग और उपयोग की एक स्थिति। सो यह संसारी योग और उपयोग का ही तो कर्त्ता

बना, पर पदार्थ का कर्त्ता नहीं बनता? तो परपदार्थ का भी अज्ञान में कर्त्ता रहा, परिणमन करने वाला रहा। जहाँ स्पष्ट भेदविज्ञान है कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, यह तो कर्मका नाच है। देखो दर्पण के आगे अगर हाथ तेज हिलावें तो यह कहते कि यह तो हाथ का नाच है। दर्पण में भी हाथ हिल रहा है पर बाद में स्पष्ट बोध होता है कि यह तो हाथ का नाच है, दर्पण का नहीं, लेकिन नाच दोनों जगह हो रहा, दर्पण में भी नाच हो रहा और हाथ में भी नाच हो रहा मगर दर्पण के नाच का कर्त्ता दर्पण नहीं। निमित्त नैमित्तिक योग ऐसा स्पष्ट है कि हाथ का सन्निधान पाए तो दर्पण में भी ऐसे नाच की परिणति होती है। कहाँ विवाद है? इतना स्पष्ट वस्तु स्वातंत्र्य, इतना स्पष्ट निमित्त नैमित्तिक भाव जिसकी स्पष्ट समझ कर लें तो मुक्ति में सन्देह नहीं, इतनी समझ हो जाए तो कुछ ही भवों में मुक्ति हो जाएगी। इतना तो स्पष्ट कथन है, पर समाज में हालत ऐसी हो रही है कि जैसे कोई सौत, (नवीन स्त्री) घर में आ जाए तो पहली स्त्री के बच्चों की आफत हो जाती है। उस स्त्री को उन बच्चों में करुणा नहीं होती है। तो जैसे सौत को अपने कुटुम्ब के पहली स्त्री के बच्चे नहीं सुहाते हैं ऐसे ही समझिए कि कोई दि० जैन शासन का अंश प्रकट कर दि० जैन समाज में आ जाए और पूर्व संस्कारवश दि० जैन साधु संत न सुहाए। जैन समाज सुहावे नहीं, कितनी बरबादी हो जाए, कितने टुकड़ें हो जाए, कितना नंगा नाच हो जाए तिस पर भी सन्तोष नहीं हो और हृदय में करुणा नहीं आती कि चलो बहुत बरबादी कर ली, अब तो खुश हो जाएं, मगर सन्तोष नहीं हो तो यह एक दुर्भाग्य ही समझें जो सिद्धान्त में किसी प्रकार के विवाद की बात नहीं है। रही थोड़ी बात। गाय अगर अच्छा दूध देती है और लात मारने वाली बन गई वह गाय तो उस दूध के लोभ से या किसी बात के लोभ से या समझ लो कि कुछ ऐसे भी लोग हैं कि मुफ्त आनन्द के लोभ से कुछ त्याग न करना पड़े और समाज में मैं धर्मात्मा कहलाऊं इस लोभ से लात भी सहते जाते और निकट भी बने रहेंगे। किन्तु सोचो तो अगर गाय दूध भी दे, सीधी बन जाए, लात न मारे तो बताओ गाय का कुछ बिगाड़ होता है क्या? बल्कि उससे तो गाय की प्रशँसा ही बढ़ेगी। ऐसी ही स्थिति हम आपकी है। कितना निर्विवाद विषय है, निमित्त उपादान का कितना स्पष्ट कथन है। आचर्यजन जिन शब्दों में बोलते आए उन शब्दों में बोल-बोल कर बात करिए। जैसी नदी में पूर (बाढ़) का आना यह नैमित्तिक है ना और पानी बरस जाना निमित्त है, वहाँ कोई मदारी जैसा खेल करे, कहे कि जिस समय नदी में पूर आता है तेज वर्षा होती है। तो कोई भी बताये. क्या समझें सीधा बोलो कि जिस समय तेज वर्षा होती हैं उस समय नदी में पूर आ जाता है। इसमें क्या जीभ घिसती है मगर सीधी बात बोलने से अपना गौरव कैसे रहेगा? गौरव तब रहता है जब कोई अनोखी बात हो। अगर सब जैसा ही खेल मदारी दिखाये तो उसके पास कौन जाए? उसे तो कोई अद्भुत बात दिखाना चाहिए तभी तो लोग जुड़ेंगे। तो देखो कितना स्पष्ट कथन है, आचार्यदेव की कितनी परम करुणा है। किसी आचार्य को अपनी विद्वत्ता का

प्रसार करते हुए भी गर्व रंच न था, एवज में किसी की बरबादी नहीं चाही। आज तो वह गंभीरता कहाँ।

आश्रयभूत कारण का आश्रय न कर विकार को व्यक्त न बनाने में लाभ—यहाँ एक बात बतला रहे थे—विकार के प्रसंग में कारण ३ है—उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। उपादान वह है कि जो विकार रूप परिणम रहा है। रागद्वेषादि का उपादान जीव है, निमित्त है कर्मविपाक जिसका निमित्तपाकर जीव विकार परिणाम करता है। और आश्रयभूत हैं ये बाह्य पदार्थ। कर्म को छोड़कर जितने भी पदार्थ हैं सब आश्रयभूत है। क्रोध प्रकृति का उदय हुआ, जीव ने बाहर में नौकर, स्त्री, पुत्रादि का आश्रय लिया और क्रोध करने लगा, तो ये बाह्य पदार्थ निमित्तकारण नहीं। जैसे कल बताया था कि नैयायिकों ने तत्त्व माना है छल, निग्रह, जाति इनको भी तत्त्व माना है। किसी भी प्रकार दूसरे को चुप कर दिया जाए, इससे धर्म मिलता है, यह नैयायिकों का कथन है, तो इसी तरह आश्रयभूत तो निमित्त कारण है नहीं, मगर उनको निमित्त कारण का नाम दे देकर और यों चुप करना कि देखो भगवान के दर्शन तो किया, पर सम्यक्त्व तो नहीं जगा, इसलिए निमित्त कुछ नहीं होता। अरे भाई भगवान के दर्शन सम्यक्त्व का निमित्त नहीं है। सम्यक्त्व का निमित्त तो प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है। ग्रन्थों में देखें जहाँ निमित्त कहा हो उसका अर्थ वाह्य साधन है। जिन बिम्बदर्शन सम्यग्दर्शन का निमित्त नहीं है। अच्छा जैसे कल यह बात बतलायी थी ना कि एक ने कहा नवकम्बलं, उसका अर्थ था नये कम्बल वाला, मगर दूसरा कहने लगा, अरे तुम बिल्कुल झूठ कहते हो। कहाँ ९ कम्बल वाला है? वह तो एक कम्बल वाला है। इसे कहते हैं छल। ये बाह्य पदार्थ आश्रयभूत कारण हैं, ये निमित्त कारण नहीं है। अब इनका निमित्त नाम धर कर देखो जिन्होने बिम्ब दर्शन किया मगर सम्यक्त्व नहीं हुआ। तो निमित्त कुछ नहीं है। तो इसे कहते हैं छल। जैसा कि नैयायिकों ने माना है। तो बात यह कह रहे हैं भैया स्पष्ट कि निमित्त उपादान में कुछ करता नहीं है, फिर भी विकार भाव निमित्तका सन्निधान पाए बिना न कभी हुआ, न होता है, न हो सकेगा। और तब ही हमारी जीत है कि हम रागद्वेष को दूर कर सकते। अगर ये रागद्वेषादि भाव स्वभाव से उत्पन्न होते तो इन्हें दूर न कर सकते थे।

एकान्त हठ को छोड़कर मध्यस्थ बनकर पक्षातिक्रान्त होने से लाभ—आजकल के वातावरण में व्यवहार का पक्ष और निश्चय का पक्ष चलता है। व्यवहार पक्ष तो यों चलता है। कि देखो कर्म ने ही राग किया। वे दो पदार्थ न्यारे-न्यारे है, सत्ता न्यारी-न्यारी हैं। किस की क्रिया कहाँ होती है कौन करता है? उसका व्यवहार पक्ष ने ध्यान नहीं रखा। और निश्चयपक्ष यह कहता है कि जब दूसरे लोग हैरान करते हैं तो निमित्त की बात कहनी पड़ी, नहीं तो निमित्त नाम लेने की क्या जरूरत? जीव में जब जो होना है वह होता है, जब मिटना होता है तब मिटता है। दूसरा कुछ नहीं करता। हाँ बात ठीक है, कुछ नहीं करता, पर निमित्त

अवश्य है, निमित्त सन्निधान बिना विकार भाव की उत्पत्ति नहीं होती है। कितना स्पष्ट विवेचन है। अच्छा तो व्यवहार पक्ष वाले को जब निश्चय पक्ष ने बहुत चिढ़ाया तो वे और बढ़कर चले और निश्चयपक्ष वाले को व्यवहारनय ने चिढ़ाया तो वे और चिढ़े, ऐसे समय में अगर कोई मध्यस्थ पुरुष हो और निष्पक्ष ज्ञान की बात बताता हो, आफत तो उसकी है। न व्यवहार पक्ष वाला उसके प्रति आदर रखेगा और न निश्चयपक्ष वाला। उसको कौन पूछने वाला है? लेकिन यह जानें कि अगर कोई मध्यस्थ हो, सही कहने वाला हो, वह समस्त जीवों का माता के समान उपकारी हो सकता है। जैसे माँ के चार पूत है और मानो २ पूत कुमार्ग में चले गए, दो पूत ऐसे हैं कि वे जानते हैं कि हमारे घर के ही हैं, क्या परवाह है, सो दो तो गए उस माता के लापरवाह और दो हो गए कुपूत तो अब उस माँ पर चारों की आफत आएगी। तो मध्यस्थ को कौन पूछे? लेकिन कैसा ही कुपूत हो? माँ का प्रेम चारों पर एक समान है। कितने ही खराब होने पर भी सदा करुणा रहती है। अच्छा इसका उपाय बनाती है। तो ऐसे ही आजकल कोई मध्यस्थ रहे, तथ्य की बात बतायेतो दो पूत तो यह कहेंगे कि यह तो हमारे घर में हैं, क्या परवाह है? क्या बात अधिक समझना क्या अधिक बात होना। दो मानो एकान्त हठ में चले गए तो वे एक प्रवर्तेंगे क्यों? आजकी दशा बहुत शोचनीय है, बहुत भयंकर स्थिति में आज दिगम्बर जैन समाज पड़ा हुआ है, ऐसे समय में जो उचित बात हो उस पर लोगों का चुनाव नहीं होता और उसके मन में नहीं आता कि यह बात ठीक यह निष्पक्ष बात ठीक यह ही सत्य है। चलो। व्यवहारनय से दोनों को जानकर जो व्यवहार में मध्यस्थ होता है सो ही सम्यक्त्व का लाभ लेता है। कोई एकान्त से लाभ नहीं ले सकता तो बतलाया था कि आश्रयभूत कारण का नैमित्तिक कार्य के साथ अन्वय व्यतिरेक नहीं है, उसे निमित्त कारण मत कहो। निमित्त कारण तो कर्म की दशा है। कर्म का उदय विकार का निमित्त, कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम, आत्मा की विशुद्धि का निमित्त जीव के विकार में निमित्त कर्म ही हो सकता, दूसरा और कोई पदार्थ किसी का निमित्त नहीं होता, वह आश्रयभूत है। जब हम उन्हें पकड़ना चाहते, उन्हें ग्रहण करते हैं, उन्हें उपयोग में लेते हैं तब विकार की व्यक्त मुद्रा बनती है। तो यों समझ लिया, निमित्त नैमित्तिक भाव होते हुए भी वस्तु स्वतन्त्र है। आप तो अपना हित निकाल लो, अपना काम निकाल लो। वस्तु स्वातंत्र्य की दृष्टि से, निमित्त नैमित्तिक योग की समझ से जो बात आपके भले के लिए आयी हो वह आप कर लीजिए। भला केवल एक हैं—स्वभावदर्शन ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व को अपने आप समझना, दूसरी बात में आत्महित नहीं है।

बन्ध तत्त्व की चिन्तना—यहाँ ७ तत्त्वों के प्रकरणमें यह बात चल रही है कि बंधतत्त्व का भी विश्वास होना चाहिए। जैसे मोक्ष तत्त्व का विश्वास न हो तो मोक्षमार्गमें कैसे लगा जाएगा? इसी तरह बंध तत्त्व का विश्वास न हो तो मोक्षमार्ग में कैसे लगा जाएगा? मैं तो शुद्ध हूँ, निरञ्जन हूँ, सिद्ध समान हूँ। सिद्ध भगवान अनन्तकाल तक स्वभाव में टिके रहते हैं

और हम एक समय को टिक पाये, यह एक कमी रही, बाकी तो सिद्ध जैसा हमारा मामला हो गया। कमी कुछ रही। अरे भाई यह जो अनुभूति हो रही है वह ज्ञानानुभूति हो रही। और सिद्ध भगवान में जो अनुभूति हो रही है वह विरागानुभूति और यहाँ की ज्ञानानुभूति में अन्तर है। जो रागभाग हमारे आ रहे हैं झांकी में, जिनका कि स्वानुभूति के समय उपयोग नहीं करते वे तो हो ही गए। और एक बात और बिल्कुल छोटी बतायें। अगर सिद्ध समान अनुभूति होती एक समय को भी तो एक समय का कर्मबन्ध रुक जाना चाहिए था, पर एक समय भी कर्मबन्ध रुक रहा क्या? एक समय को यहाँ अनुभूति होती नहीं। जब भी अनुभूति होती हैं अन्तर्मुहुर्त को होती है, इसका लोगों को पता नहीं, इसलिए लोग एक-एक समय चिल्लाते हैं। उपयोग जब भी किसी चीज को ग्रहण करेगा तो वह अन्तर्मुहूर्त से कम में ग्रहण नहीं करेगा, अन्तर्मुहूर्त आधी चुटकी बराबर भी है। अन्तर्मुहूर्त से कम में ग्रहण नहीं करेगा, अन्तर्मुहूर्त आधी चुटकी बराबर भी है अन्तर्मुहूर्त एक सेकेण्ड का हजारवां लाखवां भाग भी है। उपयोग छद्मस्थ अवस्था में किसी भी पदार्थ को एक समय में ग्रहण नहीं कर सकता। यह जैन सिद्धान्त का नियम है। करणानुयोग का जब कुछ भी परिचय नहीं है तो एक-एक समय सुन लिया तो वह एक समय एक हुआ। वह बात सामने आयी, अर्न्तमूहूर्त से कम स्वानुभूति नहीं होती। अन्तर्मुहूर्त से कम में आप इस भींट को भी नहीं जान सकते। एक आँवली में ही असँख्याते समय होते हैं। नीचे पलक गिराते हैं और झट ऊपर ले जाते हैं तो इसमें कितने समय लगते हैं? अनगिनते समय। उनमें से एक समय की बात कोई अनुभूति में आती है, तो मतलब यह है कि उसी समय अनुभूति हो रही है, उस समय अगर सिद्ध भगवान की तरह अनुभूति चलती हो तो उस समय कर्मबन्ध रुकना चाहिए, लेकिन कर्मबन्ध जीव के निरन्तर रहता है। अन्तर जरूर हो जाता है, कर्मबन्ध वहाँ बिल्कुल कम हो जाता है। जिस समय स्वानुभूति कर रहा है ज्ञानी पुरुष।

आत्मबोध बिना परबोध का मूल्य क्या—भैया ऐसा समझो कि जैसे किसी स्कूल में मास्टर ने विद्यार्थियों को दुनिया का खूब ज्ञान करा दिया, चीन, जापान, जर्मनी, अमेरिका, इंगलैण्ड, रूस आदि के पहाड़, जंगल, नदियाँ वगैरह का बहुत-बहुत ज्ञान करा दिया। अब इन्सपेक्टर आया विद्यार्थियों की परीक्षा लेने तो पूछा बताओ, तुम्हारे गाँव के पास से जो नाला निकला है वह कहाँ से निकला है और कहाँ गिरा है? लो सभी विद्यार्थी चुप रह गए। उन्हें यह बात पढ़ाई ही न गई थी। तो इसी तरह आपको सिद्ध पढ़ा दिया, अरहंत पढ़ा दिया, और सब पढ़ा दिया मगर स्व को (अपने आपको) न पढ़ाया कि वह स्व क्या है? स्वरूप क्या है। जो सुन रखा है वही जानते हैं और आत्मा की बात में चलें तो ऐसा कहीं ज्ञान होता है। कि ये नैमित्तिक हैं। नैमित्तिक भाव और वस्तु स्वातंत्र्य इन दोनों का सही निर्णय किए बिना कोई मार्ग पर चल नहीं सकता। तो बंध तत्त्व का श्रद्धान करना जरूरी हो गया इसलिए बंध तत्त्व का भी नाम दिया। अभी तक दो चीजें बतायी हैं ७ तत्त्वों में कि मोक्ष

का क्यों नाम दिया और बन्ध का क्यों नाम दिया? मोक्ष का नाम यों दिया कि मोक्ष की श्रद्धा न हो तो फिर मोक्ष लेगा कौन? बन्ध का नाम यों दिया कि बन्ध की श्रद्धा न हो तो उससे छुटकारा पाने के मार्ग में लगा क्यों जाएगा। यों दो तत्त्वों की सिद्धि अब तक हुई।

बन्ध तत्त्व के श्रद्धान की आवश्यकता का उपसंहार—यह संसार सारा दुःखमय है। यहाँ की किसी भी स्थिति में विकल्पों से विराम पाने का अवसर नहीं मिलता। विकल्पों से दुःख है। दुःख की स्थिति अपवित्रता है। अतः एव दुःखों से छुटकारा हो जाने की स्थिति अवश्य ही उत्कृष्ट है, पर उस मोक्ष को पाने के लिए हमें और क्या-क्या श्रद्धान रखना चाहिए जिससे कि मोक्षमार्ग मिले? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र में हमारी प्रगति बने, उनका ज्ञान करना भी आवश्यक है। ये ही ७ तत्त्व यहाँ कहे जा रहे हैं। मोक्ष की श्रद्धा करने वाले पुरुष को बन्ध की भी श्रद्धा होना आवश्यक है कि जिससे हम छूटना चाहते हैं। तो बन्ध के विषय में वर्णन हो चुका, अब बन्ध से अतिरिक्त अन्य तत्त्व की क्या जरूरत है? उसके विषय में कुछ प्रतिपादन चलेगा। बन्ध का अर्थ तो इतना ही रहा ना कि यह जीव बन्ध गया, परतन्त्र हो गया, बन्धन में आ गया, अब बन्धन से मुक्ति कैसे पाए? एक मोटा सा समाधान है कि बन्धन जिन बातों से हुआ है उन बातों को न करें। जैसे कोई पुरुष किसी का कर्जदार है तो चाहता तो है कि मैं कर्ज से मुक्त हों जाऊँ, पर कर्जा चढ़ता रहे रोज-रोज तो क्या वह कर्ज से मुक्त हो जाएगा? नहीं, इसी तरह बन्धन से मुक्ति तो चाहे कोई और बन्धन के कारणों को करता रहे तो बन्धन तो न मिट सकेगा। तो यह बताना बहुत आवश्यक है कि बन्ध का कारण क्या है। बन्ध होता क्यों है। इस जीव को?

आस्रव तत्त्व के श्रद्धान की आवश्यकता—बन्ध का जो हेतु है उस ही का नाम आस्रव है। कैसे आते हैं कर्म? कैसे बन्धते हैं। उनकी बात आस्रव तत्त्व में बतायी गई हैं। आस्रव तत्त्व की संक्षेप में बात यह जानें कि जब यह जीव मन, वचन, कार्य का योग करके मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग रूप भाव करता है तो कर्म का आश्रव होता है, बन्ध होता है। बुरी चाल से चले कोई तो उसकी गिरफ्तारी होती है और कोई अच्छी चाल से चलेतो उसके बन्धन तो नहीं होता। बुरे भाव से कोई चले तो कर्म का बन्धन जरूर होगा और शुद्ध भाव से चले तो बन्धन क्यों होगा? तो वे अशुद्ध भाव, वे खोटे भाव कौन-कौन से हैं? इसे संक्षेप में कहो रागद्वेष मोह परिणाम। राग कैसे कि किसी भी परवस्तु में प्रीति उमड़ जाती, किसी भी परवस्तु के बाबत उमंग उपज जाती। यह भला है, यह अच्छा है, यह मेरे को हितकारी है और देखो यह यहीं बैठे-बैठे अपने ही प्रदेशों में रहता-रहता यह आत्मा अपने भाव भर बनाता है। कर कुछ नहीं सकता बाहर। यही तो अज्ञान अन्धकार है मेरा किसी बाहरी पदार्थ से सम्बन्ध नहीं, लेन-देन नहीं कुछ बात नहीं, न कुछ साथ आया, न कुछ साथ जाएगा, न इससे कोई मतलब सधता। बाह्य पदार्थ हैं, इन्हें क्यों अपना कुटुम्ब समझें? क्यों अपना धन समझें? सब बाहरी पदार्थ हैं, और बाहरी पदार्थों के प्रति उपयोग का लगाना

यह महान विपत्ति है। कोई विपत्ति में पड़ने का काम करे और घबड़ाये तो उसका विपत्ति से छुटकारा कैसे हो? वह श्रद्धान लावो कि मुझे तो सर्व विपत्तियों से परे आत्मीय आनन्दस्वरूप का दर्शन करना है। कोई व्यक्ति नीरस कटुक चीज को खाता रहता हो तो वह उस चीज को तभी तो छोड़ेगा जब कि उससे बढ़िया रसवाली कोई चीज का स्वाद ले। अन्यथा कैसे छोड़ेगा? तो ये संसार के समागम नीरस हैं, इनमें हमारा उपयोग जाता है तो हमें दुःख होता है। उन्हें छोड़ने की बात कही जा रही है मगर छोड़ तब सकेंगे जब कुछ उससे विलक्षण स्वाद वाले आत्मीय आनन्द का दर्शन हो, अनुभव हो, जानकारी हो। जैसे कोई भिखारी कई दिनों की बासी रोटियाँ अपनी झोली में रखे हुए घूमता है, रोटियाँ मांगता है। उससे कोई कहे कि अरे भिखारी तू इन बासी रोटियों को फेंक दे, मैं तुझें ताजी पूड़ियां लड्डू दूँगा तो वह नहीं फेंकता। एक तो उसे विश्वास नहीं कि पूड़ियां मिलेंगी दूसरे उसने पूड़ी व मिठाई कभी खायी नहीं तो उसे उनके लिए उमंग कैसे जगे? तो ऐसे ही इस जीव ने विषय कषायों का परिचय, अनुभव, सब कुछ खूब किया, पर किसी भी प्रकार पूर्ण रूप से नहीं, कुछ-कुछ अन्दाज रूप से ही आत्मीय आनन्द की बात परिचय में न आयी तो कैसे उन विषय कषाय की बासी रोटियों को फेंक सकेगा? हैं ये सब विपत्तियों के साधन। कभी भी ज्ञान हो जाए कि हाँ ये सब विपत्ति हैं विडम्बना है तभी तो उमंग उठेगी आत्मीय सम्पदाको जानने की। वह छूट सकेगा नहीं।

बाह्य परिकर की असारता के निर्णय का उपकार—भैया! और अधिक नहीं तो इतना तो समझ लें कि हम जिस परभव से आए हैं उसमें बड़े सम्राट भी हुए हों तो भी वहाँ का सुख आज काम आ रहा है क्या? कुछ भी तो नहीं आ रहा। और यहाँ से मरकर भी किसी अन्य भव में जाओगे तो यहाँ का कुछ भी भोग साधन आपके किसी काम आयेगा क्या? अच्छा अब इस ही भव की बात देख लो आप कहेंगे कि इस जीवन में १०—२०—५० वर्ष जब तक जिंदा रहेंगे तब तक तो मौज लूट लेंगे। तो भाई ऐसा सोचना आप का गलत है अरे इस थोड़े से जीवन की बात तो आप सोच रहे पर आगे का जो अनन्त काल पड़ा हुआ है उसके लिए कुछ भी नहीं सोचते। अरे इस १०—२० वर्ष के जीवन के लिए कल्पित मौज के प्रसंगों में रहना यह तो आपके लिए कलंक है और उस समागम के मौज की भी बात देखिए कुछ भी मिलता है क्या? बाल बच्चों की करतूतों से आप परेशान हो जाते। और फिर कोई बच्चा जरा सुहा गया तो उसे खिलाना पिलाना या उसे समर्थन देना अन्य बातों के लिए जो आपका मन भीतर-ही-भीतर बहुत घूमता रहता है तो उस मन के घूमने में आपको तकलीफ होती कि नहीं? मन नहीं मानता, पर जो इतना मनका घूमना है इसमें कष्ट होता कि नहीं? आज इस समागम में कौन सा मौज मिल रहा है इसका भी तो निर्णय कर लो। तो बन्ध के हेतु तो ये रागद्वेष मोहभाव हैं भला राग हो तो, बुरा राग हो तो, बन्ध के सब कारण हैं।

कर्म की गिरफ्तारी में आने का कारण मोह राग द्वेष—देखो हाथी को पकड़ने वाले लोग जंगल में जहाँ हाथी रहते हैं वहाँ एक बड़ा गड्ढा खोदते हैं और उसके ऊपर पतली-पतली बाँस की खंपचे बिछाते हैं और उस पर जमीन जैसे रंग का कागज बिछाते हैं और उसके ऊपर हथिनी जैसे रंग में कागज की एक हथिनी बनाते हैं और कोई १००—५० हाथ की दूर पर एक हाथी बनाते हैं जो हथिनी की तरफ मुख किए तेजी से चलने जैसी शकल का बनाते हैं, वहाँ उस जंगल का हाथी आता है पहले तो वह उस हथिनी को दूर से देखता है उसमें उसे राग होता है, फिर उस दूर बने हुए हाथी को देखकर उससे द्वेष उत्पन्न होता है—अरे यह मेरी इष्ट हथिनी के लिए आ रहा है। यह सोचकर वह जंगल का हाथी और भी तेजी से आता है। उस हाथी को न तो गड्ढे का ज्ञान होता और न उस झूठी हथिनी का। फल यह होता है कि वह हाथी उस गड्ढे में गिर जाता है। शिकारियों के बन्धन में आ जाता है। फिर क्या करते हैं यह बात उनकी आगे की है, जैसे उसे कई दिन भूखा रखकर अशक्त बना देना, अंकुश से उसे वश करके बाहर निकाल लेना आदि, पर बात यह बतला रहे कि वह हाथी जो बन्धन में आया सो तीन बातों के कारण आया है पहले तो उसे अज्ञान था, मोह था, पता ही न था कि यहाँ गड्ढा है और कुछ थोड़ा बहुत दिमाग लगाता तो जानलेता। देखिये हाथी बड़ा समझदार जानवर होता है। एक जगह की बात है कि किसी तालाब के किनारे खड़ा हुआ एक हाथी पानी पी रहा था, तो पीछे से किसी मोटर वाले ने जान बूझकर हाथी को धक्का मार दिया। तो उस हाथी को वहाँ ऐसा गुस्सा आया कि उसने झट ड्राइवर को पकड़ना चाहा। ड्राइवर तो झट भागकर निकल गया, फिर उस हाथी ने मोटर के आगे जो एक सफेद डडांसा लगा रहता है उसे सूंढ से पकड़कर उठा कर उलट दिया। तो देखिये हाथी जानता तो बहुत कुछ है। तो वह जंगल का हाथी कुछ जानना चाहता तो जान सकता था कि यहाँ जंगल में गड्ढा है, धोखा है, वह धोखे की हथिनी है, इसमें में बँध जाऊंगा, पर मोह था तीव्र इस कारण वह उस ओर दृष्टि भी न कर सकता था। तो अज्ञान भी है, और तीसरे उस हाथी से द्वेष भी है। तो जैसे रागद्वेष मोह के कारण हाथी बँधा ऐसे ही रागद्वेष मोह के कारण यह जीव बँधा फिरता है। यहाँ एक बात और समझ लीजिए। द्वेष नाम किसका है? जिसको हमने यह समझा कि मेरे इन्द्रिय और मन के विषय में यह बाधा डाल रहा है उसी से द्वेष हो जाता है। जैसे हाथी ने यह समझा कि मेरी हथिनी के समागम में यह हाथी बाधा डालेगा, वह भी झूठ ही था लेकिन समझ तो यह रहा था सच्चा। तो विषय में जो बाधा डाले उससे हो जाता है जीव को द्वेष। तो विषय में सब आ गए ५, इन्द्रिय और मन। तो विषयों में बाधा डाले ऐसी जो कल्पना लगी उससे द्वेष हुआ। वस्तुतः कोई भी जीव किसी का विरोधी नहीं है। अपने जीवन में एक बात की परीक्षा करके देख लो, जिसको आप विरोधी समझ रहे हो, जरा उसके पास थोड़ा बैठ जाओ, थोड़ी बात करो तो वह विरोधी भी आपका उतना घनिष्ट मित्र हो जाएगा कि जो मित्र से भी बढ़कर हो

जाएगा। यह सोचना भ्रम है कि यह मेरा विरोधी है। अरे जीव-जीव सब एक समान हैं। यहाँ तो अपने मन के विषय में बाधक समझा। जिसे एक विरोधी मान लिया।

प्रशस्त कार्य के करने में उमंग की प्रशस्यता—अच्छा तो यह है कि जो काम करने योग्य है, सब जीवों के भले के लिए जो कुछ बातें करने योग्य है उन्हें करें। जो व्यर्थ की बातें हों याने जिनमें कुछ नुक्शान होता हो उन्हें न करना चाहिए। जिनसे कुछ आप का बिगड़ता है उन्हें भी न करना चाहिए। बताओ जिसे आपने अपना विरोधी माना उसके पास कषाय छोड़ कर बैठ जाने में आपका कुछ बिगड़ता है क्या? अरे बिगड़े की कुछ बात नहीं, लेकिन कषाय की ऐसी वेदना है कि ऐसी हठ करके आए हैं कि उस कषाय को छोड़ना नहीं चाहते। भला बतलाओ कषाय को छोड़ना नहीं चाहते और चाहते हैं कि मुझे शान्ति मिले तो कैसे शान्ति मिलेगी? बड़ा तो वही है जो कषाय के छोड़ने में विलम्ब न करे। हठ छोड़ने में विलम्ब न करे। जिसमें सबका भला हो, अपना भला हो ऐसी बात विचारने में करने में विलम्ब न करें। चाहे खुद का बिगाड़ हो जाए। एक बार की ऐसी घटना है कि किसी गाँव में कभी ऐसा रिवाज था कि जब कभी कोई पंगत की जाती थी तो वहाँ स्त्रियाँ भी पंगत में भोजन करती थी और भोजन करने के बाद वे अपने-अपने लोटे में एक दो लड्डू पेड़े रख ले जाया करती थी वहाँ के मुखिया ने एक बार पंचायत किया और कहा कि देखो अब ऐसा नियम बना दिया गया है सबके लिए कि पंगत में भोजन करने के बाद कोई भी स्त्री अपने लोटे में लड्डू पेड़े न चुरा कर ले जावे। जो स्त्री चुरा ले जाएगी उससे उचित जुर्माना लिया जाएगा। अब नियम तो बन गया गाँव में पर कोई स्त्री बिना चुराये माने नहीं। तो एक बार उस मुखिया ने स्वयं अपनी स्त्री से कहा—देखो तुम एक काम करो। क्या? एक लोटे में दो तीन लड्डू पेड़े रख लावो। रख लायी वह स्त्री। अब उस मुखिया ने फिर पँचायत की और कहा कि देखो यह मेरी स्त्री किसी पंगत से लड्डू पेड़े चुराकर लायी है इसलिए इस पर ११) जुर्माना किए जा रहे हैं। अब जो भी इस तरह से चोरी करते पकड़ी जाएगी उससे ११) जुर्माना लिए जाएंगे, देखिए—एक भले कार्य के लिए उसने अपनी स्त्री पर भी जुर्माना लगाना बुरा नहीं समझा। उससे तो और सारी स्त्रियों का सुधार हो गया। तो भाई भले काम के लिए ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायें छोड़ें। अच्छे काम करें। जिनमें भला हो। और अच्छे काम करके प्रसन्न रहें। तो बन्ध के कारण तो ये ही रागद्वेष मोह हैं, इनको ही आश्रव कहते हैं, और इन रागद्वेष मोह भावों के होने पर नवीन कर्मों का आश्रव होता है और बन्ध होता है। आश्रव किस तरह होता है, इसको बड़ी एक सूक्ष्म दृष्टि से कभी कहेंगे। कुछ समय बाद इस विषय में प्रकाश डालेंगे इस सूत्र के विवेचन के बीच में कि वह आश्रव चीज क्या है? क्यों होता है, कैसे होता है? अभी तो यह समझिये कि बन्ध का कारण आश्रव है इसलिए बन्ध हेतु का दिखाना जरूरी है कि उन आश्रवों को न करें तो बन्ध न होगा। इस तरह बन्ध का हेतु आश्रव भाव कहा। तो कितने तत्त्व हुए? आश्रव, बन्ध और मोक्ष। ठीक है। बन्ध का कारण है आश्रव।

संवर तत्त्व की श्रद्धा की आवश्यकता—मोक्ष के कारण भी तो बताने चाहिए कि जिन उपायों से चलकर हम मोक्ष को प्राप्त करें, क्योंकि आवश्यक है ना? जब हमें मोक्ष चाहिए तो मोक्ष के उपाय समझना आवश्यक है कि नहीं? तो मोक्ष के भी उपाय क्या हैं जिन उपायों पर चलकर हम मोक्ष पा सकें? तो मोक्ष के उपाय क्या हैं? एक साधारण सी बात है। कोई कर्जा में बहुत दब गया, बन्ध गया तो कर्ज से छूटने का उपाय क्या है? उपाय उसके दो हैं—(१) नया कर्जा लेना नहीं (२) पुराने कर्जे को थोड़ा-थोड़ा चुकाते रहना। वह कर्ज से छूट जाएगा ना। ठीक यही बात बन्धन की है। नया बन्ध करना नहीं और जो पहले बन्ध किए हुए है उसको थोड़ा-थोड़ा झाडते भी जाएं, मोक्ष हो जाएगा। कोई नाव तालाब में चल रही है। नाव में कोई छेद हो गया, उस छेद से पानी आने लगा और पानी आने से वह नाव वजनदार हुई और डूबने वाली हुई उस नाव को डूबने से बचाने का क्या उपाय है? उसमें जो पानी आया उसको मात्र उछाल-उछाल कर बाहर फेंकने से काम न चलेगा। पहले तो उस छिद्र को बन्द करना होगा जिससे पानी आता है। उसमें नया पानी आए नहीं और फिर जो पानी उस नाव में आ गया है उसे उछालकर निकाल दें, इस तरह नाव डूबने से बच जाएगी। तो इसी तरह जो बन्ध के कारण हैं उन्हें अब आने मत दें, इसको कहते हैं संवर और जो पहले बाँधे हुए कर्म हैं उनको थोड़ा-थोड़ा झड़ा दें इसको कहते हैं निर्जरा। इस तरह जो कोई संवर करें, निर्जरा करे उसको मोक्ष होगा ना। अवश्य होगा। संवर क्या कहलाता है? इसका विवेचन इसी मोक्षशास्त्र के ९ वें अध्याय में किया जाएगा, निर्जरा का भी वर्णन इसी अध्याय में विशेष रूप से किया जाएगा। संक्षेप में यह समझ लीजिए कि रागद्वेष मोह परिणाम न करना सो संवर। रागद्वेष मोह परिणाम न होने से जो कर्मों का आस्रवण नष्ट होता है उसको कहते हैं संवर।

निर्जरा तत्त्व की ज्ञातव्यता व श्रद्धेयता—पहले बाँधे हुए जो कर्म हैं उनका जो झड़ना होता है उसे कहते हैं निर्जरा। पुद्गल कर्म एक ऐसी फिलास्फी है और उसका ऐसा एक सत्य वर्णन है जैन सिद्धान्त में, कि उसकी समय-समय पर जो हालत होती है वह बताई गयी है, जो लोग ऐसा कहते कि कर्म तो एक उपचार निमित्त है, कह देवें पर बुद्धि पर आवरण है जरा कर्म काण्ड तो पढ़ो, जैन सिद्धान्त का आधा हिस्सा तो है कर्मकाण्ड और आधे में है बाकी सारा सिद्धान्त। इतनी बड़ी तो है कर्म—फिलास्फी। महाधवल पूरा है, जयधवल पूरा है। तो जिसका इतना बड़ा सिद्धान्त, उसका जानना चूँकि कठिन है, बड़ी बुद्धि लगानी पड़ती है। तो जब समझ में नहीं आता तो जैसे लोमड़ी अगर अंगूर पेड़ से पाने में न आएं तो वह इसी से सन्तोष करती है कि चलो खट्टे हैं अंगूर इसी तरह कर्मों की बात, कर्म काण्ड की बात उदय उदीरणा, सत्ता संक्रमणा, उत्कर्ष अपकर्ष, स्थापना निक्षेप, कैसे-कैसे होते हैं, कैसी स्थिति कैसा अनुभाग, बहुत बड़ा विषय है। विद्वत्ता तो इसी में है। छोटी-छोटी बातें कहने में कोई विद्वत्ता नहीं। जो कर्म फिलास्फी को बहुत ढंग से समझ चुका है विद्वत्ता तो वहाँ है,

पर कठिन है इसलिए कह दिया कि वहाँ कुछ नहीं है। वह तो परद्रव्य है, अरे ठीक तो है पर जिससे छुटकारा पाना है उसकी विशेष-विशेष बात जानें तो श्रद्धा में मजबूती आएगी। यहाँ पर द्रव्य तो ये रोटी दाल चावल वगैरह भी हैं। इन्हें आप क्यों नहीं छोड़ देते। नये-नये सिद्धान्त बनाते कि देखो सम्यग्दर्शन होने के लिए माँस छोड़ने की भी जरूरत नहीं, तो ये परद्रव्य न रहे और कर्म पर द्रव्य रहे जो कि आचार्यों का बहुत बड़ा सिद्धान्त है। अरे नहीं समझ में आता तो श्रद्धान तो करो कि कोई तत्त्व तो है। इस विषय में अधिक बोलना अभी तो प्रासंगिक नहीं कि उसके लिए तैयारी चाहिए सुनने की और उसको सुनने के लिए कम से कम और नहीं तो ५ वर्ष का अभ्यास चाहिए अध्ययन में, पढ़ने में जब इसकी बात बहुत कुछ समझ में नहीं आती है तो इतनी बात तो जानो कि ऐसे आत्म परिणाम और कर्म दशा में निमित्त नैमित्तिक भाव सम्बन्ध है कि आत्मा में विशुद्धि बढ़े तो बन्धे हुए कर्म जो आगे की स्थिति वाले हैं उनमें से कितना पहली स्थिति वाले में मिल जाएं, कितना अगली स्थिति में मिल जाएं। ऐसा उनका स्थिति घात होता, ऐसी उनकी शक्ति का घात होता, ये सारी बातें निर्जरा के प्रकरण में आती हैं। तो मोक्ष के उपाय में संवर और निर्जरा ये दो उपाय हैं इसलिए इनका कथन करना बहुत अवश्यक है।

पंच तत्त्वों का आधार—उक्त प्रकार से समझा होगा कि आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ५ तत्त्वों का जानना कितना आवश्यक है, किसको आवश्यक है? जीव को, तो उसे जीव भी तो समझना चाहिए। तो क्या जीव से अलग ही ये आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष हो गए? नहीं। किसका आश्रव? अजीव का आश्रव। उस अजीव को भी जानना चाहिए किसका बन्ध? अजीव का बन्ध। किसका संवर? अजीव का संवर? अजीव का संवर, किसकी निर्जरा? अजीव की निर्जरा। किसका मोक्ष? अजीव का मोक्ष। तो अजीव का मोक्ष हुआ, इसे कैसे छोड़ें? मोक्ष किसका हुआ? जीवका अरे तो क्या कर्म का नहीं हुआ? जीव और कर्म दोनों छूट गए तो छुटकारा तो दोनों को हो गया। संवर, निर्जरा आदि सभी दोनों में हुए। फर्क यह हुआ कि कर्म की निर्जरा होने पर उस जीव को कोई मजा नहीं आता। दूसरे—इन कर्मों का यदि मोक्ष हो जाए तो फिर भी वे कर्म बन्ध जाते हैं, क्योंकि कर्म का एक जीव से तो छुटकारा हो गया, अब कर्म में स्निग्ध रूक्ष गुण है। कर्मों का बन्ध स्निग्ध रूक्ष गुण से होता है। एक परमाणु हो फिर भी उस गुण के कारण वे कर्म बन्ध जाएंगे। जीव का मोक्ष हो गया तो रागद्वेष मोह मिट गए। अब पुनः बन्धन नहीं हो गया, तो रागद्वेष मोह भी न होंगे। ये रागद्वेष जीव के गुण तो हैं नहीं इसलिए वे मिटते हैं तो सदा के लिए मिट जाते हैं, वे फिर दुबारा नहीं आ सकते इसलिए जीव का सदा के लिए मोक्ष है, पर कर्म के लिए मोक्ष नहीं होता। कर्मों का छुटकारा हुआ कि वे संसार में रह रहे हैं, किसी दूसरे जीव के साथ चिपक जायगें। यों संवर निर्जरा, मोक्ष का उपाय ये सब बातें जीव, अजीव के सम्बन्ध में होती हैं इसलिए इन ७ तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यक्त्व कहा गया है।

सात तत्त्वों का प्राधान्य—अब इन ७ में से क्रम से स्वरूप वर्णन की ओर चलो। जीव तत्त्व। देखो जीव को दो दृष्टियों से निहारना (१) निश्चयदृष्टि से (२) व्यवहारदृष्टि से। निश्चयदृष्टि से तो यह जीव टँकोत्कीर्णवत् निश्चल एक ज्ञायक स्वभाव, अनादि, अनन्त, अहेतुक चित्प्रतिभास मात्र है ब्रह्मस्वरूप है, अखण्ड है, अभेद है, जिसको समझाने के लिए कोई वचन नहीं है फिर भी बोलते तो हैं ना इन शब्दों से, जिसकी समझ अनुभव कराता है, वचन नहीं करा सकते। उपदेश नहीं करा सकते। ठीक समझें पूरे समझें कि हाँ अब हम समझ गए। जैसे मिठाई की समझ तो चखना करायगा, उपदेश न करा सकेगा। ये रसगुल्ले हैं, छैना के बने हैं, इनमें अमुक-अमुक चीज पड़ी है, ये मीठे हैं, यों कोई कितना ही बोलता जाय, कुछ समझ तो जरूर रहा है तभी तो मुख में पानी आ जाता है, मगर बढ़िया समझ तब बनती है जब कि सारे रसगुल्ले मुख में रख लें। ऐसे ही इस अन्तस्तत्त्व की समझ कब बनेगी जब कि सारे विकल्प छूटकर अपने ही ज्ञान में उस ज्ञान मात्र का अनुभव जगता है, वहाँ समझ में आता। जब समझ में आता तब बोल नहीं सकते, और जब बोल रहे हैं तब समझ में नहीं है। बताओ कठिनाई आ गई कि नहीं जैसे लोग कहते हैं ना कि जो बहुत गर्जता है वह बरसता नहीं। इसे लोग यों भी कहते कि जो बहुत बढ़ बढ़कर बातें करता है वह कर कुछ नहीं सकता। केवल बोलना बोलना है। तो वचन पद्धति तो ऐसी है कि बोलते जाओ, उसमें समझ नहीं बैठी है। असली समझ वहाँ बैठी जब उसका दर्शन हो, अनुभूति हो। तो उसके लिए संकल्प बने, उसके लिए कमर कसकर चलें तो समझमें क्यों न आयेगा? देखो जो फर्म चलाने उसकी व्यवस्था करने आदि की बड़ी कठिन बातें हैं उनको आप आसानी से निपट ही लेते हैं फिर जो अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान करने का काम है उसमें कौन सी कठिनाई है। वह तो बहुत सरल है, मगर क्या वजह है कि कठिन बात तो सरल बन रही, यह तो उसके बायें हाथ का खेल और सरल बात कठिन बन रही है, क्यों ऐसा करते? अरे बाह्य पदार्थों के प्रति तो यह चिन्तन करें कि किसी भी पर पदार्थ पर मेरा रंच भी अधिकार नही, मेरा तो मात्र मैं ही हूँ। जरा पुण्य का योग है और मनचाही बात थोड़ी होती रहती है तो उसमें हम समझ लेते हैं कि हाँ यह मेरी वश की बात है। इसें मैं करता हूँ और अन्दर में तो देखो जरा कि यह आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप अपने आपके प्रदेशों में ही अपना परिणमन करने वाला क्या कर पाता है? अपना ज्ञान बनाया, अपना आनन्द बनाया, इसके अतिरिक्त बाहर जगत में कुछ करने में समर्थ है क्या? जैसे ५० मन बोझ से लदी गाड़ी को दो बैल खींच रहे। उसके पीछे दो तीन बच्चे गाड़ी ढकेलते। अब वे यह अभिमान करते हैं कि मैं इस गाड़ी को चलाता हूँ। जरा गाड़ी कहीं फंस गई तो वे बच्चे बड़ा जोर लगाते, हैरान होते, दुःखी होते—अरे गाड़ी क्यों नहीं चल रही? अरे क्यों दुःखी होते बच्चे? जब गाड़ी चल रही थी तब भी तो तुम नहीं चला रहे थे और जब गाड़ी खड़ी हो गई तब भी तुम नहीं चला सकते। तो इसी तरह जगत में जितने योगायोग हैं, जो कुछ आ रहा है वह

आपका पूर्वकृत पुण्य का उदय है, वैसा समागम मिल गया है, बन रहा क्रोध, चल रहा क्रोध, चल रही कषायें। आप तो केवल अपने आत्मप्रदेश में विकल्प के करने वाले हैं।

विनश्वर अहित भिन्न वैभव की उपेक्षा में ही लाभ–भैया ऐसा एक निर्णय बनायें कि मैं अपने आप में अपनी ही समस्या बनाता रहता हूँ, अपने का उलझाता रहता हूँ और मैं अपने आप में अपने आपको ही सुलझा सकूँगा। इन बाहरी पदार्थों के प्रति उदासीनता लावें। मिला है तो क्या? और जितना हमें मिला है यह व्यर्थ है जरूरत से कई गुना ज्यादा मिला है। ऐसा जरा मन में सोचो तो सही कि जरूरत से ज्यादा मिला है कि नहीं। अगर भली प्रकार सोचें तब तो मालूम पड़ जाए और ऊपरी-ऊपरी सोचो तब तो लगेगा कि जरूरत से ज्यादा कहाँ मिला? अभी तो इसमें बहुत कमी है। पर ऐसी बात नहीं है। इसकी अगर परख करना हो तो उन लोगों पर दृष्टि डाल लो जिनके पास आपसे १०० गुना कम है। उनका भी तो जीवन आखिर अच्छी तरह से बीत रहा है। तो जरूरत से ज्यादा है। अब आप यह सोच सोचकर अपने आपको हैरान करते रहते कि अभी तो इतना ही है, अब इतना हो जाए, फिर इतना हो जाए, फिर इतना हो जाए। अरे अपने दिल को इतना हैरान करके फायदा क्या पावोगे यहाँ से एक दिन चल बसोगे और अन्त में आपको मिलना कुछ है नहीं। तो यह जो इतनी हैरानी बनाया, इतना जो संक्लेश किया उसके फल में आपको व्यर्थ ही दुःख भोगना पड़ा। हाथ कुछ भी न आया। उसे एक दृष्टान्त में बताया है कि एक चोर राजा के घुड़साल से एक घोड़ा चुरा लाया, उसे एक बाजार में ले जाकर खड़ा कर दिया। ग्राहक आए पूछा–घोड़ा बेचोगे? . . . कितने में दोगे? ९००) में। . . . अरे इसमें ९००) की क्या बात? . . . अजी इसकी चाल बहुत बढ़िया है। अब था तो कोई ३००) का मगर ९००) कहा तो कौन खरीदे ९००) में, सो बहुत से ग्राहक लौट गए। मानलो १० ग्राहक लौट गए। अब एक ११वाँ ग्राहक आया। वह भी एक बड़ा पुराना चतुर चोर था। उसने पूछा–भाई घोड़ा बेचोगे? . . . हाँ हाँ बेचेंगे। . . . कितने में दोगे ! . . .९००) में। बस आवाज से परख लिया कि यह तो घोड़ा चोरी का मालूम होता है। सो कहा . . . भाई इसमें ९००) की क्या बात है ? . . . अजी इसकी चाल बड़ी सुन्दर है। . . . अच्छा मेरा यह हुक्का पकड़ो। मैं इस घोड़े पर बैठकर इसकी चाल देखूँगा। यदि इसकी चाल पसंद आ गयी तो मैं तुम्हें ९००) ही दूँगा। सो उसने तो मिट्टी का हुक्का अपने हाथ में पकड़ लिया, वह था कोई चवन्नी का (४ आने का) और वह बूढ़ा ग्राहक घोड़े पर बैठकर उसे कहीं का कहीं उड़ा ले गया। वह घोड़े वाला जहाँ का तहाँ आवाक सा खड़ा रह गया। उधर से वही ग्राहक निकले जो पहले आए थे। पूछा–भाई तुम्हारा घोड़ा बिक गया क्या? . . . हाँ बिक गया। . . . कितने में बिक गया? . . . जितने में लाए थे उतने में बिक गया। (यानी चोरी में लाए थे और चोरी में चला गया।) . . . मुनाफा क्या मिला? . . . मुनाफा में मिला यह चार आने का मिट्टी का हुक्का। तो भाई इन बाहरी चीजों से लगाव करके उनके पीछे हैरान मत हो।

उनसे लाभ कुछ भी न मिलेगा। बल्कि उनके फल में अन्त में पाप कर्म का बन्ध ही होगा, जिसके कारण संसार की असह्य यातनायें सहनी पड़ेंगी।

सप्त तत्त्व के कर्म का विलास—मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। इस विषय में यह जानने की इच्छा हुई कि तत्त्व कौन है? इस चतुर्थ सूत्र का अवतरण हुआ। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ ही क्यों हैं? इसका विवरण भली प्रकार हो गया, जिसे संक्षेप में यों कह सकते कि हम जीव हैं इसलिए जीव का सही श्रद्धान करना तो जरूरी है। इसका ही तो मोक्ष होना है। जिसको छुटकारा देना है उसका श्रद्धान होना तो आवश्यक है। अच्छा, किससे छुटकारा लेना है? जिससे छुटकारा लेना है उसका भी ज्ञान चाहिए। वह है अजीव, अच्छा, छुटकारा क्यों लेना है? हम बँधे हुए हैं, दुःख की स्थिति है। अपवित्र बात है, कष्ट की चीज है इसलिए बंध से छुटकारा लेना। तो बन्ध जानना चाहिए। वह बन्ध होता कैसे? जब बन्ध के निदान जाने जायेंगे तब ही तो चिकित्सा बन सकेगी। जैसे कोई वैद्य किसी रोगी की चिकित्सा करता है तो उसे यह जानना आवश्यक हो जाता है कि रोग क्यों हुआ? निदान क्या है? फिर उस निदान को वह बन्द कराता और चिकित्सा करता। तो पहले निदान जानना भी आवश्यक है, यह हुआ आश्रव। उस निदान की बात को रोके और फिर पहले बने हुए रोग को दूर करने की औषधि करे तब ही तो रोग से मुक्ति बन सकेगी। जैसे करते ही हैं बात कि जो अभक्ष्य की चीज है उसे मत खावो, यह तो हो गया संवर, और जो औषधि है, पहले का जो पेट में अजीर्ण पड़ा है उसको गलने के लिए औषधि दी जाती। तो निर्जरा तो हुयी औषधि और संवर हुआ अभक्ष्य-परिहार। इस तरह इस जीव को इस संसार रोग से मुक्ति मिलती है। इस तरह ७ तत्त्वों का क्रम बताकर अब जरा इसके स्वरूप पर विचार करें।

जीव-परिचय—जीव क्या है? तो देखो जीव का परिचय निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों से होगा? निश्चयनय से तो जीव है एक ज्ञायकस्वरूप अखण्ड चिन्मात्र जिसको कहने के लिए शब्द नहीं हैं, फिर भी शब्दों द्वारा कहा जाता है। शब्द द्वारा कौन समझेगा? जिसे कुछ अंदाजा है। तो यह तो है निश्चयनय का विषय, अखण्ड, एक चित्स्वरूप, ब्रह्म मात्र और व्यवहारनय का विषय क्या है कि उस ही अखण्ड जीव तत्त्व को भेद करके समझना सो भी व्यवहार है। देखो व्यवहार की संतान बहुत बड़ी है और यह समझो कि निश्चय तो बिना संतान का रहता है। जो वास्तविक निश्चय है, परम शुद्ध निश्चय है, अखण्ड है वह तो निःसंतान, अकेला है, और क्यों जी, बताओ संतान वाला होना अच्छा है कि निःसतान होना अच्छा है? तो यह तो अपनी-अपनी अलग-अलग बात है। निःसंतान एक अखण्ड अवक्तव्य, जिसका भेद नहीं है। इस प्रकरण में तो भाई निश्चयनय का आश्रय करके ही सम्यक्त्व बनेगा। व्यवहारनय साधन है और निश्चयनय साक्षात् है। व्यवहारनय साधन है। व्यवहारनय

है निश्चय का साधन और निश्चयनय है अनुभूति का साधन। यह अन्तर आया। इसमें विवाद की कहीं जरूरत नहीं है। व्यवहारनय बिना निश्चयनय के विषय को परिज्ञान न कर पाएंगे। निश्चयनय के विषय का ज्ञान करके, निश्चयनय का आश्रय करके रहियेगा। वह तो सम्यक्त्व का साधन बनेगा। भूतार्थनय से जाने गए जीवादि ७ तत्त्व सम्यक्त्व के कारण होते हैं, निश्चय से जानना यह सम्यक्त्व नहीं, किन्तु सम्यक्त्व का कारण है। तो निश्चय से क्या समझा? एक अखण्ड अभेद ज्ञानस्वरूप अब ऐसा ही कहते रहें निश्चय-निश्चय की ही बात बराबर दुहराते रहें तो किसी के कुछ समझ बनेगी क्या? कुछ समझ न आयेगी, कुछ धर्म की प्रवृत्ति चलेगी क्या? नहीं चल सकती। तब व्यवहारनय से जब भेद करके बताया कि जीवादि ७ तत्त्व हैं। देखो निश्चय और व्यवहार से अनेक जगह अपेक्षित हो जाते हैं। तब इसकी दो बातें रखी। अखण्ड ज्ञानस्वरूप और जीवादि ७ तत्त्व। तो इसमें निश्चय कौन है? अखण्ड ज्ञानस्वरूप। व्यवहार का क्या विषय है? जीवादि ७ तत्त्व। क्योंकि वह भेद करके कहा है। तो जीवादि ७ तत्त्वों को जानने पर ही तो जीव तत्त्व का बोध हो पायेगा। जो परमार्थ का विषयभूत है, जो ७ तत्त्वों में रहता हो वह अपनी अखण्डता को नहीं छोड़ता। उसे तो शुद्ध जीव तत्त्व कहते हैं कि व्यवहार हेय है। अरे व्यवहार हेय है तो निश्चय भी हेय है। अच्छा, तो निश्चय की बात, परमार्थ की बात, अनुभूति के लिए उद्यम करने में निश्चय ही उपादेय है।

व्यवहार का अविरोध करके निश्चय का अवलम्बन कर अखण्ड तत्त्व के परिचय की गति—निश्चय की बात समझने के लिए व्यवहार भी उपादेय है। यह सब तथ्य है। एकान्त ही गड़बड़ करता है। जैसे मन्दिर पर चढ़ेंगे जहाँ मानों १२ सीढ़ियाँ हैं, तो उस मन्दिर में आप किस तरह चढ़ पाते हैं सो तो बताओ? सीढ़ियाँ पकड़कर चढ़ें कि छोड़कर? मन्दिर के ऊपर आप पहुँचेंगे तो सीढ़ी पकड़कर या छोड़कर। किसी ने कहा—छोड़कर। . . . अच्छा ठीक है, लेकिन एक आदमी नीचे खड़ा है और वह कहता है कि सीढ़ी छोड़कर ऊपर चढ़ सकते हैं तो फिर हम तो पहले से ही छोड़े रहेंगे, चढ़ जाएंगे, तो वह चढ़ जाएगा क्या? नहीं चढ़ सकता। तो एकान्त से यह उत्तर देना कि सीढ़ी छोड़कर ही चढ़ेंगे तो यह उत्तर सही न रहे। तो फिर कोई कहे कि यह सही न रहा तो फिर यह कह लोकि सीढ़ी पकड़ कर ही चढ़ेंगे तो कोई पहली ही सीढ़ी पर चढ़े और उसे ही पकड़कर वह रह जाए तो क्या वह चढ़ जाएगा? नहीं चढ़ सकता। तो एकान्त में वह सफलता में नही बढ़ सकता। तो कैसे चढ़ेगा? पकड़कर छोड़ना, ग्रहण करके छोड़ना, इस तरह से चढेंगे तो ऊपर चढ़ जाएंगे। पहली सीढ़ी को ग्रहण किया, उस पर चढ़े, फिर दूसरी सीढ़ी को ग्रहण किया, उसे छोड़ा, फिर तीसरी सीढ़ी को ग्रहण किया उसे छोड़ा, इस तरह हर सीढ़ी को ग्रहण करे फिर छोड़े इस तरह से वह ऊपर चढ़ जाएगा। तो ऐसे ही समझिए कि जो लोग यह कहते कि व्यवहार तो हेय है, हम तो पहले से ही छोड़कर रहेंगे, तो क्या वह पार पा सकेगा? और कोई कहे कि व्यवहार

से ही पार होता है तो हम तो व्यवहार को पकड़कर ही रह जाएंगे। हम तो इस व्यवहार को न छोड़ेंगे, तो क्या वह मुक्ति पा लेगा? नहीं पा सकता। तो उसकी पद्धति यह है कि व्यवहार को ग्रहण करके छोड़ना, उसे छोड़ेंगे तो मिलेगा निश्चयनय, और निश्चयनय को पकड़कर छोड़ेंगे तो मिलेगी अनुभूति। उसके प्रसाद से मुक्ति प्राप्त होती है। तो जीवादि ७ तत्त्व कहे गए हैं व्यवहार से और निश्चय से एक ही तत्त्व है, अखण्ड, एक, अभेद, अवक्तव्य। एक शुद्ध ज्ञायक स्वभाव।

व्यवहार बिना परमार्थ की अगम्यता:—देखो किसी भी चीज को अगर कहेंगे तो कहने के साथ ही उसमें भेद हो जाते हैं। करें क्या? अच्छा उस अखण्ड निश्चयनय के विषय से बतलाओ तो सही, ज्ञायकभाव, अरे तो ज्ञायकभाव का क्या अर्थ है? ज्ञायक मायने जानने वाला, तो यह इसके ज्ञान को ही तो कहा, फिर कैसे वह अखण्ड हो गया? आत्मा अनन्त गुणात्मक है। उनमें से हमने एक ज्ञान को लिया तो अखण्ड कैसे लिया? तो भाई कोई चारा नहीं है व्यवहार को छोड़कर निश्चय को बताने का कोई साधन नहीं है। कुछ तो मुख से बोलना ही पड़ेगा। कुछ बोला तो चलो वह एक धातु का शब्द है, वह एक अर्थ को ही बतायेगा और हैं अनेक अर्थ, अनेक स्वरूप, अनेक गुण। तो व्यवहार से भले ही एक शब्द द्वारा कहा है मगर यह तो सब इस ज्ञानी की कला है। अपने अभिप्राय में समग्र वस्तु को लावो। देखिए अभिप्राय की बड़ी कीमत होती है। लोकव्यवहार में भी अगर माँ किसी कारण से अपने बच्चे को कुछ भला बुरा भी कह दे, पीट दे तो भी उसका अभिप्राय निर्मल ही रहता है। मानो बच्चा छत की मुंडेरी पर दौड़ रहा हो जहाँ से जरा भी पैर फिसले तो गिर कर मर जाए। तो उसे वह माँ गुस्से में आकर थप्पड़ भी मारती है और भला बुरा भी कहती है। अब उस माँ का अभिप्राय तो उस बच्चे के हित का ही है इसलिए उस माँ को कोई बुरा तो नहीं कहता? अगर कोई दूसरा उस बच्चे के साथ वैसा ही व्यवहार कर दे तो लोग उसे बुरा कहेंगे। तो इस अभिप्राय की बड़ी कीमत है तो जिसका प्रमाण का अभिप्राय है वह निश्चयनय की बात को ही एकदम बोले इसमें दोष नहीं है। इसीलिए प्रवचनसार में लिखा है कि जो पुरुष पर द्रव्य का प्रतिपादन करने वाले व्यवहारनय का विरोध न करके मध्यस्थ हो और निश्चय का आलम्बन लेकर मोह को दूर करे वह पुरुष उस शुद्ध आत्मा को प्राप्त कर सकता है। कितना नपे तुले शब्द हैं एक आध्यात्मिक महर्षि के।

शुद्ध जीवत्व—इस समय ७ तत्त्वों को बताने वाले व्यवहारनय का विरोध न करके मध्यस्थ होकर आज निश्चयनय की बात को सुनो। देखिए–भूतार्थ का आश्रय करने वाले जीव ही सम्यक्त्व पाते हैं, और भूतार्थ से ही इन ७ तत्त्वों को जाने तो सम्यक्त्व प्राप्त होता है। ७ तत्त्वों को जानें अनेक प्रकार से जानें और जानकर उनका मोड़ ऐसा बनायें कि भूतार्थ का आश्रय हो जाए। जैसे जब जीव को जाना, ये नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव, कीड़े मकोड़े

ये जीव हैं, व्यवहार से जाना पर द्रव्य उपाधि और उसका सन्निधान पाकर औपाधिक भाव के रूप में समझा, जाना। अब इस ही जीवतत्त्व को भूतार्थ में ढालकर तो देखिए ये सब जीव क्या हैं मूल में? एक ज्ञानस्वरूप अखण्ड, एक ज्ञायकस्वरूप। वह ही मूल है। और सब पर्यायों में चलकर भी अपने उस एक मूल चैतन्यभाव को कोई भी नहीं छोड़ सकता। तो इन सबमें भूतार्थ से देखें तो एक ही शुद्ध ज्ञानमात्र शाश्वत अन्तः प्रकाशमान वह जीव है, वह जीव का स्वरूप कह रहे हैं। देखो वह जीव न तो कषायसहित है और न कषायरहित है। जीव का स्वरूप क्या? जीव न कषायसहित है और न कषायरहित है, किन्तु ज्ञानमात्र, इसमें भी भेद पड़ गया तो यों सोचो, जो जाना गया सो ही है वह। इस समय आपकी जिज्ञासा हो रही हो कि जीव कषायसहित नहीं है, जीव का स्वरूप कषायसहित होना नहीं, यह बात तो ध्यान में आ रही होगी, क्योंकि कषाय अशुचि है, अपवित्र है, और नैमित्तिक है वह स्वरूप नहीं है जीव का। कषायसहित होना जीव का स्वरूप नहीं। पर यह कैसे कहा गया कि कषायरहित होना जीव का स्वरूप नहीं, चित्त में बात आ रही होगी। एक बात आपसे यहीं पूछते हैं—बताओ यह चौकी जिसपर कूड़ा पड़ा, है, बीट पड़ी है, इसका स्वरूप क्या है? बीटसहित होना चौकी का स्वरूप है या बीटरहित होना चौकी का स्वरूप है? कचड़ा सहित होना जीव का स्वरूप है या कचड़ा रहित होना जीव का स्वरूप है? यह बात तो जल्दी कही जा सकती कि बीटसहित होना चौकी का स्वरूप नहीं, लेकिन कचड़ारहित होना भी जीव का स्वरूप नहीं। बीटरहित होना भी चौकी का स्वरूप नहीं। बीटरहित कहकर तो आपने चौकी की कोई बात बतायी क्या? चौकी की निज की बात तो कुछ नहीं कही। यह ही तो कहा कि बीट से रहित। चौकी की निज की मूल काठ की बात तो इस में कुछ नहीं आयी, तो कहाँ बना चौकी का स्वरूप? एक बात अब जरा यहाँ देखिए—कषायसहित होना जीव का स्वरूप नहीं। इसको समझने के लिए ज्यादा कहने की आवश्यकता नहीं पड़ती। पर कषायरहित होना जीव का स्वरूप है तो कषायरहित कहकर आपने जीव की, गाँठ की, मूल की कोई चीज कहा क्या? जीव की मूल की, गाँठ की कोई चीज आपने नहीं कहा। आपने तो एक परभाव, कषाय, दूसरी बात जो शुद्ध तत्त्व के देखने का अनुरागी है, शुद्ध जीवतत्त्व के मायने पर्याय की शुद्धि की बात नहीं कह रहे, किन्तु पर से रहित और निज में तन्मय, उसे कहते हैं शुद्ध (आज का विषय ध्यान से सुनो, जितना बने ध्यान लगाओ) हम उस शुद्ध जीव की बात कह रहे कि जैसे आप किसी को शुद्ध दूध कहते हैं। किसको? चाहे जूता पहनकर दूध दुहा गया हो, चाहे बिना नहाये दुहा गया हो, चाहे बछड़े के चूसे थनों के बिना धोये दुहा गया हो, जिसमें पानी की एक बूँद भी न मिली हो उस दूध को शुद्ध दूध कहते हैं। हम यहाँ व्रतियों के शुद्ध दूध की बात नहीं कह रहे, हम कह रहे पदार्थ की शुद्धि की बात। पदार्थ में न कुछ जोड़ा जाए न कुछ तोड़ा जाए, जोड़ तोड़ से रहित

का वर्णन शुद्ध वर्णन है। अगर उस दूध में पानी मिल जाए तो वह अशुद्ध हो गया। (द्रव्य दृष्टि से शुद्धि की बात कह रहे हैं)। उस दूध का क्रीम, मक्खन मशीन से निकाल दिया जाए तो वह भी दूध अशुद्ध है क्योंकि उस दूध में पानी जुड़ा तो अशुद्ध, सार निकाल लिया तो अशुद्ध, ऐसे शुद्ध की बात कह रहे हैं, ऐसे शुद्ध जीव को यहाँ निरखना चाहिए। मगर कुछ नादान लोग जरा-सी बात सोचकर कहने लगते कि मैं तो सिद्ध शुद्ध हो गया। देखते हैं कि कौन सी शुद्धि है। जैसा चाहे काम करना, उसमें बाधा न आए ऐसा शुद्ध मानते हैं तो कहते हैं कि मैं तो सिद्ध समान शुद्ध हूँ। अरे सिद्ध समान शुद्ध हो, मगर उस सिद्ध में जो पर्याय शुद्ध हुई उसके समान शुद्ध नहीं, किन्तु उस सिद्ध में जो जीवत्वभाव है द्रव्य दृष्टि की. उसके माफिक शुद्ध है। तो दृष्टि से निरखने की बात अलग है।

निज अन्तः स्वभाव (शुद्ध स्वभाव) के आश्रय से शुद्धता का विकास—अब एक समस्या आ जाती है कि अशुद्ध पर्याय का आलम्बन लेने से तो शुद्धि प्रकट नहीं हो सकती। अशुद्ध पर्याय, रागद्वेषादि भावों का सहारा लेने से, उसको दृष्टि में रखने से तो शुद्ध पर्याय प्रकट नहीं होती, इतना तो ठीक है, और शुद्ध अभी हम हैं नहीं, और जो शुद्ध है सिद्ध भगवान, अरहंत भगवान, वह हैं परद्रव्य। वह बहुत दूर रहते हैं, अपने प्रदेशों में रहते हैं, उनका आश्रय हमकर सकते नहीं तो शुद्ध होने का और उपाय क्या रहा? देखिए तीन बातें सामने आती हैं, मैं वर्तमान में अशुद्ध हूँ। रागद्वेषादि होते हैं तो अशुद्ध का सहारा लेने से शुद्धता न प्रकट होगी। शुद्ध मैं अभी हुआ नहीं, और, जो शुद्ध हैं अरहंत सिद्ध वे हैं परद्रव्य। जैसे आप हमसे अलग हैं, मैं आपसे अलग हूँ सारी एक चीजें तो न होंगी एक द्रव्य तो नहीं हैं, ऐसे ही अरहंत सिद्ध भी पर जीव हैं, परद्रव्य हैं, उनका आश्रय नहीं लिया जा सकता, क्योंकि एक वस्तु पर वस्तु का न कर्त्ता है और न व्याप्य व्यापक भाव है, उससे कोई सम्बंध नहीं बनता। तो कैसे शुद्धि मिले? यों शुद्धि मिले कि अपने आप में जो द्रव्य दृष्टि की शुद्धि है उसको ज्ञान में लेने का अधिक प्रयास करें। उसके लक्ष्य से, उसकी दृष्टि से, उसके आश्रय से ही शुद्धि प्रकट हो जाती है। उस द्रव्य शुद्धि की बात कह रहे हैं। वह शुद्ध द्रव्य देखना है। ७ तत्त्वों की बात जानो, इन ७ तत्त्वों के परिचय से बहुत सहारा मिलता, हमें उस शुद्ध भूतार्थ तक ये परिचय पहुँचाते हैं।

निश्चयनय व व्यवहारनय का उपकार जीवों में सार जीवत्व का प्रकाश—अच्छा देखिये निश्चयनय के आश्रय का महान उपकार है। है, पर उस व्यवहारनय का उपकार तो समझिए जरा। जैसे कोई माँ अपने बच्चे को जिन्दा रखकर खुद मरकर अगर कोई बच्चा जिन्दा रहता है तो माँ अपने प्राण दे तो माँ का उपकार है कि नहीं? तो व्यवहारनय ऐसी ही माँ है कि निश्चय का मार्ग दिखा कर निश्चय के विषय को जताकर यह व्यवहारनय खुद मर जाता है, तो जो अपना नाश करके निश्चय और अनुभूतिका मार्ग साफ करा दे उस मर मिटने वाले व्यवहारनय में कुछ बात नहीं है क्या? व्यवहारनय सब कुछ काम कराकर

निश्चयनय का और ज्ञान कराकर खुद मर मिटता है, फिर रह जाता है निश्चयनय। और, यह निश्चयनय भी जब अनुभूतिका योग्य पात्र बन गया और अनुभूति में आने लगा तो निश्चयनय भी मर जाता है। दोनों नयों से छुट्टी होती है उस समयसार तत्त्व की अनुभूति में तो क्या कह रहे थे? हाँ जीव को देखें, जीव में जीव यानी व्यवहार से समझे गए जो अनेक प्रकार के जीव समास, गति इन्द्रिय आदि से जो हमने जाना उन जीवों में भी जीव तो यह है एक अखण्ड ज्ञायक स्वरूप।

अजीव में जीवत्व का प्रकाश—परखिए अजीव में जीव। अजीव बाहरी चीज हैं ना, अजीव कर्म हैं ना? है। और कर्म का निमित्त पाकर जो झांकी हुई है विपाक की, वह भी तो अजीव है। जीव की परिणति है, मगर भूतार्थ का आश्रय कर रहे हैं वह अजीव, रागद्वेष उठते हैं वे भी अजीव, जो आपके विषय हैं, विवेक उठ रहे हैं, युक्ति चल रही है। तर्क उठ रहे हैं, ये अजीव हैं। अरे तो जीव क्या है? अरे इस अजीव में भी जीव देखें तो सही। यह जीव नहीं। जीव तो स्वयं वह है जो स्वयं अपने आपका सत्त्व रखता है। ये विचार विकल्प तर्क युक्तियाँ, ये हमारे ज्ञान, ये स्वतन्त्र निरपेक्ष अपना सत्त्व रख पाते है क्या? ज्ञानावरण का क्षयोपशम निमित्त है, अन्य-अन्य बातों का उदय निमित्त हैं। कुछ देखें तो सही, इस अजीव में भी जीव। अच्छा एक चीज और भी निरख सकते। देखो जिस बात के समझने से, निरखने से अपने को कोई हानि की बात प्राप्त होती हो, वह सब निरखी जा सकती है, एकीभाव स्तोत्र में यह बताया गया है कि हे भगवन! हम आपका स्तवन कर रहे हैं और स्तवन करते हुए मानो यह मालूम हो रहा कि मैं तुममें ही प्रविष्ट हो रहा हूँ। सो यद्यपि यह बात मिथ्या है, मैं तुममें प्रविष्ट नहीं होता मगर जिस समय मेरा यह भाव बनता है कि मैं तुममें ही प्रविष्ट हो गया हूँ उस समय मेरा हित हो जाता है। तो मिथ्या होने पर भी हमारे कल्याण के काम तो आ गई हमारी बात। यद्यपि ऐसा नहीं होता, लेकिन आप में मैं प्रविष्ट होता हूँ ऐसा जो परिणाम हुआ यह परिणाम एक बड़ा सन्तोष उत्पन्न करता है और एक शान्ति देने वाला है। अच्छा, जरा देखो तो अजीव में जीव। अब यह दूसरी बात एक इससे पृथक् कह रहे। कर्म अजीव हैं ना? तो उसमें अनुभाग पड़ा है ना? हाँ पड़ा है। और जब उन कर्म का उदयकाल आता है और उसका अनुभाग खिरता है उस समय ऐसा लगता है कि मानो इस अजीव में भी जान आ गई। तो यह सब ज्ञान उसका है। यह सब खाता जो जीव में झलका है क्रोध, मान, माया, लोभ, विकार, कषायें वे सब अजीव की हैं। कर्म की हैं। वहाँ ले जावो उनको, वहाँ छोड़ो। और अपने आप में विशुद्धि लावो। देखो जीव को इन सब व्यवहार जीवों में रहने वाला शाश्वत एक जीवत्व भाव ज्ञानमात्र ज्ञायकभाव। अखण्ड भाव देखो बड़ा फर्क पड़ता है। भेद दृष्टि के व अभेद दृष्टि के परिणाम में जिस समय आप मानो हलुवा खा रहे हैं तो उस समय आप यदि यह ज्ञान कर रहे हैं कि इसमें इतनी शक्कर पड़ी है, इतना घी पड़ा है, खूब सिका है . . . आदि नाना प्रकार के विकल्प करते हैं तो उस

समय आपको विशेष स्वाद नहीं मालूम होता, और जिस समय आप अपनी आँखें मींचकर उसके प्रति बिना किसी प्रकार के विकल्प किए जब आप एक चित्त होकर डटकर खाते हैं तो उस समय आपको विशेष स्वाद मालूम होता है। तो ऐसी ही बात इस जीव तत्त्व की है। जब हम इस जीव तत्त्व के बारे में गुण भेद करके, पर्याय भेद करके देखते हैं तब हमें उस जीव तत्त्व का यथार्थ स्वाद नहीं आ पाता। वह अनुभूति नहीं जगती, और जब भेद गुण पर्याय, सबके विकल्प छोड़कर एक सहज भाव से अपने आप में जो एक शान्ति होती है, परिणति होती है, उसमें उस अखण्ड तत्त्व का पूरा स्वाद कहो, अनुभूति कहो, परिचय कहो, वह सब कुछ हो जाता है। तो उस जीव तत्त्व की बात कह रहे। जीव में जीव, अजीव में जीव, और आश्रव में जीव। आज का विषय कुछ कठिन पड़ रहा होगा और कठिन भी नहीं है। क्योंकि बात तो खुद की है।

निज अन्तस्तत्त्व के सिवाय अन्य सब भावों की अशक्यता—यहाँ प्रयोजन इतना लेना है कि हमने सबको देखा, सबका सहारा लिया, सबको शरण माना, सबका आश्रय लिया, मगर बाहर में सबका आश्रय लेने में हमको धोखा ही धोखा रहा। पहले सोचा था कि यह मेरा छोटा बच्चा जो गोद में है, जिसका मुख देखकर खुश हो रहे थे, सोचा था कि यह बड़ा होगा तो यह मुझे सुख देगा, मुझे बुढ़ापे में यह काम देगा और जब वह बड़ा हो गया तो इच्छा कषाय तो सबकी अपनी-अपनी हैं ना, उसे अपनी फिकर रहेगी कि दूसरों की। गुरू जी एक घटना सुनाते थे कि एक नदी के किनारे किसी पेड़ पर बांदरी (बंदरिया) अपने बच्चे को लिए हुए बैठी थी। नदी में एकाएक ही ऐसी बाढ़ आयी कि वह पेड़ भी पानी से घिर गया। धीरे-धीरे वह पेड़ भी डूबने लगा। वह बांदरी अपने बच्चे को अपने पेट में चिपकाये हुए थी। देखो दृष्टान्तों में सबसे अधिक मोह बांदरी का दिया जाता है। उसे अपने बच्चे से इतना मोह होता है कि मरे हुए बच्चे को भी काफी दिनों तक अपने पेट में चिपकाए रहती है। तो उस बांदरी की बात कह रहे हैं। नदी में पानी इतना बढ़ गया कि बचने की कुछ आशा न रही। तो अपने प्राणों की रक्षा के लिए उस बांदरी ने क्या किया कि अपने बच्चे को उस जगह रखकर उसके ऊपर स्वयं खड़ी हो गई। तो यही बात सबके लिए समझो सबको अपनी-अपनी पड़ी है, दूसरे की किसे पड़ी? जब वह बेटा माँ की मदद नहीं करता तो वह आशा करने वाली माँ बहुत दुःखी होती। हाय मैंने व्यर्थ ही जिन्दगी गुजारी, अब क्या हो रहा? उसे ज्ञान हो गया कि हमने तो अपने मोह में जिन्दगी गुजारी, अपने में विकल्प किया, अपने में राग किया, अपने में मोह किया, अपने को बरबाद किया। इस बच्चे के पुण्य का उदय था। हम न मिलते तो इसकी सेवा के लिए और कोई मिलता। किसका कौन पालन हार है। मैं तो अपनी ही परिणतियों को बनाता जाता हूँ। मैं दूसरे पर कोई एहसान नहीं कर पाता। विकार करता हूँ तो अपना, उपकार हूँ तो अपना ही करता, धर्मध्यान करता हूँ तो अपना ही करता। दूसरों के लिए मैं कुछ नहीं करता। ऐसा जो कोई सोचे उसका दुःख दूर

हो जाएगा। अनेक पर का सहारा लिया मगर किसी भी सहारे में अपने आपको कोई शान्ति प्राप्त नहीं हुई। तब क्या करना? अरे उस अरहंत का सहारा लें, उस अपने आपमें बसने वाले भगवान आत्मा का सहारा लें, जिसका सहारा लेने से कर्म कलंक सदा के लिए मिट जायेंगे, मुक्ति का लाभ होगा। तो भाई परमार्थ निश्चय का सहारालेने वाला तो जरूर ही जग से पार हो जाता है। अगर निश्चय का सहारा लेने योग्य बनें तो उस निश्चय का सहारा लेने योग्य बनने के लिए यह व्यवहारनय काम करता है। तो व्यवहारनय से कहे गए इन जीवादि ७ तत्त्वों में से परमार्थ तथा जीव तत्त्वों को परखने की बात है, उसका आश्रय लो। देखो गप्प में तो कुछ मिलेगा नहीं, यानी बोलने वाला ही गप्पी हो सो बात नहीं, सुनने वाले भी गप्पी हैं। यह ख्याल न करें कि सिर्फ कहने वाला ही गप्पी है, सुनने वाला भी गप्पी है। तो गप्प में तो कुछ काम बनेगा नहीं। साहस बनाना होगा कि जब मेरे को मेरा शरीर भी कुछ नहीं है। तो अन्य वस्तु में मेरे को मेरी क्या है? कुछ भी नहीं है। उस ओर की उमंग छोड़ें। गृहस्थ हो तो जो सहज होता है अपना कर्त्तव्य करो मगर उसमें मुग्ध मत होवो।

आस्रव तत्त्व का परिचय—भूतार्थ विधि से ७ तत्त्वों का निरखना सम्यक्त्व का कारण होता है। इन सात तत्त्वों में से भूतार्थ विधि को जीव और अजीव के सम्बन्ध में कहा गया था, आज आस्रव के सम्बन्ध में सुनो। चर्चा चाहे थोड़ी लगे, मगर जितना दिमागी बल है एक चिन्तन का बल, सबको जोड़कर के इस बात को सुनो। यह बड़े काम की बात है। यह जीव कष्ट सहता फिर रहा है। एक बार भी कष्ट से छूटने की विधि जान लूं, उसकी श्रद्धा हो जाए, फिर इस पर कोई जोर न पड़ेगा। सब बातें सहज आसानी से होती चली जाएंगी। पर एक बार मार्ग तो देखलें। आश्रव तत्त्व है बन्ध का उपाय, लेकिन बन्ध के उपाय को सही तौर से अगर जानें तो मोक्ष के उपाय का मार्ग मिल जाता है। आश्रव के मायने हैं कर्म का आना, कर्म का प्रकट होना। जहाँ था वहीं कर्मत्व की झांकी हो गई, दर्शन हो गया, चूकर आ गया, उसका नाम है आश्रव। आश्रव को हम तीन विधियों में देखें। (१) भावाश्रव, (२) द्रव्याश्रव (३) उभयाश्रव। भावाश्रव के मायने यह है कि जीव स्वयं तो है स्वच्छ ज्ञानस्वरूप, ज्ञानानन्दमय पवित्र, ऐसी शक्ति वाला है। उस स्वभाव में विभाव के आने को भावाश्रव कहते हैं। जब भावाश्रव लदा हुआ है तो हमें स्वभाव की सुध या मग्नता नहीं हो पाती। यों समझिये एक दृष्टांत लो कि दर्पण के सामने लाल कपड़ा किया तो वहाँ कहने में ३ बातें आयीं (१) कपड़े में लालिमा आयी (२) दर्पण में लालिमा आयी और (३) थोड़ा यह भी कह सकेंगे कि दर्पण में कपड़े की लालिमा आयी। यद्यपि यह बात अधिक नहीं फबती, क्योंकि एक क्षेत्रावगाह नहीं है। यह अन्तर है इस दृष्टान्त में, मगर तीन बातें समझने को मिल रही हैं। कपड़ें की लाली, दर्पण की लाली, और दर्पण में कपड़े की लाली। तीसरी बात पूर्ण व्यक्त दृष्टान्त में न आएगी। उसका कारण है जीव और कर्मका एक क्षेत्रावगाह और दर्पण का और कपड़े का एक क्षेत्रावगाह नहीं है, पर एक अन्दाज के लिए दृष्टान्त दिया है। इसी

तरह आत्मा में देखो एक तो आत्मा में राग हुआ और एक कर्म में राग आया और एक जीव में कर्मराग आया। तो जीव में कर्म राग आये यह तो एक क्षेत्रावगाह बन्धन व निमित्त नैमित्तिक भाव व विषय विषयी भाव की अपेक्षा बात है। कहीं जीव के स्वरूप में कर्म का प्रवेश न होगा। स्वरूप में प्रवेश होने का अर्थ तादात्म्य है और प्रदेश में आ जाने का अर्थ एक क्षेत्रावगाह है। जैसे एक कनस्तर राख धरी है और उसमें पानी डाल दिया तो पानी का राख में प्रवेश हो गया, मायने राख के प्रदेश के आजू बाजू प्रवेश हो गया मगर राख के स्वरूप में पानी का प्रवेश नहीं, तो इसी प्रकार जीव के स्वरूप में कर्म का प्रवेश नहीं है। कर्म अपने स्वरूप में हैं, जीव अपने स्वरूप में है, मगर प्रदेश में प्रदेश है, मायने एक क्षेत्रावगाह है। जिस स्थान पर जीव है उसी स्थान पर कर्म है, यह एक क्षेत्रावगाह है। वहाँ प्रदेश में भी प्रदेश नहीं है मगर जिस आकाश प्रदेश में जीव है उसी आकाश प्रदेश में जीव के साथ कर्म भी चलते हैं। तो जीव में रागद्वेष भाव के आने का नाम भावाश्रव और कर्म में रागद्वेष प्रकृति अनुभाग आने का नाम द्रव्याश्रव और जीव में कर्म के आने का नाम है उभयाश्रव। तो जीव में रागद्वेष आए।

भूतार्थविधि से आस्रव की निरख—अब भूतार्थ विधि से निरखते हैं, जीव में रागद्वेष भाव आया, वह रागद्वेष जीव की परिणति में आया, इस परिणति का स्रोत क्या है? क्या यह परिणति कर्म से आयी है? जीव की जो रागपरिणति है क्या वह कर्म से आयी है? नहीं। कहाँ से आयी? जीव से ही आयी, जीव से ही वह निकली। तो देखते-देखते जो निकले उसे गौण कर दो, जहाँ से निकले उसे मुख्य बना लो। इसे कहते हैं भूतार्थ विधि निकला क्या? रागद्वेष वह हुआ गौण! कहाँ से निकला? जीव से। वह कर दो मुख्य। और फिर उस जीव में भी यह विचारें कि यहाँ वह वास्तविक मूल जीव क्या है? यों भूतार्थ विधि से स्वभाव को भी देखते हैं तो स्वभाव दृष्टि का मौका मिल जाता है। कर्म में कर्म का कर्मत्व आना आस्रव है। वह आस्रव जीव से नहीं आया, कर्म से आया, तो वह कर्म क्या है? किसी लड़के का जब आप परिचय करते हैं तो पूछते हैं कि भाई आपका नाम क्या है? . . . अमुकचन्द . . . आप किसके लड़के हैं? ऐसा पूछने में "किसके" यह शब्द मुख्य हो जाएगा और "लड़के" शब्द गौण हो जाएगा। आपका नाम है दीपचन्द, और आप किसके लड़के? प्रकाशचन्द के। तो प्रकाशचन्द उसकी दृष्टि में मुख्य बना ना, तो इसी तरह आश्रव राग आया। किससे आया? जीवसे आया, कर्म से नहीं आया। तो जीव मुख्य हो गया। देखो— भूतार्थ विधि से पर्यायों को भी देखा जाएगा तो पर्याय गौण हो जायेगी और द्रव्य मुख्य हो जाएगा। फिर उस द्रव्य में भी स्वभाव की निरख होगी। शब्द तो वही हैं जो आप रोज सुनते हैं। शब्द कठिन नहीं हैं, और बात भी खूब आत्मा की, आपके निज के घर की चल रही है। लोक में तो यह कहते कि आपको मेरे घर से क्या मतलब? आप और बात करेंगे। आपको मेरे घर की बात करने का क्या अधिकार? लेकिन कोई दूसरे के घर

की बात करता ही नहीं, जब करेगा तो अपने घर की करेगा। जब घर की खोटी बात करता है तब दुःखी होता है और जब घर की अच्छी बात करता है तब सुखी होता है। यह आत्मा जो कुछ कर सकेगा वह अपने घर की कर सकेगा। घर अपना कौन? अपना जीवस्वरूप, अपना धाम, जो कुछ कर सकेगा अपने धाम का कर सकेगा। पर धाम का कुछ नहीं कर सकता। अब अपने धाम का काम कोई खोटा करे, रागद्वेष मोह आये, उसमें चिपट गए, उनमें ही उपयोग रमा लिया तो उसकी बरबादी हो गई, और जो विभाव हैं, परतत्त्व हैं, नैमित्तिक हैं उनको गौण किया, उनसे उपेक्षा की, स्वभाव दृष्टि किया, अपने स्वभावदर्शन से प्रसन्नता पायी, यह सब कुछ आनन्द ही आनन्द हो जाएगा। इस लोक में भी तो जब बड़ी अव्यवस्था हो जाती है तो कहते हैं अजी अपने-अपने घर को सम्हाल लो। तो वही बात यहाँ भी कर लो, सभी अपने-अपने धाम को सम्हाल लो।

ज्ञान प्रकाश से प्रकाशित अन्तस्तत्त्व का ज्ञान प्रकाश में प्रकाश—देखो इस चमड़े की आँखों से जो दिखता है, उस पर ही जो आकर्षित हो जाएगा उसकी भव-भव में मिट्टी-पलीत है, और ज्ञाननेत्र से अपने आपका जो दर्शन हुआ ज्ञानस्वरूप का, उसकी प्रतीति रहे, उसका विश्वास रखें तो भला हो जाएगा। देखने वाला कौन? आँख। जो देखने वाला है उसे तो देखो जरा। ये इन्द्रियाँ तो ऐसी एक अटपट सी हैं कि देखो आँख-आँख को नहीं देख सकी। जीभ-जीभ का रस नहीं ले पाती। हाथ-हाथ की गर्मी नहीं जान सकते। बुखार चढ़ा हो तो अपने एक हाथ से दूसरा हाथ छूवें तब गर्मी मालूम होती है। अरे तुम्हें बुखार गर्मी है तो हाथ पैर फैलाये सीधे पड़े रहे, दूसरे हाथ से न देखो तो क्या बुखार जान सकोगे? नहीं जान सकते। ऐसी इसमें अशक्ति है। यह तो इस तरह है कि जैसे कोई हाल है, उस हाल में पुरुष खड़ा है, उसमें खूब खिड़कियाँ है तो वह उन खिड़कियों से बाहर की वस्तु देख लेगा। अब बताइये वहाँ देखने वाली खिड़कियाँ हैं कि पुरुष? पुरुष। उन खिड़कियों के माध्यम से पुरुष बाहर की चीजें देख लेता है। जैसे हाल के अन्दर की चीजें देखने के लिए इन खिड़कियों की जरुरत नहीं, इसी तरह यह शरीर एक हाल है, और इसके भीतर देखने वाला पुरुष आत्मा है और इस हाल में ५ खिड़कियाँ हैं। स्पर्शन, रसना, घ्राण, चक्षु और कर्ण। इस शरीर रूपी हाल के अन्दर रहने वाला पुरुष इन खिड़कियों से बाहर की चीजें देख सकेगा या अन्दर की? बाहर की। अन्दर की चीज देखने के लिए तो इन खिड़कियों की क्या जरूरत? अपने सही ज्ञान से, अपने ही भाव से अपने आप में खोज करें तो आपा दिख जाएगा। अच्छा यह तो बात हुई अपनी खुद की। और क्योंकि अगर इस मकान की भींट ढह जाए तो फिर खिड़कियों से देखने की जरूरत पड़ेगी क्या? अरे वहाँ जब कोई आवरण ही नहीं तब तो फिर चारों तरफ पूरी तौर से दिखेगा। तो इसी तरह भीतर का जो शरीर है वह विघट जाएगा तो चौड़ा यह आत्मा चारों तरफ सर्व प्रदेशों से बाहर का भी ज्ञान करेगा और अन्दर का भी ज्ञान करेगा। इतनी अद्भुत शक्ति है हम आपमें। अपने प्रभु पर दृष्टि

नहीं करते और यहाँ की गली सड़ी चीजों में चित्त लगाकर लड़ाई ठानते रहते हैं। और अपनी प्रभुता का ध्यान नहीं रखते हैं। मन्दिर किसलिए बनाया जाता कि दर्शन करने वाले लोग अपनी प्रभुता की सुध कर लें। इसके अतिरिक्त और क्या है प्रयोजन? प्रभुमूर्ति का दर्शन करके अपनी प्रभुता की सुध लावें कि ऐसी ही प्रभुता मेरे में है। स्वरूप से क्या अन्तर है? जब कोई बिरादरी का जीवनवार (पंगत) होता है तो उसमें चाहे कोई लखपती हो, चाहे कोई खोंचा फेरने वाला गरीब हो, सब एक समान रहते हैं। वहाँ ऐसा नहीं होता कि परोसने वाला व्यक्ति धनी को तो चार लड्डू परोसे और गरीब को एक। और यदि कोई परोसने वाला व्यक्ति ऐसा करे तो वह सबकी निगाह से गिर जाता है। जो व्यक्ति धनी के ही समान गरीब का भी आदर करेगा वह लोगों की दृष्टि में प्रशंसनीय होगा। यह बहुत सज्जन है, इसके लिए सब लोग एक समान हैं। तो ऐसे ही सिद्ध भगवान की प्रभुता और अपने आपकी प्रभुता द्रव्यदृष्टि से समान है। उसका दर्शन करने के लिए मन्दिर है। कोई पुरुष तो लड़ झगड़ कर प्रतिमा के पास पहुँचता और कोई पुरुष धीरे से दूर ही खड़ा हुआ मूर्ति के दर्शन करके नमस्कार कर लेता तो यह बतलाओ विशेष लाभ किसने उठाया? जो पीछे ही रहा। भक्ति उसकी श्रद्धा उसकी अनुपम है। और जो लड़ झगड़ कर बहुत भीतर जावे, मान भी करे, उसमें कलह या कषाय है तो उसमें तो धर्म होता ही नहीं है।

धर्माधार तत्त्व—धर्म है शान्ति, समता। अपने प्रभु स्वरूप की सुध लें। बेकार जो फंस गया यह जीव मोह में उस मोह बन्धन को छेद देना, यह बात बनेगी कैसे कि जो मोह आदि विकाररहित अविकारी ज्ञानस्वरूप है उसकी दृष्टि होना। जो परमात्मआरती आप लोग पढ़ते हैं—**"ॐ जय-जय अविकारी,"** इसके प्रत्येक छन्द का अर्थ दोनों जगह घटित है—वहाँ पंचपरमेष्ठियों में और यहाँ आत्मस्वभाव में, दोनों जगह घटित होता है, इस आरती में आत्मा उपासना और प्रभु उपासना दोनों ही एक साथ होती चलती हैं। क्या अन्तर है ? मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह है भगवान। द्रव्य दृष्टि से देखा। लेकिन कोई सर्वथा ही मानलें कि हम तो भगवान ही हो गए तो वह तो गिरेगा। उसकी सावधानी के लिए आगे का पद—"अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।" लेकिन प्रभु, यह अन्तर ऊपरी है। यह जो आस्रव आया है, हम पर जो यह लद गया है यह ऊपर से लदा है। स्वरूप में नहीं है। स्वरूप में होता तो कभी निकाला ही न जा सकता था। ये आश्रव निज घर के नहीं हैं, ये परके फुसलाये आये हैं। इन्हें दूर किया जा सकता है, तो जब भूतार्थ विधि से देखते हैं तो पर्याय गौण हो जाती है, द्रव्य मुख्य हो जाता है, और फिर और आगे चले तों द्रव्य में भेदवाली बात गौण हो जाती है और स्वभाव मुख्य हो जाता है।

क्रमिक सर्व उपायपूर्वक भी स्वभावदर्शन के लाभ के पौरूष की शूरता—धर्म के लिए केवल एक ही काम किया जाना है। क्या? अपने सहजस्वरूप का दर्शन करना, लेकिन जहाँ अनादिकाल से बुरी वासना लग रही है ऐसे पुरुष को इस स्वभाव दर्शन में कैसे

लगाया जाए, उसके लिए यह सब व्यवहार धर्म है। यों चलो, यों चलो। आज आप लोग इतने बड़े हों गए, समझने वाले बन गए। निश्चय धर्म की भी समझ आ गई तो अब यह कहना कि व्यवहार धर्म अत्यन्त हेय है, यह बात कैसे संगत बैठेगी? देखो जब तुम लोग बच्चे थे, अपनी माँ के साथ मन्दिर में प्रभु के दर्शन करने आते थे। माँ ढोक देती थी तो तुम भी ढोक देते थे। सीखे तो तुम वहाँ से हो प्रारम्भ से कोई कहे कि हम डॉक्टर हो गए, ये जो प्रारम्भिक कक्षाएं हैं ये सब हेय हैं, अरे हेय तो हैं ही, मगर प्रारम्भ से ही चलते रहे तभी तो धीरे-धीरे आप एम०ए० में पहुँचे और डॉक्टर बन गए। हेय तो है मगर हेय है ऐसा कहकर तो तुमने दूसरों का बिगाड़कर दिया। खुद तो अच्छे हो गए, खुद के लिए तो हेय है, मगर उसका सामान्यजनों के लिए उपदेश करना—देखो पाठशाला में भर्ती होना हेय है और सबसे कहें भर्ती मत हो, भर्ती मत हो, यह हेय है, हमने अच्छी तरह समझ लिया है, . . . तो यह तो उनका बिगाड़ करना हुआ। तो वह निश्चय धर्म मेरे को प्रकट हो, इसके उपाय में व्यवहार धर्म है, तब ही कहा है "हेतु नियत को होई" व्यवहार नियत का हेतु होता है। पहुँचना कहाँ हैं अपने घर। मान लो। यहाँ से किसी आप को अहमदाबाद से दिल्ली जाना है, तो जिस ट्रेन में बैठते हैं उसे पहले से ही तो नहीं छोड़ देते। जब दिल्ली स्टेशन पर आ जाते हैं तब उसे छोड़ देते हैं। फिर तो उस ट्रेन की तरफ झांकते भी नहीं। अब अहमदाबाद वाले को दिल्ली पहुँच जाने वाला यदि वह उपदेश दे कि अरे वह ट्रेन तो हेय है, हमने भली प्रकार समझ लिया है तो जो दिल्ली पहुँच गया उसके लिए तो हेय है मगर जो यहाँ अहमदाबाद में पड़े हैं उनका तो बिगाड़ कर दिया। तो निश्चय उपादेय है। निश्चय मोक्षमार्ग क्या है? स्वभावदर्शन, स्वभावज्ञान और स्वभावरमण। और व्यवहार मोक्षमार्ग क्या है? ७ तत्त्व का श्रद्धान, ज्ञान, सँयम, आचरण, त्याग, व्रत।

भूतार्थ विधि से आस्रवतत्त्व का ज्ञान करने में एकत्त्व का प्रकाश—निश्चय विधि से देखिए कि आश्रव का भूतार्थ पद्धति से ज्ञान करते-करते कहाँ आया, स्वभाव पर। यह ही बात द्रव्याश्रव में है। और उभयाश्रव जो है वह तो दो ही कथनी वाली चीज है। उसमें भी एक-एक की बात देखना होगा। तो भावाश्रव, द्रव्याश्रव भूतार्थ विधि से करें एक-एक हो जाएंगे। फिर उनका विचार करना है। तो देखो—भूतार्थनय से आस्रव तत्त्व का ज्ञान होना सम्यक्त्व का कारण है, देखो भाई, भीतर में एक यह उपयोग जैसे एक कोई खाली छोटा लट्टू है, उसके साथ कप बगैरह कुछ न हो, जैसे बैट्री में बल्ब लगाते हैं, उसको अगर यों मोड़ दिया जाए तो इस तरफ उजला और अगर बाहर की तरफ मुख कर दिया जाए तो बाहर की तरफ उजला। भीतर कुछ नहीं है, तो ऐसे ही यह उपयोग ज्योति जाज्वल्यमान बल्ब है, प्रदीप है। इस उपयोग का मुख बाहर की ओर कर दें तो भीतर कुल अंधेरा और बाहर का आकर्षण। इस उपयोग को भीतर कर लें, बाहर की बेसुधी और भीतर को सावधानी है, प्रकाश है, इससे यह निर्णय कर लें कि जब बाहर की कोई चीज मेरे साथ रहेगी नहीं, कोई

वस्तु मेरे साथ जाएगी नहीं। वर्तमान में भी शान्ति का साधन नहीं तो उस ओर ही आकर्षित क्यों रहते?

मन, कर्ण, नेत्र इन्द्रिय का दुरुपयोग न करने की सम्मति—बड़ा दुर्लभ नर जन्म है यह अगर यहाँ इस इन्द्रिय का दुरुपयोग किया तो बुरी हालत होगी। जैसे मन मिला तो अच्छी बात चिन्तन के लिए मिला है, हित अहित का विवेक करने के लिए मिला है। मन का लाभ भी यही है कि जो शिक्षा उपदेश ग्रहण कर सके। लेकिन इस मनुष्य के द्वारा विषयों में मन लगाना बुरी बातों में फँसना, अगर यह काम किया, ऐसा अगर कोई निर्णय करने वाला हो तो ये कर्म कहेंगे—बेटा तुम्हें मन की जरूरत नहीं है, क्योंकि तुम्हें मन दिया, उसका दुरुपयोग किया इसलिए तुम्हें अब मन न मिलेगा तो अब क्या बन गए? असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय बन गए। कान मिले थे सुनने के लिए—जिनवाणी सुनें, उपदेश सुनें, भक्ति के गीत सुनें, भगवान की स्तुति सुने, इसके लिए कान मिले हैं, अगर इन कानों को सिनेमा के गीत या रागरागनी के शब्द सुनने में ही अगर लगा दिया तो कानों का दुरुपयोग हुआ। तो कर्म तो यही कहेंगे कि बेटे तुम्हें कान की जरूरत नहीं है इसलिए तुम्हें कान न मिलेंगे। तो अब वह क्या बन गया? चार इन्द्रिय जीव। आँखें मिली इसके लिए कि तुम प्रभुदर्शन करो, स्वाध्याय करो, सज्जन पुरुषों के दर्शन करो, अच्छी-अच्छी चीजें देखा करो, मगर इसने सब बुरा ही बुरा देखा। राग का शरीर, सिनेमा के गंदे चित्र, और भी खोटी बातें देखी, तो निर्णय क्या हो जाएगा कि अब तुम्हें आँखों की भी जरूरत नहीं मालूम पड़ती। इसलिए आँखें न मिलेंगी। तो अब क्या हो गये? तीन इन्द्रिय जीव बन गए।

नासिका रसना इन्द्रिय का दुरुपयोग न करने का संदेश—अब नाक की बात देखो। इसका तो हमें कोई खास समाधान नहीं मिला, यह तो हमें एक बेकार सी चीज मालूम होती है। हाँ इससे प्राणायाम का काम कर लो नासा दृष्टि कर लो या और भी कोई नाक का सदुपयोग हो सकता हो सो तुम जानो। मगर इस नाक का उपयोग गंध सुगंध में न करें। लोग तो जरा-जरा सी बात में नाक भौंह सिकोड़ने लगते हैं, पर यह आदत ठीक नहीं है। यह नाक ऐसी बेकार की चीज है कि यह लड़ाई भी करा देती है। अपने आप को विपत्ति में डाले तो यह नाक डाले। और प्रभु दर्शन में अगर बाधा देती है तो यह नाक बाधा देती है तो यह नाक बाधा देती है। नाक के मायने है अहंकार, अभिमान। खैर नाक मिली है तो उससे प्राणायाम करो और नाक से घृणा की आदत छोड़ दो। जरा-सी कोई खराब चीज दिखी तो झट नाक सिकोड़ा और थूक दिया। अरे वह चीज तो बहुत दूर पड़ी है, उसे देखकर थूक क्यों आ जाता है? उसके प्रति ग्लानि क्यों आ जाती है? तो जैसे उन गंदी चीजों के प्रति घृणा न करने तथा धीरता पूर्वक हटाने की बात कहा ऐसे ही धर्मात्मा, मुनिजन, त्यागीजन, उनकी सेवा करते हुए घृणा न लाना। जिसमें रुचि होती है उसमें कुछ

घृणा तो नहीं होती। अगर कोई छोटा बच्चा जिसे गोद में लिए हुए हो, सुन्दर वस्त्र पहने हों, और वह ऊपर टट्टी करदे तो उससे कोई घृणा तो नहीं करता? वह तो उसे उठाता, साफ करता। वह घृणा इसीलिए तो नहीं करता कि उसे उस बच्चे से प्रेम है। तो ऐसे ही जिसे धर्म से प्रेम है उसको धर्मात्मा से प्रेम हुए बिना न रहेगा। जैसे माँ अपने बच्चे की सेवा करते हुए घृणा नहीं करती। ऐसे ही धर्मात्मापुरुष की सेवा करते हुए घृणा नहीं करता। घृणा की चीज बच्चे में भी है और धर्मात्मा के शरीर में भी है। समान ही तो है, तब फिर जहाँ रुचि है, प्रेम है वहाँ घृणा नहीं होती। इस तरह बाहरी पदार्थों को देख लिया, उपेक्षा हो गई, कोई बात नहीं, वहाँ भी घृणा जैसी बात न लावे। क्योंकि उपयोग बहुत बदलेगा। इसलिए वहाँ भी आत्मा की सुध लेने का समय कम मिलेगा। रसना इन्द्रिय मिली है तो प्रभु के गुणगान के लिए मिली है। हम आपको अच्छी जिह्वा मिली है। दुनिया के अन्य जीवों पर दृष्टि डालकर देख लो, हम आप आज कितनी उच्च स्थिति में हैं। पन्चेन्द्रिय भी हो गए, गाय, बैल भैंस वगैरह हो गए तो उस लठ जैसी मोटी जीभ से कुछ बात कर सकते क्या? वे वचन बोल सकते क्या? ये शास्त्रों के भावों को बोल सकते क्या? यानी कितनी ऊँची स्थिति में हम आप हैं। जगत के इन जीवों पर दृष्टि डालकर देखो और ऐसी ऊँची स्थिति में आकर हम इस आत्मा भगवान पर ही हमला करने लगें, विषयों में लीन होना, व्यसनों में फंसना, यह अपने आपके भगवान पर ही तो हमला है।

निज आत्मदेव पर विषयाक्रमण का फल दुर्गति—यों अपने आप पर ही हमला करने लगें तो उसका क्या फल होगा? यह ही फल होगा कि अनादि से जिस गति में थे वहीं फिर जाएंगे। निगोद में थे निगोद फिर जाएंगे। फिर क्या हाल होगा? आज यह दुर्लभ मनुष्य भव पाया है तो यहाँ बहुत सम्भल कर चलने की जरूरत है, नहीं तो फिर वही दशा होगी जैसी कि एक चूहे की। कोई एक चूहा किसी साधु के पास रहता था। एक बार उस चूहे पर बिलाव झपटा, साधु ने चूहे को आशीर्वाद दिया, बिडालोभव, अर्थात् तू भी विलाव बन जा। तो वह बिलाव बन गया। उसे अब बिलाव का डर ना रहा। एकदिन उस बिलाव पर कुत्ता झपटा तो साधु ने पुनः आशीर्वाद दिया—स्वानोभव, अर्थात् तू भी कुत्ता बन जा, तो वह भी कुत्ता बन गया। एक दिन उस कुत्ते पर झपटा शेर, तो साधु ने आशीर्वाद दिया—सिंहोभव अर्थात् तू भी शेर बन जा। लो वह भी शेर बन गया। एक दिन उस शेर को बड़ी भूख लगी। सोचा कि यहाँ कोई है नहीं, किसे खाऊँ, इस साधु को ही क्यों न खा जाऊँ? साधु ने जब शेर की मन की बात को पहचाना तो श्राप दिया—पुनः मूषकोभव, अर्थात तू फिर से चूहा बन जा। लो वह फिर चूहा बन गया। तो हम आपकी भी तो यही दशा है। हम आप निगोद से निकल कर आगे बढ़-बढ़ कर आज मनुष्य हुए हैं। निगोद से निकले तो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और प्रत्येक वनस्पति हुए, वहाँ से निकले तो दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय हुए, असंज्ञी पन्चेन्द्रिय हुए, देव हुए, और बड़ी दुर्लभता से आज मनुष्य हुए। इतना दुर्लभ मानव जीवन को यों ही व्यर्थ खो

रहे हैं। अरे करना तो यह चाहिए कि कोई अलौकिक काम कर जाने की उमंग रखें, जिससे मेरे को आत्मप्रकाश हो और सदा के लिए संकटों से छुटकारा हो।

स्नेह में बन्धन की प्राकृतिकता—यह आत्मा अपने स्वरूप से स्वयं निरपेक्ष रहकर आनन्दमय है, इसमें किसी प्रकार का कष्ट नहीं, किन्तु पर उपाधि का सन्निधान पाकर अशुद्ध उपादान हुआ। यह जीव रागद्वेष मोह भाव को करता है, इस कारण इस पर सारे संकट छा जाते हैं। यही दशा जीव की अनादि काल से चली आ रही है। क्या होता है कि जीव रागद्वेष मोह करता है और नवीन कर्मवर्गणायें कर्मरूप बन जाती हैं। यहाँ एक कभी-कभी कोई शंका कर लेता है कि कर्म तो पौद्गलिक हैं, उन पौद्गलिक कर्मों का इस अमूर्त आत्मा के साथ बन्ध कैसे हो गया? तो इस विषय में सुनो। दो बातें कहीं जाएंगी। पहली बात तो यह कि नवीन कार्माणवर्गगाओं में जो कर्मत्व आता यह ही कहलाता है आस्रव, सो उस नवीन कर्म का, आश्रव का कारण है उदय में आया हुआ कर्म और उदय में आए हुए कर्मों में नवीन कर्मों के आश्रव का निमित्तपना आ जाए, इसका निमित्त होता है रागद्वेष मोहभाव। तो मूल में बात तो रागद्वेष मोह की ही पक्की रही। रागद्वेष मोह होने से ही तो पुद्गलकर्म जो उदय में आ रहे हैं उनमें ऐसा निमित्तपना होता है कि नवीन कर्मों के आस्रव को कर ले। तो देखो बन्ध परस्पर में किस किसका हुआ? निमित्त तो उदयागत कर्म है पर उदयागत कर्म सदा तो नहीं रहते। वे तो कुछ समय बाद खिर जाएंगे। अर्थात् पहले बांधे हुए जो कर्म सत्ता में है उनके साथ नवीन कर्मों का बन्धन हुआ। और, चूँकि स्वागत किया इस जीव ने। रागद्वेष मोह भाव करने के मायने यह है कि नवीन कर्मों के आने का स्वागत करना। तो भला जब स्वागत होता हो किसी का तो फिर उसके आने ठहरने में क्या शक? यह जीव स्वागत तो करता है रागद्वेष मोह भावों का। इसी के मायने है नवीन कर्मों के आने का स्वागत करना। वेलकम।

जीव और कर्म की सांसारिक मैत्री—एक प्रकरण दिया है सर्वविशुद्ध अधिकार में कि **'चेयाउपयडीयठ्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ, पयडीय चेइयट्ठं उप्पजज्इ विणस्सइ। एवंबंधो दोण्हपि अण्णेण्णप्पंच्चया हव, अप्पणो पयडी येव संसारो तेण जाइए।'** देखिए इसके दो अर्थ हो गए और दोनों अर्थों में तत्त्व की बात निकलेगी, सीधा अर्थ तो यह है कि जीव प्रकृति के लिए उत्पन होता है और नष्ट होता है और प्रकृति जीव के लिए उत्पन्न होती है और नष्ट होती है। प्रकृति के मायने है कर्म प्रकृति। तो प्रकृति भी जीव के लिए उत्पन्न हुई और नष्ट हुई। इसके मायने यह है कि प्रकृति की जीव की इतनी गहरी दोस्ती हो गई जैसे एक दोस्त दूसरे के लिए, मिटता है, उत्पन्न होता है। इस तरह हो रहा है ना। यह प्रकृति जीव के भले के लिए दोस्ती नहीं करती, बल्कि बुरे के लिए है। संसार में जो दूसरे की बर्बादी का कारण हो उसे कहते हैं मित्र। और जो बर्बादी का निमित्त कारण

बने वह तो शत्रु कहलाता ही है। शत्रु और मित्र दोनों ही उस पुरुष की बर्बादी के हेतु हैं। लड़कों लड़कों में दोस्ती हो जाए तो वें अच्छे बनेंगे कि बुरे? वे तो प्रायः करके बुरे ही बनते हैं। कहीं सिनेमा देखने जाएंगे, कहीं लोफर पार्टी में रहेंगे, व्यर्थ की गप्प शप्प में रहेंगे। कुशील सेवन आदि के खोटे प्रसंगों में रहेंगे तो जैसे वह दोस्ती उनकी बर्बादी का कारण है ऐसे ही जीव के साथ जो कर्मों की दोस्ती है वह भी इस जीव के बिगाड़ के लिए है। कर्म ही आते हैं, कर्म ही मिटते हैं और यह जीव उन कर्मों के लिए मरता मिटता है। कर्म इस जीव के लिए स्वयं की बर्बादी करते हैं। दूसरा अर्थ साफ है जीव प्रकृति का निमित्त पाकर उत्पन्न होता, नष्ट होता यानी विकार जीव में आता और प्रकृति जीव के परिणाम का निमित्त पाकर उत्पन्न होती है और नष्ट होती है, ठीक है। तो जब इस जीव ने नवीन कर्मों का स्वागत किया, देखो जो बहुत ऊँचे हृदय से स्वागत करने वाले लोग होते हैं वे काम करते हैं मुख से नहीं बोलते कि आइए। जो बनावटी स्वागत करता है वह कहता है कि अजी आइए, आपका स्वागत है। कभी देखा होगा, पति पत्नी की कितनी घनिष्टता होती हैं पर जब वह पति कहीं बाहर से आता है तो स्त्री मुख से यह तो नहीं कहती कि आइए, आपका स्वागत है। वह तो पानी लाएगी, खाना बनाकर खिलायेगी, सारे काम करेगी, उसकी स्वागत करने वाली मुद्रा होती है। तो जो स्वागत की बात कहकर स्वागत करे उसमें हार्दिक स्वागत की झलक नहीं होती। ऐसे ही यह जीव रागद्वेष मोह करके बहुत हार्दिक स्वागत कर रहा है नवीन कर्मों के आने का। नवीन कर्म आए और सत्ता में बन्ध गए चूँकि स्वागत करने वाला जीव है तो वे बन्ध गए। जम गए। आप किसी मेहमान का बड़ा स्वागत करेंगे तो वह तो वहाँ अच्छी तरह से जम जाएगा। और कोई स्वागत न करे तो वह महिमान कहाँ ठहरेगा? तो ये कर्म तो मेहमान हैं। इस जीव ने इस कर्म मेहमान का स्वागत किया और ये कर्म महिमान इस जीव के घर में बन्धकर रह गए। अब पड़ी इस जीव को आफत। सो उस आफत में भी कुछ ऐसी बुद्धि बन जाती है कि उससे यह ही कहते बनता कि अब कर्मसे कहते कि यहाँ से जावो? रहो तो फिर भी स्वागत ही स्वागत करता रहता है?

कर्मबन्धन का रूप—अब यहाँ देखिए बन्धन किसका साक्षात् है और निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध किसका किसके साथ है? गाय जंगल से चरकर जब अपने स्थान पर आती है तो उसे लोग किस तरह बांधते? क्या रस्सी के छोर से गाय का गला बांधते हैं? अरे गला बांध दे तों गाय तो मर जाएगी। वह गला नहीं बाँधा जाता किन्तु रस्सी के एक छोर से रस्सी का दूसरा छोर बाँध दिया जाता है। पर वहाँ ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक भाव का सम्बन्ध है कि वहाँ गाय बँध गई। परतन्त्र हो गई। बस ऐसे ही जीव व कर्म का रागद्वेष मोह के कारण परस्पर में निमित्त नैमित्तिक बन्धन हो गया। यह है आस्रव की बात। अब इस आस्रव में भूतार्थ पद्धति से हम कैसे देखें कि हमें स्वभाव दर्शन का मार्ग मिले? इस सम्बन्ध में कल कहा गया था, पुनः एक बात और विचार कीजिए कि हम आस्रव का जो रात दिन

स्वागत करते रहते हैं यह हमारी कितनी बड़ी भारी भूल है, इस पर कुछ चिन्तन करें। बाह्य पदार्थों को आश्रय बनाकर जो हम विकल्प रागद्वेष के परिणाम करते हैं वहाँ हम किसका घात करते? खुद का। दूसरे का घात नहीं करते।

विशुद्ध भावों का प्रसाद—गुरूजी सुनाते थे कि दशलक्षण पर्व के दिनों में एक घटना हुई थी कि कोई दो सेठ थे। एक था बड़ा सेठ और दूसरा था छोटा सेठ। उन दोनों में परस्पर में बड़ा विरोध था। और, इतना विरोध था कि वे एक दूसरे को देखना तक न पसंद करते थे। एक बार क्या हुआ कि वे दोनों ही एक स्थान पर धर्मोपदेश सुन रहे थे। वहाँ यह वर्णन चल रहा था कि किसी से विरोध रखना, विषाद रखना, विकल्प मचाना यह तो खुद की बर्बादी के लिए है। कर्मबन्ध होता, उससे खोटे संस्कार बनते, जन्म-मरण की परम्परा बढ़ती। पार्श्वनाथ का जीव जो पहले मरुभूति था। मरुभूति और कमठये दो भाई थे। वहाँ मरुभूतिका कुछ कसूर न था, सारा कसूर कमठ का था। कमठ का कसूर क्या था कि जब उसका भाई मरूभूति कहीं बाहर गया हुआ था तो कमठ ने उसकी स्त्री के प्रति लालच किया था यह खबर जब राजा को हुई तो राजा ने कमठ को राज्य से बाहर निकाल दिया था। जब मरुभूति घर आया, समाचार, सुना तो वह अपने भाई के पास पहुँचा। वहाँ कमठ ने तब तक पंचाग्नितपका रूप रख लिया था। वह अपने सिरपर मन भर का पत्थर रखे हुए तपस्या कर रहा था। मरुभूति बड़ी नम्रता से उस भाई के पास गया, चरणों में लोट गया, वहाँ कमठ क्रोध में आकर गिड़गिड़ाया और वही पत्थर मरुभूति के ऊपर पटक दिया। मरुभूति मर गया। कमठ का यह बैर ८-९ भवों तक चला। ऐसी विचित्र घटना किसी भी तीर्थंकरको नहीं हुई। जब मरुभूतिका जीव पार्श्वनाथ के रूप में था तो वहाँ ध्यान करते हुए में कमठ ने उपसर्ग किया था। तो किसी के प्रति रंचमात्र भी विरोध रखना यह खुद के नुकशान के लिए है। यह पाप के उदय का बुलावा देता है। तो बात यह कह रहे थे कि वे दोनों सेठ इस धर्मोपदेश को सुन रहे थे। वहाँ उन दोनों का चित्त एकदम पलट गया। दोनों ने अपने मन में एक दूसरे का विरोध खत्म कर दिया। दोनों के मन में आया कि हम जिसे अपना विरोधी मान रहे थे प्रवचन के बाद उसके घर जाकर उससे माफी मांगे सो बड़ा सेठ तो अपनी कार से बैठकर चला और छोटा सेठ अपनी बग्घी में बैठकर चला। रास्ते में दोनों एक दूसरे को मिल गए और बिना कुछ बातचीत किये दोनों ही एक दूसरे के गले से मिले। देखिए एक आत्मा का दूसरे आत्मा के साथ कैसा बेतार का तार मिला कि दोनों के परिणाम एक साथ विशुद्ध हुए। देखिए—हम आपने दुर्लभ मानव जीवन पाया है तो इसमें हमें करना क्या है? भलाई, शान्ति, वास्तविक शान्ति प्राप्त हो। वह वास्तविक शान्ति कैसे प्राप्त हो? तो उसका उपाय आचार्य देव ने बताया है कि कषाय छोड़ो और अपना जो निजस्वरूप है, ज्ञानमात्र स्वरूप, उसकी ओर दृष्टि दो। अब गृहस्थी में हैं तो करें क्या? सब कुछ करना पड़ता। सब कुछ करते हुए भी भीतर में भाव श्रद्धा निर्मल रहे। मेरा कोई विरोधी नहीं।

विशुद्ध परिणाम में अन्य की विपत्ति की अभावना—देखिए—श्रीराम जब गृह-स्थावस्था में थे तो उनको सीता के कारण ही तो रावण से युद्ध करना पड़ा था। तो जब रावण शान्तिनाथ मन्दिर में बहुरूपणी विद्या सिद्ध कर रहा था तो वहाँ श्रीराम के सैनिकों को पता पड़ा उन्होंने श्रीराम से बताया कि रावण इस समय शान्तिनाथ चैत्यालय में बहुरूपणी विद्या सिद्ध कर रहा है, यदि उसकी विद्या सिद्ध हो गई तो उसपर विजय पाना आपको मुश्किल हो जाएगा इसलिए आप हमें आज्ञा दें। हम लोग उसकी साधना में भंग करें, विघ्न डालें ताकि वह विद्या सिद्ध न कर सके। तो वहाँ श्रीराम ने यही कहा था कि अरे भाई यह शान्तिनाथ चैत्यालय में अपना ध्यान कर रहा है तो उसके ध्यान में विघ्न डालना ठीक नहीं। फिर आगे क्या हुआ सो बात आगे की है। देखिए आजकल की राजनीति तो यही कहती है कि जिसे चाहे जिस तरह से दुश्मन को मारो, साम, दाम, दण्ड भेद से छल से बल से जैसे बने वैसे दुश्मन को मारो, पर श्रीराम के मनमें यह बात न थी। आखिर कुछ मनचले लोगों ने रावण की साधना में विघ्न भी डालना चाहा पर न डाल सके, कारण कि वहाँ जहाँ पानी था वहाँ जमीन जैसा मालूम पड़ता था और जहाँ जमीन थी वहाँ पानी जैसा मालूम पड़ता था। आखिर वहाँ उन विघ्न डालने वालों को बड़ी विडम्बना ही हुई और रावण पर विघ्न न डाल सके। जब रावण की साधना में विघ्न डाला जा रहा था उस समय भी रावण अपनी साधना में रंच भी न चिगा था। ऋषियों ने तो बताया है कि ऐसा ध्यान अगर मोक्ष के बारे में होता तो उसे मोक्ष अवश्य प्राप्त हो जाता। तो बात यह कह रहे हैं कि हम आप अनादिकाल से कैसी-कैसी योनियों में भटकते आए, निगोद थे, स्थावर हुए, त्रस हुए, कीड़ा मकोड़ा हुए और आज बड़ी दुर्लभता से मनुष्य हुए। तो यहाँ मेरे को कौन जानता और यहाँ मैं किसको जानता? यह तो एक सिनेमा का जैसा चित्र है। जैसे सिनेमा के पर्दे पर छाया आती है तो वहाँ कुछ है तो नहीं, सिर्फ छाया है, वहाँ किसी का किसी से कुछ परिचय तो नहीं है इसी तरह हम आप सब भी इस संसार रूप सिनेमागृह में एक फोटो रूप (छायारूप) हैं। किसका कौन?

शुद्ध तत्त्वानुरागी को अशुद्धता की असहिष्णुता—यहाँ जीवों की जितनी भी परिणतियाँ हो रही हैं वे सब जीव की परिणतियाँ है, लेकिन चूँकि वे नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं इसलिए अजीव कहा। तो यहाँ भी अजीव-अजीव से मिले, यों कहो। परमार्थ जीव तो भैया? जो एक शुद्ध शाश्वत चैतन्य स्वरूप है। ऐसी बात सुनकर यह न समझना कि तब तो फिर यहाँ अजीव की अजीव से बात हो रही है, फिर तो जो होता है होने दो। अरे वहाँ बरबादी तो जीव की हो रही है। यहाँ तो भेद विज्ञान की बात कह रहे कि जो क्रिया है, जो कुछ चीज है वह निरपेक्ष शुद्ध तत्त्व नहीं है इसलिए वह अजीव है। जैसे कोई स्वर्ण की पहचान करने वाला सर्राफ जिसे शुद्ध स्वर्ण से प्रीति है उसके सामने मानो कोई ऐसी स्वर्ण की डली लावे जिसमें रूपये में १५ आने भर स्वर्ण हो और १ आने भर खोट हो तो उसे

भी देखकर वह यही कहता है कि क्या पीतल ले आए, क्या कूड़ा ले आए? उसे जरा सी खोट के कारण कूड़ा जँचता है, ऐसे ही जिस अध्यात्मप्रेमी ज्ञानी संत के एक शुद्ध अंतस्तत्त्व की रुचि है वह विकल्प, विचार, बुद्धि इनको देखकर कहेगा कि ये तो जीव नहीं हैं। ये तो अचेतन हैं। है वह चिदाभास, अचेतन नहीं है, और शुद्ध चैतन्य भी नहीं है। चिदाभास कहा है।

स्वयं के दुःख में स्वयं का ही अपराध—यहाँ यह ध्यान में लावो कि हम जितना भी दुःखी हो रहे, जितना भी परेशान हो रहे, दूसरे की गलती से हम परेशान नहीं होते, बात यह सत्य है। यह बात अभी ध्यान में आए तो अब भला है, जब ध्यान में आए तब भला हो। मगर बात यह पूर्ण सत्य है कि जगत के जीव जो भी दुःखी हो रहे हैं वे अपने अपराध से दुःखी होते हैं, दूसरे के अपराध से कोई कभी दुःखी हो ही नहीं सकता क्योंकि जीव द्रव्य तो न्यारे-न्यारे हैं। एक का दूसरे में कोई प्रवेश नहीं, एक दूसरे से कुछ सम्बन्ध रखता नहीं, तो दूसरे के अपराध से कोई दूसरा कैसे दुःखी हो। तो बतलाओ वे सच कहते हैं कि झूठ? बिल्कुल झूठ बोलते हैं। तीन काल में भी ऐसा नहीं हो सकता कि आपके सुख में हम सुखी हो सकें और आपके दुःख में हम दुःखी हो सकें। आप कहेंगे वाह देखने में तो आता है कि मानो कोई बड़ा प्रेमी रिस्तेदार गुजर गया। तो वहाँ तो वे घर वाले लोग दुःखी हो ही रहे थे, अब वहाँ जाकर यह रिस्तेदार भी दूसरा अतिथि भी दुखी हुआ, तो वह जो दुखी हुआ तो क्या उन घर वालों के दुःख से दुःखी हुआ? अरे उसको भी राग है, उसके भी उस तरह का विकल्प है, यह अपने विकल्प से दुःखी हो रहे और फेरा करने वाले रिस्तेदार सैकड़ों आते हैं। उनमें यह भी पता नहीं पड़ता कि वास्तव में दुःखी कितने हैं। और, दुःखी होने का रूपक सभी बनाते हैं। बहुत से रिस्तेदार तो ऐसे भी होते हैं जो ट्रेन में खूब हंसते हुए, ताश खेलते हुए आते हैं और जहाँ आपके अहमदाबाद स्टेशन में उतरे, उस दुःखी परिवार के घर के निकट आए कि रोने जैसी शक्ल बना लेते हैं। उनकी भी एक कला है। यानी रोना न आए फिर भी रोकर दिखा दें यह भी तो एक कला की बात है। अरे कौन किसके दुःख से दुःखी होता है? जो भी दुःखी होता है वह अपने दुःख से दुःखी होता है। कोई कल्पना बनी, कोई चित्त में बात सोची बस उसके कारण दुःखी हो रहा, कोई किसी के दुःख से दुःखी नहीं हो रहा, कोई किसी के अपराध से दुःखी नहीं हो रहा, खुद खुद के अपराध से दुःखी हो रहा। आप कहेंगे, वाह कोई मनुष्य बड़ा सज्जन है, किसी से कुछ बोलता नहीं, फिर भी कोई दुष्ट पुरुष जब उसे छेड़ता है तो उस समय वह बड़ा दुःखी होता है। तो देखो उसने तो कोई अपराध नहीं किया और वह दुःखी हो गया, तो वह अपने अपराध से कहाँ दुःखी हुआ? उसे तो दूसरे ने दुःखी किया सो भाई ऐसी भी बात नहीं है। जो वह दुःखी हुआ है सो अपने ही अपराध से हुआ है। कैसे? उसने अपने में यह विकल्प किया कि इसने मुझे गाली दी, यह विकल्प किया, यह अपराध है कि नहीं? आत्मा का स्वरूप तो है शुद्ध ज्ञान मात्र, उस स्वभाव

में तृप्त हो, यह तो है इसकी सच्ची गैल, पर इसके अतिरिक्त जहाँ परतत्त्व में लगाव लगाया, इसने मुझे यों कहा, विकल्प किया तो यह अपराध हुआ ना। तो अपने अपराध से दुःखी होता। चाहे आप यह कहें कि कोई मुनि महाराज हैं और वे ऐसा विकल्प भी नहीं करते, कोई गाली देता, मारता पीटता, फिर भी विकल्प नहीं करते, फिर भी उन्हें परेशानी होती हैं, तो देखो दूसरे के दुःख देने से ही तो मुनि महाराज परेशान हुए। अगर मुनि महाराज परेशान हो रहे हैं तो वे भी अपने अपराध से परेशान हो रहे, दूसरे के अपराध से नहीं। कैसे? अरे कुछ प्रकार के उनके विचार बने तब तो दुःख महसूस करेंगे। विचार ही न बनायें और विशुद्ध आत्मा के ध्यान में रहें तो वह कष्ट न महसूस होगा, और फिर उन्होंने पूर्वकाल में विकल्प बनाया है, ऐसा ही कर्मबन्धन हुआ कि उदय में आया सो दुःखी हुआ। तो कहने का अर्थ यह है कि जो भी पुरुष दुःखी होता है वह अपने ही अपराध से दुःखी होता है, किसी दूसरे के अपराध से कोई दुःखी नहीं होता।

अपनी स्वच्छता के प्रयोग में ही बुद्धिमानी—देखो बुद्धिमानी इसमें है कि अपने आपको स्वच्छ बना लें, अपने आपकी सम्भाल करलें, अपने आपकी गंदगी मिटा लें तो इसमें अपनी भलाई है, और जो दूसरों-दूसरों का ही सब कुछ सोचे और अपने आपके कल्याण का कुछ भी न सोचे तो उसका वह सोचना बेकार है उसमें वह ताकत भी नहीं है कि दूसरे का भला हो जाए, और खुद का तो भला हो ही नहीं रहा, इससे जरा अपना श्रद्धान निर्मल बना लो। क्यों परेशान होते? यहीं के विचार से यहीं की सत्य, श्रद्धा से, यहीं के निर्णय से अपने आपके ज्ञान प्रकाश से सारे दुःख मिट सकते हैं। पहला ज्ञान प्रकाश तो यह लावें कि मैं एक शुद्ध ज्ञानमात्र जीव तत्त्व हूँ। मैं मनुष्य भी नहीं हूँ क्योंकि मैं तो एक जीव हूँ, आत्मा हूँ। आज मनुष्य के नाटक में आया हूँ, मिट जाऊँगा, और फिर दूसरे नाटक में चला जाऊँगा, मैं मनुष्य नहीं हूँ, मैं तो आत्मा हूँ, और फिर बिरादरी में लगाओ मैं अमुक बिरादरी का नहीं हूँ, मैं अग्रवाल, खण्डेलवाल आदि नहीं, यह तो नाटक है, कर्म का ही खेल है, इस समाज में मैं आ गया हूँ, पर यह मैं नहीं हूँ। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, इसका क्या? अरे मरकर किसी और जगह उत्पन्न हो गए या और जाति में उत्पन्न हो गए, वहाँ यह भ्रम करना कि यह मैं हूँ, यह ही तो भ्रम लग रहा है। एक दृष्टान्त दिया है कि एक शूद्री के दो बच्चे पैदा हुए तो वह उन दोनों बच्चों को कपड़े में लपेट कर किसी पेड़ के नीचे चौहट्टे में फेंक आयी। कुछ बात होगी, जो कुछ हो। अब पहले तो उस पेड़ के नीचे गया एक शूद्र मानो चाण्डाल उसे वे बच्चे पसंद आए तो वह एक बच्चे को अपने घर ले गया। कुछ देर बाद वहाँ एक ब्राह्मण आया, उसने बच्चे को पड़ा हुआ देखा। बच्चा सुन्दर था। उसके कोई बच्चा भी न था सो वह उस बच्चे को अपने घर उठा ले गया। वे दोनों बच्चे पलपुष कर बड़े हुए। एक तो पला था चाण्डाल के घर में और एक पला ब्राह्मण के घर में, ब्राह्मण के घर में पला हुआ बच्चा तो यह अभिमान रखता था कि मैं तो ब्राह्मण हूँ, मैं तो अच्छे कुल का हूँ, मेरे को

शराब वगैरह गंदी चीजें छूनी भी न चाहिएँ। उसका तो ऐसा संस्कार बना और चाण्डाल के घर में पला पुषा बालक यह अभिमान करे कि मुझे तो शराब का अधिकाधिक सेवन करना चाहिए, यहाँ तक कि शराब से नहाना भी चाहिए। अब देखिए–एक ही माँ के बच्चे थे, पर अलग-अलग पलने पुसने से अलग-अलग संस्कार बने, अलग-अलग अभिमान बना। तो यही दशा सब जीवों की है। सभी जीवों का स्वरूप तो एक समान है, स्वरूप से रँच भी भेद नहीं है। जो भगवान स्वरूप है वही कीड़ा मकौड़ा के शरीर में रहने वाला जीव का स्वरूप है, मगर कर्मोदय से जो जहाँ पैदा हो गया, जो जहाँ पलापुषा जिसको जो वातावरण मिला, उसने अपना अहंकार बना लिया कि मैं तो यह हूँ।

प्राप्त औपाधिकपर्याय में सर्वश्रेष्ठता का अभिमान—अभी किसी ४–५ वर्ष की बच्ची से कहो कि तू तो लड़का है तो वह तो घृणा करके कहेगी–अरे मैं क्यों लड़का होता? मैं तो लड़की हूँ। तो उसकी दृष्टि में यह बात है कि लड़की होना अच्छा है। और किसी छोटे लड़के से कहो कि तू लड़की है तो वह भी यही कहेगा कि मैं क्यों लड़की हूँ? मैं तो लड़का हूँ तो उसके मन में है कि लड़का होना भला है। एक शाहपुर ग्राम है मध्य प्रदेश में, वहाँ से हम पैदल के रास्ते से नैनागिरि जा रहे थे, साथ में और भी भाई थे। वहाँ एक चर्मकार (मोची) भी साथ हो गया। तो रास्ते में चले जा रहे थे परस्पर में बातचीत करते हुए, ताकि रास्ता कटता चला जाए। अब तो उस चर्मकार का भी दिल खुल गया सो हमसे वह खूब बातें करने लगा। वह भी खूब बातें करे और हम भी। होते-होते हमने एक बात छेड़ दी कि भाई यह तो बताओ कि इन ब्राह्मण, ठाकुर, बनिया, चमार, मेहतर आदि भी जातियों में सबसे बड़ा कौन है? गप्पें ही तो हो रही थीं। गप्पों में ही मैंने उससे पूछा, तो वह सबकी बात काट-काट कर अपनी बात रखता जाए, और अन्त में उसने यही कहा कि सबसे बड़ी जात तो चर्मकार (मोची) है। अच्छा देखो अब भी आप लोग सब जैन-जैन है; अग्रवाल, खण्डेलवाल, जायसवाल, परवाल, गोलालारे, गोलसिंगारे आदिक जितने-जितने भी जैन हैं वे सब एक समान ही तो हैं, उनमें कोई अन्तर तो नहीं है, पर हम तो ऐसी सम्भावना कर रहे हैं कि इनमें हर एक कोई अपनी-अपनी दृष्टि में यही रखता होगा कि बस सबसे ठीक तो हम हैं। मान लो कोई शादी विवाह की बात आ जाए खण्डेलवाल आदि किसी से कहें कि भाई हमारे यहाँ शादी कर लो, तो वे आश्चर्य भरे शब्दों में कहेंगे–अरे इन भाइयों के यहाँ? हम तो न करेंगे तो बात यह बतला रहे कि जो जीव जिस कुल में, जिस जाति में जिस योनि में उत्पन्न हो जाता है उसका अपने देह में अभिमान हो जाता है कि यह मैं हूँ। पर यह मैं कुछ नहीं हूँ। बहुत नीचे डुबकी लगानी पड़ेगी और भीतर समझना पड़ेगा कि मैं क्या हूँ। एक परमार्थ शुद्ध चैतन्य स्वरूप परमात्मतत्त्व। यह तो कीचड़ है, यह तो झंझट है, यह तो मायाजाल है, इसे तो संसार में रुलना होता है। अपने अन्तः प्रकाशमान उस कारण परमात्म तत्त्व को समझो, उससे नेह लगाओ उससे रुचि करो, यह हूँ मैं जीव, तो भला हो जाएगा।

देखो भलाई के मार्ग पर कोई मिल जुलकर नहीं चला जा सकता। अकेले अकेले में विचार करके, चिन्तन करके, अकेले में प्रकाश बनाकर यह चल पाएगा, तो मूल बात यह है कि आश्रवरहित जो आत्मा का परमात्मस्वरूप है चैतन्य मात्र, उसकी प्रतीति बनना चाहिए कि मैं तो शुद्ध चैतन्यमय मात्र हूँ। यह शरीर मैं नहीं, मैं मनुष्य नहीं, मैं अन्य-अन्य कुछ भी नहीं। मैं तो एक शुद्ध ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ। ऐसी प्रतीति हो तो आश्रव का स्वागत न होगा। और जिसका स्वागत न होगा वह काहे को आएगा? कर्म का हम स्वागत कर रहे हैं, कर्म के घनिष्ट बनते हैं और संसार में फिर हमको रुलना पड़ता है इसलिए सावधानी रखें, रागद्वेष मोह का परित्याग करें और सब जीवों को एक समान समझें और एक निर्णय बनावें कि मैं अगर बुरा विचार करता हूँ, बुरी कल्पनाएं करता हूँ, विरोध की बात करता हूँ, द्वेष की बात करता हूँ, अहंकार जताता हूँ या किसी के साथ छल करता हूँ तो इससे मेरा ही बुरा होगा अन्य किसी दूसरे के अपराध से मेरा बुरा न होगा। मै ही संसार से बँध जाऊँगा और हमें ही संसार में कीड़ा मकौड़ा जैसी दुर्गतियों में भ्रमण करना पड़ेगा।

मुक्ति के प्रोग्राम में ही हित का लाभ—इस संसार में प्रत्येक जीव अकेला ही जन्मता है, मरता है, सुख दुःख भोगता है। हम आप सब लोगों की ऐसी ही स्थिति हैं। किसी भी बाहरी पदार्थ को देखकर कि मकान है, फर्म है, दुकान है, प्रतिष्ठा है, इज्जत है, सुन्दर शरीर है, बड़े आराम के साधन हैं, इन सबको देखकर मन में रंच भी संतोष न लावें। इससे क्या होता है? ये कुछ समय के लिए हैं, बाद में छोड़कर जाना पड़ेगा। और जितने समय के लिए हैं उतने समय भी उसके आश्रय से हम अपने उपयोग को उस ओर लगाते हैं, सो बेचैन होते रहते हैं। इनमें सारका नाम नहीं है। ऐसा जानकर एक ही निर्णय रखें कि बाहरी पदार्थों में हमें सन्तोष की कोई चीज नहीं है। अब अपने आपको क्या करना चाहिए? बाहरी पदार्थों से तो हमारा पूरा पड़ेगा नहीं। बाहरी प्रभावों के प्रसंग में तो मेरा गुजारा होगा नहीं, सब छोड़ना पड़ेगा। तब हमको अपनी शान्ति के लिए क्या करना चाहिए? बहुत ध्यान से एक भव में एक यह निर्णय तो बनालें और उस पर चलने के लिए कमर कस लें। बाहरी पदार्थों से बिल्कुल उपेक्षा करें। जो होता है उसके जाननहार रहो। यहाँ की घटना से अपने सम्मान अपमान का निर्णय न करो। सम्मान अपमान का निर्णय इसमें करो कि मेरी आत्मा परमात्मस्वरूप की ओर रहे और उसमें सन्तुष्ट रहे, तो वह है मेरा वास्तविक सम्मान और अपने स्वभाव से चिगकर बाहरी पदार्थों में रागद्वेष करके अपने को अंधेरे में रखना इसे कहते हैं अपमान। जीव की सर्वोत्कृष्ट अवस्था बस परमात्मा होने की है। परमात्मा का स्वरूप क्या कि ऐसा आत्मा स्वयं जो कुछ है वही मात्र रह जाए, इसके साथ रागद्वेष का कीचड़ न रहे। आत्मा केवल जानन देखनहार रहे, विकल्प से छूट जाए ऐसी एक निर्मल अवस्था को कहते हैं परमात्मदशा। हम आप इस परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर सकते हैं। सोचते हैं ना जैसे जीवन में कि हमको अमुक काम करने को पड़ा है, अरे वह मेरा कोई लक्ष्य नहीं है। वह तो एक

जीवन चलाना है इसलिए एक उपलक्ष्य है, मेरा लक्ष्य तो यह है कि मैं कब परमात्मा होऊँ कब रागद्वेष मोह भाव से मुक्त हो जाऊँ।

सर्व जीवों से अपनी विवक्तता निरखने वाले में धर्मपात्रता—भैया आपका संसार के इन जीवों से कोई सम्बंध है क्या? आज जो घर में आ गए उनसे कोई लेन देन का सम्बंध है क्या? उनके आत्मा में कोई नाम खुदा है क्या कि ये मेरे अमुक हैं? अरे जैसे सड़कों पर चलते हुए आदमी एक चोहट्टे पर मिलते हैं तो वे कितनी देर को मिलते हैं? वे बिछुड़ जाते हैं, इसी प्रकार यह एक चोहट्टा है, मिल गए फिर बिछुड़ जाएंगे। तो इतने समागम में या इससे थोड़े बहुत दूर के समागम में अपना सारा उपयोग उस तरफ लगा देने से बिगाड़ कितना है? जिसकी कोई म्याद नहीं। कहो अनन्त काल तक भी संसार में जन्म-मरण करते रहें। देखते है कि कुत्ता बिल्ली कीड़ा मकौडा वगैर कैसे-कैसे दुःखी जीव है, उनको देखकर यही तो ख्याल करना चाहिए कि यदि हम रत्नत्रय धर्म का पालन न कर पाएंगे तो यही दशा हम आपको मिलेगी। तो क्या करना चाहिए? पहले यह निर्णय बनालो कि घर, परिवार, कुटुम्ब, इज्जत, सम्मान, ये सब मेरे लिए कुछ चीज नहीं हैं, इनसे मेरे जीव का कुछ हित नहीं है। पहले तो एक निर्णय बनायें। अगर यह निर्णय न बन पाया और चित्त में यह बात समायी हो कि मेरा ही तो घर है, मेरा ही तो कुटुम्ब है, यह अनोखा कितना है तो बस उसी के रह जाएंगे। कुछ समय तक संयोग हैं। बाद में संसार का यह परिभ्रमण है। कुछ तो चेतो। इन दुःखों को पाकर ऊब तो गए ही होंगे। अब तो इनसे मुख मोड़ो। और इन दुःखों से ऊबे हो तब एक निर्णय बनाओ कि मेरे लिए यह सब कुछ नहीं है। मेरे लिए तो मेरे पास मेरा धर्म है।

धर्म की संवररूपता—धर्म क्या है उसकी बात कही जा रही है, लेकिन बहुत आसानी से समझ जाएं इसके लिए धर्म को १० प्रकारों में विभक्त करके आचार्यों ने बताया है। क्षमा, मार्दव, आर्जव, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, आकिञ्चन्य और ब्रह्मचर्य। और ऐसी एक पद्धति भी सुझाव में दी कि भाई जिन दिनों में कोई रोजगार में भी व्यस्तता नहीं है, विवाह शादी में भी व्यस्तता नहीं हैं, ऐसे भादों के महीने में इनको करें, यद्यपि साल में ३ बार पर्यूषण कहा गया है मगर भाद्र के महीने में ऐसा अवसर होता है कि कोई व्यस्तता नहीं होती। रोजगार आदि में ही अगर उपयोग लगाये रहें तो भला बतलावो इस पर्वका लाभ क्या उठाया? कुछ आरम्भ कम करें और धर्म की उपासना में अधिकाधिक रहें। धर्म नाम किसका है कि जो आत्मा को दुःखों से छुड़ाकर उत्तम सुख में पहुँचा दे। तो क्या है वह धर्म? जो आत्मा का स्वभाव है वह आत्मा का धर्म है। स्वभाव क्या है? बस जानना देखना। रागद्वेष मोह करना स्वभाव नहीं, ये तो अधर्म हैं, और केवल जाननहार रहना, ज्ञाता दृष्टा रहना यह धर्म है। धर्म पालन है ज्ञाता दृष्टा रहने में और अधर्म है मोह करने में। अपनी जिन्दगी का

हिसाब भी लगाना चाहिए। रोज-रोज लगाओ तो बड़ा अच्छा है। उसी के लिए तो जाप देने का समय रिजर्व किया गया है कि रोज जाप दो और उसमें अपना नफा टोटे का हिसाब लगाओ। मैंने रागद्वेष मोह में कितना समय गुजारा और रागद्वेष न करके ज्ञातादृष्टा रहने में कितना समय गुजारा, इसका हिसाब लगाओ। रोज न लगाओ तो साल में इन १० दिनों में तोल डालो कि हमने साल भर में कितना तो अधर्म किया और कितना धर्म की ओर रहे। धर्म है बस ज्ञाता दृष्टा रहो। लेकिन बाहर की बातों में क्रिया काण्डों में धर्म का पूरा रूप श्रद्धा में लेना है। लोग उसके पीछे लड़ते झगड़ते हैं। अरे वह तो धर्ममार्ग में ज्ञान का प्रकाश है। जानन देखनहार रहो, रागद्वेष न करो, इसे कहते हैं धर्म। धर्म होगा तो संवर तत्त्व होगा। मोक्षशास्त्र के इस चतुर्थ सूत्र में संवर तत्त्व का वर्णन चल रहा है। संवर हो तो धर्म बन गया और संवर नहीं है तो धर्म नहीं बन सकता। संवर कहते हैं विभावों को रोकना, यानी नवीन कर्म न आने देना। उनके आस्रव का निरोध करना इसे कहते हैं सवंर। वह संवर गुप्ति समिति धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषहविजय, चारित्र इनके द्वारा होती है। ये भी एक साधन हैं। संवर तो एक सबसे निराली दशाकी अनुभूति से होता है। तो परखना है अपने आपमें कि अपना शुद्ध स्वरूप क्या है? शुद्ध स्वरूप है एक ज्ञानमात्र। पहले मिथ्यात्व को छोड़ें तब संवर होगा। मिथ्यात्व के मायने देह को मानना कि यह मैं हूँ। बाह्य वैभवों को मानना कि ये मैं हूँ। हाँ देखो धर्म की बात सही-सही सुनने में, सही, सही बोलने में खुद अपने आपके स्वरूप की ओर झुकान करना पड़ता है। अगर स्वरूप की ओर झुकाव न हो और चित्त कहीं बाहर ही बाहर डोल रहा हो तो धर्म की बात का प्रवेश नहीं होता, इसलिए बाहरी बातों की कल्पनाएं तजकर जरा अपने आपके अन्दर में तो देखो, शरीर मैं नहीं हूँ। शरीर में रहने वाला पिण्ड मैं नहीं हूँ, कर्म मैं नहीं हूँ, विषय कषाय के परिणाम मैं नहीं हूँ। एक शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ। उस ज्ञानतत्त्व को निहारो, उसका अनुभव करो तो उससे संवर तत्त्व प्राप्त होता है। देखो जीव का लक्षण उपयोग बताया गया है। उपयोग एक जानन देखन की परिणति है। जो जानता है, समझता है इसको कहते हैं उपयोग। तो उपयोग तो मेरा स्वरूप है। परन्तु उपयोग में जो और झांकी उठती है, रागद्वेष, क्रोध, मान, माया, लोभ, विषय, कषाय, इच्छा जो कर्मविपाक है वह कर्म की झाँकी होती है, वह मैं नहीं हूँ।

संवरतत्त्व की धर्मरूपता—अब यहाँ दो बातों का निर्णय बनावें उपयोग में उपयोग है और क्रोधादिक कषायों में कषायें हैं, जो ज्ञान की वृत्ति है, यहाँ जो उपयोग की स्थिति है उसमें क्रोध नहीं पाया जाता। क्रोध में क्रोध पाया जाता, ज्ञानमें ज्ञान पाया जाता। मैं तो ज्ञानमात्र हूँ। मेरे में क्रोध का प्रवेश नहीं, यद्यपि अभी इस आत्मा में क्रोध है। हाँ तो देख लो। पानी और दूध मिल गया, पानी में दूध नहीं, दूध में पानी नहीं। स्पष्ट समझ में आ रहा होगा और ऐसा मिला हुआ है कि हम उसे अलग देख नहीं सकते, पर ज्ञान द्वारा समझ सकते कि पानी में पानी है और दूध में दूध है। तो हमारे ज्ञान में हमारे उपयोग में कर्मविपाक की

झाँकियां चल रही हैं, प्रतिभास हो रहा है हम उसकी ओर जितना अधिक आकर्षित होते हैं उतना ही कर्मों की बात बनती जाती है, उनकी सन्तान चलती रहती है, लेकिन उस कर्मविपाक में मैं ज्ञानस्वरूप नहीं हूँ, मुझ ज्ञानस्वरूप में कर्म विपाक नहीं है। अलग करना बड़ा कठिन काम है। मगर समझ लेना सरल बात है। आटा गूंथकर, रखकर, पानी में वे सब आटे के कण भीग गए मगर वहाँ पानी में पानी है, आटे में आटा है। कोई कहे कि अलग करके दिखाओ, तो कहाँ से देखेंगे? ज्ञान से समझें तो समझ जाएंगे। ऐसे ही इस उपयोग का, इस कर्मविपाक का ऐसा सम्बन्ध बन रहा है कि वे एक ही प्रदेश में है, परिणति भी एक सी हो रही। आटा और पानी से भी अधिक सम्बन्ध हो रहा है। परिणति मानों एक हो रही है फिर भी ज्ञान द्वारा समझलें। कि ज्ञान में ज्ञान है और कर्मविपाक में कर्मविपाक है। ऐसे विपाक से निराला अपने आपके स्वरूप को परख लेवें। यह एक इतना बड़ा वैभव है कि जिस वैभव का फल है तीन लोक का अधिपति होना। यह संवर तत्त्व की बात चल रही है। जब तक संवर नहीं होता तब तक मोक्षमार्ग नहीं, धर्म नहीं, मुक्ति के रास्ते में लग नहीं सकते। तो अब इन बाहरी बातों की उपेक्षा रखकर अपने अन्दर यह चिन्तन करें कि बस मेरा स्वरूप मेरी दृष्टि, मेरा स्वरूप, इसका आश्रय, यह ही मेरे लिए शरण है।

अनधिकार चेष्टा का परिणाम असार संसरण—देखो भैया? जो बात अपने अधिकार की नहीं उस पर तो बुद्धि लगाये फिरते हैं और जो अपने अधिकार की बात है उसकी ओर बुद्धि नहीं लगाते। अब अनधिकार कोई हस्तक्षेप करे तो लोग उसको नाम धरते हैं। और यहाँ अनधिकार यह हस्तक्षेप करने जा रहे इस पर कुछ भी संकोच नहीं करते। इन पर वस्तुओं पर, इस देह पर, कुटुम्ब के लोगों पर, इन मेरा क्या अधिकार? वे जीव हैं, स्वयं हैं। अपने आपकी सत्ता लिए हुए हैं। जैसे हम रुलते हैं वैसे ही वे रुलते हैं। स्वतन्त्र हैं। कोई अधिकार नहीं, तो उस कमाई पर, पैसे पर, वैभव पर यह दृष्टि लगाये हैं कि यह ही मेरे लिए सब कुछ है। और देखिये अपने आत्मा के स्वरूप पर अपना अधिकार है। हम हैं, सदा रहेंगे, अमर हैं, कष्टहीन हैं, तकलीफ का कोई काम नहीं है। अन्तर्दृष्टि करके देखो भैया, तो इस जीव को कष्ट का कोई काम नहीं। सब सुखी हैं, सब शान्त हैं। सबमें अनन्त आनन्द के अभ्युदय की शक्ति है। कोई दुःखी नहीं है। दुःख तो यों हो गया कि हम अपने कुल के काम से हट गए हैं। जैसे कोई बड़े उच्च कुल का आदमी हो और नीच काम करने लगे तो उसे लोग नाम धरते हैं, देखो तुम अपने कुल से हट गए और खोटे काम में आ गए। तो यही बात यहाँ हो रही। हम अपने कुल से हट गए। मेरा कुल है चैतन्य, चेतना, ज्ञाता दृष्टा रहना। इस कुल की यह रीति है कि जानन देखनहार रहें, आगे मत जावो। जैसे अजायबघर में दर्शक लोग देखने जाते हैं तो वहाँ यह नियम रहता है कि बस तुम देख लो, किसी चीज में हाथ मत लगाओ। अगर हाथ लगाओगे तो गिरफ्तार हो जावोगे। इसी तरह यह जगत का सब अजायबघर है। अजायबघर में सफेद मोर, बड़ा अजगर, बड़े-बड़े शेर वगैरह ये कहाँ

से आए? यह संसार का अजायबघर ही तो है। उस बड़े अजायबघर से पकड़कर छोटे अजायबघर में रख लिया। तो इस छोटे अजायबघर को देखने के लिए तुम क्यों उत्सुक हो? देखो यह कैसा बड़ा अजायबघर है, इसमें कैसे-कैसे लोग हैं, कैसे-कैसे जीव हैं, देख लो, इनको छुओ मत, इनमें राग मत करो, अपने मन को डुबाओ मत। पृथक् रहो। जहाँ राग किया तो इसका पहरेदार कर्म है, यह गिरफ्तार करेगा। राग करोगे तो बंध जाओगे, विरागता करोगे तो छूट जाओगे, यह ही तो जिन आगम का संक्षेप है। रागद्वेष छोड़ो और अपने धर्म को सम्भालो। देखो जो पुरुष धर्म मार्ग में लगता है वह क्षमाशील होता है। इसके अन्दर क्षमा का गुण प्रकट होता है। कोई तुरन्त अपराध करे तो या पहले अपराध किया हो तो, अपराधी पर यह क्षमाभाव रखता है। जैसे कोई बड़ा काम करने को पड़ा हो ना तो उस बड़े काम को सम्भालने के प्रसंग में कोई लोग अगर कुछ अपराध भी कर डालें, कुछ विघ्न भी करते हों तो उन अपराधों को भी वह क्षमा कर डालता है। आप लोग कोई बड़ा काम अगर करते हैं तो कोई विघ्न भी आए, कोई अपराध भी करे, कोई उसमें दुष्टता भी करे तो भी आप क्षमा करते जाते हैं, क्योंकि आपको एक बड़ा काम पार पाड़ना है। तो इसी तरह से संसार के संकटों से सदा के लिए छूट जाना, इसको आप कितना बड़ा काम समझते? जगत में कोई इससे भी बड़ा काम है क्या? इतना बड़ा काम करने कोई चले तो यहाँ कितने भी विघ्न आएं, कितने भी कोई अपराध करे, कितनी भी कोई बाधा डाले मगर उन सबके अपराधों को यह ज्ञानी पुरुष क्षमा करता जाता है, क्योंकि उसकी एक धुन है कि मुझे मोक्ष जाना है, मेरे को परमात्मास्वरूप पाना है। यह क्या है? यह तो मामूली सी बात है।

सर्वाधिक प्रियतम सहज ज्ञानस्वभाव की आराधना की श्रेयस्करता—हमको क्या करना है? देखो आदत है राग करने की। तो इस प्रसंग में हम आपसे एक बात कहते हैं कि आप लोग कर्म करो, प्रेम करो, राग करो, खूब करो मगर एक शर्त आपको देते हैं जो दुनिया में सबसे अधिक प्यारा हो उससे प्यार करो, मगर ऐसी आदत न बनाओ कि प्यार किया फिर उसे बिगाड़ दिया, फिर प्यार किया, फिर उसे बिगाड़ दिया। तो ऐसा छोड़ने वाला काम न करो। जिस पर प्यार करो तो प्यार करते ही रहो और ऐसा आप तब ही कर सकते हो कि जो दुनिया में सबसे अधिक प्यारा हो उससे प्यार करो तो वह प्यार निभायेगा और जो छोटे बड़े प्यार होते उनमें यह बात न निभ पाएगी। तो छटनी बनाओ कि दुनिया में सबसे अधिक प्यारा क्या है? जरा खोज करो, अपने मन में सोचो जिसे जो अधिक प्यारा हो सोच लो, फिर हम आपको बतायेंगे कि सबसे अधिक प्यारा क्या है? देखो सर्वाधिक प्रिय वस्तु की यह परिभाषा है कि जिससे बढ़कर और कोई प्यारा कभी भी न लगे उसे कहते हैं सर्वाधिक प्यारा। देखो ६–७ महीने का या साल भर का जो बच्चा होता है उसे सबसे अधिक प्यारा क्या है? अपनी माँ की गोद। देखो यह बात सभी की कह रहे हैं, हम आप भी तो कभी बच्चे थे। तो उस बच्चे को माँ की गोद से बढ़कर प्यारी चीज और कुछ

नहीं है। उसे कुछ भी संकट आए तो झट माँ की गोद में छिपकर अपने को संकटरहित अनुभव करता है। तो उस बच्चे को सर्वाधिक प्रिय हुई अपनी माँ की गोद। वही बच्चा बढ़कर जब ४–५ वर्ष का हो जाता है तो अब उसे माँ की गोद प्रिय नहीं रहती। उसे तो खेल खिलौने प्रिय हो जाते हैं। माँ उसे पकड़ कर अपनी गोद में बैठाना चाहती है पर वह बालक अपनी माँ से छूटकर बाहर भागता है। खेल खेलने में उसकी रुचि हो गई। तो अब उसे खेल खिलौने प्रिय हो गए, माँ की गोद प्रिय न रही तो जिसका प्यार बदल जाए उसे प्रिय वस्तु कह सकते क्या? जो सर्वाधिक प्रिय चीज हो उसकी कभी बदल नही हो सकती। जो माने हुए प्यार हैं उनकी बदल हुआ करती है। वही बालक जब १०–१५ वर्ष का हो जाता है तो उसे खेल खिलौने प्रिय नहीं रहते। उसे पढ़ाई प्रिय हो जाती है। जब स्कूल में गणित सीखता है, जोड़ बाकी लगाता है तो उसे कितनी खुशी होती है। कभी किसी बालक से पूछा जाए कि बताओ ८ गुणा ८ बराबर कितने होते हैं। तो जब तक वह हिसाब लगा नहीं पाता तब तक दुःखी रहता है, जिसे कहावत में कहते हैं नानी मर गई, और जब वह हिसाब लगा लेता है ८ गुणा ८ बराबर ६४, तो कितना प्रसन्न होता है। उतनी प्रसन्नता तो उसे लड्डू पेड़ा खाने पर भी नहीं होती। तो अब उस बालक को विद्या प्रिय हो गई। विद्या पढ़ने सीखने में उसका मन लगता। वही बालक जब १८–२० वर्ष का हो जाता है तो उसे विद्या भी प्रिय नहीं रहती। उसको डिग्री प्रिय हो जाती है। चाहे पढ़े चाहे चूल्हे में जाए, पर पास होना चाहिए। सर्टीफिकेट मिलना चाहिए, डिग्री मिलनी चाहिए। परीक्षा होने पर वह पता लगाता है कि कहाँ किसके पास कापियां गई, वह नम्बर बढ़वाने की कोशिश करता है। तो देखिए वहाँ उसे विद्या तो प्रिय नहीं रही, डिग्री हो गई। वह जिस चाहे तरह से प्रयत्न करके डिग्री प्राप्त करता है। जब कुछ और बड़ा होता है, मानो २५ वर्ष का हो गया तो उसे स्त्री प्रिय हो जाती है। वह विवाह करता है, और उस स्त्री से इतना अधिक प्यार होता है कि यदि कभी सास बहू में झगड़ा हो जाए तो वह अपनी स्त्री का ही पक्ष लेता है। तो अब उसे ही डी० लिट वगैरा की उपाधियों से प्यार हट गया। जब कुछ और बड़ा हुआ, कुछ बच्चे हो गए तो उसे सबसे अधिक प्रिय बच्चे हो जाते हैं, उसे अब स्त्री भी प्रिय नहीं रहती। कदाचित किसी बच्चे को स्त्री पीट दे तो वह स्त्री पर नाराज होता है। अब उसका स्त्री से भी प्यार हट गया, बच्चों से प्यार हुआ। कुछ और बड़ा होने पर जब बहुत बच्चे हो जाते हैं तो उसे धन से प्यार हो जाता है, अब बच्चे भी उसे प्रिय नहीं रहते। ये सब बातें आपकी समझ में खूब आ रही होंगी क्योंकि आप बीत रही हैं। अच्छा धन भी बढ़ गया। मानो वह बाबू जी आफिस में बैठे हुए हों, वहाँ घर से फोन आया कि घर में आग लग गई, जल्दी आओ। अब वह बाबूजी बड़ी जल्दी-जल्दी दौड़कर घर पहुँचे। और दिन तो घर लौटते समय रास्ते में रुककर किसी से कुछ बातचीत भी कर लिया करते थे, उस दिन बिना कहीं रुके दौड़ते हुए गए वहाँ पहुँचकर देखा तो सचमुच घर में आग लगी थी वहाँ जाकर सब बच्चों

को निकाला, सारा धन निकाला, पर आग अधिक तेज बढ़ती गई। एक बच्चा घर के अन्दर ही रह गया। वह न निकल सका। तो वह बाबूजी पास खड़े हुए लोगों से कहते हैं—भैया हम १०,०००) देंगे, कोई हमारा बच्चा घर से निकाल दो। देखिए वहाँ बाबूजी को धन भी प्रिय न रहा। उन्हें प्रिय हो गई अपनी जान, अपने प्राण। कदाचित उसी घटना में उन बाबूजी को जाग जाए वैराग्य, दीक्षा ले लें, और अध्यात्म साधना करते समय अगर कोई शेर वगैरा जंगली जानवर या कोई शत्रु हमला कर दे, जान ले ले तो भी वह जान प्राण जाने की परवाह नहीं करता। वह तो समाधि में, ज्ञान की साधना में लीन रहता है। तो बताओ उसे सबसे प्यारा क्या रहा? उसे सबसे प्यारा रहा अपना ज्ञान। अब ज्ञान तक तो हम ले आए, इससे आगे बढ़कर अगर और कोई जानता हो तो हमें बतावे। हम तो इतना तक समझ सके कि सबसे अधिक प्रिय चीज है ज्ञान। इससे बढ़कर और कुछ प्रिय नहीं। जब ज्ञान में दृष्टि जाती है तो फिर इसकी बदल नहीं होती।

क्षमाशील होकर ज्ञानरमण करने में कृतार्थता—जो ज्ञान-ज्ञान में रमता है। तो वह ज्ञान कहीं बाहर नहीं है उस ज्ञान की मूर्ति तो आप लोग हैं। अपने ज्ञान को सम्भालें, बाहर के रागद्वेष मोह भाव को हटायें तो वह ज्ञान का लाभ अपने आप में स्वयं मिल जाएगा। उसमें किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है। देखो यह दुर्लभ मनुष्य जीवन मिला है, इसमें एक अपने आपको सम्भाल लेवें तो सब सम्भल जाए। आज के दिन में यह धारणा बनायें कि हम क्षमाशील रहेंगे। अगर कोई बात करे तो बल में बड़ा हो, या धन में बड़ा हो या इज्जत में बड़ा हो, या किसी तरह बिगाड़ करने में समर्थ हो उसके प्रति तो सभी क्षमा रखते हैं। वहाँ भी क्षमा है वीर का भूषण। ऐसी क्षमा की बात चित्त में आए तब तो समझो कि हमने अपने जीवन में कोई बात प्राप्त की। तो संवर के उपायों में एक बहुत आवश्यक सुगम उपाय है यह उत्तम क्षमा। सम्यग्दर्शन के साथ-साथ क्षमा भी प्राप्त हो। ऐसी उत्तम क्षमा भव-भव के कर्म बन्धनों को काटने में समर्थ है, नवीन कर्मों के आने के रोकने में समर्थ है और अपने को तृप्त करने में समर्थ है। कषाय करके कोई आनन्द न पा सकेगा। जो भी आनन्द पा सकेगा वह कषाय छोड़कर ही पा सकेगा। तो ऐसे कषाय भावों को दूर करके और अपने आपके स्वभाव की सुध ले करके अपने आप में आप तृप्त रहना, यह काम अगर इस जीवन में बन सके तो भैया समझो कि हमने कोई अलौकिक कार्य किया और यह न बन सका तो जीवन को सभी लोग पाते हैं सभी का जीवन है। उस जीवन से क्या लाभ है? संसार का भ्रमण है, रुलना है। उस जीवन से इसका कोई लाभ नहीं है। जीवन तो जीव का जीव में सदैव जीवित है। उस सहज अमिट जीवन की दृष्टि न करके विनश्वर संयोगभव जीवन को जीवन समझ कर उस जीवन की रुचि करना अपनी विडम्बना करना है।

परभावविविक्त अन्तस्तत्त्व की श्रद्धा बिना मुक्ति की असंभवता—यह जीव स्वभाव से ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। इसका स्वरूप ही ज्ञानानन्द है। इसको किसी प्रकार

का कष्ट नहीं। इसमें किसी भी प्रकार का अधूरापन नहीं, ऐसा इसका स्वभाव है। फिर भी आज वर्तमान हालत जब देख रहे हैं तो संसार के सभी प्राणियों की हालत शोचनीय है। दुःखी रहते हैं। विकल्प करते हैं, क्षोभ करते हैं, परेशान होते हैं, जन्म मरण का दुःख भोगते हैं। इस संताप का विनाश करना यह सबसे बड़ा भारी काम इस जीवन में है। उन सबका विनाश इस भव में तो न हो पाएगा। मगर उपाय तो बनाना चाहिए। उपाय बन जाएगा तो हो जाएगा। यह पंचम काल है। यहाँ साक्षात् मोक्ष नहीं है, लेकिन मोक्ष के प्रारंभिक उपाय पर तो हमारा अधिकार चल सकता है। तो हम सम्यक्त्व प्राप्त करें और संवर निर्जरा तत्त्व का उपादान करके, ग्रहण करके मुक्ति के मार्ग में बढ़ें चलें, यह हमारा आज प्रथम कर्त्तव्य है। तो कैसे होगा कर्म का संवर, कर्म की निर्जरा, तो देखिए—कर्म दो तरह से जानना चाहिए द्रव्यकर्म और भावकर्म। जो मुझमें भाव उत्पन्न होते, रागद्वेष विकल्प विचार तर्कणायें ये सब भावकर्म हैं और इनके निमित्तभूत जो द्रव्यकर्म हैं, ज्ञानावरणादिक ८ प्रकार का कर्म है। जो जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह बन्ध है वह द्रव्यकर्म है। तो कैसे द्रव्य कर्म से मुक्ति मिले और भावकर्म से मुक्ति मिले, उसका उपाय देखिए तो मूल में एक ही उपाय है। द्रव्य कर्म से रहित, भाव कर्म से रहित इसमें स्वभाव की श्रद्धाकर लीजिए मैं ज्ञानमात्र हूँ, अपने आपमें ज्ञानस्वरूप हूँ, इसमें अन्य का प्रवेश नहीं, ऐसी श्रद्धा करना, ऐसा ही ज्ञान बनाना और ऐसे ही उस ज्ञानभाव में लीन होना, इसको कहते हैं मोक्ष का उपाय। देखिए जैसे चौंकी पर कूड़ा करकट जमा है या बीट जमा है और इस चौकी को मुक्त करना है मायने कूड़ा करकट बीट आदि जो जमा हैं उनसे इस चौकी को मुक्त करना है, तो जो चौकी को निर्मल बनाता है उसके मन में यह श्रद्धा है कि नहीं कि चौकी के स्वभाव में मल नहीं, कचड़ा नहीं, बीट नहीं। चौकी का स्वभाव तो चौकी में जो कुछ है स्वयं, सो है, ऐसी श्रद्धा न हो तो चौकी को साफ कर सकेगा क्या? अगर पहले से जानें कि यह तो चौकी की चीज है, जितना मैल जमा है यह चौकी का स्वरूप है तो चौकी को साफ कर सकेगा क्या? इसी तरह अपने आत्मा को अगर साफ करना है मायने कर्म बन्धन से मुक्त करना है तो यह श्रद्धान बहुत आवश्यक है कि इस द्रव्यकर्म भावकर्म रागादिक भावों से मैं निराला हूँ, मेरे स्वभाव नहीं। मैं तो भीतर में पूरा का पूरा विशुद्ध ज्ञानस्वरूप को लिए हुए हूँ। यह श्रद्धा करना आवश्यक है। तो ऐसा ही उपयोग निरन्तर बनायें, क्योंकि वह उपयोग अगर यहाँ नहीं रमता है और उपयोग बाहरी पदार्थों में रमता है तो वहाँ सिवाय क्लेश के और कुछ नहीं है। जहाँ क्लेश है वहाँ कर्म बन्धन है, जहाँ आनन्द है वहाँ कर्म बन्धन नहीं है।

आनन्द की सुख दुःखातीतता—भैया ऐसा भी कहे तो कोई हर्ज नहीं संसार के सुख में भी क्लेश ससार के दुःख में भी क्लेश, इसलिए सांसारिक सुख को भी क्लेश और दुःख को भी क्लेश के खाते में जमा करें। सांसरिक सुख को आनन्द खाते में जमा मत करें। वह आनन्द नहीं आनन्द तो आत्मदर्शन, आत्मानुभव आत्मस्वभाव और आत्मरमण में है

यहाँ जो कुछ एक परम सहज आल्हाद उत्पन्न होता है उत्कृष्ट विलक्षण, किसी के पूर्ण है किसी के कम है, वह कहलाता है आनन्द। उस आनन्द से कर्म झड़ते हैं। कष्ट से कर्म नहीं झड़ते। जैसे लोगों की यह दृष्टि बन गई कि व्रत, तप करने में कष्ट है और बेकार चीज है, उससे लाभ नहीं है किन्तु व्रत, तप करते हुए में जो अपने भीतर आनन्द मानता हो, ज्ञानदृष्टि की तृप्ति मानता हो वह आनन्द तो कर्मनिर्जरा का कारण होता है। उपवास का क्या महत्त्व है, इस बात को वह ही तो समझ सकेगा जो ज्ञानपूर्वक उपवास रखता है उसका ऐसा चित्त होता है, ऐसा मन होता है कि जिसे उस समय एक बहुत अच्छा वातावरण मिलता है। व्रत, तप आदि सम्यक्त्व बिना भी करे कोई तो भी पाप बन्ध बराबर तो न होगा। पाप से जो हानि है उससे तो बच जाएगा, और सम्यक्त्वसहित व्रत, तप संयम बने तो वह मोक्षमार्ग पर चलेगा, उससे मुक्ति का मार्ग बनेगा। तो देखिए बात है अपने आपको ज्ञानमात्र अनुभव करने की, मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, मेरे में इच्छा नहीं, इच्छा मेरा स्वरूप नहीं है। यह बात तब बनती है ना जब यह ज्ञान में आ जाए कि मेरा पर से सम्बन्ध नहीं, पर पर में है, मैं मुझमें हूँ, परका मैं कर्ता नहीं, परका मैं भोक्ता नहीं। मैं तो अपने आपकी वस्तु में परिणमन करता रहता हूँ। इसके सिवाय दूसरी बात है ही नहीं यहाँ पर, ऐसी जिसकी श्रद्धा हो वह ही इच्छा पर विजय प्राप्त कर सकता है। तो जिसको ऐसा अपने भीतर का परिचय है कितना ही उस पर कर्म का उदय आये मगर वह कर्म से लिप्त नहीं होता। भला सुकुमाल मुनि का शरीर स्यालिनियों ने चींथा, खून निकल आया, माँस के लोथड़े प्रकट हो गये, इतना होने पर भी उपयोग निर्मल रहा, इस ज्ञानस्वभाव में ही उपयोग मग्न रहा, यह बात दूसरों को कठिन दिखती है, लेकिन जिसने इस ज्ञानस्वभाव को ही आत्मीय आनन्द रूप मे अनुभव किया, शरीर तो यों है जैसे कि और शरीर ऐसे ही परद्रव्य जिसने शरीर को मान लिया भीतर में, जिसका इतना दृढ़ श्रद्धान है उसको उस समय में कोई बाधा नहीं होती और कोई विलक्षण ही आनन्द का अनुभव वह करता रहता है।

आत्मीय आनन्द के उपभोग में कर्म का प्रक्षय—वह देखो सुकुमाल मुनि, किसके प्रताप से उन्होंने उर्द्धगति पायी। उन सुकौशल मुनि को सिंहनी ने खाया, उनका वक्षस्थल विदारा उनके मस्तक को नोचा, इतने पर भी वे अपनी आत्मसाधना से रंच भी नहीं चिगे, वे भी तो आनंदमय हुए? अरे कष्ट तो वहाँ था ही नहीं। सहन करने की बात तब ही तो आए कि जब कष्ट हो, कष्ट तो उस उपयोग में था ही नहीं, शरीर की बात शरीर में हो रही, वह अपने आत्मस्व रूप को अपने आत्मा में मग्न करता रहा है। ज्ञान का यही उपयोग चल रहा है। कष्ट का अनुभव भी नहीं है। उस अनुभव के प्रताप से संसार से मुक्ति होती है। तथ्य तो भाई यही कि यह निर्णय बनावें कि बाहर में आनन्द नहीं है। किसी भी बाह्य पदार्थ से मेरे को आनन्द न मिलेगा। आनन्द मिलेगा तो मेरे को मेरे आत्मप्रदेश में ही मिलेगा अन्य वस्तु में आनन्द नहीं है, झंझट है, यह राग आग है। किसी भी पर जीव के प्रति राग करे तो

आग की तरह जलन करती है। श्रद्धा बनायें, परस्थितिवश बोलना पड़े तो बस बोल लें परस्थितिवश तो जिस चाहे से प्रेम से बोलते हैं। दुकान में, घर में रहते हैं, पेट पालन करते हैं, परिस्थिति ऐसी है तो आपको कुटुम्ब से बोलना पड़ता है तो बोल लें, पर श्रद्धा यह बनावें कि यह मेरा कुछ नहीं है। मैं तो इन सब से निराला ज्ञानमात्र हूँ।

ज्ञानाराधना में ही शान्ति की संभवता—शान्ति का काम आज से न लो आपकी मर्जी किन्तु अगर शान्त हो सकें, मुक्ति पा सकें तो यह ही उपाय करेंगे तब पा सकेंगे, दूसरा कोई उपाय नहीं है। तो ऐसे अपने ज्ञानस्वरूप में निहारकर इन विभावों से उपेक्षा करना उपभोग से उपेक्षा करना और एक ज्ञानस्वरूप की आराधना में रहना, बस इसी से सवंर होता है; इसी में दस धर्म आ गए। सब कुछ अपने आप आ जाता है। एक ज्ञानमात्र स्वरूप की बात है वह सब इसमें अपने आप आ जाएगा। क्रोध न करना, घमंड न करना, मायाचार न करना, छल कपट न करना, एक अपने आप पर करुणा कर लें, दया कर लें, दूसरा जीव कोई मददगार नहीं किसके पीछे अपनी आत्मा को खराब करना कौन मेरा प्रभु है, कौन ईश्वर है, कौन साथी है? किसके लिए अपने आत्मा को बर्बाद करना और जन्म मरण का रास्ता लेना क्या जरूरत पड़ी है? किसी प्रकार का छल करने की क्या जरूरत पड़ी है कि लोभ कषाय को मन में रखें। परिस्थिति है तो वहाँ आप अपना बजट बनायें, एक घर है, आप की एक संस्था है, आप उसमें संस्था के एक मेम्बर की भांति रहो। राग न करो। सदस्य (मेम्बर) भी तो किसी संस्था में काम करने के लिए तत्पर रहता है, उत्साहित रहता है मगर उसकी श्रद्धा में इतना व्यामोह नहीं है इसके ही सहारे मेरा जीवन है। करता सब कुछ है। जैसे मोही मानव फर्म को तो मानते हैं कि वह मेरे जीवन का एक सहारा है, इसी तरह ज्ञानी पुरुष मानता है कि मेरे ज्ञानस्वरूप की जो आराधना है यही मेरा प्राण है, यही मेरा सहारा है, बाकी तो सब परिस्थितिवश करना पड़ता है। परिवार तो एक संस्था है, मैं तो उसका एक मेम्बर हूँ। जो बड़ा पुरुष है वह अपने परिवार में प्रेसीडेन्ट (प्रधान) का काम कर रहा है। मगर उसमें आपका है क्या? आप तो अपने आत्मा के अधिकारी हैं, दूसरे की आत्मा के अधिकारी नहीं हैं।

उपयोग का स्वभाव में संयमन व प्रतपन का प्रताप—जब क्रोध मान, माया लोभ, कषायें दूर हो जाती हैं तो आत्मा में ऐसी पवित्रता जगती है कि वहाँ सब सच्चाई प्रकट हो जाती है। अब वहाँ असत्य का काम न रहा। जहाँ सच्चाई प्रकट हुई कि वहाँ वास्तविक संयम बनने लगेगा और फिर संयम होने से, व सच्चाई के होने से आत्मा में एक तपश्चरण होना, प्रतपन होना जिसके फल से यहाँ के रागद्वेष मोह सब दूर होते चले जाते हैं, और यह प्रकट अकिञ्चन बन जाता है। ब्रह्म में लीन होने का यह ही तो उपाय है। देखो जैसे एक आतसी काँच आता है उस आतसी काँच के पीछे कुछ कागज के टुकड़े या रुई रख दी जाए और उसमें सूर्य की किरणें केन्द्रित करके सूर्य का प्रकाश डाला जाए तो वह

कागज या रूई जल जाता है। तो वहाँ हुआ क्या? काँच तो एक साफ होना चाहिए निर्मल होना चाहिए पहली बात। और फिर सूर्य की किरणें केन्द्रित हो जाना चाहिए, दूसरी बात। फिर नीचे तपन हो जाएगी। रूई पर वे किरणें पड़ीं तो वहाँ प्रतपन हो जाएगा, फिर वह रूई जलने लगेगी। फिर वहाँ क्या रह जाएगा? फोक, अकिञ्चन रह जाएगा, यानी कुछ नहीं रहा। तो क्या फिर रहा? जो है सो ही रह गया। तो इसी तरह क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का त्याग होने से पवित्रता जागी, सच्चाई जागी, स्वच्छता हुई, अब अपने उपयोग की किरणों को केन्द्रित किया। जो उपयोग यहाँ वहाँ भागता था सबको केन्द्रित कर दिया। संयत हो गया उपयोग के संयत होने से यह प्रतपन हुआ, इस चैतन्य आत्मा में एक प्रताप जगा जिसके कारण रागद्वेष मोह जितने भी हो रहे थे वे सब दूर होते चले गए। तब यह आत्मा अकिञ्चन रहा, उस समय यह अपने स्वरूप में लीन होता है, यह उसका ब्रह्मचर्य है। यह एक वैज्ञानिक पद्धति है कि कैसे हम मुक्त हो सकते हैं। जहाँ हम कर्म बन्धन में इतना फँसे हैं तो क्या उपाय है कि हम मुक्त हो सकें? ये १० धर्म एक वैज्ञानिक ढंग से हैं। यह उपाय कर लें तो मुक्ति अवश्य पा लेंगे। तो ऐसे दस धर्मों का सहारा लें और अपने मूल में अभेद दृष्टि से ज्ञानमात्र का सहारा लें तो ऐसा तपश्चरण चलेगा, प्रतपन बनेगा कि कर्म दूर हो जाएंगे, मुक्ति प्राप्त होगी। देखिए—सम्यग्दर्शन के लिए प्रयोजनभूत ये ७ तत्त्व ठीक रहेंगे, इनमें से कौन से तत्त्व की श्रद्धा की जाए कि मुक्ति का मार्ग मिले। दो तो मानने ही पड़ेंगे, जीव और अजीव, जिनका कि झगड़ा युद्ध चल रहा है अब तक बर्बाद हो रहा है यह आत्मा भगवान जिस अजीव के प्रसंग में उपाधि के सम्बन्ध से और उस ओर उपयोग लगाने से उस अजीव के संपर्क से यह भगवान आत्मा बर्बाद हो रहा है। तो इतनी बात तो मानना पड़ेगा कि जीव और अजीव दो का यह सम्पर्क है, उसमें यह झगड़ा चल रहा है। तो यह झगड़ा मिटाने को क्या करें? झगड़ा मिट गया, इसके मायने है मोक्ष। झगड़ा मिटाने के लिए क्या काम करना? जिससे झगड़ा हो वह काम न करें और जिससे झगड़ा मिटे वह काम करें। तो झगड़े का कारण है आश्रव बन्ध। बन्ध स्वयं झगड़ा है। झगड़े का कारण है आश्रव। आश्रव न करें तो संवर हो गया।

संवरपूर्वक निर्जरा से आत्मा की निर्भारता—अब संवर हो तो गया, आगामी कर्म तो मानो रुक गए और नवीन और पुराने कर्म अभी इतने बन्धे हैं कि अगर इतना ही हिसाब कोई लगाये कि नये कर्म न आएं, पुराने कर्म को क्षय कर दें, उनको समय से पहले न खपावें और नवीन कर्म न आएं, इतना ही काम रखें तो कितनी देर लगेगी मोक्ष होने में। इस जीव के साथ इतने कर्म बन्धे हैं कि आज के बांधे याने एक क्षण के हुए कर्म का उदय कब तक आएगा? ७० कोड़ा-कोड़ी सागर व्यतीत हो जाएं। जिसके संवर होता है उसके इतने कर्म तो नहीं रहते अंतः कोड़ा-कोड़ी रहते हैं मगर कोड़ा कोड़ी से समझिए कर्म कितने देर तक इस जीव के पास रहते हैं यह एक क्षण में बांधे हुए कर्म की बात कह रहे हैं, फिर तो जो रात

दिन कर्म बांधे जा रहे हैं उसका अंदाज लगा लेना। एक क्षण में बांधे हुए कर्म अज्ञानी मिथ्यादृष्टि मोही जीव के ७० कोड़ा-कोड़ी सागर तक के लिए कर्म बन्ध जाते हैं। अब जरा कोड़ा-कोड़ी सागर का अर्थ समझिये वह बड़ा भारी काल है। वह गिनती से न बताया जा सकेगा। उसको उपमा से बताया जाएगा। इसे कहते हैं उपमा प्रमाण। मान लो कोई २००० कोश का लम्बा, चौडा, गहरा, एक गड्ढा है और उसमें कोमल से कोमल बाल के इतने सूक्ष्म से टुकड़े किए जायें कि जिनका किसी भी प्रकार से दूसरा टुकड़ा न हो सके उन बालांशों को उस गड्ढे में ठसाठस भर दिए जाएं और उस पर हाथी भी फिरा दिया जाए ताकि वे बालके टुकड़े खूब दब जाएं। अब उन टुकड़ों में से १००-१०० वर्ष में एक-एक टुकड़ा निकाला जाए, तो इस क्रम से सारे टुकड़े निकलने में जितना समय लग जाए उतने समय का नाम हैं व्यवहार पल्य और उससे अन्त गिनते गुणा काल लगे तो उसे कहेंगे उद्धार पल्य और उससे अनगिनते गुणों काल लगे उसे कहते हैं अद्धापल्य और एक करोड़ अद्धापल्य में एक करोड़ अद्धापल्य का गुणा करने पर जो लब्ध हो उतने समय को कहते हैं एक कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्य, ऐसे १० कोड़ा-कोड़ी अद्धापल्य का नाम है एक सागर ऐसे एक करोड़ सागर में एक करोड़ सागर का गुणा किया जाए तो उतने समय का नाम है एक कोड़ा-कोड़ी सागर ऐसे ७० कोड़ा-कोड़ी सागर तक का कर्म बन्ध हो गया उदयकाल में आएंगे, आबाधा काल के बाद आते रहेंगे, इतने काल तक रहेंगे। आना एक तो ऐसा होता ही नहीं। जिस शुद्ध परिणाम के कारण कर्म का संवर होता है उसी शुद्ध परिणाम के निमित्त से कर्म निर्जरा भी होती है, फिर भी कल्पना में मान लो बन्धन समझने के लिए कि अगर कोई कल्पना करके मान ले कि संवर ही संवर होता, निर्जरा नहीं होती, तो वह कितना बड़ा समय है। वह समय भी कम हो जाता है ज्ञान व वैराग्य के कारण संवरपूर्वक यह निर्जरा आत्मा पर से बोझ दूर कर देती है। इस तरह संवर और निर्जरा इन दो तत्त्वों पूर्वक जीव का मोक्ष होता है। यों यह मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादि ७ तत्त्व हैं।

ज्ञान द्वारा ज्ञान में ज्ञान को रमाने के अनुग्रह में कृतार्थता—अब देखिए—इतना तो सबको अंदाज है कि जब सारे समागम को भूल जाते हैं और एक केवल ज्ञानस्वरूप आत्मा भगवान ही ज्ञान में रहता है उस समय पूर्ण आनन्द हो जाता है। **'करि उपाय देख हुमन माही मूंदहु आँख कितउ कछु नाहीं।'** जिस समय इन्द्रिय व्यापार रुक जाए, मन की कल्पनाओं की दौड़ रुक जाए उस काल में जो एक स्थिरता होती है, धीरता होती है, ज्ञान में ज्ञानस्वरूप का परिचय होता है, अनुभव होता है, बस मेरी वही है सम्पत्ति, वही है सम्पन्नता, यह ही मेरे को काम देगी, बाहर की कोई चीज इस आत्मा के काम न आएगी। देखिए अनादि काल से रुलते-रुलते आज हम कुछ बड़े हुए याने मनुष्य हुए। मन अच्छा मिला, ज्ञान की तर्कणा पायी। तो बड़ी दुर्लभता से तो आप हम लोग एक महान पर्याय को प्राप्त हुए, महत्वशाली पर्याय को पाया। अब ऐसे समय में अगर इस पर्याय का दुरुपयोग किया, विषय

कषायों में अगर इसको लगाया, तो जब इतनी बड़ी पर्याय का हम दुरुपयोग करने लगे तो इस पर्याय को फिर पा सकने की आशा है क्या? और जब यह पर्याय न मिलेगी, मिल गई गंदी पर्याय तो उसमें फिर क्या बीतेगी? अभी तो हर बात का हठ बनाते हैं कि मुझे यह चीज चाहिए। कभी-कभी तो भोजन करने वाला भी हठ कर लेता है कि मुझे तो यह ही चीज खाना चाहिए। एक बार की बात है कि एक नीम खेड़ा ग्राम से हमारा किसान आया। जब हम घर रहते थे उस समय की बात है, तो वह किसान दोपहर बाद असमय में आया तो हमने घर में कहा कि इसे रोटी बनाओ और खिलावो। तो मना किया। जब मना कर दिया तो हमारे को गुस्सा आयी और हमने घर के भीतर जाकर चूल्हा फोड़ दिया। हमें गुस्सा इस बात पर आयी कि देखो बेचारा गरीब आदमी द्वार आया है, उसे खाना बनाकर खिलवाने को कहा और घर में मना कर दिया। तो चूल्हा फूट जाने पर हुआ क्या कि काफी समय तक हम भी भूखे बैठे रहे और वह भी बैठा रहा। और बहुत देर में अन्य साधनों पर किसी तरह बनाकर तब खिलाया गया। तो कोई थोड़ी भी हठ करे तो उसमें कुछ लाभ नहीं है। चाहे वह हठ घर में हो चाहे परिजन में हठ हो, चाहे समाज में हो, चाहे अपनी आत्मा में हठ हो, किसी का हठ कोई दूसरा नहीं करता है। जो भी हठ करता है वह अपने आप में करता है, जो विकल्प हुआ, जो कषाय जगी, जो इच्छा जगी, जो तर्कणा उठी उस विकल्प और तर्कणा में यह हठ कर लिया कि यह ही ठीक है। यह ही मैं हूँ। इसके सिवाय मेरा कुछ नहीं है। यह ही मेरा पूरा वैभव है बस अपने आपकी पर्याय में, परिणमन में भावों में यह हठ बनाये हैं, बस इस हठ का परिणाम थोथा है। हठ बनावे तो जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसका हठ करें यह ही हूँ मैं। तथा जो यहाँ ऐसा भेद करेगा कि जो यह उदय आ रहा, जो ये रागद्वेष झलक रहे, सो ये कर्मविपाक हो रहा, यह कर्मों की चीज है, यह मैं नहीं हूँ। मैं इनमें न लगूं, मैं इनसे हटकर अपने ज्ञानस्वरूप में ही रहूँगा। इस तरह का आप हठ करें तो करें। सत्य का आग्रह करें। भैया आजादी हासिल करने के दो ही तो उपाय हैं। जैसे यहाँ देश का मुक्ति आन्दोलन चला था न भाई, तो वहाँ क्या उपाय बनाया था। सत्याग्रह और असहयोग। खूब सोच लो जिसके पास हथियार नहीं, लड़ नहीं सकते, ऐसी प्रजा अपनी मुक्ति चाहे गुलामी से तो वह कैसे पेश पा सकती है? बतलाओ जरा। तो दो ही तो बात किया था—सत्याग्रह और असहयोग। सत्याग्रह तो यह था कि जो हमारे देश की वस्तु है उस पर हमारा अधिकार है। जैसे नमक बनाने पर बड़ा भारी कर लगा रखा था। तो उनका यह था सत्याग्रह कि हमारे भारत की वस्तु पर हमारा देशवासियों का अधिकार है, यह था उनका सत्याग्रह और असहयोग क्या था कि जो भी विदेशी वस्तुयें थीं कपड़ा या और और चीजें, तो उनका बहिष्कार करना, उनको सहयोग न देना, जैसे फैल्ट केप का बहिष्कार किया था। ये दो हुए सत्याग्रह और असहयोग तो जब यह विभाव कर्म सरकार हमारे ऊपर बड़ा जुल्म ढा रहा है, हम गुलामी में हैं, बन्धन में पड़े हैं, बन्धन दशा में आ गए हैं तो हम क्या करें

सो उपाय बताओ जिससे किहम आजाद हो सकें और उन कर्म बंधनों से मुक्ति पा सकें उसका उपाय है सत्याग्रह और असहयोग। सत्याग्रह बताओ जरा, सत्य क्या है? मेरा जो मेरे सत् में अपने आप निरपेक्षतया स्वतंत्रतया जो आज हो वह सत्य है। वह सत्य क्या है ? ऐसा यह आत्मा। दर्पण में सत्य क्या है? दर्पण में दर्पण की सत्ता के कारण दर्पण की ओर से दर्पण में जो स्वच्छता है वही तो दर्पण का सत्य है या दर्पण के सामने लाल कपड़ा कर दिया, दर्पण में छाया आ गई तो क्या वह दर्पण का सत्य है? नहीं। आप स्पष्ट समझ रहे हैं कि वह दर्पण में बाहर की उपाधि है। कोई छाया आयी, कोई प्रतिबिम्ब आया तो वह दर्पण का सत्व नहीं है। दर्पण का सत्य तो दर्पण की निजी स्वच्छता है। तो मेरे में जो कर्म उपाधि का निमित्त पाकर जो यह रागद्वेषादिक प्रतिफलन उठते हैं, ये परिणाम उत्पन्न होते हैं, विकल्प होते हैं, क्षोभ होता है, क्या यह मेरा सत्य है? यह भी सत्य नहीं है मेरा सत्व तो मेरा निरपेक्ष पारिणामिक ज्ञानस्वरूप, ज्ञान ही मेरा वैभव है, ज्ञान सिवाय मेरा और कुछ नहीं है। सत्याग्रह रखो और असहयोग करो। जो मेरी चीज नहीं है, मुझ पर लादी जा रही है? ये रागद्वेष, अहंकार व्यामोह, विषय कषाय, इच्छा, कर्मविपाक ये सब मुझपर लादे जा रहे हैं। ये मेरी वस्तु नहीं है। मुझे इनका सहयोग न चाहिए, ये हटें, इनसे मेरी उपेक्षा है। मैं तो अपने आपके सत्य स्वभाव का ही आग्रह करूँगा, और मैं इसमें ही मुक्त होऊं, इसमें ही मैं आनन्दमग्न होऊं। मुझे बाह्य वस्तु का सहयोग न चाहिए। इनमें असहयोग करो। तो अपने आपके स्वरूप का आग्रह करना यह है सत्याग्रह और जो बाहरी मेल है, जो बाहर की वस्तुओं को उपाधियों को लगाया है उनसे असहयोग करो तो देखो कैसे मुक्ति न प्राप्त होगी। यही तो मुक्ति का उपाय है।

सुख दुःख दोनों विषों को त्यागकर सहजानन्दामृतपान की सम्मति—भैया? सत्य के आग्रह और परभाव के असहयोग में ही ये सब संवर निर्जरा गर्भित हो जाते हैं। इस तरह संवर तत्त्व और निर्जरा तत्त्व ये उपादेय तत्त्व मेरे में प्रकट होवें, इनकी मेरे में उपासना बने तो मुक्ति अवश्य होगी। परमात्मा तो पूर्ण आनन्दमग्न है तब ही तो हम आप उनकी उपासना करने आते हैं, और अन्तरात्मा ज्ञानी पुरुष ये भी कुछ आनन्दमग्न हैं मगर कुछ-कुछ उनको कष्ट भी है, और ये बहिरात्मा तो सदा कष्ट में हैं, उनको तो आनन्द का नाम ही नहीं है। अज्ञानी पुरुष को तो चाहे बहुत संतान हो जाएं, चाहे वह बड़ा धनिक बन जाए, चाहे बड़ा राजपाट भी मिल जाए, मगर मिथ्यात्व होने के कारण उसे निरन्तर कष्ट है वह एक क्षण को भी आनन्द नहीं पा सकता। कष्ट की दशाएं होती हैं भाई कोई होता है मीठा विष और कोई होता है कड़वा विष। अब कड़वा विष पिएं तो भी मरे और मीठा विष पिएं तो भी मरे। बल्कि एकबार तो ऐसा भी हो सकता कि कड़वा विष पिए तो उससे अलग भी हो सकता, क्योंकि उसके कड़वापन के कारण अरुचि करेगा। मुझे नहीं पीना है, यह ठीक नहीं है। एक बार उसे मौका मिल सकता है कड़वे विष से हटने का भी मगर मीठा विष

तो चूँकि तुरन्त पीने में मीठा लगता है, अच्छा लगता है इसलिए उससे हटने का बहुत कम अवसर है। तो यहाँ समझिये कि यह संसार का सुख मीठा विष है और संसार का दुःख कड़वा विष है। देखो जब कोई दुःख आता है तो उस समय लोग प्रभु का स्मरण भी करते हैं मगर सुख हो, ठाठ हो, बड़ा मौज हो तो उसमें प्रभु का स्मरण करना बड़ा कठिन हो जाता है। क्योंकि वह मीठा विष है। कड़वे विष से तो उपेक्षा की जा सकती है मगर मीठे विष की भी उपेक्षा करना चाहिए, किन्तु उस मीठे विष की उपेक्षा करना कठिन पड़ जाता है। यही बात सांसारिक सुखों में है। इनसे प्रीति न करें देखिए इस सारे जीवन में अनेकों वर्ष तो धर्म की उपासना की, पर्यूषण पर्व मनाये सब कुछ किया, मगर कम से कम एक निर्णय तो बना लो कि यह संसार का सुख एक मीठा विष ही है और बाकी प्रतिकूल बातें, कष्ट की बातें ये सब कड़वे विष हैं। दो तरह के ये विष हैं, इनके पीने से हमारी बरबादी है, भव भव में हमें मरण करना पड़ता है। ऐसी सहज आनन्द के अनुभव में सर्व प्रकार अनाकुलता व पवित्रता है ऐसी श्रद्धा बनावें। अगर सत्य श्रद्धा हो जाएगी अपने आपकी तो जन्म मरण से रहित हो जायेंगे।

सद्भक्ति की अव्यर्थता—एक कोई भक्त था। उसने अपने घर में एक चैत्यालय बनवा रखा था। वह बड़ा गरीब घर था। रोज-रोज वह भगवान की पूजा करता, अभिषेक करता, आरती करता और प्रभु की भक्ति में वह अपना अधिकाधिक समय गुजारता, आनन्द में रहता इस तरह से उसके १५–२० वर्ष गुजर गए। उस प्रभु भक्ति के प्रसाद से वह माला-माल भी हो गया। एक बार क्या हुआ कि चार डाकू उसके घर में घुसे और कहा कि देखो जितना तुम्हारा धन है निकालकर रख दो, तुम्हारा सब धन भी लेंगे और साथ ही जान (प्राण) भी लेंगे तो वह भक्त बोला—लीजिए यह चाबी, सारा धन भी निकाल लीजिए और यह जान भी आपके सामने हाजिर है। मरने का मुझे कुछ डर नहीं, मगर एक बात सुनो तो सुन लो। मैंने जिस प्रभु की बीसों वर्षों तक भक्ति की अगर आप कुछ अवकाश दें तो मैं उनको नदी में सिरा आऊं और फिर वहाँ से वापिस आने पर आप हमारी जान भी ले लेना। चारों डाकुओं ने सलाह की कि ठीक है। अपन चारों में से दो डाकू इसके साथ चले जावें और दो यहीं रहें। अब दो डाकुओं सहित वह भक्त प्रभु की मूर्ति को पास की नदी में सिराने ले गया। जब वह कुछ गहराई में पहुँचा और प्रभु की मूर्ति को सिराने चला उस समय वह भक्त बड़ी करुणा भरे शब्दों में कहता है कि प्रभो? जिन हाथों से मैंने आपकी सेवा की उन्हीं हाथों से आज आपको नदी में सिरा रहा हूँ। इस बात का तो मुझे कुछ विषाद नहीं कि मेरी मृत्यु हो रही है। मृत्यु खूब हो, उसकी मुझे परवाह नहीं, पर दूसरी बात मेरी समझ में यह बनती है। कि प्रजा के लोग क्या कहेंगे कि खूब तो भक्ति की, खूब तो धर्म किया, मगर उसका फल क्या मिला कि धन भी गया और जान भी गई। तो ऐसा धर्म करने से मुझे क्या लाभ है? इस तरह से धर्म की अप्रभावना होगी, इसका मुझे कुछ क्लेश है।

इस भक्त की करुणा भरी आवाज सुनकर आकाश से ऐसी आवाज आयी कि तुम किसी भी बात का खेद मत करो, तुम्हारी भक्ति निष्फल न जाएगी, अप्रभावना की भी कुछ बात न होने पाएगी। देखो ये जो डाकू आए हैं तो इन चारों डाकुओं को तुमने पूर्वभव में मारा था इसलिए तुमको इनके द्वारा चार बार मरना चाहिए था याने चार भवों में तुम्हारी मृत्यु इनके द्वारा होनी चाहिए थी लेकिन तुमने जो १०—२० वर्ष प्रभु की भक्ति की है तो उसके प्रसाद से तुम्हारी तीन मौत कट चुकी हैं, ये चारों के चारों तुम्हें एक साथ मारने के लिए आए हैं तो तुम्हारा एक हीं तो मरण रह गया। तीन मरण तो तुम्हारे मिट गए, यह प्रभु भक्ति का प्रसाद है। जब डाकुओं ने इस तरह की आकाश-वाणी सुना तो वे बोले ठहरो-ठहरो अभी इस मूर्ति को मत सिराओ, यहाँ से लौटकर चलो, हम चारों डाकू मिलकर जो आदेश देंगे सो करना। सो वे डाकू उस भक्त को मूर्ति सहित वापिस लौटा ले गए। वहाँ उन दोनों डाकुओं ने अपने साथ वाले दोनों डाकुओं से आकाशवाणी की बात सुनायी। तो वहाँ उन चारों डाकुओं ने यही निर्णय दिया कि जब एक प्रभुभक्ति के प्रसाद से इसकी तीन मौत कट गईं तो क्या हम चार लोग मिलकर इसकी एक मौत नहीं काट सकते। उन डाकुओं का दिल बदल गया और भक्त से कहा कि तुम अब किसी बात की चिन्ता न करो, तुम आनन्द से रहो। न तुम्हारा धन लेंगे और न तुम्हारी जान। यह कहकर डाकू चले गए। तो श्रद्धा थी ना, भक्ति थी ना, एक धुन थी, इसलिए उसे प्राण जाने की भी परवाह न थी।

जीवन और मरण सर्वत्र समाधि के पौरुष का कर्त्तव्य—यहाँ अपनी बात देखिए हम आपने अब तक अनन्ते बार जन्म-मरण किए, अगर इस भव के प्राण चले जाएं तो इसमें आप का क्या नुकशान? जो बहुत-बहुत सोचता है, बहुत-बहुत विचार करता है, ऐसा कैसे होगा, कैसे मेरी बात बनेगी? कैसे मेरा गुजारा होगा, कैसे क्या होगा? और जब मरण हो गया तो क्या होगा। अरे यहाँ क्या मरण से भय करते? दो ही तो चीजें हैं (१) जन्म और (२) मरण। इनमें विवेकपूर्वक छटनी तो कर लो कि जन्म खोटी चीज हैं कि मरण? देखिए जन्म के बाद किसी की मुक्ति नहीं होती, और मरण के बाद मुक्ति मिलती है। भगवान अरहंत का जो मरण होता है उसका नाम है पंडित पंडित मरण उसे निर्वाण बोलते हैं आखिर वह भी एक मरण है। तो केवल भगवान का जो पंडित पंडित मरण है उसी के बाद मुक्ति हो जाती है, और जन्म के बाद किसी को मुक्ति हुई क्या? जन्म से मुक्ति नहीं मिलती, मरण के बाद मुक्ति मिल सकती है। मरण समय में विशुद्ध परिणाम हों, निर्मल भाव हो तो आपका यह भव भी बहुत समृद्धि से गुजरेगा मरण तो इतनी उपकारी चीज है। लोग तो मरण के समय उस मरण करने वाले से चिपट कर रोते हैं उसके मोह पैदा करते हैं और उसका मरण बिगाड़ देते हैं। जिन्दगी भर भी उसे सताया मगर मरण समय में ऐसा सतायेंगे कि उसे परभव में भी चैन न मिले। अरे मरण समय तो लोगों को उत्सव मनाना चाहिए था, खुशी मनानी चाहिए थी, इस पर तो दृष्टि नहीं देते, लोग उस समय शोक मनाते, उसमें मोह

पैदा करके उसका जीवन बिगाड़ते। तो भाई अपना जन्म मरण सुधारो। अपना नाम यहाँ के मोही अज्ञानी प्राणियों की लिस्ट में न लिखाओ बल्कि सिद्ध भगवान की लिस्ट में अपना नाम लिखाओ।

सहज विशुद्ध ज्ञानस्वभाव के आश्रय में ही सर्व श्रेय—सम्वर तत्त्व में यह बताया जा रहा है कि जब ज्ञानी पुरुष को अपने आपके स्वरूप का यथावत् निर्णय हो जाता है कि मैं सनातन अहेतुक चैतन्यमात्र हूँ, तब इसमें कष्ट का कोई काम नहीं रहता। ज्ञान ही अपना परमार्थ पिता है अपने ज्ञान की विशुद्ध कला पर ही, अपनी उन्नति की विशुद्ध कला पर ही अपनी उन्नति निर्भर है। शान्ति केवल एक अपने ज्ञान की शुद्ध कला पर निर्भर है। बाहर में किसी भी पदार्थ पर निर्भर नहीं है। जहाँ यह ज्ञानी समझता है कि मैं यह आत्मा विशुद्ध ज्ञान ज्योतिमात्र हूँ, शुद्ध ज्ञानमात्र हूँ, और धारावाही ज्ञान से अपने आपको शुद्ध ही पाता रहता है, निरखता रहता है। उसके कर्म का लेप नहीं होता और जहाँ उस शुद्ध ज्ञानस्वरूप की श्रद्धा से हटे और बाहर में बाह्य पदार्थ में अपना लगाव लगाया बस वहीं कर्मबन्ध होता है। अब यह सोच लोकि इन २४ घंटों में कितना समयतो अपने आपके स्वभाव के लगाव में रहता है और कितना समय परके लगाव में रहता है, जितना पर का लगाव है उतना जीवन को निष्फल खोना है, जितना अपने आपके स्वरूप की उन्मुखता है उतना ही यह सच्चा जीवन है, जिस पुरुष ने अपने आपके विविक्त ज्योति स्वरूप का परिचय किया है उसके सहज वैराग्य रहता है। जिसको अपने आत्मस्वरूप के अनुभव में आनन्द आया उसको विषय सुखों में प्रीति नहीं होगी। जिसको अनुपम आत्मीय आनन्द का अनुभव नहीं जगा वही विषय सुख को ललचायेगा, लेकिन जिसको अपने शुद्ध ज्ञानस्वरूप का परिचय हो गया वह तो न किसी पर द्रव्य में आकर्षित होता और न अपने सुःख दुःख भाव में आकर्षित होता तो इसमें मौज की कौन सी बात आ पड़ती है? यह सब उसके लिए उपद्रव है। मैं परमात्मा की भांति एक शुद्ध शाश्वत आनन्द ज्ञानस्वरूप हूँ। ज्ञान में इतना बल होता है कि आते हुए कर्म रुक जाते हैं और पहले के बंधे हुए कर्म झड़ जाते हैं। ज्ञान की कला अद्भुत है। यहाँ लोक में भी तो देखने में आता। एक तांत्रिक पुरुष हो, वैद्य हो जो साँप के विषको अपने मंत्र बल से उतारता है देख लो सही ज्ञान बल का प्रताप उसी में हो रहा, मगर कैसे बड़े-बड़े संकट भी दूर हो जाते हैं। अथवा तांत्रिक पुरुष विषको खाता हुआ नहीं मरता, क्योंकि उसने ऐसी सिद्धि प्राप्त की अथवा विष वैद्य हो और विष को भस्म करके खाये तो वह नहीं मरता। यह ज्ञान की ही तो कला है। ऐसे ही तो ज्ञानी है वह भोगोपभोग भी भोगता है लेकिन समस्त भोगों से वह अपने को निराला देखता है। मैं हूँ एक ज्ञान ज्योति स्वरूप रागरहित अपनी प्रतीति बनायें। राग में सारे ऐब बसे हुए हैं, तो ऐसा जो विराग पुरुष है वह कर्म से नहीं बंधता। कर्म का उसका संवर होता है, ऐसे इस संवर तत्त्व की बहुत बड़ी महिमा है।

परिपूर्ण ज्ञानानन्दस्वभाव अन्तस्तत्त्व के दृष्टा की निर्मदपरिणति—इस ज्ञानी पुरुष ने अन्तः देखा कि मैं क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों से रहित हूँ। मान किस बात का? मान के ८ आश्रय होते हैं–किसी के ज्ञान विशेष हो जाए तो वह भी मान में बढ़ सकता है। किसी की पूजा प्रतिष्ठा हो वह भी मान में बढ़ सकता है, किसी का उच्चकुल हो, किसी की उच्च कुल की माँ हो, किसी का बल, ऐश्वर्य, शरीर तपश्चरण आदि में कुछ विशेषता हो तो उसके भी मान कषाय बढ़ सकती है। मगर ये सब चीजें क्या हैं? आत्मा से निराली चीजें हैं। ज्ञान का क्या मद करना? अरे केवलज्ञान के सामने मनः पर्ययज्ञान भी क्या चीज है? सर्वावधि ज्ञान भी क्या चीज है? फिर हमें आपको ज्ञान कितना सा मिला? थोड़ा सा मिला, लेकिन उसी ज्ञान में यह समझते हैं कि हमने बहुत कुछ पाया। ज्ञान का मद करते, कोई पूजा प्रतिष्ठा मिले यश सम्मान मिले तो उसका घमंड करता है अरे चक्रवर्ती भी जब विजय करके वृषभांचल पर्वत पर नाम खोदने जाता है तो उसको भी अपना नाम लिखने के लिए खाली जगह नहीं मिलती। नामों से भरा हुआ था वह सारा पर्वत। वहाँ अहंकार दूर होता है–ओह मेरे जैसे चक्रवर्ती यहाँ अनगिनत हो गए, वहाँ मान भंग होता है। किसकी पूजा रही, किसका कुल रहा कुल भी उच्च कैसे? अरे यह कुल भी क्या है? यह तो एक कर्मविपाक है। हमारा आपका कुल तो वास्तव में चैतन्यवंश है, देखो पुत्र, किसे कहते हैं? जो वंश को पवित्र करे उसे पुत्र कहते—वंशं पुनाति इति पुत्रः, और सुत किसे कहते हैं? जो पैदा हो सो सुत। तो अब यहाँ देखो? हमारा पुत्र कौन है जो मेरे वंश को पवित्र कर सके, मेरे वंश को स्वच्छ बना सके, वह मेरा पुत्र है। आपका वंश है चेतना। जिसके साथ आप रहते थे, रहेंगे, जिस वंश को आप छोड़ नहीं सकते उस चैतन्य वंश को पवित्र करने वाला कौन? एक यह शुद्ध निर्मल ज्ञान परिणाम। बस यह ही अनुभूति, यह अनुभव, यह ज्ञान परिचय यह ही वास्तविक पुत्र है। आपका पिता कौन? पिता कहते किसे हैं? पाति इति पिता, जो रक्षा करे उसे पिता कहते हैं आपकी रक्षा करने वाला कौन? आपका यह विशुद्ध निर्मल ज्ञान, यह ही आपकी रक्षा कर सकता है, दूसरा और कोई रक्षा करने में समर्थ नहीं है, अतः अन्य की आशा व अहंकार छोड़ स्वयं में आवो।

सज्ज्ञान में सर्वसिद्धि—सारा कुटुम्ब, सारा वैभव सब कुछ एक अपने आप में ही है। जैसा चाहें अपने को बना लें। एक बालक ने मुट्ठी में कुछ चीज ली, वह चीज क्या थी यह आप पीछे जान जाएंगे। वह बच्चों से पूछता है–बोलो बच्चो मेरी मुट्ठी में क्या चीज है? कुछ बच्चे तो यों ही चुप रह गए, कुछ बताने लगे। तो वह बच्चा बोला—नहीं, नहीं मेरी मुट्ठी में तो सारी दुनिया है, तीनों लोक हैं, भगवान हैं, सारे द्वीप समुद्र हैं, सारे देश हैं, मेरी मुट्ठी में सब कुछ है। तो सभी बच्चों ने कहा–अच्छा मुट्ठी खोल कर दिखाओ। जब मुट्ठी खोला तो उसमें निकली एक स्याही की टिकिया। . . . अरे तुम तो कहते थे कि इसमें सारी दुनिया है। . . . हाँ हाँ सारी दुनिया है, . . . कैसे? . . . इसे घोल कर इससे हम जो चाहे

बना दें, दुनिया का सारा नक्शा बना दें तीनों लोक अलोक का नक्शा बना दें, जो कहो सो बना दें, हमारे हाथ में सब कुछ ऐसे ही हम आपके पास सब कुछ है। . . . अरे सब कुछ क्या? न धन है, न कोई बाहरी चीज है। . . . अरे आपके पास ज्ञान है बस वही सब कुछ है। सोना चाँदी हीरा रत्न आदि में भी जो कीमत नहीं बसी वह आपके ज्ञान में बसी है। बाहरी पदार्थों में भेद नहीं पड़ा, भेद तो आपके उपयोग में पड़ा है। वाह्य वैभव क्या चीज है? कुछ नहीं। एक साधु महाराज जंगल में बैठे हुए तपश्चरण में रत रहा करते थे। एक दिन वहाँ से एक राजा निकला तो राजा ने उस साधु की तरफ देखा भी नहीं। वह तो बड़े अभिमान में था। तो किसी तरह साधु ने उसे अपने पास बिठाया और कहा—अरे राजन् तुम किस बात पर अभिमान करते हो? तुम यदि राजा हो तो हम भी उपासना किए गए महान बुद्धिधन से उन्नत हैं। तुम यदि वैभव से प्रसिद्ध हो तो हम लोगों के यश को कवि लोग चारों दिशाओं में विस्तृत कर रहे हैं, इस प्रकार गौरव की दृष्टि से भी हम तुम दोनों में बहुत अन्तर है। यदि तुम हम से परान्मुख होते हो तो हम भी एकान्ततः हठ पूर्वक तुम सबसे निष्पृह हैं। और भी सुनो राजन्! तुम यदि अर्थ (धन) को चाहते हो तो हम भी वाणी के अर्थ को चाह रहे हैं, बडे—बड़े आगम वेद वाक्यों के अर्थ से हम सम्पन्न हैं और उन अर्थों के विलास में हम बने रहा करते हैं। तुम तब तक ही तो शूर हो जब तक कि तुम्हारे पास धन (अर्थ) वैभव है। तो हम इस प्रकार से शूर हैं कि वादियों के घमंड को उपशमन (शान्त) करने में समर्थ हैं, उसमें हम लोगों के अक्षय चतुरता है। तुम्हारी यदि धनिक लोग सेवा करते हैं तो हमको भी सुनने की इच्छा करने वाले अनेक श्रोताजन अपने दोषों के विनाश के लिए सेवा करते हैं। यदि तुम्हें मुझमें आस्था नहीं है तो हमारी तुम में बिल्कुल ही आस्था नहीं है। और भी देखो राजन! तुम यदि रेशमी वस्त्रों से सन्तुष्ट हों तो हम यहाँ बल्कलों से सन्तुष्ट रहते हैं। तो बाह्य सन्तोष की दृष्टि में तो हम तुम दोनों समान हैं, पर विशेष बात एक यह है कि दरिद्र पुरुष वह है जिसके बहुत बड़ी तृष्णा लगी है। यदि मन सन्तुष्ट हो जाए तब फिर कौन धनी है और कौन दरिद्र है? तृप्ति साधु को है राजा को तृप्ति नहीं।

परमे लगाव करने में बुद्धिमानी समझने की विडम्बना—अब सत्य समझलो कि बाहर की जितनी बातें हैं वे सब बेकार हैं, भिन्न हैं, असार हैं, उनके लगाव से आत्मा का हित नहीं है। आत्मा की भलाई है तो आत्मस्वभाव की दृष्टि से है। यहीं बैठे-बैठे अन्दाजा कर लो, जरा विकल्प छोड़ दो, इस देह के विकल्प को भी छोड़ दो फिर अशांति नहीं रहती। विकल्प तो शल्य की तरह आत्मा को दुःखी करता है। जिसकी दृष्टि में आत्मा पर दृष्टि नहीं रहती पर्याय को ही आपा समझता है। मैं अमुक जाति का हूँ, अमुक पद्धति का हूँ, अमुक फर्म वाला हूँ, अमुक रिस्तेदार हूँ, आदि अनेक बातें इसके साथ लगी हैं जो सब कीचड़ हैं, इस आत्मकल्याण में बाधक हैं, इस देह से भी अपने को निराला समझकर जरा अपने आपके अन्तः प्रवेश तो करें; मैं तो एक ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञान-ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञानसिवाय मैं और कुछ नहीं

यह चेतन है ना, बाह्य में झांकी हुई उसको पकड़ा, उसमें लगाव रखा तो उपद्रव आ गए। कुटुम्ब के झगड़े जुदे, देश के झगड़े जुदे, सरकार के झगड़े जुदे, यों चारों ओर से सब उपद्रव ही उपद्रव आ रहे। और कुछ नहीं तो बैठे-बैठे यही सोचकर चिन्तित रहते कि न जाने सरकार के कैसे कानून बन जाएं, रात दिन शल्य में सब रहते कि नहीं, चिन्ता में रहते, कितने, उपद्रव आ पड़े? और भीतर में देखो तो कर्म विपाक के उपद्रव हैं। ऐसी स्थिति में जब कि हमारे चारों ओर उपद्रव छाये हुए हैं ऐसी स्थिति में क्या करूँ? कहां जाऊं? ऐसी स्थिति है, लेकिन यहाँ समाधान है अपने आपके अन्तः विराजमान जो कारण समयसार है तत्त्व है परमपारिणामिक भाव है शुद्ध ज्ञानस्वरूप निरपेक्ष तत्त्व है उसकी ओर दृष्टि दें, उसका सहारा लें। सहारा ले किसका रहे? बाहर में जिस चाहे को मित्र समझते। अरे परमार्थ मित्र तो पंचपरमेष्ठी है। दूसरा और कोई मित्र नहीं, उसके अलावा वे ज्ञानी पुरुष भी मित्र हैं जो विषयों से हटाकर धर्म के मार्ग में लगाते हों ऐसा मित्र कौन है वास्तब में? तो ऐसे अपने आपके स्वरूप पर विचार करें। ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदि चारों कषायों से जितना दूर रहने का प्रयत्न करें उतना भला होगा। यहाँ तो लोग छोटी सी विभूति में तरस जाते हैं उसके पीछे क्रोध, मान, माया लोभ आदि कषायें करते हैं, और मंद कषायें करते रहें, दूसरे को क्षमा करते रहें। अधर्म से दूर रहें, ऐसा अगर निष्पाप जीवन बितायें तो इससे करोड़ों गुना विभूति एक समय बाद मिल जाएगी। वास्तविकता तो यह है कि समस्त लोगों की विभूति हो तो भी उसे जीर्ण तृणवत् समझो। क्या रखा है। तो अपने आपके स्वरूप की ओर आवो। बाहरी पदार्थों से अब मुख मोड़ो और अपने आपके भीतर आवो।

मोह प्रकृति विलास की सभ्य प्रकृति—गुरु जी सुनाते थे कि कोई एक घुड़सवार कहीं जा रहा था, उसे कहीं जाते हुए १००—५० आदमी दिखे। उसने पूछा—भाई आप लोग कहाँ जा रहे हैं? तो उन लोगों ने बताया कि हम लोग एक मण्डप में जा रहे हैं... किसलिए? ... भई वहाँ कोई कथा होती है तो उसे सुनने जा रहे हैं। वह बात सुनकर उस घुड़सवार ने अपना घोड़ा वहीं किसी जगह छोड़ दिया और खुद भी उसी कथा मण्डप में चला गया। वहाँ कथा सुनी। उस दिन संसार, शरीर और भोगों की अरुचिताका वर्णन चल रहा था। उस कथा को सुनकर उसे वहीं वैराग्य हो गया और घोड़े को वहीं छोड़कर जंगल गया, साधु महाराज से दीक्षा ले ली। जंगल में ही रहने लगा। १०—५ वर्ष बाद फिर वह उसी शहर में आया, देखा कि उसी मण्डप की ओर काफी लोग जा रहे थे। पूछा कि भाई लोग कहाँ जा रहे हैं? तो उन्होंने बताया कि हम लोग कथा मण्डप में कथा सुनने जा रहे हैं। ... कब से जा रहे हैं? तो किसी ने कहा कि २० वर्ष से किसी ने कहा ३० वर्ष से और किसी ने कहा ४० वर्ष से। तो वह साधु बोला अरे वीर तो तुम लोग हो। मैं तो एक दिन ही कथा सुनने गयातो उसकी चोट न सह सका सो इस साधु रूप में हो गया, तुम लोग इतने-इतने वर्ष से कथा की चोट रोज-रोज सह रहे हो तो वीर तो तुम लोग हो। देखो बात जरा-सी है, दृष्टि

के जरा से फेर से प्रकाश और अंधकार की बात चलती है। जैसे छोटे बल्ब के जरा से फेर में अन्धकार और प्रकाश का वातावरण बन जाता है। जिधर बल्ब का मुख है उधर प्रकाश और जिधर से मुख मोड़ दिया उधर अंधकार। ऐसे ही अपना उपयोग है। बल्ब की मोड़ में तो फिर भी कुछ क्षेत्र का अन्तर आ जाएगा, मगर उपयोग की मोड़ में तो क्षेत्र का भी अन्तर नहीं आता। यह उपयोग बाह्य पदार्थों की ओर मुख किए हुए है कि यहाँ विभाव हैं, अन्धेरा है, विपत्ति है, विडम्बना है और जरा-सी देर में अपने आपके उन्मुख हो गए वहाँ अन्तः प्रकाश है सर्व विडम्बनाओं का विनाश है। एक जरा-सी कलापर जब अपना सब कुछ बिगाड़ और सुधार निर्भर है फिर भी हम उसे न करना चाहें ऐसा एक अलौकिक समागम पाकर तो फिर बतलाओ कि फिर और करने के दिन कब होंगे? सब जीवों को समझो कि मेरे ही समान सब हैं। वह स्वरूप विज्ञान है चैतन्यमात्र, सब जीव एक समान हैं। ये परभाव क्यों लग बैठे कि यह अमुक है, यह गैर है: और मैं यह हूँ, यह मेरा कुटुम्ब है, यह दूसरे का है। अरे तेरा जब शरीर तक नहीं है और श्रद्धा में तू ऐसा विष पी रहा है, तो देख यहाँ का विष पीने से एक बार ही मरण होगा। मगर यहाँ मिथ्यात्व का विष पीने से अनेक जन्मों में जन्म-मरण होते जाएंगे इससे तो अच्छा यहाँ का हालाहल विष पी लेना है। अज्ञानी को तो अज्ञान का विष लगा ही है लेकिन मिथ्यात्व का विष इतना तेज है कि न जाने कितने भवों तक बना रहे। तो इस बात को नहीं सोचते।

अन्तः परमात्मतत्त्व का ज्ञान नेत्र से दर्शन—शरण परमात्मतत्त्व का भीतर से दर्शन होगा, विकल्पों से न होगा, क्षोभ से न होगा। धीरता से होगा, और धीरता भी तब आती है जब यह निर्णय हो जाता है कि मैं किसी प्रकार कुछ करने में समर्थ नहीं। होता है, निमित्त नैमित्तिक योग से होता रहताहै। देखो कोई लड़का किसी लड़के से २० हाथ दूर खड़ा हो, खड़े-खड़े वह अपनी उँगली मटका रहा हो, जीभ निकाल रहा हो तो २० हाथ दूर खड़ा वह दूसरा यह सोचकर दुःखी होता है कि देखो यह मुझे चिढ़ा रहा हैं, अरे वह चिढ़ाता कुछ नहीं जैसे कहते हैं कि दूसरे की आँख जरा भी फूली हो तो वह जल्दी दिख जाए और अपनी आँख में बड़ा टेंटा हो तो भी नहीं दिखता। दूसरे में जरा भी गलती हो तो झट नजर आ जाती है कि यह कैसा मोहकर रहा है, यह पागल हो रहा है। जाना तो कुछ साथ है नहीं। घर तो इसका है नहीं फिर मोह कर रहा? दूसरे को तो ये नजर आता और खुद की गलती कुछ नहीं देखता। जैसे जंगल में कोई आदमी चला जा रहा था तो देखा कि वहाँ अचानक ही आग लग गई। चारों तरफ आग फैल गई अब वह पेड़पर चढ़कर खड़े होकर अपनी जान बचाने के लिए पेड़ पर आराम करने लगा। थोड़ी देर में आग बढ़ती हुई बिल्कुल निकट आ गई, वहाँ उसे कुछ मौज आने लगी थी, वह देखो हिरण मरा खरगोश जला, अरे वह देखो हाथी भी अग्नि से जलकर छटपटा रहा? . . . पर उसे यह पता नहीं कि जिस पेड़ पर मैं बैठा हूँ वह भी जल जाएगा और मैं भी जल जाऊँगा। तो ऐसे ही यहाँ देख लो दूसरों की

विपत्ति तो ऑखों के सामने है पर अपनी विपत्ति पर कुछ नजर नहीं है। आप लोग रोज सुबह नहाते हो, यहाँ मंदिर आते हो, दो दो चार चार फर्लांग चलकर आते हों। इतनी तकलीफ करके यहाँ प्रभुदर्शन करने आते तो क्यों आते? अरे इसलिए आते कि मुझे मेरा स्वरूप प्राप्त हो जाए और ये सारी प्रवृत्तियाँ, ये सारे झंझट मुझे न करने पड़ें जब तक कि संसार दशा है और मैं ऐसी अवस्था पाऊं कि हमें ये कोई कष्ट ही न सहने पड़ें मैं तो अपने ज्ञानस्वरूप में ही रत रहा करूँ, आनन्दमग्न रहा करूँ, ऐसा मार्ग बनाने के लिए यहाँ मन्दिर में आते हैं, भगवान के स्वरूप को देखते हैं इसलिए कि मेरे ये झंझट संकट सदा के लिए छूट जाएं और मैं स्वयं परमात्मस्वरूप में ऐसा मग्न हो जाऊँ जिससे मुझे मिले अन्तः परमात्मत्त्व, जो कषायों से विविक्त आत्मा का स्वरूप है उसे अपनायें और भीतर में ऐसा विश्वास बनायें कि मुझे ज्ञातादृष्टा रहना है, ऐसा चैतन्य में प्रतपन हो मैं तो ऐसा करके ही रहूँगा।

कषाय के आश्रय में आत्म विनाश और अकषायमें अन्तस्तत्त्व के आश्रयसे आत्म विलास—भैया! कषाय की पकड़ में खुद का विनाश होता है, दूसरे का कुछ नहीं कर सकता। कषाय की पकड़ में बुरा खुद का है, दूसरे का नहीं, यह निर्णय बनावें और एक आरामसे अपने आपके कषाय को दूर करें। जब शरीर से थक जाते हैं परिश्रम करके तो पड़कर आप आराम लेते कि नहीं? तो जब मनुष्य थक गया विकल्प कर करके, तो अब तो जरा मन को आराम दें। सभी कषायों में कठिन कषाय है लोभ। प्रकृति नहीं छूटती यह द्वैत भाव मचा रखा कि यह मेरा है और यह दूसरे का है, यह बड़ा कठिन अंधकार है। श्रद्धा में अगर परमाणु मात्र भी राग रहता है तो वह आत्मा का ज्ञाता नहीं होता, और आत्मा का ज्ञान नहीं तो फिर उसने न जीव जाना न अजीव। जब अपने आत्मा का ज्ञान होगा तो वहाँ फिर ये कोई प्रकार के विकार भाव न रह जाएंगे, वह फिर काहे को रोष करेगा, काहे को घमंड करेगा, काहे को मायाचार करेगा? मायाचार भी किसलिए करना? साफ-साफ बात है, भाई गुजारा करना है? आपको दो बातों से मतलब है। एक तो आजीविका में फर्क न आए और दूसरे धर्मपालन का कार्य चलता रहे। धर्म के प्रसंग में आना बड़ा कठिन है और गप्प सप्प के प्रसंग में आने में क्या देर लगे? गप्पशालायें तो बड़ी जल्दी खुल जाती है। अगर अपने आप में तत्त्व-ज्ञान वाले धर्म का प्रवेश हो, भेद-विज्ञान की बात आए यह बात बड़ी कठिन है। अपने स्वरूप की सम्भाल, आपको सम्भाला तो सब सम्भाला, तो चारों कषायों से रहित, विकल्प जाल से रहित, अपने आपकी परिणति से परिणमने वाले आत्मवस्तु की स्वतन्त्रता देखो, आत्मदर्शन करो मैं चिदानन्द स्वरूप आत्म तत्त्व हूँ। **'उत्पादव्ययध्रौव्ययुक्तं सत्'** जो सत् है उसमें निरन्तर उत्पाद व्यय चलता रहता है, यह वस्तु का स्वभाव है। मैं अपने आपके उत्पाद से परिणमता रहता हूँ और फिर भी बना रहता हूँ, मेरा दूसरे से कोई लेन-देन नहीं कोई मेरी परिणति नहीं बनाता मैं दूसरे की परिणति नहीं बनाता। जगत में बाहर मेरे करने योग्य कुछ काम नहीं है। कर ही नहीं सकते। निमित्त नैमित्तिक योग से जो होना होगा हो

जाएगा, पर मैं किसी भी बाह्य पदार्थ में कुछ नहीं करता हूँ ऐसी स्थिति में क्या है, वह क्यों क्रोध करेगा? किस पर मान, माया, लोभ करेगा? अपने को विश्राम में रखेगा। भाई पवित्र जो जैन शासन पाया है, उसका आभार प्रकट करने में निष्पक्ष को कोई संकोच नहीं होता।

पुण्य पाप नामक दो तत्त्व बढ़ाकर ९ तत्त्व कहने की एक प्रसंगोचितशंका—मोक्ष का उपाय बताने वाले इस मोक्ष शास्त्र में सर्व प्रथम यह कहा गया कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का एकत्व मोक्षमार्ग है। द्वितीय सूत्र में बताया कि सम्यग्दर्शन क्या है? प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्वों का श्रद्धान करना, जो पदार्थ जिस स्वरूप अवस्थित है उस रूप से ही पदार्थ का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। यह सम्यग्दर्शन कैसे उत्पन्न होता है?तो वह होता है निसर्ग और अधिगम से। यों दो सूत्र कहने के पश्चात् यह बताना आवश्यक हो गया कि वे तत्त्व हैं कितने? तो चतुर्थ सूत्र का इस प्रश्न के उत्तर में अवतरण हुआ है। जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष यह ७ तत्त्व है। ये ही तत्त्व सब श्रद्धान किए जाने योग्य हैं अन्यथा मोक्ष का उपाय न बन सकेगा। इस विषय मेंबहुत कुछ कहा गया। फिर थोड़ा सा कुछ इस पर भी विचार किया गया कि ७ ही तत्त्व क्यों हैं? कम ज्यादह क्यों नहीं कहे? इस प्रसंग में एक यह आशंका हो सकती है कि पुण्य और पाप भी तो पदार्थ हैं। और कहीं-कहीं ९ तत्त्व कहे भी गए हैं। तो यहाँ भी ७ की जगह ९ तत्त्व कहना चाहिए। पुण्य और पाप और बढ़ा देने चाहिए। क्यों बढ़ाना चाहिए कि आखिर पुण्य ज्यों, बाँधते हैं। उनका उदय होता है तब उनका फल भी भोगा जाता है। या पुण्य पाप बन्ध के फल भी है, तो इन दो हेतुओं से चूँकि पुण्य पाप बँधने योग्य हैं और बन्ध के फल हैं अतः पुण्य पाप की उपेक्षा नहीं करना चाहिए। दो और बढ़ाकर ९ तत्त्व कहना चाहिए। क्योंकि पुण्य पाप इन दोनों का श्रद्धान न हो तो बन्ध का श्रद्धान सही नहीं बन सकता पुण्य पाप की श्रद्धा नहीं है तो पुण्य पाप रूप ही तो बंध है सो बंध की श्रद्धा न हो सकेगी। और फिर कोई फल भी बंध का न कहलाएगा, अगर पुण्य पाप की बात न कहें तो कैसे लोग जानें कि बंध से नुकशान है और बंध का यह फल है? इसके कारण पुण्य और पाप दो पदार्थ और माने जाना चाहिए। तो यह एक शंकाकार की आशंका है।

पुण्य पाप का आस्रव व बन्ध में गर्भितपना होने से पुण्य पाप को अलग से कहने की अनावश्यकता बताते हुए उक्त शंकाका समाधान—अब उक्त शंका के समाधान में कुछ सोचें। पुण्य पाप बढ़ाये जाना आवश्यक है या नहीं तो देखो-पुण्य पाप बंध ये दोनों ही आश्रव से अलग वस्तु नहीं है। जो बंध है उसी के ही दो भेद हैं पुण्याश्रव और पापाश्रव। तो इन्हें अलग से न कहना चाहिए। अगर पुण्य पाप को अलग से कहने की हठ बनायी जाए तब तो बहुत-बहुत दोष आएंगे। कोई कहेगा गुप्ति समिति अनुप्रेक्षा ये भी कहने चाहिए, ये भी तत्त्व हैं, जिस तरह गुप्ति आदि नहीं कहे गए कि वे संवर के भेद हैं इसी तरह पुण्य पाप भी नहीं कहे गए कि ये आश्रव के भेद हैं। यह तो एक समाधान पटतर का

समाधान है। अब युक्ति देखो शंकाकारने जो दो भेद दिए थे, कि पुण्य पाप को अलग कहना चाहिए, क्योंकि ये बंधने योग्य हैं और बंध के ये फल हैं, अब तो इन दो युक्तियों पर विचार करें। जरा ध्यान से सुनने से भैया सब समझ में आएगा। बात सही-सही कही जा रही है। ७ तत्त्व तो हर एक कोई बोलता है। ७ की जगह ९ क्यों नहीं कहे गए? यह एक आशंका है। वैसे प्रयोजन के लिए कहीं-कहीं पुण्य पाप भी कह दिए हों तो भी कोई अनुचित बात नहीं। जैसे समयसार में जो अधिकार गाथा है उसमें ९ तत्त्व भी बताये गए, वहाँ कोई हर्ज नहीं, लेकिन जहाँ सूत्र रचना हो रही हो वहाँ इस बात का ध्यान दिया जाता है कि कम से कम बात कहें, गुजरा चले, बात स्पष्ट हो उतनी बात कहना चाहिए। यह सूत्रकारों की पद्धति होती है। तो पुण्य पाप के बिना भी तत्त्व श्रद्धा की योग्य बात कही जा सकती। पुण्य पाप के विकल्प आश्रव हैं, फिर भी विचार कर शंकाकारने यह कहा था कि चूँकि पुण्य पाप बंधने योग्य हैं इस कारण इनका भी नाम लेना चाहिए सो जरा शंकाकार की इस प्रथम युक्ति पर विचार करें। पुण्य पाप क्या बंधने योग्य हैं? अगर बंधने योग्य मानते तो यह मानना पड़ेगा कि बंधने से पहले भी वहाँ पुण्य पाप का नाम पड़ा है, लेकिन ऐसा तो नहीं है। जब बन्धते है उसी समय उनमें पुण्य पाप का भेद पड़ता है। जीव ने शुभ या अशुभ कर्म बन्ध किया, कर्म बन्धन के साथ ही उनमें पुण्य पाप की प्रकृति पड़ती है। जैसे कर्म बन्धन से पहले कर्म वर्गणा कहलाती है ऐसे ही बन्धन से पहले पुण्य पाप कहलायें ऐसा नहीं। ये पुण्य पाप तो तब कहलाते हैं जब बन्धते हैं। बन्धन से पहले वहाँ भेद नहीं पड़ा कि ये कर्म पुण्य परमाणु के हैं और ये पाप परमाणु के हैं। बन्धकाल में शुभ अशुभ भाव के अनुसार पुण्य बन जाता और पाप बन जाता तो बन्धका जो हेतु दिया था वह युक्त नहीं बैठता।

शंकाकार द्वारा कथित बन्धव्य व बंधकाल हेतु पर विचार—अब शंकाकार की दूसरी बात पर विचार करें इस प्रसंग में पुण्प पाप बंध के फल होते हैं, यह हेतु शंकाकारने दिया था, यह भी ठीक नहीं। पुण्य पाप बंध के फल नहीं, हैं किन्तु वे स्वयं आश्रव हैं, बध हैं। बन्ध के फल तो सुख दुःख साता असाता, याने निर्जरा है बन्ध का फल। बन्ध है तो उसका फल क्या है? अलग हो जाएगा, यह उसका फल है। कर्म बन्धे हैं तो उनकी आखिरी होगी। क्या? कि मिट जाएगा जैसे जीवन पाया है तो उसकी आखिरी होगी? क्योंकि मरण होगा ऐसे ही बन्ध गए हैं कर्म तो उनकी आखिरी होगी, निर्जरा होगी, चाहे फल देकर निर्जरा हो चाहे बिना फल दिए निर्जरा हो। बन्ध का फल निर्जरा है, पुण्य पाप नहीं, इसलिए पुण्य पाप को अलग से कहने की आवश्यकता नहीं। ये बन्ध और आश्रव के भेद कहलाते हैं। तो इस तरह तत्त्व ७ हैं यह बात युक्ति संगत बैठती है। पुण्य पाप तो बन्ध के भेद हैं, क्योंकि बन्ध दो प्रकार का कहा गया है (१) पुण्यबन्ध (२) पापबन्ध। बन्ध से पहले पुण्य पाप नहीं है, जैसे कर्म बन्ध से पहले कर्मपरमाणुओं में कार्माण वर्गणाओं का नाम है और वे

बंधती हैं, ऐसे ही बन्ध से पहले पुण्य पाप नाम नहीं होता। बन्ध गये, उनमें पुण्य और पाप का रस पड़ गया। जैसे पानी बरसा और बाद में गिरा ना पानी, तो कुछ पानी नीम के पेड़ में आया कुछ आम के पेड़ में आया और कुछ अंगूर के पेड़ में आया तो जो नीम के पेड़ में पानी आया जड़ में सो वे जल परमाणु तो कड़वे बन जाते हैं और जो पानी अंगूर आम आदि के पेड़ों की जड़ में आया वे जल परमाणु मीठे रस के बन जाते हैं। तो यह भेद तो नहीं है कि नीम और अंगूर पर आने से पहले इस पानी में दो भेद पड़े हों कि यह पानी तो मीठा बनेगा और यह कड़वा। उन पेड़ों की जड़ में आने से पहले पानी एकरूप है वहाँ दो भेद नहीं हैं, पर पेड़ में जब आया पानी जब बंधा तो उसमें दो फाटे पड़े। इसी तरह कर्म के बंधने से पहले दो रूप नहीं हैं कि कोई परमाणु पुण्यरूप हो और कोई पाप रूप हो लेकिन जब बंधते हैं तो कषायभाव का निमित्त पाकर बंधते हैं। तो जैसा कषाय में अनुभाग है, शुभ अशुभपना है उस तरह का वहाँ पुण्य पाप का भेद पड़ता है। पुण्य पाप तो बंध के विकल्प है, आश्रव के विकल्प हैं। ये कोई अलग से तत्त्व न मानना चाहिए, इन ७ से अतिरिक्त तत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं, यह बात समझने के लिए सोच लें कि कोई कारण से किसी प्रयोजन से अगर ७ तत्त्वों से अतिरिक्त मान लिए जाते हैं कोई तत्त्व तो फिर कोई व्यवस्था न रहेगी। निर्जरा भी एक क्यों मानते, दो मानें। सोपक्रम और निरुपक्रम याने फल देकर झड़ने वाली निर्जरा और बिना फल दिए झड़ने वाली निर्जरा। संवर के भी कई भेद हैं उन्हें भी अलग तत्त्व मान लिया जावे फिर तो कहीं भी व्यवस्था नहीं बन सकेगी, अतः जीवादिक ७ तत्त्व मोक्ष के प्रयोजनभूत हैं ऐसा जो कहा गया है वह युक्ति संगत बात है।

बन्ध और मोक्ष के परिचय का महत्त्व—देखिए—बँध और मोक्ष इन दो का भले प्रकार स्वरूप समझने वाला पुरुष स्पष्ट और निःशंक रहता है। बंध है, यही दुःख है। यही क्लेश है। संसार में कहीं भी सुख शान्ति नहीं है। यह बात भली भांति सबने परखी होगी। भ्रम एक ऐसा कठोर विष है कि जिस भ्रम से मूर्छित होकर यह जीव महान विपत्ति भोगता है। जब स्वरूप तो हमारा आपका परमात्म स्वरूप की तरह शुद्ध अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त शक्ति और अनन्त आनन्द का स्वभाव रखने वाला है। कष्ट का यहाँ नाम नहीं लेकिन जब स्वयं ही ऊधम मचा रहे हैं, वाह्य पदार्थों को अपना मान रहे हैं, जो नहीं है, जो अनोखा है उसे कभी करना चाहें तो उससे तो क्लेश होगा ही, यानी यह मोही जीव भगवान से भी बढ़कर बनना चाहता है, कैसे कि भगवान तो सर्व पदार्थों को जैसे हैं वैसे ही जान रहे, आत्मा को आत्मारूप से जाना, पर पदार्थ परको रूप से जान गए। भगवान के ज्ञान में तो इस तरह आया, लेकिन यह मोही पर पदार्थों को आत्मारूप बनाना चाहता है देखो इसमें कितनी हिम्मत है, कितना दुःसाहस है कि यह भगवान से भी बढ़कर चलता है, तो एक कहावत है कि जो बड़े से भी बड़ा बनने को चलेगा तो उसकी खैर नहीं होती। यह मोही जीव भगवान से बड़ा बनने की चाह कर रहा है तो यह स्वतः दुखी तो होगा ही। जैसे भगवान तो सीधे सादे जो

जैसा है उसे वैसा जान रहे, सब पदार्थ अपने आपके स्वरूप से परिणमते हैं, किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ में लेन-देन नहीं है। निमित्त नैमित्तिक भेद है यह तो है एक तथ्य की बात। इतना होने पर भी कोई पदार्थ किसी पदार्थ की परिणति करता नहीं है। सब स्वयं सत् हैं, स्वतंत्र हैं, ऐसा निरख रहे हैं ना भगवान, लेकिन ये मोही पुरुष उससे बढ़कर निरख रहे हैं। परकोआत्मारूप से मानने की यह हुज्जत कर रहा है, मेरा ही तो सब है, तो उसे पद-पद पर क्लेश है। जो यह जानता है कि संसार में सुख मिल सकता है उसको पद-पद पर क्लेश होगा और जो समझता है कि संसार में तो सुख का नाम नहीं है। जैसे कोई एक सेठ था वह किसी अपराध में गिरफ्तार करके जेल भेज दिया गया। अब वहाँ तो चक्की पीसने का काम भी उसे करना पड़ता, रस्सी बनाने का काम भी उसे करना पड़ता। जो काम उसने जीवन में कभी न किया था वे वहाँ करने पड़ रहे थे। तो वह सेठ वहाँ बड़ा दुःखी रहा करता था। तो जेल में भी तो ऐसा होता है कि कैदी-कैदी परस्पर में मित्र बन जाते हैं। तो वहाँ उस सेठ के एक कैदी मित्र ने, सेठ के दुःख का यह कारण जान लिया। एक दिन उसने पूछा— बताइये सेठ जी आप इस समय जेल में हैं कि ससुराल में? जेल में। तो जेल में ऐसा करना ही पड़ता है। यह कोई ससुराल थोड़े ही है जो आराम से पड़े रहो। तो सेठ की समझ में आ गया कि अरे यहाँ तो ऐसा करना ही पड़ेगा, लो उसका दुःख कम हो गया। तो जो यह सोचे कि मैं तो इतना बड़ा हूँ, मेरे पर इतने कष्ट क्यों आए? यह तो मेरे पर अनहोनी हो गई, उसे तो बड़ा कष्ट होगा, और जो यह सोचले कि अरे यह तो संसार है, दुःख का घर है, यहाँ सुख का नाम नहीं, यहाँ तो अनहोना कुछ होता नहीं, यहाँ तो ऐसा ही होता है, लो इतनी बात सोच लेने से उसके दुःख में काफी अन्तर आ जाएगा।

विशुद्ध ज्ञान की शरण्यता—विशुद्ध ज्ञान ही हम आपका शरण है। जगत में कोई भी जीव आप के लिए शरण नहीं है। भगवान का यही उपदेश है कि अपने आपको समझो। अपने आपको ही अपना शरण मानो। किसी दूसरे को यदि अपना शरण मानोगे तो झंझटों से नहीं बच सकते। लोग सुख शान्ति के लिए अनेकानेक उपाय किया करते हैं, बड़े-बड़े कष्ट सहते हैं, मगर बाहर से कहीं सुख शान्ति प्राप्त नहीं होती। अगर अपने आपके भीतर ही अपने ज्ञान का काम कर लिया जाए, यथावत् जान लिया जाए, जो जैसा है उसे वैसा जान लिया तो फिर तकलीफ की कोई बात नहीं है। वहाँ सुख शान्ति की प्राप्ति होगी। इस लोक में सुखी, शान्त, आनन्दमय, अनाकुल कौन है बतलाओ? हैं केवल एक भगवान। अरहंत भगवान, सिद्ध भगवान, सशरीर परमात्मा, ये ही अनाकुल हैं। इससे नीचे तो निराकुलता न कहेंगे। और सर्वाधिक दुःखी कौन हैं? बहिरात्मा, मोही, मिथ्यादृष्टि, जो बीच में रहने वाले जीव हैं, मायने सम्यग्दृष्टि गृहस्थ, सम्यग्दृष्टि मुनि ये कुछ कष्ट पाते हैं और कुछ आनन्द पाते हैं। कोई कम आनन्द पाता कोई अधिक, पर आनन्द पाने के वे सभी अधिकारी हैं। तो यह समझो कि भगवान हैं पूर्ण सुखी, सम्यग्दृष्टि हैं कुछ कम सुखी और मिथ्यादृष्टि हैं नितान्त

दुःखी। जैसे देखा होगा कि बरसात के दिनों में मेंढक बहुत खुश रहते हैं। तो एक बार एक मेंढक के ऊपर दूसरा तथा दूसरे के ऊपर तीसरा, यों तीन एक पर एक बैठे हुए थे। तो उनमें से सबसे ऊपर वाला मेंढक बोलता है। हमें तो बड़ा सुख, हेच न गम याने हम तो बड़े आराम से बैठे हैं, तो बीच वाला मेंढक बोलता है—कुछ-कुछ कम-याने हम कुछ कम आराम में बैठे हैं और सबसे नीचे वाला मेंढक कहता है मरे तो हम। यही दशा यहाँ भी समझिये। परमात्मा, अन्तरात्मा और बहिरात्मा में भी यही बात देखिये। परमात्मा कुछ कहता तो नहीं है, पर अलंकार में समझलो। परमात्मा की यही पुकार है कि हमें तो हेच न गम। अन्तरात्मा की पुकार है कि कुछ-कुछ कम, और बहिरातमा की यह पुकार है कि मरे तो हम। देखिये हम आप चतुर्गतियों में भ्रमण करते नाना तरह के विकल्प मचाते। यह सब दुःखरूप हैं। कदाचित् आज कुछ पुण्य का उदय है। सुख साधन मिले हुए हैं तो इन्हें महा विषैले समझो इनके सेवन से घोर दुःख उठाना पड़ेगा। यहाँ जो लोग देख देखकर खुश हो रहे हैं कि यह मेरा घर, ये मेरे बच्चे, ये मेरे परिजन आदि, तो इन सबके प्रति मोह किए जाने का फल क्या होगा? बस कष्ट ही कष्ट भोगना पड़ेगा। तो संसार की इस क्षणिक सुख सामग्री को पाकर इनमें मुग्ध मत होओ। ये भी जीव के कर्म विपाक हैं।

ज्ञान प्रकाश में आकुलता का अनवकाश—कोई एक ज्ञानी सेठ था। तो उसके कई मुनीम थे। तो जो हेड मुनीम था वह सेठ को देखकर बड़ा आश्चर्य किया करता था कि देखो यह तो कितना बड़ा धनिक पुरुष है लेकिन इसे रंच भी अभिमान नहीं होता, कभी कोई छल कपट आदि नहीं करता, और देखो कितनी इसकी उदार वृत्ति है कि कभी कोई कुछ मांगता तो उसे झट दे डालता एक बार क्या हुआ कि एक जगह से तार आया कि सेठ जी की अमुक फर्म में ५ लाख का टोटा पड़ गया। तो इस समाचार को मुनीम ने सेठ को दिया तो सेठ ने वहाँ यही कहा कि हाँ हो गया होगा टोटा, ठीक है। वहाँ मुनीम ने देखा कि सेठ को रंच भी विषाद (शोक) न हुआ तो वह मुनीम बड़े आश्चर्य में पड़ गया। कुछ समय बाद फिर किसी दूसरी जगह से खबर आयी कि दूसरी जगह के किसी काम में जब हिसाब देखा गया तो उसमें २५ लाख का फायदा हो गया। यह भी समाचार मुनीम ने सेठ को सुनाया, तो वहाँ भी सेठ ने यही कहा कि हाँ हो गया होगा फायदा, ठीक है मुनीम ने वहाँ भी यही पाया कि सेठ को रंच भी हर्ष न हुआ तो वह आश्चर्य से भर गया पूछा—सेठ जी आपने न तो फायदा होने पर कुछ हर्ष माना और न टोटा होने पर कुछ विषाद माना, तो इसका क्या कारण है? तो वहाँ सेठ ने यही उत्तर दिया कि देखो ये सब बाहरी बातें हैं, इनसे मेरे आत्मा का क्या सम्बन्ध, आया तो ठीक न आया तो ठीक। वे सब बाहरी परिणतियाँ हैं, वैसा हुआ तो ठीक न हुआ तो ठीक इसमें मेरे आत्मा का क्या लगता है? फिर काहे के लिए हर्ष और काहे के लिए विषाद? देखो जैसे कहते हैं ना तिलकी ओट पहाड़ याने आंख के तिलके आगे कोई तिल बराबर कागज या कोई चीज लगा ली जाएतो सारा पहाड़ ढक

जाता है, बस यही बात यहाँ है। यहाँ अपने आत्म प्रदेशों में जहाँ पर पदार्थ संबंधी विकल्प लगाया वहाँ समझिये कि सारा अन्धकार छा गया। यहाँ का प्रकाश परखो, यही परमात्म स्वरूप का दर्शन है। बाहरी पदार्थों में ममत्त्व मत रखो। जो है सो ठीक है। यह कुछ चीज नहीं है। ये काम की चीज नहीं है, बल्कि मेरा बिगाड़ करने वाली हैं।

लालच में संतजनों के प्रति भी संशय कर जाने के पाप की नौबत—एक बार एक मुनि महाराज ने किसी नगर में चातुर्मास किया। तो शहर से बाहर एक पेड़ के नीचे उन्होंने अपना निवास स्थान बनाया। तो वहाँ का जो एक प्रमुख सेठ था उसके मन में आया कि हम भी मुनिराज के साथ चातुर्मासभर रहकर धर्म साधना करेंगे। उसका लड़का था कूपूत सो उस सेठ ने अपने घर में रखे हुए हीरे, जवाहारात, रत्न एक हांडी में भरकर उसी पेड़ के नीचे जहाँ कि उसे मुनिराज के साथ रहना था वहीं एक गड्ढा खोद कर गाड़ दिया। अब वह सेठ निशल्य होकर धर्म साधना करने लगा। अब उस चातुर्मास के ही बीच में सेठ के कूपूत लड़के को किसी तरह मालूम पड़ गया तो मौका पाकर एक दिन वह उस हांडी को निकाल ले गया। सेठ को कुछ पता न पड़ा। मुनिराज तो चातुर्मास पूरा होने के पश्चात् किसी अन्य नगर को प्रस्थान कर गए, इधर सेठ ने जब अपना असर्फियों का हंडा खोदा तो गायब। सेठ के मन में आया कि देखो यहाँ हम और मुनिराज दो ही व्यक्ति रहते थे। कोई तीसरा व्यक्ति तो यहाँ आता न था। फिर और कौन ले जा सके? मालूम होता है कि इसमें मुनि महाराज का कुछ हाथ है। सो वह सेठ उन मुनिराज के पास पहुँचा। उनसे सीधा यह तो न कह सकता था कि तुमने हमारा असर्फियों का हंडा चुराया, क्योंकि वह ज्ञानी पुरुष थे। समाज में उनकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। तो सेठ ने वहाँ पर कुछ ऐसी-ऐसी कहानियाँ कही जिनसे यह स्पष्ट मालूम होता था कि देखो हमने चार महीने तक मुनि महाराज की सेवा सुश्रुषा की फिर भी हमारा धन उठा लाये इस तरह की ८ कहानियां सेठ ने कही, और ८ कहानियां मुनिराजने भी कही। मुनिराज के भी कहने का आशय यही था। कि अरे सेठ तू व्यर्थ ही मेरे ऊपर भ्रम कर रह है, मैंने नहीं चुराया। भले ही उन कहानियों का मर्म अन्य लोग न समझ सकते थे मगर सेठ तो जानता ही था। और तो मुनि महाराज ने जो ८ कहानियां कही थीं उनमें से एक कहानी हम आपको सुनाते हैं—देखो सेठ जी, एक ब्राह्मण के घर नेवला पला था। वह घर में सब सुध रखता था कि कोई नुकसान न हो जाए। तो एक बार वह ब्राह्मणी अपने छोटे से बच्चे को पालने में सुलाकर खुद कुवें से पानी भरने चली गई कुवां तो घर से बाहर कुछ दूर था। देहातों में तो बड़े-बड़े घरों की स्त्रियाँ भी कुवें से पानी भरने जाती हैं। तो ब्राह्मणी कुवें से पानी भरने चली गई। इधर क्या हुआ कि घर में उस पालने के पास एक जहरीला काला सर्प निकला और बच्चे को डसने के लिए पालने की ओर बढ़ा नेवले ने सर्प को देख लिया और उसे पकड़ कर उसके टुकड़े-टुकड़े कर दिए, ब्राह्मणी के बच्चे की रक्षा कर दी। और मारे खुशी के वह झट दरवाजे पर आ गया अपनी

मालकिन को खबर देने के लिए। उसका मुख तो खून से भीगा ही था सो उसे देखकर ब्राह्मणी ने सोचा कि अरे आज तो इसने मेरे बच्चे को काट डाला। सो मारे क्रोध के उसने पानी से भरा हुआ घड़ा उस नेवले पर पटक दिया। नेवला मर गया। जब ब्राह्मणी घर के भीतर गईतो क्या देखा कि बच्चा खेल रहा था और पास ही सर्प के टुकड़े-टुकड़े पड़े थे। ब्राह्मणी सारी बात समझ गई और वहाँ अपना माथा धुनने लगी। हाय व्यर्थ ही मैंने भ्रम में आकर निरपराध नेवले की हत्या कर दी। तो कथा तो मुनि महाराज ऐसी कहते जाते थे, इससे आगे कुछ नहीं बोलते। वे सारी कथायें सेठ का वह कुपूत भी सुन रहा था उसने सारी कथाओं का मर्म भली-भाँति समझ लिया। उससे अधिक और समझ ही कौन सकता था? तो वहाँ उस कुपूत ने कहा पिताजी आप व्यर्थ ही मुनिराज पर भ्रम कर रहे हैं। आपका असर्फियों का हंडा तो मैंने चुराया था। वह घर में अमुक जगह रखा है आप यह लीजिए चाभी और घर जाकर अपना धन लीजिए, मैं तो अब घर न जाऊँगा, यहाँ मुनि महाराज के पास दीक्षा लेकर धर्म साधना करूँगा। सो वह कुपूत वहीं साधु हो गया। तो भाई बाह्य पदार्थों के प्रति जो इतना लगाव लगाया जा रहा है यह तो तिलकी ओट है, इससे सारा अन्धकार छा जाता है।

संसार को दुःखमय जानकर व अन्तस्तत्त्व को दुःख रहित जानकर संतोष धारण करने का अनुरोध—भैया एक यहाँ भीतर ही इस आवरण को हटा दीजिए ताकि और परिचय हो जाए कि मैं तो सबसे निराला विशुद्ध चैतन्य मात्र हूँ। इस तत्त्व का बोध हो जाए तो बस सारी समस्या सुलझ जाए मुक्ति का पात्र हो जाए, अन्यथा तो संसार में भटकना ही पड़ेगा। कोई चारा नहीं है। संसार को ऐसा मानो कि यह जेल खाना है। जैसे जेल खाने में आराम नहीं है। चाहे जेल में कुछ आराम मिल भी जाए, पर संसार में तो रंच भी आराम नहीं है जेल कहीं संसार से अलग नहीं हैं, पर एक दृष्टान्त की बात कहा है। संसार में सुख का नाम नहीं। लोग कहते भी हैं कि यहाँ सुख तो राई बराबर है और दुःख है पर्वत बराबर। और असल में तो इस संसार में सुख शान्ति तो रंच मात्र भी नहीं है। सारा दुःख ही दुःख है। यहाँ सुख का नाम भी नहीं है। ऐसा जानो और किसी भी सुख सामग्री में फूलो मत, हर्षित मत हो। उसमें बहुत पाप का बंध होता है। दुःख में दुःखी होने से भी पाप बंध होता और सुख में मग्न होने से भी पाप का बंध होता है। और पाप का फल बुरा होता है। इससे अपने आप की सम्हाल बनाना चाहिए। सुख में होकर मग्न न फूलो, दुःख में कभी न घबड़ाये। ज्ञाता दृष्टारह, जान ले, यह ऐसा है यह ऐसा है। लोग किसी भी विपत्ति को एक बहुत बड़ी विपत्ति का रूप दे देते हैं, मेरे को तो बड़ी विपदा है और यह नहीं देखते कि संसार में जो हमसे भी अनगिनते गुने दुःखी हैं वे कितना दुःखी हैं। उनके सामने मेरा क्या दुःख? इस बात पर दृष्टि नहीं जाती। और मोही पुरुष मानते हैं कि मेरे को सबसे बड़ा भारी दुःख है। क्या दुःख? अगर लड़के ने कुछ पिता के मन के प्रतिकूल बात कह दी तो

पिता सोचता है कि मेरे समान कोई दुःखी नहीं। अरे क्या दुःख है? जगत के और दुःख तो देखो उनके सामने क्या दुःख है? कभी मानलो आपको १०-१५ हजार का नुक्शान हो गया तो आप उसका बड़ा दुःख मानते। पर यह तो बताओ कि क्या इससे अधिक आपका नुकसान हो नही सकता था? अरे जब कभी कांटा लगता है तो वहाँ बुद्धिमान पुरुष सोचता है कि आज तो वास्तव में हमको शूली लगने का दिन था पर काँटा लग गया इससे सस्ते ही निपट गए। उसका मन कभी ऐसा व्यग्र नहीं होता कि मेरे ऊपर विपदाओं का पहाड़ आ पड़ा। अरे यह संसार तो दुःखों का घर है। यहाँ क्या छटनी करना कि इसमें हमको सुख होगा। अरे जीव जब कषाय करता है, सुख में राजी होता है, दुःख में घबड़ाहट करता है।

कर्मबन्ध न होने के लिए सावधानी की महती आवश्यकता—जिस समय यह जीव क्रोध करता है उस वक्त में बहुत पाप कर्मबन्ध हो जाता है। तो जो कर्मबन्ध हो गया उससे छुटकारा नहीं होता। कोई विशिष्ट तत्त्व ज्ञान जगे तो भले ही उसकी निर्जरा पहले हो जाय, संक्रमण करके निर्जरा हो जाए। कहते हैं न कि बिना फल दिए कर्म झड़ते हैं। एक सिद्धान्त ऐसा है कि जिसने यह कहा है कि न्युमुक्तंभोग्यते कर्मोंचाते बिना भोग कर्म क्षीण नही हो सकते। यह है नैयायिकों का सिद्धान्त, पर इससे मिला जुला जैन सिद्धान्त भी यही कहता है कि बिना भोगे कर्म क्षीण न होंगे। भोगने की व्याख्या जुदी है। कभी वह पूरा फल देकर झड़ जाए। विशुद्ध परिणाम हो जाए तो वही पहली स्थिति में मिल जाए, ऐसी प्रकृति रूप हो जाए और उसका फल मिले देखो हम आप सब जीव जो भी यहाँ बैठे हैं उनमें बहुत कुछ यह सम्भव है कि चारों गतियों का बंध किया हो—नरक, तिर्यंच, मनुष्य और देव। और इस समय हम आप मनुष्य हैं। उदय तो एक का है मनुष्य आयु का मगर जो कभी हुई चारों गतियां हैं वे चारो गतियां उदय में आ रहीं। अब यहाँ आप असमंजस में पड़ जाएंगे कि जब हम मनुष्य हैं तो यहाँ चारों गतियों के उदय का क्या काम, मनुष्य गति का ही उदय होना चाहिए। मनुष्य जैसे ही भाव हो रहे हैं। तो भाई जो पहले और गति बाँधी और उनके जो कर्म परमाणु हैं वे आत्मा में से खिरेंगे तो जरूर ही। बस उसके खिरने का ही नाम फल है। वहाँ इतनी बात हो जाती है। कि जिसके कारण बाकी तीन गतियों का उदय आ जाए, सामने आएगा। मान लो कि ८ बजकर १० वें समय पर उदय आएगा तो होता क्या है कि ९ के ही समय में वे तीन गतियाँ मनुष्य गति रूप बंध जाती हैं और फल तो हुआ ना। पर वह मनुष्य गति के रूप में उसका फल हुआ। इस तरह अगर सोच विचार करें तो उनका कैसा उदय है कि बिना भोगे कर्म नष्ट नहीं होते। अच्छा और बात विचारो। जब व्रत तप संयम आदि साधन करते हैं, ज्ञान स्वभाव की अनुभूति बनाते हैं उस काल में तो बिना फल दिए कर्म झड़ जाते हैं फिर वहाँ कैसे लागू होगा कि बिना भोगे कर्म नहीं झड़ते! तो वहाँ भी स्थिति परखो। जो कर्म हजार वर्ष बाद उदय में आते उन्हें तो १०० वर्ष में ही शामिल कर दिया और वहाँ भी प्रकृति परिवर्तन कर दिया। ये सब होते रहते। प्रकृति परिवर्तन, स्थिति

अनुभाग आदि मोक्षमार्ग में चलते हैं तो उसके परिणाम का निमित्त पाकर तो कर्म परमाणु तो उतने ही रहे ना, वे उदय से पहले निर्जरा को प्राप्त हो गए। उदय वैसा फल दिए बिना झड़ गए। कम फल देकर झड़ गए। कैसी ही पचासों तरह की स्थितियां हों आखिर वे सब विपाक कहलाती हैं। तब ही तो दो प्रकार के भेद किए गए। सविपाक निर्जरा, अविपाक निर्जरा। जो अपने आपके ढंग से फल न दे और ढंग में आकर खिर जाए उसे कहते हैं व्यवहार अविपाक निर्जरा। तो कर्म बन्ध न होने के उपाय पर बहुत ध्यान दीजिए।

सात तत्त्वों की सँख्या के कम किए जाने की शंका का प्रकरण—जीवादि ७ तत्त्वों के विषय में यह प्रकरण चल रहा है कि ७ ही तत्त्व क्यों कहे? कम या अधिक क्यों नहीं कहे गए? इस विषय में कुछ तो वर्णन हुआ। यहाँ यह शंका की जा रही है कि ७ तत्त्व के बजाय कम या ज्यादा क्यों नहीं कहे गए? प्रसंग यह है कि आश्रव, संवर, निर्जरा, न कहकर बंधहेतु मोक्षहेतु यों कह दिया जाए। उसमें सब आ जाता है। समाधान यह है कि बन्ध हेतु कहने से तो सँख्या कम होने का लाभ तो कुछ होता नहीं इसलिए बंधहेतु की जगह आश्रव कहना ही युक्त है, वह स्पष्ट हो जाता है अब केवल मोक्ष के सम्बन्ध का विवाद है। मोक्ष के कारण हैं संवर और निर्जरा यानी नवीन कर्म का न आने देना और निर्जरा याने नवीन कर्म का न आने देना और पहले बांधे हुए कर्म का विनाश करना। ये दो तत्त्व मोक्ष के हेतु माने गए हैं। अब दो न कहकर केवल मोक्ष हेतु कहा। तो इसमें लोगों को विवाद हो जाता है। क्षणिकवादी कहते हैं कि केवल संवर ही मोक्ष का हेतु है, अथवा यह ही मोक्ष का कारण है। बंधे हुए कर्मों के नष्ट करने का कोई उपाय नहीं करना पड़ता। प्रत्येक वस्तु का विनाश अपने आप स्वयं होता है। क्षणिकवाद ही तो ठहरा और इस सम्बंध में एक बात तो यह है कि वह बन्धन ही उनके यहाँ घटित नहीं है, क्योंकि क्षण-क्षण में नयी-नयी आत्मा पैदा होता है। जो सुबह ८ बजे है, ८ बजकर एक सैकेण्ड पर वह आत्मा नहीं है, वहाँ दूसरा आत्मा है, तीसरे सैकेण्ड में फिर तीसरा आत्मा है। ऐसे ही, सैकेण्ड तो बहुत बड़ा है प्रत्येक समय में नया-नया आत्मा पैदा होता है। बन्धन किसका और मोक्ष भी किसका?

संवर निर्जरा तत्त्वों में से केवल एक को माने जाने में मार्ग लाभ—जब उक्त आपत्ति प्रदर्शित होती तो उनका कहना यह है कि आत्मा तो न बंधता है न उसका मोक्ष है, लेकिन जो नये-नये आत्मा पैदा होते रहते हैं तो पहिला आत्मा जब नष्ट होता है तो अपना संस्कार नये आत्मा को सौंप देता है और जब तीसरा आत्मा पैदा हुआ तो दूसरा आत्मा तीसरे को अपना संस्कार सौंप देता है, इस तरह उस संस्कार के कारण बंध है। और जब जीव को यह मालूम पड़ जाए कि आत्मा कुछ नहीं है वह तो क्षण भर की एक ज्योति है, सो क्षण भर के लिए आत्मा को स्वीकार न करें तो उसका मोक्ष हो जाता है क्योंकि आत्मा अगर मानोगे तो वह बंधेगा और आत्मा ही न मानोगे नया-नया आत्मा होता है तो बन्धन किसका? तो उनका तत्त्व ज्ञान उतना ही है कि यह भ्रम छोड़ दें कि मैं आत्मा अमर हूँ, मैं

आत्मा सदा रहता हूँ, यह भ्रम छोड़ दें तो मोक्ष हो जाएगा। मान लो कि आत्मा एक समय तक रहता है अगले समय होता ही नहीं और दृष्टान्त भी देखो कितना सुन्दर बताया अपनी बुद्धि माफिक जैसे दीपक जल रहा है मिट्टी के तेल का अथवा सरसों के तेल का, तो जो दीपक है वह तो एक बूँदका दीपक है, फिर दूसरा बूँद आया फिर तीसरा बूँद आया ऐसी एक-एक बूँद उस दीपक के पास आती रहती है और वह ऐसा लगता है कि एक दीपक जल रहा है। तो जैसे यह भ्रम हुआ हो कि दीपक एक है इसी तरह से आत्मा में भी लोगों को भ्रम हो गया कि आत्मा सदा रहता है। उनकी युक्ति है। ऐसा नाश को अहेतुक मानने वाले निर्जरा तत्त्व को न मानकर केवल संवर को मोक्षहेतु मानते हैं। किन्तु ऐसा न हो सकेगा कि निर्जरा का निग्रह कर दें और नाम हो जाए अहेतुक। जो कारण उत्पाद का है वही कारण व्यय का है याने घड़ा फूटे उसका कारण न हो और खपरिया बनी उसका कारण हो, ऐसा नहीं होता। व्यय भी सहेतुक है और उत्पाद भी सहेतुक है। और भी देखो क्षण-क्षण में एक नया-नया आत्मा है तो भी मोक्ष की क्यों फिकर पड़ी कि उपाय तो हम करें, तप करें, संयम करें। अनेक प्रकार के तपश्चरण करें और मोक्ष हो किसी दूसरे आत्मा का। तो ऐसे मोक्ष की क्या जरूरत? तो क्षणिक मानने पर यह मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती। आत्मा है, सदा है, वही है, एक है। अब नये कर्म भी नहीं आए यह तो हुआ संवर और उपाय बनायें। भेद विज्ञान से ज्ञात स्वभाव के, आश्रय का संयम दीक्षा आदिक का उपाय बनायें तो कर्म निर्जरा होती है, मोक्ष होता है। तो जिसने अलग केवल संवर को माना है तो वहाँ आत्म तत्त्व न आ सकेगा, जिसकी श्रद्धा विना मोक्ष का उपाय नहीं बनता। तो कोई लोग यह कहते कि केवल निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। जो कर्म आए हैं उन्हें झड़ा दें उनकी भी बात ठीक यों नहीं बनती कि कर्म तो झड़ाने का काम करें और नये कर्म आते रहें तो कैसे मुक्ति हो सकती है। एक बात। दूसरी बात यह है कि जहाँ संवर है वहाँ खाली संवर नहीं है। निर्जरा साथ लगी है। जहाँ निर्जरा है वहाँ केवल निर्जरा नहीं है, संवर साथ है। गुप्ति समिति आदिक जो संवर के कारण हैं वे ही निर्जरा के कारण हैं। वे दोनों एक साथ चलते हैं इसलिए संवर निर्जरा दोनों एक साथ कहने आवश्यक हैं। ६ सँख्या बनाने से भी काम नहीं चलता। इस तरह जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष ये ७ तत्त्व बताये गए हैं।

जीव अजीव न कहकर शेष पाँच तत्त्वों के कहने की अप्रयोजकता—कोई कहे कि तुम्हारा हठ है संवर निर्जरा कहने का तो ५ ही तत्त्व मान लो आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष। अरे जब जीव नहीं मानते तो फिर मोक्ष किसका कराना प्रथम तो जो क्षणिक वाद भी जीवन मानने की तरह है, फिर चार्वाक लोग तो जीव को मानते ही नहीं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु का संयोग हुआ कि जीव तत्त्व पैदा हो जाता है। वहाँ न कोई परलोक है, न कोई नरक है न कोई स्वर्ग है और उनका कहना ऐसा है जैसे प्रायः आजकल भी कहते हैं कि अच्छी ठाठ है वह तो है स्वर्ग और जहाँ दरिद्रता हो उसे कहते हैं नरक। ऐसा कहने

वाले लोग भी बहुत हैं, तो जो न लोक मानते न परलोक मानते ऐसे जो लोग हैं उनके यह आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, मोक्ष आदिक की व्यवस्था ही नहीं है। तो जीव का कहना आवश्यक है और जीव एक ही अकेला हो तो उससे तो आश्रव बन्ध नहीं हो सकता। जैसे एक से लड़ाई नहीं छिड़ती, कोई अकेला हो, उसका प्रतिपक्षी न हो तो वह क्या लड़ेगा? और प्रतिपक्षी हैं तब ही लड़ाई शान्त है, केवल एक में बन्ध मोक्ष नहीं है। अब देखो इस प्रसंग से द्रव्यार्थिकनय की दृष्टि में निश्चयनय की दृष्टि में जीवतत्त्व माना जाता है। ज्ञायकस्व रूप ज्ञायक स्वभाव अपरिणामी शाश्वत एकस्वरूप, अखण्ड, अभेद, अरे एक ही तो माना तो उसे एक में बंध मोक्ष नहीं है। जीव के बन्ध मोक्ष नहीं है, ऐसा न समझना, किन्तु जब कोई इस दृष्टि से निहारे, द्रव्यार्थिक दृष्टि से देखे कि यह तो एक अखण्ड चैतन्य प्रतिभास मात्र है; इतना ही स्वरूप जब देख रहे हैं तो ऐसे स्वरूप में बन्ध मोक्ष नहीं है। उसका अर्थ यह है इसका अर्थ यह नहीं है कि जीव सत्य है और उसका बन्ध मोक्ष नहीं है। जब द्रव्य दृष्टि से जीव को देखा जा रहा है, उसमें जो स्वरूप नजर में आया वह स्वरूप बंध मोक्ष की व्यवस्था से रहित है और जब पर्याय दृष्टि को लेते हैं तो वहाँ बन्ध मोक्ष की व्यवस्था बिल्कुल सही है उसमें सत्य असत्य की जो बात कर रखी है कि पर्यायार्थिकनय असत्य है, द्रव्यार्थिकनय सत्य है तो इस तरह सत्य असत्य की बात नहीं है। दोनों ही बातें सत्य हैं, लेकिन जब द्रव्यार्थिक दृष्टि से स्वरूप निहारते हैं, इस पर्याय की कोई बात ही नहीं है, वहाँ वह दृष्टि में ही नहीं है जैसे एक मकान की चार भींट होती हैं आमने सामने दो भींट हैं। जब हम सामने की भींट देख रहे हैं तो इस दृष्टि से पीछे की भींट का सत्व है क्या? जब हम केवल सामने की भींट निरख रहे तो पीठ पीछे की दीवाल का सत्व दृष्टि में नहीं है, लेकिन यह कहना कि बात यह ही है केवल एक ही भींट है, दूसरी भींट नहीं है, तो यह कहना गलत है।

सीमा तोड़ हठ की अयुक्तता—देखिए हठ की बात तो अलग है। अगर कोई कहे कि हाँ हमारे कमरे में एक ही भींट है। एक भींट में दोनों तरफ छज्जे निकालकर कमरे का रूप दें दे तो वह बात अलग है। हम ऐसे तर्क की बात नहीं कह रहे। यों तो भाई एक बार कोई वकील कहीं घूमने जा रहा था। उसने देखा कि एक जगह एक तेली का बैल कोल्हू पेल रहा था। उसके गले में एक घंटी बन्धी हुई थी। तथा आंखों में पट्टी। जब तक वह घंटी बजती रहती तब तक वह तेली समझता रहता कि बैल ठीक ठीक चल रहा है और वह अपना कोई दूसरा काम किया करता था। जब घंटी बजना बन्द हो जाता था तो तेली समझ लेता था कि बैल खड़ा हो गया और वह आकर बैल को खेद देता था। तो वहाँ जब वकील ने बैल के गले में घंटी बंधी हुई देखी तो तेली से पूछा—भाई इसके गले में घंटी क्यों बांध रखी है तो तेली ने बताया कि जब तक यह घंटी बजती रहती है तब तक हम और काम करते रहते हैं और जब घंटी बजनी बन्द हो जाती तो हम समझ लेते कि बैल खड़ा हो गया और हम आकर उसे खेद जाते हैं, तो इसलिए हमने घंटी बांध रखी है। वकील

ने कहा यदि यह बैल खड़े-खड़े ही घंटी हिलाता रहे तब तो तुम धोखे में पड़ जावोगे ना? तो तेली बोला जिस दिन हमारा बैल वकील बन जाएगा उस दिन हम कोई और उपाय बना लेंगे। तो यह एक सामान्यतया बात है कि जब कमरा है तो उसमें दो भींट होना आवश्यक है। जब हम सामने की भींट लक्ष्य में ले रहे उतने समय दृष्टि में दूसरी भींट का अस्तित्व नहीं तो इसके मायने यह नहीं है कि दूसरी भींट नहीं है। इसी तरह जब हम द्रव्य दृष्टि से आत्म तत्त्व को देखते हैं उस समय में स्वरूप में क्योंकि निश्चयनय का विषय अखण्ठ है, अभेद है। तो वहाँ बन्ध मोक्ष की व्यवस्था नहीं होती है। साथ ही यह भी समझ लीजिए कि उस अखण्ड अभेद निश्चयनय के विषय का आश्रय करने से सम्यक्त्व होता है। इतना महत्त्व का विषय है। महत्त्व का विषय होने पर भी यह बात झूठ नहीं है कि जीव का बन्ध है, जीव में रागादिक होते हैं, जीव के साथ कर्मबन्धन है, यह बात असत्य हो, असत्य कुछ नहीं है, मगर उस द्रव्य दृष्टि में बन्धन नहीं हैं, बन्ध भी क्या, मोक्ष भी नहीं है, क्योंकि उसकी दृष्टि एक विशुद्ध तत्त्व पर है,

सहजस्वरूप में बन्धन मोक्ष की अदृष्टि—भैया निज विशुद्ध तत्त्व को देखा जाए और उसका मोक्ष मानें तो वह भी उसके लिए गाली की तरह है। जैसे कोई यह बात सुनता है कि मोक्ष होना अच्छी बात है तो उस छुट्टी की प्रशंसा करे और कहे कि आपके पिता तो जेल से मुक्त हो गए हैं तो क्या वह भला मानेगा? अरे बुरा क्यों मानते हो? मुक्ति की ही तो बात कह रहे हैं कि आपके पिता जेल से मुक्त हैं। लेकिन ऐसा कोई किसी को कहे तो वह बुरा मानता। क्योंकि उस मानने में यह बात शामिल हो गई कि यह पहले कैद में थे अब मुक्त हो गए। तो कैद में थे यह बात सुनना पसंद नहीं है। इसी तरह इस जीव तत्त्व को जो निश्चय का विषय है उसके लिए यह कहना कि मोक्ष होता है यह भी गाली है। बंध होता है यह तो प्रकट गाली है। जीव के बंध होता है इसका कारण है कि जीव बंध अवस्था में है, लेकिन निश्चय अवस्था में जहाँ एक अखण्ड को निहारा जा रहा है वहाँ न बंध की व्यवस्था है न मोक्ष की इसका तात्पर्य यह हुआ कि बंध की मोक्ष की व्यवस्था नहीं है यह मात्र एक दृष्टि की बात कही जा रही है। तो जीव माने बिना तो मोक्ष मार्ग के तत्त्व की श्रद्धा नहीं आ सकती और अजीव माने बिना भी तत्त्व नहीं आता। जीव पर अजीव लदा बंधा है, यह ही आश्रव बंध है और जीव से अजीव अलग हो जाए, यह ही इसका मोक्ष है और ऐसा होने का जो उपाय है उसको कहते हैं संवर तथा पहले के अजीव झड़ें वह कहलाती है निर्जरा। अब इस प्रसंग में कोई ज्ञानी पुरुष कहीं भी बंध मोक्ष की व्यवस्था देखे वहाँ उसको ये ७ बातें आएंगी। यह हुई जीव और कर्म के बाबत में तत्त्व-व्यवस्था।

जीव में ही सात तत्त्व की व्यवस्था का दर्शन—अब जरा जीव और विभाव इन दो को दो तत्त्व मानकर, जीव स्वभाव एक ५ तत्त्व और रागादि विकार भी एक तत्त्व है इन

दोनों तत्त्वों को सामने रखकर जब आश्रव बंध, संवर, निर्जरा, मोक्ष निरखा जाता है तो देखिए वह ही पद्धति। यहाँ जीव है स्वभाव और अजीव है विभाव, जीव में अजीव का आना आश्रव, मायने स्वभाव पर विभाव का बंध जाना, संस्कार हो जाना सो बंध, स्वभाव में विभाव को न आने देना सो संवर और विभाव के संस्कार का क्षय करना निर्जरा और इस स्वभाव में विभाव बिल्कुल न रहे तो इसका नाम है मोक्ष। कहीं भी बात रख लो, पद्धति यह ही आएगी। कोई सोचे कि यह जीव तो ज्ञान स्वरूप है, जाननहार है, इसको कष्ट क्या है कि इसमें बाह्य पदार्थ ज्ञेय होते हैं। तो इस प्रसंग में अब दो तत्त्व सामने आए ज्ञान, और भीतर में जो झलक हुई ज्ञेय हुआ। जिसे ज्ञानाकार और ज्ञेयाकार कहो। ज्ञान और ज्ञेय? चाहे ज्ञायक कहो और ज्ञेय कहो। ज्ञायक है सो जीव, ज्ञेय है सो अजीव। जो प्रतिपक्षी में रखें वह अजीव कहलाता है। उस ज्ञान में ज्ञेय का आना आश्रव, ज्ञान में ज्ञेय का बँध जाना बंध और ज्ञान में ज्ञेय का न आना यह हुआ संवर और वस्तु के त्याग को जो संस्कार बना सो ज्ञानाकार पर दृष्टि देकर उस सँस्कार को नष्ट करना निर्जरा और जब पर वस्तु का कोई ज्ञेय नहीं आए, ज्ञान है ऐसा ज्ञानाकार विलसे इसका नाम है मोक्ष। जब कभी दो तत्त्व आमने सामने रखेंगे तो पद्धति उसी तरह बनेगी। यद्यपि ऐसा नहीं होता कि कोई भी ज्ञान ज्ञेयाकार बिना रह जाए। अब कुछ भी ज्ञान में न आएगा ऐसा नहीं हो सकता, ज्ञान ही ज्ञान में आए तो वह स्व भी ज्ञेय। जहाँ केवल ज्ञान हुआ वहाँ विवश होकर लोक अलोक के समग्र तत्त्वों को आना ही पड़ता है, देखना ही पड़ता है। तो ध्यान में जो बाह्य वस्तु के रोकने की बात कही जाती वैसा यहाँ ही कहा जा रहा है। जैसे मोक्षमार्ग प्रकाशक में दृष्टान्त दिया है कि घर में आने वाली नई बहू को लोग समझाते हैं कि यहाँ वहाँ न जावो, पर घर में न जावो, बाजार में न जावो, पर घर की बुढ़िया को तो कोई नहीं रोकता कि इधर-उधर मत जावो। वह तो सब जगह फिरती है, तो ऐसे ही समझो कि केवलज्ञान तो एक बुढ़िया हो गई, उसमें तो तीनों लोकालोक का सारा ज्ञान आ गया, उसे तो कोई नहीं रोकता कि ऐ केवली भगवान तुम तीनों लोक अलोक का ज्ञान न बनाओ। वह तो विवश होकर होता है, लेकिन यहाँ संसारी जीवों को रोका जाता है कि तुम ज्ञेय में मत जावो, तुम किसी भी पर वस्तु को मत ग्रहण करो, इस तरह रोका जाता है, क्योंकि इसके राग का संस्कार लगा है। तो यहाँ जो परद्रव्यों को ध्यान में मत लो, यह उपदेश है वह हम आपके लिए है और जहाँ केवलज्ञान प्रकट हो गया वहाँ इस रुकावट की भी जरूरत नहीं पड़ती। तो यों जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, ये ७ तत्त्व हैं। इन तत्त्वों के रूप से निश्चित किए गए पदार्थ का श्रद्धान करना सो सम्यग्दर्शन है।

मोह से पृथक् रहने में कल्याण—अब इस प्रसंग में अपने आपके कर्त्तव्य के सम्बंध में कुछ चिन्तन करें। हमें क्या सोचना है? किस ढंग से चलना है कि हमारा कल्याण हो? देखिए पहला निर्णय तो यह बनावें कि जितना भी हमको समागम मिला है यह सब समागम मायारूप है, विकार है मिल गया है, इससे मेरा कोई सम्बंध नहीं है, केवल इस

समागम के सम्बंध से मेरे को आकुलता ही हुआ करती है। इस संसार में सुख रंच मात्र भी नहीं हैं। यों तो भाई जो शराबियों की गोष्ठी होती है वे भी मतवाले बनकर खूब हंसते हैं, मौज लेते हैं, वे भी अपने को सुखी समझते हैं मगर जिन्होंने शराब नहीं पिया वे तो ठीक-ठीक समझते हैं कि देखो यह बेचारा कैसा बेहोश है, कैसा इसे कष्ट है। इसी तरह जिसने मोह की शराब को पी लिया है वह संसार के सुखों में चैन मानता है, खूब हंसता है, मौज मनाता है, मगर जैसे शराब पीने वाले की बेवकूफी को कोई दूसरा शराबी नहीं समझ पाता, वह तो उसे ठीक ही समझता है, उसकी बेवकूफी तो वही समझता है जिसने शराब को न पिया हो जिसकी बुद्धि ठीक हो वही समझ पाता है कि यह दुःखी है। तो मामला यह पड़ गया कि मोही जीवों की सँख्या बड़ी है। माने मोह की शराब सब पिये हैं तो सभी लोग इस समागम में खुश हो रहे हैं। शराब पीने वालों ने अर्थात् मोहियों ने यहाँ नगरपालिका बनाली है। रजिस्ट्रेशन कायम कर लिया है। यहाँ तो लिख देते हैं कि यह चीज अमुक की है। यह अमुक की है पर यह तो सब मोहियों की बात है। मोही लोग तो इसे ठीक ही मानते हैं लेकिन सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष जानता है कि ये मुग्धजन तो अपना-अपना मानने में लग रहे हैं। मगर इसका है कुछ नहीं यह तो केवल ज्ञानस्वरूप है ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व के अतिरिक्त इसका कुछ नहीं इस बात को तो कोई ज्ञानी पुरुष ही, जिसे मोह की परख हुई हो वह समझ लेता है।

मोहमत्तों को हितविभाग में वोट देने का अनधिकार—अब रही वोट की बात। अगर किसी बात-बात पर सलाह ली जाए यहाँ संसार में तो ज्ञानी की विजय होगी कि मोहियों की? आप कोई भी बात रखेंगे तो मोही तो हैं अनन्तानन्त और ज्ञानियों की सँख्या है असँख्यात। अब यहाँ वोट मिलेगी मोही जीवों की। कोई मानो १८–२० वर्ष का नवयुवक है विवाह करने लायक हो गया, पर वह मन्दिर में पूजा पाठ में अधिक समय देता, त्यागी वृत्तियों की सेवा सुश्रूषा में अधिक रहता, गृहस्थी में वह फँसना नहीं चाहता ऐसे नवयुवक के लिए अगर कोई लोगों से सलाह ले कि इसके लिए हमें क्या करना चाहिए यह तो है मोहियों का समूह। यहाँ तो मोह में डालने की ही राय मिलेगी। अजी इसका विवाह कर दो ताकि यह घर में रहे, काम धाम से ठीक-ठीक रुचि रखे। तो यहाँ के इन संसारी मोही प्राणियों से बोट लेने से काम न चलेगा। छह ढाला में बताया है कि " मोह महामद पियो अनादि, भूलि आपको भरमत वादि।" ये समस्त संसारी जीव अनादि से मोह रूपी मदिरा का पान किए हुए हैं। ये अपने आपके आत्म स्वरूप को भूलकर संसार में भटक रहे हैं, रुलते फिर रहे हैं। तो इन संसारी मोही प्राणियों से अपने हित के लिए वोट न लें। अपना यह प्रतिबोध रखें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ जो ज्ञान की स्वच्छता है सो मेरा स्वरूप है इसी में कल्याण है, इसी में तृष्णा लगाना चाहिए इसी में सन्तुष्ट रहना चाहिए। यह बात सबके मन में आनी चाहिए कि देखो भाई छोड़ना तो सबको सब कुछ पड़ेगा यह बात तो बिल्कुल निश्चित है,

इसमें रंच भी सन्देह नहीं। मगर कोई अपने इस जीवनकाल में ही सही ज्ञान बढ़ाकर इन बाह्य पदार्थों का त्याग करे तो इसमें जीवन की सफलता है।

मोह की विडम्बना—जागदीशी टीका है उसमें एक कथा दी है कि एक भंगिन मल का टोकन लिए हुए किसी बाजार से जा रही थी। वहाँ जाते हुए अनेक लोगों को तकलीफ हुई। तो एक सज्जन ने सोचा कि इससे तो हमारे जैसे अनेकों लोगों को तकलीफ होगी सो उसने एक बड़ा ही सुन्दर तौलिया उस मल से भरे टोकने को ढाँकने के लिए दिया। वह भंगिन जब सुन्दर तौलिया से ढाँके हुए जा रही थी तो उसके पीछे तीन पुरुष लग गए। भंगिन ने उनसे पूछा—भाई तुम लोग हमारे पीछे क्यों लगे हो? तो उन्होंने कहा कि हम जानना चाहते हैं कि तुम्हारे टोकने में क्या है। हमें तो मालूम होता है कि इसमें कोई बहुत ही सुन्दर चीज है। भंगिन ने कहा इसमें तो मल ही भरा है। सो इतनी बात सुनते ही एक पुरुष लौट गया। दो पुरुष अभी भी उसके पीछे लगे रहे। फिर भंगिन ने पूछा—भाई क्यों हमारे पीछे लगे हो? अरे हमें तो खोलकर दिखा दो, जब हम देख लेंगे तब विश्वास करेंगे। भंगिन ने तौलिया खोलकर दिखा दिया तो उसे देखकर दूसरा पुरुष भी लौट गया। एक पुरुष अभी भी उसके पीछे लगा रहा। फिर भंगिन ने पूछा—भाई तुम हमारे पीछे क्यों लगे हो? अजी हम तो इस तरह से न मानेंगे। हमें तो अच्छी तरह से देखभाल कर परीक्षा कर लेने दो तब हम मानेंगे। भंगिन ने तौलिया खोला उस पुरुष ने अच्छी तरह से सूँघ सांघकर परीक्षा किया। जब जान लिया कि सचमुच यह मल है तब वह वहाँ से लौटा। तो भाई ऐसे ही समझो कि यहाँ कि जितने भी समागम हैं वे सब अवश्य छोड़ने पड़ेंगे। अब उन्हें चाहे कोई सही ज्ञान बनाकर बिना भोगे पहले से ही छोड़ दे चाहे उनको भोगकर उनमें रचपचकर उनकी असारता लखकर छोड़े, पर सारे प्राप्त समागम नियम से छोड़ने पड़ेंगे। मानों कोई इस जीवन में जीते जी न भी छोड़ सके पर अन्त में मरण होने पर तो सब कुछ छूट ही जाएगा। तो अपना एक यह निर्णय बनायें कि जितने भी समागम मिले हैं वे सब एक अंधेरा हैं। इनसे मेरे जीवन का पार न पड़ेगा। यों बात तथ्य की कही जा रही है इसमें असत्य रंच भी नहीं है।

उलझनों का कारण पर सम्पर्क—भैया जितने समागम हैं वे सब मात्र क्लेश के ही कारण हैं। वे शान्ति के कारण न कभी हुए और न कभी हो सकते हैं। आज कुछ पुण्य का उदय है इसलिए ऐसा लग रहा कि बहुत कुछ ठीक। घर में किसी के गुजर जाने पर जो बड़ा दुख होता है वह दुःख और है किस बात का! कोई लेन-देन नहीं, कोई सम्बन्ध नहीं सत्ता न्यारी-न्यारी है, कुछ बात ही नही है मगर भीतर में यह विकल्प बना रखा है कि यह मेरा है, यह मेरा है बस इस विकल्प से परेशान होकर दुखी होना पड़ता है यदि ममता का त्याग हो जाए, अहंकार का त्याग हो जाए तो इस जीव को किसी भी समय कष्ट नहीं है ये

जीव दुखी हो रहे हैं तो अपने आपके ऊधम से दुःखी हो रहे है। सच-सच मान लो, कोई अपने आप दुःख नहीं। जहाँ असत्य का आग्रह है बस क्लेश तो उसी जगह है। तो अपना पहले यह निर्णय बनायें कि जो भी समागम मिले हैं वे मेरे लिए क्लेशकारी हैं, मेरी उन्नति के हेतु नहीं हैं। उन्नतिका हेतु है सदा-चार भला विचार, सच्चा श्रद्धान, आत्मा की परख जिसमें तुरन्त भी शान्ति मिलती है और भविष्य में भी सदाकाल इसे शान्ति मिलेगी है तो सार शरण यही तत्त्व बाकी जितने समागम हैं उनमें ललचाना नहीं, इनको पाकर मुग्ध मत होना, क्योंकि यह सब धोखा है। जैसे बच्चे लोग कभी-कभी मजाक में क्या खेल खेलते हैं कि चार पाया पलंग जो रस्सी या निवाड़ से बुना हुआ नहीं हो उसको कुछ कच्चे धागों से फांस देते हैं और उस पर अच्छी चादर बिछा देते हैं। कहते हैं आइए साहब पधारिए, बैठिये तो जब वह पुरुष अथवा बालक उस पलंग पर बैठता है तो धड़ाम से नीचे गिर जाता है मानों वह स्वयं अपने पैरों में सिर रखकर छूने सा लगता है याने उसके सिर पैर एक हो जाते हैं। तो जैसे वह पलंग धोखा है, देखने में भला लग रहा है मगर उसका जो सहारा ले वह गिरता है, इसी तरह संसार के समागम, ये सुन्दररूप, ये सुन्दर शृंगार, ये सुन्दर आभूषण ये भी धोखा हैं।इनमें जो फंसाव रखता है वह निरन्तर कर्मबन्धन करता है और निरन्तर आकुलित रहता है। यों तो अपने को कोई मान ले कि मैं बड़ा सुखी हूँ, बड़ा आनन्द है, पर कल्पना होने से होता क्या है। वास्तविक सुख तो केवल मुक्ति में है। अर्थात् केवल ज्ञान भाव की दशा में, ज्ञान भाव की श्रद्धा में, ज्ञाता दृष्टा रहने में है।

पर के राग में संकटों का वरदान—भैया जानने देखने से आगे बढ़े तो वह नियम से फंसा जैसे कहते हैं ना बोले सो बिवूचे। यह कहावत बनी कैसे कि एक राजा जंगल में पहुँचा तो वहाँ एक संन्यासी मिला। राजा संन्यासी के पास बैठ गया। थोड़ी देर बाद साधु बोला राजन् क्या चाहते हो? तो राजा बोला—महाराज मेरे पास कोई सन्तान नहीं है, सो कृपा करके आप एक सन्तान का मुझे आशीर्वाद दे दीजिए। साधु ने कहा—एवं अस्तु याने—ऐसा ही होगा। अब राजा तो प्रसन्नतापूर्वक घर गया। वहाँ सारी रानियों को सारा हाल कह सुनाया। राजदरबार में आनन्द छा गया। जब १०—१२ महीने व्यतीत हो गए तो संन्यासी ने अपने ज्ञान से देखा कि यदि जगत में कोई जीव मर रहा हो तो वे उसे रानी के पेट में भेजें, पर कोई जीव ऐसा न दिखा तो वह स्वयं ही मरकर रानी के गर्भ में पहुँच गया। वहाँ तो वह बड़े कष्ट सह रहा था। सोचा ओह—मैंने राजा से जंगल में बोला था इसलिए फंसा अच्छा अब मैं बाहर आने पर कभी न बोलूँगा। वह बच्चा पैदा हो गया, सयाना हो गया पर बोले नहीं। राजदरबार में बालक के पैदा होने का तो हर्ष था पर साथ ही उसके गूँगा होने का शोक भी था। सो राजा ने अपने राज्य में यह घोषणा करा दिया कि मेरे बेटे को जो बोलना सिखा देगा या बोलना बता देगा उसे बहुत सा इनाम दिया जाएगा। एक दिन क्या घटना घटी कि वह बालक अपने पास के बगीचे में खेल रहा था। वहाँ उसने देखा कि एक चिड़ीमार

जाल बिछाये हुए चिड़िया पकड़ रहा था। जब एकभी चिड़िया वहाँ न दिखी तो चिड़ीमार अपना जाल लपेटने लगा बगीचे से चल देने के लिये। इतने में एक पक्षी जो डाली पर कहीं छिपा बैठा था चीं चीं कर बोल उठा चिड़ीमार ने समझ लिया कि अभी कोई पक्षी बैठा है सो झट लौट आया, जाल फैलाया कुछ यहाँ वहाँ दाने बिखेर दिए और थोड़ी ही देर में वह पक्षी आकर फंस गया। उस पक्षी को फंसता हुआ देख राजकुमार को अपनी पुरानी घटना याद आयी और सहसा बोल उठा अरे जो बोले सो फंसे। राजकुमार के इन शब्दों को सुन लिया चिड़ीमार ने, सो वह जाल फेंककर झट राजा के पास पहुँचा और राजा को बताया महाराज आपका कुमार बोलने लगा। बोलने लगा? अच्छा तुम्हें राज्य की ओर से ५ गाँव पुरस्कार में दिए जाते हैं। जब राजकुमार पास आया, राजा ने उसे बहुत-बहुत बुलवाया पर न बोला—तो राजा को चिड़ीमार पर क्रोध आया, देखो चिड़ीमार भी मेरी हंसी करने लगे हैं। मेरा पुत्र बोलता नहीं पर झूठ मूठ कह कर मेरी हंसी करता है कि यह बोलता है। अच्छा चिड़ीमार को फांसी दी जाएगी। जब चिड़ीमार को राजा ने फांसी का हुक्म दिया, फांसी के तख्ते पर चढ़ा दिया तो राजा पूछने लगा—ऐ चिड़ीमार! बोल, तुझे क्या चाहिए? क्या खाना चाहता है? किससे मिलना चाहता है? सो चिड़ीमार बोला—राजन् मैं और कुछ नहीं चाहता, सिर्फ आप अपने कुमार से मुझे दो मिनट के लिए मिला दीजिए।मिला दिया गया राजकुमार से। वहाँ चिड़ीमार राजकुमार से कहता है कि ऐ राजकुमार मुझे मरने का गम नहीं, पर इस बात का गम हो रहा है कि दुनिया कहेगी। चिड़ीमार ने राजा से झूठ बोला था, इसलिए उसे फांसी दी गई थी। सो कृपा करके आप उतने ही शब्द बोल दीजिए जो आपने बाटिका में बोले थे। फिर क्या था। राजकुमार ने कहा कि देखो जो बोले सो फंसे। पहले मैं साधु था, जंगल में तपस्या करता था। वहाँ मैंने राजा से बोला था तो मैं फंसा था, चिड़िया बोल गई सो वह फंस गई, और यह चिड़ीमार साहब राजा से बोल गए सो वह फंस गए। तो भाई यह तो संसार की रीति है कि यहाँ जो राग करेगा, बोलेगा वह नियम से फंसेगा।

सात तत्त्वों में प्रथम जीव रखा जाने का कारण—जीवाजीवाश्रवबन्धसंवर निर्जरामोक्षास्तत्त्वं, इस सूत्र के सम्बन्ध में अब तक दो बातें कही गई हैं। पहली बात तो यह है कि तत्त्व की सँख्या ७ ही क्यों रखी गई? कम या अधिक क्यों नहीं रखी गई, दूसरी बात फिर यह कही गई कि इन ७ तत्त्वों की ही जब कुछ और कम सँख्या में बात मिल सकती थी तो इन ही ७ में और संकोच क्यों नहीं किया गया? इन दो बातों का समाधान भली प्रकार दिया गया है। अब यह बात कही जा रही है कि इन ७ तत्त्वों का नाम इस क्रम से क्यों रखा गया है? देखो भाई एक घड़े में अगर चने, गेहूँ आदि कई चीजें भर दी जाएं और उस घड़े को हिलाया जाए तो एक सहज बात होती है ना कि कोई चीज नीचे रहती है कोई चीज मध्य में रहती है और कोई ऊपर आ जाती है, तो जब एक सूत्र में ७ चीजें भरी गईं तो ये ७ चीजें एक साथ कैसे आएंगी? कोई नीचे रहेगी कोई ऊपर। इस सूत्र में इन ७

तत्त्वों को भरकर हिलाओ जरा सोच विचार कर युक्ति से सोचो तो अपने आप यह बात जाहिर हो जाएगी कि हाँ पहले जीव कहना ठीक फिर अजीव फिट बैठ जाएगा। ध्यान से सुनिए आज इसको दार्शनिक शैली में कहा जाएगा। कठिन बात भी तो कभी सरल बनाना चाहिए। अगर कठिन बात कठिन ही बनी रहे तो हम कुछ बढ़ तो न सके और ध्यान से सुनने से तत्त्वों को अनेक बार समझने से कठिन से भी कठिन बात सरल बन जाती है। आज यह बात कही जा रही है कि यह ७ तत्त्वों का क्रम क्यों रखा? यह सब बात जीव के लिए कही जा रही है। मोक्ष का उपदेश जीव के लिए, सुख शान्ति का उपदेश जीव के लिए यानी हम आपके लिए, तो जिसके लिए सारा उपक्रम किया जा रहा उसका नाम तो पहले रखना चाहिए। यही कारण है कि ७ पदार्थों में जीव का नाम पहले रखा गया, क्योंकि जितना भी जो कुछ वक्तव्य है और जो कुछ कर्त्तव्य है, जो भी प्रयोग कराया जाता है वह सब जीव के लिए है। तो फिर होता ही है कोई न कोई कारण जिससे हर एक बात का क्रम बना करता है। समाज में रहो तो, रेल का टिकट बाँटना हो तो, हर एक काम में कोई न कोई ऐसी पद्धति होती है कि जिसमें क्रम हुआ करता है। तो क्रम रखने की बात तो आवश्यक है। आप भोजन करते हैं तो उसमें भी यह क्रम पड़ा रहता है कि किस भोजन का कौन सा अंश क्या बनेगा। कितने अंश में वह मल मूत्ररूप बनेगा, कितने अंश में पसीना रूप बनेगा, कितने अंश में खून रूप बनेगा, कितने अंश में हड्डी रूप बनेगा, तथा कितने अंश में वीर्यरूप बनेगा, इस प्रकार का क्रम उस भोजन में भी बनता है। तो क्रम रखने की कोई पद्धति तो होती है, यहाँ ७ तत्त्वों के क्रम की पद्धति का यहाँ जिक्र किया जा रहा है।

सप्त तत्त्वों के नाम क्रम का संक्षिप्त दिग्दर्शन—अब जीव के प्रतिपक्ष में भी विचार करें। पहले ७ तत्त्वों की बात एक संक्षेप में कह दूँ। जीव के लिए वर्णन है तो जीव का नाम पहले और जीव के उपद्रव का कारण अजीव है यानी जो बात कही जाएगी उस सबका सम्बन्ध अजीव से लगायेंगे तब ही तो बनेगा, इसलिए जीव के बाद अजीव कहा और जीव और अजीव के आश्रव होता है जो सबका एक मूल है उन ५ पर्यायों में वह है आश्रव। आश्रव न हो तो बंध कहाँ से हो। आश्रव की बात ही न समझो तो संवर किसका किया जाना समझोगे? मुक्ति किसकी हो? मुक्ति क्यों दिलाई जाए? इन ५ परिणामों का जो एक प्रारम्भ करने वाला है वह है एक आश्रव तत्त्व। और आश्रव होने पर बन्ध होता इसलिए इसके बाद बन्ध बताया है और आश्रव बन्ध का प्रारम्भक है, संवर मोक्ष का प्रारम्भक कारण है, सो संवर कहा। संवर के होने पर निर्जरा होती है, सो संवर के बाद निर्जरा कहा और अन्त में मोक्ष होता है इस तरह इसका क्रम रखा गया है।

प्रकृति के लिए उपदेश न होकर बन्ध मोक्ष के आश्रयभूत जीव के लिए उपदेश होने से जीव तत्त्व का प्रथम विन्यास—अब जरा सात तत्त्वों के नाम के क्रम के विरोध में कुछ दार्शनिक लोग अपनी-अपनी बात रख रहे हैं। पहली बात कही गई कि हित

का उपदेश ज्ञान का उपदेश कल्याण की बात जीव के लिए की गई है इसलिए जीव का नाम पहले रखा? तो यहाँ साँख्य कहते हैं कि बात हमें खोटी लग रही है। उपदेश जितने भी होते हैं वे प्रकृति के लिए होते हैं जीव के लिए नहीं होते, क्योंकि प्रकृति में ही ज्ञान होता, प्रकृति में ही घमंड होता, प्रकृति से ही ये शरीर आदि बनते हैं पर प्रकृति का ही यह सब जाल है। जीव तो अपरिणामी शुद्ध चैतन्य मात्र ब्रह्म है इसलिए जीव के लिए यह उपदेश नहीं। यह सारा उपदेश प्रकृति के लिए है। जरा जीव और प्रकृति की बात और बतला दें। कहते तो सभी लोग हैं यह तो प्राकृतिक दृश्य है। यह तो प्रकृति है, कुदरत है। सभी लोग प्रकृति की बात कहते हैं तो प्रकृति क्या चीज है। कहने को तो सभी कहते हैं। कोई पहाड़ का दृश्य देखा, नदी बह रही है, पत्थर हैं। उनकी लोग फोटो उतारते हैं और कहते हैं कि ये सब प्राकृतिक दृश्य हैं, तो वह प्रकृति क्या चीज है? साँख्य सिद्धान्त में तो प्रकृति एक कोई अचेतन तत्त्व है और यह सारा समागम, यह सारा दृश्यमान जगत प्रधान का विकार है। जैन सिद्धान्त के अनुसार प्रकृति नाम है कर्म का। मूल में प्रकृतियाँ हैं ८ और उत्तर प्रकृतियाँ हैं १४८ तो जितने ये सब दृश्य हैं वह सब इन प्रकृतियों का है। फूल-फूल रहे हैं तो वह भी प्रकृति का उदय है जल बह रहा है तो वह भी प्रकृति का उदय है। कहीं सुन्दर जानवर विचर रहे हैं तो वह भी प्रकृति का उदय है। पहाड़ कोई कैसा ही है, तो प्रकृति का उदय है, यह सब प्रकृति का खेल है और हम आप जो बैठे हैं यह भी क्या है? प्रकृति, प्रकृति के ही उदय की तो चीज है। जीव तो एक चैतन्य स्वरूप है। प्रकृति का उदय पाकर यह जीव भी विकृत होता है, इस प्रकार यह सब प्रकृति है। यहाँ साँख्य कहते हैं कि ज्ञान होता है तो प्रकृति में होता है। उपदेश हुआ तो प्रकृति से हुआ प्रधान से हुआ और जीव में केवल परम ब्रह्म चलेगा। जो एकमात्र अद्वैत चित्स्वरूप है। देखिए—इस प्रसंग में ऐसा कहने वाले ये दार्शनिक बिल्कुल जो अन्जान नहीं और साधारण भी नहीं। कोई दृष्टि से ऐसी एक दृष्टि से हट गए जिससे यह सिद्धान्त बना। यह बात ठीक है ना। जीव द्रव्यार्थिक दृष्टि से परम ब्रह्म स्वरूप है। वहाँ बंध मोक्ष की बात नहीं है, लेकिन पदार्थ केवल द्रव्य दृष्टि से देखा गया तन्मात्र भी तो नहीं है। प्रत्येक पदार्थ पर्यायमय है। उस पर्याय की बात भी तो कहना चाहिए। बस पर्याय को तो छोड़ दिया और द्रव्यार्थिक का जो विषय है उसको ग्रहण किया उसमें बना है ब्रह्माद्वैतवाद। देखो अगर प्रकृति के लिए उपदेश किया जाए तो प्रकृति को तो अचेतन माना है चेतन नहीं माना है। तो यहाँ भी कितने ही तत्त्व बता दिए जाएं क्या उनके लिए आदेश का उपयोग हो सकता है? नहीं हो सकता। ये भींट खम्भा आदि जो खड़े हैं इनसे अगर कोई कहे कि ऐ भींट, ऐ खम्भे तुम यहाँ आ जावो तो क्या वे आ सकते हैं? नहीं आ सकते। तो अचेतन तत्त्व के लिए कोई उपदेश नहीं हैं, उपदेश तो चेतन तत्त्व के लिए होता है इसलिए जीव का नाम प्रथम रखा गया है। संक्षेप से यह एक प्रतिपक्षी की बात कही गई।

क्षणिकवादसम्मत संतान के लिए उपदेश न होकर जीव तत्त्व के लिए उपदेश होने से जीव तत्त्व का प्रथम विन्यास—इतने में कोई क्षणिकवादी आया जिसका सिद्धान्त है कि आत्मा क्षण-क्षण में नष्ट होता है, नया-नया बनता है, लेकिन लगातार बनते रहने वाले आत्मा की जो एक संतान है बस उस संतान के लिए यह उपदेश दिया जाता। तो इस सिद्धान्त का कहना है कि जीव के लिए उपदेश नहीं दिया गया किन्तु संतान के लिए उपदेश दिया, क्योंकि जीव तो क्षण-क्षण में उत्पन्न होता। कोई समय व्याख्यान दिया तो सुनने वाला तुरन्त मिट गया। सुनने वाला और हो और सुनकर उसको चित्त में धारण करने वाला और हो तो जीव के लिए क्या उपदेश है। उपदेश तो संतान के लिए है, संगति के लिए है, ऐसा कहा है लेकिन यह बात भी अयुक्त है, क्योंकि संतति को अवास्तविक माना है क्षणिकवादियों ने, वास्तविक तत्त्व तो क्षण-क्षण में होने वाला आत्मा है। तो जो वस्तु है उसका अनुग्रह कैसे किया जा सकता है। तो वह भी बात ठीक नहीं प्रतीत होती कि संतान के लिए उपदेश होता जीव के लिए नहीं होता। देखो भाई एक बात यह ज्ञान में आनी चाहिए कि मैं जीव हूँ, सदा रहता हूँ, इसलिए मुझे तत्त्वोपदेश सुनना चाहिए। तत्त्वोपदेश का लाभ उठाना चाहिए, कल्याण करना चाहिए। एक बात, दूसरी बात यह समझिए कि मैं जीव हूँ सो प्रतिक्षण बदलता रहता हूँ इसलिए अपनी ज्ञानदशा को बदल करके हमें ज्ञान अवस्था में आना चाहिए। अगर अपने को सर्वथा नित्य माना जाए तो कल्याण नहीं हो सकता, सर्वथा अनित्य माना जाए तो कल्याण नहीं हो सकता, यह बात सामने रखना है और इन दो बातों का खुलासा होता है शंकाकार के इस प्रसंग से। तो जिसका यह कहना है कि जीव के लिए मोक्षमार्ग का उपदेश नहीं किन्तु संतान के लिए तत्वोपदेश है, यह बात युक्त न रही, क्योंकि संतान अवस्तु है। संतान कोई चीज नहीं है क्योंकि आत्मा नये-नये पैदा होते रहते हैं, तो उनमें एक दृष्टि बना लें कि लगातार ये चल रहें, तो लगातार की दृष्टि-दृष्टि ही तो रही कोई वहाँ वस्तु तो न रही।

क्षणिकवादसम्मत निरन्वय क्षणिकचित्त के लिए उपदेश की असंभवता—अब इस विषय में क्षणिकवादी बोलते हैं कि संतान के लिए न सही, किन्तु जो नया-नया जीव बनता रहता है उसके लिए उपदेश कह लीजिए। तो निरन्वयक्षणिक चित्त उनके जीव का नाम है, निरन्वय क्षणिकचित्त माना वहाँ आत्मा, वह है जीव; क्षण-क्षण में नष्ट होता है, मायने वे अत्यन्त भिन्न-भिन्न जुदे-जुदे जीव हैं, ऐसे जीव के लिए उपदेश मान लिया जाए तो यह बात भी ठीक नहीं बैठती, क्योंकि उसमें तो बड़ा घुटाला हो जाएगा। ऐसा जीव जो क्षण-क्षण को आया और दूसरे क्षण न रहा, अब उपदेश देने वाला जब उपदेश के शब्द निकालेगा तो उसके शब्द पूरे न निकलेंगे और वहाँ १०—५ जीव नये-नये पैदा हो जाएंगे, किसको उपदेश दिया बतलाओ? और फिर किसी ने एक शब्द सुना किसी ने आगे का शब्द सुना, तो लो वह पूरा वाक्य कोई भी एक जीव नहीं सुन सकता, क्योंकि क्षण-क्षण में नया-नया आत्मा माना। सुनने वाला कोई और है, धारण करने वाला कोई और बन गया तो वहाँ किसके लिए

तत्वोपदेश है? तो समझना चाहिए कि निरन्वयक्षणिकचित्त के लिए भी तत्त्वोपदेश नहीं किया गया, क्योंकि वहाँ तो तत्काल ग्रहण नहीं बन सकता सो क्षणिक जीव की प्रयोजकता वहाँ जरा भी सम्भव नहीं है क्योंकि संकेत ग्रहण काल भी वह रहे और व्यवहार काल भी वह रहे इतनी बात तो होनी ही चाहिए तब तो तत्त्वोपदेश आ सकेगा। क्षणिक जीव में तत्काल ग्रहण और व्यवहारकाल हो ही नहीं सकता। जैसे क्षणिक आत्मा में, संकेत तो पहले कराया और उपदेश कभी ग्रहण करे और उसका उपयोग करे कभी तो उसका कल्याण कैसे हो सकता है? तो यह भी बात नहीं कही जा सकती। यहाँ तक तीन बातें कही गईं, प्रधान के लिए उपदेश नहीं, संतान के लिए उपदेश नहीं और क्षण-क्षण में होने वाले आत्मा के लिए भी उपदेश नहीं।

शरीर के लिए उपदेश की असम्भवता और अप्रयोजकता—अब एक चौथा दार्शनिक यह कहता है कि जो चैतन्य से विशिष्ट शरीर है उसके लिए तत्त्व का उपदेश है, अब यहाँ चार्वाक आया चेतन से सहित जो काय है वह तत्त्वोपदेश ग्रहण करता है और उसकी ही मुक्ति होती है तो यह बात भी विचार करने पर ठीक नहीं बैठती, थोड़ा-थोड़ा ठीक तो बैठती है, क्योंकि जैसे शरीर में जीव है जैसे जीव सहित शरीर के लिए ही तो उपदेश है। जैसे सिद्ध भगवान हैं तो उनके लिए क्या उपदेश किया जाए? जैसे कोई मुर्दा शरीर है उसके लिए सारा उपदेश दिया जाता है, लेकिन यह निर्णय उनका बनता नहीं है। इस शंकाकार ने चेतन कोई पदार्थ अलग नहीं माना है कि कोई स्वतंत्र सत् है जीव। वे शरीर को ही भौतिक पदार्थ के संयोग की एक वस्तु मानते हैं कि चेतन है। उस चेतन से सहित जो शरीर है उसके लिए यह उपदेश है, इसमें जरा और विचार करें। शंकाकारने दो बात कहीं—चेतन और शरीर। चेतन सहित शरीर। तो शंकाकार जरा यह बतलायें कि वह चेतन शरीर से जुदा तत्त्व है या शरीर का ही नाम चेतन है? दो बातें इसमें पूछी जानी चाहिए। यदि यह कहो कि शरीर से जुदा पदार्थ है चेतन और इस चेतन से विशिष्ट शरीर के लिए उपदेश है तो इसमें बहुत कुछ बात सिद्ध साधनपने की आती है। ठीक है। यह व्यवहारनय से कथन समझना चाहिए। चेतन से सहित शरीर के लिए उपदेश है मायने नरक, तिर्यञ्च मनुष्य, देव, इन सबके लिए उपदेश किया जाता है। यहाँ तक तो बात ठीक है। पर वहाँ भी निश्चय से देखा जाए तो उपदेश सुनने में दो का स्थान नहीं है कि चेतन और शरीर दो मिलकर मोक्ष मार्ग को करेंगे, यहाँ पर भी एक जानने वाला समझने वाला चेतन है और इस चेतन के लिए उपदेश है। जो चेतन ऐसी परिस्थिति में आवे समझो उस जीव के लिए उपदेश है। वह जीव निर्लेप नहीं है अतः कुछ शब्दों में बात रखी जाना ही चाहिए। इस तरह से निश्चय और व्यवहारनय दोनों का प्रयोजन संगत हो जाएगा।तब यह सिद्ध हो गया कि चेतन के लिए उपदेश है, जीव के लिए उपदेश है। चेतनारहित शरीर को कौन उपदेश करता। अब दूसरे विकल्प की बात सुनो। क्या कहा जा रहा कि चेतन शरीर से न्यारा नहीं है, किन्तु शरीर ही चेतन है। कोई जुदा तत्त्वान्तर नहीं है, यह विकल्प जब लेते हैं तो यह विषय बिल्कुल

ही असंगत है। अजीव के लिए कौन उपदेश देता। इस समय इस बात पर विचार चल रहा है कि चैतन्य विशिष्ट काय के लिए उपदेश की बात जो कही जा रही है उसमें ये चार्वाक यह समझ रहे हैं कि शरीर निराला नहीं है चेतन और शरीर एक चीज है। अगर एक ही चीज है तो इसके मायने है काय के लिए उपदेश हो रहा है। जब काय से निराला चेतन नहीं माना जा रहा, तो काय के लिए उपदेश करना व्यर्थ है, क्योंकि काय के लिए कितना ही उपदेश दें, शरीर का उपग्रह नहीं होता। इससे यह सिद्ध हुआ कि तत्त्वोपदेश जीव के लिए ही होता है।

सात तत्त्वों में जीव तत्त्व को सर्व प्रथम रखने कारण का उपसंहार—एक बात यह यहाँ संगत की गई है कि **जीवाजीवाश्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः** इन ७ तत्त्वों में जीव का नाम प्रथम क्यों ग्रहण किया? उत्तर संक्षेप में यह रहा कि जितनी जो कुछ बात कही जा रही है वह सब जीव के लिए कही जा रही है। और भी देखो—जगत में सारे पदार्थ ६ प्रकार के हैं ना, जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। एक कल्पना करो कि ५ तो द्रव्य रहें ये परन्तु इनमें से एक जीव सत्त्व न माना जाए, पुद्गल खूब रहें, धर्म अधर्म, आकाश और काल खूब रहें, तो इसमें क्या हानि है? तो अब हानि देख लो। जीव नहीं है और सब हैं पुद्गल धर्म अधर्म आकाश, काल सो जीव को तो यहाँ माना नहीं जा रहा, बाकी ५ द्रव्य हैं इनका कोई जानने वाला नहीं तो ये रहें न रहें बराबर हैं फिर पुद्गल में जो इतनी चीजें दिख रही हैं, जो भी पुद्गल है यह सब जीव के सम्बन्ध से दिखने योग्य हुआ, अगर जीव का सम्बन्ध न हुआ हो तो यह दिखना कभी न बन सकता था। जैसे यह भींट है, कलई है, चूना है, पेड़ है, मल है, मूत्र है, पृथ्वी है आदि ये सब जीव का सम्पर्क होने से ही देखे गए हैं जीव का सम्बन्ध न हो तो ये चीजें कभी दिखने में आ सकेंगी क्या? आप बतलाओ जीव का सम्बन्ध आया तो यह वनस्पतिकाय जीव वाला शरीर बना, शरीर में पुष्टि आयी अब जीव न रहे तब तो ये बातें शरीर में नहीं हो सकतीं। अगर जीव को न मानें तो फिर पुद्गल ठहरेगा कहाँ और मानों ठहर भी जाए मानों सूक्ष्म परमाणु हैं तो उनका प्रयोजन क्या, जानने वाले के बिना क्या? जीव तत्त्व तो समस्त द्रव्यों में एक राजा, प्रधान, सारभूत तत्त्व है, सब समयों में सार समय मायने पदार्थ, सब पदार्थों में सार पदार्थ है जीव सो समयसार हुआ जीव, इस समयसार में भी सार है द्रव्य दृष्टि से परखा गया ज्ञानस्वभावी अंतस्तत्व। देखिए समयसार नामपर एक सार और धर दिया और उसमें भी सार परखा तो कोई सार जब बोलेगा तो एक ही सार से काम चलेगा। यह समयसार। तो जीव का नाम पहले रखा गया, इसका कारण यह है कि जीव के लिए ही तत्त्वोपदेश है इसलिए जीव का सूत्र में प्रथम नाम है।

अजीव तत्त्व को द्वितीय नंबरपर रखने का कारण—अब जीव के बाद अजीव की बात देखिए दूसरे नम्बर पर तत्त्व कौन रखा गया? अजीव! जो कि जीव के विकार का कारण हैं। धर्म, अधर्म, आकाश, पुद्गल आदि जो अजीव के विशेष है वे जीव की गति में

कारण, स्थिति में कारण, अवगाहना में कारण शरीर आदि बनाने के कारण है जीव तो अकेला एक है ना, अब जीव के साथ यह शरीर बन गया तो यह किसका उपकार है? पुद्गल का विकार है, इस उपकार को इस तरह न देखना कि भाई जिसका उपकार है उसका तो कृतज्ञ होना चाहिए और उसकी खूब सेवा करनी चाहिए, क्योंकि यह शरीर पुद्गल का उपकार है, धन्य हो पुद्गल तुम्हारी वजह से शरीर मिला ऐसी कृतज्ञता की बात नहीं, किन्तु उपकार का अर्थ है काम होना इसमें कारण है सूक्ष्म कर्म और शरीर साथ है। तो जीव अभी किस तरह चल रहा है, यह बात तो प्रकट दिख रही है। बड़े बन्धन में है इसका कारण अजीव प्रसंग है। आपसे कहें कि भाई जरा आप इस शरीर विस्तार को तो वहीं पड़ा रहने दो और आप ही अकेले कृपा करके एक हाथ आगे आ जावो तो क्या आप इस तरह से आ सकते हैं? नहीं आ सकते। यह जो पिण्डोला लगा है, जिसके भीतर हम घुसे हुए हैं जहाँ जाएगा साथ जाएगा, ऐसा एक क्षेत्रावगाह हो रहा है, निमित्तनैमित्तिक बन्धन चल रहा है, वास्तविक है वह असत्य नहीं कहा जा सकता लेकिन ये कल्याण मार्ग की दिशा में कुछ विघ्न करें तो शरीर को ऐसी दृष्टि से छोड़ देना होगा कि मानों शरीर है ही नहीं। दृष्टि में केवल एक जीव को लें। ज्ञानभाव को लें तो यह भूतार्थ का आश्रय, कहलाएगा और यह ही सम्यक्त्व की प्राप्ति का कारण है। तो बात यह कही जा रही है कि ७ तत्त्वों की व्यवस्था में जीव के बाद अजीव क्यों कहा कि यह जीव के उपग्रह का कारण है। इससे यह क्रम बताया गया जीव और अजीव। देखिए— भाई मित्रता, दोस्ती, बन्धन, मोह ये सब इस जीव को कल्याण में बाधा देने वाले हैं। मूल को देख लो इस जीव के साथ अजीव न लगा होता तो आज हम आपकी ऐसी दयनीय दशा क्यों होती। किसी भी समय हम अपना सच्चा आराम नहीं कर सकते सहज निज गाँव का आनन्द नहीं ले सकते, और जरा-जरा सी बात में क्षमा हम करते हैं।

सम्यग्ज्ञान हुए बिना विकारों से पृथक् हो सकने की असम्भवता—यह सब सिद्ध करता है कि जीव के साथ कोई विपरीत उपाधि है। कभी-कभी कोई माता आहार देने के बाद हमसे कहने लगती हैं कि महाराज हमारा लड़का कभी-कभी बड़ी गुस्सा करने लगता है उसको आप यह नियम दिला दो कि वह कभी गुस्सा न करे। अब हमें कोई भाई समझादे कि इस गुस्सा का भी किसी से त्याग कराया जा सकता है क्या? कोई बाहर की चीज हो तो कह भी दिया जाए कि भाई गोभी का फूल अभक्ष्य है उसे छोड़ दो, पर उसे क्रोध का त्याग कैसे कराया जाए? वह तो एक अन्दर की विकृत चीज है। खैर वह तो छोटे लड़कों की बात है, आप सब जो बड़े-बड़े जवान लोग बैठे हुए हैं, वे ही भला गुस्से को त्याग करके दिखा दें। कोई कहे कि इसके विकल्प का त्याग करा दो। विकल्प में बड़ा क्षोभ है, दुःखी होना पड़ता है तो इसके विकल्प का नियम दिला दो कि न करे विकल्प, तो बताओ कोई विकल्प का त्याग कैसे करायेगा? कोई दूसरे को विकल्पों का त्याग कराना तो क्या पहले

खुद भी तो विकल्पों का त्याग करके दिखायें। यह बात यों न निभेगी। वह तो निभेगी सम्यग्यज्ञान से। खुद ही खुद का निभाव बना सकता है। अपना सम्यग्ज्ञान जगे, अपने भीतर का स्वरूप समझ में आ जाए कि मैं ज्ञान मात्र हूँ, ज्ञान ही मेरा वैभव है। ज्ञान ही मेरा घर है, ज्ञान के सिवाय मैं कुछ नहीं, ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा अपने आपकी दृष्टि में आये तो भाई भला होगा। देखो अपनी दया कर लो, अपने मन को समझा लो। कोई प्रसंग आए दुःखका तो अपनामन दुःखी हो रहा है ठीक है, लेकिन कोई वचन व्यवहार ऐसा न करें कि जिससे दूसरे को दुःख पैदा हो। अगर आपको कोई दुःख है तो दो मिनट में आप स्वयं उसे दूर कर सकते हैं। सब दुःख अपने आप पर झेल लें मगर दूसरे से वचन व्यवहार ऐसा न करें कि जो दूसरे के मर्म को भेद दे, क्योंकि ऐसा वचन व्यवहार हो जाएगा तो फिर कोई उपाय नहीं है कि आप उसके दुःख को दूर कर सकें। अपना दुःख थोड़े समय को हो गया तो आप अपने में समझा लेंगे, आप उस दुःख को स्वयं पचालेंगे, उससे कोई वातावरण न बिगड़ेगा। एक शान्ति का वातावरण बनाने में लाभ ही लाभ है। तो कैसे दूसरे को नियम दिलाया जा सकता। खुद ही ज्ञान प्रकाश पाएं और अपने आपके आत्मा को समझें, अहो कितना बड़ा अज्ञान था, उस अपने ज्ञान स्वभाव को न ग्रहण करके विषय आया शरीर, दूसरा जीव, उसको ही अपना करके अपने को अभी तक अनादि से संकट ही संकट में रखा। अब मैं इन संकटों को नही सह सकता। ये संकट तब समझ में आएंगे कि संकट हैं जब मैं इनको न सहूँगा। जब इन संकटों को मैं संकट ही न समझता था तब तक संकट भी सह रहा था, संकटों का बहिष्कार भी कर रहा था लेकिन आज परिचय हुआ कि ज्ञातादृष्टा रहने के अतिरिक्त जो कुछ भी विकल्प होता है वह सब संकट है, उसे मैं अब न करूँगा।

अजीव के उपग्रह की विडम्बना—देखिए यहाँ उपकार की बात कोई भले की नहीं कह रहे, मगर जो काम हो रहा है, जो जीव की विभिन्न दशा चल रही है उसका कारण है अजीव। यों अजीव से उपग्रह चल रहा है इसलिए जीव के बाद अजीव तत्त्व का नाम लिखा गया है। देखो यह अजीव के सम्बन्ध का उपकार, यह अजीव के साथ दोस्ती बनाने का काम कितना खतरनाक बन रहा है। हम मन्दिर में आकर सिद्ध भगवान की पूजा करते हैं हे भगवान प्रसन्न होओ। सिद्ध की भक्ति करने आते हैं, पर पुण्य करके बहुत से लोग सोचते हैं कि मेरा परिवार सुखी रहे, मेरे धन बढ़े। अरे पूजा करते हुए जब यह दृष्टि न रहे कि सिद्ध भगवान जैसे हैं वैसा मैं भी हूँ मेरा भी स्वभाव एकत्व को लिए हुए है, ऐसा वह ज्ञानमात्र आत्मा है ऐसा भीतर में बोध न करे और मैं भी इस अवस्था को प्राप्त कर सकता हूँ ऐसा विश्वास न करें तो उस भक्ति से क्या फायदा? एक गरीब भाई किसी धनिक की सेवा करे और वह मन में कुछ उद्देश्य न रखे कि मैं भी ऐसा हो जाऊँ या मेरे को भी कुछ सुविधा मिले यह उद्देश्य न बनाये और केवल यह धनी है इसलिए हमें सेवा करना चाहिए, ऐसा सोचकर कोई सेवा करे तो उसे कोई लोग बुद्धिमान कहेंगे क्या? वह तो एक कायरता भी

हो सकती है। इसी तरह सिद्ध भगवान की हम भक्ति उपासना करने आएं और हमारी यह श्रद्धा न बने कि जैसा सिद्ध का स्वरूप है, वैसा ही मैं हो सकता हूँ। वैसा होना चाहिए नहीं तो संसार के संकट नहीं छूट सकते। यहाँ तो एक विपत्ति की सम्हाल करते हैं तो दूसरी विपत्ति सामने आ खड़ी होती है। घर-घर में यही बात चल रही है कि अभी एक समस्या नहीं सुलझा पाये, दूसरी समस्या सामने खड़ी हो जाती है। यह संसार दुःख का घर है। यहाँ से तो हमें विदा होने में ही लाभ हैं, और देखो जो यहाँ से विदा होते हैं उनका कितना बड़ा विदाई समारोह मनाया जाता है। तो फिर जो इस संसार से विदा होते हैं उनका बड़ा ऊँचा समारोह होता है, उस समारोह को मनाने के लिए साधारण प्राणी समर्थ नहीं होते, उसे तो तीनों लोकों के इन्द्र मनाते हैं। जब यह जीव सदा के लिए संसार से मुक्त होता है। सिद्ध भगवान बनता है उस समय का समारोह क्या कहलाता? मोक्षकल्याणक। बड़ा समारोह होता है। तो समझ लीजिए कि यहाँ तो लोग जरा-जरा सी बात में कीर्ति की चाह करते हैं मगर बहुत बड़ी कीर्ति चाहिए और बहुत बड़ा समारोह चाहिए तो आप संसार से सदा के लिए छूटने का प्रोग्राम रचें तब यह मौका मिलता है, संसार से सदा के लिए छूटने का मौका मिलेगा, आप कुछ न चाहेंगे मगर तीनों लोकों के इन्द्र आप का विदाई समारोह करेंगे।

साँसारिक सुख की विडरूपता—भाई देखो ऐसे सुख से क्या लाभ है जो थोड़ी देर को मिला फिर वियोग उसकी कसर निकाले और, देखो किसी का बच्चा बचपन में ही मर जाए तो माँ कहती है कि इससे तो अच्छा था कि वह पैदा ही न होता। अगर उस बच्चे का मुख न देखते तो उससे राग विकार होने का मौका ही क्यों आता? तो जो ये संसार के सुख आए हैं थोड़ी देर के लिए, बाद में कठिन दुःख नियम से आएगा। जो संसार के सुखों में मग्न होगा वह नियम से संसार के कठिन दुःख पाएगा। संसार का सुख जो जितना चाहेगा उसको उससे कई गुणा दुःख नियम से आएगा। इससे सबसे पहले तत्त्व निर्णय बनायें कि सांसारिक सुख दुःख से भी बुरे हैं दुःख में तो प्रभु की याद भी आ जाती है दुःख में प्रभु भक्ति का स्वाध्याय का सेवा का कुछ समय भी निकल आता है मगर जब सुख अधिक होता है तो वहाँ इसके लिए समय अधिक नहीं निकलता जिस सुख में हम प्रभु का स्मरण करने लायक भी न रहें उसे हम क्या समझें? सुख से तो दुःख अच्छा है जहाँ सावधानी बनी रहती है। देखो विषय भोगों को भोगने वाला सम्यग्दर्शन नहीं प्राप्त कर सकता है। पर ७ वें नरक का नारकी प्राप्त कर सकता है। भले ही उसे बहुत दुःख है मगर उसकी वेदना उसे प्रभु की याद दिलाने का साधन बनेगी और ये सांसारिक सुख ये भोग प्रसंग इस जीव के कल्याण के बाधक बन जाएंगे इस कारण भाई इस संसार के सुखों में ललचाना नहीं और संसार के दुःखों में घबड़ाना नहीं। लोग सोचते हैं कि हमें तो बड़ा दुःख है, पर वास्तविकता यह है कि दुःख किसी को भी नहीं है, क्योंकि जो हम आप सब हैं वे एक-एक अकेले-अकेले जीव हैं। जितने भी परिपूर्ण हैं, जो कुछ भी सत् है उसमें दुःख का क्या काम? वैसे दुःख

होगा, कैसे दुःख होगा, इसको दुःख कहाँ से आएंगे? दुख की गुंजाइस ही नहीं है। किसी भी पर वस्तु से मेरे में क्लेश आए यह हो नहीं सकता एक द्रव्य का दूसरा द्रव्य कुछ भी परिणमन नहीं कर सकता। वह तो निमित्त नैमित्तिक योग है कि इसका निमित्त पाकर यह वस्तु इस प्रकार परिणम गई। पर वास्तविकता यह है कि एक पदार्थ दूसरे पदार्थ का परिणमन करने में समर्थ नहीं है। एक का दूसरे के साथ कर्त्ता कर्म भाव नहीं है। लेकिन कोई इस तरह माने कि जीव में अपने आप जो होना है होता है सामने जो हो उसमें निमित्त हो जाता है, इसमें निमित्त नैमित्तिक की व्यवस्था नहीं आयी और इसमें कल्याण ढूंढने का मार्ग भी नहीं मिलता। जब जो होना है होता है। तो भाई निमित्त कहो या ना कहो बात सामने है। तथा निमित्तापेक्ष विकार है तो वह स्वभाव बन बैठेगा तो नित्य कर्त्ता का प्रसंग आ जाएगा। तो आत्मा सबसे निराला है। जितना भी विषय कषायों का भाव है वह मेरी चेतना का परिणाम नहीं है, किन्तु यह कर्मविपाक है। कर्मविपाक की झांकी हुई एक बार अपनी और उसमें इस तरह भी बात चल उठी तो इसे पौद्गलिक मानने में कुछ हर्ज नहीं, जिसके सम्बन्ध में कुन्दकुन्दाचार्य ने स्वयं कहा है कि यह सब जो है वह पौद्गलिक भाव है परभाव है।

आस्रव का स्वरूप अजीव के बाद रखने के क्रमका कारण—अब तक दो तत्त्वों के बारे में क्रम के निर्णय का वर्णन किया गया आज आश्रव तत्त्व के सम्बन्ध में कहा जा रहा है, जीव अजीव के बाद आश्रव का नाम क्यों रखा गया है? तो यहाँ यह ध्यान में रखियेगा कि आश्रव होते हैं तो दो प्रकार के (१) द्रव्याश्रव और (२) भावाश्रव। जो शरीर परमाणु और कर्म परमाणु हैं इनके आनेका नाम है द्रव्याश्रव और जीव में इस योग्य विभाव के आनेका नाम भावाश्रव है देखिए यद्यपि आश्रव के बाद से कर्म और शरीर परमाणु दोनों आ सकते हैं, किन्तु प्रधान है कर्म परमाणु, क्योंकि शरीर परमाणु आने का कारण है कर्म परमाणु, इसलिए मुख्यता कर्म की है। तो यहाँ आश्रव का अर्थ माना है जीव में अजीव का आना सो आश्रव से होता है इसलिए दो तत्त्वों के बाद आश्रव तत्त्व का वर्णन किया जा रहा है। आश्रव के होने पर ही बंध की उत्पत्ति होती है इस कारण आश्रव के बाद बंध कहा है। आश्रव का अर्थ है आना और बन्ध का अर्थ है बंधना। कर्म आए और तुरन्त चलें, जाएं, ठहरें ही नहीं। जैसे कोई बच्चा दौड़कर मंडप में जाकर मंडप से बाहर निकल गया इस तरह कर्म आए और तुरन्त ही निकल जाएं आत्मा में ठहरें ही नहीं यह तो हुआ आने का स्वरूप और ठहर जाएं यह हुआ बंध का स्वरूप। तो ऐसे आश्रव में कर्म आएं और जो ठहरें नहीं तो ऐसा आश्रव तो वीतराग आत्मा के होता है। ११ वें, १३ वें गुण स्थान तक ईर्यापथ आश्रव होता है और १४ वें गुण स्थान में ईर्यापथ आश्रव भी नहीं होता। यद्यपि आश्रव का अर्थ ठहरना नहीं है लेकिन हम आप सब लोगों के जो आश्रव होता रहता है सो स्वरूप तो वही है जो आश्रवका स्वरूप है, मगर यहाँ कोई आश्रव ऐसा नहीं कि आकर तुरन्त चला जाए। यों आश्रव की बात है।

आस्रव के बाद बन्धतत्त्वको क्रम में रखने का कारण—बन्ध के बारे में समझें। बन्ध कहते हैं बन्धन को। तो आप यह बतलावो कि आया जिस समय में उस समय में बन्ध कहलाएगा कि नहीं, देखिए कहलाएगा भी और नहीं भी कहलाएगा। दूसरे समय में ठहरे तो, पहले से ही बन्ध संज्ञा है। अगर दूसरे समय में न ठहरा तो पहले समय में भी ठहरा न कहलाएगा ठहरने से पर पहले समय में भी कहलाएगा कि उसी समय में आश्रव है, उसी समय में बन्ध है, लेकिन समझने के लिए यह बात आएगी कि ठहरना होने पर बन्ध होता है यानी आश्रव के समय में भी बन्ध की संज्ञा होने का कारण है दूसरे समय का ठहरना। इसे कहते हैं बन्धन। तो आश्रव के होने पर ही बन्धन होता है, इस कारण से आश्रव के बाद बन्ध का होना क्रम में रखा गया है। यहाँ तक क्रम समझ में आया। जीव, अजीव, आश्रव, बंध। बात क्या कही जा रही कि जीव तो हम आप खुद हैं पर इसमें कर्म जो धरे हैं वे अजीव में आ जायेंगे। जीव में कर्म आए तो आश्रव, जीव में कर्मबंधे सो बन्ध।

आश्रव बन्ध के बाद निर्जरा तत्त्व को क्रम में रखने का कारण—बन्ध के बाद संवर कहा है, उसका कारण है कि आश्रव और बंध का प्रतिपक्षी है संवर जहाँ संवर है वहाँ न आश्रव है न बंध है। देखो—सम्यग्दृष्टि श्रावक मुनि के संवर भी हो रहा, आश्रव बंध भी हो रहा निर्जरा भी हो रही। चारों बातें एक साथ होती है, चारों बातें होने का कारणभूत परिणाम भी एक है। एक समय के परिणाम से, उस अन्तर्मुहूर्त के परिणाम के निमित्त से आश्रव भी हो रहा बंध भी हो रहा संवर भी हो रहा निर्जरा भी हो रही, परिणाम एक है किन्तु उस परिणाम में जो रागाँश है वह आश्रव बंध का कारण है और उस परिणाम में जो वैराग्य की झलक है वह सम्बर निर्जरा का कारण है। एक ही परिणाम में राग और वैराग्य दोनों भरे हुए हैं। उसको यों समझ लीजिए—जैसे जमीन पर तो १०० डिग्री का राग समझिये और जरा कुछ और ऊपर ९९ डिग्री का राग समझिये, यानी जीव जैसे-जैसे परिणाम में ऊपर चढ़ेगा उसके राग की डिग्री कम होगी। मानों ४० अंश की डिग्री का राग है, जमीन से भी बहुत ऊँचा उठ रहा है तो उस समय का जो ४० अंश वाला राग का परिणाम है उसे यही तो कहेंगे कि ६० अंश न रहा वह हुआ वैराग्य और जितने अंश में राग है वह है राग। जो वैराग्य शक्ति हुई उससे तो होता है संवर निर्जरा और जो रागांश होता है उससे होता है आश्रव बंध। एक ही समय में चारों होते हैं, किन्तु कुछ सूक्ष्म दृष्टि से अध्ययन करने पर निमित्त कारण जुदा-जुदा विदित हो जाता है तो आश्रव और बंध का प्रतिपक्षी है संवर अतः आश्रव और बंध के बाद संवर का नाम दिया।

संवर के बाद निर्जरातत्त्व का क्रम रखने का कारण—संवर होने पर ही मोक्ष हेतु भूत निर्जरा होती है इसलिए संवर के बाद निर्जरा का संवर दिया गया है। क्योंकि संवर के होने पर ही परम निर्जरा होती है और परम निर्जरा के होने पर ही मोक्ष होता है। निर्जरा

और परम निर्जरा का भाव क्या? कुछ-कुछ निर्जरा हो गई, निर्जरा ही एक विशेष वृत्ति नहीं चल रही वह तो निर्जरा हैं और जहाँ बहुत अधिक निर्जरा होती है और जहाँ बन्ध और आश्रव नहीं चलता है, ऐसी स्थिति को कहते हैं परम निर्जरा और परम निर्जरा होती है १४ वें गुणस्थान में। जहाँ परम निर्जरा हुई वहाँ अन्त में मोक्ष होता है। निर्जरा, परम निर्जरा और मोक्ष ये तीन बातें समझना है। निर्जरा तो जो संवर पूर्वक निर्जरा है यह चलती रहती है चतुर्थ गुणस्थान से १२ वें गुणस्थान तक। १३ वें गुणस्थान में और विशेषता हुई और १४ वें गुणस्थान में परम निर्जरा हुई। उसके बाद मोक्ष होता है। यहाँ एक आशंका की जा सकती है कि परम निर्जरा और मोक्ष में क्या अन्तर है? जो परम निर्जरा हुई, पूरे कर्म खिर गए उसी का नाम तो मोक्ष है। मोक्ष और परम निर्जरा में क्या अन्तर है? कुछ भी तो अन्तर नहीं। इसे मोटे रूप से देखते हैं तो शंकाकार की बात कुछ भली जंचती है लेकिन कुछ सूक्ष्मता से विचारें तो परम निर्जरा तो है १४ वें गुणस्थान में और मोक्ष है गुणस्थान से अतीत स्थिति में। जहाँ गुणस्थान नहीं है वह है मोक्ष, जहाँ तक गुण स्थान है वहाँ तक है मोक्ष से पहले की स्थिति। यद्यपि १३ वें १४ वें गुणस्थान को भी मुक्ति कहते हैं पर वह है जीवन मुक्त। यों तो सम्यग्दृष्टि ज्ञानी पुरुष को भी मुक्त जीवन कहते हैं, अभिप्राय जुदा-जुदा है। शब्द पर अधिक विवाद न करना चाहिए। अभिप्राय देखना चाहिए कि क्या है? आशय को छोड़ने से विवाद है जैसे कि एक स्वरूपाचरण की बात चर्चा का विषय बना हुआ है।

वचन के आशय से निर्णय की व्यवस्था—कोई कहते हैं कि स्वरूपाचरण चौथे गुणस्थान में होता है कि नहीं या ७ वें गुणस्थान से होता है, भाई स्वरूपाचरण का नाम लेकर विवाद मत करो। तुम तो यह बात बताओ कि स्वरूपाचरण का अर्थ तुम क्या कर रहे हो? जब यहाँ भेद बताएगा कोई तो विवाद हो जाएगा। स्वरूपाचरण का अर्थ यदि यह लिया जाता कि अपने आत्मा के स्वरूप में मग्न हो जाना तो यह स्वरूपाचरण प्रभुता प्रकट होने से पहले नहीं है। श्रद्धा की अपेक्षा तो चौथे ५ वें छठवें गुणस्थान में भी ऐसा ही मानते हैं जो चौथे गुण स्थान से स्वरूपाचरण मानते हैं साधारणतया स्वरूपाचरण का अर्थ यदि स्वरूप में मग्न होना लिया जाए तो स्वरूपाचरण तो सदा रहता है, अनुभूति के समय स्वरूपाचरण हो और अनुभूति न हो तब न हो ऐसा नहीं है, अनुभूति तो कभी होती है लेकिन स्वरूपाचरण निरन्तर बना रहता है ज्ञानी सम्यग्दृष्टि के। जब स्वरूपाचरण का अर्थ यह किया जाए कि स्वरूपाचरण का आचरण, चाहे थोड़ा हो अधिक हो या पूर्ण हो। तो आत्मा का शुद्ध निरपेक्ष स्वरूपज्ञायक भाव की जो दृष्टि है उसकी धुन बनती है, उसकी ओर उपयोग रहता है वह भी स्वरूपाचरण की पंक्ति का आचरण है और उसके अपने पाप मिथ्यात्व, अन्याय, अभक्ष्य इनकी प्रवृत्ति दूर हो जाती है, प्रशम, सम्वेग, अनुकम्पा और आस्तिक्य आदि का व्यवहार हो जाता है। व्यवहार में तो यह है और अन्तः एक उस निरपेक्ष ज्ञायकस्वभाव की सुध रहती है ऐसा एक आचरण बन जाता है इसे कहते हैं स्वरूपाचरण। तो इसे चौथे गुणस्थान में भी मानने

में कोई विपत्ति नहीं। शब्दों में विवाद होने पर बहुत बड़ा झगड़ा खड़ा हो जाता है। भाव तो कोई नहीं देखता। एक बार सहारनपुर में हुआ है ऐसा कि जब हिन्दू मुस्लिम दंगा चला करता था उस समय की बात है कि एक लड़के के पास थी एक खोटी चवन्नी। वह चलती न थी। तो एक हलवाई की दूकान पर २ आने की मिठाई लिया, वही चवन्नी दी, हलवाई ने २ आने वापिस कर दिए। वह लड़का बड़ा खुश हुआ, और मारे खुशी के उछलता कूदता दौड़ा और साथ ही यह भी कहता गया कि चल गई चल गई चल गई उसका यह आशय तो यह था कि मेरी चवन्नी चल गई। पर वहाँ जब दुकानदारों ने सुना तो उन्होंने सोचा कि शायद हिन्दू मुस्लिम में लड़ाई चल गई, सो सभी दुकानदार अपनी-अपनी दूकानें बद करके अपने-अपने घरमें घुस गए। तो शब्दों पर ही कोई दृष्टि दे, उसके आशय को न समझे तो वहीं विवाद खड़ा हो जाता है और कोई शब्द के भावों पर दृष्टि दे तो वहाँ कोई विवाद नहीं होता है,

मोक्ष तत्त्व को अन्त में रखने का कारण—देखिए परम निर्जरा १४ वें गुण स्थान में है और मोक्ष गुणस्थान से अतीत हो जाने में है। कोई यह सोच सकता कि जो कर्म के विनाश का समय है वही तो मोक्ष का समय है, फिर कैसे परम निर्जरा के बाद मोक्ष की कल्पना हो सकती है? ध्यान से देखिए—समस्त कर्मों का विनाश जहाँ है वह है १४ वें गुण स्थान के अन्त में और १४ वें गुणस्थान का जहाँ अन्त हुआ उसके बाद का जो प्रथम समय है वही लोक के अग्रभाग पर विराजमान हो जाने का है। एक समय में ७ राजू ऊँचे केवली का जीव पहुँच जाता है उसे कहते हैं मुक्त दशा। तो अयोग केवली का जो चरम समय है वह गुणस्थान में है और मोक्ष की जो स्थिति है वह गुणस्थान से अतीत है, लोक के अग्रभाग में जहाँ पहुँच जाता है उसे अतीत गुणस्थान कहते हैं। यों ही परमनिर्जरा और मोक्ष में अन्तर होता है। इसलिए अन्त में मोक्षतत्त्व का शब्द रखा है। इस तरह सँख्या का वर्णन हुआ और क्रम का भी वर्णन हुआ।

सूत्र में तत्त्व एकवचनान्त शब्द का मर्म—अब तत्त्वं इस शब्द पर दृष्टि दीजिए तत्त्व को क्या कहा जाता है? तस्यभावः तत्त्वं तस्य मायने उसका-उसका मायने सत् का। वस्तु का जो भाव है उसे तत्त्व कहते हैं एक तत्त्व सूत्रं पुस्तक बनाया है उसमें बहुत छोटे-छोटे सूत्र हैं, जिसमें पहला सूत्र है ॐ, दूसरा तत् और तीसरा सत् इनको मिलाकर बोलें तो ॐतत् सत्। यह बात अन्य मतावल्बियों में बहुत प्रसिद्ध है, और यह बात जैन सिद्धान्त में भी है, ॐ तत् सत्। इसका सीधा अर्थ तो यह है कि ॐ में तो पंचपरमेष्ठी गर्भित हैं। अब और दृष्टि से तत्त्व को ग्रहण करिए तो ॐ तो है सत्य का प्रतिनिधि, तत् है ज्ञान का प्रतिनिधि और सत् है समस्त अर्थ का प्रतिनिधि। ॐ तत् सत् बताया था कि तीन रूप में परखो—शब्द, ज्ञान और अर्थ, इनमें सब कुछ आ गया। जो ७ नय कहे गए हैं? नैगम नय, संग्रह नय,

व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूत नय, इनमें से नैगम तो ज्ञाननय है, और संग्रहनय, व्यवहारनय, ऋजुसूत्रनय ये हैं अर्थनय और शब्दनय और समभिरूढ़नयएवंभूत ये हैं शब्दनय। सब चीजों में ये तीन बातें परख लीजिए। यहाँ यह बात बतलायी जा रही है कि तत् शब्द से समस्त अर्थों का बोध होता है। तो यह शब्द अर्थनय का आश्रय करने वाला है। और जीवादि हैं, सो तत्त्व शब्द सबके लिए लगेगा। यहाँ एक बात और समझना है कि देखो वहाँ तो दिया है **बहुवचन जीवाजीवाश्रवबंधसंवरनिर्जरामोक्षाः**। और तत्त्वं कहा एक वचन। यह भी बहुत अर्थ रखता है। समयसार में जैसे कहते हैं नवतत्त्वगतत्वेपि यदेकत्वं न मुञ्चति वह समयसार, वह आत्मस्वरूप ९ तत्त्वों में गत होने पर भी अपनी एकता को नहीं छोड़ता। यह ध्वनि इस सूत्र से निकल रही है। तत्त्वं शब्द एक वचन दिया है उस सामर्थ्य से यह बात ज्ञात हो रही है। उन सबमें रहकर भी जो वह है तत्व एक स्वरूप है।

परमार्थ लक्ष्य के अपरिचय में उपयोग का परिखोडन—देखिए जब तक लक्ष्य का परिचय नहीं होता अपना लक्ष्य बिन्दु जब तक नहीं बनता तब तक इस उपयोग का आस-पास भटकना होता रहता है, यह तो जगह-जगह भटकता है। और लोग कहते भी हैं कि जब सामायिक में बैठते हैं, जाप करने बैठते हैं तो यह उपयोग इतना अधिक भटकता है जितना और काम करके नहीं भटकता। तो क्या करे यह उपयोग? जब तक लक्ष्य बिन्दु नहीं मिला अपने आत्मा का लक्ष्य न जाना जा सकता तो वह उपयोग तो बाहर डोलेगा आसपास झलकेगा। बस यही पद्धति है, यह उपयोग जो जगह-जगह डोल रहा है ऐसी ही विडम्बना है और जब यह उपयोग अपने आपके इस ज्ञानमात्र अंतस्तत्त्व को करेगा जब यहाँ ही वह अपना लक्ष्य रखेगा तो उसे शान्ति मिलेगी। एक निर्णय है शान्ति और अशान्ति का। जब तक अज्ञान है, मिथ्यात्व है, मोह है, उपयोग बाहर भटक रहा है तब तक अशान्ति है। और, जब उपयोग अपने आपमें आ जाता है तब उसे शान्ति होती है। देखिए बाहर उपयोग रखने में कितनी ही विपत्ति है, और है वास्तव में विपत्ति यही कि बाहर में उपयोग कर लिया। तो देखें ये अनेक विपत्तियाँ सब एक साथ शान्त हो जाती हैं जब अपने आपके भीतरी समयसार अन्तस्तत्त्वका परिचय होता है। जैसे एक जमुना नदी में कछुवा रहता था वह पानी के नीचे-नीचे तैरता रहता था। एक बार उसके मन में आया कि मैं जरा पानी के ऊपर अपनी चोंच उठाकर घूम आऊँ। ज्यों ही वह अपनी चोंच पानी से बाहर निकालकर डोलने लगा त्यों ही चारों ओर से अनेक पक्षी आ आ कर उसकी चोंच को चोंटने लगे। वह बेचारा कछुवा अपनी चोंच को इधर-उधर चारों और घुमा घुमाकर हैरान होने लगा। बड़ा दुःखी होने लगा। उसे कोई समझा दे कि रे कछुवे तू व्यर्थ ही दुःखी हो रहा है, तेरे अन्दर तो एक ऐसी कला है कि जिसको खेल ले तो तेरे सारे सकंट समाप्त हो जाएं। क्या है वह कला? अरे जरा एक विलस्त पानी में अपनी चोंच को डुबाले फिर तो ये १०—२० पक्षी ही क्या, सैकड़ों पक्षी भी तेरा कुछ बिगाड़ नहीं कर सकते। इसी प्रकार यह आत्मा अपने इस ज्ञान स्वरूप में जा रहा

है, लेकिन अनादि से यह स्थिति है कि इस ज्ञान सरोवर के ऊपर ही यह ठहरता है। उस कछुवे से इसकी भिन्न स्थिति है दृष्टान्त जितने अंश में दिया है सो देखना है यह उपयोग अपने इस ज्ञान सरोवर से ऊपर रखता है और अपने ध्येय अर्थात् उपयोग में बाहर-बाहर घूमता रहता है कभी घर देखा, कभी परिवार देखा कभी इज्जत देखा, कभी पार्टी को देखा। उपयोग में बाहर ही बाहर यह अपनी दृष्टि बनाये रहता है, ऐसी स्थिति में चारों ओर से उपद्रव आते हैं। भाई बंधु के जुदे उपद्रव, हिस्सा बांट के जुदे उपद्रव, मित्रजनों के जुदे उपद्रव, सरकार के जुदे उपद्रव, यों उपद्रवों की कोई गिनती हो तो गिनायी जाए हजार लाख की तो बात क्या, अनगिनत उपद्रव हैं, उन सब कष्टों से दुःखी हुए इस जीव को कोई समझा तो दे जरा कि हे आत्मन्! तू क्यों दुःखी हो रहा? देख तेरे में तो ऐसी कला है कि जिसका प्रयोग तू करेगा तो तेरे ऊपर आने वाले सारे उपद्रव समाप्त हो जाएंगे। "अरे भाई वह कला क्या है?" वह कला यही है कि जिस ज्ञान सरोवर के ऊपर तुम रह कर भ्रमवश थोड़ा कुछ मजा सा जान रहे हो तो अब ऊपर का सारा उपयोग छोड़कर जरा ज्ञान सरोवर के भीतर तो समा जाओ, अपने उपयोग को ज्ञानभाव में ले आओ जहाँ ज्ञान में ज्ञानस्वरूप ज्ञेय हो जाएगा, वह ज्ञानस्वरूप जहाँ व्यापक हो जाएगा, ज्ञान ज्ञेय की एकता हो जाएगी उस काल में बाहर बाह्य पदार्थ में कितने ही प्रकार के उपद्रव हों, अंतः कोई कष्ट नहीं हो सकते। आखिर करना भी तो यही है सुकुमाल सुकौशल आदि ने जिन्होंने अपने ज्ञान में अपने ज्ञेय को निरखा वहाँ बाहरी उपद्रव से उनका कोई बाल बांका न हुआ रंच भी उपयोग चलित न हुआ और फल हुआ कि सर्वार्थ सिद्धि गए, मोक्ष गए।

अभूतार्थ नय से विज्ञात सात तत्त्वों को भूतार्थ विधि से परखने का प्रभाव—यहाँ उस ही तत्त्व की बात कही जा रही है जिस तत्व पर दृष्टि जाने से सदा के लिए हम आपका भला हो जाएगा। वह तत्त्व क्या है? वह तत्व है एक ज्ञायकस्वरूप, एक चित्स्वरूप, सहजनिरपेक्ष, पारिणामिक भाव की समझ से समझ में आने वाला परिपूर्ण आत्मा, स्वभाव में परिपूर्ण आत्मा, वह है तत्त्व और उसका ही आश्रय करने से, उसको ही दृष्टि में लेने से सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है, पर वह तत्त्व जाना कैसे जाए? सीखो इन ७ तत्त्वों की बात और इन ७ तत्वों में भूतार्थ विधि से परखें कि क्या है इसमें अंतस्तत्व, तो समझ में आ जाएगा। देखो एक दृष्टान्त है कि एक बार कोई संस्कृत का भारी विद्वान राजा को आशीर्वाद देने गया। राजा तो था मानो अंग्रेज। अंग्रेजी भाषा के सिवाय वह और कुछ जानता न था और वह संस्कृत का विद्वान केवल संस्कृत जानता था। अंग्रेजी बिल्कुल न जानता था। तो वहाँ उस विद्वान ने राजा को आशीर्वाद दिया स्वस्ति, अब वह क्या समझे? बल्कि वह आँखें निकाल कर अचम्भे के साथ देखने लगा यह क्या कह रहा है। कुछ समझ में न आया। अब बतलावो राजा को उस विषय की बात समझ में आ जाए इसका क्या उपाय है? हाँ उपाय है, ऐसा कोई पुरुष जो संस्कृत भी जानता हो और अंग्रेजी भी जानता

हो वह संस्कृत भाषा की बात समझ कर अंग्रेजी भाषा में बता दे कि आपको यह कहा जा रहा है कि तेरा अविनाश हो, तेरे को परम आनन्द हो, **May be blessed** अर्थात् तेरे को सहज आनन्द प्राप्त हो, यों जब अंग्रेजी भाषा में बोल दिया तो उस राजा को बड़ा आनन्द होता है– ओह यह तो बड़ा अच्छा पुरुष है, उसका वह सत्कार भी करता है, ऐसे ही तत्त्व की बात, आत्मा की बात निश्चय का विषयभूत जो एक भूतार्थ अखण्ड विषय है सहज भाव, अगर आत्मा-आत्मा, अखण्ड अखण्ड चिल्लाते रहें तो साधारण लोग जो इससे अनभिज्ञ हैं वे क्या जानेंगे कि क्या बात कही जा रही है? वे अचरज में बोलेंगे कि क्या बात कही जा रही है, किस तत्त्व की सुनाई जा रही है। तो बहुत से लोग तो ऐसे बैठे रहते होंगे कि जिनकी समझ में कुछ नहीं आता। अब बताओ किसी तरह समझ में आ भी सकता क्या? आ सकता है। किस तरह? जो जीव निश्चयनय और व्यवहारनय दोनों पथ पर चलता हो और जिसने परिचय पाया हो वह व्यवहारनय की भाषा में निश्चयनय की बात समझाये तो समझ जाएगा। आत्मा-आत्मा इसमें यह कहा जा रहा है कि जो जाने सो आत्मा जो निरन्तर जानता रहे उसे आत्मा कहते हैं अतति गच्छति सततं जानातिइति आत्मा यह आदित्य भी उसी से बना आदित्य उसे कहते हैं जो निरन्तर चलता रहे। और सो आत्मा। कोई क्रोध करे चाहे मान करे, चाहे क्षोभ करे चाहे शान्ति से रहे, चाहे निगोद में रहे चाहे त्रसपर्याय में रहे, हर स्थितियों में जानना चलता रहता है, इसलिए इसका नाम रखा गया है आत्मा। देखो जो जाने सो आत्मा, जो दर्शन करे, देखे, प्रतिभास करे सो आत्मा, जो आनन्द पावे सो आत्मा। ऐसे व्यवहारनय के जुदे-जुदे गुण भेद करके समझाया जाए तो वह आत्मा तत्त्व को समझ सकता है तो देखो भैया! व्यवहारनय कितना उपकारी हुआ इस जीव को।

स्वयं के स्वयं की परमें खोज करने की विकट उन्मत्तता—देखो जो निश्चयनय के विषय को समझाने का एक परम साधन हो, सो उस तत्त्व की बात कही जा रही है। वह तत्त्व बाहर नहीं, भीतर है, मगर ऐसी दशा हो गई जैसे कि एक कहावत है कि काँख में लड़का गाँव में टेर। यानी लड़का तो लिए हैं अपनी काँख में और खोजते पूछते फिरते हैं कि मेरा लड़का कहाँ गया, इधर-उधर बाहर में ढूंढते फिरते हैं! जैसे कभी आपने देखा होगा कि चश्मा या कोई चीज अपने हाथ में ही लिए हैं, पर उसकी सुध न होने से उसे बाहर में खोजते हैं। जब समझ में आ गया कि अरे यह है मेरा चश्मा, तो झट प्रसन्न हो जाते हैं। देखिए वह चश्मा कहीं बाहर से तो नहीं आया। यहीं था। जब समझ में आया तब मिला, और जब समझ न थी तब न मिला। ऐसा तो नहीं है कि पहले हाथ से अलग था चश्मा अब हाथ में आ गया जब हाथ में है उस समय की स्थिति कह रहे हैं। इसी तरह यह भगवान आत्मा परमात्मतत्त्व यह कैसे मिलता है। है सही काँख में लड़का गाँव में टेर। है यही अन्तर में आत्मा बाहर में खोज की जा रही है। ज्ञान व आनन्द बाहर देखना हो तो बाहर में खोजते है। पर आत्मा की समझ नहीं है सो उपलब्धि नहीं है। जब समझ में आ जाता कि अरे यह

मैं आत्मा तो वह आत्मा कहीं इस तरह नहीं कि कहीं बाहर बैठा हो और उसके पास जाए फिर मिल लें। अरे आत्मन् तुम बहुत दिनों से बिछुड़े हुए थे, अब मिले, इस तरह का मिलना और बिछुड़ना नहीं है। वह तो यहीं है, अन्तः प्रकाशमान है, शाश्वत है, उसकी सुध नहीं है, परिचय नहीं हैं तो मेरे को मिला नहीं है। और जिस काल में परिचय हुआ उस काल में मिला हुआ कहलाता है तब ही तो जब पहले-पहले उपदेश किया गया कि आत्मा की उपासना करो, आत्मा की आराधना करो तो कोई प्रश्न कर सकता है कि क्या बोलते हो? अरे आत्मा कहीं दूर हो तो आराधना करें, सेवा करें उपासना करें जब यह आत्मा स्वयं है तो आराधना का मतलब क्या? तो उसका समाधान यही तो है जो स्वयं आत्मा, हैं स्वयं ज्ञानस्वरूप, मगर सुध नहीं है इसलिए ज्ञान नहीं हो रहा, वह मिला नहीं है उसकी दृष्टि करना यह ज्ञान की आराधना कहलाती है, तो भाई यह ही अमृत है अमृत दूसरा नहीं है जिसे पीकर अमर हो गए– वह है यह ज्ञान दृष्टि दूसरा अमृत दुनिया में कोई रस या फल रूप नहीं है वे तो सब गढ़ी कथायें है जिनमें अमृत को फल या रस रूप में कहा। अरे जब अमृत फल भोगा गया। तो बेचारा स्वयं ही कचूमर बन गया। जब वह अमृत फल स्वयं की ही रक्षा न कर सका तो फिर दूसरे की रक्षा क्या कर सकेगा? है क्या बाहर में कोई ऐसा अमृत कि जिसे खाले तो अमर हो जाएं? वह अमृत है निज सहज ज्ञायकस्वरूप की दृष्टि। तो वह अमर होने का भी मर्म देखिए? अमर है आत्मा, इसका विनाश भी नहीं होता, पर अपने अमरत्व की सुध नहीं है सो बाहर में ऐसा ख्याल करते कि हाय मैं मरा। तो बस यह ख्याल करना यह ही इसका मरण है। कल्पना में यह बतलायें कि मैं मरा, वह गया, इसी के मायने है मरण। आत्मा का मरण और कुछ नहीं। आत्मा तो अनादि अनन्त अहेतुक शाश्वत प्रकाशमान है, उसका कभी मरण नहीं होता, तो ऐसे इस आत्म स्वरूप की जो सुध लेता है उसे कहते हैं भूतार्थ का उसने आश्रय किया और वह है सम्यक्त्व का उपाय पर यह उसका तत्त्व है, निश्चय का विषय भूत है, और **जीवाजीवश्रवबन्धसंवरनिर्जरामोक्षाः** ऐसा जो पद है व्यवहारनय का विषयभूत, उस पद का साधन है यह ७ तत्त्व। जैसे कहते हैं ना कि हेतु नियत को हुई इस तरह व्यवहार सम्यक्त्व तो ७ तत्त्वों का श्रद्धान है और उसकी श्रद्धा के उपाय में जो इन ७ तत्त्वों को भूतार्थ विधि से देखने पर जो एक सहज ज्ञानस्वरूप लक्ष्य में रहता है वह कहलाया निश्चय सम्यक्त्व। इस तरह सम्यक्त्व प्राप्त हो तो संसार के समस्त क्लेश इसके शान्त हो जाएंगे।

अभेद दृष्टि की परख में अलौकिक जागरण—तत् और तत्त्व इस सम्बन्ध में थोड़ी सी बात सुन लीजिए जो इस से सम्बन्धित है। देखिए तत्त्व जो ७ हैं तो वे कोई अलग-अलग चीज नहीं है इंसान और इंसानियत ये कोई अलग-अलग नहीं हैं। इंसानियत यहाँ मंदिर में हो और इंसान और कहीं बैठा हो ऐसी बात नहीं है। इंसान में ही इंसानियत है। इसी तरह ये जो ७ तत्त्व कहे गए– आत्मा ही तत्त्व है; प्रत्येक में तत्त्व है। और यों जीव

में जो तत्त्व है उसका नाम है जीवत्व। अजीवत्व में जो तत्त्व है उसका नाम है अजीवत्व। ऐसे ही आश्रवत्व, बंधत्व, संवरत्व, निर्जरत्व और मोक्षत्व। फिर जब और विशेष भूतार्थ पद्धति से निरखते हैं तो सबसे हटकर किसी एक अखण्ड तत्त्व पर अड़ जाते हैं वह है भूतार्थनय का विषय। उसकी आराधना करना यह है सम्यक्त्व का कारण। अब जरा इन सब बातों को संक्षेप में बतलाते हैं जो आपके काम की बात है और जिसे आप कर सकते हैं। यहाँ बैठकर, घर में बैठकर उसे आप निहार सकते हैं। वह क्या है? देखो अपने आपको ऐसा ध्यान में रखें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, मैं केवल ज्ञान ही ज्ञान हूँ, जो ज्ञान है जानन है सबका सहारा छोड़ दीजिए, अब उस ज्ञान के भाव पर जावें, जानन, प्रतिभास, समझ चेतना, बस यही मेरा स्वरूप है, ज्ञान मेरा स्वरूप है। ज्ञान ही ज्ञान में ज्ञान से हो, ज्ञान सिवाय और कुछ मैं हूँ नहीं, ज्ञान की जो वृत्तियाँ होती हैं उनका ही मैं कर सकने वाला हूँ। ज्ञान की जो अनुभूति है उसी का मैं भोगने वाला हूँ। ज्ञान ही मेरा स्वरूप है, ज्ञान ही मात्र मैं हूँ। ज्ञान सिवाय मैं और कुछ नहीं हूँ। ऐसा चिन्तन रखें जीवन भर रोज-रोज चाहे घर में बैठकर करें दुकान वगैरा में बैठकर करें, होगा क्या कि ऐसे भाव का चिन्तन होने से एक अलौकिक जागरण होगा, सम्यक्त्व का लाभ होगा। अब कोई यह कहे कि हमें तो यह भी कठिन लग रहा। इससे और बताया जाए तो इससे सरल और कुछ भी नहीं कहा जा सकता। एक बड़ा पहलवान था वह किसी दंगल में बोला कि हमसे जो कोई भी लड़ना चाहे वह लड़ सकता है। वहाँ किसी कि हिम्मत न पड़ी, पर एक कोई बहुत ही दुबला पतला आदमी उठा और बोला—हम लड़ेंगे इससे। हम तो इसे तुरन्त ही अखाड़े में पछाड़ देंगे मगर एक शर्त है—क्या कि जब वह अखाड़े में पहुँचे, और जिस समय मेरे से लड़ने के लिए खड़ा हो उसी समय वह जमीन में गिर जाए, बस हमारी निश्चित रूप से विजय होगी। तो भला बताओ इससे सरल और क्या बताया जाए? कोई कहे कि ज्ञानमात्र अपने आपको जानूँ समझूँ, जरा यह भी आप कर देना, तो यह बात दूसरे से नहीं की जा सकती, खुद कर सकता और इससे सरल कोई उपाय भी न मिलेगा। आप घर में बैठे हों, दूकान में बैठे हों, कहीं भी बैठे हों, बस नेत्र बंद करके अपने भीतर में यह चिन्तन करें कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान ही ज्ञान हूँ, ज्ञान के सिवाय मैं अन्य कुछ नहीं हूँ, ऐसी दृष्टि बनायें और भीतर में यह निहारने का यत्न कीजिए। ज्ञान से मतलब क्या? वह **जानन कैसे होता है? जानन क्या कहलाता है, वह प्रतिभास जिसमें रागद्वेष नहीं, विकल्प नहीं,** ऐसा जानन किस रूप है, आपको एक सामान्य ज्योति के दर्शन होंगे, ऐसा प्रयत्न करके भीतर देखेंगे तो बस सब कुछ कल्याण हो जाएगा।

जीवतत्वकी सिद्धि में अजीव तत्त्व की सिद्धि की भी अनिवार्यता—जीवतत्त्व के प्रसंग में यहाँ एक आशंका की जा रही है कि जीव ही मात्र एक तत्वार्थ है, दूसरा कुछ भी पदार्थ नहीं है। सर्ववैरवल्विंदब्रह्म यानी जितना जो कुछ समस्त समागम है वह सबका सब सारा लोक अन्य कुछ नहीं है केवल एक ब्रह्ममात्र है, ऐसा ब्रह्माद्वैत सिद्धान्त में आया है,

देखिए ध्यान से उन्होंने सिद्धान्त कोई एकदम मिथ्या नहीं गढ़ा। जब हम द्रव्यदृष्टि से निहारते हैं तो यह विदित होता है कि एक ज्ञानमात्र ज्ञायकस्वभाव ही कोई वास्तविक तत्त्व है सारभूत, समयसार है यह जो एक अपने आपके बारे में बात हुई और जितनी बाहर की चीज है तो जो जीव है उनमें भी यह अवकाश होता है कि सब ज्ञानस्वरूप हैं। अब यह तो अन्य जीवों की बात हुई, अब बाकी रहे जो अजीव हैं अर्थात् जितने देखने वाले जीव हैं वे सब पुद्गल अपने आप ही वैसे न बन सके। उसमें पहले जीव का सम्बन्ध था। तब बड़े हुए अंकुर, पृथ्वी भी जीव, जल भी जीव अग्नि भी जीव, वायु भी जीव और जो कुछ यह सूखी वनस्पति दिख रही है वह भी जीव थी लेकिन कटने के बाद, अलग होने के बाद ये अजीव हो गए। तो जितने ये प्रत्यक्ष दिख रहे हैं ये सब भी जीव के आश्रय से ही इनका निर्माण हुआ है। इस तरह से सारा लोक जो कुछ दिखता हैं उसमें जीव का सम्बन्ध है और जीव—जीव सब द्रव्यदृष्टि से सामान्यदृष्टि से देखा जाता है तो एक जीव स्वरूप ज्ञानस्वरूप विदित होता है, जब स्वरूप दृष्टि की जाती है तो लो इस दृष्टि से ब्रह्म सिद्धान्त की उत्पत्ति हुई, पर ब्रह्माद्वैत मानने वालों ने इस ओर दृष्टि न दी कि जगत में जो भी सत् होता है वह पर्याय सहित होता है, पर्याय शून्य नहीं होता। और पर्यायरहित हो कोई ब्रह्म तो अब समझिए वह क्या है। बात ही बात रह जाएगी, कुछ दिमाग में न आएगा न प्रयोग में आएगा, तो क्या है वह ब्रह्म, जिसकी कोई अवस्था ही नहीं, जिसका कोई परिणमन ही नहीं तो पर्याय का निषेध कर देने से यह द्रव्यार्थिक का विषयभूत सिद्धान्त गलत हो गया। अब जरा विचार करो। कोई कहता है कि जीव तत्त्वार्थ है, अजीव कुछ चीज नहीं है तो अब जरा इस आशंका के विषय में कुछ आलोडन विलोडन कीजिए। जीव है, अजीव कुछ नहीं है तो भला बतलाओ जीव को आप समझायेंगे कैसे? जगत में केवल एक ब्रह्म ही है, जीव ही है इस आग्रह में यह बतलाओ कि आप हमें समझायेंगे कैसे? दूसरे को समझायेंगे कैसे? वचनों से बताओगे ना लो वचन तो अजीव हैं तो अजीव की सिद्धि हो गई अजीव के बिना तो जीव है एक है, ब्रह्म है इस बात को समझाने का कोई उपाय नहीं है। वचनों से ही तो बतावोगे और वचन हैं पौद्गलिक अन्य प्रकार से, तो समझाया जा सकता, नहीं तो कैसे यह कहा जा सकेगा कि जीव है और यह सब अजीव कुछ नहीं। अजीव है अब अनुमान प्रमाण से सिद्ध कीजिए अजीव है क्योंकि एक जीव को सिद्ध करना अन्यथा बन नहीं सकता। अगर अजीव न हो तो दूसरे के लिए जीव की सिद्धि नहीं की जा सकती वचनों से ही तो समझते हैं और ऐसा हो नहीं सकता कि दूसरे के लिए जीव सिद्धि के साधन तो बन जाए और अजीव न रहे यह बन नहीं सकता। जो साधन है दूसरे को समझाने का वह वचन है अजीव। किसी भी दूसरे को वचन का सहारा लिए बिना समझाना नहीं बनाया जा सकता अगर कोई केवल यह कहे कि अपने आपसे अपना जीव समझा जाएगा तो अब तक क्यों नहीं समझा, कारण क्या है और अब समझा रहा तो कारण क्या है। अजीव के माने बिना जीव तत्त्व की सिद्धि हो नहीं

सकती।

जीव और जीवत्व के समझ की झांकी—जीव है, देखिए इस सिद्धान्त पर जितना अधिक उहापोह किया जाएगा, मार्ग में बड़ी स्पष्टता आ जाएगी, क्योंकि देखो मोक्षमार्ग में चलने के लिए एक चैतन्यभाव के आश्रय की बात बहुत आवश्यक है। अखण्ड अभेद एक चैतन्यब्रह्म है सो मेरे में मेरा चैतन्य ब्रह्म आप में अपना तत्त्व है, लो। जैसे गेहुवों का ढेर लगा है तो उसमें गेहूँ के दाने अरबों खरबों है लेकिन कोई एक ढेर देखकर यह कोई नहीं बोलता कि इन सारे गेहुवों को आप किस भाव में देंगे? जो भी पूछता है वह यही कहता है कि यह गेहूँ किस भाव का।? यद्यपि अरबों खरबों गेहूँ हैं मगर कोई बहुवचन कहकर कहता है क्या? वे सब एक समान हैं इसलिए अनेक कहने की आवश्यकता नहीं, केवल एक वचन बोला जाता है, इसी तरह जगत में जितने अनन्तानन्त जीव हैं वे सब जीव मूल में एक समान हैं, इस कारण से बहुवचन के रूप में प्रयोग नहीं किया जाता। भूतार्थ दृष्टि में जीव एक ब्रह्मस्वरूप है, लेकिन ऐसा क्यों समझते? ये समझते कि मेरे में जो अज्ञान का अँधेरा है, मेरे में जो नाना प्रकार की आपत्तियाँ हैं वे दूर हों इसके लिए इस जीवस्वरूप को समझने की बात आती है। उसकी सिद्धि हो गई है ना? अब हम बन्धन में हैं और बन्धन से हमको मुक्ति होनी है। बन्धन कभी एक में एक के द्वारा नहीं होता। एक-एक से बन्धे क्या? एक अकेला है केवल है, दूसरा कुछ है ही नहीं तो फिर बन्धेगा कैसे? जब दो का सम्बन्ध हो जाएं तब बंधे। अगर एक ही तत्त्व हो जीवमात्र परम ब्रह्मस्वरूप तो उसका बन्धन क्या? वह बंध नहीं सकता। और जब बंधन नहीं तो मोक्ष नहीं तो फिर शास्त्र क्यों, ग्रन्थ क्यों, सभा क्यों जोड़ना, गुरु से शिष्य को क्यों समझना? तो अजीव का निषेध करने पर भी तीर्थ प्रवृत्ति नहीं चल सकती।

नाना जीवों की प्रमाणसिद्धता—अब यहाँ यदि अद्वैतवादी यह सिद्ध करें कि जीव ही पहले नहीं फिर कोई गुरु हो, कोई शिष्य हो, समझने वाला हो ऐसा कुछ नहीं है, यह भ्रम में ऐसा मालूम पड़ता है कि जीव नाना हैं। जैसे स्वप्न में जब देखता है कोई तो उसे बहुत मालूम पड़ते हैं इस कारण ये सब क्यों भ्रम हैं कि नाना जीव हैं। जीव ब्रह्म केवल एक है ऐसा अद्वैतवादियों का यह कथन चल रहा है। यह एक ही परमात्मा है। जो अनेक रूप से प्रतिभास में आ रहा कि यह प्रतिपाद्य है, यह प्रतिपादक है। वह सब विद्याकालीन अविद्या के कारण आ रहा हैं, जीव बहुत नहीं हैं। भ्रान्ति में मालूम पड़ रहा है। जैसे स्वप्न में देखते हैं ऐसे ये नाना जीव पारमार्थिक नहीं हैं, मिथ्या हैं, बहुत का ज्ञान होना एक बात रखी है मगर इसके एवज में कोई यह नहीं कह सकता कि अगर कोई यह सोच रहा है कि जगत में जीव केवल एक है तो वह भी भ्रम है। स्वप्न में क्या कभी ऐसा एकपना निरखा जा सकता है। जो जीव जैसे नाना हैं यहाँ स्वप्न का दृष्टान्त देकर मिथ्या बताते हो तो जीव एक है यह

भी स्वप्न का दृष्टान्त देकर मिथ्या बताया जा सकता है। किन्तु सबको अपना-अपना आत्मा स्वसंवेदन सिद्ध है, प्रत्येक जीव अपने आप में अपना-अपना जुदा-जुदा अनुभव लिए हुए है। मोटी बात है कि अगर ब्रह्म एक होता तो एक जीव अगर सुखी हो रहा तो सब जीवों को सुखी हो जाना चाहिए, क्योंकि तुम सब तो एक हो, एक दुःखी हो तो सबको दुःखी हो जाना चाहिए था मगर यहाँ प्रत्यक्ष देखने में आ रहा कि आपका विचार आपके साथ है, मेरा विचार मेरे साथ है। अनुभव ही सिद्ध करता है कि जीव नाना हैं। हाँ जीव में जीव का जो स्वरूप है वह स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का नहीं, वह एक स्वरूप है। जैसे हजारों मनुष्यो में मनुष्यत्व (मनुष्यपना) एक है हजारों नहीं हो सकते, इसी प्रकार जितने भी जीव हैं वे सब स्वरूप में समान है, स्वभाव एक है जब जीव हैं तो सिद्धान्त यह है कि जीव तो नाना हैं मगर जीव में स्वरूप सबका एक समान है। स्वरूप में जरा भी अन्तर नहीं है। देखो इतना हो जाने पर भी किसी जीव के मोक्ष जाने की शक्ति है, किसी जीव के नहीं है, ऐसा भव्य और अभव्य का भेद किया जाने पर भी सब जीवों में स्वरूप एक समान है। स्वरूप दृष्टि से भव्य अभव्य सिद्ध भगवान निगोद किसी में कोई भी अन्तर नहीं हैं। जो अन्तर पाया जायेगा वह पर्याय दृष्टि प्रकट हो गई उस पर्याय में अन्तर आयगा। स्वरूप दृष्टि से कभी अन्तर न द्रव्य दृष्टि से निहारें तो वह एक परम ब्रह्म स्वरूप है पर सर्वथा नहीं।

आत्मवत् सबका महत्त्व आंकने का महत्त्व—अब यहाँ एक बात और रखी जा सकती है कि हमको तो ऐसा लगता है कि मेरे सिवाय और कोई जीव नहीं। बस मैं ही हूँ ऐसा अद्वैतवादी मानते भी हैं। सो भैया यह बात तो ऐसी हुई कि न मैं रहा और न कोई रहा। मैंने यह समझा कि मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं है। मेरा स्वरूप वही एकमात्र मैं हूँ। तो दूसरे यह कहेंगे कि मेरे सिवाय दूसरा कोई नहीं। दूसरे में भी तो मैं आ गया तो मैं भी न रहा और न अन्य कोई। केवल एक रहे दूसरा न रहे इस तरह की हठ में एक भी आत्मा न रही। कुछ परिणति ऐसी पड़ी हुई है लोगों के विचार में, प्रायः प्रत्येक का जीव को अपने स्वरूप के बारे में अपने अस्तित्व के बारे में कि मैं तो वास्तव में हूँ और दूसरे के अस्तित्व कुछ ऐसे लगते हैं कि यह सब तो बिना काम हो गया अस्तित्व तथा तब जैसे कोई जीव जब सुखी रहता है तो उसे सारा जगत सुखी नजर आता है और जो स्वयं दुःखी है उसे सारे मनुष्य दुःखी नजर आते हैं। मानो कोई बारात किसी जगह आयी हो, बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनाई जा रही हों, पर जो दुःखी है उसे तो ऐसा लगेगा कि ये सब ऊपरी-ऊपरी प्रसन्न दिख रहे हैं, अन्तर में ये भी दुःखी ही हैं। जिस पर जैसी बीत रही है उसकी वैसी ही निगाहें बनना प्राकृतिक बात है। एक बार किसी बादशाह के यहाँ कोई एक खवास (नाई) हजामत बनाने जाया करता था। तो ये खवास लोग हजामत बनाते समय बहुत-बहुत बातें किया करते हैं। तो वहाँ हजामत बनाते समय खबास बादशाह से भी बड़ी गप्पें मारता था। एक दिन बादशाह ने खवास से पूछा—खवास जी आप यह बतलाइए कि हमारी प्रजा के लोग सुखी हैं कि

दुःखी हैं? तो वह खवास बोला महाराज आपकी प्रजा बड़ा सुख पा रही है, घर-घर में खूब घी दूध की नदियाँ बह रही हैं, आप की प्रजा बड़े मौज में है। बात क्या थी कि उस नाई के घर में १०—१५ भैंसे थी, उसके यहाँ बड़ा मौज था तो उसे सब जगह मौज ही मौज (सुख ही सुख) दिखता था। बादशाह ने पूछा कि तुम्हारे पास कितनी भैंसे हैं? पन्द्रह। बस समझ लिया बादशाह ने कि यह खवास सुखी है इसलिए इसे सब जगह सुख ही सुख नजर आ रहा है। एक दिन बादशाह ने अपने किसी सिपाही या किसी बड़े अफसर से कह दिया कि इस खवास पर कोई जुर्म लगाकर इसकी सब भैंसें ले आओ। अब उन्हें जुर्म लगाने में क्या देर थी। कोई जुर्म लगाकर सब भैंसे ले आए। एक दिन उसी खवास से फिर बादशाह ने पूछा— खवास जी बताइए कि मेरी प्रजा सुख में है या नहीं? तो खवास बोला—महाराज आपके राज्य में प्रजा में बड़ा दुःख छाया हुआ है, सुख का नाम नहीं वहाँ घी दूध के तो किसी को दर्शन भी नहीं होते। तो एक दृष्टान्त दिया है कि जिसके विकल्प में जो समाया हुआ है वह लग रहा सच्चा और वैसा ही यह जीव दूसरी जगह देखता है आप। परन्तु देखो जितना बड़ा जीव आप अपने को मानते हो उतना ही महत्त्व वाला, अस्तित्व वाला आप दूसरे को मानो।

सर्व में स्वरूपसमता—अद्वैतवादियों को एकान्ततः ऐसी प्रकृति पड़ जाती है कि वे अपनी प्रकृति के अनुसार बोलते हैं कि बस जीव तो एक ही है, दूसरा कुछ नहीं है, एक ही ब्रह्मस्वरूप है। लेकिन, ऐसे अद्वैतवाद में तो मोक्ष की व्यवस्था नहीं बन सकती भले ही सोचे कोई कि किसी के यहाँ एक ही लड़का हो तो उसे क्या चिन्ता अपने पास जो कुछ हुआ, सारा का सारा पिता ने उसे दे दिया। और यदि कई लड़के हो गए तो उसमें पिता को अलग-अलग धन देने की बड़ी परेशानी रहती है। यों एक ब्रह्म मान लो तो कोई खटपट न रहेगी। यह तो एक व्यवहार की बात कहा। इसी तरह से समझ लो कि अगर एक ही है दूसरा नहीं है तो फिर बन्धन क्या? जीव हो वह तो ठीक है मगर अजीव भी है। तो ऐसा ध्यान में लाओ कि मेरे सिवाय अन्य कुछ नहीं है इसलिए सब एक ही है यह प्रमाणयुक्त बात नहीं है। सबको लगता है यों जब धन में अधिक थे, परिवार में अधिक थे तो मानते थे कि अच्छे तो हम हैं। बड़े तो हम हैं, ये तो बड़े छोटे लोग हैं, मेरे में जो स्वरूप है सो ही सत्व है, बाहर में कुछ सत्व नहीं। अरे बात तो यह ठीक कहा मगर इसका अर्थ यह नहीं कि अपने को तो बहुत बड़ा समझलो और दूसरों को तुच्छ समझलो। अरे यहाँ कौन छोटा और कौन बड़ा? स्वरूप दृष्टि से देखो तो सब जीव एक समान हैं। जो अपने को तो बड़ा समझे और दूसरे को तुच्छ समझे उसे सही मार्ग नहीं मिल सकता। कौन छोटा और कौन बड़ा? बच्चों की पुस्तकों में एक छोटी सी कहानी आयी है कि एक जगह कोई सिंह सो रहा था, उसी जगह एक चूहा रहता था। वह चूहा बार-बार सिंहकी पीठ पर चढ़ जाता था

तो सिंह को गुदगुदाहट लगने से सिंह बारबार जग जाता। उसे निद्रा न आने पाती थी। सो उस सिंह को गुस्सा आया, चूहे को पकड़ लिया मारना चाहा, पर वह चूहा बोला—ऐ बनराज! तुम मुझे मत मारो, हम भी कभी तुम्हारे काम आएंगे। तो सिंह ने सोचा कि यह छोटा सा चूहा मेरे काम कैसे आ सकता, पर उसे तुच्छ समझकर छोड़ दिया। एक बार सिंह ने देखा कि किसी जगह कुछ मांस के टुकड़े पड़े हुए थे। ज्यों ही चलकर उन्हें खाने की कोशिश की त्यों ही वह जाल में फंस गया। ज्यों-ज्यों वह उससे निकलने की कोशिश करे त्यों-त्यों वह उसमें फंसता गया। वहाँ वही चूहा पहुँचा, सिंह को जाल में फंसा देखकर सोचा कि देखो इस सिंह ने मुझे प्राणदान दिया था। अब मुझे भी इसके प्राण बचाने चाहिए। यह सोच कर चूहे ने अपने दाँतों से जाल काट दिया। जाल के कटते ही सिंह जाल से बाहर हो गया। प्राण बच गए। तो भाई यहाँ किसी को छोटा मत समझो। सबको समान समझो बड़ा आनन्द आएगा। और हमको तो इसी में आनन्द जंचता कि सबके सब समान रहें, सबके बराबर बैठें। कौन ऊँचा, कौन नीचा? सबके बराबर बैठने में बड़ा आराम मिलता है, एक शान्ति मिलती है, बढ़कर बैठने में शान्ति नहीं मिलती। पर परिस्थिति हो बढ़ कर बैठो तो वह भी उसके लिए एक विपत्ति है, शान्ति मिलेगी, सन्तोष मिलेगा तो समता में मिलेगा, ताकि उसे कोई विकल्प ही न करना पड़े। सब जीवों में वही एक समान भाव है। सब एक प्रकार के हैं। सबका एक महत्व है। किसी से मैं बड़ा नहीं हूँ, और छोटा भी नहीं हूँ, सब जीव एक समान हैं, ऐसी दृष्टि रहेगी तो वहाँ मोक्ष का मार्ग मिलेगा, और उसे अगर कोई यह कहे कि बस जीव तो एक है दूसरा कुछ है ही नहीं जब दूसरा कुछ है ही नहीं तो फिर तीर्थ प्रवृत्ति बिल्कुल मिथ्या हो जाएगी, इसलिए जीव तत्त्व भी है और अजीव तत्त्व भी है,

निज एकत्त्व की दृष्टि की उपादेयता—देखो इन सब बातों में जो ब्रह्माद्वैत के सिद्धांत से मिलती जुलती बात है वह बात बतलाते हैं कि जिसको उपयोग में लेने से हम आपको कल्याण का मार्ग मिलता है। देखो मैं एक हूँ, अरे दूसरे को तुम दृष्टि में मत डालो। दूसरा कोई तुम्हे दिखेगा ही नहीं, दूसरा है मगर दूसरा तुम्हारे विकल्प में रहे, दृष्टि में रहे तो आपको शान्ति का मार्ग नहीं मिल सकता। इसलिए बाह्य विकल्प को छोड़ने की बात कही। प्रकट बाह्य तो छूट रहा यह खुद विकल्प और छोड़ दे। अब खुद छूटकर कहाँ जाएगा? इसका तो अभाव हो नहीं सकता। अभाव दूसरे का भी नहीं मगर उपयोग तो किसी न किसी का आश्रय लेकर ही चलेगा। जब उपयोग है, जब ज्ञानवृत्ति है तो इस ज्ञान में कोई न कोई ज्ञेय निरन्तर बना ही रहता है। ज्ञेय कुछ न रहा ऐसे ज्ञान की कभी कोई स्थिति नहीं रह सकती। ज्ञानी ने किसी बाह्य पदार्थ का तो त्याग कर लिया उसका उपयोग नहीं कर रहा तो स्वयं को छोड़कर जाएगा कहाँ। वह विषय होकर आत्मतत्त्व का विषयभूत बनेगा। वह भली बात है। ऐसी स्थिति में यह मैं एक हूँ, अच्छा यह तो एक हो गया मगर उस एक में भी जो नाना घुसे हुए हैं उनको भी अपने से अलग हटाना है। यह मैं सारा आत्मा एक हूँ

मगर इस आत्मा में रागद्वेष क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का प्रवेश नहीं है। जो नाना तरंगें चल रही हैं वे भी यह मैं नहीं हूँ। तो मेरे में और जो नाना बातें है उनसे भी अपने को निराला बनाना है, ये क्रोधादि कषायें मैं नहीं हूँ। मैं तो एक चैतन्यस्वरूप हूँ अब उस जानन में भी नानापन हटाया गया। और नानापन को हटाकर अपने को एक देखा, जानन में भी मतिज्ञान को जाना, यह ज्ञेय हुआ, भिन्न-भिन्न प्रकार के ये ज्ञान बनते हैं। ये ज्ञान नानाहैं, इन रूप मैं नहीं हूँ किन्तु मैं एक जानन सामान्यमात्र हूँ। जो विशेष-विशेष ज्ञान उठते हैं उन रूप मैं नहीं किन्तु मैं एक सामान्य ज्ञानमात्र हूँ। सामान्य ज्ञानमात्र मुझ में सब पर्यायें सामान्य मत देखें किन्तु एक शाश्वत अन्तः प्रकाशमान द्रव्य दृष्टि का विषयभूत वह एक ज्ञानभाव को देखें। यह हूँ मैं, जब अपने को ढूंढने चलें तो वह मैं साहब यह मैं नवाब इन सबके बीच, कहाँ यह मैं गुप्त हूँ, यह मैं मिला, बाकी तो सब विकल्प की बातें हैं। उस अपने आपके एक का परिचय करना है और उस ही में अपने आत्मा का अनुभव करना है कि यह हूँ मैं। अन्य कुछ मैं नहीं हूँ। अगर यह दृष्टि आती है तो आपने सर्वसमृद्धि पाली।

कीचड़ की उलझन—भैया यह बाहरी सम्पदा, यह धन वैभव ये लोग, ये बाहरी बातें ये सब कीचड़ हैं। बर्बादी के हेतु भूत हैं। ये मेरे से अत्यन्त भिन्न हैं। उनके लगाव से कुछ सिद्धि नहीं मिलने की। होता है ना एक गोरख धन्धा। तारों का उसमें एक ऐसा छल्ला रहता है कि वह उधर फँस जाए तो निकलता नहीं है और अगर निकल जाए तो फँसता नहीं है। मानो किसी तरह छल्ला फंस गया अब उससे कहा गया कि भाई इसे उसी तरह फँसाओ तो वह बहुत-बहुत हैरान होता है पर वह नहीं फंसता है, बल्कि ज्यों-ज्यों उसे फँसाया जाए त्यों-त्यों वह उलझता जाता है, ऐसा यह गोरख धन्धा है। तो अपनी जिन्दगी में सभी लोग अपनी-अपनी बात सोच लें। कभी सोचा था कि बस १५—२० वर्ष की और बात रह गई, जहाँ इन लड़कियों की शादी कर दी बस मैं स्वतंत्र हो जाऊँगा, फिर मैं खूब धर्म साधना में लगूँगा पर होता क्या है कि एक समस्या सामने खड़ी हो जाती है। कभी सोचा था कि विवाह करलें फिर तो हमें बनी बनाई रोटियाँ मिलेंगी, हमें कोई बात की चिन्ता न रहेगी, पर होता क्या है कि बाल बच्चे हो जाते हैं तो उनकी चिन्ता लद जाती है अपने को वे और भी फँसा हुआ अनुभव करते हैं तो वहाँ तो लड़ाई होने के अधिक मौके आते हैं। भला बतलाओ चाहते तो थे कि मैं स्वतंत्र हो जाऊँ पर हुआ क्या कि फंसाव और भी अधिक बढ़ गया।तो भाई ठीक है। स्वतन्त्र होना चाहें तो स्वतंत्र हो सकते हैं मगर स्वतंत्र होना है तो अपने आपके आधीन रह जाइए? कैसे? सबका ख्याल छोड़ दो, सबका आश्रय छोड़ दो। तो आप कहेंगे कि तब तो मुनि बनें तब ही बात बनेगी। हाँ तब ही तो बनेगी। तो फिर वह स्वतन्त्र कहाँ, वह तो हो गया परतंत्र। श्रावकों के आधीन हो गया। तो भाई साधु परतन्त्र कहाँ है? वह तो अपनी साधना कर रहा, स्वाधीन रह रहा। जब कभी क्षुधा की वेदना हुई तो चर्या के लिए निकल पड़े जहाँ सुयोग बन गया वहाँ से आहार करके चले आए। वहाँ

श्रावकों के आधीन कैसे कहा जाए? अब अगर श्रावक लोग साधु को आहार दान देने के लिए सोचें, इन्तजाम करें तो उससे तो उन्हें पुण्य का बन्ध होगा। वह तो एक भली बात हुई। यदि यह बात न होती तो फिर लड़के बच्चों की सेवा करते या और भी अनेक नटखट करते, फिर क्या पुण्य कमा लेते? उस निर्ग्रन्थ अवस्था में स्वतन्त्रता है, पराधीनता नहीं। उनका किसी से कुछ लेन देन नहीं। वे तो अपने आत्मा की आराधना में रहते हैं। अगर आत्मा की आराधना नहीं करते, यहाँ वहाँ की बातों में फँस जाते हैं, अपना कर्त्तव्य नहीं निभा पाते हैं तो यह तो उनकी कमी है। वे तो फिर परतन्त्र ही कहे जाएंगे, मगर उसका अर्थ यह नहीं कि मार्ग खराब है। अपने कल्याण का मार्ग यही है, तिरने का मार्ग यही है।

ऊँचा लक्ष्य होने पर सफलता की आशा—कुछ लोग तो सोचते हैं कि जब मोक्ष है नहीं इस काल में तो मुनि क्यों होते हैं, मगर आप एक बात रखिए—जब आप कोई काम करते तो आप बहुत ऊँचा भाव रखते हैं और बहुत श्रम करने की उमंग रखते हैं तब प्रयास के बाद कुछ अनुरूप सफलता पाते हैं। आप और भी देख लो। आपकी कोई बड़ी बात कब बनेगी, उस अनुभूति के लायक आपके भाव कब बनेंगे? जब बहुत बड़ी उम्मीद लेकर चलेंगे। प्रकृति भी आप अपने आप की देख लो। आप कोई बहुत बड़ा धर्म का प्रोग्राम रखते हैं तो कहीं धर्म की कणिका पा लेते हैं। बात यह कह रहे हैं कि हम आपको अनादिकाल से ऐसी वासना लगी है कि हम चाहते हैं कि खूब धर्म करें। बहुत चाहते हैं कि खूब धर्म करें। बहुत चाहते हैं तब थोड़ा कर पाते हैं। हम आप सभी लोग चाहते कि नहीं कि हम जाप में बैठें तो एकदम सबका ख्याल छोड़कर अपने आप में एकदम मग्न हो जाएं मगर होता क्या है कि जाप में बैठे नहीं कि थोड़ी ही देर में मन चलित हो जाता है। कहीं थोड़ा सा आनन्दमग्न हो पाते हैं। जब कोई बड़ा काम करना बिचारें तब कहीं छोटी बात पा सकेंगे और अगर पहले से ही छोटी बात करना विचारें तो फिर उससे बहुत ही छोटी बात पा सकेंगे। आप जितना बड़ा लक्ष्य बनायेंगे उससे कई हजार हिस्सा कम आप कर पाएंगे। इसलिए हमें लक्ष्य ऊँचा ही बनाना चाहिए और अपनी प्रवृत्ति बड़ी ऊँची करनी चाहिए। और ऊँचे ढंग से धर्म साधन की बात बनेगी तो उसमें प्रयत्न करने पर हम आप सफल हो सकते हैं। बात यह कही जा रही है कि हमें अपना लक्ष्य ऊँचा ही बनाना है, छोटा लक्ष्य बनाकर धर्ममार्ग में मत लगें। ऊँचा लक्ष्य क्योंकि मेरे में जो अन्तः प्रकाश मान शाश्वत मेरा जो ज्ञानभाव है वहीं मैं हूँ। मुझे वही रहना है, मुझे अन्य बात न चाहिए, ऐसा अपना एक संकल्प और प्रयत्न बनायें। ऐसा लक्ष्य बनने पर हम कुछ धर्ममार्ग का प्रयोग भी कर सकेंगे। पूरा प्रयोग तो न कर पाएंगे क्योंकि अनादि वासना ऐसी लगी है, मगर लक्ष्य बनायेंगे तो आप उसे थोड़ा प्रयोग कर सकेंगे। जैसे व्यापार करने वाले व्यक्ति का बड़ा लक्ष्य होता कि नहीं कि हमें तो इतनी बड़ी दुकान बनाना है। वह बड़े साधन बनाता है, बड़े-बड़े यत्न करता है पर वह थोड़ा सफल हो पाता है। यहाँ ही देख लो जो कोई थोड़ा काम करना विचारता है

वह कुछ भी नहीं कर पाता। ऐसी आदत है हम आपकी। तो हमें धर्म मार्ग में पूरा लक्ष्य बनाना चाहिए, फिर लक्ष्य करके उस पर चलें तो हम थोड़ा सफल हो सकते हैं। तो अनेकान्त से च्युत होने के कारण वह पदार्थ कुछ नहीं मिला, हौवा मिल गया। वह ब्रह्मस्वरूप एक है, अखण्ड है, सबमें भरा है। पर्यायरहित मानने पर उससे समझे क्या जैसे हौवा होता है बच्चे को चुप करने के लिए माँ कहती है—अरे चुप रहो देखो हौवा आ गया? अब वह हौवा क्या है? किसी ने आज तक हौवा देखा है क्या? कैसा होता है? उसको न किसी ने देखा, न कोई उसका क्षेत्र, न कोई प्रयोग में ही चीज, मगर हौवा का बड़ा भारी डर बैठ गया। वह बच्चा उस हौवा का नाम सुनते ही रोना बन्द कर देता है, चलो वह भी अच्छा है कोई अद्वैत ब्रह्म मानकर ब्रह्माद्वैत के धर्ममार्ग में बुद्धि बनाकर पापों से बचेंतो चलो यह भी ठीक मगर वे सोचते हैं कि ब्रह्म तो खुद बनता नहीं है ब्रह्म सोचता ही है तो स्याद्वाद से गिर जाने पर हम अपने आप की दृष्टि में सफल नहीं हो पाते।

सर्वात्मक एक आत्ममात्र सिद्ध करने का साहस—जीव तत्त्व के बारे में कुछ आलोडन चल रहा है, अद्वैतवादी कहते हैं कि जीव एक है, पर ब्रह्म स्वरूप है, उसमें कभी परिणमन नहीं होता। केवल चैतन्य स्वरूप है इसमें वृत्तियां नहीं उठती जो वृत्तियां उठी हैं वे सब प्रकृति की चीज हैं। यों जीव को अद्वैत ब्रह्म सिद्ध करने के लिए एक हेतु यह दिया करते हैं कि देखो भाई प्रत्यक्ष प्रमाण से केवल विधि जानी जाती है, निषेध नहीं जाना जाता, याने हम आँखों से देखेंगे तो सत्त्व दिखेगा, अभाव न दिखेगा। प्रत्यक्ष अभाव का विषय नहीं करता, प्रत्यक्ष किसी का निषेध नहीं कर सकता, विधि तो बना सकता। देखिए वे क्या कहते हैं कि हम आँखें खोलकर देखते हैं तो हमें विधि दिखती है या निषेध? विधि दिखती है विधि के मायने है अस्तित्व। हम अस्तित्व देखते हैं। जो है वह दिखता है और जो नहीं है वह नहीं दिखता है। हम विधि ही देखते हैं, निषेध नहीं देखते। निषेध नहीं दिखता तो सब जगह विधि ही ज्ञात होगी। और वह सब विधि विध्यात्मक है इसलिए एक ब्रह्म है दूसरा नहीं। उन्हीं अद्वैतवादियों का यह कहना है कि हम जो पचासों चीजें समझते हैं कि ये ५० चीजें रखी हैं तो हम यह कब समझेंगे जब यह जानेंगे कि इन में जो एक है वह ४९ नहीं है वह दूसरा भी ४९ नहीं है, इस तरह जब हमें निषेधकाज्ञान होगा तबकहेंगे कि ये चीजें बहुत हैं। देखिए, किसकी चर्चा चल रही है? अपने आत्मा की। यह चर्चा थोड़ी कठिन लगेगी, पर ये १० मिनट गुजार दें फिर सरल हो जाएगी। और १० मिनट भी ध्यानपूर्वक सुनो-क्या कहता है कोई अद्वैत दार्शनिक। उसका मंतव्य है कि दुनिया में केवल चीज ही है ब्रह्म मात्र, और कोई दूसरी चीज नहीं है। दूसरी कुछ चीज है ऐसा जो बोध होता है वह भ्रम से होता है, जैसे स्वप्न में नाना चीजें दिखती हैं तो भ्रम की चीजें हैं इसी प्रकार यहाँ जो नाना चीजें दिखती हैं वे सब भी भ्रम की चीजें हैं। चीज तो एक है ब्रह्म। ऐसा ब्रह्मद्वैतवादियों का कथन है और इसकी घोषणा की गई थी कि देखो भाई नाना बातें तो तब बनेंगी जब यह समझें कि यह तो यही है और कुछ

नहीं है और निषेध का जानने वाला तो कोई प्रमाण नहीं होता। प्रत्यक्ष तो केवल विधि को जानता है, निषेध को नहीं जानता। बात तो सुनने में बहुत भली लगेगी और ऐसा कह कर यह सिद्ध करना चाहते हैं कि केवल एक ब्रह्म है लेकिन यह नहीं सोचा कि जिसे हम यह कह रहे कि प्रत्यक्ष से केवल विधि जानी जाती है तो भले ही विधि जानी जाए मगर एक है इतना ही तो नहीं जाना अनेक जीव हैं परमाणु हैं मेज है, कुर्सी है, दरी है, लोग हैं, यह भी तो ज्ञान हो रहा है कैसे निषेध कर सकते हैं कि दुनिया में दूसरी चीज कुछ नहीं है। केवल एक अद्वैतब्रह्म है।

अद्वैत अन्तस्तत्त्व के परिचय के संदर्भ में—देखिए—७ तत्त्वों के श्रद्धान को सम्यग्दर्शन कहते हैं। उसमें से जीव तत्त्व की बात फिर उठ रही है। जीव नाना नहीं हैं, किन्तु जीव एक है, परम ब्रह्मस्वरूप है, क्योंकि प्रत्यक्ष से विधि नजर आती है। तो समाधान यह है कि विधि तो नजर आती है मगर जैसे आपके लिए आप एक अकेला ज्ञाता होता है और दूसरे के लिए वह खुद भी अकेला ज्ञाता होता है ऐसे ही अनन्त जीव हैं, उनको अपना-अपना अद्वैत ज्ञात होता है। देखिए वास्तविकता तो यह है कि यह जीव अपने आप में अद्वैत है इसमें किसी दूसरे का प्रवेश नहीं, दूसरे का प्रवेश नहीं दूसरे का सम्बन्ध नहीं, अपने आप की सत्ता एक करके अकेला है। इसका दूसरे से ताल्लुक नहीं, ऐसा अद्वैत तो है मगर सारा संसार, सारे चेतन अचेतन पदार्थ ये सब मिलकर एक अद्वैत का ही दर्शन किया जाता है और बताया गया है कि जिसकी द्वैत पर दृष्टि है वह संसार में रुलता है और जिसकी अद्वैतपर दृष्टि है वह मुक्ति पाता है। यह तो जैन सिद्धान्त का भी कहना है लेकिन बात सोचना चाहिए। अद्वैत नहीं है, तो दूसरी चीज नहीं है, ऐसा मान करके नहीं सोचता है, द्वैत है, सब कुछ है मगर किसी दूसरी चीज की दृष्टि करने से आत्मा का हित नहीं है। यह बात वहाँ कही गई है लेकिन ये अद्वैतवादी तो यह कहते हैं कि दूसरी कुछ चीज है ही नहीं, तो देखो जो द्वैत का निषेध करता वह अद्वैतको भी सिद्ध नहीं कर सकता कि दूसरी कुछ चीज है ही नहीं, तो अद्वैत की दृष्टि तुम कहाँ से लाये? इसमें द्वैत शब्द ही तो पड़ा है कि द्वैत नहीं, अद्वैत बिल्कुल ही नहीं है तो उसे मना कैसे किया जा सकता। असत् वस्तु का तो कोई नाम भी नहीं ले पाता है। तो अद्वैत एक ब्रह्म ही नहीं; किन्तु अपने आपको देखिए तो पता पड़ जाएगा अपने स्वरूप का। देखो कई बातें होती हैं केवल एक जानन मात्र को समझने में, लेकिन यह मैं स्वयं आत्मा मात्र जानने से समझ में न आऊँगा, किन्तु प्रयोग किया जाएगा, जानने में उस ज्ञानस्वरूप को रखा जाएगा तो यह समझ में आएगा। जैसे मिश्री का स्वाद वचनों से नहीं आता किन्तु मुख में मिश्री की डली रखें तो स्वाद आता है, इसी तरह आत्मा का स्पष्ट ज्ञान बचनों से न होगा और ऊपरी जानने से भी न होगा, किन्तु अपने आपमें प्रयोग करें तो ज्ञान में आएगा। प्रयोग क्या करना, अपने आप पर करुणा करके किसी समय तो यह प्रयोग करो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ मेरा दूसरी वस्तु से कोई सम्बन्ध नहीं, दूसरी वस्तु से मेरा सम्बन्ध है उससे

मेरा हित है ऐसा मानते जायें और चाहें कि आत्मानुभूति बने तो यह कभी नहीं बन सकता।

अनुभव और आर्षोपदेश के समन्वय से यथा तथ्य का निर्णय—देखो भीतर में जब सत्य ज्ञान प्रकाश होता है तो सारी बात स्पष्ट होती है। जैसे यहाँ जिसने कभी बाहु बलि स्वामी के दर्शन नहीं किया वह चाहे यहाँ घर में ही रहकर उस मूर्ति के प्रति बहुत-बहुत ज्ञान भी कर ले फिर भी उतनी स्पष्टता न आएगी जितनी कि वहाँ श्रवणबेलगोल में जाकर साक्षात् दर्शन करके आएगी। वहाँ साक्षात् दर्शन करके जब अनुभव होता है और वे सब बातें ठीक समझ में आती हैं ओह मैं अभी तक जो चर्चा सुन रहा था सचमुच वैसा ही है तो ऐसे ही जब इस आत्मा को अपने प्रयोग में लेकर अपना अनुभव होता है उसके बाद यह समझता है कि अरे बीसों वर्षों से जो हम शास्त्रों में पढ़ रहे थे कि यह ज्ञान मात्र है, यह परम आल्हाद में है वह सब सच है। देखे पहले तो किया पुस्तकों में ग्रन्थों में जो कुछ लिखा उसके आधार पर आत्मा का विश्वास और जब अनुभव हो गया तो आगम पर ऐसा दृढ़ विश्वास हुआ कि जिनेन्द्र देव ने जो कुछ कहा वह बिल्कुल सत्य अनुभव में आया। तब ही तो सच्चाई जगी और इस डर के मारे कि जिनवाणी ठीक है कैसे जाना। यह एक प्रमाण के साथ नहीं बोला गया। जब भीतर में अनुभव में बात उतर जाती है, वह ज्ञानमात्र स्वरूप जब भीतर अनुभव में आ जाता है तब सच्चाई आती है। ओह जिनेन्द्र देव ने जो कुछ कहा है वह सच है। ऐसा जानकर आत्मा को जानने लगे तो फायदा मिला और जानने पर जिनवाणी में इसकी दृढ़ता हुई। आत्मा की बात परस्पर बोलते हैं। जैसे बतलाओ अच्छा विषयों का त्याग करना पहले चाहिए या तत्त्वसंवेदन करना पहले चाहिए? हर एक का उत्तर जुदा-जुदा होगा। मगर विषयों को भोगते-भोगते कोई ज्ञान कर सका क्या! विषयों में आसक्ति रखकर कोई ज्ञानकर सकेगा क्या! नहीं कर सकता। तो जो ज्ञान करने के लिए उद्यमी होगा उसे विषयों का त्याग करना होगा विषयों का त्याग होने से ज्ञान का प्रकाश होगा और जैसे ज्ञान का प्रकाश बढ़ा वैसे ही विषयों का त्याग बढ़ा, इससे एकान्त रूप से कोई यह नहीं कह सकता कि पहले ज्ञान करे फिर विषय छोड़े या पहले विषय छोड़े फिर ज्ञान करे? अरे जब जैसा मौका मिले वैसा कर डालो। जैसे जिस चीज के प्रति आपकी धुन होती है उसके लिए तो आप अनेक प्रकार के उद्यम करके उसे प्राप्त करते हैं ऐसे ही आत्मा के पाने के लिए भी आप क्यों नहीं उद्यम करते?

आत्महित के लिए सदाचार तत्त्वज्ञान भक्ति आदि सभी सदुपयोग में पूर्वापर श्रेय—कुछ लोग सोच विचार करते कि पहले ज्ञान करें या विषय प्रसंग छोड़ें? अरे यथाशक्ति सब करें। ज्ञानप्रकाश आएगा तो वह सब सही हो जाएगा। लोग कहा करते हैं कि कंजूस धनी बेकार हैं। वह निर्धन से भी खराब है। अच्छा बतलावो—क्या यह बात एकान्त से सच है? मान लो कोई धनी है मगर वह है कंजूस तो क्या वह गरीब से भी खराब है? अरे

किसी समय उसकी बुद्धि बदल जाए तत्त्व समझ में आ जाए तो लोगों के उपकार में वह धन लगा देगा, और गरीब की समझ में आ भी जाए तो वह कहाँ से लगा सकेगा? तो इसी तरह जो विषयों का त्याग करे, अभक्ष्य का त्याग करे और ज्ञान नहीं है तो उसे समझ लो कंजूस धनी की तरह है, लेकिन वह बिल्कुल बेकार तो नहीं है। जिस समय ज्ञान प्रकाश किया उसी समय जो साधना की थी ज्ञान के अभाव में ज्ञान प्रकाश होने पर अब उससे बहुत कुछ सहूलियत आ जाएगी। ऐसे आत्मस्वरूप को, परमात्म स्वरूप को पाने की धुन है तो हर प्रकार के उपाय से उसे प्राप्त कर लो। जैसे जिस चीज पर आपको आसक्ति है उसे आप सामदाम दण्ड भेद आदि सभी उपायों से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं, तो यहाँ भी पाने का प्रयत्न करो। और, देखिए—अगर प्रारम्भ से मन्दिर न आते माँ के साथ, जब बच्चे थे तब माँ के साथ मन्दिर आते थे और माँ ने नमस्कार किया तो आप भी बच्चे थे तो नमस्कार करते थे ना। चाहे ऐसा भी नमस्कार कर डालते थे कि भगवान की तरफ तो पीठ कर ली और दूसरी तरफ सिर नवा दिया, ऐसा भी किया मगर कुछ श्रद्धा तो थी कि मेरी माँ करती है सो मुझे भी करना चाहिए, इससे हमको लाभ है। देखो श्रद्धा से चलते आए, कुछ और बात हुई, कुछ पढ़ा, कुछ स्वाध्याय किया, कुछ पुराण बांचा। सब कुछ करते हुए किसी दिन ऐसा योग हुआ कि तत्त्वज्ञान के लिए उमंग उठी और द्रव्य, गुण, पर्याय, वस्तु की स्वतंत्रता, साधारण गुण, असाधारण गुण सबके प्रकाश का असर आया, एक तत्त्वज्ञान का प्रकाश पाया, उसके प्रति किसी समय कहने लगे कि सब बेकार है। जब तक सम्यक्त्व न हो तब तक हम अभक्ष्य का त्याग न करें, क्या यह कहना ठीक है? अरे करें सब मगर कोशिश करें आत्मतत्त्व के परिचय की। यह समझते रहें कि इसमें जो कषाय मंद होती है तो इसमें लाभ है, मगर मोक्षमार्ग की बात तत्त्वज्ञान से मिलेगी, सम्यक्त्व की प्राप्ति से मिलेगी उसकी बात चल रही है।

मोक्षमार्ग का मार्ग पाने के लिए मैं के निर्णय की नितान्त आवश्यकता—भैया। मैं का निर्णय किए बिना सम्यक्त्व नहीं होता। बाहर में सब निर्णय कर लिया मगर अपने स्वरूप का जब तक निर्णय नहीं है तब तक सम्यग्दर्शन नहीं उत्पन्न होता। मैं क्या हूँ इसे समझने का उपाय है अहंप्रत्यय वेद्यता। भीतर में जो मैं ऐसा जिसके सम्बन्ध में ज्ञान हो रहा है वही तो मैं हूँ! अगर कोई कहे कि भाई मैं नहीं हूँ तो भाई जी मैं नहीं हूँ ऐसा जो ज्ञान कर रहा है वही तो मैं हूँ, निषेध कौन कर सकता है? जो ज्ञानमय पदार्थ हो वही मैं हूँ किसी पर वस्तु के आधीन मेरी सत्ता नहीं है। मैं अनादि से स्वयं सिद्ध अपने आप सत् हूँ और सत् हूँ तो अपने आप परिणमता रहता हूँ। देखो जैसे रेलगाड़ी चल रही है अपनी पूरी स्पीड से और नीचे है पटरी तो देखो रेलगाड़ी को वह पटरी तो नही चलाती। वह तो अपने कारण कलाप से अपने चक्र से चल रही है अपने परिणमन से प्रत्येक पुर्जे में अपना परिणमन है, एक पुर्जे को दूसरा पुर्जा भी नहीं चलाता, वे चल रहे हैं, गाड़ी चल रही है। और कहीं स्टेशन

के नजदीक जाते हैं तो इन्जन तो अपने आपकी शक्ति से चल रहा है, मगर गेटमैन द्वारा किए पटरी के बदल का निमित्त पाकर इंजन का मुख दूसरी ओर हो जाता है इस तरह उधर चला गया। जैसे मोटर को ड्राइवर भीतर बैठकर उसे मोड़ लेता है ऐसे अपने आपके यन्त्र पुर्जे से कोई ड्राइवर रेल ईन्जन नहीं मोड़ता इन्जन तो अपने रफ्तार से चलता रहता है मगर गैटमैन ने लेन बदल दी सो इंजन तो जैसा चल रहा था चलता गया वह अपने रंग में है लेकिन बदली हुई पटरी का निमित्त पाकर यह इन्जन तिरछा चलने लगा। वहाँ कोई कहे कि यह इंजन इस तरह चल दिया तो वहाँ इंजन की चाल पराधीन हो गयी, अरे नहीं, इंजन की चाल पराधीन नहीं है, वह तो जो, उसकी शक्ति है उसके आधीन है। रेलगाड़ी ने कोई उद्यम नहीं किया कि मेरी पटरी बदल जाए। लेकिन जैसा सहज योग मिल गया उधर को मुड़ गई इंजिन की पद्धति रफ्तार ज्यों की त्यों रही ऐसे ही आत्मा सत् है, स्वयं सिद्ध है, इसका उत्पाद व्यय करने में कोई दूसरा समर्थ नहीं है। जो सत् है वह स्वयं अपने आप उत्पाद व्ययध्रौव्य वाला है। तो आत्मा स्वतन्त्रता से अपनी कला से चूँकि प्रत्येक सत् का ऐसा ही स्वरूप है सो अपने ही स्वरूप के कारण निरन्तर उत्पाद व्यय करता चला जाता है। प्रत्येक पदार्थ का उत्पाद व्यय ध्रौव्य उसका अपने आपमें होता है बीच में एक सहज योग ऐसा आया कि कर्मविपाक आया, जो पूर्वबद्ध कर्म हैं उनका उदय आया, कर्मविपाक हुआ तो यह विकाररूप परिणमन करने लगा। अब वहाँ कोई कहे कि कर्म का निमित्त पाकर विकाररूप परिणमन किया जीवने तो जीव का परिणमन परतन्त्र हो गया क्या? अरे यह तो अपने उत्पाद व्यय की धुन लिए हुए था प्रत्येक पदार्थ अपना-अपना ही उत्पाद व्यय करता जाता है। अब सहज योग भी जैसा मिलता है वैसा उत्पाद व्यय की मुद्रा बदलती रहती है, यह सहज योग की बात है फिर भी दृष्टि इस ओर देना है कि यह मैं आत्मा स्वयं सत् हूँ और स्वयं अपना उत्पाद व्यय करता चला जाता हूँ, रात्रि को कल आपने धार्मिक सिनेमा देखा था। उस पर्दे पर नाना प्रकार के चित्र आए तो वे जो चित्र आए थे वे क्या मशीन ने उत्पन्न किए थे, मशीन तो बाहर थी और जो उसमें फोटो आयी वे भी बाहरी चीज थी। जिस वस्तु के जितने प्रदेश हैं उस वस्तु के उन प्रदेशों में परिणमन है। मशीन से चित्र नहीं आए, वह तो चल रही थी मगर सामने फोटो आक्स का ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध था कि वह पर्दा स्वयं अपने आप का रंग बदल रहा था। कैसा जल्दी-जल्दी वह कपड़ा रंग बदल रहा था इतना तेज बदलना हो रहा था उस पर्दे में मगर उसमें निमित्त था वह फोटो आक्स। तो निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध स्पष्ट दिखता है, और स्वतन्त्रता भी अतीव स्पष्ट है।

अपने कर्त्तव्य से न चूकने का अनुरोध—जो जीव है वह ज्ञानस्वरूप है, आनन्दमय है, अनादि से अकेला है अनन्तकाल तक अकेला रहेगा। वर्तमान में उसकी जो विकृत अवस्था है। वह सब औपाधिक है। तथा अपने आपकी ओर से देखो तो मात्र कल्पना की बात है। एक नींद की बात है। जैसे दुःखी-दुःखी तीन चार जीव एक साथ हैं तो वे आपस में अपनी

ऐसी चर्चा व सलाह बना लेते हैं, अपने उपयोग की बात करने लगते हैं कि घर में सभी दुःखी हो जाते है। वस्तुतः सब अपने-अपने में दुःखी है। उन दुःखों को निपटाने के लिए एक तरह की संस्था है, इसके आगे उसका कोई महत्त्व नहीं, जैसे संस्था में रहकर कोई काम ही तो करता है ज्ञान प्रभावना का, धर्म प्रभावना का, परोपकार का कुछ काम ही तो करता है इसी प्रकार गृह संस्था में रहकर सब अपना-अपना काम करते रहते हैं। जिसका जैसा भाव है उसके अनुसार वह अपना-अपना परिणमन करता। मगर इस तथ्य को भूल कर जो परसम्पर्क जोड़ता है वह दुःखी होता है। तो अपने आपके लिए विचारो कि मैं हूँ और सदा रहूँगा। अब कहाँ रहूँगा आगे? इतना तो देखते हैं सामने कि यह शरीर छोड़ना पड़ेगा। इस शरीर को लोग जला डालेंगे, फिर भी मैं आगे रहूँगा। जो भी सत् है उसका मूलतः कभी नाश नहीं होता। जब मैं आगे भी रहूँगा तब कुछ दया की बात चित्त में लाना चाहिए। मैं कैसा रहूँगा आगे? क्या कुत्ता, बिल्ली आदि जैसा जीवन बिताना ठीक रहेगा? नहीं। कोई उत्तम जीवन होना चाहिए, धार्मिक प्रसंग मिलना चाहिए! देखो बाहर के वैभव कितने ही मिल जाएं उससे शान्ति नहीं मिलती और धार्मिक वातावरण मिल जाए तो उसमें उद्धार होने का अवसर है और उस धर्म का आचरण करके मुक्ति मार्ग में आगे बढ़ने का मौका मिलता है। चाहिए तो यह था कि मैं इसी भव से मुक्त हो जाऊँ, मगर नहीं हो सकते, कारण कि हीन संहनन है। जो संहनन हम आपको मिला है उससे मुक्ति नहीं मिलती। मुक्ति तो उसे मिल सकती है जिसे बज्रबृषभनाराचसंहनन मिले जो बड़े-बड़े उपसर्गों को सह सकता है, वहाँ आत्मा का ज्ञान बने, और आत्मा को रास्ता मिले अपने आप में रमण करे तो उसे मुक्ति मिलती है इस समय तो मुक्ति नहीं मिल सकती। आगे हमें जन्म लेना पड़ेगा। कहाँ जन्म लेना पड़ेगा इसकी ओर बहुत ध्यान देना चाहिए।

वर्तमान परिस्थिति में ही धर्ममार्ग बना लेने में कुशलता—देखिए पहले तो सोचा था कि मैं इतनी व्यवस्था और कर लूँ, इसके बाद मैं धर्म साधना में ही रहकर अपना जीवन बिताऊँगा, मगर वहाँ होता क्या है कि उतना समय बीतने पर कोई न कोई समस्या और सामने खड़ी कर ली जाती है। यों कभी भी जीवन में शान्ति पाने का अवसर नहीं मिल पाता। जीवन में अभी तक बड़े-बड़े प्रयत्न कर डाले पर कभी शान्ति न पायी। तो अब तो कुछ विवेक बनाओ। थोड़े दिनों तक प्रयत्न करें और बहुत दिनों तक आनन्द पाएं, बुद्धिमानी तो इसमें है। और इसमें कोई बुद्धिमानी नहीं कि साल दो साल तो मौज लूटा और फिर पचासों वर्ष कष्ट-कष्ट में ही बीतें। तो अब क्या करें कि आगे के लिये अनन्तकाल तक आनन्दमय रहने के लिये एक इस ही भव को आत्म चिन्तन में, ज्ञान और वैराग्य के काम में लगावें, इसमें हम आपकी बुद्धिमानी है। बाहर में जहाँ जो कुछ होता हो होने दो, उसकी कुछ परवाह न करो। खुद सावधान हैं तो सब सावधानी है और खुद ही अगर सावधान नहीं तो कोई सावधानी नहीं है, अपने आपपर दया कीजिए और अपने आप में शान्ति लाभ अभी से

प्राप्त कीजिए। उसके लिए समय लम्बा न करें। जैसे एक बार किसी साल अकाल पड़ गया पानी न बरषा, तो कोई पड़ौसी थे। उनमें से एक के घर में तो १० माह तक के लिए खाने को अनाज रखा था। तो जिसके घर ११ महीने तक खाने के लिए अनाज था उसने सोचा कि मैं एक महीने तो पहले बिना खाये ही गुजार दूँ, बाद में फिर ११ महीने बड़े आराम से खाऊँगा और उधर दूसरे पड़ौसी ने सोचा कि हमारे पास कुल एक माह तक के लिए खाने का सामान है, सो अभी तो एक माह तक खूब खायें, बाद में फिर जैसा होगा सो देखा जाएगा। अब जिसके घर ११ माह तक के लिए अनाज रखा था उसने १०–१५ दिन ही भूखे रहकर बिता पाया कि वह तो चल बसा और जिसने एक माह में ही सब खा पी डाला वह फिर ११ माह तक उस अनाज से गुजारा करने लगा। हम आप यहाँ थोड़े से समय के लिए हैं तो यहीं जो बन सके शान्ति का उपाय सो कर लें तभी शान्ति से रहेंगे आगे का अनन्तकाल कष्ट में न जाएगा। अगर अपनी असली शान्ति के लिए एक इस भव को लगा दिया तब तो फिर अनन्त काल तक के लिए अपनी शान्ति मिल सकती है। अपनी एक ऐसी प्रकृति बनायें अपने आपके अन्दर समस्त बाह्य पदार्थों के प्रति उपेक्षा की वृत्ति रहे, यहाँ की हर बात में अपनी उदारता दिखावें, यदि यह प्रकृति हो गई कि फिर अपने भीतर में धीरता गम्भीरता आदि सबका स्वागत रहेगा।

स्वहित के पौरुष में बड़प्पन—एक बार किसी राज्य में वहाँ का राजा गुजर गया तो मंत्रियों ने अपना निर्णय बनाया कि प्रातः काल होते ही सब लोग इस किले का फाटक खोलेंगे, वहाँ फाटक पर जो सोता हुआ सबसे पहले मिलेगा उसको यहां का राजा बनाया जाएगा। ठीक है। तो प्रातःकाल होते ही सभी मंत्रियों ने किले का फाटक खोला तो देखा कि फाटक पर एक फकीर जो लँगोटी पहिने हुए था वह सो रहा था। उससे सभी मंत्रियों ने कहा–चलो तुम्हें हम लोग राजा बनायेंगे हम सबने ऐसा निर्णय किया है। तो फकीर बोला–हमें नहीं राजा फाजा बनना है हम तो ऐसे ही ठीक हैं। . . . अरे नहीं तुम्हें तो बनना ही पड़ेगा। यह कहकर किले के अन्दर उस फकीर को घसीट ले गए। वहाँ वह फकीर बोला–अच्छा हम राजा तो बन जाएंगे पर हमारी एक शर्त मन्जूर करो . . . क्या ? . . . हमसे राज्य पाट की कोई सलाह मत लेना, तुम सब लोग मिलकर अपना काम करना। . . . अच्छी बात। बहुत से मन्त्री तो ऐसा चाहते ही थे कि नाम मात्र का राजा बना रहे, बाकी काम सब हम कर लें उस फकीर नें अपनी लंगोटी तो एक पेटी में रख दी और मन्त्रियों ने उसे राजसी वस्त्राभूषण पहिनाकर सिंहासन पर बैठा दिया। वह राजा बन गया। कुछ ही समय बीता था कि उस राज्य पर किसी दूसरे राजा ने चढ़ाई कर दी। मन्त्रियों ने राजा के पास आकर कहा महाराज आपके राज्य पर अमुक राजा ने हमला कर दिया। वे बहुत निकट आ गए हैं। अब अपने लोगों को क्या करना चाहिए? तो वह राजा बोला–जरा वह पेटी उठाना। आ गई पेटी अब फकीरने अपने राजसी वस्त्र उतारे लंगोटी पहिनी और कहा कि अपने राम को तो यह करना

चाहिए और लोग जो जाने सो करे। यह कहकर चल दिया। तो भाई अपने चित्त में भी यह बात आए कि अपने राम को तो यह करना है— क्या? अपनी श्रद्धा अर्थात् अपना ज्ञान बनावें और अपने आपकी धुन बनावें अपने आपको तो यह करना है अब दूसरों को जो करना है वे जानें। इतनी बात हम आप सबको करना चाहिए। आप कहें कि हम तो गृहस्थ हैं। क्या करें अरे गृहस्थ हो तो कुछ समय तो ऐसा चिन्ता कर सकते। प्रतीति तो ऐसी बना सकते, भीतर में श्रद्धा तो यह रख सकते कि जगत में मेरा कहीं कुछ नहीं है। मात्र मेरा ज्ञानस्वरूप ही मेरा वैभव है। इतनी बात चित्त में तो बना सकते हो और फिर परिस्थितिवश बच्चों से भी बोलोगे, उन्हें खिलाओगे भी, दुकान आदिक के काम भी करोगे अपना धनार्जनका काम भी करोगे मगर अपनी प्रतीति न छोड़ो। जैसे पतंग भले ही आकाश में चढ़ जाए मगर उसकी डोर यदि हाथ में रहेगी तो वह आपके आधीन है, अगर उस की डोर आप छोड़ देंगे तो वह पंतग कहीं के कहीं पहुँचेगी। जिस पतंग की डोर टूट जाती है वह कहीं बहुत दूर जाकर गिरती है। उसके गिरते ही बच्चे लोग उस पतंगपर टूट पड़ते हैं और उसके धज्जे-धज्जे निकालते हैं। इसी तरह हम आपका यह उपयोग अगर बाहर गया और इस उपयोग की जो डोर है सम्यक्त्व, प्रतीति ज्ञान है। अगर प्रतीति न रखें तो क्या हालत होती? जैसी स्थिति को कोई चाहता कहीं हमें चाहिए अपने आपके विश्राम की स्थिति ऐसा निर्णय बनायें, तो भाई आपका बड़प्पन है। बड़े कुल में पैदा हुए, घन सम्पदा भी यथोचित है और बड़े अच्छे शासन में भी रहते हैं। धर्म मार्ग में लग रहे हैं अहिंसा का वातावरण है, पर्व में भी अहिंसा, क्षेत्र में भी अहिंसा, घर में भी अहिंसा ऐसा तो सुन्दर वातावरण है, इतना बड़प्पन मिला है तो इसको बेकार न खोओ। अगर इस बड़पपन की महिमा न आंकी जो कि संयम, तप, आदिक से महिमा है, अगर इस बड़प्पन की महिमा न आंकी तो फिर निश्चित है कि यह बड़प्पन फिर न मिलेगा।

मात्र अजीव ही अजीव मानने में विडम्बना—सम्यग्दर्शन के विषयभूत मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तत्त्व ७ हैं जीव, अजीव, आश्रव, बंध सम्बर निर्जरा और मोक्ष। उसमें से जीव तत्त्व के बारे में बात चल रही है। ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि जीव तो एक ही है संसार में और इसी कारण सब कुछ जीव ही है, अजीव कुछ नहीं है, ऐसा ब्रह्माद्वैतवादियों का कहना था। वहाँ यह सिद्ध किया गया कि अजीव न हो तो जीवत्व की सिद्धि नहीं की जा सकती, क्योंकि दूसरे को तुम जीव की बात बताओगे तो वचनों से बताओगे और वचन अजीव हैं, इसके अतिरिक्त शास्त्र हैं, अक्षर हैं संकेत हैं और हाथ का हिलाना है यह सब भी समझने में कारण पड़ता है। तो यह अजीव अगर नहीं है तो फिर जीव की बात कैसे समझाओगे। यह बात सुनकर अब चार्वाक बोलते हैं, सब कुछ अजीव ही है। जीव कुछ नहीं है। जैसे आज कल बहुत से लोगों का यह भाव होता है कि जीव कोई चीज नहीं है।बस ये पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु चार का संयोग हो गया, शरीर बन गया, तो इन चार के संयोग में एक

चेतना पैदा हो जाती है। चेतना कोई अलग से पदार्थ नहीं है। तो इस सम्बन्ध में बहुत कुछ बताया गया था। इस समय इतना ही समझना ठीक है कि अगर जीव न हो तो अजीव को समझने का कोई साधन नहीं है। जो लोग मानते हैं कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार ही चीजें हैं जीव कुछ नहीं है तो भला दूसरों को आप समझा कैसे सकेंगे? जो समझ है जो ज्ञान है सो चेतना है, चेतना के बिना समझने की बात नहीं बन सकती। अगर कोई यह कहे कि जो चेतना सामान्य माना है वह भी अजीव ही है। तो जब सब अजीव-अजीव ही हैं तब तो फिर सब शून्य हो जाएगा। समझने की बात ही न आएगी। और देखो बड़े आश्चर्य की बात है कि पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु ये चार चीजें एक में शामिल हो सकती हैं सो तो उसे बताते हैं चार और चेतना इन चारों में शामिल नहीं हो सकती सो उसका नाम भी नहीं लेते। कितने आश्चर्य की बात है पृथ्वी कभी जल बन सकती है कि नहीं? बन सकती है। जल कभी पृथ्वी बन सकता। जल कभी पृथ्वी बन सकता, जल, अग्नि वायु ये सब परस्पर में एक दूसरे रूप बन सकते हैं। देखो चन्द्रकान्त-मणि में विविध पृथ्वी जाति के स्कंध जिनका कि जल बन जाएगा। और जल भी पृथ्वी बन जाता जल के अणु पेड़ बन गए ना तो पेड़ को पृथ्वी माना है तो देखो पृथ्वी बन गए। तो यहाँ परस्पर में एक दूसरे रूप बन सकता है इसलिए चार कहने की जरूरत न थी। एक पुद्गल ही कह देते। भूत ही कह देते, जैसा कि प्रसिद्ध शब्द बनाते हैं तो उनको तो चार कह रहे और चेतन का किसी में अन्तर्भाव नही हो सकता है, क्योंकि उसका एक विलक्षण स्वरूप है। सो उस चेतन का अस्तित्व ही नहीं मान सकते। चेतन अचेतन नहीं हो सकता और अचेतन चेतन नहीं हो सकता। तो जीव है, अजीव ही मात्र नहीं है जीव भी है और अजीव भी है यहाँ तक जीव तत्त्व की बात कही गई थी अब अजीव तत्त्व की बात कही गई।

आस्रव तत्त्व व उसके निमित्तभूत योग की सिद्धि—अब आश्रव तत्त्व की बात सुनो आश्रव क्या है? मन, वचन, काय का परिस्पंद होने का निमित्त पाकर जीव में प्रदेश परिस्पंद हुआ, उससे होता है कर्मों का आना। वह योग है। वही आश्रव कहलाता है। ऐसी बात सुनकर कुछ दार्शनिक बोलते हैं कि जीव तो अपरिणामी है, उसमें प्रदेश परिस्पंद की गुंजाइस नहीं, तब आश्रव तत्त्व कोई चीज नहीं। आत्मा तो क्रियारहित है। जब आत्मा में कोई क्रिया ही नहीं बनती तो आस्रव कैसे हो सकता है? जैसे कि आकाश की क्रिया तो नहीं बनती। यह आकाश उठाकर कहीं धरे या आकाश चलकर कहीं पहुँच जाए यह क्या सम्भव है? नहीं, इसी तरह आत्मा भी कहीं चले या कहीं पहुँचे, यह बात सम्भव नहीं है, ऐसा कुछ दार्शनिक कहते हैं लेकिन यह बात सत्य नहीं है, क्योंकि आत्मा क्रियावान है, आत्मा क्रियावान है उसका हेतु यह है कि आत्मा सर्वत्र अकेला है व अव्यापक है। देखिए—आपकी आत्मा आपके शरीर में है, मेरा आत्मा मेरे शरीर में है। तो यह आत्मा सब जगह नहीं व्यापक हो रहा तो उसमें क्रिया सम्भव है, जो व्यापक है उसकी क्रिया सम्भव नहीं। आकाश व्यापक

है उसकी क्रिया नहीं हो सकती। धर्म अधर्म द्रव्य आकाश में लोकाकाश में व्यापक है उनमें भी क्रिया नहीं हो सकती, किन्तु यहाँ तो अनुभव हो रहा है आपका आत्मा आपके शरीर में मेरा आत्मा मेरे शरीर में तो अव्यापक है ना। सब जगह फैला तो नहीं है इसलिए इसकी क्रिया हो सकती और क्रिया है सो तो यह आश्रव भी बन गया तो यहाँ दार्शनिक वैशेषिक यह कह सकते हैं कि सभी आत्मा व्यापक हैं आत्मा दो तरह के होते हैं व्यापक मानने वाले एक तो ऐसा मानते हैं कि एक ही आत्मा है और सर्वव्यायक है और कुछ ऐसा मानते हैं आत्मा तो अनेक है लेकिन वे सभी के सभी व्यापक हैं। जैसे सिद्ध भगवान एक में एक समाये हुए हैं ऐसा यह आत्मा पूरी दुनिया में सब समाया हुआ है। तो जब सब व्यापक हैं आत्मा तो उनमें क्रिया नहीं बन सकते। जैसे अमूर्त आकाश में क्रिया नहीं बनती तो उनका यह कहना भी सम्भव नहीं, क्योंकि ये लोग काल द्रव्य को व्यापक मानते हैं जो कि अनेक द्रव्यों के परिणमन का कारण है और क्रियावान है ना तो आत्मा भी क्रियावान है।

आश्रव क्रिया व क्लेश हेतुता—देखो इस प्रसंग में बहुत सीधी सी बात है। दो तरह की बात है। एक तो आत्मा को कोई व्यापक मानते हैं कोई अव्यापक लेकिन स्वसम्वेदन से आप समझ लेंगे कि मेरा आत्मा तो केवल मेरे में ही है। मेरा आत्मा व्यापक नहीं। सुख दुःख का अनुभव शरीर के अन्दर रहने वाले आत्म प्रदेश में ही होता है कि शरीर से बाहर के प्रदेश में भी होता है? सो तो बतलाओ? शरीर के बाहर सुख दुःख का अनुभव नहीं होता। शरीर के अन्दर आत्मा के प्रदेशों में ही सुख दुःख का अनुभव होता है इससे सिद्ध है कि मेरा आत्मा मेरे में ही है। मेरे से बाहर नहीं। और, देखिए आत्मा में क्रिया भी होती है, सोच विचार किया, रागद्वेष किया, जो कुछ भी बात हुई सो भी आत्मा के प्रदेश में हुई। आत्मा के प्रदेश से बाहर कुछ नहीं होता, आत्मा स्वप्रदेशों से ही कुछ करता है यह है एक ऐसा ज्ञानामृत कि इतनी बात समझ में आ जाए तो उसकी ममता टूट जावेगी, विपत्ति नष्ट हो जाएगी। जगत में जितना क्लेश है वह सब ममता का क्लेश है। वस्तुतः कोई भाई दुःखी नहीं है किसी को कष्ट नहीं कष्ट तो ममता करके बना रखा है, पर ममता करने वालों की सँख्या ज्यादह है और मोही मोही की परस्पर में बात होती है तो इस ओर दृष्टि नहीं दी जा रही है। इसको जितना दुःख हो रहा सो ममता से हो रहा। कष्ट केवल ममता का है। ममता न करें तो कष्ट न आएगा। आप ही बताओ। जिसमें आपकी ममता है अगर यह ममता न हो तो आपका क्या बिगाड़ है? बल्कि शान्ति है, सुधार है आनन्द है। तो जो यहीं बैठे अपने हाथ की बात है उसे करने में तो पामर (कायर) होते हैं और जो अधिकार से बाहर की बात है इन बाहरी पदार्थों में, परभावों में, परतत्त्वों में, पर पदार्थों में निग्रह अनुग्रह, सुधार बिगाड़ की हठ किए हुए हैं तो कैसे काम बने? एक समझ बनावें कि मुझे जितने भी क्लेश हैं वे इस ममता के कारण हैं, और ममता करना यह झूठ चीज है। कोई हो अपना, तो मानें कि मेरा है, कोई भी तो अपना नहीं।

आस्रव की विपत्तिमयता—इस जीव पर सबसे बड़ी भारी विपदा है मोह की। मोह रागद्वेष का जो आत्मपरिणाम होता है बस वही आस्रव है, विपदा है, दूसरी कोई विपदा नहीं। दूसरे से मेरे में कोई आपत्ति नहीं आती। मैं ही अपने में सोचता हूँ और विपन्न बन जाता हूँ। यों किसी की समझ में आ जाए यह बात भली प्रकार बस उसका आत्मव्यवहार बन जाती है। कोई लोग ज्ञानी बनकर बाल ब्रह्मचारी हो जाते हैं। हुए हैं, उनके चित्त में रंच मात्र भी बाहरी बात चित्रित नहीं होती, क्योंकि समझ रखा है कि अनादि से अब तक भोगा तो है सब कुछ पर उसका सार क्या निकला? कष्ट ही कष्ट मिला देखो भैया। आज यहाँ हैं तो यहाँ के समागम में मोह किया जा रहा और मरकर दूसरी जगह जाएंगे तो यहाँ के समागम की क्या सुध रहेगी? फिर रहेगा आपका कुछ क्या? वहाँ जाकर दूसरा मोह बना लेंगे। फिर तीसरी जगह मोह बना लेगा। क्या बच्चों जैसा खेल मचा रखा है। बच्चों के खेल में यही कुछ-कुछ बात है। लेकिन बच्चों से भी गया बीता खेल कर रहे हैं बच्चे भी, बूढ़े भी नादान भी, कैसा एक झंझट का खेल मचा रखा है? इससे मिलता जुलता कुछ नहीं लेन-देन कुछ नहीं, सम्बन्ध रंच भी नहीं, लेकिन ममता ऐसी बना रखी है कि ऐसा लग रहा कि यह ही मेरा सारा सर्वस्व है जब किसी की स्त्री गुजर जाती तो वह सोचता है कि संसारा सूना है। अब मैं कुछ रहा ही नहीं। पुत्र गुजर गया तो पिता समझता है कि मेरा तो अब जीवन ही नहीं है मेरे कुल का दीपक न रहा पिता गुजर जाए तो पुत्र सोचता है कि हम तो असहाय हो गए। कैसा ममता का खेल मच रहा है। अरे जो बात है उसी में अपना समाधान निकाल लो। परिस्थिति है राग करना पड़ता ठीक है, पर वियोग होने पर उसकी रटन क्यों लगायी जाती? यह अज्ञानता की सूचना देता है।

मोह में विनष्ट अलब्ध वस्तु की ओर आशा होने से निकट प्राप्त समागम से भी संतोष पाने की अशक्यता—एक बुढ़िया थी उसके ७ लड़के थे, उनमें से एक लड़का गुजर गया, रह गये ६ लड़के वह बुढ़िया बहुत बुरी तरह से रोई, तो वे ६ लड़के समझायें— माँ देखो हम तुम्हारे ६ लड़के तो अभी हैं हम लोगों को देखकर तुम खुश रहो, सन्तोष करो, इतना विषाद मत करो। हमको भी दुःख होता है तो माँ कहती है बेटा बात तो सही है, तुम हमारे ६ तो हो मगर जो गुजर गया हमारी दृष्टि तो उसकी ओर रात दिन रहती है। तो ६ लड़के बोले कि इतना मत रोवो। इतना रोवोगी तो हम लोगों में से कोई गुजर जाएगा। तो बुढ़िया कहती है बेटा ऐसी असगुन की बात मत कहो, तुम ६ जरूर हो, पर क्या करें हमारी दृष्टि तो उसी की ओर लगी है जो नहीं है। अब उन ६ में से एक और गुजर गया। ५ रह गये अब उन ५ ने समझाया, अम्मा रोवो मत तो माँ बोली बेटा यह तो ठीक है, पर हमारी दृष्टि तो उन गुजरे हुए दोनों बेटों पर ही रहती है। क्या करूँ रोने लगी। इस तरह एक बेटा और गुजर गया, सबने समझाया पर उसने यही कहा बेटा हमें तो उन तीनों का ही ध्यान बना रहता है, क्या करूँ। इसी तरह से चौथा मरा, फिर ५ वां मरा और मान

लो छठा भी मर गया, जो भी बालक मरे बस उसे वही बालक ध्यान में बना रहे। इस तरह रोते-रोते ही उसका सारा जीवन बीत गया। तो यही अज्ञानता की निशानी है। अज्ञानता के कारण कष्ट ही मिलता है बल्कि वर्तमान में जो चीज प्राप्त है उसमें भी अपना निभाव नहीं करना चाहते। यही धन कमाने वालों की बात है। मान लो किसी के पास एक लाख का धन है, उसमें से यदि एक हजार का टोटा पड़ गया तो उसकी दृष्टि में वह एक हजार ही बना रहता है, उसके पीछे वह बड़ा क्लेश मानता है। यद्यपि अभी उसके पास ९९ हजार का धन है फिर भी अज्ञानतावश उसका सुख भी वह नहीं लूट पाता। जो पास में है उसकी ओर दृष्टि नहीं रहती जो नहीं है उसकी ओर दृष्टि रहती है। तृष्णा में यही हाल होता है। तो जो नहीं है ऐसी चीज पर दृष्टि रखेगा तो उसका क्या पूरा पड़ेगा? आपके पास तो बहुत सी चीजें नहीं हैं, और जो हैं भी आपकी चीज नहीं उसके प्रति आपने कल्पना कर रखी है कि यह चीज मेरी है। कल्पना से ही तो मान रहे कि यह मेरी है। जब कल्पना से ही अपना मान रहे तो फिर सभी मनुष्यों के पास जितना जो कुछ धन है उसे मान लो कि यह मेरा है और आनन्द ले लो। क्योंकि जो इसके पास है इसका भी कुछ उठेगा नहीं और जो दुनिया के पास है उसका भी कुछ उठेगा नहीं। परिस्थिति कराती है। अरे प्रयोजन तो दो रोटी दो कपड़े का है, इन दो के अलावा और क्या प्रयोजन उठाते सो तो बताओ।

धर्मभावना से ही जीवन की सफलता—भगवान की भक्ति हो, ज्ञान की प्रभावना हो, अपने आत्मा के स्वरूप का ध्यान जगे, आत्मतृप्ति हो, मोक्षमार्ग मिले, यह था लाभ उठाने की बात। तो उसे और तो सुध नहीं। बस जैसे एक भजन सा बना है ना नमामि पैसा? उसने पैसा को नमस्कार किया है। तो आप यह समझो कि कितना अपने को हैरान करते हो? अपने को परेशान और दुःखी क्यों बनाये हो? तृष्णा की बात छोड़ो क्या चाहिए क्या न चाहिए? यों बनूं यों बनूं इस धुन को छोड़ो। कर्मों के अनुसार जो कुछ आता है, जो कुछ मिला है। बस उसी में ही अपना रास्ता निकालो और तृप्त रहो रास्ता तो सब निकल आता है। जिसके पास जितना धन है जरूरत से कई गुना उसके पास ज्यादा है, जब गरीबों की ओर दृष्टि दो। तो मालूम पड़ेगा कि इसके पास मुझसे सौवां हिस्सा वैभव है और ये सब भी जिन्दा हैं कोई दुःखी नहीं तो देखो है न प्रायः सबके पास जरूरत से ज्यादा है। इतने भी धन की जरूरत न थी। तो सन्तोष बनाएं और देखो कुछ कर भी नहीं सकते। जितना उदय है उसके अनुसार होता है। उससे ज्यादा कुछ नहीं होता एक बार एक साधु महाराज किसी श्रावक के घर आहार करने आए और आहार करके आंगन में बैठ गए। कुछ उपदेश हुआ। इतने में सेठ की बहू जो करीब ३५ वर्ष की थी बोली महाराज आप इतना सबेरे क्यों आ गए? तो महाराज ने उत्तर दिया बेटी समय की खबर न थी। लोग सुनकर बड़े परेशान हुए कि देखो कितना तो दिन चढ़ आया, १० बज रहे हैं और फिर भी यह बहू यों गड़बड़ बोल रही और मुनि महाराज भी गड़बड़ बोल रहे। इसके बाद मुनि महाराज ने एक बात पूछी बेटी

तुम्हारी उम्र कितनी है? महाराज मेरी उम्र ५ वर्ष की है। अब तो लोग और भी बड़े आश्चर्य में पड़ गए। देखो यह है तो कोई ३५ वर्ष की मगर अपने को ५ वर्ष की बता रही है। फिर मुनिराज ने पूछा तुम्हारे पति की उम्र कितनी है? ५ महीने की। तुम्हारे ससुर की उम्र कितनी? महाराज ससुर तो अभी पैदा ही नहीं हुए। अच्छा यह बताओ बेटी कि तुम ताजा खाती हो कि बासी? महाराज हम तो सदा बासी ही बासी खा रहे हैं, ताजा कहाँ रखा? इतनी बात हुई पर मुनि महाराज तो अपने निवास स्थान पर चले गए यहाँ सेठ अपनी बहू से लड़ने लगा, अरी बहू आज तो तूने हमारी नाक कटादी। मैं इस नगर का सबसे बड़ा सेठ कहलाता हूँ और और तूने इतने लोगों के बीच अटपट बातें कहीं तो सुनने वाले लोग क्या कहते होंगे? तो उस बहू ने कहाकि आप मेरे ऊपर नाराज मत हों, उन्हीं मुनि महाराज के पास चलकर सारी बात समझलो। वे दोनों गए मुनिराज के पास। उन मुनिराज की उम्र २० वर्ष की थी। बहू ने यह पूछा था कि तुम इतने सबेरे क्यों आ गए मायने इतनी छोटी उम्र में तुम साधुपद में क्यों आगए? तो मुनि महाराज का उत्तर ठीक था ना कि बेटी समय की खबर नहीं, यानी कितने दिन हमें जीना है, कब मर जाना है, बच्चे भी मर जाते, तो समय की खबर न थी इसलिए जल्दी ही मैं इस पद में आ गया। दोनों का जवाब सही मिल गया तो सेठ समझ गया कि ठीक कहा। सेठ ने कहा—महाराज यह तो ठीक है मगर आपका जबाब सवाल बड़ा गड़बड़ मालूम होता है। यह बहू तो ३५ वर्ष की है और अपने को ५ वर्ष का बताती है, सो कैसे? तो बहू ने बताया कि महाराज मुझ को ५ वर्षों से धर्म की श्रद्धा हुई है इसलिए हम तो अपनी आयु ५ वर्ष की मानती हैं। धर्म की श्रद्धा बिना जीना कोई जीना नहीं। अगर धर्म के बिना जीने को भी आप आयु में शुमार करें तो हम आप तो अनादिकाल से जीं रहे हैं। तब तो यह कहना चाहिए कि हम तो अनन्तकाल के बूढ़े हैं। सब हैं अनन्तकाल के बूढ़े। तो धर्म बिना जीवन को हम जीवन नहीं समझते, इसलिए हमारी जिन्दगी तो ५ वर्ष की है। और पति की उम्र कितनी? पतिदेव की ५ महीने से इस तत्त्वज्ञान की ओर दृष्टि हुई है, अपने आत्मकल्याण की सुध हुई है इसलिए उनकी आयु ५ महीने की है। और ससुर बोले-महाराज हम तो ६० साल के बूढे हैं, बाल भी सफेद हो गए फिर भी यह कह रही कि अभी ससुर साहब तो पैदा ही नहीं हुए, तो इसका मतलब क्या? तो बहू ने कहा— महाराज, अगर किसी को आत्मज्ञान का प्रकाश न जगा हो तो कैसे हम उसे पैदा हुआ समझें। देखो ससुर साहब अभी भी नहीं समझे, उल्टा लड़ते हैं तो कैसे हम इन्हें पैदा हुआ समझें? इसे भी सेठ समझ गया। अब फिर सेठ बोला—महाराज मेरे घर में प्रतिदिन तीन बार ताजा भोजन बनता है, यह बहू ताजा खाना रोज-रोज खाती है फिर भी यह क्यों कहती कि हम तो रोज बासी ही खा रहे हैं? तो वहाँ फिर बहू बोली—देखिए महाराज सेठ जी ने पूर्वभव में दान पुण्य किया था, धर्म किया था, जिसके फल में इन्हें सब कुछ मिला हुआ है पर आज इस जीवन में कोई नई कमाई कर नहीं रहे तो हम कैसे समझें कि ताजा

खा रहे? वह तो बासी ही कहा जाएगा। तो बात इतनी समझना है कि अपना जीवन माने ज्ञान प्रकाश होने पर। अगर मेरे को आत्मा का ज्ञान प्रकाश हुआ है तो समझो कि मैंने जीवन पाया और एक ज्ञान प्रकाश नहीं है तो मेरा कोई जीवन नहीं है तो यह ही मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत ७ तत्त्वों की बात कही जा रही है।

राग की चिकनाई में कर्मरज का आस्रव—यहाँ आस्रव तत्त्व की सिद्धि कर रहे हैं, आश्रव है क्योंकि इस आत्मा में भी क्रिया प्रदेश परिस्पंद होता है, उसका निमित्त पाकर द्रव्य कर्म का आश्रव होता है। देखो भाई इन बूढ़े आदमियों को ये छोटे-छोटे बच्चे नाती पोते बड़ा हैरान किया करते हैं, और अब उन बच्चों को भी मजा सा मिलता है, वे उस बूढ़े के पास पहुँचते हैं, कहीं मूँछ मरोड़ते; कहीं हाथ झकझोरते, कहीं सिर पर चढ़ते, बड़ा हैरान करते, अब वह बूढ़ा बड़ा दुःखी होता है, रोता है। कभी वह बूढ़ा रोष भी करता है तो बच्चों को यह इच्छा होती है कि मैं इसका क्रोध भी देखता रहूँ। तो वे और भी हैरान करते हैं तो यह तो बतलाओ कि उस बूढ़े को जो हैरानी आयी तो उसकी खुद की गलती से आयी या उन बच्चों की गलती से अरे वह बूढ़ा यदि उन बच्चों से राग न करे उन्हें पुचकारे नहीं, उनको बुलावे नहीं तो वे उसके पास आएंगे ही क्यों? और फिर उस बूढ़े की शकल भी इस ढंग की हो जाती है कि बच्चे लोग उसके पास जाने में डरते हैं पर वह स्वयं ही उनसे राग करके अपने को हैरानी में डाल लेता है। अगर वह बूढ़ा दुःखी न होना चाहे तो क्या करे कि उन बच्चों से राग करना छोड़ दे, इसी तरह हम आप भी जो हैरान हो रहे हैं वह क्यों हो रहे? हम अपने में कल्पनाएं करते और हैरान होते। हमें ऐसा बनना है, यह इस तरह क्यों चलता, यह काम मेरा नहीं बनता, इसने मेरे काम में बाधा डाल दी। अरे तुम बाह्य पदार्थों में राग करते हो इसलिए दुःखी होते हो। बाह्य पदार्थों का राग छूट जाए फिर दुःख का कोई काम नहीं। देखो जिस भगवान के दर्शन करने आप मन्दिर में आते वे भगवान एकाकी हैं, अकेले हैं, शरीर भी कुछ नहीं है सिद्ध अवस्था में। विषय कषाय तो रंचमात्र भी नहीं हैं। अरहंत में भी ऐसा एक अकेलापन है। अकेले में ही आनन्द है। किसी बाह्य पदार्थ के लगाव में आनन्द नहीं है। भ्रम की गुत्थी सुलझ जाना एक सबसे बड़ा धर्म है। भ्रम लगा हैतो जैसे समझ लीजिए एक चिकना घड़ा है, उस पर पानी की बूँद डालते हैं तो वह ढलक जाती है, रुकती नहीं, ठीक ऐसे ही बात राग की चिकनाई में लगी है, जहाँ राग की चिकनाई लगी है वहाँ धर्म की बात शान्ति की बात ठहर नहीं सकती, वह चली जाती है। यह सब सारा जंजाल है, सारा दुःख है। हमें अपने आपको आनन्द में लगाना है तो रागद्वेष मोह से अलग होना चाहिए। इसके लिए यह शस्त्र है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र रूप रत्नत्रयधर्म। इसका पालन करें तो क्लेश दूर होंगे, सब संकट मिटेंगे। घर में रहने को हम मना की बात नहीं कह रहे किन्तु सत्यज्ञान प्रकाशचित्त में लायें। घर में रहेंगे तो शान्त रहेंगे और घर छोड़कर रहेंगे तो शान्त रहेंगे, अगर यह सम्यक्त्व प्रकाश नहीं है तो घर छोड़कर भी

यह शान्त नहीं रह सकता, और सम्यक्त्व प्रकाश है तो घर में रहकर भी पूरा शान्त तो नहीं रह सकते, मगर बहुत कुछ शान्ति का लाभ ले सकते। अगर सच्चा बोध नहीं है चित्त में तो सहाय कोई नहीं, ठीक ज्ञान बने तो आपको आप सहाय हैं, आपको कोई दूसरा सहाय नहीं हो सकता। तो सही सत्यज्ञान भेदविज्ञान से बनता। जीव अजीव में भेदविज्ञान करना है उसके लिए पहले समझतो लीजिए कि हमने भेदविज्ञान नहीं किया, भ्रम बनाएं रहें तो हम पर आपत्ति आएगी ही। आपत्ति ही आश्रव और बन्ध तत्त्व में मिलेगी जीव के मोहभाव उठता है प्रदेशों में परिस्पंद होता है कर्मों का आश्रव होता है फिर यह आश्रव इसके दुःख का कारण बनता है।

अपनी कल्पनाओं से स्वयं को बरबाद करने का प्रयास—कोई कसाई बकरा लिए जा रहा था कसाई खाने में। रास्ते में एक वृक्ष के नीचे वे बैठ गए। तो बकरों की कुत्तों की ऐसी आदत होती है कि जिस जगह बैठते उस जगह पैरों से जमीन को खरोंच देते। तो बकरे ने वहाँ जमीन खरोंच दी। वहाँ एक पैनी नई चाकू निकल आयी। रख गया होगा कोई। अब वह छुरी तो कसाई खाने में थी इसीलिए वहाँ लिए जा रहा था, दूर रखी थी; लेकिन बकरे ने वहीं छुरी निकाल दी तो अब उस कसाई को क्या देर थी वहीं उस बकरे का ढेर कर दिया। तो बकरे ने अपने आप अपनी हत्या का साधन निकाल दिया। तो यों बकरे की तरह हम आप सब संसारी प्राणी अपने आप अपनी हत्या का साधन निरन्तर बनाएं रहते हैं। मोह रागद्वेष के परिणाम होने के मायने हैं अपने आत्मा भगवान की हत्या करना। जिस आत्मा भगवान के प्रसाद से निगोद से निकलकर नाना योनियों को पार करके एक मनुष्य हुए हैं तो मनुष्य बनकर बड़ी कला से यह आत्मा भगवान पर प्रहार कर रहा है। देखो पशु, गाय, भैंस, बैल, घोड़ा आदिक ये जब विषय भोगते हैं तो न ये महफिल बनाते हैं न गाना सुनते हैं न नाच देखना चाहते हैं, न रागरागनी सुनना चाहते हैं। उनके वेदना हुई तो वे अपनी प्रवृत्ति करने लगते हैं और प्रवृत्ति के बाद ६-६ महीने तक को शान्त हो जाते हैं। मगर यह मनुष्य गाना भी चाहता संगीत भी चाहता और स्त्री भी ऐसी ढूंढ़ते हैं विवाह के समय में कि यह नृत्य करना जानती कि नहीं। अच्छा देखें तो सही कि इसका हावभाव बढ़िया है कि नहीं। देखते हैं किसलिए अरे ये कान पाए थे जिन-वाणी की कथा सुनने के लिए और अपना मन पवित्र बनाने लिए मगर इनका दुरुपयोग किया। विषय साधनों में इनका उपयोग किया। कविता बनाएंगे साहित्य रचना करेंगे तो ऐसा गाएंगे कि उसमें विषयों का जोश उमड़े, कलाओं से ही यह अपने विषय कषायों की बात कर रहा है। यह तो यह आत्मा भगवान पर प्रहार है कि नहीं इस प्रहार का क्या फल होगा।

प्रभु से बढ़कर चलने के प्रयास की विडम्बना—बड़ा भयंकर है देखो जो बड़े से बढ़कर चलेगा वह तो गिरेगा किसी बड़े की होड़ करेगा ना? भाई उस सेठ के पास तो इतनी कारें हैं, हमें भी कार लेना। उसके पास इतने साधन हैं, हम तो उससे बढ़कर चलेंगे।

तो वहाँ क्या करेंगे? कहीं चोरी करेंगे, किसी तरह से धन हड़प लेंगे या लोगों को सताएंगे? तो वह तो उसे गिराएगा जो बड़े से होड़ करके चलेगा वहतो गिरेगा लेकिन ये संसार के मोही प्राणी भगवान से भी बढ़कर चलना चाहते हैं। अब इसका क्या फल होगा? आप कहेंगे कि ये संसारी मोही प्राणी भगवान से भी बढ़कर कैसे चलना चाह रहे? जरा समझाओ तो सुनो भगवान कैसा जानते है? जो जैसा है उसे वैसा जानते हैं। एक-एक अणु एक-एक जीव जिसकी जो पर्याय है जिसका जो गुण, जिसका जैसा अस्तित्व वैसा जान रहे हैं और ये मोही प्राणी उसके बढ़कर और आगे बढ़ रहे हैं। जो जैसा नहीं है वैसा जानना चाहता। मकान किसी का है क्या? नहीं, लेकिन यह जानता है कि मकान मेरा है। और सारी बातें समझलों इज्जत, यश, कीर्ति लोग ये सब कुछ मेरे नहीं भगवान तो ऐसा जानने में असमर्थ हैं। भगवान में इतनी ताकत नहीं है कि वे समझ जाएं कि यह मकान इसका है, लेकिन इन संसारी लोगों में इतनी बड़ी ताकत है कि जो ताकत भगवान में नहीं है। उस ताकत का अभिमान है। मकान मेरा है, इज्जत मेरी है, तो भगवान से बढ़कर जो चलेगा उसकी तो दुर्गति होगी। अरे जैसे भगवान चल रहे हैं, जो जैसा है वैसा जान रहे हैं, एक पदार्थ का दूसरा पदार्थ मालिक नहीं, एक का दूसरा भोगनहार भी नहीं, यह सब जान रहे हैं, ऐसा तुम भी जान लो तो तीन लोक के अधिपति हो जावोगे। अरे यह तो एक लज्जाकारक बात कही है। भगवान से बढ़कर कौन हो सकता है ? तो सत्य ज्ञान का जो महत्त्व है बस वही एक वैभव है सत्य ज्ञान। सत्य ज्ञान ही मेरा सर्वस्व है। बाहरी पदार्थ मेरा सर्वस्व है। बाहरी पदार्थ मेरा कुछ नहीं है। ऐसी समझ लावो और इस तत्त्वज्ञान के मार्ग में आगे बढ़ो तो अपूर्व ज्ञान प्रकाश मिलेगा और यह जीवन भी शान्ति में जाएगा और अगले जो भव शेष हैं वे भी शान्ति में जाएंगे और अन्त में परम शान्ति प्राप्त होगी।

आस्रव की योगनिमित्तता का दिग्दर्शन—जीवादि ७ तत्त्वों के श्रद्धान करने को सम्यग्दर्शन कहते हैं। बार-बार अनेक दृष्टियों से इन ७ तत्त्वों पर विचार किया जा रहा है। जीव अनेक हैं। जो पदार्थ अनेक होते हैं उनमें क्रिया देखी जा रही है। जो क्षेत्र से क्षेत्रान्तर होते दिख रहे हैं उनमें क्रिया स्पष्ट है। क्रिया है तब आश्रव है। यदि प्रदेश परिस्पंदन हो तो कर्मों का आश्रव नहीं हो सकता। वह आश्रव होता है मन, वचन, काय के प्रदेश परिस्पंद होने का निमित्त पाकर। आत्मा के प्रदेश परिस्पंद होने को योग कहते हैं। यह ही आश्रव कहलाता है। जो लोग जीव को व्यापक मानते हैं, समस्त संसार में व्यापक है ऐसा जो मानते हैं उनके सिद्धान्त में जीव परिस्पंद नहीं हो सकता, और आश्रव नहीं हो सकता। जीव असर्वगत है। व्यापक नहीं है, क्योंकि परस्पर विरुद्ध नाना क्रिया का वह कारण है, वह अनेक है। जीव एक नहीं है। क्योंकि सम्वेदन से ऐसा ही सिद्ध होता है और अनेक द्रव्य कार्य देखे जा रहे हैं, आप सुखी हैं, हम दुखी हैं, आप ज्यादा ज्ञानवान है, हम कम ज्ञानवान हैं, ऐसा जीवों में जो परस्पर विरोध पाया जाता उससे ही यह सिद्ध है कि जीव सर्वव्यापक नहीं, किन्तु अपने-अपने

पाए हुए देह के प्रमाण है, देखो जीव शरीर प्रमाण है, चींटी का जीव चींटी के शरीर प्रमाण में फैला है, उसे सुख दुःख का अनुभव उतने में ही होता है, हाथी का जीव हाथी के शरीर प्रमाण फैला है, जीव तो सब एकसमान हैं और वह एक असँख्यात प्रदेशी है, लेकिन जैसे दीपक को किसी घड़े में रख दिया जाए तो उसका प्रकाश घड़े के आकार प्रमाण फैलता है और यदि उसे किसी कमरे में रख दिया जाए तो कमरे के आकार बराबर प्रकाश है, इसी प्रकार यह जीव जिस देह में पहुँचता है उस देह के आकार हो जाता है।

वेदनासमुद्घात, कषायसमुद्घात, तैजस समुद्घात व मारणान्तिक समुद्घात में जीव प्रदेशों की क्रिया—कुछ स्थितियाँ ऐसी होती है कि जिन स्थितियों में इस देह के बाहर भी आत्मप्रदेश जाते हैं। जैसे कोई बड़ा तेज क्रोध करे तो वह ऐसा तमतमा जाता है कि उसके आत्मा के प्रदेश कुछ शरीर से बाहर भी निकल जाते हैं। तो लोग कह भी बैठते हैं अजी आप आपे से बाहर क्यों हो रहे? तो आत्मा जो देह प्रमाण है उससे भी ज्यादा जीव के प्रदेश फैल गए तो हो गया ना समुद्घात। कभी वेदना तेज होती हैं, बड़ा तीव्र बुखार चढ़ा है, तपतपी लग रही है, कठिन वेदना है, उस समय भी आत्मा के प्रदेश शरीर से कुछ बाहर जाते हैं। देखो बहुत दूर नहीं जा पाते, केवल शरीर से तिगुने प्रमाण बाहर जा सकते। कषाय में तिगुने प्रमाण जा सकते। विक्रिया समुद्घात, जैसे विष्णु कुमार मुनि को विक्रिया हुई थी तो देह से बाहर भी उनके प्रदेश चले गए। तैजस समुद्घात जब मुनि के दाहिने कंधे से तेजस निकलता है और उसका प्रसार जहाँ तक होता है वहाँ तक किसी जीव को रोग नहीं रह सकता। दुर्भिक्ष नहीं रह सकता, आधि व्याधि कोई नहीं टिक सकता है। सब जगह आनन्द आ जाता है और जब मुनि के कोई संक्लेश परिणाम होता हैतो उनके बांये कंधे से तैजस निकलता है वहाँ तक का सब कुछ भस्म हो जाता है। तो अशुभ तैजस निकलने पर फिर वह मुनि-मुनि नहीं रहता, वह अज्ञानी मिथ्या दृष्टि हो जाता है। बात यह बतला रहे कि तैजस समुद्घात में भी कुछ प्रदेश बाहर निकल जाते। ऐसा ही एक मारणान्तिक समुद्घात होता है। किसी-किसी जीव में होता है कि मरने पर आत्मा के प्रदेश जन्म स्थान तक छू आते हैं, फिर वहाँ से वापिस आकर देह में समा जाते हैं, फिर इकट्ठे सब निकलते हैं वह मारणन्तिक समुद्घात है, लो कुछ स्थितियाँ है ऐसी कि जिन स्थितियों में ये आत्म प्रदेश इस शरीर से बाहर भी निकल जाते हैं।

केवली समुद्घात में जीव प्रदेशों की क्रिया—एक समुद्घात है केवली समुद्घात। केवली समुद्घात में सशरीर भगवान का जब आयु कर्म तो थोड़ा रह गया हो और बाकी तीन कर्म में नाम कर्म जो शरीर का कारण है, गोत्र कर्म जो गोत्र का कारण है वेदनीय कर्म जो साता असाता का कारण है इन तीन कर्मों की स्थिति ज्यादा रह गयी हो। तो देखो मोक्ष जब होता है तो सारे कर्म एक साथ समाप्त होते तब मुक्ति है। उन चार कर्मों में ऐसा नहीं है कि कोई कर्म पहले खिरे, कोई बाद में खिरे। चारों घातिया कर्म एक साथ खिरते हैं।

आयु किसी की मानो आधे घंटे की है और बाकी तीन कर्मों की स्थिति हजारों वर्ष की है तो कैसे आयु के बराबर होती? सो सुनिए यह तो होता नहीं कि आयु भी उनके बराबर हजार वर्ष की हो जाएगी ऐसी उल्टी गंगा न बहेगी। बाकी तीन कर्म आयु के बराबर होंगे। जैसे अरहंत भगवान कायोत्सर्ग सहित हैं तो शरीर के बराबर प्रदेश मोटे फैलकर नीचे से ऊपर तक फैल जाते हैं। वातबलय कर्म १४ राजू फैल जाएंगे। नरक से नीचे की जगह से लेकर ऊपर सिद्ध लोक की जगह तक फैल जाएंगे सिद्धलोक में अभी न फैलेंगे। जहाँ तक बातबलय है उसके पहले तक फैल जाएगे। एक समय में। दूसरे समय में अगल बगल फैलेंगे। जहाँ तक बातबलय मिलती है, तीसरे समय में आगे पीछे फैल गया जहाँ तक बात बलय रहती है और चौथे समय में बातवलय के प्रदेशों तक पहुँच जाएगा इस कहते हैं लोक पूरण समुद्घात। इस स्थिति में सशरीर केवली अरहंत भगवान सारे लोक में व्यापक होते केवल एक समय के लिए। फिर ५ वें समय में जो प्रतर की स्थिति थी याने उससे पहले जो स्थिति थी उतना ही फैल पाएंगे यानी संकोच हो जाएगा, फिर पूरे समय में कपाटाकार अगल बगल जो फैले थे वे रह जाएंगे। और ७ वें समय में डंडाकार जैसे सबसे पहले फैला था सो रह जावेगा। और ८ वें समय में शरीर प्रमाण रह जाएगा। उतनी क्रिया होने के अन्दर ही वे बाकी तीन कर्म प्रायः आयु के बराबर हो जाते हैं। जो थोड़ा बहुत अन्तर रह जाएगा सो इसके बाद अपने आप यह मिट जाता है फिर एक साथ मुक्त होता है।

आहारककाययोग व सुगम जन्म जाति में जीव प्रदेशों की क्रिया—एक आहारक समुद्घात होता है। आहारक ऋद्धिधारी मुनीश्वर के कोई तत्त्व की शंका हो तो उनके मस्तक से एक हाथ का आहारक शरीर निकलता है और जहाँ तीर्थंकर केवली के दर्शन हों वहाँ तक जाता है, दर्शन होते ही वह वापिस लौट आता है। इतने में उनकी शंका का समाधान हो जाता है। देखो यह आहारक शरीर पवित्र है, ऋद्धिधारी मुनीश्वर के निकलता है, पर थोड़ा-थोड़ा अंदाज करलो, जब कोई सन्देह हो जाता है कि इसके बाद कौन सा श्लोक है तो आप कुछ विचार में आते हैं ना, या मान लो बम्बई की खबर आ गई तो आपको ऐसा लगता है कि हमारा दिमाग बम्बई पहुँच गया, और बाद में जब काम निपट गया, बम्बई का काम समाप्त हुआ तो यहाँ फिर आ जाता है। यह तो यहाँ की बात है। जाता कुछ नहीं, दिमाग पर लगता है ऐसा, लेकिन वहाँ आहारक शरीर में बराबर जाता है, तो कुछ स्थितियों में आत्मा के प्रदेश शरीर से बाहर भी हो जाते हैं। पर अन्य सभी समयों में आत्मा के प्रदेश शरीर प्रमाण रहते हैं। एक स्थिति है। जब किसी प्राणी का मरण होता है और दूसरी जगह इसका जन्म होता है और वह जन्म की जगह बिल्कुल सीध में हो, ऊपर हो या पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण आदि किसी दिशा में हो या नीचे हो मगर बिल्कुल सीध में वह जन्म स्थान पड़ता है तो उसके प्रदेश एक साथ इतना फैल जाते हैं कि मरण स्थान से जन्म स्थान तक पूरे व्याप जाते हैं और तुरन्त सिकुड़ कर जन्म स्थान पर पहुँच जाते हैं। एक स्थिति ऐसी होती है कि जो

शरीर से बाहर प्रदेश फैले हुए होते है। शरीर प्रमाण भी नहीं रहते। सिद्ध प्रभु के आत्म प्रदेश जिस शरीर से मुक्त होते हैं उस शरीर के प्रमाण रहते हैं। कारण क्या है कि आत्मा के प्रदेश ज्यादा फैलें या सिकुड़कर थोड़े रह जाएं इसका कारण है कर्म का उदय। जब कर्म सब नष्ट हो चुके तो वे प्रदेश अब न ज्यादा फैल सकते और न सिकुड़ सकते हैं। तो आकार में प्रदेश हैं निर्वाण के समय में उतने ही प्रदेश सिद्ध भगवान के होते हैं और अनन्तकाल तक ऐसी स्थिति होती है। इसे कहते हैं स्वभाव द्रव्य व्यञ्जन पर्याय यों जीव नाना हैं, क्रियावान है, उनके प्रदेश में परिस्पंद होता है, योग होता है वही आश्रव है।

कर्माश्रवण के प्रोग्राम की अहितकारिता—आश्रव एक द्वार है कर्मों के आने का। आश्रव को द्वार कहते हैं। जैसे पानी में नाव है और उसमें छेद हो तो पानी के आने का द्वार है। क्या होगा वह द्वारा खुला रह गया, पानी आता रहेगा तो नाव डूब जाएगी, ऐसे ही हम आपके आश्रव के द्वार हैं तो कर्म आते रहते हैं और हम डूबे-डूबे हुए हैं। अगर कर्मों का बोझ न होता इस पर तो उर्द्धगति स्वभाव से यह तो सिद्ध लोक में विराजमान रहता और वहाँ से चलायमान नहीं होता इसका स्वभाव है उर्द्धगमन का। जैसे तूंबी में कीचड़ मिट्टी भर दी जाए और उसको पानी में डाल दिया जाए तो वह नीचे बैठ जाती है पर धीरे-धीरे कीचड़ पानी के मेल से घुलता जाता है और वह तूंबी ऊपर आ जाती है। इसी प्रकार हम आपके आत्मा में बड़ा कीचड़ लगा हुआ है इसलिए इस संसार समुद्र में हम नीचे डूबे पड़े हुए हैं। जिस दिन यह कीचड़ निकल जाएगा, जैसे भगवान सिद्ध के कीचड़ नहीं है। कीचड़ जब कर्म का समाप्त हो जाएगा तब यह जीव सिद्ध प्रभु हो जाएगा। यहाँ सब कोई अपना प्रोग्राम बनाये रहते हैं। मुझ को जिन्दगी में यह काम करना है। सब के निराले–निराले प्रोग्राम हैं। मुझको इतने फर्म वाला बनना है, इतने कारखाने खोलकर रहना है, मुझे लड़कों को पढ़ाकर ऐसा योग्य बना देना है। मुझे सोसाइटी में नगरपालिका में अपनी इज्जत पाना है यों कुछ न कुछ प्रोग्राम बनाए रहते हैं, मगर वे सब प्रोग्राम गड़बड़ हैं, खोटे हैं, उन पर अधिकार हा नहीं है कि जैसा जीव ने सोचा वैसा हो जाए, क्योंकि वे सब परभाव हैं, पर तत्त्व हैं, पर पदार्थ हैं। किसी भी पदार्थ का दूसरे पदार्थ पर अधिकार नहीं होता परिणमते हैं सब। अपने आपसे परिणमते हें। भले ही विकार होते हैं तो अन्य निमित्त पाकर होते हैं मगर परिणमन तो निमित्त ने नहीं दिया। प्रत्येक पदार्थ अपना स्वतन्त्र स्वरूप रखते हैं। हाँ तो अधिकार तो नहीं मगर प्रोग्राम जुदा-जुदा सबके चित्त में बसे हुए हैं।

निजस्वरूप की सम्हाल करके दुःखरहित होने का अनुरोध—दुःख और किस बात का है? है तो यह भगवान के समान सहज अनन्त आनन्द स्वरूप। आत्मा का स्वरूप तो देखो, जैसा सिद्ध का स्वरूप है 'मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान किन्तु आशवश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान।' हैं तो हम आप अनन्त शक्ति रखने वाले परन्तु पर पदार्थों की आश लगा लगाकर अपने ज्ञान को खो दिया है और

निपट अज्ञानी बना फिर रहा हूँ। तो यह आश्रव द्वार खुल गया, कर्म दनादन आ गये, और इस संसार में रुलते रहे, रुलाते रहे। इतनी तो विपत्ति में पड़े हैं। देखो अगर किसी के चारों ओर जंगल में आग लगी हो, आग उसकी ओर बढ़ती ही आ रही हो, उसके बचने की कोई आशा न हो, फिर भी वह चाहे कि मुझे रसगुल्ले खाने को मिलें तो यह कितने अचम्भे की बात है। तो यों ही हम आप चारों ओर से राग आग में जल रहे हैं, प्रदेश एकदम क्षुब्ध हैं इच्छाओं ने मेरे इस आत्मा भगवान को हिला डाला उससे हम क्षुब्ध हो रहे हैं, ऐसी तो यहाँ विपत्ति है और यह जीव कहता है कि मुझे तो स्पर्शन ही इन्द्रिय का विषय चाहिए, विवाह चाहिए, भोजन मीठा चाहिए, हमें सिनेमा चाहिए। यों पन्चेन्द्रिय के विषयों की आशा बनी हुई है और यह राग आगमें जलता हुआ दुःख भोगता है। ऐसी स्थिति बन रही है कि बना भिखारी निपट अजान। तो भाई अच्छा बनना है। सुखी बनना है, पवित्र बनना है, उत्कृष्ट बनना है, महान बनना है, तो किसी बाहरी पदार्थ की कृपा से न बन सकेंगे। ये बाहरी अन्य जीव या अन्य जड़ वैभव, इनका जब तक लगाव है तब इस जीव की दुर्गति है। अपने आपका सहारा लेना होगा। तो भूतार्थनय से वह मैं अपने आप क्या हूँ, इसकी समझ कराने के लिए ही जीवादि ७ तत्त्वों का वर्णन चल रहा है।

वास्तविक आराम का स्थान निज वस्तुत्व—आखिर हम कहाँ जाएं कि आराम से ठहरें? देखो मानो एक अहमादाबद का बड़ा आदमी इंग्लैण्ड गया। वह इंग्लैण्ड से वापिस आना चाह रहा है। उसकी इच्छा हुई कि मैं घर जाकर थोड़ा विश्राम ले लूं। तो इग्लैण्ड से जब वह चलता है तो वह तो है योरोप में, तो वहाँ लोग पूछते हैं कि बाबूजी कहाँ जा रहे हो? तो वह कहता है कि एशिया में जा रहे हैं। अब एशिया के किनारे आया तो वहाँ के लोग पूछते हैं कि बाबूजी आप कहाँ जा रहे हैं?. . . .इण्डिया। इण्डिया आने पर लोग पूछते बाबू जी कहाँ जा रहे हो? उत्तर मिला अहमदाबाद। तो जैसे वह बाबू जी सबसे हटकर अपने घर वापिस आया वैसे ही जब सब जीवों से हटकर खुद के जीवपर आता है और केन्द्रित हो गया अब खुद के जीव पर आया तो यहाँ अभी यों अटक गए कि मैं मनुष्य हूँ, मैं व्यापारी हूँ, मैं घर वाला हूँ, इस तरह अपने जीवपर आए, लेकिन यहाँ भी आराम का स्थान नहीं मिलने का। अभी इसे और अन्दर जाना है। तो वह उपयोग जो ज्ञानोपयोग है समझदार वह वहाँ से चल उठा, तो मानो कोई पूछता है कि बाबू जी कहाँ जाना है? उपयोग महाराज। कहाँ जावोगे? तो इसका जवाब मिलेगा कि मैं अपने गुणके श्रंगारके स्थान में जाऊँगा। हाँ हमें अपने गुण श्रंगार में जाना है। ये जो बाहरी द्रव्य व्यञ्जन पर्यायें हैं मनुष्य का आकार, इन सब में आ आकर तो हमें विश्राम का स्थान नहीं मिल रहा। हमें तो इस आकार वाले शरीर प्रदेशों से हटकर अपने गुण पर्याय के क्षेत्र में जाना है। वहाँ पहुँचे गुणों की नाना पर्यायें हैं। तो यहाँ पर भी इसकी दृष्टि नहीं मिली। यहाँ से भी चल रहा। कहाँ जा रहे बाबू जी? हम अपने गुण वैभव के क्षेत्र में पहुँचे तो वहाँ, ज्ञान, दर्शन, चारित्र आनन्द वीर्य आदि

अनेक गुण हैं उन गुणों को गिन रहे, उनको देख रहे, उनमें लग रहे, इसमें भी चैन नहीं मिल रही। वहाँ से हटकर अब जाता है। उपयोग महाराज कहाँ जा रहे हैं? हम जा रहे हैं अभेद स्वभाव में। उन समस्त गुणों को जो एक अभेदतत्त्व है वही यह चित्स्वभाव में है उसमें जा रहे, यह उपयोग यों चित्स्वभाव में पहुँचता है तो वहाँ उसे परम विश्राम मिलता है। तो कितना बाहर से हट-हट कर हमें किधर जाकर विश्राम लेना है? एक अपने धाम में।

निजधाम का परिचयः—'जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्माराम, विष्णु, बुद्ध हरि जिसके नाम। राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम?' देखिए इस छन्द में बड़ा मर्म भरा हुआ है। साधारणतया लोग इसे सुनकर यों खुश हो जाते हैं कि इसमें हमारे देवकी पूजा की गई, पर इतना फैलाव नहीं कर रहा यह देव। अन्य देवताओं का फैलाव करते समय भी इसे अनुभूति नहीं जगती। जो भगवान का स्वरूप जानता है वह पूछे कि जरा आप सच्चाई के साथ तो बताओ कि क्या ऋषभदेव भगवान नहीं हैं? अरे तब क्या भगवान है? वह तो नाभिराजा का पुत्र है, मरूदेवी का पुत्र है, इक्ष्वाकु वंश का है, वह भगवान नहीं, तो फिर क्या भगवान है? अरे भाई ये ऋषभदेव जिनका नाम ऋषभ रखा गया वह एक व्यक्ति है, उसके अन्दर रहने वाला जो एक जीव है वह पारिणामिक भाव, वह चैतन्यस्वरूप वह जीवत्वभाव, यह जहाँ कलंक रहित हो गया, जो एक चित्स्वरूप है वह है भगवान। ऋषभदेव भगवान नहीं है, ऋषभदेव के शरीर के अन्दर विद्यमान आत्मा ने अपने स्वरूप का दर्शन करके जो एक प्रभुता प्राप्त की ऐसा विश्लेषण करके जो एक शुद्ध परमार्थ प्रभुता को निरखता है वह कहता है कि ऋषभदेव भगवान नहीं किन्तु ऋषभदेव के अन्दर रहने वाला जो शुद्ध चितस्वरूप है वह भगवान है। भगवान के नाना नाम नहीं होते। तुम तो शिव, ईश्वर, ब्रह्मा आदिक के नाम कहते। किन्तु भगवान के तो २४ नाम हैं जो २४ तीर्थंकर हुए हैं हम नाम लेते हैं महावीर तो झट ध्यान में आता है कि जो त्रिशलानन्दन है सिद्धार्थ का सुत है वह भगवान। अरे भगवान वह नहीं है। भगवान तो एक आत्मा है। वह तो एक महापुरुष हुए, तीर्थंकर हुए हैं उनकाजो आत्मा है, जिसका चित्सामान्य स्वभाव प्रकट हो गया वह चित्स्वरूप भगवान है जो इस शरीर के अन्दर आपका एक चित्स्वरूप नजर आएगा वह भगवान है। और अगर यह दृष्टि डाला कि यह ७०० धनुष के यह ५० धनुष के यह २५० धनुष के, अमुक रंग के जो हैं सो भगवान हैं, अगर ऐसी दृष्टि रही तो यह दृष्टि गलत हो गई। ऐसी दृष्टि जिसे आप देख रहे वह भगवान नहीं वह एक आकार है, वह एक मुद्रा है। उसके अन्दर रहने वाला जो एक सामान्य चित्प्रकाश है वह भगवान है। आप भगवान कीबात समझना चाहें तो कहाँ से समझेंगे? समवशरण के अन्दर साक्षात् विराजमान जो अरहंत भगवान हैं, जिनका मुख चारों ओर से दिख रहा है जिसकी दिव्यध्वनि खिर रही है जो आँखों से दिख रहा है वह भगवान नहीं किन्तु वहाँ ज्ञान के बल से अपने आपके अन्तः विराजमान अनन्तज्ञान अनन्तदर्शन, अनन्तशक्ति और अनन्त आनन्दमय जो एक चित्प्रकाश है वह भगवान है। तो

लो, ज्ञान के द्वारा आप भगवान के दर्शन कर सकते। तो उस समवशरण में भी किसे निरखा एक अपने चित्स्वरूप को। यों देखो जिनशिव ईश्वर ब्रह्माराम, विष्णु बुद्धहरि जिसके नाम ये जिसके नाम हैं। उस धाम में पहुँचने पर फिर आकुलता नहीं रहती।

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम विष्णु बुद्ध के भाव में परमधाम का दर्शन—एक इस आत्मा की बात चल रही है। जिस आत्मा के ये नाम हैं— जिन जो रागद्वेष को जीते उसे जिन कहते हैं। रागद्वेष को जीतने वाला कौन? यह मेरा ही चित्प्रकाश शिव—जो कल्याण स्वरूप हो सो शिव। कौन है कल्याणस्वरूप? कौन है मंगलमय! यह भगवान आत्मा ईश्वर जो सृष्टि करने में स्वतन्त्र हो उसको ईश्वर बोलते हैं। हम आपकी जो सृष्टि बन रही है उसको कौन बना रहा है? तो उसके करने वाला कोई दूसरा नहीं, कोई नया ईश्वर नहीं! आपकी सृष्टि करने वाले आप ही हैं। यह आत्मा ही अपने आपकी सृष्टि कर रहा है। लोक में जो यह बात फैली है कि कोई एक ईश्वर जगत को रचता है, सो बात कैसे फैली? उसका कारण समझो जगत में जितने जीव हैं वे सब अपनी सृष्टि को निरन्तर बनाते चले जा रहे हैं। तथ्य तो यह है। अब चूँकि जीव के भाव बिना कुछ भी नहीं बनता जीव के सम्पर्क बिना तो ये बाँस कपड़ा आदि भी नहीं बनते। पेड़ था, जीव का सम्पर्क था बन गया। तो सब जीव के द्वारा की गई सृष्टि है। तो इस तरह के कितने जीव हैं? अनन्त जीव हैं, उन सब अनन्त जीवों के द्वारा अपनी-अपनी मर्यादित सृष्टि चल रही है। लेकिन जब उन सब जीवों को एक स्वरूप की दृष्टि से देखा तो बोलने में आया कि सब एक स्वरूप हैं, सृष्टि के करने वाले अनन्त जीव या अनन्त जीवों का स्वरूप है एक। जैसे पृथ्वी का पिण्ड बन रहा ना इस तरह से कुछ पुरुषों ने डोर को यहाँ से सीधी लगा दी, यह ईश्वर ने सृष्टि की उन अनन्त जीवों ने और अनन्त जीवों का स्वरूप है एक समान। तो यों कहते, जैसे अभी कहा कि ईश्वर ने सृष्टि की है। तो की है अनन्त जीवों ने अपने आपकी सृष्टि तो यह ही मैं आत्मा ईश्वर हूँ। क्योंकि मैं अपनी सृष्टि को करने में स्वतंत्र हूँ। उस ही को ईश्वर बोलते हैं। ब्रह्मा वह है जो सृष्टि करे। अब सृष्टि कौन कर रहा है! यही आत्मा अतः यह आत्मा ही ब्रह्मा है। यह आत्मा ही राम है। कैसे राम है कि देखिए—रमन्ते योगिनः यस्मिन इति राम अर्थात् योगीजन जहाँ रमण करते हैं उसे राम कहते हैं। योगीजन कहाँ रमण करते हैं? इस चैतन्यस्वरूप में अपने आपके अन्तस्वरूप में। उस अंतस्तत्त्व के प्रसाद से उनकी समाधि बनती है तो राम कौन है? यह भगवान आत्मा विष्णु मायने जो व्यापक हो, सर्वत्र फैला हो, ऐसा कौन है! यह ज्ञान वह ही आत्मा। ज्ञानद्वारा यह सारे लोक में फैला हुआ है। बुद्ध—जो ज्ञानमय हो सो बुद्ध। ऐसा ज्ञानमय कौन है? यही आत्मा भगवान।

आत्मा की पापहरण स्वभावता—हरि जो पापों को हरे। पापों को कौन हरता है? यही भगवान आत्मा। जब भाव बिगड़ता है तो पाप बँधता है और जब भाव सुधरते हैं तो

पाप दूर हो जाते हैं। बंगाल में एक धनिक की लड़की द्रोपदी थी उसका विवाह हो गया दूसरे धनिक के लड़के के साथ। वह दुर्भाग्य से विधवा हो गई तो उसे सुसराल वालों ने अपने घर न रखा, और वह पिता के घर रहने लगी। कोई ऐसा कुयोग हुआ कि उसका आचरण बिगड़ गया। और ऐसा आचरण बिगड़ा कि गाँव भर में सब जगह उसकी चर्चा फैल गई। अब विवाह हुए तो कई वर्ष गुजर गए उसके आचरण बिगड़ जाने का प्रभाव यह हुआ कि उस द्रोपदी के पिता ने उसे बगीचा दे रखा था उसके सारे फल कड़वे हो गए उसके अन्दर बनी बावड़ी का जल कड़वा हो गया। कुछ समय बाद उसके चित्त में ग्लानि आयी ओह मैंने बड़ा दुष्कर्म किया, मैंने अपने आपको ही बर्बाद किया। प्रभु के ध्यान में उसका चित्त लगा, प्रभु की उपासना में उसकी धुन बनने लगी और कुछ वर्ष तक साधना करने के बाद उसे ख्याल आया कि मैं अमुक तीर्थ में जाऊँगी और मैं अमुक देवता पर जल ढोलूँगी और वहाँ मेरे प्राण विसर्जित हो जाएंगें। तो उसने अपने पिता से कहा–पिताजी हमारा तो ऐसा भाव हुआ है कि मैं बैजनाथ तीर्थ धाम जाऊँ और वहां जाकर मूर्ति में जलधारा ढुलाऊँ और वहाँ ही मेरे प्राण विसर्जित हों। तो उसके पिता ने सब प्रोग्राम बना दिया सब साधन बना दिया और गाँव वालों को बुला दिया कि मेरी बेटी आज तीर्थधाम को जा रही है और वहाँ अपने प्राण विसर्जन करेगी वहाँ बहुत से लोग जुड़े। वहाँ बहुत से लोग कह रहे थे देखो १०० चूहों को मारकर बिल्ली हज्ज करने जा रही है। सब जानते थे कि इतना दुराचार करने वाली लड़की तीर्थधाम करने क्या जाएगी मगर चलते समय उस द्रोपदी ने यही कहा कि अब मैं वह द्रोपदी नहीं हूँ जो पहले थी, जिसपर आप लोग मजाक कर रहे हैं। अब तो मेरा प्रभु के चरणों में ध्यान है मैं वहाँ जाऊँगी जल धारा ढुलाऊँगी, वहाँ मेरे प्राण विसर्जित होंगे। यदि आप लोगों को विश्वास न होतो जाइए हमारे बगीचे में फल खाइए बावड़ी का पानी पीजिए, वे सब अब मीठे हो गए हैं। लोग बगीचे में गए तो देखा कि सचमुच आम वगैरा फल मीठे हो गए हैं और बावड़ी का पानी भी मीठा हो गया है। यह था उस द्रोपदी के परिणाम बदलने का प्रभाव आखिर द्रोपदी के साथ बहुत से लोग भी उस तीर्थधाम में गए। उन्होंने देखा कि सचमुच ही द्रोपदी ने वहाँ जल ढुलाया और वहीं उसके प्राण विसर्जित हो गए। तो बात यहाँ यह कह रहे है कि जो अपने द्वारा किए गए पापों को हरे सो हरि।

आत्मदेव की हरिरूपता—मेरे किए हुए पापों को कोई दूसरा हरने आएगा क्या! अरे मैंने ही पाप किया और मैं ही अपने परिणाम सुधारूँ तो पापों को दूर कर सकता हूँ। प्रथम तो भाई यह बात चाहिए कि मैं पापों से दूर रहूँ। थोड़े समय को पाप के भाव आते हैं उस समय अगर न सम्हाले तो उसकी शृंखला बन जाती है उस समय अपने को सम्हाल लिया तो बड़ी शान्तिपूर्वक अपने आपमें बड़ा आराम पावोगे। तो पहली बात है कि पापके काम हमसे बनें नहीं और कदाचित् कर्मविपाक वश बन जाएं तो भी धैर्यपूर्वक उन्हें छोड़ दें। उन पापों को भी कौन दूर कर सकता? जैसे कोई लोग कहने लगते कि हमने तो जिन्दगी

भर पाप किया, अब हमारा उद्धार नहीं हो सकता ऐसा न सोचें। अरे कठिन से भी कठिन पाप हो गए हों तो भी इस आत्मस्वरूप के लक्ष्य में इस प्रभुता के ज्ञान में वह सामर्थ्य है कि जैसे बहुत बड़े ईंधन के ढेर को अग्नि की एक कणिका जला कर भस्म कर देती है इसी प्रकार जब भी भाव सुधरें तो आपके भव-भव के बाँधे हुए कर्म भी झड़ सकते हैं। हिम्मत बनाना चाहिए तो परिणामों की निर्मलता ही हम आपका धन है इसके अतिरिकत हम आप के लिए अन्य कुछ भी शरण नहीं है। ऐसा समझकर "जिन शिव ईश्वर ब्रह्माराम, विष्णु बुद्धहरि जिसके नाम," जिसके ये नाम हैं उस निजधाम में राग त्याग कर पहुँच जाऊँ तो वहाँ फिर आकुलता का क्या काम है। देखो इस छन्द का कितना गम्भीर और कितना आंतरिक में पहुँचाने वाला अर्थ है। यहाँ पहुँचे तो बेड़ा पार। जब तक अपने आप के अन्तस्तत्त्व में पहुँचते नहीं है तब तक उपयोग की भटकना है।

बन्धतत्त्व का परिचय—तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है, ऐसा कहा जाने पर ७ तत्त्वों का नाम बताने वाले इस चौथे सूत्र में जीव अजीव और आश्रव के सम्बन्ध में काफी प्रकाश आ गया है। अब बंध तत्त्व की बात निरखो बंध यह एक तत्त्व है क्योंकि यह जीव का धर्म है पुद्गलका भी धर्म है। धर्म मायने शाश्वत स्वभाव की बात नहीं। धर्म मायने धर्म में एक बात पायी जाती। जैसे कहने लगते ना कि बिच्छू का धर्म क्या है? काटना, तो काटना कोई धर्म कहलाया क्या? वह तो बिच्छू की बात है, इसी प्रकार धर्म जो बंध है वह पुरुष की बात है। यह बात क्यों कहनी पड़ी कि कोई दार्शनिक मानता है कि बन्ध जीव में नहीं है किन्तु प्रकृति में है। अब बतलाओ प्रकृति में अकेले में बन्ध कैसे? बंध तो दो में होता है। दो के बिना बन्धन क्या? एक में बन्ध नहीं होता। तो अकेले जो प्रकृति में बंध मानते यानी बंध अजीव में मानते, जीव में नहीं होता, यह बात एक तो यों ठीक नहीं कि बंध अगर अजीव में हुआ तो बंध का फल भी अजीव भोगे, और बंध का विकार भी अजीव में रहे। जीव को फिर क्यों मोक्ष का उपदेश देते हो? फिर तो प्रकृति को मोक्ष का उपदेश दो। यद्यपि ऐसी बात जैन सिद्धान्त में भी आयी है कि बंध जो होता है तो वह कर्म का कर्म के साथ होता है, इसे कहते हैं द्रव्य बन्ध याने पहले सत्ता में जो कर्म पड़े हैं उनके साथ नवीन कर्मों का बन्ध होता है तो हुआ गठ-जोड़ा का बन्ध, मगर निमित्त भाव तो जीव के साथ कर्म का है ना? ऐसा भी बंध वे साँख्यजन नहीं मानते। वे तो कहते हैं कि बन्ध भी जीव का धर्म है तब ही तो तत्त्व की बात कही गई। यहाँ धर्म के मायने कोई गुण हो, कोई पर्याय हो, कोई बात आती हो उसको धर्म कहते हैं और इस हिसाब से राग भी जीव का तत्त्व है, पर अर्थ भली प्रकार समझ लेना। जीव में कुछ बात गुजरती हो उसी के मायने हैं, तत्त्व या धर्म। यहाँ धर्म का इतना अर्थ है धर्म का यहाँ अर्थ यह नहीं है कि जो निरपेक्ष हो, स्वभाव हो, शाश्वत हो। वहाँ तो द्रव्य की सिद्धि की जा रही है। उस प्रसंग से घटना की बात कही जा रही है। बन्ध जो है वह पुरुष धर्म है, प्रकृति धर्म नहीं है अथवा प्रकृति धर्म है, दोनों का धर्म है। केवल एक में बन्ध की बात असम्भव है। एक का क्या बंधन?

प्रधान के ही बन्धन रहे, यह बात यों सम्भव नहीं कि बन्धन होता है दो चीजों में अब जीव का भी धर्म है ऐसा मानना चाहिए क्योंकि जीव का बंध अगर न मानोगे, पुरुष का बन्ध बिल्कुल ही न मानोगे तो बन्ध का अनुभव भी जीव में न बन सकेगा। और, जब जीव में बन्ध का अनुभव न बनातो मोक्ष तो मोक्ष की जरूरत ही क्या रही ? इसलिए बन्ध जीव में है, केवल प्रधान में नहीं है।

सत्य असत्य के परिचय से सत्य की महिमा का अङ्कन—यह ७ तत्त्वों की बात कही जा रही। देखो अपने-अपने घर की कुछ बात बना लें उससे उसकी बात कुछ ज्यादा स्पष्ट नहीं होती और न उसका कुछ महत्त्व जाना जाता है। अपना लड़का बहुत अच्छा उदार है, ठीक है इतना ही भर देखो और शेष बच्चों को न देखो जो अधिक ऊधमी हैं या उद्दण्ड हैं, दुराचारी हैं उनको न देखो तो अपने बालक की महिमा अधिक चित्त में न समायगी। यह बच्चा बहुत बढ़िया है, यह बात तब समझ में आएगी जब दूसरे के गंदे बच्चे देखें। ये ७ तत्त्व कैसे रखे गए हैं मोक्ष तत्त्व के प्रयोजनभूत जो कम नहीं, अधिक नहीं, यह ही है इसका रहस्य तो जब सब दार्शनिकों के तत्त्वों का कुछ परिचय हो तब यह महिमा आएगी कि धन्य है इन आचार्यों की सूझ। और, जैन आचार्यों ने भी वैद्यक ग्रन्थ बनाया है और अजैन तो अनेक वैद्यक ग्रन्थ हैं किन्तु जब जैनाचार्यों के लिखे हुए वैद्यकी ग्रन्थों को देखेंगे तो उसका क्रम, उसकी बात एक बहुत ही विलक्षण समझ में आएगी। उस वैद्यक ग्रन्थ के शुरू-शुरू में जीव के परिचय से उठाया है। इस जीव का परिचय पहले करायें। जीव क्या है, कैसे आया है, उसमें जाति स्मरण भी कैसे होते हैं जाति स्मरण के भी अनेक प्रसंग बताये हैं ऐसे ढंग से प्रस्तावना उठायी है कि जीव का मूलरूप यहाँ से चला और ऐसा यह जीव ऐसे बना, ऐसे सम्बन्ध हुआ, ऐसे कर्म का बन्ध हुआ। रोग क्यों होता है, कर्म का उदय कैसे आता है, यहाँ से बात उठायी गई है जैन वैद्यक ग्रन्थों में। फिर उसके बाद जो दवाइयों का सिलसिला बताया है वह किस ढंग से आता है। रोग का निदान बताया है तो कैसे बताया है कि कोई आदमी वैद्यक ग्रन्थों को पढ़कर भी जैन धर्मपर श्रद्धाकर जाएगा। ऐसा एक विलक्षण अपूर्व उसमें कथन हैं तो मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत जीवादिक ७ तत्त्व हैं। यह बात समझने के लिए कुछ अन्य दार्शनिकों के तत्त्व की बात कही जा रही है।

जीव में बन्धन परिणति—बंध प्रकृति का धर्म नहीं किन्तु जीवनिष्ठ है ऐसा यहाँ कहा जा रहा है। अच्छा इससे सिद्ध हुआ कि बन्धन जीव में तो स्वभाव विभाव का है और कर्म-कर्म में पुद्गल का बन्धन है और जीव के साथ पुद्गलका जो बन्धन है वह निमित्त नैमित्तिक स्वभाव का है और निमित्त नैमित्तिक भाव का बन्धन यह बड़ा दुःखकारी बन्धन है। अभी गाय का एक दिन का बछड़ा हुआ हो, उस गाय को किसी दूसरे गाँव के किसी व्यक्ति ने खरीद लिया तो बतावो उस गाय को वह कैसे ले जाएगा? रस्सी बाँधकर ले जाएगा, मगर रस्सी बाँधने की भी जरूरत नहीं, वह बछड़े को आगे-आगे अपने कंधे पर रखकर ले

जाता है और गाय पीछे भागती हुई चली आती है बताओ वहाँ गाय किससे बँधी है? कहीं गाय का गला बछड़ा या उस पुरुष के गले से नहीं बाँध दिया गया किन्तु ऐसा ही निमित्त, नैमित्तिक भाव का बन्धन है, मोह का बन्धन है तो यों ही जीव का पुद्गल कर्म के साथ जो बन्धन है वह निमित्त नैमित्तिक भाव का बन्धन है, गठजोड़े का जो बन्धन है वह पुद्गल के साथ है। इसीपर तो लोग कहते हैं कि बतलावो आकाश में किसी चीज का बन्धन हो सकता क्या? आकाश में कोई कर्म बंध सकते क्या? अरे आकाश तो निर्लेप है, अमूर्त है, उसमें दूसरी चीज का बन्धन क्या? तो आकाश की तरह आत्मा भी अमूर्त तो अमूर्त आत्मा के साथ पुद्गल कर्म का बन्धन कैसा! बात तो ठीक है मगर यह जीव है चेतन, जाननहार विकल्प करता है कुछ विशेषता तो है आकाश की अपेक्षा तो विकल्प करने वाले जीव का उस कर्म के साथ निमित्त नैमित्तिक बन्धन हो जाएगा। तो निमित्त नैमित्तिक बन्धन तो यह कठिन बन्धन है। अभी कहीं कोई पंचायत हो रही हो तो वहाँ देखो रिस्तेदार के साथ कितना पक्षपात किया जाता। रिस्तेदार के साथ बन्धन लगा है। काहे का बन्धन है! हाथ में हाथ नहीं फँसा, सिर में सिर नहीं फँसा, पैर में पैर नहीं फंसे काहे का बन्धन है? अरे वह भाव का बन्धन लगा है, जिससे राग किया जाता। तो निमित्त नैमित्तिक का बन्धन बड़ा निकट बन्धन होता है तो यह बन्ध जो है वह जीव का धर्म है, केवल प्रकृति का धर्म है, प्रधान का धर्म है सो बात नहीं कहो यह जीव में बंध होता है?

संवरतत्त्व, निर्जरा तत्त्व व मोक्षतत्त्व का परिचय—अब बंध के बाद कहा है संवर। संवर कहते हैं द्रव्य कर्म के न आने को। भाव कर्म का न आना सो भाव सम्बर रागद्वेष विकल्प विषय इनका न आना सो इसको कहते हैं सम्बर, मायने गुप्ति समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, चारित्र आदि जो परिणाम हैं वह है भाव सम्बर। तो यह सम्बर जीव का धर्म है और निर्जरा भी जीवका धर्म है। विभाव का झड़ना सो निर्जरा है। तो जीव में भी झड़ना होता है और अजीव में भी झड़ना होता है, इसी तरह जीव में भी मोक्ष और और कर्म में भी मोक्ष है। जब जीव कर्म बंधे हुए हैं छुटकारा हो तो दोनों का ही हो देखो जब विद्यालय लगा हुआ हैं, चार बजे छुट्टी की घंटी बजी तो बच्चे लोग कितना खुश होकर उछलते कूदते भागते हैं। उनको मानो अब कोई परवाह ही नहीं हैं, छूटकर एकदम जा रहे हैं। तो उस छुट्टी में जैसी प्रसन्नता उन बच्चों को है वैसी ही मास्टर को नहीं है क्या? मास्टर तो बड़े आराम से जाते हैं, वे बच्चों की भाँति हाथ पैर उछालते हुए नहीं जाते हैं, पर प्रसन्नता उनको भी है। तो यह बच्चों की उनकी उस अवस्था की बात है। अभी किसी बच्चे से कहें कि जरा यह चिट्ठी लेटर बाक्स में डाल आना तो वह सीधे न जाएगा, वह तो उछलता कूदता ही जाएगा, यह उसकी अवस्था की बातहै, और अगर किसी पुरुष से कहा जाए तो सीधे-सादे ढंग से जाएगा। तो अवस्था भेद से प्रसन्नता के बाहरी चिह्न में भेद आ गया मगर छुट्टी होने से दोनों ही खुश हैं। तो ऐसे ही जब छुट्टी होती है तो कर्म भी स्वतन्त्र हो गए और जीव

भी स्वतंत्र हो गया। दोनों में प्रसाद आ गया। तो मोक्ष दोनों का धर्म है। इसी तरह धर्मी और धर्म स्वरूप ये तत्त्व हैं। धर्मी तो २ हैं जीव और अजीव और धर्म ५ हैं आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष। यहाँ धर्म के मायने वह धर्म न समझना कि जिसका पालन करने से मुक्ति मिलती। वह तो धर्म हैं ही और छोड़ा जाए वह भी धर्म है। यहाँ पालन शब्द का अर्थ इस तरह लिया गया है कि जैसे द्रव्य में अनेक शक्तियाँ है, अनेक पर्यायें हैं और शक्ति और पर्याय का समूह द्रव्य कहलाता है तो द्रव्य तो कहलाया धर्मी और शक्ति और पर्याय जितने हैं वे सब कहलाए धर्म। यह न्याय दर्शनकी दृष्टि का धर्म है। तो इस प्रकार ये ७ तत्त्व हुए जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व है।

सात तत्त्व से भिन्न अन्य तत्त्वके अभावरूप तत्त्व की सात में गर्भितता—अब एक बात और विलक्षण आपके सामने आती है एक कोई दार्शनिक कहता है कि आपने तो ७ तत्त्व कहा उनमें एक बात और छूट गई। कहना चाहिए। कौन सी छूटी? वह यह छूटी कि तुम कह रहे कि तत्त्व ७ ही हैं, अन्य नहीं है, तो अन्य नहीं है यह बात तुमने इसमें नहीं जोड़ा। ८ हैं तत्त्व। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, सम्बर, निर्जरा, मोक्ष और ८ वाँ है इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। तुमने जो ८ तत्त्व कहे वह सँख्या तुम्हारी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्य तत्त्वों का अभाव रूप तत्त्व और है, यह एक शंका रखी। सुनने में तों बात ऐसी लगती होगी कि हां बात तो ठीक है, ८ वीं बात छोड़ दी गई है, मगर ८ वीं बात छूटी नहीं है और उसके कहने की जरूरत भी नहीं है। कैसे नहीं छूटी? अन्य तत्त्व नहीं है ऐसा जो अभाव है वह ७ तत्त्वों में शामिल है, इतना ही कहना पर्याप्त है। जैसे इस चौकी को देखो यह पलंग नहीं, पत्थर नहीं, भंडय नहीं, दरी नहीं, ये सब बातें हैं ना? तो ये सब नहीं है, ये सब इसकी सत्ता रूप है। इसकी सत्ता के मायने है कि अन्य पदार्थ नहीं है। तो अन्य पदार्थ का अभाव उस पदार्थ की सत्तारूप पड़ता है इसलिए अभाव को कहने की अलग से जरूरत नहीं है। कोई अभाव सर्वथा तुच्छ नहीं होता, मायने किसी के सद्भावरूप होता है इसलिए ७ तत्त्वों से छोड़कर अन्य का अभाव ७ तत्त्वरूप ही पड़ता है, उसमें तत्त्व की सँख्या का कोई विघटन नहीं होता है।

सात तत्त्वों के परिचय से प्रयोजन की सिद्धि होने से अधिक सँख्या मानने की व्यर्थता—अब एक नई बात और भी देखिए—नैयायिक लोग १६ तत्त्व मानते हैं। ७ से दूने मानते हैं, तो वे तो जैनियों से दूने हो गए कि नहीं दुगुना ज्यादा मान लिया। अरे तो ज्यादा मानने से क्या होता है उसका प्रयोजन तो देखिए—तत्त्वों का प्रयोजन क्या है? इस तरह से उसकी श्रद्धा के क्षेत्र का श्रद्धान करने से मोक्ष मार्ग की प्राप्ति होती है, इसीलिए पदार्थ का स्वरूप कहा जाता है। जैसे बच्चों को पढ़ाते हैं कि द्रव्य ६ हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। वे बच्चे नहीं समझते कि यह किसलिए पढ़ाया जा रहा है, उन्हें भार सा लगता है, ६ द्रव्य रटाने का क्या मतलब है? किन्तु मतलब तो बहुत ऊँचा है। यह

जानना है कि इन ६ द्रव्योंका आपस में एक दूसरे का आपस में सद्भाव नहीं है अत्यन्त भिन्न हैं परस्पर में, इसलिए ममता त्यागो। ममता एक महान पाप है। ममता ही क्लेश है। ममता को छोड़कर दूसरा कोई क्लेश नहीं, वह ममता पाप मिटे तो धर्म बने तो ममता का पाप कैसे मिटे? भेदविज्ञान करें तो ममता का पाप मिटे। भेदविज्ञान कब बने कि जिनका भेदविज्ञान करना है उनका सही-सही स्वरूप समझें, तो जानने में आएगा सब पदार्थ स्वतंत्र हैं, अपनी-अपनी सत्ता को लिए हुए हैं, एक में दूसरे का प्रवेश नहीं है, आप ऐसी बात मानें जब मैं मोह करता हूँ किसी पर पदार्थ में तो वह पूरी बेवकूफी है। पूरी मूढ़ता है। पूरा मोह है। अब यहाँ किसी से कहें कि तुम बड़े मूर्ख हो तो वह झट नाराज हो जाता। अरे काहे को गरम होते! सच बात है। सब मूर्ख हैं क्योंकि अपने आत्मा के सिवाय बाकी जितने पदार्थ हैं उनका लगाव लगा रहे हैं कि ये मेरे कुछ हैं। लगाव लगाने की गुंजाइस कुछ नहीं है, और लगा रहे तो मूर्ख हैं।

शब्दों का सही अर्थ बोध होने पर अनेक आकुलतावों की समाप्ति—अरे भाई कोई कैसी ही गाली दे, उसका सही अर्थ लगा लें तो गुस्सा न आएगा। अव्वल तो जितनी गाली हैं वे सब प्रशंसा के शब्द हैं। प्रथम तो गाली का भी अर्थ आप समझें। गाली भी बुरा शब्द नहीं, वह तो ऊँची चीज है। गाली में दो शब्द हैं गाली, अर्थात् मेरी कीर्ति गाली, यह कहा जा रहा है। अब गाली भी बुरी बात नहीं है। अव्वल तो गाली शब्द ही एक स्तुति कारक शब्द है, कोई बुरी बात नहीं। अब गाली के जितने नाम देंगे उन सबमें स्तुति की बात भरी हुई है। लोग ध्यान नहीं देते उस पर और बुरा मान जाते हैं। बुरा मानने की प्रथा कबसे चली! ये गाली के शब्द जैसे लोग बोलते हैं ना, उचक्का, लफंगा, बेवफूक, नंगा, लुच्चा आदि तो इनको सुनकर लोग बुरा न मानते थे, क्योंकि ये तो प्रशंसा के शब्द हैं मगर जब प्रशंसा की ऊँची बात छोटे आदमी से कही तो उसने यह महसूस किया कि हम इस लायक तो हैं नहीं, यह हमसे बड़ी ऊँची बात कह रहे तो ये मजाक कर रहे, उस दिन से गाली बन गई। जैसे उचक्का। उच्चैः शब्द में स्वार्थे, कःइस सूत्र से क प्रत्यय लगा उचक्का का अर्थ है ऊँचा पुरुष, यानी उचक्का कहकर तो उसकी प्रशंसा की जा रही आप तो पूरे उचक्का हैं याने आप बड़े ऊँचे पुरुष हैं, मगर वह बुरा मान जाता। क्यों बुरा मानता है कि वह इतना ऊँचा है नहीं इसलिए वह महसूस करता है कि यह तो हमारी मजाक उड़ा रहा है। लफंगा का अर्थ क्या है? मार्दव धर्म का पालन करने वाला। नम्रता विनयशील, उसे कहते हैं लफंगा। लफ गए हैं अंग जिसके, अर्थात् नम्र हो गया है सिर जिसका जो बड़ा नम्र हो गया है, जिसके अन्दर मान कषाय नहीं रह गई है ऐसे नम्र पुरुष को ऐसे विनयशील पुरुष को लफंगा कहते हैं। अब इतना नम्र तो कोई हो नहीं और उसे लफंगा कह दिया जाए तो वह तो अपनी मजाक ही समझेगा। बुरा ही मानेगा, पर गाली का एक भी शब्द ऐसा नहीं है जिसका अर्थ बुरा हो। हाँ जो लोग उस गाली के शब्द के साथ माँ बहिन आदि की बात

जोड़ देते हैं वह तो कोई शब्द की बात नहीं है। वह तो शब्द से अलग बात है शब्द तो इकहरा होता है। वहाँ तो जितने भी शब्द मिलेंगे उन सबमें प्रशंसा भरी हुई है। जैसे कहा बेवकूफ तो इस बेवकूफ शब्द में भी दो शब्द हैं बे और वकूफ-बकूफ उर्दू में वाकिफ को भी कहते हैं। वाकिफ का अर्थ है बुद्धि और वे का अर्थ डबल से है। यानी जिसकी बुद्धि डबल हो, जिसका डबल ज्ञान हो जो डबल समझदार हो उसे कहते हैं बेवकूफ। तो गाली का कौन-सा शब्द ऐसा है कि जिसमें निन्दा भरी हो? लेकिन जो छोटा आदमी है उसे बड़ी बात कही जाए तो वह बुरा मान जाता है और वह गाली बन जाती है। अब कोई बड़ा निर्धन हो और उसे देखकर कोई कहे कि आइए कुबेर साहबतो वह तो गाली समझेगा। कुबेर शब्द बड़ा है, किया तो उसने प्रशंसा मगर हल्के आदमी को कहा इसलिए वह बुरा बन गया। इस तरह गाली बन जाती है।

यौगाभिमतः १९ तत्त्वों में मुक्ति प्रयोजकता का अभाव—यहाँ बात यह बतलायी जा रही है कि ७ तत्त्वों में सब बात गर्भित हो जाती है। अन्य तत्त्व मानने की आवश्यकता नहीं है। तत्त्व के सद्भाव में ही तत्वान्तर का अभाव गर्भित हो जाता है। नैयायिक-नैयायिक जो १६ पदार्थ मानते उनके नाम सुनोगे तो पहले नाम सुनते ही आपको ऐसा लगेगा कि क्या नाम तत्त्व में रखा गया? देखो कुछ तो अच्छा है, कुछ बुरा है। जो लोग नकली कोई चीज बेचते हैं तो एकदम नकली तो नहीं बेच सकते। सरसों का तेल बेच रहे, मान लो मूंगफली का तेल सस्ता है तो खालिस मूंगफली का तेल रख ले और कहे कि लो सरसों का तेल तो क्या इसे कोई मान लेगा? न मानेगा और सरसों के तेल में मूँगफली का तेल मिला कर बेचे तो चल जाएगा। कुछ असल भी हो, कुछ नकल भी हो तो वह कुछ चल जाएगा पूरा विपरीत न चलेगा। तो १६ पदार्थ माने हैं, उनमें कुछ तो ठीक हैं, और कुछ अप्रयोजक देखेंगे। इनके क्या नाम हैं? प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, बात, जल्प, बितंडा, हेत्वाभास, छल, जाति और निग्रह ये १६ पदार्थ माने गए हैं। किसी से वाद विवाद हो रहा है और छल करके अर्थ का अनर्थ लगा करके या उसे झेंपा करके डाँट की बात कहकर हरा दे तो इसको भी तत्त्व माना गया है। अब समझ लो कहाँ तो क्या तत्त्व की परिभाषा की है। इन १६ तत्त्वों में बात तो यह है कि तत्त्व की परिभाषा में ज्यादा नहीं चला जा रहा है। तत्त्व की सँख्या ऐसी नहीं रखी गई जिसमें सारी बात आ जाए। संशय रखें तो विपर्यय अनध्यवसाय न आ सका यानी खूब अच्छा सारी बातों का संग्रह तो आ जाना चाहिए था, वह नहीं हो सकता तो ये १६ बातें कहना भी व्यवस्थित नहीं बनता। एक बात और देखिए नैयायिक और वैशेषिक कुछ ऐसे पास-पास के दार्शनिक हैं जैसे दिगम्बर और श्वेताम्बर एक ही जगह में हैं, कोई अधिक भेद की बात तो नहीं है। इस तरह तो नहीं है जैसे श्वेताम्बर और मुसलमान, दिगम्बर और मुसलमान। दिगम्बर और श्वेताम्बर इनका कुछ सम्बन्ध तो है। जैसे णमोकार मंत्र है, चौबीसों भगवान के नाम हैं, कुछ-कुछ बात

तो व्यवस्था की चल रही है। इसी तरह नैयायिक ओर वैशेषिक ये बहुत निकट के जीव हैं, लेकिन देखो तो सही कि वैशेषिक ने जो एक अभाव नाम का तत्त्व माना है कि अभाव भी एक पदार्थ है उस अभाव का तो जिकर इन १६ पदार्थों में आया ही नहीं। जो मित्र हैं उनका एक तत्त्व तो एकदम छोड़ दिया। और कुछ तत्त्व डबल डबल आ गए तो १६ तत्त्व वाली जो सँख्या है वह कोई व्यवस्थित सँख्या नहीं है।

अन्य प्रकार से वैशेषिकाभित सात तत्त्व का विचार—वैशेषिकों ने द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये ६ तो भावात्मक तत्त्व माने और एक अभावात्मक तत्त्व माना। ७ पदार्थ माना है, उनकी भी बहुत कुछ बात कही थी और सामान्यतया यह समझें कि ये कोई ६ अलग-अलग नहीं हैं। पदार्थ एक है। उसी की शक्ति, उसी की परिणतियों को भी दृष्टि में लेकर जोड़ा है तो ये द्रव्य, कर्म आदिक चीजें बन गई हैं। नहीं तो क्या हैं? पदार्थ है यहाँ, उसमें रहने वाली शक्तियों का नाम गुण है। उसमें होने वाली क्रिया का नाम कर्म है, उसमें होने वाले चूँकि पदार्थ बहुत हैं तो सब पदार्थों में पाया जाना वाला जो एक सामान्य धर्म है, जो समझ में आ रहा है वह सामान्य है, एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में अन्तर है, विशेषता है, इसका समझाने वाला जो धर्म है वह विशेष है और चूँकि बुद्धि में हमने द्रव्य से गुण को न्यारा समझा तो अब बिल्कुल न्यारा तो कैसे हुआ? उसी में है तादात्म्यरूप से उस सम्बन्ध को बताने का नाम समवाय है। तो किसी भी तरह से समझ लो, यह कोई अलग तत्त्व नहीं है। इस तरह भिन्न-भिन्न रूप से अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है। वह तत्त्व नहीं, किन्तु मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत तो ये जीवादि ७ तत्त्व हैं, इनमें से एक भी कम किया जाए तो मोक्षमार्ग की बात स्पष्ट समझ में न आएगी और इससे अगर ज्यादा किया जाए तो वह भी समझ में ना आएगा। अब यहाँ कोई जिज्ञासु यह बात रख रहा है कि आपने जीव, अजीव, आस्रव बंध सम्बर निर्जरा और मोक्ष ये ७ तत्त्व कहे हैं तो इसमें सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र इन तीन का तो संग्रह हो न पाया इस कारण यद्यपि यह सर्वज्ञ के आम्नाय से चला आया हुआ कथन है। जीवादि ७ तत्त्व हैं, मगर हमें तो युक्ति संगत नहीं जंचते। इसमें अभी तीन और धरो सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। कम से कम १० तो मान लो। देखो भैया! जिज्ञासु ने अभी मर्म की बात नहीं समझी। अरे सम्यग्दर्शन के विषयभूत तत्त्व ही तो बताये जा रहे हैं, तो सम्यग्दर्शन का ग्रहण कैसे नहीं होता? सम्यग्दर्शन का विषयभूत तो ये ७ तत्त्व हैं। ग्रहण कैसे नहीं होता? जो जाना गया जीव तत्त्व उसमें ही तो उपयोग को स्थिर करना है। सम्यक्चारित्र ग्रहण कैसे नहीं हुआ? तो यहाँ यह समझना चाहिए कि रत्नत्रयका आधारभूत जो जीव तत्त्व है, अजीवतत्त्व है आस्रवतत्त्व सम्बर तत्त्व निर्जरा तत्त्व, तो इसमें तो रत्नत्रय शामिल हो गया। रत्नत्रय इसके अलावा क्या? जीव सम्बर और निर्जरा ये ही तो हो गए सम्यक्चारित्र जीव द्रव्य के अनन्त गुण है, अनन्त

पर्यायें हैं उनमें अनेक धर्म हैं पर इन सबका जो पिण्ड है उसी के मायने जीवतत्त्व है। सम्बर और निर्जरा तत्त्व भी रत्नत्रय से भिन्न चीज नहीं है। और, देखो आश्रव में तीर्थकर प्रकृति, आहारक शरीर, आहारक मनोवर्गणा ये जो पुण्य प्रकृतियां है ये सम्यग्दर्शन के बिना हो सकती हैं क्या? सम्यग्दृष्टि के हीतो तीर्थकर प्रकृति का बंध होता है। तो आश्रव तत्त्व में भी रत्नत्रय की कोई न कोई प्रकाश की बात आयी। छूट कैसे गया रत्नत्रय? जो यह शंका कर रहे हो कि जीव आदि ७ पदार्थ तो तुमने कहा मगर सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र छूट गए, छूट कहाँ से गए? इसमें बराबर रत्नत्रय भी आ गया है। तो यह जो चौथा सूत्र कहा गया है, इसमें जीवतत्त्व से जीव द्रव्य ही या जीव की पर्याय का ही ग्रहण नहीं है। जीव की विशेष पर्याय जो भी हो, रत्नत्रय भी हो वह भी आ गया यों भी वह रत्नत्रय भी जीव में लिया जाएगा। यों देख लीजिए। तत्त्व की ७ संख्या पूर्ण व्यवस्थित है अब मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत सप्त तत्त्वों को जानकर जिज्ञासा होती है कि तत्त्व का वर्णन व्यवहार किस तरह से होता है? तो इसके समाधान में चौथे सूत्र का अवतार है। नाम स्थापना द्रव्यभाव तस्तन्यासः।

अभूतार्थनय से विज्ञात मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत सप्त तत्त्व आदिका निक्षेप द्वारा व्यवहार।—नाम स्थापना द्रव्य भाव इन चार निक्षेपों से जीवादि ७ तत्त्वों का, सम्यग्दर्शन आदि का सभी का व्यवहार होता है, नाम निक्षेप का अर्थ हैं कि गुण क्रिया आदि की अपेक्षा न रखकर जो एक संज्ञा के अर्थ नामका व्यवहार किया जाता है वह नाम निक्षेप है। जिसका नाम रखा उसमें वाच्य की स्थापना करने का नाम स्थापना निक्षेप है। जिस वस्तु का लक्ष्य कियां उसकी भूत भावी पर्यायों का आरोप करने का नाम द्रव्य निक्षेप है और वर्तमान में वस्तु जिस पर्याय में रहती है उस पर्याय का व्यपदेश करना सो भाव निक्षेप है। इन चार निक्षेपों से ही सब पदार्थों का व्यवहार होताहै। अब इसे आत्मा में भी देखो तो आत्मा एक नाम है और इसकी स्थापना हुई है चेतने वाले पदार्थ में। और इसका नाम व्यवहार किया जाता है संसारी मुक्त आदिक जीवों में तो उसमें भी जिस पदार्थ से युक्त हो उस पर्याय रूप में ही इस आत्मतत्त्व को निहारने को भाव निक्षेप कहते हैं। आत्मा का व्यवहार करने के बाद हमारा कर्त्तव्य हो जाता है कि हम आत्मा को पदार्थ समझें और इसकी धुन में रहें। मेरी धुन आत्मा में ही रहने की हो, उसमें ही रमण करने की हो। दूसरा कोई उपाय नहीं है कि जिससे आत्मा का हित हो सके। तो इस आत्मा का श्रद्धान कैसे हो इसके लिए प्रयोजन भूत ७ तत्त्वों की बात कही गई है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध सम्बर, निर्जरा और मोक्ष। तो बात तो समझा दी गई। इन ७ तत्वों का स्वरूप क्या है? यह बता दिया गया लेकिन एक विधिपूर्वक यह बात समझना है कि इन ७ तत्त्वों का या सम्यग्दर्शन, ज्ञान चारित्र का या दुनिया के किसी भी पदार्थ का जो बोध होता है, जो वर्णन होता है, वह वर्णन किस दृष्टि से चलता है?

निक्षेपों के स्वरूपदर्शन में वस्तुत्व का दिग्दर्शन—जैन दर्शन यह कहता है कि नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप इनमें जीवादि ६ तत्त्वों का निक्षेप होता है। निर्णय में जुड़ाव दिया हुआ है। प्रतिपादन की पद्धति होती है। नाम निक्षेप के मायने हैं किसी का नाम रख दिया। अब व्यवहार चल रहा है फलाने चन्द हैं, फलाने लाल हैं। स्थापना निक्षेप के मायने है कि किसी भी पदार्थ में किसी दूसरे पदार्थ की स्थापना कर दो, जैसे मूर्ति में भगवान की स्थापना कर दी, ताश के पत्तों में बजीर, बादशाह आदि की स्थापना कर दी। द्रव्य निक्षेप वह कहलाता है कि जो बात पहले हुई जो बात आगे होगी, उसका वर्तमान में भी निक्षेप करना, कह डालना यह द्रव्य निक्षेप है। और वर्तमान में वर्तमान की ही बात कहना भाव निक्षेप है। यह चार निक्षेपों का स्वरूप है।

निक्षेपों की सँख्या के विषय में दार्शनिकों का विवाद—निक्षेपों के सम्बन्ध में शब्द ब्रह्मवादी का यह कहना है कि दुनिया में कोई पदार्थ है ही नहीं, केवल एक शब्द ही सब कुछ है। शब्द के ही द्वारा सारा निर्णय होता है। केवल एक ही निक्षेप माना, जिसके द्वारा जगत के समस्त पदार्थों का परिचय होता है। तो शब्द ब्रह्मवादी यहाँ यह कह रहे कि दुनिया में जो कुछ है सो शब्द ही शब्द है। शब्द के सिवाय और कुछ नहीं। तो जैसे आप सोचते होंगे कि यह धूल दिख रही है। ये आदमी दिख रहे, ये चौकी पत्थर आदि दिख रही, क्या ये चीजें नहीं हैं। तो शब्द ब्रह्मवादियों का कहना है कि इन चीजों में शब्द घुसे हुए हैं और जब ज्ञान करते हैं तो भीतर में उसके नाम के शब्द उठ आते हैं—जैसे भींट कहा तो भी और ट ये जो शब्द हैं ये वास्तविक हैं, ये शब्द उस भींट में बिंधे हुए हैं इसलिए सही जान रहे। उनका कहना है कि दुनिया में शब्द ही है, और कुछ नहीं है, इसे कहते हैं नाम निक्षेप। शब्द ब्रह्म अनादि से हैं तो शब्द ब्रह्म का जिससे तादात्म्य है उसी का ज्ञान होता है, यानी जिसका ज्ञान किया उसका शब्द जरूर नियत होता है। उन शब्दों से इसका तादात्म्य है तब ज्ञान होता है, यह कह रहे हैं शब्द ब्रह्मवादी। बात सब पदार्थ नाम रूप है, इसलिए नाम रूप से ही व्यवहार होता है। जीव की प्रवृत्ति का प्रधान कारण शब्द है दूसरा नहीं है इसलिए शब्द ही एक निक्षेप है मात्र नाम निक्षेप ही सही है। चार निक्षेप मत बताओ। तो कोई कहता है नहीं। सब कुछ एक स्थापना ही स्थापना है हम कल्पना में कुछ बात सोचते हैं तो हमें चीज मालूम होती है। एक कल्पना की भींट है यही है वास्तविक बात, भींट वास्तविक चीज नहीं है। स्थापना ही वास्तविक है, और देखो—भविष्य में राजपुत्र राजा बनेगा, हम अभी से कुछ समझ रहे हैं तो सब हमारी कल्पना की बात है नाम भी कल्पना में आ गया। किसी का कोई नाम धरे तो कल्पना ही तो करेगा कि यह फलाने चन्द हैं, तो यह स्थापना की बात क्या रही है? स्थापना में नाम भी आया, द्रव्य भी आया, और भाव भी आया। स्थापना के सिवाय और कुछ तत्त्व नहीं है ऐसा एक स्थापनावादियों का, कल्पनावादियों का मंतव्य है। तो कोई कहता है कि नहीं, एक-एक द्रव्य ही है द्रव्य तत्त्व। देखते हैं कि कोई बात होगी

यह बात चित्त में समायी रहती है तो कोई कहता है कि यह भाव ही जीव है। वर्तमान पर्याय का कथन करना यह ही तत्त्व है। तो इन चार में से एक-एक मानते हैं लोग, तो उनकी समस्या का समाधान करने के लिए इस पंचम सूत्र का अवतार हुआ है **नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः।**

नामनिक्षेप की प्रथमावश्यकता का दिग्दर्शन—देखो नामनिक्षेप माना गया है नाम धरने को किसी का नाम रख दिया जैसे देवदत्त, जिनदत्त तो उसे जिनेन्द्र भगवान ने दिया क्या? या किसी देव नें दिया क्या? जो उस लड़के का नाम इस तरह से रखा गया। नाम जो धरा जाता है उसमें गुण की अपेक्षा नहीं होती है, और नाम कोई अपना हल्का नहीं पसंद करता है। पहले जमाने में तो लोगों का नाम घसीटे मल, करोड़े मल आदि रखा जाता था, पर आज कल इस तरह के नाम रखना कोई नहीं पंसद करता। ऊँचा नाम रखते हैं जैसे पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ वगैरह तो ऊँचा नाम धर देने से कहीं उसमें वे गुण तो न आ जाएंगे। यह नाम अपेक्षा से बात कही गई है। अगर गुण हो जाएं वैसे जैसा कि किसी का नाम धर दिया मानो राजसिंह तब तो फिर यहाँ एक भी आदमी न बच सकेगा। तो गुण की कोई अपेक्षा नही होती नाम में। नाम निक्षेप तो केवल इस परिचय के लिए है कि कोई चीज धरना उठाना है, कोई व्यवहार करना है तो उसमें यह काम देता है एक कल्पना करो कि नाम किसी का न हो और काम कोई करे तो कैसे करेगा? अब आपको मंडप बांधना हैं तो कह दिया फलाने चंद तुम यह कर आवो, फलाने लाल तुम यह चीज ले आवो, इस तरह से व्यवहार की सारी व्यवस्था बन जाती है, और अगर कोई नाम किसी का न रखा जाए तो कौन किससे क्या कह सकेगा? सब गूंगे जैसे बैठे रहेंगे। तो नाम निक्षेप में केवल नाम की प्रधानता है, गुण की प्रधानता नहीं है। नाम धरे बिना कोई बात आगे नहीं चलती जब कोई संस्था बनाते हैं तो उसमें भी सबसे पहले संस्था का नाम रखा जाता हैं, बाद में बाकी सारे काम किए जाते हैं, तभी उस संस्था की व्यवस्था बन पाती हैं।

नामनिक्षेप में नाम पद्धति का विवरण—जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष, इन ७ तत्त्वों का यथावत् श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन कहलाता है, तो इन ७ तत्त्वों का ज्ञान कैसे हो? इसके सम्बंध में कुछ सूत्र कह रहे हैं। सबसे पहले तो लोकव्यवहार की बात कही जा रही है कि इन ७ तत्त्वों का प्रतिपादन का व्यवहार कैसे हो! नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप द्रव्य निक्षेप और भाव निक्षेप इन चार निक्षेपों के द्वारा सारा व्यवहार चलता है, इस लोक में देख लो, नाम निक्षेप से तो नाम धर दिया, कोई एक निमित्त रहा नाम धरने का अथवा न रहा? कुछ तो अभिप्राय रहा नाम धरने का, बाकी और कोई अभिप्राय नहीं, ऐसी दृष्टि में नाम धरा जाता। और, नाम तो केवल एक यह पहचानने के लिए रखा जाता कि इसकी बात कही जा रही है, चाहे गड़बड़ नाम धरो चाहे अच्छा नाम धरो, सभी नाम रखने का प्रयोजन इतना है कि लोगों को ज्ञात हो जाए कि इस नाम के कहने से इस चीज की

बात कही जा रही है एक दूसरे से विशिष्टता करने के लिए नाम की बात होती है, जैसे मान लो सभी का एक नाम अगर होवे तो फिर लोकव्यवहार चल सकता है क्या? किसको पुकार रहे? मान लो सब भाइयों का नाम घसीटेमल रख लिया, अब घसीटेमल बोला तो कौन हुक्का बनाये? और फिर जो दान व्यवहार चलता है कि इसने फर्स बनवाया तो एक नाम जब सबका है तो दान के लिए भी उमंग न चलेगी तो नाम जो रखे जाते हैं वे अन्य से निराले करके किसी एक के पहचानने के लिए रखे जाते हैं। जब एक नाम से काम नहीं चलता तो उसके पिता का भी नाम साथ में जोड़ा जाता और शायद पिता का भी दो व्यक्तियों का एक ही नाम हो तो कोई तीसरी बात भी जोड़ी जाती है। तब तक नाम जोड़ा जाता है जब तक कि सबसे निराले किसी का ज्ञान न किया जा सके। तो यों नाम निक्षेप से सर्वप्रथम व्यवहार चलता है अब नाम धरने का कोई कारण भी होता है कोई जातिवाचक नाम हैं कोई गुणवाचक नाम है कोई व्यक्ति वाचक नाम है तो व्यक्तिवाचक नाम में तो कोई निमित्तभाव नाम नहीं आता अथवा आता भी है। जैसे कोई क्रोध करता हो तो नाम धर दिया जाता ज्वाला प्रसाद, अग्नि प्रसाद, पर यह नियम तो नहीं है। शान्त आदमी का भी नाम ज्वाला प्रसाद रख दिया जाता है। तो गुण की अपेक्षा न रखकर जो एक व्यवहार चलाने के लिए नाम रखा जाता है उसे नाम निक्षेप कहते हैं। जब नाम धरा जाए वस्तु का तब आगे और निक्षेप की बात चलती है।

व्यवहार में स्थापना निक्षेप की अनिवार्यता—स्थापना निक्षेप तदाकार या अतदाकार वस्तु की स्थापना करना स्थापना निक्षेप है। पहले तो किसी शरीर में यह स्थापना किया कि यह इस नाम वाला है तो वह स्थापना हो गई फिर कोई तास के पत्तों में या फोटो में स्थापना कर देते कि यह गुलाम है यह वजीर है, यह बादशाह है, यह स्थापना हो गई। भगवान की प्रतिमा में भी स्थापना करते कि यह पार्श्वनाथ है। यह नेमिनाथ हैं आदि यह तो हो गई उनकी स्थापना। तो हम आप लोग स्थापना के द्वारा बड़े-बड़े काम निकाल लेते हैं देखो कितने ही लोग मूर्ति का निषेध करते हैं कि मूर्ति को क्यों पूजा जाता है, उससे कौन सी बात मिली तो बात सही है। मूर्ति या पत्थर के पूजने से कोई बात नहीं मिलती लेकिन मूर्ति या पत्थर को वे कहाँ पूजते? वे तो मूर्ति में भगवान की स्थापना करके भगवान को पूजते हैं। मूर्ति को कोई नहीं पूजता। कोई भी ऐसी बिनती या स्तुति नहीं गाते के हे मूर्ति तुम जयपुर की बनी हो, फलाँ कारीगर की बनी हो, धातु की बनी हो, वह तो यही कहेगा कि हे पार्श्वनाथ, हे वीतराग जिनेन्द्र देव, हे सर्वज्ञदेव . . . . यों वह भगवान की ही कोई बात कहेगा तो पहले तो यह समझना चाहिए कि मूर्ति में भगवान को निरखकर भगवान की पूजा का भाव होता है। मूर्ति की कोई पूजा नहीं करता। दूसरी बात यह देखें कि व्यवहार से मूर्ति बिना कोई काम चलता है क्या! ये अक्षर लिखे हैं तो ये मूर्ति नहीं है तो और क्या है? इन अक्षरों को देखकर ही तो भगवान से व्यवहार किया जाता है। तो वह एक मूर्ति ही तो

है, म कैसे लिखा गया, ग कैसे लिखा गया, इस तरह से सभी अक्षरों को देखकर उनका ज्ञान करके ही तो सारा व्यवहार चलता है। मूर्ति के बिना किसी का काम न चलेगा। जो मूर्ति का निषेध करते वे भी तो अपने गुरुवों की फोटो उतरवाते, उन्हें पूजते, तो वह फोटो एक मूर्ति ही तो है। मूर्ति बिना कहाँ काम चलता! जब कोई मुद्रा बनती है तो उसमें भी कोई न कोई फोटो बनती है, तो वह फोटो एक मूर्ति ही तो है, बिना उस मूर्ति के उस मुद्रा की कोई कीमत नहीं होती। और विशेषतया देखें तो किसी का नाम धरा और फिर यह ज्ञान किया कि इसका बनाने वाला यह है तो यह भी स्थापना हुई। तो नाम और स्थापना ये दोनों सम्बन्धित हैं। नाम बिना स्थापना किसकी? तथा स्थापना बिना व्यवहार कैसे चले।

मूर्ति में ही प्रभुस्थापना करने का रहस्य—एक बात और नई समझिये कि भगवान की स्थापना जैन शासन के अनुसार अजीव में तो कर दी जाएगी, जैसे पाषाण की मूर्ति बनाकर पीतल आदि धातु की मूर्ति बनाकर उसमें तो भगवान की स्थापना कर दी जाएगी मगर किसी बालक में या किसी रागी पुरुष में भगवान की स्थापना नहीं जाएगी। क्योंकि स्थापना करने का लक्ष्य तो यह है कि स्थापना के अनुसार कुछ शिक्षा तो हमें मिले। रागी बालक को या किसी पुरुष को कह दिया जाए कि यह बने नेमिनाथ, यह बने महावीर तो कोई भी नाटक रचा जाए या कुछ भी हो तो भगवान की स्थापना किसी रागी में नहीं की जाती। किसी की फोटो वहाँ रख ली जाए तो वहाँ भगवान की स्थापना मान ली जाएगी मगर किसी रागी मोही पुरुष में भगवान की स्थापना नहीं होती, क्योंकि भगवान में सर्वप्रथम बात है वीतरागता (रागद्वेष न) होना चाहिए। तो यद्यपि अजीव ज्ञानवान नहीं है मगर कम से कम इतनी बात तो देखने में आती कि वह रागद्वेष नहीं करता। ज्ञान नहीं है तो रागद्वेष भी नहीं है। तो उसमें स्थापना ज्ञानवान और वीतरागकी की गई है मगर कुछ बात तो आदर्श के लिए होना चाहिए। लड़के बच्चों में प्रभु की स्थापना कैसे की जा सकती है। वे तो रागद्वेष किए हुए हैं, ज्ञान भी नहीं है, उसमें कैसे भगवान की स्थापना हो? तो स्थापना भी की जाती है तो किसी पात्र में की जाती, अपात्र में नही होती। तो यह लोक व्यवहार की बात कह रहे हैं कि नाम निक्षेप से व्यवहार होता है और स्थापना निक्षेप से व्यवहार होता है।

व्यवहार में द्रव्य निक्षेप की उपयोगिता और कुबुद्धि में दुरुपयोग—तीसरा है व्यवहार साधक द्रव्य निक्षेप। लोकव्यवहार की बात देख लीजिए जैसे सिद्ध भगवान को लोग जीव कह देते। अब जीव का अर्थ है—जो १० प्राणों से जीवे सो जीव लेकिन अब उनमें प्राण तो नहीं रहे। वे तो प्राण से अतीत भगवान हो गए, लेकिन स्थापना निक्षेप से उन्हें हम जीव कह सकते हैं। जैसे कोई कोतवाल तो अब नहीं रहा पर उसे भी लोग कोतवाल कहते हैं। तो एक लोकव्यवहार की एक दिशा बता रहे हैं जिससे कि आगे पहचान बने कि जीव

क्या, अजीव क्या? कोई नाम तो रखना पड़ेगा। मैं ज्ञायक हूँ, ज्ञाता हूँ, चेतन हूँ, बस यह ही मेरा परिचय है। जैसे कोई कहता है कि भाई इनका परिचय देना तो लोग ऐसा परिचय देते हैं कि जिससे उसकी बदनामी जाहिर होती है। जैसे कोई सेठ हैं। उसका परिचय देना है तो लोग क्या परिचय देते हैं कि साहब यह तो बड़ा सेठ है, इसकी बड़ी हवेली है, हवेली का बहुत बड़ा द्वार है, उसमें ऐसी नक्काशी खुदी है कि जिसे देख कर लोग अचरज करते हैं। क्या कर रहे हैं। सेठ का परिचय दे रहे हैं कि सेठ का अपमान कर रहे हैं। अरे इस परिचय देने का तो अर्थ यह होता कि उन ईंट पत्थरों में तो बड़ी कला है पर उस सेठ में कोई कला नहीं। कहा तो यह जा रहा है मगर सेठ भी सुनकर खुश हो रहा है और भी परिचय दिया जाता कि साहब इस सेठ का क्या कहना है? इनके ४ लड़के हैं। एक लड़का तो मिनिस्टर है, एक ऊँचा डॉक्टर है, एक लड़का कालेज का बड़ा प्रोफेसर है, और एक लड़का कलेक्टर है। इन सेठ जी का क्या कहना है। तो बतलाओ इसमें सेठ जी की प्रशंसा की गई या अपमान किया गया। अरे उसका सीधा अर्थ यह है कि सेठ जी के लड़कों में तो इतना गुण है कि वे ऐसे-ऐसे ओहदों पर पहुँच गए मगर सेठ जी में कोई कला नहीं है। अगर सेठ जी में कोई कला होती तो सेठ के गुण की कोई बात बताई जाती। तो लोग खुश होते हैं अपने आपकी कोई प्रशंसा की बात सुनकर, मगर वास्तविक प्रशंसा तो आत्मा के गुणों की प्रशंसा है। शरीर की प्रशंसा से आत्मा की कोई प्रशंसा नहीं होती। एक गुण अगर आत्मदर्शन का आ जाए कि मैं क्या हूँ, मैं एक चैतन्य ज्योति सामान्यरूप आत्मा हूँ, और कुछ मैं नहीं हूँ। तो उसकी सारी विकल्प बाधायें दूर हो जाएंगी मैं ज्ञानी हूँ, ज्ञानमात्र हूँ। जानन देखनहार हूँ जानन देखन मेरा कार्य है, इसके अतिरिक्त मेरे लिए कोई कार्य नहीं हैं तो ज्ञाता व्यवहार चलेगा उससे अगर अपने आपको मानें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ तो ज्ञातारूप व्यवहार चलेगा। और अपने को माने कोई कि मैं अमुक रोजिगार वाला हूँ तो उस प्रकार का विकल्प करेगा। जैसी अपने आप में श्रद्धा करता है उसके अनुसार अपने विकल्प चलाता है जीव में यह खासियत पायी जाती है। देखो भैया अपने को अगर शान्त बनाना है, संसार के संकटों से छूटना हैं तो अपने आपके सही स्वरूप की श्रद्धा लावो। आत्मश्रद्धा बिना धर्म का कोई कदम नहीं चल सकता। आत्मश्रद्धा करो। मैं वह हूँ जैसे कि सब हैं। तो देखो उसे क्रोध न आएगा मान न होगा, छल कपट न होगा। लोभ न आएगा। जिसको आत्मदर्शन हुआ, जिसने अपने आपके सच्चे स्वरूप की पहिचान की वह क्यों क्रोध करेगा दूसरे पर? जानता है कि क्रोध करने से खुद का बिगाड़ है और क्रोध क्यों किया जाता? वह भी एक परमात्मस्वरूप है। उसने क्या बिगाड़ किया है? उसका कोई अनर्थ नहीं किया दूसरे ने। तो ज्ञान एक ऐसा अद्भुत तत्त्व है कि इस ज्ञान कला के बल से यह जीव सुखी शान्त हो जाता है। देखो जीवन में शान्त रहने की कला हो नम्रता से रहने की बोलने की प्रकृति हो, छल कपट लोभ से दूर रहें, एक भगवान से ही लौ हो, अपने स्वरूप में मग्न हों और उसकी

आराधनामें रहें तो उसे सर्व वैभवों की प्राप्ति होगी, ऋद्धि सिद्धि उसके ही होती हैं जिसने अपने आपके स्वरूप का सही निर्णय किया है। यह हूँ मैं ज्ञानमात्र

कषायों का भार दूर करने की आवश्यकता—देखिए धर्म प्राप्ति के लिए कितनी ही कुर्बानी करनी होगी। कोई विषय कषाय करता रहे और मोक्ष के जाने की बात सोचता रहे तो वह त्रिकाल असम्भव है। बलिदान कर दो अपने कषाय परिणामों का यही महत्त्व है बड़प्पन है। इसमें क्या कि किसी समय कोई घटना पाकर क्रोध आता हो और क्रोध न आने दो, अपने मन को समझा लें तो यह एक बहुत बड़ा भारी पौरुष है। क्रोध करना कायरों का काम है और क्रोध तजना शूरों का काम है। भोग भोगना कायरों का काम है और भोग तजना शूरोंका काम है। तो यह सब कषायों का त्याग विषयों का त्याग मूलतत्व ही बन सकता है जब अपने आपका ऐसा विश्वास हो कि विषय कषाय रहित मेरा स्वरूप है। उस स्वरूप का आदर हो तो कषायें न जगेंगी। अपने आपकी बात अपने आपके समझ में न आए यह तो एक अन्धेर है और यह अन्धेर मच रहा है अपने भ्रम से, अज्ञान से। भ्रम मिटा कि सब स्पष्ट ज्ञान होने लगता है। भैया, एक घुड़सवार था, तो वह घोड़े पर चला जा रहा था, उसे रास्ते में एक बुढ़िया मिली, जो अपने सिर पर गाठरी लादे हुए थी। तो बुढ़िया बोली भाई मेरी गर्दन दुःखने लगी है तुम मेरी गठरी रख लो घोड़े पर। तो यह घुड़सवार बोला जा तेरी गठरी रखने के लिए मेरा घोड़ा नहीं है। आगे गया तो एक फर्लांग की दूरी पर वह घुड़सवार सोचने लगा कि मैंने बड़ी गलती की। उस बुढ़िया की गठरी में कोई वजनदार वस्तु है तभी तो वह रखने को कह रही थी। यदि मैं रख लेता और घोड़े को भगा ले जाता तब तो वह वस्तु मेरी हो जाती। यह सोच कर वह घुड़सवार बुढ़िया के पास लौट आया और कहा ऐ बुढ़िया माँ लावो मैं तुम्हारी गठरी रख लूँगा। तो वहाँ वह बुढ़िया बोली अब मैं तुम्हें अपनी गठरी न दूँगी। तुमने मेरे मन की बात जान ली और मैंने तुम्हारे मन बात जान ली। अगर भ्रम में रहें, और अपने आपको सत्य बोध हो तो समझ लो कि सबकी यथार्थ बात हम जान सकते हैं। मायाचार छल कपट, बस इस व्यवहार ने ही तो हम आपको बहका रखा है। बोझ है हम आप पर तो कषायों का है। देखो जब कोई शल्य हो जाती है, **माना कोई बात** में फंस गए, हजार पाँच सौ का नुकशान होने का है तो वह जो बोझ लद जाता वह किस चीज का बोझ है? जीव में किसी पर वस्तु का बोझ लद सकता है क्या? जैसे लोग कहते कि हम पर बच्चों का स्त्री का घर का दूकान का बोझ है। बतलाओ आपपर दूकान का बोझ है क्या? आत्मा तो आकाश की तरह अमूर्त है। उस पर किसी भी पुद्गलका बोझ नहीं लद सकता। किसी भी बाह्य वस्तु का बोझ नहीं लद सकता। बोझ लदता है तो इस पर अपने कषाय विकल्प का ही लद सकता है। जैसे लोग कहते हैं कि आस्तीन का साँप जैसे बाँह में आस्तीन में साँप है तो बड़े आराम में वहाँ पड़ा है ऐसे ही हमारे जो ये विषय कषाय के परिणाम हैं तो हमारा घात करने के लिए यों है जैसे कि आस्तीन का साँप।

भावनानुसार प्रवृत्ति—सब जीवों पर क्षमा करें। कोई जीव हमारा बिगाड़ नहीं कर सकता। जो मन में रहता है कि हमको इसने ऐसा दुःखी किया, मेरे साथ इसने यों बर्ताव किया, अरे मुझे दुःखी करने वाला कोई नहीं, मेरे अन्दर **जो ये विषय कषाय रूपी सर्प हैं ये ही हमें** दुःखी करते, दूसरा कोई नहीं दुःखी करता। अपने को शान्त बनाने की भावना हो तो भीतर में ही कोई सही निर्णय बना लो कि निग्रह अनुग्रह से शान्ति नही मिलने की। अपने ही अन्दर दर्शन करो अपने आपके अन्तस्तत्त्व का। यह ही हूँ मैं, और कुछ नहीं हूँ। श्रद्धा का ही फल मिलता है, गप्प करने से कुछ लाभ नहीं मिलता। अगर संकल्प कर लिया श्रद्धा हो गई, एक दृढ़ निर्णय कर लिया कि मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, और कुछ नहीं हूँ तो उसे शल्य न सतायगी, मेरा काम जानने का है। जानने के सिवाय और कुछ मेरा काम नहीं। क्रोध, मान, माया, लोभ ये मेरे कुल से बाहर की चीजें हैं, मेरे कुल की रीति नहीं है कि कषाय करूँ। जरा ऐसा भाव तो भरो कषाय में फर्क आ जाएगा। जैसा सोचेंगे बैसी ही बात बनती है। जैसी अपने मन में भावना बनायेंगे वैसी ही बात बन जाती है। बरुवासागर की एक कथा है कि कोई एक सेठ और एक बाबू जी में झांसी में मुकदमा चलता था। तो बाबू जी के पास कोई अच्छा साधन न था, वह वकील कहाँ से करे! और भी मुकदमे का सारा खर्च न कर सकता था। सेठ तो वकील भी कर सकता था, मुकदमे के पीछे बड़ा धन भी खर्च कर सकता था। जब बाबू जी ने जाना कि जीत का पक्ष तो मेरा है पर मैं किसी तरह से सेठ पर काबू नहीं पा सकता। तो उसके मन में क्या बात आयी कि मुकदमे की जो पहली तारीख थी उस दिन झांसी जाना था सेठ को। बाबू जी ने तांगे वाले को एक दो रुपये दिया और कहा कि देखो अमुक सेठ इस रास्ते से आएगा, उसे अपने तांगेपर बिठा लेना, वह जो कुछ भी दे उससे ले लेना, माँगना कुछ नहीं, रास्ते में उससे यह कहना कि क्या बात है सेठ जी, आज आपको कुछ हरारत है क्या? आपका चेहरा बड़ा उदास है, आपकी तबियत खराब है क्या? यही बात बाबूजीने कुलियों से कह दी। यही बात टिकट देने वाले से भी कह दी। यह सब इन्तजाम बाबू जी ने पहले ही कर दिया। जब सेठ उस रास्ते से आया तो वह तांगावाला झट उसके पास आया। जब सेठ ने कहा भाई स्टेशन तक ले चलने का क्या लोगे? ४ आने .... दो आने लोगे? .... अच्छा चलो। तो जब सेठ उस तांगे पर बैठा हुआ जा रहा था तो वहाँ तांगेवाले ने कहा—सेठ जी क्या बात हैं? आपका चेहरा आज कुछ गिरा सा मालूम होता है, आपके चेहरे में कुछ हरारत मालूम होती है। आप की तबियत खराब चल रही है क्या? सेठ तांगे वाले की यह बात सुनकर बड़ा हैरान हो गया। आगे गया तो कुलियों ने भी वही बात कही, टिकट बाँटने वाले ने भी वही बात कही। अब तो सभी के द्वारा वही बात सुनकर सेठ का चित्त बिगड़ गया, सचमुच बीमार हो गया उस दिन वह स्टेशन से ही घर वापस लौट गया। मुकदमे में न गया। वह तारीख ऐसी थी कि यदि कोई न जाए तो उसके विरुद्ध फैसला होगा। आखिर सेठ मुकदमा हार गया। तो जो जैसी भावना बनाता है। उसको वैसी बात बन जाती है।

सर्व प्राणियों को आत्मवत् देखने में पाण्डित्य—बहुत से लोग किसी बीमार के पास जाते हैं तो उसके सामने ऐसी बात कहते हैं कि जिससे उसके अन्दर और घबड़ाहट बढ़े। वे तो समझते हैं कि हम सहानुभूति दिखा रहे मगर होता है उसका उल्टा। अरे उस बीमार व्यक्ति को तो धैर्य दिलाना चाहिए—जैसे अरे तुम ठीक हो जाओगे, किसी तरह की चिन्ता न करो ===। मित्र वास्तव में वही है जो अपने मन, वचन, काय की ऐसी चेष्टा करे कि जिससे दूसरों को पाप कार्यों से दूर होने की प्रेरणा मिले और जिसे देखकर सुनकर दूसरे जीव प्रसन्न हों। सब जीवों को एक समान मानें। नीति है **'आत्मवत् सर्वभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।'** जो सर्वप्राणियों को अपनी तरह देखता है उसे कहते हैं पंडित। शान्त रहें, क्रोध न जगे। देखो जो ज्ञानी पुरुष होता है उसके क्रोध भी जगे तो भी उससे दूसरों के अहित का कार्य नहीं हो सकता और जो अज्ञानी पुरुष है वह मित्र भी बन जाए तो भी उससे हानि की सम्भावना रहती है एक कथानक आया है कि एक राजा ने अपने सोते समय के लिए पहरेदार एक बन्दर को बनाया। बन्दर बड़े समझदार होते हैं, भैया वह बन्दर बड़ा अच्छा पहरा करता था। एक तो वैसे ही बन्दर की शकल देखकर लोग डर जाएं और दूसरे उसके हाथ में थी तलवार। एक दिन राजा की नाक पर एक मक्खी बार-बार उसी जगह पर आ आकर बैठे। बंदर उसे बार-बार उड़ा देता था। यों जब कई बार उड़ाया और बार-बार उसी जगह पर बैठै तो उस बंदर को मक्खी पर क्रोध आया उसने सोचा कि यदि मैं इस राजा की नाक ही उड़ा दूँ तो फिर यह कहाँ बैठेगी। यह सोचकर उसने तलवार उठाया और राजा की नाक उड़ा दिया। तो भाई मित्र मूर्ख हो वह भी अधिक खतरनाक होता है। और देखो एक अपभ्रन्श में बोलते हैं पंडितः शत्रुर्भलो न मूर्खो हितकारकः। अच्छा अब पांडित की बात सुनो एक चिरोंजाबाई जी थी जिन्होंने हमारे गुरू श्री गणेशप्रसाद जी वर्णी को पढ़ाया था। तो चिरोंजाबाई की नन्द का नाम ललिता था। वह ललिता पढ़ी लिखी न थी सो बाईजी ने कहा ललिता से कि तुम झाड़ा समेटी का काम करते हो तो अगर कोई कागज नीचे पड़ा मिल जाया करे तो उसे उठाकर आले में रख दिया करो, न जाने उसमें क्या लिखा हो। अब एक दिन गलती से एक कागज दरवाजे में नीचे चला आया और बाई जी जैसे ही मन्दिर से आयीं और कागज पड़ा देखा तो उसमें भक्तामर का एक श्लोक लिखा था। अब उन्हें ललितापर बड़ा गुस्सा आया। वह बड़ी धर्मात्मा थी उन जैसा होना बड़ा कठिन है आज के समय में। वह बड़ी सरल थीं और बड़ी प्रतिभा वाली थीं मगर उन्हें उस समय ललिता पर गुस्सा आ गया, तो ऊपर अटारी पर चढ़ी और ललिता के झोंटा पकड़ कर गुस्सा में आकर भींट में उसको मार दिया। तो कैसे मारा कि अपना हाथ भींट में लगा लिया और उसपर सिर मारा तो देखो गुस्सा आया उस गुस्सा को रोक न सकी मगर ज्ञान था विवेक था तो भींट में हाथ लगाया। अब बताओ किसको लगा? अपने हाथ को भले ही लगा अपने हाथ में मगर भीतर यह बात बराबर प्रकाश में थी कि कहीं इसका सिर न फूट जाए। तो यही

बात कह रहे—पंडितः शत्रुर्भलो, न मूर्खो हितकारकः। क्योंकि जो ज्ञानी पुरुष है वह जानता है कि किसी का क्या बिगाड़ करना? कोई परिस्थिति बन गई तो तुरन्त मनमुटाव हो गया, इतनी बात है मगर भीतर में भलाई की बात नहीं भूल सकता ज्ञानी, क्योंकि सब प्राणियों में अपने आत्मा का स्वरूप देखता है। देखो बात बात में स्थापना मिलती है। स्थापना ही तो की जा रही है, जैसा मैं वैसा यह। स्थापना की ही तो बात है। जो दूसरे जीव को अपने स्वरूप की तरह देखेगा उसे विषय कषायों की आपत्ति न सतायेगी।

अपने प्रशस्तभाव से अपना उत्थान—देखो लोग कहते हैं कि यह बहुत सुन्दर है, बहुत अच्छी शकल का है। मगर सुन्दर कौन है बतलाओ? किसी पुरुष का या स्त्री के कोई शकल रूप की बात कहे तो क्या उसके भीतर हड्डी चाम आदि नहीं है? जरा उस ऊपर चमड़ी के अन्दर की चीज ध्यान में तो लाओ तो सारा पता पड़ जाएगा। लेकिन जब ऊपर से रागभाव है तब यह सुन्दर लगता है और जब रागभाव नहीं उठता तब सुन्दर नहीं लगता तो बाहर में कोई न सुन्दर है न असुन्दर। आप का रागभाव सुन्दर बना देता और द्वेषभाव असुन्दर बना देता। जो चक्की चल रही है वह अपने में चल रही है। जो कुछ बीत रही है वह अपने आप में बीत रही है। अपना भला करना हो, इस जीवन में भी अपने को सुखी रखना हो, परलोक में भी अपने को सुखी बनाना हो तो कषायों का परिहार करो अभी कषाय मूल में नष्ट तो न होगी। मगर इन कषायों पर विजय प्राप्त करो। मुझे नहीं करना है क्रोध-क्रोध के कारण मैं तुरन्त दुःखी होऊँगा और जिससे बोलेंगे वह भी दुःखी हो जाएगा। शान्त रहने में कितना आनन्द आप पाएंगे और क्रोध करने में तुरन्त अशान्त। दूसरे की प्रशंसा करने में आप तुरन्त आनन्द पाएंगे और दूसरे की निन्दा करने में आप आनन्द न पाएंगे। मोह से भले ही कोई आनन्द मानता हो। गप्पाष्टक में बैठने में तो रात में १२ बजा देते हैं। भले ही ऐसा करें, लेकिन उस गप्प में होता क्या हाँ बस दूसरों की निन्दा करना। जहाँ किसी न किसी की निन्दा भरी बात हो वहीं गप्प वाद कहलाता है। अब देखो किसी की निन्दा करते हैं, किसी को गाली देते हैं तो भीतर में कई घंटे पहले से सोचना पड़ेगा, विकल्प करना पड़ेगा, एक हिम्मत बनानी पड़ती है, क्योंकि वह अन्याय की बात है। तो पहले अपने को दुःखी कर डालेगा तब कहीं वह दूसरे की निन्दा कर सकेगा और अगर किसी की प्रशंसा करें तो बड़ी हिम्मत से बोल सकते। और जो सुनेगा वह भी खुश हो जाएगा आपको हाथों उठा लिया जाएगा। तो देख लो जो द्वेषकी बात है, उसके करने में कितना विकल्प मचाना पड़ता है बहुत पहले से। तो बताओ उस काम से क्या फायदा, जिससे खुद को भी दुःख हो और दूसरे को भी दुःखी होना पड़े? अपना सद्व्यवहार बनायें। क्या है। अरे भाई बड़ से तो हर एक कोई दब जाता है। बड़े को तो जो चाहे क्षमा कर देता, क्षमा भी क्या करता? वश नहीं चलता मगर अपने से छोटों को क्षमा करे, अपने से छोटों को आदर दे, अपने से छोटों को साथ लेकर चले तो उसे कितनी प्रसन्नता होती है? कितना आपका प्रशस्त भाव भरा

रहता है। आपकी सही करतूत बिना दूसरा आपको कोई बड़प्पन देने वाला नहीं। क्षमाशील बनो। यह बात तब बन सकती है जब अपने आपके स्वरूप का दर्शन हो।

स्वरूपदर्शन बिना परमार्थ विश्राम की असंभवता—जब तक अपने स्वरूप का ठीक परिचय नहीं है तब तक बाहर में करने-करने के विकल्प लगाये रहते कि मुझे यह करना है। यह काम करने को पड़ा है, मगर यह तो सोचो कि काम करने से शान्ति मिलती है या काम न करने से शान्ति मिलती? इसी बात पर विचार कर लो। मेरे को यह काम करने को पड़ा है, यह करने को पड़ा है, जब तक यह विकल्प रहेगा तब तक शान्ति न मिलेगी। देखो हम आत्मा की बात कह रहे कि बाहरी पदार्थ हमसे अत्यन्त जुदा है। उसमें हम कोई परिणति नहीं कर सकते। हम केवल अपने परिणाम कर सकते, दूसरे का परिणाम नहीं कर सकते। तो जब यह ध्यान में आता है कि बाहरी पदार्थ अपना उत्पाद अपना व्यय कर रहा है उस प्रवृत्ति को मैं करने वाला नहीं हूँ तो उसको स्वतन्त्रता का बोध होता है, मेरे करने को कुछ काम नहीं रहा कृतकृत्य है ऐसा भीतर में बोध होता है तो उससे शान्ति मिलती है। एक आप मकान बनवा रहे हैं तो जब तक वह मकान नहीं बन जाता तब तक आपको कितनी आकुलता रहती है। परमिट मंगाना है, ईंट लाना है, लोहा लाना है, इंजीनियर बुलाना है काम के समय भी सोचते आराम के समय भी सोचते। और जब मकान बन जाता है तो उस समय आपको आराम मिलता है या नहीं? मिलता है क्यों? यह ध्यान में आया कि मेरे को अब मकान बनाने का काम नहीं पड़ा इस ख्याल का आनन्द आया। खूब भली भाँति विचारपूर्वक सोचो, उस पुरुष को मकान बनाने का आनन्द नहीं आया किन्तु मेरे को अब मकान बनाने का काम नहीं रहा इस कारण आनन्द आया। अब जो भाव मकान बनने के बाद किया वही भाव अगर मकान बनने से पहले करलें तो क्या वह खुश न होगा साधुजन ज्ञानीजन पहले से ही यह भाव करते हैं कि मेरे को दुनिया में कुछ करने को नहीं पड़ा है अपने भाव सुधारना अपनी दृष्टि बनाना, यह ही काम मेरे करने को है बाकी कोई काम मेरे करने को नहीं पड़ा। तो देखो अपने आप में सुखी शान्त हो गया कि नहीं? तो भाई विरागता में आनन्द आता है, राग में आनन्द नहीं आता। 'राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम।' राग त्यागकर मैं अपने धाम में पहुँच जाऊँ, मैं अपने ज्ञानस्वरूप अन्तस्तत्त्व में पहुँच जाऊँ तो फिर वहाँ आकुलता का कोई काम नहीं रहता आकुलता वहाँ होती है जहाँ यह बात बैठी है कि यह मैं हूँ, यह मेरे करने का काम है, मेरे को काम करना पड़ेगा ऐसी बात कर्तृत्व की भोक्तृत्वकी अहंकार की ममकार की बात चित्त में समायी हो तो वहाँ अवश्य ही कष्ट होगा। तो कष्ट दूर होने की बहुत सरल विधि है, करते बनें तो करलें, केवल ज्ञानसाध्य बात है। आत्मानुशासन में लिखा है कि हे सुकुमार पुरुष यदि तुम से तपश्चरण का कष्ट नहीं किया जा सकता है तो मत करो, किन्तु कषाय वैरियों को तो जीतना ज्ञानसाध्य है सो ज्ञानसाध्य यह कार्य यदि नहीं कर सकते तो यह तुम्हारी मूढ़ता है।

स्थापना निक्षेप के प्रकारों पर विहंगमदृष्टि—७ तत्त्वों का व और भी अन्य पदार्थों का लोक में व्यवहार किस तरह होता है, कैसे लोग उसके बारे में समझते हैं, उसका उपाय क्या है? इस बात की चर्चा चल रही है। नाम स्थापना द्रव्य और भाव, इन चार निक्षेपों से पदार्थ के प्रतिपादन का व्यवहार होता हैं जैसे जानते है नाम न रखें तो व्यवहार कैसे चलेगा, किसको बोलना किसको क्या समझना? तो नाम निक्षेप तो पहले ही आवश्यक हो गया फिर स्थापना न हो तो कैसे परिचय हो कि यह वही है। देखिए स्थापना दो तरह से समझना है एक तो समझना है साकार ढंग से और एक समझना है जो नित्यप्रति हमारे प्रयोग में आता है उस ढंग से अथवा एक तद्भावस्थापना और एक अतद्भाव स्थापना। भगवान के आकार की तरह मूर्ति बनाकर उसमें यह मानना कि यह भगवान हैं यह है तद्भाव स्थापना और ताश, कंकड, बगैरह अतदाकार में बादशाह वजीर आदि की स्थापना करना अतद्भाव स्थापना है। अब जरा मुख्य करके निरन्तर प्रयोग में आने वाली स्थापना देखो जैसे किसी पुरुष को देखकर यह निर्णय होता है कि यह फलाने चन्द हैं यह तो स्थापना हो गई। जान गए कि यह इसका नाम है। किसी पदार्थ में थाप देने का नाम स्थापना है। तो जब पहले नाम निक्षेप धर लिया गया संज्ञा जिसकी रख ली गई तब उसमें कोई स्थापना बनती है, और वह स्थापना दो प्रकार से है, देखिए प्रयोग के रूप से तो सबमें स्थापना चलती है अन्यथा बात भी नहीं कर सकते। नाम जान लिया फलाने चन्द, यह तो नाम हुआ, अगर यह है फलाने चन्द्र, इस तरह का बोध न हो तो कोई काम चलेगा क्या? जब स्थापना हो गई तो अब स्थापना निक्षेप की बात चल रही है। यह स्थायी स्वरूप ऐसा यों जो आरोपित है उसे स्थापित कहते हैं। जैसे वास्तव में इन्द्र तो वह है जिसके देव आयु का उदय है जैसे स्वर्ग के देवों को इन्द्र है यह भी इन्द्र है तो वास्तव में इन्द्र वह है लेकिन किसी काठ की पत्थर की मूर्ति में इन्द्र की स्थापना करना यह कहलाती है स्थापना यह वह है, यह इन्द्र है, इस तरह की प्रतिष्ठा हुई तो वह है तद्भाव स्थापना तो अब यहाँ देखिए कि जो मन में कल्पना की है वह तो है भावइन्द्र और जो द्रव्य है जो साक्षात् देव आयु वाले की जाति वाला है और एक मूर्ति में उस इन्द्र की स्थापना की तो यह हुई उसकी प्रतिष्ठा। तद्भाव प्रतिष्ठा, अतद्भाव प्रतिष्ठा।

नाम निक्षेप व स्थापना निक्षेप में अन्तर—देखो नाम निक्षेप और स्थापना निक्षेप में अन्तर क्या है? किसी का नाम भी धर लिया—यह महावीर और प्रतिभास में स्थापित करे यह महावीर, तो इन दोनों महावीरों में अन्तर है। नाम के महावीर में तो आदर नहीं है। वह तो मात्र एक नाम रख लिया गया। नाम तो रख लेवे कोई महावीर और इसके कर्म हों बहुत खोंटे तो वह नाम निक्षेप की ही तो बात रही। पर मूर्ति में महावीर स्वामी की स्थापना की तो उस मूर्ति का आदर करते कि नहीं? तो स्थापना में आदर होता है, नाम में आदर नहीं होता। जैसे लोक में भी देख लो जैसे मानो कोई राजा है, राष्ट्रपति है, जिसका कि कुछ नाम है ना—जैसे कि कुछ नाम हैं ना—जैसे आजकल गिरि नाम है तो उस गिरि की कोई फोटो

हो और उस पर कोई कालिमा पोत दे या नीचे गिरा दे या जूता चप्पल मार दे तब तो यहाँ झगड़ा खड़ा हो जाता है ना, और मान लो यहाँ इसी मुहल्ले में किसी लड़के का नाम गिरि रख दिया जाए तो उसे तो चाहे कोई लाठी मारे, चाहे नाली में धकेल दे फिर भी किसी को बुरा तो नहीं लगता। उस पर तो कोई देश द्रोह का अपराध नहीं है। और जो राष्ट्रपति है उसके फोटो का कोई अविनय करे तो उसपर देश द्रोह का अपराध लगाया जाता है। तो नाम और स्थापना का अन्तर तो सही दिख रहा है। किसी का नामाधर दिया वर्द्धमान, तो भले ही नाम धर दिया, बच्चा है, उसे जो चाहे थप्पड़ मारे, कुछ भी करे, तो उसपर कोई बुरा मानता है क्या? बुरा तो नहीं मानता, और यदि कोई वीतराग जिनेन्द्र देव २४ वें तीर्थंकर भगवान महावीर का प्रतिबिम्ब है उसपर कोई कुछ उपद्रव करें तो उस पर कितना विवाद खड़ा हो जाता है। तो स्थापना में तो आदर है, नाम में आदर नहीं होता। नाम तो एक बात के लिए होता है।

वस्तु के परिच्छेदन की व्यवस्थापक षड्खंड चक्र—देखो एक थोड़ी सैद्धान्तिक विधि से इतराभिमत बात कह रहे हैं जो लोग मानते हैं कि सारा जगत एक है, सत्स्वरूप है, अब उनकी ओर से देखो चलो तो मानों एक सत्स्वरूप जगत कोई भी पदार्थ हो वह ६ बातों में परखा जाएगा– नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव, क्षेत्र, और काल। ६ तरह से परखा जाएगा। जैसे यह घड़ी है तो 'घड़ी' नाम हो गया और केवल इस वस्तु में घड़ी का नाम धरा यह स्थापना हो गई अब घड़ी में आगे पीछे की जो पर्याय समझ में आती उस प्रकार आरोप किया लो द्रव्य हो गया। घड़ी की वर्तमान बात समझ में आती वह भाव हो गया और घड़ी कितना जगह को रोके है, घड़ी के जो निजी प्रदेश हैं वह क्षेत्र हो गया और घड़ी की वर्तमान स्थिति क्या है वह काल हो गया। तो एक कल्पना से अवगत सत् जगत एक ही रूप है मान लो सद्रूप है तो उसकी परख जब हम ६ प्रकार से करेंगे तो देखो उसमें ६ द्रव्यों की झांकी आ जाएगी। नामसत्, स्थापना सत् द्रव्यसत् भावसत्, क्षेत्रसत् कालसत्। नामसत्–नाम का काम है चलाना, नाम बिना कुछ चलता तो नहीं। जैसे लोगों ने देखा होगा कि जब बहुत सी महिलायें बैठ जाती हैं गान करने के लिए, मगर कोई नहीं गाती तो वे कहती हैं–अरी जीजी, अरी बुआ, तुम नाम तो धरो मायने गीत उठाओ तो सही, हम फिर सम्हाल लेंगी। तो देखो नाम का काम चलाना है। नाम न धरें तो क्या चलेगा? इतने सब भाई हैं, अगर किसी का कुछ नाम न हो तो बतलाओ व्यवहार का काम चल सकेगा क्या? कोई व्यवस्था बन सकेगी क्या? कुछ भी व्यवस्था नहीं चल सकती। तो नाम का काम चलाना है। जो चलने में सहायक है उसे कहते हैं धर्मद्रव्य तो जब हमने नाम की विधि से पदार्थ को देखा तो हमें वहाँ धर्मद्रव्य की झांकी हुई। स्थापना सत्– स्थापना कर देवे, फिट कर देवे तो ऐसा फिट करने वाला है अधर्म द्रव्य। चलते हुए कोई ठहर जाए। स्थापनासत् बोला तो उसमें अधर्म द्रव्य की झांकी हुई। द्रव्यसत् बोला तो उसमें पुद्गल की झांकी हुई, द्रव्य, वस्तु, पिण्ड, गुण,

पर्याय का पिण्ड, पिण्ड रूप देखा, द्रव्य, दृष्टि से। भाव से देखा तो जीव द्रव्य आ गया। क्षेत्रसत् में आकाशद्रव्य आ गया और कालसत् में समयसत् समय अर्थात् काल द्रव्य आ गया। तो ऐसे अतर्क्य और कल्पना की विधियों से परखा जाता है तो छह द्रव्य आ गये। उस एक को परखने की कला की बात कह रहे हैं। एक सत् है, एक सत् उसके इस तरह ६ रूप वर्तमान हैं, यह कहने का प्रयोजन नहीं, किन्तु समझने का प्रयोजन और सभी बातों का निर्णय इन ६ दृष्टियों से होता है। उनमें से ४ ये निक्षेप हैं– नामनिक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भावनिक्षेप। तो नाम कुछ भी धर दो, आखिर एक परिचय ही तो कराना है और कभी-कभी कोई-कोई नाम जाति, गुण, कर्म आदि की वजह से भी रखे जाते हैं। तो भी उसमें अन्य निमित्त नहीं होता और कोई निमित्त की बात ही नहीं मालूम होती। कोई नाम रखा जाता है। जैसे बहुत से नाम धर देते–टिंक्कू, छिंटू तो बताओ उनमें कौन सी खासियत थी? और पशुओं का नाम भी है कि जिनकी जाति है गाय, भैंस वगैरा, अब जिनके ये नाम धर दिया, उनमें स्थापना की बात चलती है। नाम धरे बिना स्थापना की बात नहीं चलती, तो नाम और स्थापना में यह अन्तर है कि नाम में तो आईन्दा आदर नहीं और स्थापना में आदर अपमान की वृत्ति उठा करती है। एक बात, दूसरी बात यह है कि नरम धरा और परखा कि इसका यह नाम है, यह तो एक दूसरा ज्ञान हुआ ना तो वहाँ स्थापना हो गई। तो जहाँ यह बुद्धि हुई कि वह यह है इसी को स्थापना कहते हैं।

निक्षेप विधि से लोकव्यवहार करने की सकलजन प्रवृत्ति–देखो पदार्थ के ज्ञान करने की तरकीबचल रही है। इस विधि से हम जानते हैं और यह प्रयोग जीवन में आता रहता है देखो जैसे कोई लोग अनेकान्त का खण्डन करते हैं तो अनेकान्त का (स्याद्वादका) खण्डन करने वाले स्वयं अनेकान्त का आश्रय रखते हैं, रात-दिन रखते हैं, उससे वे अलग नहीं हो सकते, भले ही खण्डन करें, जैसे कौन नहीं प्रयोग करता लेन-देन का? किसी ने किसी को कुछ रुपया उधार दिया और एक साल बाद उससे व्याजसहित लेता है तो बुद्धि में दोनों बातें सम्भव हैं कि नहीं, यह वही आदमी है जिसको यह उधार दिया था, इस तरह समझ में आया ना। और यह अब १२ माह का आदमी है। जिस दिन दिया था उसी दिन से जिस ढंग में था उसी में रहे और ये १२ महीने न आएं तो उससे कुछ लेन-देन किया जाएगा क्या? अपरिणामी तत्त्व से कुछ कभी लेन-देन होता क्या? रात दिन के व्यवहार में लोग अनेकान्त का आश्रय ले रहे। बच्चे हैं, जवान हुए, बूढ़े हुए, अब माता बच्चे से बच्चे, जैसा प्रेम करती है। उस बच्चे के जवान हो जाने पर वह माँ–बच्चे जैसा प्रेम उससे नहीं करती। कुछ प्रेम तो रहता ही है। प्रेम क्यों रहता कि उसे यह बोध है कि यह तो मेरा वही बेटा है, और बच्चे जैसा ख्याल क्यों नहीं आता कि वहाँ अवस्था भेद हो गया है। तो नित्य और अनित्य दोनों बातें सामने आयी कि नहीं। किसी मनुष्य का परिचय कोई करता है तो अनेक दृष्टियों से करता है। यह इसका मामा है, यह इसका चाचा है–यों सभी बातें समझ

में आती हैं कि नहीं? और कर रहे हैं अनेकान्त का उपयोग और वे अनेकान्त का खण्डन करें मगर अनेकान्त का विनाश तो नहीं होता। स्याद्वाद को मना कैसे कर सकते, नाम, स्थापना, द्रव्य, भाव इन चार निक्षेपों का बराबर प्रयोग करते हैं निक्षेप प्रयोग व्यवहार में आता है, पर नहीं जानते तो मत जानो, प्रयोग में तो आ रहा है। तो यह वह है, यह वही है इस प्रकार स्थापना करने का नाम है स्थापना द्रव्य निक्षेप। निक्षेप का अर्थ है किसी निर्णय में रख देवे। तो स्थापना निक्षेप से यह सब समझा, फोटो में कोई स्थापना होती है यह हमारा पिता है, यह हमारा गुरु है और कोई उठाकर नीचे पटक दे, नाली में डाल दे तो बड़ा तेज झगड़ा हो जाता है। और उस नाम वाले आदमी को मानों कोई नीचे डाल दे तब तो कोई झगड़ा खड़ा नहीं होगा। तो स्थापना में आदर अपमान, आकांक्षा, भावना ये सब रहते हैं। अनिवार्य स्थापना देखो जब नाम रखा जाता है तब किसी का दर्शन होने पर वहाँ स्थापना की जाती है, अन्यथा कोई यह कहे कि किसी का नाम न भी रखा जाए, जिसका नाम नहीं जाना है, ऐसे पदार्थ को देखने पर भी तो तस्वीर या पुरुष आदि में यह वही है ऐसा ज्ञान हो जाए ना। तो बिना नाम के तो स्थापना नहीं होती। वहाँ पर भी किसी न किसी तरह का नाम पहले आया तब स्थापना हुई। नाम शब्द पहले आता है, इसी बात पर एक दर्शन स्वतंत्र बना शब्दाद्वैत। एक भींट का ज्ञान हुआ तो उसमें भी और ट ये दो शब्द जरूर आ जाते हैं। कोई भी ज्ञान करे, कुछ भी परिचय बनाये तो नाम पहले आता है। तो जब नाम रखा तब जाकर प्रतिमा बनती है और स्थापना होती है।

अनिवारित प्रायोगिक स्थापना—अनिवारित स्थापना की बात को प्रायोगिक स्थापना के बारे में ध्यान से सुनना है कि हम जो अपने आप में स्थापना किया करते हैं, मैं बड़ा पुरुष हूँ, मनुष्य हूँ, साधु हूँ, त्यागी हूँ, अमुक हूँ, आदि जो अपने आपमें जब किसी पर्याय की स्थापना बनाते हैं कल्पना में उस थापने में इस जीव को सन्मार्ग नहीं मिल पाता और ऐसी स्थापना करो, ऐसा थापो, थापना के मायने बैठालना भी है। आव्हान करना भी है, स्थापना करना भी है। तो स्थापना के मायने है बैठालना। तो अपने आपका जो निज निरपेक्ष परमपारिणामिक भाव चैतन्य स्वरूप ज्ञानमात्र शुद्ध ज्योति है उसमें अपने आपकी प्रतिष्ठा बनावें, यह हूँ मैं, और कुछ नहीं। देखो यदि अपने चैतन्य सामान्य में आत्मप्रतिष्ठा हो जाए तो किसी समय दुःख दूर हो जाता है। कितनी बड़ी अचम्भे की बात हो रही है संसार में कि जो बात है, निरपेक्ष जो अपना स्वरूप में अपनी प्रतिष्ठा नहीं कर पाता और पर्याय में आत्म प्रतिष्ठा कर रहा है, यह मैं हूँ, इस मेरे की शान घट न जाए और उसकी यद्वा तद्वा सभा भी होती है। एक राजा की सभा बैठी थी, राजा भी विद्वान था और उस सभा में आने वाले भी विद्वान आते थे। एक आन्तरिक सभा होती थी उसमें कवि लोग अपनी कविता बोलकर प्रसन्न रहते थे, दूसरों को प्रसन्न करते थे। तो एक बार राजा ने कहा कि ऐ कवियों आज ऐसी कविता दिखाओ जिसको कभी देखी सुनी न हो, ऐसी विलक्षण कविता हो, तो

एक कवि ने अपनी जेब से कोरा कागज लिया और कहा महाराज देखिए आप जैसी कविता देखना चाहते हैं वैसी तो यह कविता है, मगर यह कविता उसी को दिख सकेगी जो असल बाप का हो। जब राजा ने वह कागज लिया तो मन में बड़ा गुस्सा आया क्योंकि उसमें कुछ लिखा तो था नहीं, मगर उसने सोचा कि यदि में यह कहूँगा कि इसमें तो कुछ लिखा ही नहीं तो लोग समझ जाएंगे कि यह राजा अपने असल बाप का नहीं हैं। इसलिए कह उठा हाँ सचमुच यह बड़ी विलक्षण कविता है। अब राजा ने पास मैं बैठे किसी विद्वान कवि से कहा– जरा देखना कविता अच्छी है ना? तो उसने अपने हाथ में वह कागज लिया और देखा कि उसमें तो कुछ भी न लिखा था। उसे भी गुस्सा आया मगर सोचा कि यदि मैं कहूँगा कि इसमें कुछ लिखा ही नहीं, तो इसमें मेरी हंसी होगी, यह सोचकर उसने भी कहा–वाह-वाह बड़ी सुन्दर कविता है। इसी तरह से वहाँ बैठे सभी विद्वान कवियों ने देखा कि सचमुच आज तो इस कवि ने सबको धोखा दिया लिखा कुछ नहीं है, मगर यह सोचकर कि यदि कह दें कि इसमें तो कुछ लिखा ही नहीं है तो लोग समझेंगे कि यह तो नकली बाप का है असल बाप का नहीं है, सबने कहा–वाह-वाह यह तो बहुत ही सुन्दर विलक्षण कविता है। अब देखिए अपनी प्रतिष्ठा में आकर ही तो उस कोरे कागज में कविता की प्रशंसा की। तो इस पर्याय में आत्मरूप की स्थापना करने की बड़ी-बड़ी विडम्बनायें हैं। इसी को कहते हैं मिथ्यात्व, मोह।

सम्यक्ज्ञान सहित आत्म प्रतिष्ठा में कल्याण लाभ—अरे भाई जो मैं हूँ, मेरे जो सहज प्रतिकृति है उसमें स्थापना कर ली, यह है परमात्मा, यह है भगवान, जीव में रहने वाला चैतन्य स्वरूप है, अपने आपमें शाश्वत प्रकाशमान स्वभाव है। परन्तु अपने सहजस्वरूप की प्रतिष्ठा न करके जो पर्याय है, विनश्वर है जो मेरी बन नहीं सकती उसको मान लिया कि यह मैं हूँ तो ऐसी आपाकी स्थापना करने का फल बहुत बुरा होता है, हम क्या कर रहे, सिवाय इसके कि कोई प्रतीति बनाये रहते हैं, बाह्य पदार्थों का हम क्या परिणमन कर सकें? बाह्य पदार्थ तो बाह्य हैं, भिन्न हैं, मुझ से अत्यन्त जुदे हैं, उनका हम कुछ कर नहीं पाते। बस एक प्रतीति बनाये रहते हैं, कल्पना बनाये रहते, बस यही काम कर पाते हैं। तो ऐसी प्रतीति करें जिससे कि शान्ति मिले। देखो नुकशान की बात कुछ भी नहीं कही जा रही जैसे लाभ मिले वही बात कही जा रही है, जो सच है उसके जानने में कभी भी कोई हानि नहीं है, लाभ ही लाभ है। जो मिथ्या है, उसको अन्य रूप समझने में हानि हैं, धोखा ही धोखा है। और देखो–जीव की प्रकृति भी ऐसी है कि वह सच समझने की आकांक्षा रखता है, बालक हो तो, जबान हो तो, बृद्ध हो तो, कोई घटना हो, कुछ बात हो तो उसमें सच-सच समझने की भावना रखते हैं। सच-सच समझ में कहीं आपत्ति नहीं है। आत्मा का सत्य है आत्मा का निरपेक्ष चैतन्य स्वरूप अब उसमें आत्मा की प्रतीति करें कि यह हूँ मैं, इसमें लाभ ही लाभ है, पाप का क्षय होता है पुण्यरस बढ़ता है, मोक्षमार्ग मिलता है, तत्काल शान्ति होती है

और समाज में भी बहुत व्यवस्था रहती है, आदर होता है शान्ति की स्थापना होती है, धर्म के लिए यही कहा जा रहा है कि भाई अपने आपका जो यथार्थ स्वरूप है उस स्वरूप को मानलें कि यह हूँ मैं परमात्मास्वरूप, सिद्ध हो जाएगा, सब ऋद्धि सिद्धि हो जाएगी। एक सत्य समझ लें कि यह हूँ मैं एक चैतन्य स्वरूप मात्र। कितना बड़ा झगड़ा है मोह में कि दूसरे से लेन-देन नहीं, सम्बन्ध नहीं, कुछ भी आधार नहीं, कुछ भी सम्पर्क नहीं, अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं, लेकिन चित्त में जब यह बैठ रहा है कि मेरे सर्वस्व तो ये ही हैं तो वहाँ वह बड़े अन्धकार में रहता है, उसमें यह जीव अशान्त रहता है, व्याकुल रहता है, मार्ग ही नहीं मिल रहा, और एक सत्य बात समझ लीजिए कि सर्व जीव स्वतन्त्र हैं, सबके अपने-अपने कर्म जुदे-जुदे हैं, सबका पालन पोषण उनका उनके कर्मानुसार होता है। कोई जीव किसी जीव का कुछ करने हरने वाला नहीं है, ऐसा पार्थक्य देखें, ऐसी स्वतन्त्रता देखें तो घर में जब तक रहेंगे तब तक कैसी शान से रहेंगे और कैसी शान्ति से रहेंगे, वहाँ भी आनन्द-आनन्द आएगा। और किसी ने घर त्याग दिया हो और यह सत्य स्वरूप समझ में आया हो तो उसे वहाँ सत्य शान्ति का उन्नयन है ही। शान्ति का कारण एक सम्यग्ज्ञान है। सच्चा बोध करें, मोह हटावें।

मोह में और राग में अन्तर—देखो मोह और राग ये अलग-अलग चीजें हैं। आप लोगों का हमारे प्रति लगाव है तो इसको मोह कहेंगे कि राग? मोह न कहा जाएगा, मोह में अन्धेरा छाया रहता है, कुछ विवेक नहीं रहता, उसे तो राग कह सकते और किसी मोही को अपने पुत्र में जो आशक्ति है प्रेम रहता है उसमें मोह है। तो मोह और राग में अन्तर है कि नहीं? मोह में विवेक नहीं जग सकता यहाँ विवेक जग सकता, है। तो मोह छोड़कर भी घर में रहा जा सकता है, विवेकपूर्वक जब तक राग विद्यमान है रहा जा सकता है और उसकी व्यवस्था बहुत उत्तम बन सकती है। एक बात निर्णय में रखें कि हमें तो मोह को त्यागना ही है। अभी त्यागना है, तुरन्त त्यागना है, और उसमें जरा भी गुंजाइस नहीं रखना कि थोड़ा मोह किसी से रखें तो रखें स्त्री से या धन से या बच्चे से। वह आपको हानि की बात नहीं कह रहे। मोह त्याग देंगे तो उससे कहीं आपका घर नहीं बिगड़ता। आपके परिवार का जो संचालन है वह भी बिगड़ता बिल्कुल नहीं, बल्कि उत्तमता आती है, घर में रहें निर्मोह होकर। तो अपने आपका जो निरपेक्ष सत्य सहज स्वरूप है उसमें अपने आपकी स्थापना करना वह है इस जीव के भले का उपाय। और बाह्य पदार्थों में अपने आपकी इस स्थाप्य पर्याय में आपकी बुद्धि करे तो यह ही इस जीव के लिए है महान कष्ट और विडम्बना की बात, ज्ञानी ज्ञानसुधारस पीजो, प्रियतम ज्ञानसुधारज पीजो आप लोगों ने क्या कभी प्रियतम देखा है? प्रियतम का ही बिगड़ करके बना है प्रीतमा-प्रीतम शब्द से किसे कहा गया, लोक में प्रिय वस्तुतः कौन है सो परखिए और स्वामी का सैंया रूप बिगड़ गया। सैया कहो, स्वामी कहो ये तो स्त्रियों के होते होंगे स्वामी सैंया वगैरा? अरे पुरुषों के भी होते हैं, प्रत्येक जीव के होते हैं। सैंया भी प्रत्येक जीव के है, प्रीतम भी प्रत्येक जीव के हैं, मगर पता नहीं कि

मेरा सैंया कौन? मेरा प्रीतम कौन है? प्रीतम जो जगत में सर्व पदार्थों से प्यारा हो उसका नाम है प्रियतम। प्रिय प्रियतम तो जो सर्वाधिक प्रिय हो उसे प्रियतम कहते हैं। तो आपको सर्वाधिक प्रिय चीज क्या है? अपना आत्मा और उसमें भी जो मिटने वाला है ऐसा पर्यायरूप नहीं किन्तु जो शाश्वत विशुद्ध आनन्दमय निज स्वभावरूप है, ऐसा अपने आपका जो स्वरूप है वह प्रियतम है। वह प्रियतम आपका आपमें है, स्त्री पर्याय में रहने वाले जीवों का उनका उनमें है। और कीड़ा मकोड़ा आदि पर्यायों के जो जीव हैं उनका उनमें है, और वह ही उनका सैंया है वह ही उनका प्रियतम है, वह ही उनका मालिक है। जो जिसका निज स्व है, स्वरूप है, वही उसका स्वामी है। मेरा स्व है ज्ञान स्वरूप, मैं हूँ इस ज्ञानस्वरूप का स्वामी। जिसका जो स्वरूप है वही उसका स्वामी है दूसरा और कोई स्वामी नहीं हो सकता। तो ऐसे अपने स्वामी में अपनी स्थापना करना कि यह हूँ मैं, अन्य कोई मैं नहीं हूँ, स्वामी वल्लभ प्रियतम यह सब अपने आपका जो अपने में विराजमान एक ब्रह्मस्वरूप है, शुद्ध चैतन्यमात्र वह है मेरा सब कुछ शरण, मेरा रक्षक मेरा हितकारी, मेरा सर्वस्व यही मात्र एक है। इसको भूल करके इस जीवने अनादि से लेकर अब तक यहाँ कष्ट भोगा। जिसको भूलकर बड़ी दुर्गतियाँ पायीं उसको भूलकर यह जीवन बिताने में कोई लाभ है क्या? महा अनर्थ होगा। आए तो हरि भजन को ओटन लगे कपास ऐसी एक कहावत है ना। भाई इस नर जीवन में आये तो थे हरि भजन को हरि मायने जो पापों को हरे पापों को कौन हरने वाला है? अपना आत्मा अपना सद्भूत शुद्ध ब्रह्मा तो आये तो थे ब्रह्मस्वरूप की उपासना के लिए मगर करने क्या लगे! कपास ओटन लगे। देखो कपास ओटने की ही बात क्यों कही गई? और बात क्यों नहीं कही गई? तो देखिए कपास ओटना एक ऐसा बेहूदा काम है कि कहीं दिनभर कपास ओटा जाए तो मुश्किल से एक ही किलो ओट पाता है। कपास के फलों से पहले कपास को बहुत धीरे-धीरे अलग किया जाता है फिर उस कपास को रहटा में ओटा जाता है तो यह काम एक ऐसा है कि जिसके करने में समय तो अधिक लगता है पर फल कम मिलता है। जैसे औटा तो दिन भर मगर मुश्किल से १ किलो औट पाया। इसलिए कहते हैं ओटन लगे कपास आए तो थे निज आत्माराम की उपासना के लिए और करने लगे विषय कषायों की सेवा तो आप यह बतलावो कि इस नर जीवन का लाभ क्या लिया! जो मिटने वाला है जो मेरे से भिन्न है जो मेरे लिए शरण नहीं है, जो मेरे बरबादी का साधन बनता है। उसका मोह करना, उसका लगाव करना इससे बढ़कर और मूढ़ता क्या कही जा सकती है? अन्दर में बिल्कुल स्पष्ट होना चाहिए कि मैं ज्ञानमात्र हूँ ज्ञानस्वरूप के सिवाय कुछ और नहीं उसी से निरन्तर ज्ञान होता रहता है, ज्ञान प्रज्वलित रहता है, ज्ञान निरन्तर प्रकाशित रहता है यह ही मेरा व्यापार है, और कोई मेरा व्यापार नहीं और ऐसे इस विशुद्ध ज्ञान का अनुभव होता रहता है, मेरे में बस यह ही मेरा कुटुम्ब है, यही भोग है, उपयोग है अन्य और कोई मेरा भार नहीं, ऐसी एक निज की निधि में आइए।

आत्मदर्शन होने पर विषय विषका परिहार व सत्य का आग्रह—परख लो, इस समयसार के जाने बिना आज तक बड़ी-बड़ी विडम्बनाएं सहीं। इस भव में पूर्वभव में जो आपके पिता हो गया माँ हो गई, स्त्री हुई, कोई हुआ उनका कुछ उठता है क्या! आपको कोई आराम मिल रहा है क्या? तो पूर्वभव के कुटुम्ब से मेरे को इस समय कुछ फायदा नहीं और देखो फायदा ही नहीं, मगर उनका जो पूर्वभव में मोह बस आया था उसके कारण यह वासना संस्कार ऐसा लगा कि निरन्तर बेचैन रहना पड़ता तो उल्टा नुकशान ही हुआ, तो ऐसे ही समझिए कि इस भव में भी जो समागम हैं धन वैभव स्त्री पुत्रादि इनके मोह में इनके लगाव में आत्मा पाएगा क्या? अगले भव में जाकर यह आत्मा प्राप्त क्या कर लेगा? कुछ भी नहीं कर सकता और उल्टा नुकशान ही होगा। तो भाई नुकशान वाली बात अब न करें आत्मा का प्रकाश लें अपने आपमें अपने आपकी स्थापना करें यह हूँ मैं अन्य कुछ मैं नहीं हूँ ऐसी आत्मा में आत्मबुद्धि हो तो इसका सारा नक्शा पलट जाएगा। ज्ञान होते ही सर्व बोध हो जाएगा। जब तक नही है ज्ञान भले ही विषय विष में प्रीति जग रही थी। आत्मदर्शन होने पर अन्तस्तत्त्व का अनुराग उमड़ जाता है। जैसे कि किसी सेठ का लड़का नाबालिग था। सेठ तो अपनी कई लाखों की सम्पत्ति छोड़कर मर गया सरकार ने क्या किया कि उस सेठ की सारी जायदाद कोर्ट करली और सेठ के उस नाबालिग बेटे को सरकार ५००) माहवार भेजने लगी। उसकी सेवा के लिए एक नौकरानी भी रख दी। जब वह बालक कुछ बड़ा हुआ तो सरकार के बड़ा गुण गा रहा था अहो सरकार बड़ी दयालु है वह घर बैठे मुझे ५००) माहावार भेज रही है। उसे अभी तक अपनी लाखों की निधि का पता न था। और जब वह १८–२० वर्ष का हुआ उसे अपनी कई लाखों की सम्पत्ति का पता पड़ गया तो उसने सरकार को सूचित कर दिया कि मुझे अब ये ५००) माह नहीं चाहिए अब बालिग हो गया हूँ। मेरी सारी सम्पत्ति मुझे दी जाए। तो भाई बात यह कही जा रही थी कि जब सही ज्ञान हो जाता है आत्मा में आत्मबुद्धि जाग्रत हो जाती है तो इस जीव को सर्वबोध हो जाता है और द्रव्यकर्म के उपहारों को यह ठुकरा देता है एवं अपनी निज निधि को पाने का सत्य आग्रह करता है।

नाम निक्षेप एवं स्थापना निक्षेप का उपसंहार—मोक्षशास्त्र का सूत्र चल रहा है **नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः** नाम निक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप और भावनिक्षेप इन चार निक्षेपों से जीवादि तत्त्वों का सम्यग्दर्शन का प्रतिपादन व्यवहार होता है। कोई किसी **को समझाने चले तो** कुछ नाम ही न हो तो क्या समझे। कौन समझाये किसे समझायें क्या समझायें? तो सबसे पहले आवश्यक है सम्यग्दर्शन की बात कहना, जीव की बात कहना तत्त्व की बात कहना, तो नाम तो लेना ही पड़ेगा, तो नाम के बिना कुछ नहीं चल सकता, इसलिए नाम निक्षेप तो अत्यन्त आवश्यक है। नाम के बिना व्यवहार नहीं, नाम के बिना परिचय नहीं, नाम के बिना एक शब्द भी नहीं उठ सकता। तो नाम निक्षेप की बड़ी आवश्यकता है और नाम निक्षेप से लोकव्यवहार चलता है। स्थापना निक्षेप, स्थापना किए बिना भी काम

नहीं चलता। पुरुष में इसका यह नाम है यों इसका यह नाम है यों इस नाम की स्थापना दिया यह भी स्थापना है, क्योंकि कुछ भी बात कही जा रही हो बात-बात में स्थापना चलती रहती है वह यही है। जिसका ऐसा बोध हो कि वह यही है वह स्थापना है। जैसे मूर्ति को यह पार्श्वनाथ ही है यह वर्द्धमान ही है, इस तरह प्रतिमामें जो स्थापन किया यह स्थापना हो गई। ऐसी स्थापना होवे तो वह स्थापना कहलाती है।

द्रव्य निक्षेप में अनिवारित प्रक्रिया की उद्बोधकता—अब द्रव्य निक्षेप की बात कह रहे हैं। द्रव्य किसे कहते हैं? जो स्वतः नवीन पर्याय के अभिमुख हो उसे द्रव्य कहते हैं और फिर उसका लोकव्यवहार करना द्रव्यनिक्षेप है। देखो दुनिया में जितने भी पदार्थ हैं? वे पदार्थ अपने आपमें ऐसे दौड़े जा रहे हैं अपनी परिणति पानेके लिए कि बिजली क्या दौड़ेगी। जिससे यह द्रव्य पहले समय की पर्याय के बाद अगले समय की पर्याय को पाने के लिए एकदम दौड़ता है। द्रव्य का यह फर्ज है कि वह अगली पर्याय के सन्मुख रहे। ऐसा कभी नहीं हो सकता कि थोड़े समय तक आराम कर लिया मैंने अब कुछ समय तक परिणमन न करूँगा, तो ऐसा विश्राम द्रव्य में नहीं मिलता। द्रव्य का स्वभाव है कि वह अगले समय में पर्याय पाने के लिए प्रति समय तैयार रहता है अगली पर्याय में अभिमुख होने के लिए तो जो अगली पर्याय के लिए अभिमुख हो सो द्रव्य है और उसका लोकव्यवहार करना बताना सो द्रव्य निक्षेप है जैसे कि आप जीव हैं, इस समय जो कुछ भी हैं अगली समय की पर्याय पाने के लिए आप निरन्तर तैयार रहते हैं। बस आपमें अगली-अगली बातें होती जाती हैं। तो जो स्वतः भविष्य की पर्याय के अभिमुख हो उसको द्रव्य कहते हैं। द्रव्य का लक्षण यद्यपि यह भी कहा—जैसे पहले पर्याय पाया वर्तमान में पर्याय पा रहे, आगे पर्याय पाएंगे, उसे द्रव्य कहते हैं लेकिन भविष्य की पर्याय के अभिमुख जो है उसे द्रव्य कहते है, ऐसा कहने में सबका अन्तर्भाव है। जो अगली पर्याय पाने के अभिमुख है वह द्रव्य है। देखो किसी भी पहली पर्याय से पहले भी तो द्रव्य था उसकी अभिमुखता है तो इसमें सब लक्षण गर्भित हो जाते हैं। दूसरी बात यह लोग कहते हैं कि गई सो गई अब आगे की सम्हालो। द्रव्य में गुजर गया सो गुजर गया, अब जरा आगे की देखो। प्रत्येक पदार्थ आगे की पर्याय के अभिमुख रहता है। अब यह बात दूसरी कि हम आप बरबादी के अभिमुख रहें या उन्नति के, यह तो अपने परिणामों की बात है, मगर परिणमे बिना कोई नहीं रह सकता। नियम से अगली पर्याय के तुरन्त अभिमुख है। यह अपनी एक विवेक की बात है कि हम अच्छे विचार करते हैं तो अच्छी पर्याय पाएंगे, खोटा विचार करते हैं तो खोटी पर्याय पाएंगे। सब भीतरी बात से बात है। ऊपर में कोई कुछ कर रहा हो मगर जैसा ऊपर कर रहा हो वैसा ही भीतर में भी सद्भाव है तो उसका भला है। ऊपर में मानो कोई व्रततप तो बहुत बहुत कर रहा पर भीतर में कोई मोक्ष मार्ग की बात नहीं है और बात यह है कि हमारे बच्चे प्रसन्न रहें, घर के सभी लोग प्रसन्न रहें, इसलिए व्रत करना चाहिए, इस भाव से करें

तो उसे सही लाभ नहीं है और कोई मुक्ति की अभिलाषा से करे कि मेरा स्वभाव तो निराहार है, तो मैं अपने उस स्वरूप से देखूँ ऐसी बात करें तो उसका व्रत तप सार्थक है।

सर्वपरिस्थितियों में भाव की महिमा—सर्वत्र भाव की महिमा है कहो भगवान की पूजा कर रहे और भाव खोटा हो, कहो दूकानपर बैठे हों और भाव प्रभु में लग रहे हों। एक कथानक है कि कोई दो भाई थे एक बड़ा और एक छोटा। उस दिन थी पूजा की बारी और उसी दिन रसोई के लिए लकड़ियों की जरूरत थी। तब बड़े भाई ने कहा कि आज हम जंगल से रसोई घर के लिए लकड़ियां तोड़ लाएंगे और तुम आज मंदिर में पूजा करके बारी का काम निपटा देना। सो बड़ा भाई तो गया जंगल में लकड़ियाँ तोड़ने और छोटा भाई मंदिर में पूजन करने चला गया। अब लकड़ियां तोड़ने वाला तो सोचता है कि अरे हम कहां आज फँस गये? हमारा छोटा भाई तो प्रभु की स्तुति कर रहा होगा, प्रभु का गुणगान करके आनन्द विभोर हो रहा होगा : : :। और इधर वह पूजन करने वाला क्या सोच रहा था कि कहाँ हम आज फँस गए? हमारा बड़ा भाई तो जंगल में घूम रहा होगा, जामुन आम आदि के वृक्षों पर चढ़-चढ़कर फल खा रहा होगा, फिल्मी गाना गा रहा होगा : : :। अब देखिए भावों की ही तो बात है। जंगल में लकड़ियाँ तोड़ने वाले नेतो पुण्य बंध किया और पूजन करने वाले ने पापबंध किया। तो भावों के अनुसार होता है सब कुछ अगर अपना उद्धार करना हो तो अपने भाव सुधारो चाहे धन जन वगैरह की क्षति भी हो जाए, किन्तु अपने भाव मत बिगड़ने दें। हमारे भाव अच्छे रहेंगे तो पुण्य रहेगा, सम्पदा मिलेगी और अगर हमारे भाव बिगड़ गए तो पापबंध होगा वर्तमान के ये समागम कितने दिन तक साथ दे सकेंगे? अपने भाव सुधारे रहें यह बात चाहिए। तो यह मैं आत्म द्रव्य सदा नाना पर्यायें होने के अभिमुख रहता हूँ इसलिए द्रव्य निक्षेप से मैं कैसा हूँ? अगले पर्याय में पहुँचूंगा ऐसा हूँ। जैसी अगली पर्याय होगी उस रूप अभेद को निरखते रहना सो यह द्रव्य निक्षेप का लोक व्यवहार है। यह बात कही जा रही है सैद्धान्तिक दृष्टि से। दृष्टान्त में यह कहो जैसे पहले कोई कोतवाल था और अब वह रिटायर हो गया, कोतवाल अब नहीं रहा फिर भी उसे कहते हैं आइए कोतवाल साहब। तो यह बात आयी द्रव्य निक्षेप से। देखो द्रव्य निक्षेप बिना भी किसी का गुजारा नहीं चलता। भविष्य का पर्याय कुछ तो चित में रहता ही है।

भविष्य पर्यायोत्सुक्यता की मानव प्रकृति—भविष्य की बात चित्त में कुछ भी कहो तो यहाँ वह रह सकता है क्या? सबके मन में आगे की बात है। बल्कि इतनी-इतनी आगे की बात है कि जो करना भी न चाहिए उसकी भी बात चित्त में रहती है। एक कथा सुनी जाती है स्मश्रु नवनीत की मूछ मक्खन की। कोई एक मूछ मक्खन नाम का व्यक्ति था। वह प्रति दिन श्रावकों के यहाँ मठ्ठा पीने जाया करता था। एक दिन मट्ठा पीने के बाद उसने ज्यों ही अपने मूछों में हाथ फेरा त्योंही उसके हाथ में काफी मक्खन लग गया। उसने विचार किया कि यदि इस तरह से काफी घरों में मट्ठा पीकर मक्खन इकट्ठा कर लिया करूँ

तो कुछ ही दिनों में तो मालोमाल हो सकता हूँ। यह सोचकर वह प्रतिदिन बहुत से घरों में जाकर मट्ठा पी आता था और अपने मूछों में हाथ फेर कर एक कटोरी में मक्खन इकट्ठा कर लिया करता था। साल दो साल इस तरह करते-करते उसके पास करीब १ किलो घी जुड़ गया। एक दिन जाड़े के दिनों में अपनी झोपड़ी में बैठा हुआ आग ताप रहा था, ऊपर छीके पर छीका डबला रखा हुआ था। आग तापते हुएमें वह कुछ इस ढंग का विचार करने लगा कि कल के दिन अमुक बाजार में मैं इस घी को बेच दूँगा। जितने में बिकेगा उससे फिर बकरी खरीदूँगा। उस बकरी से बच्चे होंगे, फिर दूध बेच कर, बकरी को भी बेचकर गाय खरीदूँगा इस ही विचार धारा में पड़कर उसे कुछ निद्रा सी आने लगी। उसी जगह लेट गया। विचारधारा लगातार चलती रही हाँ तो गाय से फिर भैंस खरीदूँगा, बैल लूँगा, फिर कुछ जमीन खरीद लूँगा, विवाह करूँगा बच्चे होंगे। उन बच्चों में से कोई बच्चा मानो कहने लगा कि चलो पिताजी माँ ने खाने के लिए बुलाया है : : : अरे अभी नहीं जाता दूसरी बार भी चर्चा हुई तीसरी बार फिर वही बात लड़के ने कहा तो गुस्सा आया व लात उठाकर कर कहा—अरे हट अभी नहीं जाता। उसकी लात लगी ऊपर टंगे घी के डबलेपर डबला नीचे गिरा, फूट गया घी आग में गिर गया, आग जल उठी, वह चिल्ला उठा, लोग जुड़े, वह झोंपड़ी से निकलकर चिल्ला रहा था अरे दौड़ो मेरे बच्चे मरे, मेरी स्त्री मरी, मेरे गाय बैल भैंस आदि मरे। लोग सुनकर हैरान हुए—पूछा—कल तक तो तुम माँगते थे—आज यह क्या कह रहे? तो उसने प्रारम्भ से अन्त तक सारी बात कह सुनायी। वहाँ एक सेठ जी खड़े थे, वह बोले अरे तू क्यों दुःखी हो रहा? तेरे वे कुछ थे तो नहीं? तू कल्पना से ही तो उन्हें अपना मान रहा था, वह सब तेरा ख्याल ही ख्याल तो था। तो वहीं खड़े हुए एक पंडित जी बोले, सेठ जी यही हाल तो तुम्हारा भी है। तुम भी तो व्यर्थ ही अपनी मूर्खता से दुःखी हो रहे। तुम ख्याल-ख्याल ही तो बनाते हो कि ये स्त्री पुत्रादि परिजन, ये धन वैभव मेरे हैं, तो तुम्हारे कुछ नहीं, पर उनके पीछे तुम व्यर्थ ही ख्याल बना कर दुःखी रहते तो यह तुम्हारी भी तो मूर्खता है। तो यह मन ऐसी दौड़ लगाता है कि जो असम्भव बात है उसे भी सम्भव करना चाहता है। तो भावी सिद्धि के लिए भी मन कुछ न कुछ जानना चाहता है कि क्या होगा? जैसे मानो जिसे कहीं बाहर जाना है तो उसे ख्याल आएगा कि मैं मोटर से जाऊँगा, वहाँ से यों जाऊँगा। मान लो हम प्रवचन कर रहे तो हमें यह ख्याल रहता कि इसके बाद यह कहना चाहिए, इसके बाद यह। तो यों सभी पदार्थ अपनी-अपनी पर्याय के लिए तैयार रहते हैं। एक समय का भी अन्तर नहीं रहता इसलिए इसे कहते हैं द्रव्य। लोक व्यवहार की बात कही जाती है उसे कहते हैं द्रव्य निक्षेप। तो द्रव्य निक्षेप से लोक व्यवहार होता है।

द्रव्यनिक्षेप के भेद—यह बात मोक्षशास्त्र की कही जा रही है। आप लोग रोज-रोज सूत्र जी का पाठ कर लेते हैं, अष्टमी चौदस को पढ़ते है, व्रत के दिनों में पढ़ते हैं, पाठ तो पढ़ जाते हैं पर यह नहीं जान पाते कि उसमें क्या चीज बसी है। उसमें कुछ तत्त्व ग्रहण

करने की बात तो तब बनेगी जब कि उसका अर्थ समझें, उसका भाव समझें। थोड़ा समय लगायें, थोड़ी हिम्मत बनायें तब समझ सकेंगे। यों ही बिना अर्थ समझे पढ़ते जा रहे हैं तो उसका मर्म तो न मिलेगा। लोग तो ऐसा मानते कि जो इन दसों अध्यायों को पढ़ले उसको तो एक उपवास का फल मिलेगा लेकिन ऐसा पढ़ने से फल नहीं मिलता। और यों समझो कि यदि इस तरह से पाठ करने से एक उपवास का फल मिलता है तो अर्थ समझकर भाव समझकर पढ़ें तो उसे हजार उपवास का फल मिलेगा। जैसे बताते हैं कि जब राम रावण का युद्ध हुआ था तो बंदरों ने समुद्र को लाँघ लिया था। तो लाँघ लिया समुद्र इतने पर भी उन्हें इसका पता तो न पड़ सका कि उस समुद्र में कैसे-कैसे रत्न भरे पड़े हैं। तो ऐसे ही पढ़ गया कोई सूत्र मगर उसमें क्या तत्त्व बसा है, यह बात तो न ध्यान में आयी। तो यहाँ बतला रहे द्रव्यनिक्षेप की बात। वह द्रव्य होता है दो तरह का (१) आगमद्रव्य और (२) नो आगमद्रव्य। आगमद्रव्य की बात, तत्त्व की बात, शास्त्र की बात कोई जानता तो हो, मगर उपयोग में न लेता हो तो वह कहलाता है आगमद्रव्य जैसे कोई १० भाषायें जानता है, वह एक भाषा पढ़ रहा, ९ भाषाओं को उपयोग में नहीं ले रहा तो वह ९ भाषाओं का आगम द्रव्य भाषा में जाना कहलाता। ऐसे ही जो जीव आगम के तत्त्व को जानता है, पर उपयोग में नहीं ले रहा तो वह कहलाएगा आगमद्रव्य। अब देखो इसमें पर्याय की बात कैसे आयी? जो आगामी पर्याय के अभिमुख हो उसे द्रव्य कहते हैं। वह अभी लगा तो नहीं, पर आगे लगेगा। जिसने शास्त्र को जाना वह इस समय नहीं लग रहा उसके उपयोग में मगर जानकारी तो है, लग जाएगा, आगे का पर्याय उसे ज्ञात है इसलिए उसे आगम कहते हैं, और नो आगम क्या है? ये नो आगम तीन तरह के हैं— (१) ज्ञायक शरीर (२) भावी और (३) तदव्यतिरिक्त याने जानने वाले का शरीर, जो जानता है आगम को उसका शरीर। शरीर में रहने वाला जीव तो आगे जानेगा तो वह हो गया आगमद्रव्य। वे ज्ञायक शरीर तीन तरह के होते हैं भूत, वर्तमान और भविष्य। भूत होते हैं तीन तरह के। च्युत, च्यावित व त्यक्त, एक तो वह जो समता से शरीर छोड़ा जाए और एक वह जो संक्लेश से छोड़ा जाए और एक यों ही छोड़े। तो ऐसा यह ज्ञायक शरीर। और जो कुछ आगे जानेगा वह है भावी नो आगम। तदव्यतिरिक्त नो आगम कौन? तदव्यतिरिक्त नो आगम द्रव्य निक्षेप कर्म और नो कर्म इन दो में विभक्त करना यह सब नोआगम द्रव्य निक्षेप है। तो ये जितने पदार्थ बताये जा रहे हैं वे आगामी पर्याय के प्रति अभिमुख रहते हैं। यह बात सबके अन्दर पायी जाती है, जितने भी पदार्थ होते हैं वे सब पूर्वपर्याय को नष्ट करके अगली पर्याय को पैदा करते और वे द्रव्यरूप से स्वभावरूप से सदा रहते हैं। जैसे जीव है तो उसने पहली पर्याय तो नष्ट की। वर्तमान बन गया, यह पर्याय उत्पन्न की और अब आगे मनुष्य पर्याय को नष्ट करेगा, अगली पर्याय उत्पन्न करेगा और मैं वही का वही हूँ। जो पहले थे तो अब हुआ, सो ही आगे रहेगा। जिसे यह ज्ञान हुआ सो ही कल्याण की इच्छा करेगा। मैं ऐसा भाव बनाऊँ कि मेरा

कल्याण हो जाए। अगर ऐसा भाव न बनाऊँ तो आगे पर्याय बुरी मिलेगी। फिर पछताएंगे। अरे आगे की पर्याय इससे तो अच्छी मिले। जैसी आज पर्याय मिली है उससे बुरी पर्याय यदि मिल गई तो हम बरबाद हो गए। देखिए जो द्रव्य निक्षेप की भावना रखता है उसके कल्याण की बात मन में आएगी। अच्छा काम करे जिससे कि ठीक पर्याय हो। तो ऐसे प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद व्यय–ध्रौव्य हैं।

सदा अनन्त भावी पर्यायों से संयुक्तता—अब कोई दार्शनिक कहता है कि भावी पर्याय को कोई पाता नहीं, क्योंकि सब वस्तु वें क्षणिक हैं, सत् होने से क्षणिकवादी लोग मानते हैं कि आत्मा एक नहीं है शरीर में सुबह तो और कोई आत्मा था, अब और हो गया, यों एक दिन में करोड़ों आत्मा एक शरीर में आ गए। ऐसा बौद्धों का कहना है। तो अब उनका यह कहना है कि जब द्रव्य आगे रहता ही नहीं तो द्रव्य का लक्षण कैसे घटित होगा? समाधान जो सत् है वह नियम से उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है। जो है उसमें कुछ परिणमन जरूर होता है और अर्थ क्रिया तब पाई जा सकती है जबकि वाह्य सदा रहे ओर पूर्व पर्याय को विलीन कर उत्तर पर्याय को प्राप्त करे। देखो नियम से उत्पाद व्यय ध्रौव्य बिना कुछ भी चीज नहीं है, कोई मनुष्य है तो उसमें पहले बचपन है, बचपन मिटा तो जवानी आयी, जबानी मिटी तो बुढ़ापा आया और बुढ़ापा मिटा तो नई पर्याय में आ गए। तो यह जीव पुरानी पर्याय मिटाता है और नवीन पर्याय पैदा करता जाता है, तो ऐसा यह सत् है तो यह द्रव्य हुआ ना। मैं सदा रहने वाला हूँ। वही हूँ, अन्यथा संतान न बन सकेंगे। जिस चाहे को एकदम मान लिया तो मैं एक हूँ, उत्पादव्यय—ध्रौव्य वाला हूँ, जब मेरा उत्पादव्यय ध्रौव्य होता हैं तो हमें ऐसा करना चाहिए कि जिससे हमारी आगे अच्छी पर्याय बने। यह सब एक अपनी-अपनी प्रतिभा की बात होती है। प्रतिभा है तो वह सम्यग्दर्शन पा सकता है। जब पशु पक्षियों को भी सम्यक्त्व मिल जाता है तो इसे न मिले ऐसी कौन सी बात है। आखिर मनुष्य है, इसकी कषायें मंद हों, कल्याण की भावना हो, समागमों से वैराग्य जगा हो, मुक्ति की इच्छा हो, आत्म कल्याण की भावना हो उसे सम्यक्त्व जगेगा, तत्त्वाभ्यास करेगा, तत्त्व जानेगा, और इस पर्याय को ऐसे ही खो दिया विषय कषायों में तो उसे क्या मिलेगा? कुछ न मिलेगा। किसी सेठ के चार बहुवें थीं तो सेठ ने सोचा कि घर की व्यवस्था तो स्त्रियों से बनती है तो किस बहू को भार सौंपे घर का? घर में हुकुमत किस बहू की चले और बाकी तीन बहुवें जिसकी हुकूमत से चले अगर चारों बहुओं की हुकूमत चलेगी तो घर चल नहीं सकता। उससे तो घर बिगड़ता है। जिस घर में एक होगा हुकूमत करने वाला वह घर सुखी रहेगा। तो सेठ ने सोचा कि किस बहू को घर की हुकूमत दी जाए? तो उसने एक उपाय सोच निकाला। धान के ८० दाने (छिलका सहित चावल) लिए और २०–२० दानों की चार पुड़िया बना लिया। सबसे पहले बड़ी बहू का बुलाया और कहा देखो बहू जी तुम हमारी यह पुड़िया अपनी पास रखो, इसे हम जब माँगें तब दे देना। बहू ने ले लिया और बाहर जाकर देखा क्या कि वे धान के

२० दाने थे सोचा कि पिताजी तो अमानत के लिए कह रहे और यह भी कहा कि जब मागेंगे तब दे देना, तो इन्हें सम्हालकर धरने की क्या जरूरत? जब माँगेंगे तब इतने दाने उन्हें दे देंगे, यह सोचकर उसने वह पुड़िया यों ही बाहर फेंक दिया। सेठ ने उससे छोटी बहू को बुलाया और कहा बहूजी तुम यह पुडिया अपने पास अमानत के रूप में रखो, जब हम माँगें तब दे देना। उसने भी पुडिया खोलकर देखा तो धान के २० दाने थे। सोचा कि इन्हें मैं सम्हालकर कहाँ रक्खूं। इन्हें चखकर देख लूँ जब पिताजी माँगेंगे तो ऐसी ही स्वाद वाले बीस दाने उठाकर दे दूँगी। यह सोचकर उसने उनको दाँतों से कुचल कर चबाकर देखा, देखिए इसने तो कुछ बुद्धि भी लगाया, सोचा कि जब पिताजी माँगेंगे तब मैं इस तरह के स्वाद वाले दाने दे दूँगी। सेठ ने अपनी तीसरी बहू को बुलाया और कहा बहूजी हमारी यह धरोहर अपने पास रखो, जब हम माँगेंगे तब दे देना। उस बहू ने खोल कर देखा तो उसमें धान के बीस दाने थे। सोचा कि सेठ जी कोइ मूर्ख तो हैं नहीं, उन्होंने कुछ सोचा जरूर होगा, इसलिए उस पुड़िया को तिजोड़ी में रखकर सुरक्षित कर देना चाहिए यह सोचकर उसने उस पुड़िया को ज्यों का त्यों तिजोड़ी में धर दिया। अब सेठ ने सबसे छोटी बहू को बुलाया, उसे भी वह पुड़िया देकर कहा देखो बहूजी तुम यह पुड़िया अपने पास अमानत रूप में रखो, जब हम माँगें तब दे देना। जब उस बहू ने वह पुड़िया खोलकर देखा तो उसमें धाने के बीस दाने थे। उसने अपनी बुद्धि से सोचा कि इसमें कुछ खास बात अवश्य होगी। अब उसकी प्रतिभा देखिए कि उसने उन बीस दानों को जमीन में एक जगह बो दिया, उनसे मानो बीस पौध बन गए। उन बीस पौधों में कोई ४–५ पौधे, और उसके हर पौध के साथ निकले हर पौधे में एक-एक बाली आयी। हर बाली में करीब–४०–४० दाने आये। इस तरह के करीब दो हजार दाने एक वर्ष में ही पैदा हो गए। दूसरे वर्ष उन सब दोनों को बो दिया फिर तो दो तीन गाड़ी भर धान पैदा हो गए उन सब दानों को भी बो दिया तो अब बीसो गाड़ी धान पैदा हो गए। अब तीन वर्ष के बाद सेठ ने अपनी सभी बहुओं से अपनी धरोहर वापिस करने को कहा। सबसे पहले बड़ी बहू को बुलाया और अपनी धरोहर माँगा। तो उस बहू ने धान के बीस दाने कहीं से उठाकर पुड़ियाँ बनाकर सेठ को दे दी। और यह भी बता दिया कि हमने तो उन्हें फैंक दिया था। तो वहाँ सेठ ने कहा देख बहू तू किसी चीज को इधर से उधर फेंकना अच्छा जानती है अतः तू घर में झाड़ू बौहारी का काम सम्हालना। दूसरी बहू को बुलाया तो उसने भी उसी स्वाद वाले बीस धान के दाने कहीं से उठाकर दे दिए। वहाँ सेठ ने यही कहा कि ऐ बहू तू किसी भी चीज का स्वाद लेना अच्छा जानती है इसलिए तू आज से रसोई घर में भोजन बनाने का इन्तजाम रखना सेठ ने तीसरी बहू को बुलाया तो उसने अपनी तिजोरी से वही के वही धान सेठ को दे दिया। तो सेठ ने उस बहू से कहा कि देख बहू,तो चीज को सम्हालकर रखना अच्छा जानती है अतः तू आज से तिजोड़ी सम्हालने का (कोषाध्यक्ष का) काम करना, जब सेठ ने सबसे छोटी बहू को बुलाया तो वहाँ बहू ने यही कहा कि पिताजी

आपकी धरोहर तो बीस गाड़ियों बिना न आ पावेगी। आप अपनी धरोहर को बीसों गाड़ियों में लादकर मंगा लीजिए। तो वहाँ सेठ ने कहा कि ऐ बहू तेरी अन्दर बड़ी बुद्धि है, प्रतिभा है अतः आज से तुझे घर का प्रेसीडेन्ट (प्रधान), हुकूमत करने वाला बनाया जाता है। तो देखिए एक प्रतिभा की ही तो बात है। ऐसे ही यहाँ समझें कि हमको अगर ऐसी प्रतिभा हो गई कि हम अपने स्वरूप को देखें अपने भावी परिणमनों को देखें भविष्य में क्या होऊँगा? मुझे क्या करना चाहिए, क्योंकि हमें निरन्तर अगली पर्याय अभिमुख रहती है। मायने उसके बिना यह रह नहीं सकता। ऐसे देखें तो उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं, ऐसा द्रव्य दृष्टि से जो लोक व्यवहार करे, निक्षेप करे उसे द्रव्य निक्षेप कहते हैं।

द्रव्य की भावीपर्यायाभिमुखताके वर्णन से लाभ—द्रव्य निक्षेप से लोकव्यवहार होता है। और यह द्रव्य कैसे समझा? उत्पाद व्यय ध्रौव्य से। मैं हूँ तो आगे कोई पर्याय पाऊँगा ही ऐसी उसकी श्रद्धा रहे। अब इस सम्बन्ध में मोटे रूप से यह बात समझना कि द्रव्यनिक्षेप से भावी पर्याय की बात मुख्यतया ली जाती है द्रव्य की भावीपर्यायाभिमुखताका स्वभाव भूतकाल में भी था क्योंकि गुजरी पर्याय में भी यह रीति रही थी कि आगे निक्षेप पर्याय होगी वहाँ भी भावी पर्याय की पद्धति इस तरह का भावी पर्याय का सम्बन्ध द्रव्य में निक्षेप को कहता है। नहीं तो क्या है? यह सोचे कोई कि जीव तो जीव ही रहेगा। उसमें द्रव्य निक्षेप कैसे होगा अरे उस पारिणामिक भाव का इस चैतन्य स्वरूप में निक्षेप नहीं दिखाया जा रहा। वहाँ तो नय, निक्षेप का अवकाश ही नहीं है, किन्तु जो जीव में पर्याय हो रही उनकी बात चल रही है कि यह कहलाता है द्रव्यनिक्षेप जैसे कोई अपने बच्चे को जब खिलाता है तो वह कहता है कि मेरा बेटा तो राजा बनेगा, वह बड़ा होगा तो मुझे कमा कर खिलाएगा, मेरी सेवा करेगा, अरे क्या पता कि वह सेवा करेगा कि डंडा मारेगा? देखो—किसी भी पदार्थ के प्रति, भावी पर्याय के प्रति अभिमुखता का भाव प्रत्येक के रहता है तो यों पर्याय अपेक्षा से यह निक्षेप की बात चल रही है। तो यह द्रव्य निक्षेप से जीव की बात तो भली भाँति समझ में आ गई, पर ऐसी ही अजीव की बात है। अजीव का भी जीव से सम्बन्ध है। कर्म से भी और शरीर से भी। कर्म और शरीर की भावी पर्याय होती है। एक शरीर कर्मसहित जो है उसकी पर्याय होती है, उस तरह द्रव्य निक्षेप में भावी पर्यायाभिमुखेन की बात देखी जाती है और उससे लोकव्यवहार होता है। किसी को रुपये उधार दिया हो तो उसके चित्त में यह बात बसी रहती है कि एक साल में हमको इससे इतना मिलेगा। अथवा कोई बैंक में रुपये जमा करता है तो उसके चित्त में यह बात बसी रहती है कि ६ परसेन्ट के हिसाब से एक साल में इतना रुपया हमें मिलेगा। तो भावी बात कुछ न कुछ जरूर रहती है इसीलिए द्रव्य निक्षेप की उपयोगिता कहलाती है। इस दृष्टि से व्यवहार किया जाए उसे कहते हैं द्रव्य निक्षेप। द्रव्य में यह बात भली भाँति समझ में आएगी कि अन्वय है। अब है, आगे होगी, यह बात समझ में आती है उन सबके प्रति। तो इस तरह द्रव्य निक्षेप में यह बात कही गई

कि हममें भावी पर्याय तो अवश्य होगी। पर्याय हमारी होती रहेगी पर ऐसा काम करें जिसमें हमारा अनन्त हित हो।

पञ्चमसूत्र के सम्बन्ध में पूर्व के समस्त सूत्रों की भूमिका रूपता—मोक्षशास्त्र में सबसे पहले बताया है कि सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र की एकता मोक्ष का मार्ग है, याने आत्मा का सही सहज निरपेक्षस्वरूप में विश्वास होना और अपने उपयोग को इस ही सहज स्वरूप में लगाना और यहाँ ही रमण करना, लीन होना सो मोक्ष का मार्ग है फिर द्वितीय सूत्र में कहा कि सम्यग्दर्शन कहते किसे हैं? सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र का अर्थ है सही मानना और भली प्रकार आचरण करना किन्तु सम्यग्दर्शन शब्द का सीधा अर्थ नहीं निकलता सम्यक्त्वरूप, क्योंकि दर्शन मायने आँखों से देखना है, तब इस कारण से सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताने को अलग से सूत्र बनाया है, नहीं तो आशंका हो सकती थी कि सम्यग्ज्ञान का स्वरूप क्यों नहीं कहा इस मोक्षशास्त्र के प्रथम अध्याय में सम्यग्ज्ञान व सम्यक्चारित्र का स्वरूप क्यों नहीं कहा? उनका स्वरूप तो कहा नहीं लेकिन सम्यग्दर्शन का स्वरूप बताया है, उसका कारण है कि सम्यग्दर्शन में जो दर्शनशब्द है उसका अर्थ साधारणतया प्रसिद्धतया आँखों से देखना है अतएव सूत्र में कहना पड़ा कि वस्तुस्वरूप सहित तत्त्व का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। फिर तृतीय सूत्र में बताया कि वह सम्यग्दर्शन स्वभाव से भी होता है और उपदेश से भी होता है। अर्थात् उस पर्याय में उपदेश पाए बिना भी होता है और उपदेश पाकर भी होता है फिर चतुर्थसूत्र में कहा कि इस सबके प्रयोजनभूत जो जीवादि ७ तत्त्व हैं वे कौन-कौन हैं— जीव, अजीव, आश्रव, बंध सम्बर, निर्जरा और मोक्ष। तो फिर इस पंचम सूत्र में यह कह रहे हैं कि इन सब तत्त्वों का लोक व्यवहार किस तरह होता है? अर्थात् जीवादिक पदार्थों की जानकारी और दूसरों को समझाना यह किस प्रकार हो सकता है? उसका खुलासा किया है पंचम सूत्र में **नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यासः नामनिक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्यनिक्षेप, और भावनिक्षेप**। इन चारनिक्षेप से तत्त्व का, सम्यग्दर्शन आदिक का लोकव्यवहार होता है। खुद समझ लेना और दूसरे को समझा देना इसके लिए जो व्यवहार चाहिए उसका नाम है न्यास।

नाम, स्थापना व द्रव्यनिक्षेप के विषय का पुनः दिग्दर्शन :—नामनिक्षेप का अर्थ है नाम रख देना। गुण उस में हों अथवा नहीं, जो नाम रखा जा रहा है उस नाम द्वारा वाच्य गुण वहाँ हो अथवा न हो, किन्तु किसी अभिप्राय को लेकर नाम रख देने का नाम है नामनिक्षेप। जीव अजीव पदार्थ के भी नाम रखे जाते हैं और मनुष्य आदि के भी नाम रखे जाते हैं। यह है नामनिक्षेप। स्थापनानिक्षेप किसी पदार्थ में किसी अन्य पदार्थ की स्थापना करना स्थापनानिक्षेप है। स्थापनानिक्षेप का इतना ही अर्थ नहीं है कि जैसे मूर्ति में या तदाकार उस भगवान की या अन्य पदार्थ की स्थापना करना यह या अतदाकार में स्थापना करना इतना ही अर्थ नहीं, किन्तु जिसका नाम धरा गया उसके बारे में यह ख्याल आए कि इस नाम का

यह वही व्यक्ति है ऐसा जहाँ ज्ञान किया जाए उस सबको स्थापना निक्षेप कहते हैं। जैसे मूर्ति को देखकर ज्ञान होता है कि यह पार्श्वनाथ हैं, यह शान्तिनाथ हैं, इसी तरह अन्य में अन्य की स्थापना किए बिना भी एक ही पदार्थ के बारे में कुछ भाव की स्थापना करना वह भी स्थापनानिक्षेप है। तो देखो नाम से व्यवहार चलता कि नहीं। किसी का नाम न रखा जाए तो व्यवहार कैसे चले? स्थापना बिना भी व्यवहार कैसे चले? तो एक है तीसरा द्रव्यनिक्षेप याने जो पर्याय अभी हुई नहीं, अभी होने वाली है उस द्रव्य का व्यवहार करना सो द्रव्यनिक्षेप है। जैसे कुन्दा-कुन्दाचार्य को कुन्द-कुन्द भगवान कह देते हैं। होंगे कभी भगवान अथवा श्रेणी में रहने वाले मुनियों को भगवान भी कह देते हैं। भक्ति में आकर यहाँ भी तो किसी ज्ञानी पुरुष को देखकर लोग कह देते हैं कि यह तो भगवान हैं। जैसे अभी कोई राजपुत्र है, अभी वह राजा नहीं हुआ मगर उसे लोग राजा कह देते हैं, यह तो एक मोटी व्यवहार की बात कही, पर यहाँ यह समझना है कि जो भी वस्तु है वह भावी पर्याय की ओर अभिमुख ही होता है, इसी प्रकार कुछ भी द्रव्य हो, अगर वह है तो वह भविष्य पर्याय के अभिमुख होती है, यह कहलाता है द्रव्य का स्वरूप देखो दनादन सारे पदार्थ नवीन पर्याय की ओर लगे हैं, ऐसा कभी अन्तर न आएगा कि कोई पदार्थ कोई द्रव्य भावी पर्याय की ओर अभिमुख न हो और कोई अन्तर पड़ जाए कि पर्याय न हो एक समय को ऐसा कोई स्वरूप नहीं। द्रव्यनिक्षेप का स्वरूप कहा।

भावनिक्षेप का विवरण—अब भावनिक्षेप का स्वरूप कह रहे हैं। वर्तमान में जो पर्याय को लेकर प्रतिपादन करना, व्यवहार करना सो भावनिक्षेप हैं। जैसे जब राजा हो तब ही उसे राजा कहना यह राजा का व्यवहार भावनिक्षेप का व्यवहार है तो ऐसा भावनिक्षेप दो प्रकार का है—(१) आगम भाव और (२) नो आगमभाव अर्थात् जो जीव सम्यग्दर्शन पर्याय में है पर सम्यग्दर्शन के विषय में उपयुक्त हो गया वह तो हुआ आगम भावनिक्षेप से सम्यग्दर्शन। और जो सम्यग्दर्शन पर्याय करके सहित है वह है नोआगमभाव सम्यग्दर्शन अर्थात् सम्यग्दर्शन बताने वाले शास्त्र का उपयोग कर रहे हों तो वह है आगमभाव और जो सम्यग्दर्शन पर्याय युक्त है वह है नोआगमभाव। देखिए यह सब महाशास्त्र की बातें समझने के लिए उपाय कहे जा रहे हैं, यह सब इस महाशास्त्र की भूमिका चल रही है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र का वर्णन आगे बहुत विस्तार में चलेगा, पर अभी बताया जा रहा कि उन सबको समझने का उपाय क्या है? यह कहलाता है भावनिक्षेप, जो वर्तमान समय की बात को उस समग्र पदार्थ में बताए सो है भावनिक्षेप। देखिए भावी वस्तु है लेकिन जो बात अभी नहीं हुई है, आगे होगी, वह आगे के लिए भाव हैं, जो बात पहले हो चुकी उस समय में वह बात होवे वह वर्तमान का भाव है, भाव को छोड़कर वस्तु ठहर नहीं सकती। इस प्रकार भाव असत्य नहीं। ये चार प्रकार के निक्षेप नाम, स्थापना, द्रव्य, और भाव इनसे पदार्थ का व्यवहार किया जाता है।

न्यास की निक्षेपों से कथंचित् भिन्नता व कथंचित् अभिन्नता—देखिए सूत्र के अर्थ की ही बात कही जा रही है। न्यास किया जाता व्यवहार किया जाता, परिचय किया जाता परिचय कराया जाता तो परिचय करना कराना इन चारों से अलग है या अभिन्न है? एक ऐसी मन में जिज्ञासा बन सकती है। अगर अभिन्न है तो फिर न्यास शब्द अलग कहना न चाहिए। अगर भिन्न है तो कभी न्यास बन सकता। न्यास का अर्थ है लोकव्यवहार तो अन्तर आएगा अनेकान्त से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है, क्योंकि व्यवहार में प्रयुक्त यह ही बनता है इसलिए अभेद है पर इसका न्यास किया जा रहा है। पहले न्यास न था, अब न्यास हो गया, ऐसा भेद पड़ जाने से यह भेदरूप है इस तरह यहाँ बताया गया है कि नाम स्थापना द्रव्य भाव इन चार निक्षेपों से तत्त्व आदि का न्यास होता है। किसी भी पदार्थ को आप जानना चाहे तों उसमें चार चीजों की आवश्यकता पड़ती है। जैसे समझा कि यह घड़ी है, तो घड़ी यह नाम रखे बिना घड़ी के बारे में कोई व्यवहार चलेगा क्या? नाम रखना प्रथम आवश्यक है और जिसका नाम रखा वह यह है इस तरह की स्थापना भी जरूरी है, और जिस समय जो बात कह रहे हैं उस समय के बाद वह बात आपके कानों में पहुँची और जब कानों में पहुँची उसके बाद उसके बारे में विचार आगे करें तो आप कहेंगे कि जब समझा तब चीज नहीं, जब चीज चित्त में आयी तब वह शब्द नहीं तो काम कैसे चले? उस समस्या को निपटाता है यह द्रव्य निक्षेप और भाव में वर्तमान की बात वर्तमान में ही कही गई, इस तरह से समझने की बात होती है तो चार निक्षेपों से समस्त लोकव्यवहार होता है।

तन्न्यास पद में तत् शब्द के ग्रहण की सार्थकता:—अब एक बात और थोड़ी व्याकरण सम्बन्धी कही जा रही है। 'नामस्थापनाद्रव्यभावतस्तन्न्यास:, उसका न्यास होता है। तो यहाँ एक शंका होती है कि अगर यहाँ तत् शब्द न कहते, यहाँ केवल इतना कहते—नामस्थापना द्रव्यभावत: न्यास:, इन चार निक्षेपों से लोक व्यवहार होता है? तो पहले कहा गया है जिसे सूत्र में उसका हो जाएगा। तत् शब्द डालने की क्या जरूरत है? अर्थात् जो पास में बात आयी है पहले जीवादि ७ तत्त्व, उसका व्यवहार हो जाएगा और देखिए प्रधान और अप्रधान दो बातें आयीं अब तक, प्रधान तो है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र, जिसको कि मोक्षमार्ग समझना इस शास्त्र में चल रहा है और अप्रधान हैं जीवादि ७ तत्त्व, क्योंकि वे सम्यक्त्व के विषयभूत हैं तो प्रधान का भी ज्ञान हो जाएगा। कभी प्रत्यासत्तिका, समीप का भी ज्ञान हो जाएगा, फिर तत् शब्द बोलना क्यों जरूरी हो गया? वह तुम्हारी शंका ठीक है और तत् शब्द व्यर्थ है, लेकिन यहाँ दो झगड़े आते हैं कोई कहेगा कि हम तो जीवादि ७ तत्त्वों का न्यास होना यही अर्थ लगायेंगे क्योंकि जो पास में आयी हो बात उसे ही लेना सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र तो पहले सूत्र में आया है, बहुत पहले के शब्द हम न ग्रहण करेंगे पास में जो बात कही गई हो उसका ही ग्रहण होगा। जैसे कल जिन जिनका नाम लिया है और आज हम बात कहें कि बैठें तो क्या उनका ग्रहण हो गया? अरे जो सामने हैं उनका ग्रहण हो गया। तो तत्त्व ही

ग्रहण में आते तो कोई यह झगड़ा करता कि प्रधान तो सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र है, उनका ग्रहण होना चाहिए। जब यह झगड़ा खड़ा हो जाता है तो यह तत् शब्द निपटारा करता है कि देखो हम जब व्यर्थ ही इस सूत्र में पड़े हैं तो हम तत् शब्द को व्यर्थ मत समझें। तुम दोनों झगड़ों मत। दोनों का ही यहाँ ग्रहण होगा। अर्थात् जो कुछ भी पदार्थ हो, सम्यक्त्व हो, तत्त्व हो सबका लोकव्यवहार इन चार निक्षेपों से होता है। देखिए यह सब एक बड़ा परिचय कराने की बात कही गई है। वास्तव में परिचय कराना किसका है? अपने आपमें विराजमान अनादि अनन्त शाश्वत प्रकाशमान जो एक चैतन्य स्वरूप है उसका परिचय कराना है। एक इस अपने आत्म भगवान का परिचय नहीं है सो दर-दर ठोकरें खाते रहते हैं। जो क्लेश आता है, जो विपत्ति है, जो विडम्बना बनती है, यह चोट है। जहाँ ही यह चित्त गया जहाँ ही आशा बनी, बस उसी के उपासक बन जाते हैं। इससे अशान्ति उत्पन्न होती है। इस अशान्ति को दूर करने का सदा के लिए सकंटों को दूर कर देने का उपाय है तो एक अपने आपमें विराजमान अद्वैत अंतः प्रकाशमान भगवान आत्मस्वरूप के दर्शन करना। यही एक सार है, यह बात बहुत दृढ़ता से समझ लेने की है। यह बाहरी चेतन अचेतन का सारा समागम मेरे लिए शरण नहीं है, सारभूत नहीं है। मेरे काम न आएगा, बल्कि इसके सम्बंध से जो मेरे में रागद्वेष मोह उठता है वह मेरी बरबादी का ही कारण बनेगा। देखो कितनी स्पष्ट बात है कि जो भी समागम हैं वे मेरे हित के कारण तो हो नहीं सकते और होंगे तो अहित के कारण बनेंगे, फिर भी इन सब बातों में पड़ता ही रहा है, कैसे हमारी कमजोरी है हम वर्तमान पर्याय में उसका त्याग करने में समर्थ नहीं हैं। भूख प्यास ढंडी गर्मी आदि नाना बात की आपत्तियाँ आती हैं, इसलिए घर में रहना आवश्यक बन गया है, इसलिए घर में रहना आवश्यक बन गया है निर्बल जीवों को, और जब घर में रहना जरूरी हो गया। ये सब बातें आवश्यक बन गई हैं, फिर भी कमाई करना परिस्थिति के लिए आवश्यक है, मेरे आत्मा के लिए आवश्यक नहीं है, ऐसा विश्वास रखना जरूरी है। भाई जैसे लोग कहते हैं ना—भाई दुकान चलाना आवश्यक है, अरे दुकान चलाना आवश्यक है परिस्थितिवश किन्तु मेरे आत्मा के लिए आवश्यक तो है अपने आत्मा का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण। एक यह ही आत्मा भगवान मेरे उपयोग में रहे, इतना मात्र मेरे को आवश्यक है, मगर परिस्थितियाँ, ये आवश्यकतायें बना देती हैं। तो परिस्थिति से आवश्यकतायें बनी हैं, मेरे को आवश्यकता नहीं है ऐसा एक श्रद्धान रखना चाहिए। यह श्रद्धान रहेगा तो ममता न रहेगी, क्योंकि परिस्थिति के लिए आवश्यक नहीं हैं, इस कारण से मेरा उनमें कोई ममत्वभाव नहीं है। यह मेरे कुछ नहीं है, मेरा तो मात्र मैं ज्ञान प्रकाश हूँ। तो अपने आत्मा के स्वरूप का निर्णय किए बिना आत्मा में धर्म का अंकुर नहीं आ सकता। तो यही बात समझना है यह ही विषय है सम्यग्दर्शन का। और इसी विषय का परिचय कराना है तो सम्यग्दर्शन की भी हमें समझ आवेगी और सम्यग्दर्शन के विषयभूत ७ तत्त्वों की भी दृढश्रद्धा प्रायोगिक होगी। तब तक हम अपने आत्मा में गुप्त पड़े हुए, मूर्छित पड़े हुए इस चैतन्यदेव को पा सकेंगे।

शरणभूत परमब्रह्म की सुध करने का अनुरोध—देखो जैसे जिसकी शरण गहे बिना जिन्दगी न चलेगी, गुजारा नहीं होता उसको ढूंढने के लिए आप कितनी कोशिश करते हैं, कहाँ गया भैया मेरा, कहाँ गया दादा मेरा, मिल नहीं रहा, कहाँ चला गया। उनसे कोई काम पड़े तो झट उसकी शरण में पहुँचते कि नहीं, उसे ढूंढेंगे, जहाँ मिल जाए वहाँ ही दर्शन करके, मिलकर अपने को सन्तुष्ट मान लेता तो भाई यहाँ यह समझिए कि अपने आप में बिराजमान जो एक शुद्ध ज्योति है, ज्ञानप्रकाश है, जो मेरा सहजस्वरूप है अपने आप स्वतः, बिना दूसरे की दया के, बिना दूसरे के सम्पर्क के जो मेरा स्वरूप है उस स्वरूप का दर्शन ही शरण है, सार है, कर्मों को नाश करने वाला है, उस स्वरूप की खोज में चलें तो खोजते-खोजते कहाँ मिलेगा? बाहर खोजें तो कहीं नहीं मिलता। बाहर खोजने चलें तो परिश्रम रहेगा मेरा शरणभूत सारतत्त्व मेरे को बाहर में कहीं न मिलेगा। अच्छा। घर में खोजा तो यहाँ भी विश्राम न मिला, अपने भगवान आत्मा का मिलन हो तो वहाँ परम विश्राम अवश्य होता है, उसकी क्या निशानी है? वह परम विश्राम कहाँ मिलता? कुछ न कुछ चिन्ताशल्य ये सब बातें बनी ही तो रहती हैं। विकल्प बने ही तो रहते हैं। जैसे पानी में रहने वाली मछली को कोई पानी से उठाकर बाहर फेंक दे तो उस मछली की क्या हालत होती है? वह तो छटपटाती है, बरबाद सी होती रहती है, दुःखी होती रहती है, इसी प्रकार ज्ञान समुद्र में रहने वाला यह अंतस्तत्त्व है। इस अंतस्तत्त्व को अगर ज्ञानसमुद्र से बाहर फैंक दिया गया, जीव अनादिकाल से फिंका हुआ है। इस उपयोग को इस ज्ञान समुद्र से बाहर फेंक दिया गया तो यह उपयोग, यह अंतस्तत्त्व कितना छटपटाता है। जिस भव में गया वहाँ ही कोई नवीन पदार्थों का समागम होता है और कैसा मेलकर बैठता। न इस भव से पहले इसका परिचय पाया और न इस भव के मरण के बाद इसका परिचय रहेगा। थोड़े वर्षों के लिए, सामने न कुछ सी चीज, पर उसमें इतना लीन हो जाता है कि बस उसे अपनी फिकर नहीं। उसे आत्मा की सुध नहीं रहती है। तो यह विपत्ति कम है क्या? अज्ञान की विपत्ति सबसे भारी विपत्ति है। ज्ञान प्रकाश आ जाए तो वह इतना बड़ा वैभव है कि तीन लोक की सम्पदा भी सामने पड़ी हो तो भी उस वैभव का कोई मूल्य है क्या? तो पहले यह समझना होगा कि जो हमें वैभव मिला, घर मिला, सम्पदा मिली, इनका कोई मूल्य मेरे लिए नहीं है ये सब तो परिस्थिति के लिए आवश्यक चीजें है। इनकी मेरे लिए कोई कीमत नहीं। यह बात ध्यान में लाने की है। फिर अपने आपके चिन्तन की ओर चलें, वहाँ शान्ति मिलेगी। जहाँ अपना स्वरूप अपने ज्ञान में आया कि नियमतः शान्ति मिलेगी।

परानायत्त पुरुष के कर्तव्य की आवश्यक संज्ञा—लोग कहते हैं कि मुझको बहुत से आवश्यक काम पड़े हैं, ठीक बात है, जरा आवश्यक का अर्थ तो समझो। बोलते तो सभी हैं आवश्यक है, आवश्यकता है, पर आवश्यक का अर्थ क्या है सो तो बतलाओ। तो वह कहेगा कि जरूरी अर्थ है कोई कहेगा आवश्यक, आवश्यकता, नेसेसरी, यह कोई अर्थ नहीं है

आवश्यक का। आवश्यक का अर्थ वास्तव में क्या किया है सो ध्यान दो। मूल में यह दो शब्दों से बनता है अ और वश, अ मायने नहीं, वश मायने आधीन, पहले लगाओ अवश, अवश मायने जो वश नहीं, आधीन नहीं, जो बाह्य पदार्थ विषय कषायों के आधीन नहीं ऐसे पुरुष का नाम है अवश। अवश पुरुष कौन? ज्ञानी। सम्यग्दृष्टि, मुनिराज ये कहलाते हैं अवश। जो इन्द्रिय विषयों के वश में नहीं है। उन पुरुषों का नाम है अवश। और अवशस्यभावः अवश्य, और अवश का जो स्वरूप है उसे कहते हैं आवश्यक और क प्रत्यय लगा है उसका अर्थ वही रहता है तो आवश्यक मायने अवश पुरुष का नाम है आवश्यक। अब बतलाओ इस अवश पुरुष को कोई तकलीफ है क्या? जो विषय कषायों के आधीन नहीं है ऐसे अवशपुरुष का काम क्या सो तो बतलाओ। अवश पुरुष का काम है आत्मभगवान की सुध रखना। आत्मभगवान के विकास के लिए ही क्रिया करना यह आवश्यक है, तबही तो आवश्यक के केवल ६ भेद किए हैं समता, वन्दना, प्रतिक्रमण, स्वाध्याय, स्तुति और कायोत्सर्ग ये ही ६ आवश्यक हैं। दुकान आवश्यक नहीं बताया। ६ आवश्यकों में घर आवश्यक नहीं बताया, कुटुम्ब आवश्यक नहीं बताया। वे आवश्यक हैं ही नहीं। आवश्यक तो आत्मा की सुध रखना, दर्शन, ज्ञान, चारित्र धर्म हैं आवश्यक। जो शब्द में हैं केवल वह बात बतला रहे हैं। अगर कोई पुरुष शब्द में रहने वाले भावों को देखे तो बहुत सी समस्याएं बड़ी जल्दी सुलझ सकती हैं। शब्द शास्त्र एक बहुत अनोखा है। यह यों ही नहीं बनता, यह भावों को लेकर बना है। हिन्दी में भी बहुत से ऐसे शब्द हैं जो स्वरूप परिचय के लिए रखे गए हैं। जैसे चौकी। चौकी का अर्थ है जिसमें चार कोने हैं। तिपाई- जिसके तीन पाये हों सो तिपाई। चटाई-चट आई, जिसे उठालो और झट धर दो उसे चटाई कहते हैं। दरी, इसका पहले देराई नाम था। जो देर से आए सो देराई उसकी घटी करें फिर उठाकर लावें, ऐसी देर करके जो आवे सो दरी। तो जितने भी नाम लिखे गए हैं उन सब में उनका अर्थ पड़ा हुआ है, पर वे रूढ़ि में बन गए हैं। आत्मा सततं अतति जानाति इति आत्मा जो निरन्तर जानता है सो आत्मा। कोई समय ऐसा नहीं आएगा जो जाने बिना रहें उसे कहते हैं आत्मा। सो जो निरन्तर जानता रहे वह मैं जीव पदार्थ हूँ। तो नाम रखा गया है आत्मा अत् धातु से निष्पन्न शब्द है और उनमें उनकी जानन क्रिया निरंतर पायी जाती है तो इसी तरह यह हम आवश्यक शब्द का अर्थ लगा रहे हैं। आवश्यक का अर्थ क्या है? स्वतंत्र, ज्ञानी, मुनिराज महंत महर्षि देव के जो कर्त्तव्य हैं वे आवश्यक हैं। वे कितने आवश्यक हैं? अब लगाओ जरूरी का अर्थ। वह कितना जरूरी है? बस वह जरूरी है और कुछ जरूरी नहीं है। तो समझो, आवश्यक तो है वह मगर जिसने अपने लिए जिसको जरूरी समझा उस काम के लिए आवश्यक शब्द का प्रयोग करने लगा, यह है आवश्यक। आवश्यक वह नहीं।

बाह्य में उपयोग जुटाने पर भी अन्तः परिचय में ज्ञानी के अन्तराय का अभाव—यहाँ परिचय कराया जा रहा है अपने आत्मा में विराजमान स्वरूप का। जिस स्वरूप

को जिस निरपेक्ष सहज स्वरूप को यह मैं हूँ ऐसा कोई मान ले तो संसार सागर से पार हो जाएगा। अब तक यह जीव जिस चाहे को मान रहा कि यह मैं हूँ। व्यापारी मैं हूँ, जो इसका पिता है सो ही यह मैं हूँ जो इसका पुत्र है सो यह मैं हूँ, जो यह मनुष्याकार है सो यह मैं हूँ और जिसने इतना ज्ञान पाया, संगीत पढ़ा और कुछ जाना इतनी विद्यायें जिसने सीखलीं वह मैं हूँ, इस तरह किस किसमें मैं लगा रहा हूँ लेकिन मैं तो बहुत अन्दर छुपा हुआ हूँ, वास्तव में मैं क्या हूँ कि जो अनादि से अनन्त काल तक रहने वाला है, सदा जिसकी सत्ता रहा करती है, ऐसा एक जो चैतन्य स्वरूप है सो मैं हूँ, और ये बाहरी दंद फंद कुछ भी मैं नहीं हूँ। मैं हूँ एक शुद्ध चैतन्य स्वरूप। ऐसा जो मान लेगा उसके ममता न रहेगी। और जिसके ममता न रही उसका भला हो जाएगा। उसे फिर कहीं दुःख न आ सकेगा। कहीं विपत्ति नहीं आ सकती निर्मोह पुरुष पर कदाचित् घर जल गया, परिवार का कोई सदस्य गुजर गया, या कोई भी बड़ी से बड़ी घटना घट गई तो वहाँ ज्ञानी पुरुष सावधान रहता है। उन स्थितियों में वह घबराता नहीं है। वह जानता है कि यह तो पुदगल की पर्याय है। जब जैसा होना है हो रहा है। उन सभी स्थितियों का वह केवल जाननहार रहता है। उसे अंतरंग में दुःख नहीं होता जिसके मोह नहीं रहा। ऐसा निर्मोह होने पर भी जब तक पर्याय में इतना बल प्रकट न हो कि वह स्वतंत्र रह सके तब तक वह घर बसा कर रहते हैं। तो उसे परिस्थितियों का दास बना रहना पड़ता है और उन परिस्थितियों के कारण बहुत से काम उसे करने पड़ रहे हैं मगर यथार्थ समझ ज्ञानी पुरुष के बनी रहती है। यह मैं मात्र चैतन्य स्वरूप हूँ। चैतन्य ही मेरा काम है, अन्य कुछ मेरा कर्त्तव्य नहीं है। यह बात समझने के लिए यह सब तत्त्वों का परिचय कराया जा रहा है। तो इस तरह इन निक्षेपों के द्वारा इन सबका वर्णन आगे बताया जाएगा। किस-किस प्रकार से पदार्थ जानने में आता है।

निक्षेपों द्वारा आत्मा का संक्षिप्त परिचय—अब अपने आपके स्वरूप में इन निक्षेपों से कुछ समझने की बात देखें। नाम रखा अपना। मैं क्या हूँ? मैं जीव हूँ, कैसा जीव हूँ? जिसमें परिणमन होते रहते हैं ऐसा मैं जीव हूँ। कोई कहता—नहीं, ऐसे जीव को व्यवहार नहीं बताया गया, क्योंकि अनादि अनन्त शाश्वत अहेतुक अपरिणामी है ऐसा ही यह जीव है, उसका ही यह व्यवहार है। अच्छा तो क्षणिकवादी यों कहते हैं कि अन्य जीव की यहाँ चर्चा नहीं की गई है किन्तु जो आत्मा क्षण-क्षण में नया-नया बनता है उस जीव की बात कही जा रही है, समाधान अगर जीव को ऐसा माना जाए कि यह सदा अपरिणामी है इसमें कोई बात ही नहीं है, सदा ध्रुव नित्य है तो वहाँ अर्थ क्रिया नहीं बन सकती, अपना इसमें कोई काम नहीं बन सकता। अज्ञान से हटकर ज्ञान में आएं, अनित्य से हटकर नित्य में आएं। यह बात निरखिये कि जो अनित्य चीज है उसमें नित्यता बना करती और जो नित्य है उसमें अनित्यता बना करती। क्योंकि जो बंध था वह मिट गया। अब मोक्ष किसको दिलाना? तो ऐसा मैं जीव हूँ जो सदा रहता हूँ और प्रति समय अपनी नवीन-नवीन दशायें बनाया करता हूँ उसे

मोक्ष दिलाना है। मेरे में सामर्थ है कि मैं अपने सहज स्वरूप का दर्शन करूँ तो अज्ञान दशा से हटकर मैं ज्ञानदशा में पहुँच जाऊँगा। ऐसे इस जीव की यहाँ चर्चा की है।

सत्य शरण गहने की उत्सुकता—हम आप सब जीवों की एक प्रकृति रहा करती है कि किसी को अपना रक्षक माने, शरण समझे और उसकी छाया में रहे। कितना भी बडा कोई हो, यह आदत सबमें पायी जाती है। तब यहाँ यह परख करें कि जगत में कौन ऐसा है जो मेरा शरण है, सहारा करता हो, सारभूत हो? भली प्रकार सोचकर यह निर्णय पा लेंगे कि कोई भी जीव ऐसा नहीं है। कुछ भी पदार्थ ऐसा नहीं है बाहर जो मेरा शरण है, सहारा करता हो, रक्षक हो, सारभूत हो? भली प्रकार सोचकर यह निर्णय पा लेंगे कि कोई भी जीव ऐसा नहीं है। कुछ भी पदार्थ ऐसा नहीं है बाहर में जो मेरा शरण हो। बल्कि जिस जिसका शरण गहने को यह जीव जाता है वहीं से इसे चोट मिलती है। अगर समागम भला है तो वियोग की चोट मिलती है और अगर दुष्ट है तो उसके संयोग में समय-समय पर चोट रहा करती है। तो कोई भी बाहरी पदार्थ ऐसा नहीं जो मेरा शरण हो। बाहरी पदार्थों की शरण गह-गह कर ही अब तक जीवन बिताया है, अशान्त रहे हैं, आकुलित रहे हैं, मिलेगा क्या? लाखों करोड़ों का वैभव भी मिल जाए तो क्या? तीनों लोक की संपदा भी मिल जाये तो क्या? इस आत्मस्वरूप के अतिरिक्त वह समस्त बाहरी वैभव कुछ भी हित नहीं कर सकता। बल्कि देखो जिसके पास जितना अधिक परिग्रह है वह उतना ही अधिक अशान्त है। इन बाहरी बातों से अपने सुख शान्ति के निर्णय की आदत छोड़ देना चाहिए। परिस्थितिवश करना सब पड़ रहा है, करें मगर निर्णय यह रखें कि बाहर में कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं है जो मेरे आत्मा को शान्ति पहुँचा सकता है। तब कौन है मेरा शरण? कौन है मेरा रक्षक?

वास्तविक व्यवहार मंगल और परमार्थ मंगल—देखिए आचार्यों ने एकदम सारभूत बात अपने उपदेश में बता दिया। बल्कि आप जब प्रभुस्तुति करते हैं और णमोकारमंत्र पढ़ने के बाद जब चत्तारिदण्डक का पाठ पढ़ते हैं तो इसमें सब आ गया। **चत्तारिमंगलं, अरहंता मंगल, सिद्धामंगलं, साहू मंगलं, केवलिपण्णत्तोधम्मो मंगलं**। चार चीजें लोक में मंगल हैं अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म। अब विचार करो अरहंत, सिद्ध और साधु ये तो आत्मा से भिन्न जीव हैं। हमसे निराले हैं अरहंत में अरहंत हैं, सिद्ध में सिद्ध हैं, साधु में साधु हैं उनका द्रव्य निराला है। वे अपने ज्ञानानन्द के स्वामी हैं वे मेरा कुछ नहीं करते। लेकिन हम जब उनका ध्यान करते हैं, उनके स्वरूप की उपासना कहते हैं तो हमें अपने स्वरूप की सुध होती है और मार्गदर्शन होता है। जब जिनेन्द्र प्रतिमा के दर्शन करते तो यह अन्तः आवाज हो उठती है कि शान्त हैं तो यह और शान्ति का मार्ग है तो यह बाकी सब बेकार हमारी अन्तः आवाज हो उठती है। तो अरहंत भगवान मंगल हैं, क्योंकि वीतराग हैं, सर्वज्ञ हैं, अनन्त आनन्द के धनी हैं। और देखो यदि ऐसा मैं नहीं हो सकता तो फिर ऐसे भगवान को मानने की जरूरत कुछ न रहेगी। यदि मैं परमात्मा स्वरूप नहीं बन सकता तो परमात्मा को भजने की जरूरत क्या

है? बोलो क्या जरूरत है? परमात्मा हमारा कर्त्ता धर्ता है नहीं। सभी पदार्थ अपना स्वरूप लिए हुए हैं और इसी कारण उनका उत्पाद व्यय ध्रौव्य होता रहता है। तो बाहर में तो मेरी कुछ बात परिणति होती नहीं और परमात्मस्वरूप मैं हो सकता नहीं फिर कारण बतलावो—क्यों भगवान को पूजा जाए? भगवान को पूजने का एक यही प्रयोजन है कि जैसा प्रभु का स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है, और जिस मार्ग से प्रभु बने हैं उस मार्ग से मैं भी प्रभु हो सकता हूँ और शरण सार उत्कृष्ट धाम यही है। तो मंगल क्या है? जो पापों को गलाए, सुख को पैदा करे उसे मंगल कहते हैं तो अरहंत भगवान का स्मरण पाप को गलाता है और सुख को उत्पन्न करता है, इसलिए अरहंत भगवान मंगल हैं। घर में बच्चों का पालन करें, उनसे राग की बात भी कहें, पर निर्णय यह रखें कि ये मेरे लिए मंगल नहीं हैं। इनसे मेरा उत्थान नहीं होने का बल्कि इनके पीछे विकल्प बना बनाकर इस संसार में परिभ्रमण करते रहने का उपाय रच रहे हैं। मंगल बाहर में कोई नहीं है। मंगल हैं तो अरहंत भगवान मंगल हैं। दूसरा बताया सिद्ध मंगल हैं। सिद्ध भगवान के मायने क्या? शरीर रहित भगवान। देखिए तीन बातें माने बिना तो काम चलेगा नहीं, बाहर की बात कह रहे हैं। साधु और शरीर सहित भगवान और शरीर रहित भगवान। तीन बातें होती हैं, किसी भी सम्प्रदाय में साधु न माना जाए तो किसी को धर्म के मार्ग की बात नहीं मिल सकती, नहीं निभ सकती। साधुवों को सब मानते हैं। जो अपनी प्रभुता पाने के मार्ग में लगे हों सो साधु और साधु तपश्चरण करता है, अपने ज्ञान की साधना करता है, इसका परिणाम क्या है कि उनमें सर्वज्ञता प्रकट होगी, वीतरागता, निर्दोषता प्रकट होगी। हाँ हो गई, मगर शरीर तो अभी साथ लगा है। इसी को कहते हैं शरीर सहित भगवान और शरीर सहित भगवान कब तक शरीर सहित रहेंगे? क्या शरीर सहित वे सदा रह सकेंगे? यह शरीर कोई आत्मा के लिए भली चीज है क्या जिससे कि शरीर सदा के लिए चाहते हों? अरे वे तो शरीर में रहकर भी शरीर से अलग हैं, निर्लेप हैं। शरीर की स्थिति जब तक है। यह बात प्रभु में पायी जाती है कि यह औदारिक शरीर जब छूटता है प्रभु का तो कपूरवत उड़ जाता है। देखिए वैक्रियक शरीर भी यों ही उड़ जाता है। नहीं तो वैक्रियक शरीरों का बहुत बड़ा ढेर लग जाए। प्रभु का शरीर भी कपूरवत उड़ जाता है। केवल नख और केश रहते हैं, क्यों रहते कि इनमें जीव प्रदेश नहीं हैं, इसीलिए रहते हैं। और बाहर जो नख बढ़े हुए हैं, इनमें जीव प्रदेश नहीं हैं तब ही तो नाखून नाई से बड़े शोक से कटा लेते हैं और बाहर में जो बाल निकल आए है उन्हें भी आप नाई से बड़े शौक से कटा लेते हैं।तो जहाँ जीव नहीं है, सम्पर्क नहीं है वे स्कंध पड़े रहेंगे मगर जहाँ-जहाँ पर प्रदेश का संबंध है वे सारे अणु कपूरवत उड़ जाते हैं। तो शरीर सहित भगवान माने बिना गुजारा न होगा। स्थिति है सचमुच ऐसी इसलिए कहा जा रहा है। शरीर न रहा तब शरीर रहित भगवान हो गए। इसके अतिरिक्त दूसरी कुछ स्थिति न रहेगी इसी को कहेंगे सिद्ध। तो कल्याण के मार्ग में ये तीन बातें हैं—अरहंत, सिद्ध और साधु तथा परमार्थ है धर्म। ये चारों मंगल हैं।

धर्म की मंगल रूपता की मूर्ति सशरीर परमात्मा—आत्म स्वरूप जो शाश्वत शुद्ध अविकार ज्योतिर्मय अपने आपके सत्व के कारण जो स्वयं में है उसका जो साधन करता है, उसकी जो दृष्टि बनाता है, निरन्तर उसकी धुन में जो रहता हो वह कहलाता है साधु। तो साधु मंगल हैं वे पाप को हरेंगे और सुख को उत्पन्न करेंगे यों ३ तो भिन्न चीजें है—अरहंत, सिद्ध साधु और धर्म अपना अभिन्न स्वरूप है। धर्म आत्मा का चित्स्वरूप शाश्वत टंकोत्कीर्णवत् निश्चल उसकी उपासना करना धर्म है। तो साक्षात मंगल रूप वह आत्मा है। आत्मा की पवित्रता किस बात में है कषाय न हो, अन्याय की बात न आए 'हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील, परिग्रह की भावना न बने, ऐसा जो पवित्र बना है यह पुरुष साक्षात—धर्मरूप है, मंगलमय है। देखिए—जगत का कुछ मिलना तो है ही नहीं। मिट सब जाएगा, वियोग सबका होगा। जब ऐसी अनिवार्य स्थिति है तो क्यों न ऐसा कार्य किया जाए कि जिससे मेरे आत्मा का निश्चित उद्धार हो और देखो यह धर्म का कार्य ऐसा प्रभावक है कि जब तक संसार में रहना पड़ेगा तब तक धन धान्य वैभव ऋद्धि सिद्धि से सम्पन्न होते हुए रहेंगे। भला जैसे किसी को विदेश भेजना है मानो अमेरिका भेजना है तो आप उसका बड़ा स्वागत करते हैं। उसको बड़े आनन्द में पहुँचाने जाते हैं, टीका करते हैं, कुछ भेंट देते हैं, सब मंगलरूप बात करते हैं, तो भला बतलाओ जो पवित्र आत्मा, इस शरीर को छोड़ कर जाए, शरीर का सदा के लिए सम्बन्ध छोड़कर जो मुक्त अवस्था में जाए, जो सिद्धालय में जाने वाला हो उसका अगर देव इन्द्र आदि आदर करें, बड़े-बड़े लोग उसका उत्सव मनायें तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है? वह आत्मा ऐसा प्रभावक है, समवशरण में रहने वाले जिनेन्द्र देव जिनकी सेवा मे १६ वें स्वर्गों से देवदेवियाँ आकर नमस्कार करते हैं, स्वर्ग खाली हो जाता है, मूल वैक्रियक शरीर मात्र स्वर्ग में हाजिर रहता है, तो भला बतलाओ उसमें किसका आकर्षण है? जो यहाँ एक मनुष्य की सेवा में आये अरहंत पुरुष ही तो हैं, परमात्मा हो गए, पर कहलाते अभी मनुष्य हैं जब तक कि वे शरीर सहित हैं। शरीर रहित हो जाने पर मनुष्य नहीं कहलाता, तो उन बड़े-बड़े देवेन्द्रों को क्या आकर्षण हुआ, कौन सी विवशता हुई कि वे सब अपने-अपने धाम छोड़कर बड़े उमंग के साथ गान तान करते हुए समवशरण में पहुँचते हैं। क्या उनसे कोई धन की आशा लगी? क्या उनके ये रिस्तेदार लगते हैं? बस वीतरागता का प्रभाव है। परमात्मा स्वरूप जो निर्मल सर्वज्ञ हुए हैं उसका प्रभाव है कि देखो सभी इन्द्र वहाँ आ आकर प्रभु के चरणों में नमस्कार करते हैं। प्रभु के चरणों में पशुपक्षी भी पहुँचे, मनुष्य का समूह भी पहुँचे तो वह क्या है? प्रभु का स्वरूप ऐसा प्रभावक है कि उसकी सुध सबको रहती है।

स्वरूपदर्शन में सहानुभूति—जैसे किसी भूखे भिखारी को देखकर आपको दया आती है आप उसे बैठालते हैं, उसे भर पेट खाना खिलाते हैं, तो बतलाओ क्यों दया आती? किसी भूखे मनुष्य को देख कर जो उसकी सेवा में आप लग जाते तो क्यों लग जाते क्या

कारण है? असली कारण क्या है? असली कारण तो यह है कि उस भूखे को देकर एक सहानुभूति हृदय में आती है कि मेरे ही स्वरूप के समान इसका स्वरूप है कि हमारा और इसका आत्मा एक समान है ऐसा वह बेतार का तार लगा है कि एक दम सहानुभूति आती है और वहाँ खुद में वेदना पैदा होती है। खुद में दुःख उत्पन्न होता है, तो अपना दुःख शान्त करने के लिए आप उस भूखे की सेवा करते हैं, तो ऐसे ही प्रभु की सेवा करने को बड़े-बड़े पुरुष देव इन्द्र क्यों जाते हैं कि उनके स्वरूप के समान खुद का स्वरूप है सो अपने में खुद समझ बनती है और आना पड़ता है। तो अपने स्वरूप की आराधना करना यही धर्मपालन है, तो ऐसे धर्म का जिसने पालन किया वह पवित्र मूर्ति है। अपने जीवन को ऐसा स्वच्छ बनाना चाहिए कि धुन तो रहे अपने आत्मस्वरूप की। मैं एक ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ 'अन्य रूप मैं नहीं हूँ' ज्ञानज्योति ही मेरा वैभव है अन्य कुछ मेरा वैभव नहीं, ऐसा तो अन्तरंग में निर्णय रहे और वाह्य प्रवृत्ति हो ऐसी कि किसी का दिल न दुःखाएं, किसी पर अन्याय न करें, किसी की निन्दा न करें, कि कोई खोटी व्यसन की बात चित्त में न लायें, अगर कहीं कुछ अन्याय किया जाने पर धन की प्राप्ति होती नजर आती हो तो उस धन का मौज छोड़ दें, उसे लेकर क्या करेंगे? पर भीतर में अगर खोटे भाव आते हैं तो फिर परभव में उसे वैभव न मिलेगा। जो खोटे विकारभाव लाएगा उसे ऋद्धि सिद्धि न मिलेगी हालांकि वर्तमान में मानते हैं कि हमको इतना लाभ हो रहा, अरे पुण्य का उदय है तो हो गया, मगर खोटे भाव करने से वह वैभव कम हो गया। खोटा रोजिगार करने से पैसा बहुत आता है यह बात तो सामने देखते हैं, न करें तो क्या करें। तो ऐसा विश्वास गलत है, सिद्धान्त से बाह्य है। शुद्ध भाव रखेंगे तो भला हो जाएगा मगर ऋद्धि सिद्धि उसके पास अतुल आएगी। देखो बात तो यह है कि क्या करता है वैभव? बहुत से लोग तो कह देते है कि इससे बहुत बड़ा यश मिलता है। अरे उस यश का करना क्या है? यहाँ कोई किसी का मदद कर सकने वाला है क्या? क्या वे मेरे कोई परमेश्वर हैं, प्रभु हैं कि वे प्रसन्न हों जाएं मुझपर, उनके अच्छा कहलवाने से कहीं मेरा उद्धार हो जाएगा क्या? नहीं हो सकता, तो फिर भावना अपनी पवित्र रखें, शुद्ध प्रवृत्ति से चलना चाहिए, यह है अलौकिक आनन्द पाने का मार्ग तो मंगल चीज चार हैं।

अरहंत सिद्ध साधु व धर्म की लोकोत्तमता—लोक में उत्तम चीजें भी चार हैं– **चत्तारिलोगुत्तमा, अरहंता लोगुत्तमा, सिद्धा लोगुत्तमा, साहूलोगुत्तमा, केवलिपण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमो**। याने लोक में उत्तम चार हैं अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म। जो धर्म के मार्ग में चलना चाहे, उसे बाहर में इस ३ का ज्ञान करना आवश्यक है कि साधु ऐसे होते हैं और उसके बाद शरीर सहित भगवान बनते हैं। फिर शरीर रहित भगवान कहलाते हैं। और इतनी बात अगर ज्ञान में नहीं है तो वह क्या करेगा आगे का प्रोग्राम कर ही नहीं सकता। कोई ऐसा डर कर कि मैं ऐसी क्रिया करूँ तो भगवान दुःख देगा ऐसा डर कर अगर कोई

धार्मिक क्रिया काण्ड करे तो वह धार्मिक न होगा। यह तो उस तरह है कि जैसे लोग सरकार के कानून को तोड़ तो नहीं सकते इसलिए उनके पीछे लगे रहते हैं, वे विवश हैं जानते हैं कि इसी में मेरा भला है। ऐसे ही अगर कोई धर्म के मार्ग में भी लगे तो वह वास्तविक धर्मात्मा न कहलाएगा। तो जिसको अरहंत सिद्ध साधु का विश्वास है वह धर्म अनन्त शाश्वत प्रकाशमान चैतन्यमात्र आत्मस्वरूप उसकी दृष्टि लोक में उत्तम है। अपना प्रियतम कौन है! यह ज्ञानदर्शनस्वभावी, ज्ञानानन्दस्वभावी आत्मा, यह ही अपना प्रियतम है। इससे बढ़कर और कोई प्रिय नहीं होता। अगर और कुछ प्रियतम होता तो वह तो मोह का प्रताप है। बाहर में माने कोई प्रियतम तो यह तो उसके मोह का प्रभाव है। एक सेठ के यहाँ एक नौकरानी थी। वह अभी दो चार दिन पहले ही उसके घर आयी थी। सेठानी का कोई ८–९ साल का एक बालक था जो किसी विद्यालय में पढ़ने जाता था। एक दिन वह दोपहर का नास्ता न ले गया तो सेठानी ने नौकरानी से कहा–अरी नौकरानी–मेरा बालक अमुक विद्यालय में पढ़ता है उसे नास्ता दे आ तो नौकरानी बोली मैं तो अभी आपके बच्चे को अच्छी तरह पहचानती भी नहीं। : : : अरे मेरे बच्चे को क्या पहचानना। विद्यालय में जो सबसे सुन्दर बच्चा दिखे वही मेरा बच्चा है, उसे दे आना। इस प्रकार के गर्वभरे शब्दों में सेठानी बोली, नौकरानी नास्ता लेकर विद्यालय गई। उसी विद्यालय में उस नौकरानी का भी बच्चा पढ़ता था। तो सेठानी ने विद्यालय के सभी बच्चों को देखा मगर सब में से सुन्दर उसे उसका ही बच्चा दिखा सो वह उसी को नास्ता देकर चली आयी। जब सेठानी का बालक शाम को घर आया तो सेठानी से बोला– माँजी आज आपने मेरे वास्ते नास्ता न भेजा था! अरे भेजा तो था बेटा (नौकरानी को बुलाकर) अरे तूने मेरे बेटे को आज नास्ता नहीं दिया! नौकरानी–अरे दिया था। तुमने यही तो कहा था न कि उस विद्यालय में जो सबसे सुन्दर बच्चा दिखे वही मेरा बच्चा है, उसे दे आना, तो मैंने विद्यालय के सारे बच्चे देखे, पर मुझे तो मेरा ही बच्चा सबसे सुन्दर दिखा, सो उसी को नास्ता देकर मैं चली आयी। देखिए–कैसा ही हो अपना बच्चा भले ही काला हो, फटे पुराने वस्त्र पहने हो मगर उसे तो अपना ही बच्चा सबसे सुन्दर जंचेगा। वस्तुतः देखो तो अपने को कुछ भी बाहर में प्रिय नहीं है, क्योंकि किसी भी बाह्य पदार्थ की दृष्टि रखने से इस आत्मा में शान्ति की प्राप्ति नहीं होती।

आत्मस्वरूप के चिन्तन का महत्त्व—बस, सोऽहं, जो प्रभु हैं सो मैं हूँ। ऐसा जब चिन्तन चलता है और प्रभु के स्वरूप की स्थापना अपने में होती हैं और उस रहस्य का भान करके अपने अन्तस्तत्त्व में लीन हो जाता है अहं रह जाता है, व उस अहंकी अनुभूति में जो आनन्द झरता है वह अकथनीय है, कर्म कटते हैं आनन्द से, कष्ट से नहीं, मगर सांसारिक सुख को आनन्द न बोलें अरे निर्विकल्प समाधि से उत्पन्न होने वाला जो आत्मीय सत्य आनन्द है वही भव-भव के कर्मों को नष्ट करता है। कष्ट करने से कर्म नहीं नष्ट हुआ करते बड़े-बड़े तपस्वी साधु पुरुष तपस्या करते हुए बड़े-बड़े कष्टों का अनुभव करते हैं किन्तु अपने

अन्तः स्वरूप को निरख निरखकर बड़े तृप्त होते हैं। लोगों को ऐसा दिखता है कि गर्मी में पहाड़ पर बैठे हैं बेचारे, कितना कष्ट सह रहे हैं, पर वहाँ तो वे भीतर में आनन्द ले रहे हैं। वहाँ उन्हें कोई कष्ट नहीं होता। कष्ट सहने से कर्म नहीं कटते किन्तु आत्मीय आनन्द प्राप्त करने से कर्म कटते हैं। अपने आपके भीतर यह बात बसी हो कि विशुद्ध आनन्द स्वभाव का आनन्द कैसे मिले! उसका उपाय बनायें। सभी गृहस्थ लोग अपने घर के सभी लोगों को धर्म के रंग में रंग दें एक ऐसा धार्मिक वातावरण घर में बनाएं कि सब धर्म में लगे रहें। आपको सहयोग मिलेगा शुद्ध वातावरण बनाने से। अपना उपयोग शुद्ध धर्ममय हो। जो ज्ञानानन्द स्वभाव है वही मेरा वैभव है। ज्ञानानन्द के परिणाम के सिवाय मैं और कुछ करता नहीं हूँ। और अनुभवन भी ज्ञानानन्द का किया करता हूँ। जब ऐसी मेरे में अपने आप पर बीत रही तो किसी दूसरे से मेरा सम्बंध क्या! यह बात सोचना चाहिए। और इसी के परिचय के लिए बड़े-बड़े शास्त्र रचे गए हैं तब ही तो मोक्षशास्त्र में जब जीवादि ७ तत्त्वों का वर्णन किया जाएगा उससे पहले के सारे उपाये बताये जा रहे हैं कैसे तुम लोकव्यवहार करो, कैसे तुम तत्त्व का परिचय करो, कैसे तुम उन तत्त्वों के काम में लगो वह परिचय करना, अपने आपके स्वरूप का अनुभव पाना बहुत आवश्यक है। तो ऐसा अपने आपको देखें अपने में प्रसन्न होने की एक आदत बनावें और बाहर में ममता को ढीला करें। कुछ बिगड़ गया तो बिगड़ गया कुछ आ गया तो आ गया उससे मेरा कुछ विकास नहीं और कुछ चला गया तो मेरी कोई हानि नहीं। मैं तो उपयोग मात्र हूँ मेरा उपयोग निर्मल रहे तो मेरे को सब कुछ प्राप्त है और मेरा ही उपयोग बिगड़ गया तो मेरे को कुछ भी प्राप्त नहीं है। ऐसा अपने आपका विचार रखें और अपना जीवन सफल करें।

वास्तविक व्यवहारशरण व परमार्थ शरण—मेरे को शरण क्या है **चत्तारिसरणं पव्वज्जामि। अरहंतेसरणं पव्वज्जामि सिद्धे सरणं पव्वज्जामि साहूसरणं पव्वज्जामि केवलि पण्णत्तंधम्मं सरणं पव्वज्जामि।** मैं ४ की शरण को प्राप्त होता हूँ। मैं अरहंत की शरण को प्राप्त होता हूँ। मैं सिद्ध की शरण को प्राप्त होता हूँ साधु की शरण को प्राप्त होता हूँ और धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। अरहंत की शरण क्या? अरहंत भगवान के स्वरूप का जो स्मरण है वह ही अपने लिए शरण है। निर्दोष वीतराग परमात्मा सर्व द्वंद फंदों से रहित है। वह भी मेरे ही समान पुरुष थे अथवा और पुरुष भी थे चारों गतियों में भटकने वाले भी थे लेकिन मनुष्य भव पाकर कैसा आत्मश्रद्धान आत्मज्ञान और आत्मरमण की रफ्तार की कि वे परमात्मा हो गए। सदा के लिए संकटों से छूट गए। तो ऐसा क्या मैं नहीं हो सकता। हाँ हो सकता! तब ही सही मगर मार्ग में लगना चाहिए। भगवान के स्वरूप का स्मरण मेरे लिए शरण है अरहंत शरण हैं सिद्ध शरण हैं अरहंत पदवी किसी जीव के सदा नहीं रहती जब शरीर सहित हैं तब अरहंत हैं और जब शरीर रहित हो गए तब सिद्ध हैं। अरहंत सिद्ध तो यहाँ उपलब्ध नहीं हैं। उनका दर्शन कहाँ है! वर्तमान में समागम मिलेगा

तो साधुजनों का मिलेगा तो साधु की शरण को मैं प्राप्त होता हूँ। साधु की शरण गहने से बहुत उमंग और उत्साह जगता है। जैसे पुराण में बहुत सी कथायें लिखी हैं इनमें उतना आदर नहीं बनता जितना कि यहाँ कोई महापुरुष दिख जाए उसमें बनाया जाता है। साधु तो यहाँ पाए जाते हैं ज्ञान ध्यान के तपश्चरण में लीन रहते हैं विषय कषायों से दूर रहते हैं आरम्भ परिग्रह को त्यागे रहते हैं तो ऐसे साधुओं की उपासना, साधु के भीतरी रत्नत्रय का आराधन यह हम आपके लिए शरण है। मैं साधु की शरण को प्राप्त होता हूँ। ये हैं सब भिन्न जीव। मेरा स्वरूप मेरे ज्ञान में बसा रहे तो मैं शरण को प्राप्त होता हूँ, मेरे ज्ञान में बाहर की कोई चीज आयी तो मैं अशरण हो गया। मैं मेरी दृष्टि में रहूँ ज्ञानानन्दस्वभाव यह अन्तः स्वरूप परमात्मा मेरे ज्ञान में रहे तो मेरे को शरण मिल रहा है। तो मंगल उत्तम शरण सब कुछ अपने आप में है। किसी भी समय अधीर होने की घबड़ाने की कोई जरूरत नहीं, क्योंकि जो मेरा है वह मेरे से कभी अलग नहीं हो सकता। जो मेरा नहीं वह मेरे में कभी आएगा नहीं यह वस्तु का स्वरूप है, भ्रम को छोड़ो और प्रसन्न रहो।

लोकव्यवहार के मूलभूत चार निक्षेपों के वर्णन का उपसंहार—पदार्थ का लोकव्यवहार चार निक्षेपों से होता है नामनिक्षेप, स्थापना निक्षेप, द्रव्य निक्षेप, भावनिक्षेप। नाम रख देना नाम निक्षेप है। किसी में वस्तु की स्थापना करना द्रव्य निक्षेप है और आगामी पर्याय के अभिमुख है यह द्रव्य, यह द्रव्य आगामी पर्याय उत्पन्न करेगा। इस प्रकार की बुद्धि व्यवहार को द्रव्य निक्षेप कहते हैं, और जो पदार्थ वर्तमान में जिस पर्याय रूप में है उसही रूप में परिचय व्यवहार करना भावनिक्षेप है। इन चार निक्षेपों में परस्पर कोई विरोध नहीं कि जब नामनिक्षेप है तो तीन निक्षेप न रह सकेंगे। सबकी अलग-अलग दृष्टियाँ हैं, अलग-अलग प्रयोजन हैं। उन दृष्टियों के कारण चारों का एक साथ वर्तन हो सकता है। अब जरा प्रयोजन देखो अगर नाम निक्षेप न माना जाए तो जब किसी का नाम ही नहीं तो फिर कौन किसे बुलायेगा? कौन किसे समझायेगा? किसका क्या परिचय है, न कमाई रहेगी, न खाना पीना बनेगा, न घर गृहस्थी में रहेंगे। तो नाम होने पर ही तो व्यवहार होता है, नाम न रहे तो व्यवहार करना नहीं चल सकता। सब एक तरह के पत्थर जैसे हो गए। फिर कोई व्यवहार ही नहीं हो सकता। तो नामनिक्षेप लोक व्यवहार में आवश्यक है। स्थापना निक्षेप देखते ही हैं। फोटो बनवाते हैं तो उसमें पिता की यादगारी रहती है। अथवा प्रतिमा में भगवान की स्थापना करते हैं और कितना अधिक लाभ लूट लेते हैं अथवा नाम भी रख दिया पर इस नाम वाला यह व्यक्ति इस प्रकार की बुद्धि हुए बिना वह व्यवहार नहीं चल सकता। यह सब तो द्रव्यनिक्षेप है। जिसमें आगामी पर्याय की बात चित्त में आती हो वह है द्रव्यनिक्षेप-द्रव्यनिक्षेप न हो तो कोई कुछ काम ही नहीं कर सकता। आप रोटी बनाने बैठे तो आप आटा सान कर रोटी बनाते हैं। आप समझते हैं कि इस तरह रोटी बनेगी। तो नई पर्याय के अभिमुख है द्रव्य यह बात ध्यान में है तब तो कोई कार्य करता है। तो द्रव्य निक्षेप न हो

तो कोई कुछ कर ही न सकेगा और भावनिक्षेप तो स्पष्ट बात है। वस्तु स्वरूप है, जो जिस समय में, जिस पर्याय में है उस पर्यायरूप में उस सम्बन्ध में निरखना भावनिक्षेप है। इस तरह चार निक्षेपों के द्वारा जीवादिक ७ तत्त्वों का सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र का और सभी का लोकव्यवहार होता है। इस तरह एक प्रतिपादन चलता है। समझने समझाने का एक व्यवहार चले उसके उपाय को बताकर अब यह जिज्ञासा की जा रही है कि इन चार निक्षेपों के द्वारा जिनका लोक व्यवहार कराया जाता है उनका परिचय अधिगम विज्ञान किस प्रकार होता है जिससे कि यह लोक प्रसिद्ध व्यवहार की बात चली, लेकिन अधिगम न हो तो लोकव्यवहार भी कैसे चल सकता? तो वस्तु का पहले अधिगम तो बनायें, जानकारी तो बनायें। कैसा पदार्थ है? क्या ढंग है? तो उस पदार्थ के बारे में व्यवहार भी यह ठीक बन सकेगा। तो जितने व्यवहार किए गए उनके अधिगम की बात कही जा रही कि उन सबके जानने का उपाय क्या है।

*** प्रमाणनयैरधिगमः ॥६॥**

वस्तु व वस्तुत्व के अधिगम का उपाय प्रमाण और नय—तत्त्व का सम्यग्दर्शन आदि का अधिगम होता है, प्रमाण और नयों के द्वारा। जानकारी बनती है इन दो उपायों से नयों के द्वारा। जानकारी बनती है इन दो उपायों से। वस्तु के सर्व देशों की जानकारी होना प्रमाण है और वस्तु के एक देश की जानकारी होना सो नय है। प्रमाण के द्वारा वस्तु का परिचय होता है नयों के द्वारा भी परिचय होता है अब एक आशंका की जा सकती है— क्या कहा गया इस सूत्र में कि प्रमाण और नयों के द्वारा वस्तु की जानकारी होती है। तो यह बतलाओ कि उस जानकारी की जानकारी कैसे होगी। प्रमाण और नय के द्वारा तो वस्तु की जानकारी होती और उस जानकारी की जानकारी कैसे होती? तो जानकारी की जानकारी नहीं बनती याने ज्ञान से ज्ञान नहीं बनता। तो लो जिस ज्ञान के द्वारा हम वस्तु को जानेंगे। जब वह ज्ञान ही हमारे ज्ञान में नहीं है तो वस्तु का हम ज्ञान कैसे कर सकेंगे? जिसके द्वारा द्रव्य का ज्ञान होता है इसका ही ज्ञान नहीं है तो हम अन्य पदार्थ को कैसे समझावें? तो अब बताओ कि उस जानकारी की जानकारी कैसे होती है? कहेंगे कि अन्य प्रमाण नयोंसे होती है तो उसकी जानकारी अन्य प्रमाणोंसे होगी यों तो अवस्था दोष आएगा। यदि कहो कि प्रमाण और नयों से वस्तु स्वरूप की जानकारी हुई और यह जानकारी स्वयमेव हुई ऐसे ही पदार्थ स्वयमेव क्यों नहीं जानने में आ गया? एक ऐसी आशंका रखी गई है। आशंका रखने वाला कुछ भी कह सकता। यह एक आपत्ति दी, लेकिन यह आपत्ति यहाँ नहीं आ सकती। देखो प्रमाण और नय से जीवादि ७ तत्त्वों की जानकारी हुई, अब इस जानकारी की जानकारी कैसे होती है? तो देखिए कि अगर जानकारी अभ्यस्त विषयक है तो स्वतः हो जाती है और जानकारी अभ्यस्त विषयक नहीं है तो दूसरी जानकारी से होता है मगर अनवस्था दोष न आएगा। दो चार के जानने के बाद ऐसा अवसर आएगा कि हमें खूब परिचय है और इसी

को कहते हैं अभ्यास दशा और थोड़ा यह दार्शनिक विषय है, समझने की चीज है। हम झट कह तो देते हैं कि प्रमाण और नयों के द्वारा तत्त्व का अधिगम होता है, पर इस अधिगम का अधिगम कैसे होता है? जब तक हम इस अधिगम का परिचय न पाएं तो उस अधिगम के द्वारा हम वस्तु को भी कैसे जान सकते?

अभ्यासदशा में स्वतः व अभ्यास दशा में परतः प्रामण्योत्पत्ति—तो देखिए जानने की दो स्थितियाँ होती हैं–(१) अभ्यास की स्थिति और एक अनभ्यास की स्थिति। जैसे आप किसी दूसरे गाँव को जा रहे हैं जहाँ आप कभी गए नहीं, चल दिये। रास्ते में प्यास लगी। आप पानी की तलाश करते हैं, वहाँ आप कुँवा बावड़ी अथवा तालाब आदि की तलाश करते हैं। चलते-चलते कहीं मेढकों की टर्र-टर्र की आवाज सुनाई दी, तो आपने अन्दाज लगाया कि यहाँ कहीं पानी होना चाहिए। अब देखो ज्ञान तो हो गया, मगर वह अनभ्यास स्थिति हैं। यहाँ तालाब है, इस तरह का परिचय हुआ मगर उस परिचय में भी एक जिज्ञासा होती है कि मेरा ज्ञान सही है कि नहीं। उस ज्ञान के सहीपने को जानने की भी उसको इच्छा होती है ना अनभ्यास स्थिति में। तो कुछ समय बाद और चले तो फूटे घड़े कहीं मिले उससे कुछ और दृढ़ता हुई कि हाँ यहाँ कहीं पानी तो जरूर होना चाहिए। थोड़ी दूरी जाने पर उसे पानी दिखने लगा तो वहाँ उसे पूरी दृढ़ता हुई। अब उसकी जानकारी में कुछ कमजोरी तो नहीं रहती। कुछ समय तक तो कमजोरी रही जब तक पानी न दिखा अब कमजोरी नहीं रही क्योंकि पानी का परिचय तो हमारा अभ्यास है जब अभ्यास वाला अवसर आता है तब जानकारी का पता नहीं लगता कि किसके द्वारा जानकारी हुई, जहाँ अभ्यास होने जैसी स्थिति आती है तो जानकारी परिपूर्ण हो जाती है। तो प्रमाण नयों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का अधिगम हुआ। अब यह अधिगम सही है कि नहीं। इस अधिगम में भी अधिगम करने के लिए कुछ और युक्तियाँ आने लगतीं कि अभ्यास जैसी स्थिति बन जाती है पर वहाँ अनवस्था नहीं होती। तो देखिए कुछ भी वस्तु को हमने जाना तो जानने में जो प्रमाण आया उसकी उत्पत्ति तो परसे हुई मगर प्रमाण से प्रमाणता की जानकारी (ज्ञप्ति) अभ्यास दशा में स्वयं हो जाती है और अनभ्यास दशा में परसे हुआ करती है। यों अधिगम का भी अधिगम हो जाता है प्रकृत में यह बात कही जा रही है कि जीवादि तत्त्वों का और सम्यग्दर्शन आदि का अधिगम प्रमाण और नयों के द्वारा होता है। प्रमाण का अर्थ क्या है? वस्तु के सर्व देशों को जानना प्रमाण है और वस्तु के अंश को जानना नय हैं यह मूल लक्षण है प्रमाण और नय का। सर्वदेश वस्तु को जानना प्रमाण है और एक देश वस्तु को जानना नय है। प्रमाण के द्वारा भी वस्तु का परिचय होता और नय के द्वारा भी वस्तु का परिचय होता है।

नय को अल्पस्वरपना होने से प्रसंग बोलने का प्रसंग होने पर पूज्यता के कारण प्रमाण का प्रथम निर्देशन—अब इस सूत्र में कुछ व्याकरण सम्बंधी बात कह रहे हैं कि प्रमाण और नय ये दो चीजें बतलाया न, तो अब यह बतलाओ कि कठिन शब्द किसमें

है? केवल वर्ण की बात कह रहे हैं। प्रमाण यह कठिन लग रहा कि नय। सुनने में बोलने में नय तो कठिन नहीं है, प्रमाण शब्द जरा कठिन है, क्योंकि प्रमाण में तीन स्वर हैं प्र में अ म में आ और ण में अ और नय में २ स्वर हैं। तो जिसमें कम स्वर हैं उसका नाम पहले रखना चाहिए, और जिसमें ज्यादा स्वर हैं उसको बाद में रखना चाहिए। यों बनाना था नय प्रमाणैरधिगमः एक शंका रखी गई है कि प्रमाण को पहले क्यों रखा? देखें जब बोलचाल भी अपन करते हैं कई लड़कों के कई नाम हैं और उन लड़कों को जब हम बुलाते हैं, नाम पुकारते हैं एक साथ क्रमशः निरन्तर तो छोटे अक्षर वाले नाम को पहले बोल देते हैं और बड़े अक्षर वाले नाम को बाद में बोला करते हैं, कुछ ऐसी प्रकृति भी है लोक व्यवहार की। वैसे भी देखो अगर किसी लोहार के यहाँ दो आदमी जाएं एक को बनवानी है कड़ाही और एक को बनवानी है सुई तो अब आप ही बताओ वह पहले क्या बनाएगा? सुई, क्योंकि वह छोटा काम है, उसे बना देगा। कड़ाही बनाने में तो कोई चार दिन लगेंगे और सुई बनाने में कोई चार मिनट लगेंगे। तो वह सोचता है कि पहले इस सुई वाले का काम निपटा दूँ, इसे अधिक बैठाने से फायदा क्या? बाद में कड़ाही बनाने का काम करता रहूँगा। तो पहले छोटा काम निपटा दिया जाता है, बाद में बड़े काम को मौका दिया जाता है। तो प्रमाण और नय इनमें छोटा है नय और बड़ा है प्रमाण तो नय का नाम पहले रखना चाहिए और प्रमाण को बाद में रखना चाहिए "नयप्रमाणैरधिगमः" आशंका ही तो है शंका जो चाहे रख सकता है, पर समाधान यह है कि भले ही कोई शंकाकार की बात ठीक लग रही है लेकिन प्रमाण और नय में पूज्य तो प्रमाण है, बड़ा तो प्रमाण है। जो सर्वदेश वस्तु को जाने उसकी महत्ता है या जो एक देश वस्तु को जाने उसकी महत्ता है? देखो एक वस्तु को जानने वाला नय सच्चा भी होता है, खोटा भी होता है, अगर प्रमाण का सहारा छोड़े दें प्रमाण का आलम्बन छोड़ दें तो नय मिथ्या कहलाता है और प्रमाण की बुद्धि बनी हो और तब नय कहा जाता तो वह समीचीन होता है तो देखो नय को सिद्ध करने के लिए भी प्रमाण आधार है इसलिए भी पूज्य है और प्रमाण सर्व देश जानता है इसलिए भी पूज्य है। तो पूज्य का नाम पहले लेना या साधारण का नाम पहले रखना? पूज्य का नाम पहले रखना योग्य है इसी कारण प्रमाण को पहले कहा है और नय को बाद में। "प्रमाणनैयरधिगमः" अब प्रमाण और नय के द्वारा पदार्थ का अधिगम होता है जो वस्तु के सर्वदेश को जाने ऐसे ज्ञान को कहते है प्रमाण और जो वस्तु के एक देश को जाने ऐसे ज्ञान को कहते है नय। देखो नय भी ज्ञान है और प्रमाण भी ज्ञान है, मगर सकलग्राही ज्ञान को तो कहते हैं प्रमाण और एक देशग्राही ज्ञान को कहते हैं नय। तो यहाँ यह शंका हो सकती है कि एकदेश जाना तो भी ज्ञान ही तो है और सर्वदेश जाने तो भी ज्ञान ही तो है एकदेश जाना तो वहाँ एक देश का निश्चय हुआ जितना जाना वही प्रमाणभूत होना चाहिए। समाधान एकदेश जाना उतना ही तो। सत् नहीं है वह सदंश है। सदंश ग्राही ज्ञान प्रमाण नहीं होता। प्रमाण से ग्रहण किए गए सत् में सदंश को

जानने पर वह प्रमाणांश कहा जा सकता। प्रमाणांश से ग्रहण न किए गए हो फिर सदंश जाने तो वह मिथ्याज्ञान है।

प्रमाणवत् नय में स्वापूर्वार्थका निश्चय होने से नय में प्रमाणता न होने के कारण की जिज्ञासा—प्रमाण के लक्षण में यह बात कही जाती है कि जो अपना निश्चय करे और अपूर्व अर्थ का निश्चय करे उसे प्रमाण कहते हैं। तो सकलताग्राही ज्ञान स्व और परका निश्चय करता है उसी प्रकार विकलग्राही ज्ञान भी नय के स्वका और अपूर्व अर्थ का निश्चय करता है। स्वके निश्चय के मायने क्या है कि जिस ज्ञान के द्वारा कोई पदार्थ जाना गया है वह ज्ञान एक सच है यह पदार्थ भी ऐसा ही है ऐसा दोनों तरफ निर्णय होने का नाम है स्व और पर का निश्चय। यहाँ स्व के मायने आत्मा न लेना किन्तु जिस ज्ञान के द्वारा हम जान रहे हैं वह ज्ञान तो है स्व और जो वस्तु जानने में आती है वह वस्तु है पर अर्थ। तो जैसे हमने समझा कि यह प्रमाण है तो सही जान लिया हमने अब सही को सही जानने में प्रमाण में दो बातें आयी कि यह घड़ी ही है और इसका जानने वाला जो ज्ञान है वह सच ही है। दोनों तरफ दृढ़ता होती है कि नहीं। पदार्थ के अधिगम में भी दृढ़ता है और जिस ज्ञान के द्वारा हमने पदार्थ जाना उसमें भी दृढ़ता है। क्या ऐसा होता है कि कोई पदार्थ को दृढ़ता से जाने यह घडी ही है और कुछ नहीं है। यह तो दृढ़ता से जाना है और यह शंका करें कि यह मेरा ज्ञान सही है कि नहीं? ऐसा तो नहीं होता दृढ़ता से होता है तो दोनों तरफ होता है और संशय होता है तो दोनों तरफ होता है। तो स्वके मायने ज्ञान हैं जिस ज्ञान के द्वारा हमने पदार्थ को जाना वह ज्ञान है स्व और जो पदार्थ जाना गया है वह है अपूर्वार्थ तो जो स्व और अपूर्वार्थ का अधिगम करे सो प्रमाण है। तो देखो जैसे सकलग्राही ज्ञान में स्व और अर्थ की निश्चयता है इसी प्रकार नय से जाने हुए प्रसंग में भी स्व और अर्थ को जानने की निश्चयता है। तो प्रमाण नय को भी कह देना चाहिए। यह शंका तो ठीक लग रही ना?

नय में प्रमाणत्व और अप्रमाणत्व न होकर प्रमाणांशत्वकी उत्पत्ति—उक्त शंका का समाधान यह है कि हम नय को प्रमाण नहीं कह सकते। एक तो यह प्रमाण एक देश नहीं है एक देश प्रमाण का कोई मूल्य नहीं है। एक देश प्रमाण का अर्थ है कुछ प्रमाण बाकी अप्रमाण कुछ प्रमाण और कुछ अप्रमाण हो ऐसा कुछ प्रमाण नहीं होता है। प्रमाण जो होता है। वह तो पूरा ही होता है अब यहाँ बात यह देखना है कि नय का लक्षण तो यह है कि अपना और पदार्थ का एक देश रूप से निर्णय करना और प्रमाण का लक्षण है पूर्ण रूप से अपने को और पदार्थ को जानना तो अपने को और पदार्थ को एक देशरूप से जानना यह ज्ञान में तो आ जाएगा मगर यह प्रमाण में न आएगा। कह सकेंगे तो प्रमाण का अंश कहेंगे। एक देश ज्ञान प्रमाण नहीं, किन्तु प्रमाण का अंश है। जैसे कोई पूछे कि बतलाओ समुद्र की जो एक बूँद है वह समुद्र है या असमुद्र? समुद्र की एक बूँद या मानो थोड़ा पानी लिया और पूछते हैं बतलाओ यह जल समुद्र है या असमुद्र है? अगर कोई कहे कि यह जल समुद्र

है तो यह बात सम्पूर्ण गलत सी लग रही कि बूँद है। यदि इतना पानी समुद्र है यानी समुद्र की एक बूँद भी अगर समुद्र है, तो जो बड़ा भारी समुद्र दिख रहा उसे एक समुद्र नहीं कहेंगे। ये तो अनगिनत समुद्र है, यह बोलना चाहिए। तो यह नहीं कह सकते कि जो एक बूँद है वह समुद्र है। और यह भी नहीं कह सकते कि जो चुल्लू भर जल है या एक बूँद पानी है वह असमुद्र है। तो असमुद्र का जो समुद्र है वह तो असमुद्र रह गया, वह समुद्र नहीं बन सकता। तब क्या कहा जाएगा? भाई सुनो— यह जो बूँद है सो यह समुद्र नहीं असमुद्र नहीं, किन्तु समुद्र का अंश है। अब समुद्र का अंश एक बूँद भी है। समुद्र का अंश यह अन्य बूँद भी है। ऐसे नाना अंशों का जो समुदाय हो गया वह समुद्र है। इसी प्रकार नय प्रमाण का अंश है— निश्चयनय भी प्रमाण का अंश है, व्यवहारनय भी प्रमाण का अंश है, और दोनों नयों से जो पूर्ण है सो प्रमाण है। यहाँ एक बात और समझना चाहिए कि निश्चयनय का जो विषय है वह पूर्ण वस्तु नहीं, व्यवहारनय का जो विषय है वह पूर्ण वस्तु नहीं, किसी भी नय का विषय पूर्ण वस्तु नहीं कहलाता, क्योंकि नय का विषय ही वस्तु का एक अंश है।

प्रमाण से संतुलित होने पर नय की उपयोगिता—यद्यपि यह बात बताई गई है कि निश्चयनय का विषय जो एक स्वरूप है, स्वभाव है, पारिणामिक भाव है उसका आश्रय करें तो हमको मुक्ति का मार्ग सुगम होता है यह बात जरूर है मगर यह हमको कब है जब कि प्रमाण से सब तरह की बात का निर्णय करने वाला पुरुष निश्चयनय का आलम्बन ले तो उसके मोक्ष का मार्ग बनेगा। जहाँ प्रमाण ही ठीक नहीं है और निश्चयनय के विषय को ही समग्र वस्तु मान लिया वह अंधेरे में है ऐसे ही तो एकांत अद्वैतवाद है। एक ब्रह्म है अपरिणामी है, हिलता डुलता भी नहीं, परिणमन भी नहीं होता अवस्था भी उसकी नहीं ऐसा एक ब्रह्म है। यह है निश्चय का एकान्तवाद सिद्धान्त याने निश्चयनय के विषय को ही पूर्ण वस्तु मानने का यह परिणाम है। वस्तु पूर्ण न तो निश्चयनय का विषयभूत है और न व्यवहारनय का विषय भूत है। वह तो प्रमाण विषय भूत है। अब रही एक कल्याण मार्ग के पाने की बात। तो देखिए निश्चयनय का विषय जानकर जैसे कल्याण मार्ग पाने में सहयोग है वैसे ही व्यवहार का विषय जानकर भी कल्याण का मार्ग दृष्ट होता है? स्वभाव दृष्टि स्वभावावलम्बन स्वभाव रूप अपने आपका निश्चय करना सो निश्चयनय है। निश्चयनय से चलेंगे तो स्वभाव दृष्टि में सहयोग मिलता है यह तो स्पष्ट है, परन्तु व्यवहारनय से चलते हैं तो भी स्वभावदृष्टि के लिए परमशुद्धनयका विषय पाने के लिए सहयोग मिलता है। जहाँ यह जाना कि ये रागादि भाव औपाधिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। तो इतना निश्चय हो गया कि मेरे स्वरूप में रागादि नहीं हैं। तब क्या हैं? बस एक चैतन्यस्वभाव है, जो औपाधिकभाव है, मेरा नहीं है। ऐसा निषेध करने में व्यवहारनय का प्रमुख हाथ है, क्योंकि विभाव औपाधिक है, अतएव मेरा नहीं है इस विधि से चैतन्य स्वरूप पर पहुँच हुई यों नय से भी हमको

स्वभावदर्शन में सहायता मिलती है। इतनी बात अवश्य है कि व्यवहारनय से हम निश्चयनय का उपाय पाते हैं और निश्चयनय के उपाय के बाद हम अनुभव का उपाय पाते हैं, फिर अनुभूति आती है, अनुभव में न निश्चयनय है, न व्यवहारनय है। अनुभव ही एक सर्वोपरि तत्त्व है।

नय के प्रमाणत्व व अप्रमाणात्व का निर्णय—यहाँ एक बात बतलायी जा रही है कि नय प्रमाण है या अप्रमाण। नय को न प्रमाण कह सकते न अप्रमाण कह सकते। अगर नय अप्रमाण है तो सब नयों का जो विषय है वह सब जानने के बाद भी प्रमाण नहीं रह सकता। अगर कहो कि नय प्रमाण है तो एक वस्तु में कितनी वस्तु घुस जाएगी? एक वस्तु में मान लो ७ नयों के द्वारा इसमें ७ विषय को देखा तो वे ७ वस्तु बन बैठेंगे। क्योंकि प्रमाण मान लिया और प्रमाण का जो विषय है वह वस्तु कहलाता है। तब नय क्या है? प्रमाण नहीं, अप्रमाण नहीं, किन्तु प्रमाण का अंश है। देखो इस प्रसंग में अपने लाभ की एक बात मिलती है। नयका हठवाद करके जो एक विवाद उठा रखा है वह विवाद समाप्त हो जाता है। अरे नय को मुख्यता मत दो प्रमाण को मुख्यता दो। हाँ प्रमाण से जानने के बाद फिर नय के विषयभूत तत्त्व का आलम्बन लेकर आप कल्याणमार्ग में बढ़ेंगे। बढ़ जाएंगे, ठीक है मगर उसमें भी आधार प्रमाण है। तो सकलग्राही जो ज्ञान है वह प्रमाण है विकलग्राही ज्ञान नय है। प्रमाण में विशुद्धि अधिक है नय का जो मूल कारण विशुद्धि है ना वह प्रमाण संस्कार केवल भर है विशुद्धि से ही तो हमारा परिचय बनता है तो नय में उतना अधिक विशुद्धि नहीं, प्रमाण में अधिक विशुद्धि है। नय का तो ज्ञान प्रायः सभी लोग करते हैं पर प्रमाण के ज्ञान बिना वे सब नय कुनय कहलाते हैं। जो निरपेक्ष नय है वह मिथ्या है, सापेक्ष नय सम्यक् है। तो सापेक्षता के मायने क्या कि प्रमाण का संस्कार जिस जीव में पड़ा हुआ है, प्रमाण से जिस पुरुष ने पदार्थ का निर्णय कर रखा है उस पुरुष को जो एक नय का ज्ञान होता है वह तो है सम्यक्। और प्रमाण से पदार्थ को ग्रहण ही नहीं किया गया और एक नय से ज्ञान किया वह है मिथ्या।

निरपेक्षनय के प्रयोग का एक उदाहरण—जैसे पर्याय दृष्टि से यह जाना जाता है कि जीव क्षणिक हैं। क्षण-क्षण में नया-नया जीव है कहिए ऋजूसूत्रनय। जैसे कोई मनुष्य पहले देव हो, अब हो गया मनुष्य, तो कहते हैं कि अब यह मनुष्य है, देव नहीं रहा अब पहले वाला जीव न रहा, यह दूसरा जीव है। अच्छा जैसे कोई बालक हो, अब हो गया जवान तो कहते हैं कि अब वह बेटा न रह अब वह दूसरा बेटा है। क्योंजी अगर पहला बेटा माने उस जवान बेटे को तो एक व्यवहार में माँ और बेटा एक साथ तो नहीं सोते, जवान बेटा हो और माँ हो तो वे एक साथ सोते हैं क्या? नहीं। जो छोटा बच्चा है माँ के साथ सोता है, अगर जवान को भी मान लिया जाए कि यह तो वही बेटा है, एकान्त कर लिया जाए तो अन्याय की बात आती कि नहीं? इससे जाना जाता कि अब वह नहीं रहा, नया हो गया,

प्रतिक्षण नया-नया होता है, यह है पर्यायार्थिकनयका विषय यह उसके तीन पन की बात कही अब एक पनमें ही बात देखो—जो सुबह है वह शाम नहीं। सुबह दूसरा था क्योंकि जो परिणमन नया-नया बनता रहता है सो नया-नया जीव है, यह पर्याय दृष्टि से कह रहे हैं। जिस दृष्टि से जो बात कही जाए वह सामने रखी जानी चाहिए, जैसे जब गुण-स्थान और मार्गणाओं के अनुसार परिचय कराया जाता। अच्छा बताओ—तिर्यञ्च गति में गुण-स्थान कितने हैं? जीवस्थान कितने हैं, पर्याप्ति कितनी हैं? तो जितने भी उत्तर पूछे जाएंगे उनका उत्तर देने के लिए तिर्यञ्च गति सामने रखी रहना चाहिए। अगर तिर्यञ्च गति की दृष्टि हटा दें उत्तर देने लगें तो कोई देवगति का उत्तर देगा कोई परिहार-विशुद्धि वाला उत्तर देगा, तो वे सब उत्तर गलत हो जाएंगे जिसकी बात पूछी जा रही हो, जो दृष्टि से परखी जा रही हो वह दृष्टि सामने रखना चाहिए, फिर कोई विरोध की विवाद की बात नहीं रहती। पर विवाद करने वाले लोग करते क्या हैं कि किसी दृष्टि से प्रारम्भ किया बोलना वे फिर दूसरी दृष्टि से बात निरखने लगते हैं इसलिए वह विरुद्ध हो जाता है।

सर्वनयों का आशय रखकर विविक्षित नय को विविक्षितनय की दृष्टि में सुनने पर विवाद का अनवसर—निश्चय दृष्टि से देखना तो कहिए द्रव्य से पर्याय होती है, अपने आप होती है, अपने से होती है, अपने द्वारा होती रहती है, बराबर चलती रहती है, तोता बना रहता है, निश्चय दृष्टि से यह बात बोल रहे हैं और उसी में छेड़ दें कि दूसरा कोई निमित्त नहीं हैं। अरे यह बोलने की क्या आवश्यकता थी? तुम निश्चय दृष्टि की बात कह रहे तो एक दृष्टि से देखते जावो। निमित्त की बात मत छेड़ो। अगर निमित्त से छेड़ें तो यह दूसरी बात आ गई। अब उससे बात करें फिर प्रमाण से बात करें जिस दृष्टि से जो बात कही जा रही है उसको सामने रखकर जवाब दें तो वह सही है और अगर दूसरी दृष्टि करके जवाब दिया जाएगा तो वह बात गलत हो जाएगी। यह बात तो स्पष्ट है, कोई कठिन बात तो नहीं है। हाँ जैसे जब पर्याय दृष्टि से चलते हैं तो क्षण-क्षण ही देखिए उस समय द्रव्य दृष्टि को गौण कर दीजिए हाँ ठीक है, बौद्ध हमारे मित्र हैं क्षणिकवादी हमारे साथी हैं। जिस समय हम पर्याय दृष्टि में बने रहते हैं तुम बहुत ठीक कह रहे, क्षण-क्षण में जीव नया-नया उत्पन्न होता है, अगले क्षण वह रहता ही नहीं है, यह कहा जा रहा है पर्याय दृष्टि में लेकिन पर्याय दृष्टि नय है। इस नय का विषयभूत जो पदार्थ है, तत्त्व है वह पूर्ण वस्तु नहीं, इसी तरह द्रव्य दृष्टि से जीव एक स्वभाव मात्र है, वह अपरिणामी स्वभावमात्र है। तो ठीक है, इस दृष्टि से ये वेदान्ती ब्रह्मा-द्वैतवादी हमारे मित्र बन गए जो तुम कहते सो मैं कहता हूँ पर ऐसा कहते-कहते इतनी ही तो पूरी वस्तु न हो जाएगी। वह तो एक निश्चयनय का विषयभूत तत्त्व है। वह समग्र वस्तु नहीं है, अब उसीको ही समग्रवस्तु मान लिया तो वह एकान्तवाद हो गया। आत्मा है, स्वभाव में ऐसा है मगर बीत क्या रही है? बन्धन है ना, रागद्वेष है ना, परिणमन चल रहे हैं, आकुलता हो रही है, कहेंगे कि नहीं? हो रही तो फिर छूटने का प्रयास

क्यों करते? धर्म किसलिए बताया गया? ज्ञानाभ्यास क्यों करते? कुछ भी तो तथ्य होगा। कहेंगे कि भ्रम हो गया था, उसको दूर करने के लिए हम ज्ञानाभ्यास करते हैं। भ्रम मिटा कि हम मुक्त हो गए। तो भ्रम भी तो एक इसमें लद गया, जिसे मिटाने के लिए ज्ञानाभ्यास करना पड़ता। तो भ्रम तो है रागद्वेष का बाप। रागद्वेष को उत्पन्न करने वाला भ्रम है, इतनी बड़ी गड़बड़ी लगी है, ऐसा तो मान रहे ताकि उस भ्रम को दूर करने के लिए हम ज्ञानाभ्यास करें उसके नाती पोते रागद्वेषादि का निषेध करते। आत्मा में रागद्वेष हैं ना? आत्मा में रागद्वेष का बोझ धरा है और कहते कि रागद्वेष नहीं है, तो केवल स्वभाव मानने से बात न चलेगी। स्वभाव है, द्रव्य है, पर्याय है और द्रव्य पर्यायात्मक वस्तु है, तो प्रमाण का विषयभूत पदार्थ है वस्तु में वस्तु को जानें, वह है प्रमाण का विषय तो देखो प्रमाण के द्वारा भी तत्त्व का अधिगम हुआ और नयों के द्वारा भी तत्त्व का अधिगम हुआ। पर नय के द्वारा जो अधिगम है यह है प्रमाण का अंश और सकलग्राही ज्ञान के द्वारा जो वस्तु का अधिगम हो वह है प्रमाण। यों प्रमाण और नयों के द्वारा जीवादि ७ तत्वों का और रत्नत्रय का और भी वस्तुओं का जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल आदि समग्र वस्तुओं का प्रमाण और नयों से अधिगम होता है।

पुष्ट कार्य के लिए विवेकियों को विलम्ब प्रसन्नता से सहन— देखिए वस्तु को एकदम जानकारी में लिया जाना तो अच्छा था ना, मगर वह बात एक सही ढंग से बने, सही बने फिर इसमें कोई कमी नहीं रहे, सत्य अनुभव हो, बाधा न आए, इसे लौटकर न आना पड़े, इसके लिए पहले तो जानकारी के उपाय की बात कही जा रही है। जो एक मूलतः चलता है नींव बनाकर मकान खड़ा करता है उसको फिर लौटकर नहीं आना पड़ता। और, मान लो, नींव तो रखी नहीं और एकदम जमीन पर ही भींट चिनने लगे तो कुछ दिन चिनने के बाद अगर सद्बुद्धि हो गई और कोई इंजीनियर समझाएगा कि भाई क्या कर रहे? नींव पहले रखो तब मकान बनाओ। यदि नींव डाले बिना भींट खड़ी कर दिया तो उसे भींट हटा देना पड़ेगा, पहली स्थिति में आना पड़ेगा। नींव खोदनी होगी फिर उस पर भींट बनेगी, और कोई न माने और एकदम भींट खड़ी कर दे, जब १०—१२ फिट हो गई, केवल छत डालने का काम है, मानो छत भी पड़ गई, तो उसमें कुछ समय बाद वह मकान जमीन में धंसने लगेगा, क्रेक हो जाएगा और जल्दी ही ढह जाएगा, इसलिए ऐसा करो कि चाहे थोड़ी देर लग जाए लेकिन पहले उसकी नींव मजबूत भरो, जब नींव मजबूत हो जाएगी तो फिर उस पर बनी भींट बढ़िया और मजबूत बनेगी, इसी तरह जीवादि ७ तत्त्वों की जानकारी करना है तो जानकारी तो करायी जाएगी दूसरे अध्याय में। पहले अध्याय में तत्त्व की जानकारी के उपाय की जानकारी शुरू की गई। यद्यपि कहा जाता है कि पहले चार अध्यायों में जीव तत्त्व का वर्णन है, लेकिन जो जीव तत्त्व के या अन्य सभी तत्त्वों के वर्णन के जो उपाय तो जीव स्वरूप ही हैं ना इसलिए कह दिया है कि चार अध्यायों में जीव का वर्णन हैं, पर असल में

जो जीव तत्त्वों की जानकारी करायी तो दूसरे तीसरे चौथे अध्याय में, ५ वें में अजीव का वर्णन, और छठवें ७ वें में है आश्रव का वर्णन, ८ वें में है बंध का वर्णन, ९ वें में है सम्बर निर्जरा का वर्णन और १० वें में है मोक्ष का वर्णन और जनाब पहले में किसका? इन सबको जानने का जो ढंग है उसका वर्णन है पहले अध्याय में।

अधिगम के उपायों के अधिगम से वस्तु का पुष्ट अधिगम—अच्छा तो इतना ज्यादा समय क्यों लगा रहे हैं पहले अध्याय में देखा ही होगा। नींव बनाने में कितनी देर लगती है? जिस पर भींट तो बनेगी, जिस पर छत आ जाएगी वह भींट तो चार कारीगर लग जाएंगे एक भींट उठाने के लिए तो वे कोई दो दिनमें उठा ले जाएंगे। अधिक समय न लगेगा, पर नींव भरने के लिए, नींव खोदने के लिए पहले दो चार दिन लगेंगे, फिर उसको भरने में, नाप तौल में, सकरी जगह है, वहाँ सूत डालना भी कठिन है, उसमें देर लगेगी। इतनी देर पसंद करते हैं विवेकी लोग। देर लगती है तो लगने दो, निर्माण कर्त्ता बड़े सन्तोष से चलता है, इसी तरह जीवादि ७ तत्त्वों का वर्णन चलेगा दूसरे अध्याय से मगर उन सब वर्णनों को हम ठीक समझें, युक्ति से समझें, सही ढंग से जानें, इसके लिए जो उपाय बताया जा रहा है पहले अध्याय में, इसमें बहुत विलम्ब लगेगा उसकी जानकारी करो, समझ जावोगे। अब जिसे मात्र झोपड़ी बनाकर ही रहना है वह नींव का विलम्ब नहीं सह सकता। जिसको एक थोड़ी छाया करना है, मंडप जैसा थोड़ा बनाना है वह नींव का विलम्ब न सह सकेगा। उसमें खर्च भी अधिक है समय भी बहुत लगेगा। उसको बांसों में खड़ा कर दिया। उसके ऊपर बरसाती लगा दिया, काम बन गया। काम तो बन गया उसका मगर सही आनन्द, सही ढंग, सदा के लिए बेफिक्री उसे न मिलेगी। वह तो झोंपड़ी है, इसी तरह कोई कहे कि हमें क्या करना नय और नय का स्वरूप जान करके? उसके समझने में हमें क्यों उलझन में फंसाते हो? हमें तो जल्दी समझा दो जो दूसरे अध्याय में वर्णन है। कोई मर जाता है विग्रह गति कहलाती है। जीव यों जाता है, यों कहलाता है। बड़ी जल्दी बात समझ में आ जानी है। हमें तो जल्दी बात बता दो, हमें तो झोंपड़ी पसंद है, मगर ऐसी झोंपड़ी पाकर न आनन्द रहेगा। न आगे के लिए निर्विघ्नता आएगी, इसलिए देर लगती है तो लगने दो। यह बताया जा रहा है कि प्रमाण और नय के द्वारा वस्तु तत्त्व का अधिगम होता है। देखिए इस विलम्ब में भी चूँकि सारा नीरस न बन जाए और प्रयोजन की सारी बात झलक जाए, यह प्रकरण यदि १५ दिन तक चले तो १५ दिन तक हम कैसे धीर रह सकेंगे? कैसे हम वहाँ हित की बात जान सकेंगे? तो वह भी सब बात बीच-बीच में बताते जाएंगे, उसे भी सुनना, मगर एक बात तो यह जान लीजिए कि पदार्थ के जानने का जो उपाय है, प्रमाण और नय है वह एक कितनी ठोस चीज है, आप स्वयं कह उठेंगे। जिनेन्द्र देव की वाणी, स्याद्वाद का दर्शन जयवन्त हो, जिसने इतनी बड़ी ठोस उपाय की भूमिका से लेकर हमें तत्त्व ज्ञान में पहुँचाया है बतलावो यह उपाय अन्यत्र कहाँ मिलता है? बड़े-बड़े दार्शनिक शास्त्र भी हैं मगर हमारा

ठोस उपाय कहाँ मिलता है? थोड़ा कह देते हैं। पदार्थ की जानकारी का उपाय क्या है? इन्द्रिय और पदार्थ, इन दो का मिलान हो गया कि जानकारी हो गई। जीव, शब्द और कान मिल गए, बस जानकारी हो गई। रूपऔर आँख दोनों आमने सामने हो गए, जानकारी हो गयी। नाक और गंध के परमाणु इनका स्पर्श हो गया, जानकारी हो गई, यों सीधे सादे ढंग से कहने वाले लोग तो बहुत हैं मगर क्या ढंग है? कैसे प्रमाण बनता है? प्रमाण कहने वाला कौन है! प्रमाण का विषय क्या है? प्रमाण भी किसका स्वरूप है? जरा इसका विशेष वर्णन चले तो एक बड़ी स्पष्ट जानकारी होती है कि पदार्थ का अधिगम इस ढंग से हुआ करता है।

आर्षवचनों की श्रद्धा का प्रभाव—आत्मानुशासन में सम्यग्दर्शन के जो १० भेद किए गए हैं वे आज्ञा सम्यक्त्व, बीज सम्यक्त्व आदि १० भेद आए हैं ना, उसका क्या प्रयोजन है? कितने ही पुरुष तो भगवान ने कहा है, उनकी आज्ञा मान करके वे जब चलते हैं तो जिनकी आज्ञा मानकर चलते उसके जानने में ही एक चैतन्य प्रकाश होता है, अनुभव होता है, तो ऐसे सम्यग्दर्शन का नाम है आज्ञा सम्यक्त्व तो अब देखिए करणानुयोग के ग्रन्थों में धवल महाधवल षट्खन्डागम, इनमें कोई थोड़ा प्रवेश पाले, थोड़ा जीव-स्थान को समझले तो प्रवेश पा सकता है। तो जब गुण-स्थानों में वर्णन आता है कि किस समय काम हुआ, जहाँ एक-एक समय में एक-एक बात बतायी जाती है, ८ वें ९ वें गुण-स्थान में एक-एक समय के निषेक बताये जाते हैं, पहले समय में कितने निषेक आए दूसरे समय में कितने आए, तीसरे समय में कितने आए। किस समय में कहाँ क्या बात आती है? जहाँ यह बात चलती है और एक बात सामने उतरती है तो वही एक सम्यक्त्व का आधार बन जाता है। भक्ति भी सम्यक्त्व का आधार बन जाती है जब कभी बहुत तीव्र अतुल भक्ति होती है, प्रभु के स्वरूप में गद्गद् हो जाते हैं और गद्गद् होने का चिह्न है उसकी आँखों में प्रसन्नता के भक्ति के अश्रु आ जाते हैं और उन गदगद भावों के समय अगर कोई स्तवन बोले तो उसके अक्षर स्पष्ट न बनेंगे। गदगद वाणी में अस्पष्ट वाणी में जहाँ आनन्द के अश्रु ऐसा झलक रहे हैं जहाँ मानो मोह को धो डाला है ऐसे अश्रुवों से स्नान किया है मुख जिसने, ऐसा जो गद्गद् होकर भगवान की अस्पष्ट वाणी में जो स्तुति कर रहा है ऐसा पुरुष उस भगवान के स्वरूप में प्रवेश होने के प्रताप से वहाँ सम्यक्त्व पाने का अवसर पा लेता। तो यह समझ लीजिए—जैन शासन की कुछ भी बात कही जाए, सुना जाए ढंग से तो वही इसके सम्यक्त्व का कारण होता है। पर कोई ऐसा ही नियम करके बैठ जाए कि हमें तो मन्दिर जाना ही नहीं, हमें तो व्याख्यान सुनना ही नहीं, हमें तो कुछ करना ही नहीं, ऐसा निर्णय करके बैठ जाए तो उसे इसका अवसर कहाँ से मिलेगा ?

स्याद्वादगर्भित जिन-वाणी की उपासना में आत्मबोधाभ्युदय—एक सड़क के किनारे एक मन्दिर था, उस मन्दिर के सामने एक चबूतर पर रोज जैन शास्त्रों का व्याख्यान होता था।

एक धर्म विमुख जिसे जैन धर्म से विद्रोह था वह प्रतिदिन उसी समय उस सड़क से निकलता था उसे जैन धर्म से इतना द्वेष था कि जब वह उस शास्त्र सभा के पास से निकलता था तो अपने कानों में अंगुलियाँ लगा लिया करता था। इस तरह करते-करते बहुत दिन हो गए। एक दिन चलते हुए में उसके पैरों में काँटा लग गया, उसे उसी जगह बैठकर निकालने लगा। उस समय शास्त्र के कुछ शब्द उसके कान में पड़ गए। चर्चा यह चल रही थी कि देवों के, भूत प्रेतों के शरीर में छाया नहीं होती, ये शब्द उसके कान में आ गए और सुनकर आगे चल दिया था। वह था बड़ा आदमी। जब वह अपने घर पहुँचा तो रात को अचानक ही उसके घर में एक ऐसी घटना घट गई कि उसके घर में ४ डाकू भूत प्रेतादिक जैसा भयानक रूप बनाकर उसे भयभीत करके धन हड़पने आ गए। पहले तो भूत प्रेत समझकर भयभीत होकर उससे भागना चाहा पर उसे कानों में पड़े वे शब्द याद आए, भूत प्रेतों के शरीर में छाया नहीं होती, सोचा कि देखें तो सही कि इनकी छाया जमीन में पड़ती है या नहीं? देखा तो उनकी छाया जमीन में पड़ रही थी। सोचा—अरे ये भूत प्रेत नहीं, ये तो मनुष्य हैं। बदमाश लोग हैं, क्या था? उसके पास शक्ति थी, साधन था। उन्हें भगा दिया। उसने सोचा कि देखो—एक ही वाक्य के शब्द सुनने मात्र से हमारा धन बच गया, हमारा कितना उपकार हो गया, यदि जिन-वाणी के वे शब्द अधिकाधिक सुने जाएं तो उसके लाभ का तो कहना ही क्या है? उसे जैन धर्म में श्रद्धा हो गई, वह जैन तत्त्वज्ञान का अभ्यासी हो गया। तो शास्त्र का वचन, जिनेन्द्र वाणी का वचन चाहे वह कठिन हो न्याय का हो, सिद्धान्त का हो, चरणानुयोग का हो, भक्ति का हो। कुछ भी शब्द सुनकर वही आधार बन जाता है कि इसको सम्यग्दर्शन बन जाता है, पर ऐसा सम्यग्दर्शन बनेगा अपने ही ढंग से। ज्ञान बढ़ेगा, विकल्प छूटेगा और अपने स्वरूप का अपने आप में दर्शन होगा। अनुभव होगा और वह करने लगेगा सहज आनन्द का अनुभव। देखो कोई बहुत देर से भोजन बनाता है और बहुत देर से तीन चार घंटे बनाने के बाद वह भोजन खाने में आता है और कोई कुशल व्यक्ति थोड़ी देर में भोजन बनाकर खा लेता है, खाना तो सब का हुआ मगर खाना जिस विधि से होना चाहिए वह विधि तो सबकी हुई, लेना, मुख में डालना, चबाना, गटकना, पचाना वह सबको करना पड़ा, मगर किसी को उपाय तीन घन्टे करना पड़ा, किसी को १५ मिनट करना पड़ा, किसी को तत्क्षण करना पड़ा। यह तो अपने-अपने अलग-अलग भवितव्य की बात है, मगर विधि वही थी, ऐसे ही जो भक्ति मार्ग से, बड़े कठिन तत्त्व के जानकारी के मार्ग से अनेक तरह से जो चलता है तो जिसका जैसा भवितव्य है वह सम्यग्दर्शन प्राप्त कर लेता है, तो सम्यग्दर्शन जिसको भी होता है सब को एक ही प्रकार से होता है, उसमें नाना विधियाँ नहीं है, पर उस एक प्रकार की विधि से पहले नाना प्रकार की विधियाँ हैं।

यथार्थ प्रतिभास का महत्त्व—पशुपक्षी को भी सम्यक्त्व हो जाता है। वे कहाँ ७ तत्त्वों के नाम जान पाते हैं? कहाँ इतना अध्ययन कर पाते हैं बोलचाल भी नहीं है, गुरु

शिष्य भी नहीं है, कल्पना करो कि कोई बैल बैठा है, खा पीकर बैठा है, छाया में, जुगालिया कर रहा है, मुख चला रहा है और उसके चिन्तन में आ गया, उसके भी विशिष्ट मन है। कुछ चिन्तन में आ गया अपने आपके भीतर की बात सोचने में आ गई। देखो जानने के लिए शब्द ज्ञान की जरूरत नहीं है, जैसे एक बालक तुरन्त पैदा हुआ और वह जान रहा है कि भींट है उसे जान गया तो जानने में उस बालक को कुछ सिखाने की जरूरत नहीं पड़ती मगर यह भींट है, उसका भींट नाम है, यह इसतरह से बनायी जाती है, इन बातों को सीखने के लिए नाम की जरूरत है, मगर पदार्थ प्रतिभास के लिए नाम की क्या जरूरत है? सीधे यों ही हो गया, इसी तरह पशुओं को एक सीधा परिचय हो गया, सम्यग्दर्शन हो गया, जीव, अजीव, आश्रव बन्ध इनके नाम के परिचय की क्या जरूरत है? तो इस नाम के द्वारा जो भी जाना जाता है वह बिना नाम और शब्द के जाना जाता है। सम्यग्दर्शन होगा तो वह एक ही विधि से होगा। उनका निमित्त है ७ प्रकृतियां का उपशम, क्षय, क्षयोपशम। तो तिर्यञ्च में क्षायिक सम्यग्दृष्टि पाए जाते हैं मगर क्षय नहीं करते। मनुष्य भव में उनका क्षय किया और सम्यक्त्व प्रकृति के क्षय करने में कुछ थोड़ी सी कमी रह गई, मृत्यु हो गई, तिर्यञ्च में पैदा होना है वहाँ हो गयी पूर्णता, और क्षायिक सम्यक्त्व हो गया तो मरकर वह भोगभूमि तिर्यञ्च में जाएगा और क्षायिक सम्यग्दृष्टि कहलाएगा पहले तिर्यंचायु बांधी हो पश्चात् क्षायिक सम्यक्त्व हो तो मरकर भोग भूमिज तिर्यञ्च होगा। मगर कोई भी देव, कोई भी नारकी कोई तिर्यञ्च ७ प्रकृतियों का क्षय नहीं करता, ७ प्रकृतियों का क्षय करने का अवसर एक मनुष्य को ही है, आप सोचें तो सही कि यह मनुष्यभव कितना अमूल्य है कितने महत्त्व का पद है और इसको जैसे कहते हैं गाजर मूली की तरह काट दिया, इसी तरह इस मनुष्य भव को विषय कषायों में यों गंवा दिया तो ये इतने अमूल्य क्षण कैसे व्यर्थजा रहे हैं? क्या इसके लिए मनुष्य जीवन है? मनुष्य जीवन इसके लिए नहीं है। आत्मा का ऐसा परिचय पावो, ऐसा ज्ञान करो कि आत्मा का सदा के लिए उद्धार हो जाए। तो उस आत्मतत्त्व के परिचय के लिए ७ तत्त्वों की बात कही जाएगी। उन ७ तत्त्वों का परिचय होता है प्रमाण और नयों के द्वारा। प्रमाण कहते हैं वस्तु के सर्वांश ग्रहण करने वाले ज्ञान को, नय कहते हैं वस्तु के एक अंश को ग्रहण करने वाले ज्ञान को। इन दोनों में प्रमाण में विशुद्धि अधिक है, प्रमाण में पूज्यता है, इसी कारण-प्रमाण नयै-रधिगमः में प्रमाण शब्द पहले दिया है। अर्थ हुआ प्रमाण और नयों के द्वारा ७ तत्त्वों का सम्यग्दर्शन आदि का सर्व पदार्थों का अधिगम होता है।

जिननाथ के उपदेश में प्रमाण और नय की अनर्घ्य देन—मोक्ष शास्त्र के ६ वें सूत्र में यह प्रकरण चल रहा है कि समस्त तत्त्वों का, भावों का, पदार्थों का अधिगम, परिचय प्रमाण और नयों से होता है, इस सम्बन्ध में प्रमाण और नय के स्वरूप की बात थोड़ी कुछ कही गई है। अब जरा कुछ प्रमाण के विषय पर विचार कीजिए। नयको तो कोई दार्शनिक मानता नहीं। अन्य दार्शनिकों के यहाँ नय नहीं है प्रमाण ही प्रमाण है। प्रमाणरूप में प्रमाण

नहीं, किन्तु जो उन्होंने समझा एक देश, जो कुछ भी समझा उनके लिए वही पूरा प्रमाण है, नय की बात वहाँ नहीं चलती है। स्याद्वाद में ही नय है, अन्यत्र नय नहीं है। अगर नय न हो तो स्याद्वाद न आएगा किसी ने कोई एक देश जाना किसी ने और कुछ जाना, फिर जो कुछ जाना उसकी दृष्टि बनी, उनका समुदाय तो न रहा तो यह सब झगड़ा बन जाता। स्याद्वाद के विरोधी दार्शनिक नयों को मान ही नहीं सकते। और नय मान लिया तो सब विवाद दूर हो जाता है। उसमें यह खुलासा होता है कि इन्होंने इस दृष्टि से यह कहा, दृष्टि की गुंजाइस ही नहीं अन्य दार्शनिकों के यहाँ जो कहा कि पूरा प्रमाण समग्र वस्तु है तो इसमें प्रमाण का विषय क्या आया है? प्रमाण का विषय बताया जा रहा था न कि सर्व देश का परिचय प्रमाण कहलाता है, यानी समस्त अंशों का समग्र अंशों का जो परिज्ञान हुआ वह प्रमाण है। वस्तु के अंश अंश का ज्ञान होना नय है और सर्वदेश वस्तु का परिचय करना प्रमाण है।

क्षणिकवादियों द्वारा प्रमाण विषयभूत अंशों के अभावका कथन—प्रमाण की बात सुनकर क्षणिकवादी दार्शनिक यह कहते हैं कि तुम क्या उन्मत्तवत् बात करते हो? अंशी तो कोई होता ही नहीं है जो एक-एक अंश है वही एक पदार्थ है। न अंश होता न अंशी होता। जैसे एक-एक परमाणु पूरा पदार्थ हैं और परमाणु नहीं परमाणु में रूप, रस, गन्ध, स्पर्श का समुदाय नहीं, किन्तु रूप परमाणु स्वतन्त्र पदार्थ है, रस परमाणु स्वतन्त्र, गन्ध परमाणु स्वतन्त्र, रस, गन्ध, स्पर्श जिसमें पाए जाएं ऐसा कोई एक परमाणु हो सो भी नहीं, किन्तु सुलक्षण मात्र क्षण-क्षण-वर्ती ऐसा अभेद कोई जो अंश है, जिसे जैन लोग अलग अंश कहते हैं वही वस्तु है पूरी और उसका परिचय करना ही प्रमाण कहलाता है, अंशी कोई चीज नहीं। अंशी तो इसमें आरोपित है। जैसे गेहूँ का ढेर लगा है तो उसमें गेहूँ का ढेर आरोपित है, ढेर कोई वस्तु नहीं है। एक-एक दाना है और बहुत से दानों का एक पिण्ड बना तो वह आरोपित है, वास्तव में वस्तु नहीं है, यह क्षणिकवादी कह रहे हैं। तो इसी तरह दुनिया में ये जो कुछ भी भींट पत्थर वगैरह दिखते हैं ये सब आरोपित पदार्थ हैं, वास्तव में तो रूप परमाणु, रस परमाणु ऐसे-ऐसे द्रव्य हैं वे द्रव्य जरा पास आ गए तो उनको मान लिया गया, जैसे गेहूँ के दाने आपस में मिल गए तो ढेर कोई चीज तो न रहेगी ढेर तो एक काल्पनिक चीज हो गई, इसी तरह से ये रूप परमाणु पास-पास आ गए तो लोग मान लेंगे कि यह स्कंध है, पिण्ड है, पदार्थ है स्कंध कोई चीज नहीं, अवयव कोई वस्तु नहीं, जो एक अणु है, अवयव है, अंश सो ही पदार्थ है, और ये कोई पदार्थ नहीं।

क्षणिकवादियों द्वारा अंशी का आकार ज्ञान में न सौंपा जाने के कारण अंशी के अभाव का समर्थन—यहाँ एक बात और भी समझिएगा। क्षणिकवादी दार्शनिक कह रहे हैं कि ज्ञान में चीज आती है तो किस तरह आती है, किस तरह ज्ञान बनता है कि ये बाहरी पदार्थ अपना आकार ज्ञानको सौंपते हैं तब यह ज्ञान उनको प्रत्यक्ष करता है, कैसा परस्पर का लेन-देन है कि ये बाहरी पदार्थ अगर स्मरण करते हैं— किसका? ज्ञान साहब का

तब यह ज्ञान साहब उन पदार्थों को जानने का आशीर्वाद देते हैं। इस तरह ज्ञान बनता है। देखिए क्षणिकवाद की बात चल रही है। सुनने में तुरन्त भला लगेगा कि ठीक ही तो कह रहे हैं क्या बात है, जैसे दर्पण में बाहरी पदार्थों का आकार आता है तो उन पदार्थों ने अपना आकार सौंप दिया और दर्पण ने उसको फिर व्यवस्थित कर दिया, झलका दिया, जना दिया ऐसे ही ये बाहरी पदार्थ इस ज्ञान को अपना आकार सौंपते हैं और यह ज्ञान फिर उन बाहरी पदार्थों को स्पष्ट प्रत्यक्ष जानते हैं सो इसमें अंशी अपना आकार नहीं सौंपते किन्तु ये अलग-अलग अंश ये ही अपना आकार सौंपते हैं इस तरह अंश ही वस्तु है अंश कोई पदार्थ नहीं है। और देखो क्षणिकवादी दार्शनिक ही कहे जा रहे कि जब अंशी अपना आकार नहीं सौंप सकता याने यह अणु ही अपना आकार सौंप रहे फिर उनसे इतना बड़ा है, लम्बा है, चौड़ा है ऐसा आरोप किया जाता है तब समझ में आता है तो आकार सौंपते अंश, अंशी आकार नहीं सौंपते। तो जब अंशी ने अपना आकार सौंपा तब ही अंशों का परिचय हुआ लेकिन जैन लोग या अन्य-अन्य दार्शनिक तुम तो बिना मूल्य में ही वस्तु को खरीदना चाहते। अंशी जब अपना आकार ज्ञान को नहीं सौंपते और फिर उस सम्बन्ध में अंशी को जानना कैसे बता सकते हो। अंश अपना आकार सौंपते तब यह ज्ञान अंश को जानता है। इसके अंश ये कोई भी अपना आकार नहीं सौंपते और फिर भी उस अंशी को जानने की बात सोचे तो तुमने तो यह मुफ्त में खरीद लिया अंशी का जानना इसलिए अंश ही वास्तविक पदार्थ है। अंशी पिण्ड यह कोई चीज नहीं। तब प्रमाण को यह कहनाकि जो सर्वांशको जाने सो प्रमाण है। सर्वांशका तो ज्ञान होता ही नहीं अंशों के पिण्ड का तो ज्ञान होता नहीं, ज्ञान होता है तो अंश अंश का होता है। यह ही पूर्ण पदार्थ है। जो सौगत सिद्धान्त है।

प्रमाण विषयभूत अंशी की सिद्धि—अब जरा क्षणिकवाद की उक्त दो आशंकाओं पर विचार करो। जब यहाँ हम कुछ नजर डालते हैं इन्द्रिय द्वारा जो हम इसे देखते हैं, जो परिचय बनता है तो बतलावो अणु का बनता है या पिण्ड का अंशी का ज्ञान होता है। परमाणु तक का भी हमें परिचय नहीं होता है। तो इतना स्पष्ट हो रहा है इन स्कंधों का, अंशियों का और कह रहे अंश ही वास्तविक पदार्थ है अंशी तो आरोपित चीज है। अच्छा एक बात और देखो अगर अंशी वास्तविक चीज नहीं है घड़ा वास्तविक चीज नहीं है बौद्धों के सिद्धान्त में किन्तु उसमें रहने वाला एक-एक रूप, रस, वर्ण, गन्ध अणु ये हैं वास्तविक पदार्थ। अगर ऐसी बात है तो फिर यह बतलावो कि वह रूप अणु से कोई पानी भर सकता? अरे घड़े से ही पानी भरकर वह दे सकेगा। अगर घड़ा कोई वास्तविक वस्तु नहीं है तो फिर उससे अर्थ क्रिया कैसे बनेगी? इस पर उन दार्शनिकों का यह कहना है कि अर्थ क्रिया तो प्रत्येक अणु में होती रहती है और सब अणु की अर्थ क्रिया सब बराबर है। जैसे सेना में सेना क्या चीज है? आरोपित है सेना कोई वस्तु है क्या? प्रत्येक सिपाही, घोड़ा, प्रत्येक हाथी यह ही तो चीज है, सेना कोई वस्तु है क्या? अरे घोड़ा सिपाही रथ वाले इन सबका जो

समूह है इसका नाम सेना है, तो वह बतलावो कि सेना मार पीट करती है या एक-एक सिपाही? अर्थ क्रिया वह सब सिपाहियों में हो रही है। तो देखिए सबमें काम एक सा बन रहा इसलिए कहते कि सेना अर्थ क्रिया करती है सेना ने इसका प्रध्वंस कर दिया। जैसे कहते हैं बाग फल देता है। अच्छा बताओ बाग कोई चीज है क्या? एक-एक वृक्ष का जो समुदाय है, अपनी कल्पना में मान लिया कि हजार वृक्ष का जो समुदाय है वह बाग है ऐसी बात कल्पना में लाकर कहते हैं कि बाग फल देता है। यह आरोपित बात है। फल तो एक-एक वृक्ष देता है तो इसी प्रकार घड़े में पानी भरा तो भ्रम है लोगों को कि घड़े ने पानी भरने का काम किया। प्रत्येक अणु ने पानी भरने का काम किया और वह काम चूँकि एक समान है इसलिए वह समस्त अणुओं का काम एक है यों भ्रम हो गया। इसलिए घट कोई चीज नहीं है किन्तु अणु-अणु ही वास्तविक पदार्थ है।

स्कंधों की अणुबद्धरूपता—अभी जब अन्य दार्शनिकों की बात भी सुनेंगे समझेंगे कि आखिर वे किस दृष्टि से कहते हैं वहाँ भी तो बड़े-बड़े संत ऋषीजन हुए हैं दिमाग से ही तो उन्होंने कोई बात समझी है तो जब वहाँ प्रवेश करेंगे तो ऐसा जाहिर होगा कि यह ठीक ही तो कह रहे है इसमें गड़बड़ की क्या बात है! जैन भी तो कहते हैं कि वास्तव में सब परमाणु ही पदार्थ हैं और उन परमाणुओं का बन्ध हो गया स्कंध हो गया लदे हुए ये सब मायारूप ही हैं लेकिन कुछ जरा गम्भीरता से विचारने पर आपको जैनाचार्यों की प्रतिभा का पता चलेगा। सुनने में तो यह बड़ा अच्छा लगता है। यों तो सुनने में जो सस्ता धर्म होता है वह कितना बढ़िया होता है, जिसमें त्याग की गंध भी नहीं है। तो इसका अर्थ यह नहीं हुआ कि जो सुनने में सुहाये वह बढ़िया चीज है। सुनने में तो पाप सुहा जाता। अब यहाँ पर विचार करें। उनका कहना है कि एक-एक परमाणु अर्थ क्रिया करता है और वह समान है तो ये परमाणु क्या जुदे-जुदे रहकर ऐसी विज्ञान अर्थ क्रिया करते हैं या पास-पास रहकर अर्थ क्रिया कर सकते। न जुदे रहकर कर सकते है न पास रहकर कर सकते हैं। किन्तु बद्ध होकर ही कर सकते हैं। जब उन अणु-अणु का भी परस्पर बंध हो जाए कि आप जैसे चौकी को सरकायेंगे तो चौकी पूरी सरकेगी। कोई पास-पास परमाणु नहीं हैं। पास-पास रहें तो एक खूंट सरकाने से उतना ही सरकता, और न सरकता। आप सब लोग पास-पास बैठे हैं तो इसके मायने यह तो नहीं कि अगर एक भाई को यहाँ बुला लें तो सारे भाई यहाँ खिंच आएंगे। पास-पास बैठे हैं। भिन्न-भिन्न हैं, मगर वे बंधे हों यह बात नहीं है। इन स्कंधों में तो सब अणुओं की गुण संस्कृति हो गई। अणुओं का जो एक स्वतन्त्र निरपेक्ष कार्य है वह अब नहीं जंच रहा। यह तो कोई प्राकृतिक बात चल रही है। दूसरी बात जो क्षणिकवादी जन कहते हैं कि अंश ही अंश सर्व कुछ पदार्थ हैं अंशी नहीं और उसका वे प्रमाण क्या देते हैं कि दूसरी कल्पना करने पर पहली कल्पना मिट जाए तो समझ लो कि वह कल्पना की ही चीज थी। उसकल्पना में वास्तविक वस्तु न थी। एक उनकी इसमें दलील भी थी,

क्या? जैसे बादल रहते हैं तो कभी बादल में ऐसी कल्पना हो जाती है कि यह तो शिखर है, बादल का ही एक आकार ऐसा बनता है कि लगता कि यह शिखर है, और थोड़ी देर में देखते हैं तो यों लगता है कि यह बादल अब मैदान सा बन गया, प्लेटफार्म सा बन गया। एक नई कल्पना बनी कि यह तो प्लेटफार्म है, पहली कल्पना नष्ट हो गई। पहली कल्पना भी है क्या? तो नवीन कल्पना होने पर पहली कल्पना न रहे तो समझना चाहिए कि पहली कल्पना पर विषयभूत जो कुछ है सो भ्रम है, यह ही तो भ्रम होने का एक समझने का उपाय है ना। तो इसी तरह ये जो स्कंध हैं, अवयवी हैं, ये कल्पना मात्र हैं लेकिन जैन शासन समाधान देता है कि यहाँ तो बादलों की तरह बात नहीं दिखती। नई कल्पना होने पर पुरानी कल्पना मिट जाती है, जो तुमने समझा वह ज्ञान भी तुममें बना रहता है और कल्पना नई-नई उठती है और तुम वही हो इसलिए अंशी आप अवस्तु नहीं है किन्तु अंशी भी एक प्रमाण का विषभूत है। एक-एक परमाणु में यह अंश हैं, यह समग्र अणु अंशी है यों वे परमाणु व्यक्त हो रहे और फिर उसमें और तरह का स्कंध भी बन्धन हो गया है, तब ऐसी बात वहाँ बन गई है।

भेद भेदात्मकता की प्रतिमूर्ति—यहाँ एक बात समझने की और है कि जैसे लोग गणेश की मूर्ति बताते हैं ना एक पुरुष है जिसके गले में हाथी की सूंढ फिट है और चूहा उसकी सवारी हैतो भला बतलाओ ऐसा कोई आदमी हुआ था क्या? और बताते हैं कि वह पार्वती का लड़का था और उस पर भी बताते ऐसा हैं कि पार्वती एक तालाब के पास बैठी-बैठी अपने शरीर का मैल निकाल रही थी तो वह मैल इकट्ठा हो गया और उस मैल से फिर वह पुत्र पैदा हो गया। तो कोई ऐसा पुत्र था क्या? अरे यह सब एक अलंकारिक चीज थी। कोई जमाना था कि बुद्धिमान लोग बहुत रहते थे। वे किसी बात को सीधी न कहकर अलंकार की भाषा में कहा करते थे। जैसे कि अब भी कुछ चतुर लोग ऐसे पाए जाते हैं कि सीधी बात नहीं कहते हैं किन्तु टेढ़ी टाढ़ी बात कहकर राग से धड़का कर बोला करते हैं तो वहाँ एकअलंकार रूप में बोलने की प्रथा थी। वह गणेश भी क्या है? वह एक स्याद्वाद की अनेकान्तकी मूर्ति है। स्याद्वाद में दो दृष्टियां होती हैं। (१) द्रव्यदृष्टि, (२) पर्याय दृष्टि। अभेददृष्टि का प्रतीक तो वह गला है, सूंढ है कि देखो पुरुष का तो सूंढ में एकपना बना रहा है। जैसे खिलौना में अलग से लगा देते हैं वहाँ तो द्वैत है लेकिन यहाँ द्वैत न रहा एक ही पुरुष बन रहा ऐसा अभेद फिर होता है और चूहे की जो सवारी है वह ऐसा भेद करती है कि जैसे चूहा किसी कागज या वस्त्र को कुतर-कुतर कर इतने सूक्ष्म टुकड़े कर देता है कि जितने सूक्ष्म टुकड़े आप कतरनी वगैरह से भी नहीं कर सकते। तो ऐसा भेद करने की प्रकृति है चूहे की वह भेद तो हुआ चूहा और अभेद हुयी हाथी की सूंढ़। यों भेद और अभेद दोनों की एकता से सम्बन्धित है ऐसा एक अनेकान्त मूर्ति का चित्रण है। तो वह मूर्ति भेद और अभेद का एक प्रतीक है। भेद कैसे करते? जैसे आत्मा एक है लेकिन एक घंटे में

जितने क्षण होते हैं उतने क्षण में प्रतिक्षण नया-नया आत्मा बनता रहता है वह कोई एक आत्मा नहीं है, ऐसे इस पर्याय में भी भेद कर दिया गया। यही एक पूर्ण वस्तु है।

वस्तु सीमा—भला अपने स्व सम्वेदन ज्ञान से सोचो तो सही कि मैं आत्मा क्या मिट जाने वाला हूँ। वही मैं एक हूँ। जो पहले था वही मैं बाद में रहूँगा यद्यपि समझाने के लिए बहुत सी दलीलें अनेक वैज्ञानिकों द्वारा दी जाती हैं और सम्भव है कि दलीलों से सत्य की ओट भी हो जाए लेकिन जो विवेकी पुरुष है वह इस सब सत्यकी ओट मिटा देता है। जैसे आजकल यह सिद्धान्त बन गया कि पृथ्वी गोल है गेंद की तरह और वह चलती है। और चन्द्र कुछ थोड़ा चलता है उस आधार पर सब कुछ साबित कर दिया, अब देखो एक चीज स्थिर होना और एक चीज अस्थिर होना उसमें जो सिद्धान्त लगता है वही सिद्धान्त इसमें लगता है। जैसे एक दिन होता है १२ घंटे का और फिर एक रात होती है १२ घंटे की, यों २४ घंटे में रात दिन पूरे हो गए। प्रातः सूर्य निकला और शाम को डूब गया तो एक दिन हो गया। और सूर्य शाम को डूबा और प्रातः काल उदय हुआ तो एक रात हो गई। एक सिद्धान्त यों अगर मान लें कि सूर्य स्थिर और पृथ्वी चलती है तो चलते-चलते पृथ्वी का जब एक चक्कर पूरा हो गया तो वह एक दिन पूरा हो गया। देखिए मानने को तो कुछ भी माना जा सकता है पर वास्तविकता क्या है, इसके समझने के लिए बहुत बुद्धि लगानी पड़ेगी बड़ी युक्तियों से समझना होगा तब समझ में बात आएगी कि वास्तविकता क्या है। यों समझने के लिए तो यह भी कहा जाता कि तेल की एक बूँद जलती है, दीपक बनता है तो एक-एक बूँद का एक-एक दीपक बन जाता है, और नये-नये सैकड़ों बूँद आ आकर वह एक-एक दीपक बना है इसलिए मानना ऐसा पड़ता है कि वह एक दीपक है इसी तरह इस शरीर में समय-समय पर आत्मा पैदा होते रहते हैं तो वहाँ भ्रम ऐसा हुआ कि यों माना कि मैं आत्मा वही का का वही हूँ यह है एक आत्मा पर अनुभव सिद्ध तो यही है कि जितने अनुभव वाले हैं वे सब सत् आत्मा है सत्ता का स्वरूप अनुभव से ही बनता उस स्वरूप ज्ञान द्वारा सिद्ध बात सर्वत्र विदित हो जाती जब जितने अखंड परिणमन हैं उतने पदार्थ हैं। ठहर गया ना यह सिद्धान्त।

अंशी की सद्रूपता—इन अणुओं की स्कन्ध रूप बात देखकर क्षणिकवादी कहते हैं कि स्कन्ध कोई चीज नहीं, परमाणु ही परमाणु है और वह परमाणु ज्ञान का विषय है एक-एक अणु स्कन्ध नहीं अणु भी परमाणु भी नहीं परमाणु तो एक पिण्ड है किसका पिण्ड है? रूप, रस, गन्ध, स्पर्श इन चारका पिण्ड है। वास्तविक तो रूप अणु रस अणु ज्ञानाणु ज्ञान को भी अणु कहते हैं। एक-एक कोई आत्मा ऐसा पूरा लम्बा चौड़ा नहीं है। किन्तु जो एक क्षण का एक ज्ञान हो वहाँ पूरा एक पदार्थ है इस तरह भेद दृष्टि का आधार बनाकर चलने वाले क्षणिकवादी कह रहे हैं कि इन्द्रिय द्वारा अंश का ज्ञान होता है और अंशी की बात तो एक

कल्पना में उठाई जाती है। भला बतलाओ इन्द्रिय के द्वारा अंशका किसी में ज्ञान किया एक-एक परमाणु कोई इन्द्रिय द्वारा जान सकता क्या? यह भी जाना जा रहा वह भी जाना जा रहा यह अब बद्ध परमाणुओं की एक विकृत दशा है। विकृत दशा में रहने वाले अनेक परमाणु हैं वह भी एक दशा है। अच्छा थोड़ी देर को मान लो वह स्कंध की बात है तो अब एक आत्म वस्तु में परख कीजिए ना। एक आत्मा भेदैकान्त वादी कहते कि आत्मा एक नहीं है सुख परमाणु अलग है ज्ञान परमाणु अलग है। ये सब अलग-अलग पदार्थ हैं और वे पदार्थ एक जगह आ गए तो लोगों को भ्रम हो गया कि आत्मा कोई वस्तु है। अब देखिए कितने काम उल्टे चल रहे हैं। जब कि यहाँ एक समझा जाता है कि आत्मा एक अखण्ड वस्तु है, उसे समझाने के लिए आत्मा में अंश किए गए हैं। आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, यह तो समझाने के लिए भेद किया गया है। **वास्तव में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, आनन्द है, यह तो समझाने के लिए भेद किया गया है।** वास्तव में वस्तु तो अखण्ड है। तब इसके विरूद्ध क्षणिकवादी क्या कहते हैं। ज्ञानाणु वह है वास्तविक वस्तु सुख अणु वह है वास्तविक वस्तु, यह है वास्तविक पदार्थ और एक आत्मा मान लेना यह आरोपित पदार्थ है। देखिए—क्षणिक वादियों ने भी आखिर अखण्ड को ही माना है वस्तु और ब्रह्माद्वैत वादियों ने भी अखण्ड को माना है वस्तु स्याद्वाद्वादियों ने भी अखण्ड को माना है वस्तु, मगर किसी के टुकड़े कर करके ऐसा आखिरी टुकड़ा हो जाए कि जिसका दूसरा टुकड़ा न हो उसे कह डाला अखण्ड, और किसी ने अनेक का अभेद करके मान डाला अखण्ड किन्तु एक अखण्ड वह एक वस्तु है जिसका कोई दूसरा टुकड़ा नहीं किया जा सकता। बात यह चल रही है कि अंशका परिचय होना वह है नय लेकिन समग्र अंशी का परिज्ञान होवे वह है प्रमाण का काम। देखिए जितने भी सम्प्रदाय हैं वे सब वस्तु स्वरूप के दर्शन के आधार पर विवादपन्न हैं। जैसे दर्शन के सम्प्रदाय तो केवल चरणानुयोग, और बाहरी भेषभूषा के भेद के आधार पर है। जैनियों के सिद्धान्त पर या वस्तु स्वरूप के आधार पर सम्प्रदाय भेद नहीं, स्याद्वाद, अनेकान्त इन सबका दर्शन है। श्वेताम्बर हों, दिगम्बर हों ये भेद वस्तु के कथन में भेद डालने पर नहीं बने, मगर बौद्धों के वस्तु स्वरूप के कथन में भेद डालने में चार-चार सम्प्रदाय बना। उनमें से एक सम्प्रदाय की यह बात कही जा रही थी कि वस्तु तो बाहर में भी है, भीतर में भी है, बाह्य पदार्थ भी है, ज्ञानवान जीव भी है मगर वह क्षणिक है और एक अंशमात्र है। अभी तो इस सम्प्रदाय की बात कही।

क्षणिकज्ञानाद्वैतवाद—अब दूसरे सम्प्रदाय की बात देखिए उसने यह कहा कि नहीं नहीं, बाहर में कुछ नही है, जो कुछ है वह ज्ञान ही ज्ञान पदार्थ है, वह सब लग रहा है और उनकी दलील क्या है कि जैसे आप सोते हुए में कोई स्वप्न देखते हैं तो बहुत पहाड़ देखते हैं, समुद्र भी देखते, बन्दर देखते, हाथी देखते, मगर देखते दिख गए, मगर वहाँ वास्तव में क्या है? ज्ञान ही ज्ञान है कि वह हाथी पहाड़ आदि भी है? तो जैसे स्वप्न में ज्ञान ही ज्ञान

वहाँ पदार्थ है, बाहर का कुछ पदार्थ नहीं है इसी तरह इस समय में भी ज्ञान ही ज्ञान पदार्थ है, बाहर का कुछ पदार्थ नहीं, अच्छे लोग भी तो स्वप्न का दृष्टान्त दे करके अनेक बातों से समझाते हैं ना, देखो भाई जैसे स्वप्न में देखी बात सारहीन है ऐसे ही वहाँ भी देखी बात सारहीन है। समझाते हैं ना स्वप्न की बात बता बताकर जैसे स्वप्न में समझा कि यह राज्य मेरा है, पर है नहीं कुछ इसी तरह यहाँ भी यह ही बात है कि लोग समझते हैं कि घर मेरा है, फर्म मेरी है, पर है कुछ नहीं। स्वप्न का दृष्टान्त देकर यह भी समझलो, सो जैसे स्वप्न में देखते हैं कि पहाड़ है, पेड़ है, तालाब है, आदमी है, और है कुछ नहीं, ज्ञान ही ज्ञान है, इसी तरह यह समझलें कि यह बाहर में जो कुछ दिखता है यह है कुछ नहीं। यह सब भी ज्ञान ही ज्ञान है। अच्छा कोई कहेगा कि हम तो हाथ में पकड़कर दिखाते हैं कि यह चश्मा घर है, हम छूकर दिखाते हैं कि यह भींट है। हम कैसे कहें कि स्वप्न की तरह असार है, स्वप्न में भी भींट को छूते कि नहीं। स्वप्न में भी पर्वत पर पैर धर-धर कर चढ़ते कि नहीं वहाँ भी कोई चीज है क्या? कहते हैं कि नहीं, छूने पर भी, पकड़ने पर भी खाने पर भी, स्वप्न में खीर भी तो खा लेते हैं, तो जैसे स्वप्न में सब कुछ काम कर लेने पर भी वहाँ पदार्थ नहीं है इसी तरह यहाँ भी सब कुछ काम कर लेने पर भी ये पदार्थ कुछ नहीं है। यहाँ ज्ञान वस्तु है। यह विज्ञानाद्वैतवादी बौद्धों ने कहा उनका सिद्धान्त है कि स्वसम्वेदन ही अर्थ है साथ ही साथ अपनी क्षणिकता से, अपनी भेद दृष्टि को वे नहीं छोड़ रहे हैं। वहाँ भी यह कह रहे हैं कि ज्ञान ही सब कुछ है मगर ज्ञान इकट्ठा हो जाए, कोई एक ऐसा जीव बन जाए और वह ज्ञान बहुत काल तक रहने वाला हो सो बात नहीं है, किन्तु एक समय में जो ज्ञान हुआ, जो ज्योति हुई जो प्रकाश हुआ बस वही पदार्थ है। क्षणिक ज्ञान ही प्रकाश है, ज्ञान का प्रचय नहीं होता क्योंकि ज्ञान का प्रचय हो तो जैसे घट यह भ्रान्ति है, घट कोई चीज नहीं है उसमें परमाणु-परमाणु ही वास्तविक चीज है और उनसे बनकर घट बना है तब ही तो वह सदा नहीं रहता, इसी तरह से हमारा जो ज्ञान प्रचय है जीवन में शुरू से लेकर अब तक जितना जाना है वह ज्ञान प्रचय भी भ्रान्त है वह वास्तविक पदार्थ नहीं है। अगर वास्तविक होते तो वे सदा रहते कि नहीं इसलिए वे भी भ्रान्त हैं। केवल एक क्षण में होने वाला जो ज्ञान प्रकाश है वही वस्तु है और बाकी कल्याण के उपाय में सब दर्शनिकों को प्रवृत्ति करना चाहिए। ऐसा सोचकर क्या कोई सन्तोष नहीं मिलता? सिर्फ ज्ञान ही ज्ञान है, वह भी क्षणवर्ती ज्ञान है और कुछ है ही नहीं, ऐसा सोचकर भला बोझ कुछ कम होता कि नहीं? जो घर का बोझ लदा है, विकल्पों का बोझ लदा है, बहुत से पदार्थों का विकल्प चढ़ा है ममता लगाए हुए हैं, ये सब बोझ दूर होते कि नहीं भेदैकान्तवाद के अनुसार कुछ चिन्तन करने में?

मूल वस्तु मानने पर ही क्षण-क्षणवर्ती परिणामों की चर्चा की समीचीनता— भेदैकान्तवाद में अन्तर यह है कि वह मूल द्रव्य नहीं है तो ऐसा क्षणिक स्पष्ट झलक गया। इतनी भर बात है। थोड़ी देर को तो सन्तोष हो जाता है। जैसे किसी का कोई इष्ट गुजर

जाए और उसको समझाने वाले रिस्तेदार आते हैं और वे रिस्तेदार थोड़ा समझाते हैं— भाई वह तो तुम्हारा कोई दुश्मन था, वह तो तुम्हें तकलीफ देने आया था, अपना बदला चुकाने आया था। वह तुमको तकलीफ देकर चला गया। वह तुम्हारा कुछ न था। इस तरह समझाते कि नहीं? और इस तरह की समझावट में कुछ सन्तोष भी होता है। वह बड़ा दगाबाज, धोखेबाज था, दुःखी करने आया था यह सुनकर उसने थोड़ी देर को कुछ सन्तोष भी कर लिया मगर थोड़ी देर में वह रिस्तेदार तो चला गया। वह घर वाला वहीं आंसू बहाने लगता, किन्तु उसे मूल से सन्तोष नहीं होता। वह तो थोड़ी देर को ब्रेक लगा हुआ था, जैसे एलार्म की घंटी बजती है तो उसमें दो तरह की ब्रेक होती है। एक ब्रेक तो ऐसी कि बिल्कुल ही बन्द हो जाए और एक ब्रेक ऐसी कि थोड़ी बोले फिर बन्द हो जाए, फिर थोड़ा बोले फिर बन्द हो जाए तो ऐसी ब्रेक से यहाँ काम नहीं चलने का। मूल में ब्रेक लगे तब काम चलता है। तो वास्तविक तत्त्वज्ञान से काम चलेगा देखो यह स्पष्ट बोध है, पदार्थ जितने हैं वे अनादि से है अन्नत काल तक हैं। जो सत्य नहीं हैं वे कैसे सत् हो जाएंगे? जो सत् है वह कैसे मिट जाएगा मूल से? जो कहते हैं कि आत्मा एक नहीं है, प्रतिक्षण नया-नया पैदा होता रहता है तो वे यह बतावें कि जो चीज है ही नहीं, जो असत् है वह कहाँ से पैदा हो जाएगी? आप कहेंगे कि जो दीपक तो था नहीं वह बन गया? अरे कौन कहता? वह तैल ही दीपक रूप परिणम गया। तैल की जो बूंद पहुँचती है वही बूँद तो दीपक रूप बन जाती है। तो पदार्थ तो हैं ही हैं। अभी वह पदार्थ तैल रूप में था अब वह उजेला रूप हो गया, अब वह पदार्थ तितर बितर होकर एक धुवां रूप हो गए, जरा बिखर गए, तो जो अणु प्रचय था तेल में वे अणु बिखर गए, चीज नहीं मिटी। तो जो वस्तु है वह अनादि से है, अनंत काल तक है, गुणपर्यायवान है, गुण और पर्याय तो अंश कहे जाते और गुणपर्याय का जो पिण्ड है वह द्रव्य कहा जाता है। उस द्रव्य को सर्वदेश से जाना तो प्रमाण है और गुण और पर्याय रूप से जाना तो वह नय कहलाता है। यह प्रमाण और नय की बात चल रही है।

ज्ञान और ज्ञेय की वास्तविकता—यहाँ विज्ञानाद्वैतवादी यह कहते हैं कि बस स्वसम्वेदन वही ज्ञान वही स्व और वही ज्ञान का जो वेदन है वह स्व इसके अतिरिक्त जगत में कोई पदार्थ नहीं है। स्वसम्वेदन ही पदार्थ है बाकी तो सारे भ्रान्त हैं, लेकिन कहने सुनने में भले ही कुछ अच्छा लग रहा जब तक कि उस पर विचार नहीं किया जाता। विचार करेंगे तो ऐसा तितर होकर इस एकान्तवाद का मंतव्य उड़ जाएगा जैसे हवा चलने पर मामूली बादल उड़ जाया करते हैं स्व सम्वेदन ही मान लें, जैसे कि विज्ञाना-द्वैतवादी कथन करेंगे तो स्व सम्वेदन को भी जब सिद्ध करने चलेंगे तब अंश और अंशी तो सिद्ध हो ही जाएंगे। स्व सम्वेदन हो, स्वतन्त्र हो, अंशी तो आ ही जाएगा। वहाँ पर भी आत्मा की सिद्धि हो गई और जो कहता है कि यह क्षणिक ज्ञान हुआ उसका कोई स्व सम्वेदन नहीं, मगर ज्ञान है तो वह इसी तरह होगा कि कोई ज्ञान में आ रहा है ज्ञानातिरिक्त अन्य ज्ञेय है तब ज्ञान बनेगा।

शंका करने ज्ञेय मानाही नहीं तो अकेला ज्ञान का स्वरूप कैसे सिद्ध हो जावेगा। यद्यपि यह बात है ज्ञान का स्वरूप स्वतः सिद्ध है। कोई ज्ञेयाकारके कारण से नहीं ज्ञानस्वरूप आत्मा स्वतः सिद्ध वस्तु है मगर ज्ञान की जो अर्थ क्रिया होती है वह इसी ढंग से होगी, उसमें ज्ञेय कोई झलकेगा। इसमें यह बात बताया है कि बाह्य अर्थ भी कोई चीज है, तत्त्वज्ञान भी वस्तु बन सकेगी मगर बाह्य अर्थ का अभाव कैसे कर देंगे। है ही नहीं कुछ तो इस ज्ञान को भी सिद्ध नहीं कर सकते।तो ये बाह्य पदार्थ भी हैं और ज्ञान भी है और बाह्य पदार्थ वास्तविक हैं और ज्ञानस्वरूप आत्मा भी वास्तविक है। यह हठ मत करें कि जो भेद करके अंश समझ में आया सो ही है वस्तु। कल्पना की बात और है।

कल्पनाभेद होने पर वस्तु की अभेद्यता—देखो यह बताया गया है कि जब कोई अरहंत भगवान सिद्ध बनता है तो वह एक समय में ७ राजू गमन करके सिद्धालय में विराजमान होता है एक समय में और एक परमाणु एक समय में १४ राजू गमन करता है। लोक के नीचे हो परमाणु और लोक के अन्त में पहुँच जाए तो एक समय में १४ राजू गमन करता है। अब जरा विचार करो समय से छोटी तो कोई चीज है नहीं। जैसे घड़ी घंटा मिनट सैकेण्ड है और सैकेण्ड से छोटी है आवली। आवली से भी बहुत छोटा समय होता है। तो जिससे छोटा कोई काल न हो उसका नाम समय है। अब एक समय में ७ राजू चलकर सिद्धालय में विराजमान हैं, अच्छा एक परमाणु चलकर १४ राजू गमन करके ऊपर पहुँच जाताहै। एक भाई यह कहते हैं कि जब एक परमाणु यहाँ से चला और १४ राजू तक चलता गया, तो भी चला, यहाँ भी चला तो क्रम से तो चला होगा, और जब क्रम है तो उस समय के भी कई हिस्से हो जाना चाहिए। एक समय में कैसे इतना पार कर गया? उस समय के भी हिस्से हो जाना चाहिए। मगर समय के भी हिस्से नहीं पर कल्पना से समय के भी हिस्से बना देते है हमारी आपकी जो कल्पना है वह समय के हिस्से बनाती है। वह तो एक मति की बात है। जैसे ७ राजू जो गमन किया परमाणु ने तो ७ राजू बहुत बड़ा होता है। एक राजू प्रतरप राजू में अनगिनते द्वीप समुद्र समा जाते हैं फिर भी पूरा राजू नहीं बनता। अनगिनते समुद्र जो बीच में है जम्बूद्वीप एक लाख योजन का, एक योजन २००० कोशका होता और एक कोश पौने तीन मील का होता, एक लाख योजन का जम्बूद्वीप है, उससे घेरकर एक तरफ २ लाख योजन का लवण समुद्र है, उसको घेर कर एक तरफ ४ लाख योजन का दूसरा द्वीप है, इस तरह दुगने-दुगने विस्तार में द्वीप समुद्र होते जाते हैं और वे अनगिनते हैं। तो अब समझिये कि इन सबका जितना विस्तार है वह एक राजू भी पूरा नहीं कर सका है। एक कागज जैसे फैला है प्रसार रूप में है, अभी वह घन नहीं है ऐसा ७ राजू है वह गमन कर गया एक ही समय में तो जैसे एक समय में भी कल्पना से खंड किये जाते हैं किन्तु वास्तव में एक समय के खंड किए जा सकते क्या? कल्पना होने पर भी एक समय का मूल का खंड नहीं होता, ऐसे ही एक वस्तुमें शक्ति भेद परिणति भेद माने जाने पर भी वस्तु अभेद्य

ही है। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि हम सब प्रत्येक आत्मा हैं और ज्ञान उनका स्वभाव है। द्रव्य तो आत्मा ही है।,

सम्यग्ज्ञान में प्रमेयतत्त्व की विविधता—जीव का कल्याण रत्नत्रय भाव में है। सम्यग्दर्शन से ही कल्याण का प्रारम्भ है। सम्यग्दर्शनका अर्थ क्या? प्रयोजनभूत जीवादि ७ तत्त्वों का यथार्थ स्वरूप सहित श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। सम्यग्दर्शन की कुछ और बात कहकर अब यह बताया जा रहा है इस सूत्र में कि उन सात तत्त्वों का सम्यग्दर्शन आदि का अधिगम प्रमाण और नय से होता है। प्रमाण कहते हैं जो सकलांशग्राही हो, ऐसे ज्ञान को और नय कहते हैं जो वस्तु के एक अंशका ग्रहण करने वाला हो इस बात को सुनकर भिन्न-भिन्न दार्शनिकों ने अपना मंतव्य रखा था जिसका समाधान भी किया गया क्षणिक एकान्तवादी दार्शनिक कहते हैं कि अंश मात्र ही वस्तु है, अंशी कुछ नहीं हुआ करता इसलिए प्रमाण का विषय अंश है अंशी नहीं। समग्र वस्तु नहीं अंश ही पूर्ण वस्तु है। तो उन्हीं अंशवादियों में एक भेद वाले बोले कि बाह्य पदार्थ प्रमाण के विषय नहीं हैं, किन्तु केवल यह ज्ञान ही ज्ञान प्रमाण का विषय है और वह ज्ञान क्षणिक है। अपने ही समय में रहने वाला है तो भेदवादियों में ही दूसरे सम्प्रदाय वाले एक और बोले प्रमाण विषय अशंमात्र वस्तु है सो भी मात्र विज्ञान ही है। इस अद्वैत विज्ञान में ग्राह्य ग्राहकपना नहीं है। इतनी भी बात नहीं है कि ज्ञान में बाह्य पदार्थ झलके। बाह्य कुछ है ही नहीं। बस जो स्वज्ञान है उसी का सम्वेदन होता है, यही मात्र तत्त्व है। वह किसी बाह्य पदार्थ को ग्रहण नहीं करता, किसी भी बाह्य वस्तु को नहीं जानता। इसे कहते हैं शुद्ध सम्वेदना द्वैतवादी यानी बुद्धि-बुद्धि को ही जानती हैं, बाह्य पदार्थ को नहीं जानती।

दृष्टिवाद अंग में सब दृष्टियों का आलोचन—देखिए जैन आगम में श्रुतज्ञान के १२ अंग कहे हैं। उनमें १२ वां दृष्टिवाद अंग है दृष्टि वाद में अंग सम्बन्धी दृष्टियों का वर्णन है और दृष्टिवाद अंग का जितना विस्तार है, प्रमाण है उतना प्रमाण तो सब अंगों का नहीं हो पाता है, दृष्टिवाद का भारी प्रमाण है। ग्यारह अंग का जितना प्रमाण है वह दृष्टिवाद अंग के प्रमाण से बहुत कम है। जितने भी दार्शनिक हैं वे सब दृष्टिवाद अंग के एकान्त से निकले हुए हैं। ऐसा कोई ज्ञान नहीं, ऐसा कोई बोध नहीं जो जैन शासन से न निकला हो और कहीं अन्य से निकाल लिया गया हो। समग्र ज्ञान की पूर्णता का विषय क्या है कि केवलज्ञान और श्रुतज्ञान। दोनों पूर्णज्ञान है, फर्क प्रत्यक्ष और परोक्ष का है। केवलज्ञान तीन काल तीन लोक के समस्त पदार्थों को स्पष्ट प्रत्यक्ष जान लेता है। तो श्रुत-ज्ञान ने तीन लोक तीन काल के सारे पदार्थों को अस्पष्ट जाना है। देखिए आत्मा कहने से ही तीन लोक तीन काल के सारे पदार्थों का अस्तित्व है यह ज्ञान में आ जाता है। आत्मा कहा तो उसका प्रतिपक्ष हुआ अनात्मा, आत्मा और अनात्मा, अनात्मा में देहादि सब अचेतन आ गए और

इसके सिवाय जितने भी जीव हैं, वे सब एक के लिए अनात्मा हैं, लो समग्र पदार्थ आ गए, और वस्तुतः असाधारण लक्षण के आधार पर द्रव्य ६ प्रकार के हैं, जीव, पुद्गल धर्म, अधर्म, आकाश और काल। तो ज्ञान-ज्ञान को भी कहें तो भी वैसा बोलकर भी समग्र वस्तु का ज्ञान करते हैं। श्रुतज्ञान का बहुत बड़ा विषय है। दृष्टि वाद का विषय तो बहुत ही अधिक है। जो ये शुद्ध सम्वेदनाद्वैत वादी यह कहते हैं, यहाँ ग्राह्य ग्राहक भाव नहीं है कि बुद्धि में कुछ जाना, ग्रहण किया और किसी दूसरे को जाना। किन्तु यह स्वयं अपने आपको जानता रहता है। देखो वह भी जैन शासन के सिवाय कहाँ से निकला? जैन शासन कहता है कि निश्चय से ज्ञान अपने ही स्वरूप को जानता है, किसी पर पदार्थ को नहीं जानता। ज्ञान पर पदार्थ को जानता है, यह व्यवहार से कहा गया है, निश्चय से तो ज्ञान स्वयं अपने आपके परिणमन को जानता है। किन्तु यह एकान्त यथार्थ नहीं है। लेकिन इसका एकान्त कर लिया शुद्ध सम्वेदना-द्वैतवादियों ने कि बस ज्ञान मात्र ही पदार्थ है। ज्ञान-ज्ञान को ही जानता है। बाह्य कोई वस्तु ही नहीं है, बाह्य को यह जानता ही नहीं है।

शुद्ध संवेदना-द्वैतवाद के एकान्त को मानने की अप्रयोजनता---शुद्ध सम्वेदना द्वैतवादियों की दलील यह है कि अगर यह ज्ञान बाहरी पदार्थों को जाने तो बाहरी पदार्थ एक समय में तो उत्पन्न हुए। तो जिस समय में उत्पन्न हुए उसी समय में हम यह (ज्ञान) जान नहीं सकते, क्योंकि जो उत्पन्न हो रहा अभी वह वस्तु बनी ही कहाँ पूरी। और जब वह वस्तु पूरी बन गई। एक समय में वस्तु पूरी बन जाती है। तब दूसरा ज्ञान आया। यह क्षणिकवादियों का सिद्धान्त है। जब दूसरे समय को यह ज्ञान जानेगा तो जब ज्ञान जानने को तैयार हुआ तब वह वस्तु ही न रही, जानेगा कैसे? तो यों ज्ञान किसी बाहरी पदार्थ को नहीं जानता। अगर कहो कि समस्त काल में रहने वाले पदार्थ को जान लेंगे तो समस्त काल वर्ती पदार्थ तो सब स्वतंत्र हैं, उनमें ग्राह्य सम्बन्ध हो ही नहीं सकता। इस तरह ज्ञान बुद्धि सम्वेदन किसी बाहरी पदार्थ को नहीं जानता। बाहरी पदार्थ है ही नहीं। केवल एक शुद्ध यह ज्ञानमात्र है। यह एकान्त करके शुद्ध सम्वेदनाद्वैतवादी कहते हैं कि प्रमाण का विषय यह है, तुम कहाँ लगा रहे हो कि ६ प्रकार के द्रव्य हैं, ७ तत्त्व हैं, सम्यग्ज्ञान आदि हैं, सम्यक्चारित्र आदिक हैं, कहाँ भूल रहे हो? ऐसा शुद्ध सम्वेदनाद्वैतवादी कहते हैं। सुनने में बड़ी भली लगती है ऐसी बात, जिसमें कि विषयों के प्रति प्रेरणा मिलती हो। परन्तु विचार करने पर वह सब खण्डित हो जाता है। भला वे कहते हैं कि बुद्धि के द्वारा बुद्धि ही अनुभव में आती है सो ग्राह्य ग्राहकपना नहीं है, लेकिन ग्राह्य ग्राहकपना न हो तो इसमें ज्ञान का स्वरूप क्या रहा? ज्ञान का काम जानना। जानने में आया क्या? मात्र स्व ज्ञेय हो गया। चलो स्व की ही कल्पना करें तो वहाँ भी ज्ञेय ज्ञायकपना तो बन गया, और फिर जो प्रत्यक्ष से ज्ञात हो रहा इसका खण्डन कहाँ किया जा सकेगा?

प्रत्येक पदार्थों में अद्वैतता—प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें शुद्ध है अपना यह ज्ञान अपने आपके स्वरूप में ज्ञानमय ही है, इसमें किसी अन्य पदार्थ का प्रवेश नहीं है। अद्वैत तो यों है कि प्रत्येक पदार्थ केवल अपना ही स्वरूप लिए हुए है, किसी परके स्वरूप को लिए हुए नहीं है, इसीलिए प्रत्येक पदार्थ अद्वैत हैं। सारे पदार्थ मिलकर कोई एक सत् हो, ऐसा नहीं, किन्तु प्रत्येक पदार्थ अपने आपमें अद्वैत है, यों मानकर चलें तो अद्वैतवाद सही हो गया। तो अगर ग्राह्य पदार्थ कुछ न रहे, बुद्धि में कोई अन्य वस्तु अगर नहीं आती है तो उसका प्रकाश ही असम्भव है। तुमने कैसा जाना कि यह प्रमाण है? वचन से, गुण से, कैसे-कैसे उपायों से। तो क्या वे हैं नहीं। हैं ये सब तब तो जान पाया। देखते हैं कि दर्पण में बाह्य पदार्थ का प्रतिबिम्ब आता है, यद्यपि वह प्रतिबिम्ब दर्पण का ही परिणमन है, बाह्य पदार्थ का परिणमन नहीं है, बाह्य पदार्थ दर्पण में कुछ करता नहीं है लेकिन बाह्य पदार्थ का सन्निधान पाकर निमित्त पाकर दर्पण स्वयं अपने स्वच्छ परिणमन को त्यागकर उतने प्रदेश में उसके अनुरूप छाया परिणति को उत्पन्न कर लेता है। तो कैसे जानें कि यह दर्पण है? बहुत-सा प्रतिबिम्ब आया, यह है, देखते हैं तब समझ में आता है कि यह दर्पण है, मगर बाहरी पदार्थ का दर्पण में प्रतिबिम्ब होता ही नहीं बाहरी पदार्थ का अस्तित्त्व ही नहीं है, तो कैसे पता पड़े कि दर्पण है? और फिर दर्पण और भींट में अन्तर कैसे ज्ञात हो? तो भाई विषय में आकर बाह्य पदार्थ यदि ज्ञेय नहीं होता, तो उनका यह आत्मा ज्ञाता नहीं होता और फिर उस ज्ञान का प्रकाश ही असम्भव है—और भी देखिए जैसे आपके इस शरीर में शुद्ध सम्वेदन का ज्ञान का ताँता लग रहा है, प्रतिक्षण नया-नया ज्ञान उत्पन्न हो रहा है। ऐसे ही इन दूसरे शरीरों में भी हो रहा है तो अब आप यहाँ का ही अनुभव क्यों करते हैं? दूसरे देही के ज्ञान का अनुभव क्यों नहीं कर लेते? तो है ना दूसरा कोई पदार्थ? अगर न हो तो अनुभव सांकय हो जाएगा। एक सन्तान का ज्ञान दूसरे संतान का भी अनुभव बन जाएगा। इस तरह समझना कि शुद्ध सम्वेदनमात्र ज्ञान भी है, ज्ञेय भी है। देखो ज्ञान तो अपने लिए केवल आप हैं। और, ज्ञेय अपना आत्मा भी है दूसरा जीव भी है। पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल भी है। तो ज्ञान तत्त्व तो एक है, और ज्ञेय पदार्थ अनेक है। अन्य तत्त्व का खण्डन करके, विरोध करके ज्ञान तत्त्व का आश्रय लेने में पुरुषार्थ नहीं, किन्तु सबको कबूल करके, सब हैं, सबकी सत्ता है। कोई अन्य ज्ञेय पदार्थ का आलम्बन लेकर कल्याण का मार्ग नहीं मिलता, अतः उनको छोड़कर उपयोग इस निज ज्ञान तत्त्व का आलम्बन लेता हो ऐसी बात बनाओ, हितकर बात है यह, किसी अन्य का अभाव नहीं। तो प्रमाण का विषय क्या है? सर्व अंश समग्र वस्तु का परिचय पाना प्रमाण का काम है।

भेदाभेदात्मक वस्तु की प्रमाण विषयता—प्रमाण विषयक बात को सुनकर अभी क्षणिकवादियों ने यह बात रखी थी कि अंश-अंश ही पूर्ण वस्तु है, अंशी कोई चीज नहीं कहलाती। कुछ इस पर विचार करने के बाद ब्रह्माद्वैतवादी कहते हैं कि केवल एक ही पदार्थ

सर्व व्यापक है, अंशी ही अंशी है, अंश कोई वस्तु नहीं है। बाहरी पदार्थ कोई चीज नहीं। भिन्न-भिन्न पदार्थ कोई चीज नहीं, एक निज चित् व्यापक ब्रह्म ही सब कुछ है। लो विशेष को भी कबूल नहीं किया— क्षणिकवादियों ने, विशेषवादियों ने। ब्रह्मद्वैतवादी कहते हैं कि विशेष कोई तत्त्व नहीं, सामने ही समग्र अर्थ है, लेकिन उनकी यह बात फिट नहीं बैठती। बाह्य पदार्थ तो सामने दिखते। कैसे उनका निराकरण किया जाएगा। दयालु कहते हैं ना कि जियो और जीने दो। कोई कहे कि जियो, जियो, जीने दो कि बात ही न सोचे तो कैसा लगेगा? अटपटा लगेगा। अरे जीने दो, जीने दो, यही बात सोचे जीने की बात न सोचे तो वहाँ भी कैसा लगेगा? इसे भी तो कह देंगे अटपटा। ऐसे ही चेतन में देखिए— यह एक निज ज्ञान ही सर्वस्व है। बाह्य कुछ नहीं। यह भी खोंटी बात। बाह्य-बाह्य ही सब कुछ, मैं कुछ नहीं, यह भी मिथ्या बात है। ज्ञान तत्त्व भी है ज्ञेय तत्त्व भी है। अब उनमें से मात्र ज्ञेय तत्त्व का आलम्बन लेने चलें तो उसमें हमको कोई सारकी बात नहीं मिलती। सर्वत्र धोखा है। अपने आपका जो स्वरूप है, स्वयं है, उस ओर उपयोग आए, उसमें ज्ञान जगे, वहाँ जो शान्ति मिलती है बस वही शान्ति है। बाकी तो सब बातें बेकार चीज हैं। एक गांठ का धन का व्यापारी हो और एक सट्टा का व्यापारी हो जैसे तो लोग इनमें किसका आदर करते हैं? किसको महत्त्व देते हैं? गाँठ का धन का व्यापारी को अधिक महत्त्व देते हैं। लोग उसका विश्वास करते हैं। भले ही वह लखपती नहीं है, कुछ ही हजार का व्यापारी है फिर भी उस पर लोगों का विश्वास रहता है, पर जो सट्टे का व्यापारी है, उसके पास चाहे काफी धन हो फिर भी लोग उसका विश्वास नहीं करते। वे जानते हैं कि यह तो सट्टे में कहो एक ही दिन में सब कुछ सफाया कर दे। तो इसी तरह ज्ञान गाँठ का जो धन है ज्ञानानन्द वैभव, विश्वास तो उसका है सच्चा और जो बाहरी पदार्थ है, जिनका समागम हुआ है वे तो सट्टे के व्यापार की तरह हैं। उसका कोई विश्वास नहीं। कौन देख आया कि क्या होने को है।

निःस्वार्थता में आत्ममहत्त्व—श्री रामचन्द्र जी का जब राज्याभिषेक होने को हुआ तो उस समय कितनी खुशियां मनायी जा रही थीं। अयोध्यानगरी में सब जगह आनन्द छाया हुआ था। लेकिन देखिए क्षण भर में ही क्या से क्या हो गया। जंगल जाने की तैयारियां होने लगीं। कैकेयी और दशरथ की गुप्त बात हो गई। कैकेयी ने राजा दशरथ से कहा— महाराज आपने जो मुझे वचन देने का वायदा लिया था उसे पूरा करो, क्या, कि मेरे पुत्र भरत को राज्यगद्दी दी जाए। भैया! घटना वह हुई थी कि जब कैकेयी का विवाह राजा दशरथ के साथ हुआ तो वहाँ राजा लोग आपस में झगड़ गए कि कैकेयी का विवाह हमारे साथ क्यों न हुआ। वह झगड़ा इतना बढ़ाकि राजा दशरथ को अन्य राजाओं से युद्ध करना पड़ा उस युद्ध में कैकेयी ने रथ हांका था, रथ को ऐसी कला से वीरता पूर्वक हांका था कि जिसमें राजा दशरथ पूर्ण रक्षित निकल गए थे और उस युद्ध में उनकी विजय हुई थी। वहाँ राजा दशरथ अपनी रानी कैकेयी पर अति प्रसन्न हुए और कहा था कि तुम्हें जो वचन मांगना हो

मांग लो। तो वहाँ कैकेयी ने यही कहा था कि अभी आप अपने वचन अपने पास धरोहर रूपमें रखें, हमें जब आवश्यकता होगी तब माँग लेंगे। तो राम के राज्याभिषेक के समय कैकयी ने अपना वर माँगा था– मेरे पुत्र भरत को राजगद्दी दी जाए। कैकेयी ने यह वचन क्यों माँगा था? कैकेयी खोटे विचार वाली न थी। उसका यह भाव न था कि रामचन्द्र वन चले जाएं। १२-१४ वर्षों का बनवास कैकेयी ने नहीं कहा। न दशरथ ने हुक्म दिया कि बन (जंगल) जावो। कैकेयी ने अपने पुत्र भरत को राज्य यों माँगा कि उस समय राजा दशरथ भी विरक्त हो रहे थे और पुत्र भरत भी। उसने सोचा कि अब तो मैं पति विहीन भी हो जाऊँगी और पुत्र विहीन भी। तब फिर मेरा कुछ भी न रहेगा, जगत शून्य हो जाएगा। जब देखा कि पति और पुत्र दोनों ही विरक्त हो रहे, ये तो अपनी हठ में हैं, यों तो मानेंगे नहीं, इसीलिए कैकेयी ने उस समय अपने पुत्र भरत को राजगद्दी माँग ली। सोचा कि कम से कम पुत्र तो हमारे पास रहेगा।अब बताओ किसी स्त्री का ऐसा भाव हो जाए गृहस्थावस्था में तो यह कोई बड़े अन्याय की बात तो नहीं है। लेकिन कैकेयी का पूर्णतया उदारभाव तो न था। फिर भी गृहस्थावस्था में किसी स्त्री में इतना परिणाम आए तो आता ही है। बस भरत को राजगद्दी का हुक्म सुना दिया गया। उस समय श्री राम ने कहीं गुस्सा होकर जंगल जाना नहीं विचारा, किन्तु यह विचार कर जंगल जाना उचित समझा कि मेरे रहते हुए मेरे भाई भरत का प्रभाव न रहेगा। राजा होने के नाते से तो प्रजा में कुछ प्रभाव होना ही चाहिए। तब ही तो राज्य अच्छी तरह चलेगा। तो ऐसा ख्याल करके वे स्वयं बन चले गए। अब भरत ने भी क्या किया कि अपने बड़े भाई की भक्ति में आकर ऐसा किया कि राज्य की बात तो सम्हाली मगर सिंहासन पर रामचन्द्र जी पादुका रख दी। देखो बात सब जगह भली रही। कैकेयी ने भी बहुत बिगाड़ की बात नहीं की अपनी बुद्धि के माफिक। रामचन्द्र जी ने भी कोई बिगाड़ नहीं किया, भरत ने भी कोई बिगाड़ नहीं किया। देखिए– बड़े पुरुषों की बड़ी बात होती है तब वे बड़े बनते हैं। कोई भी महापुरुष कभी भी संकट से घबड़ाये नहीं। संकट आते हैं तो आने दो।

आत्मा के निःसंकट स्वरूप का स्मरण—भैया! जितने भी संकट आते हैं ये तो कोई चीज नहीं है। हम अपना ज्ञान बिगाड़ते हैं, बुद्धि बिगाड़ते हैं, ज्ञान में जो कई प्रकार की कल्पनायें करते हैं उससे हम अधीर होते हैं, दुःखी होते हैं, व्याकुल होते हैं। संकट कोई चीज नहीं। संकट क्या बाहर में? धन बिगड़ गया तो धन-धन में है, न रहा न सही, मकान-मकान की बात है, न रहा न सही, घर में किसी का वियोग हो गया। पति गुजर गया, माँ गुजर गई, स्त्री गुजर जाए, तो क्या है, ये सब भिन्न-भिन्न जीव हैं, अपने-अपने कर्म लिए हुए हैं, अपने कर्मानुसार चलेंगे, क्या संकट आया? ज्ञानमार्ग से चलें तो संकट का कोई काम नहीं। और अगर कुबुद्धि से चलें तो पद-पद पर संकट हैं। जैसे बेवकूफ फजीहत की कथा सुनायी थी कि कोई दो मिया बीबी थे। मिया का तो नाम था बेवकूफ और बीबी का नाम फजीहत

उन दोनों में अक्सर करके लड़ाई हो जाया करती थी, पर शाम को सुलह हो जाती है। एक दिन ऐसी लड़ाई हुई कि स्त्री कहीं भग गई। वह पुरुष अपने पड़ोसियों से पूछता फिरता था— भाई तुमने कहीं मेरी फजीहत देखी? तो वे झट समझ गए, बोले— मैंने तो नहीं देखी। यों उसने अनेक लोगों से पूछा, पर सभी ने यही कहा कि हमने तो नहीं देखी। एक बार वह किसी ऐसे आदमी से पूछ बैठा जो किसी दूसरे गाँव का था। भाई तुमने हमारी फजीहत देखी? वह कुछ समझ ही न सका। पूछा—आपका नाम क्या है? . . . बेवकूफ। . . . अरे बेवकूफ होकर तुम फजीहत कहाँ पूछते फिरते? बेवकूफ के लिए सब जगह फजीहत है। जहाँ ही कुछ गलत बोल दिया, अटपट बोल दिया वहाँ ही लात घूंसे सब हाजिर हैं। तो जो अटपट काम करेगा वह खुद ही विपत्तियों में फंसता जाएगा। सुलझने की बात, धीरता की बात, क्षमा की बात उसकी बुद्धि में नहीं आ सकती। तो उसे फजीहत ही रहेगी। जहाँ दो गाली दी वहाँ जूता लाठी सब तैयार हैं। तो ऐसे ही हम आपमें जब किसी को कुबुद्धि आ जाए। बाह्य पदार्थों को ये मेरे हैं यह मैं हूँ इसके बिना मैं कुछ नहीं, ऐसी अगर कुबुद्धि आजाए तो जगह-जगह संकट है। अगर आपको संकट न चाहिए आप को शान्ति चाहिए तो भीतर में ज्ञान प्रकाश स्वच्छ बनायें, मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ। ज्ञान वैभव के सिवाय मेरा और कुछ नहीं है। यह ही मेरा सर्वस्व हैं। यह ही मेरी दुनिया है, यह ही मेरी जय है, यह ही मेरा रक्षक यह ही मेरा स्वरूप, यह ही मेरी निधि। अपने आपमें अपने स्वरूप को अपना लीजिए। यह मैं हूँ। फिर आपको दुनिया में संकट का नाम भी नहीं है, लेकिन मोह का अगर विष ऐसा चढ़ा होकि सुनने को तो सब सुन लीजिए और भीतर में यह बोलें कि बात तो तुम्हारी सच है मगर चलेंगे हम ऐसा। तो उससे तो संकट नहीं मिटता। अरे जो सच है उस मार्ग पर थोड़ा बहुत तो चलें। ज्यादा नहीं चल सकते तो कभी तो सोचो। कभी अपने आपमें दृष्टि तो दो। कभी भीतर विराजमान भगवान स्वरूप परमात्मा के दर्शन करके बाहर ही बाहर आँखें फाड़-फाड़कर आँखों को तकलीफ देना, मन को तकलीफ देना, यह ही बात मत करो। कुछ तो चिन्तन करो अपने आपमें कि मैं केवल ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ। अन्य मैं कुछ नहीं।

आत्मा के निःसंकट होने की विधि का विचार—देखो जिस विधि से जो काम होता है वह काम उसी विधि से हो सकता है। शान्ति का काम तो ज्ञान को अपनाने की विधि से ही होता है, दूसरी और कोई विधि नहीं। अन्य विधि करके आप समझने की आशा करें तो वह व्यर्थ की चीज हैं। एक ऐसा कहीं चुटकुला लिखा है कि एक राजा साधु के पास गया, उसके कोई सन्तान न थी। राजा हाथ जोड़कर पास में बैठ गया। साधु ने आशीर्वाद दिया और कहा बेटा क्या चाहते हो? राजा बोला, महाराज मेरे सन्तान नहीं है, कृपा करके आप मुझे सन्तान होने का आशीर्वाद दे दीजिए। . . . अच्छा, हो जाएगा। राजा अति प्रसन्न हुआ और अपने महल में आकर सारी रानियों से सारा समाचार कह सुनाया। राजघराने में

प्रसन्नता छा गई। राजा ने कहा—देखो अब तो संतान होने का आशीर्वाद मिल ही गया, अब तो कुछ चिंता की बात नहीं, सन्तान अवश्य होगी, अब तो अपने लोगों को खूब धर्म ध्यान में लगना चाहिए, संयम से रहना चाहिए, ब्रह्मचर्य का निर्दोष पालन करना चाहिए। रहने लगे ब्रह्मचर्यादि से। दो तीन वर्ष बीत गए। पर कोई सन्तान न हुयी। राजा पुनः साधु के पास पहुँचा और बोला— महाराज जब से आपने मुझे सन्तान होने का आशीर्वाद दिया था तब से हम लोग खूब नियम संयम से ब्रह्मचर्य से, बड़े धर्म ध्यान से रहे, पर सन्तान तो नहीं हुआ? . . . अरे भाई सन्तान इस तरह से न होगा। जो काम जिस विधि से होता है वह उसी विधि होगा। सन्तान होने की विधि है उपद्रव। उपद्रव करो तो सन्तान होगी। संयम से रहो तो शान्ति मिलेगी। ऐसे ही मोक्ष पाने की विधि है— ज्ञान को अपनाएं मैं ज्ञानस्वरूप हूँ, ज्ञानातिरिक्त मैं और कुछ नहीं हूँ। मेरे में राग मत बसो। परिस्थिति है, घर में रहते हैं, भूख लगेगी, सारी बात करेंगे, पर श्रद्धा में राग का अंश भी न आए, मेरा कहीं कुछ नहीं। मेरा तो केवल मैं ज्ञान प्रकाश मात्र हूँ। किसी का लगावमत हो, किसी पर राग मत हो, श्रद्धा में तो परमाणुमात्र राग न हो तथा पौरुष इसके अनुरूप हो। अरे सब जीव स्वतन्त्र-स्वतन्त्र हैं, सब अपने-अपने कर्म लिए हैं, जैसे आपके घर में रहने वाले जीव वैसे ही दुनिया में रहने वाले जीव। कोई अन्तर नहीं है। मैं सबसे निराला हूँ। अपने ज्ञान स्वरूप को देखें, उस ज्ञानभाव को अपनाएं, उससे एक ऐसी हिम्मत आएगी कि कठिन से कठिन संकट आने पर भी आप घबड़ायेंगे नही। जो बात बहुत-बहुत सिखाये जाने पर भी न आएगी वह बात इस ज्ञान स्वरूप मात्र को अपनाने से अपने आप आ जाएगी। ज्ञानमात्र यह मैं हूँ, अन्य कुछ नहीं हूँ। इसका अभ्यास बन जाए तो दूसरे को सताने की वृत्ति बनेगी ही नहीं। जो बात बहुत-बहुत सिखाने से भी नहीं बनती वह बात एक ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व को निरख लिया जाए तो अपने आप बन जाएगी।

कषाय न करने में महत्त्व—भाई किसी दूसरे की कोई बात सुनकर क्रोध न करें। अपने आप सोचलें, बोलें कम, धीरे बोलें। अपने मन को तो दुःखी चाहे कर दें, मगर दूसरे को दुःखकारी मर्मभेदी वचन न बोलें—तुम अपने मन को दुःखी कर दोगे तो दूसरे ही मिनट में उसे मिटा भी तो सकते हो। तुम्हारा मन तुम्हारे पास है। तुम्हारे हाथ की बात है। ज्ञानप्रकाश लावो और अपना दुःख दूर कर लो। और, तुमने कोई कुवचन बोलकर दूसरे के मर्म को भेद ने वाले वचन बोल दिए तो बताओ आप उसके दुःख को कैसे टाल सकेंगे? उसके दुःख को टालना आपके वश की बात नहीं है। अगर आप ने किसी को दुःखकारी वचन बोला तो क्या वह चुप रहेगा? उसके भी कषाय है। वह आपको जवाब देगा। जैसे कहते हैं सेर को सवासेर मिल जाना। तो कुबुद्धि की तरह हठ मत करो। और ऐसा अपना जीवन बनाओ कि मुझे कुछ भी कष्ट हो, मैंने कोई भी कार्य प्रारम्भ किया हो अगर कोई मुझे समझा देता है कि इस बात में भला नहीं है, उसको तुरन्त मेटने में तुम्हारा उपकार है। अब ऐसी हठ न

करो कि हम तो दुनिया में ऐसा होकर ही रहेंगे। किसी भी बात का हठ न करो। घर में, दुकान में, समाज में, देश में कहीं भी हठ न करो। समझ में ज्ञान की बात आए तो उसे तुरन्त अपना लें, शरम छोड़ दें, लाज छोड़ दें। इसने मुझे ऐसा कहा था, मुझे ऐसी बात बोल दिया। अगर मैं इसे मेंट दूँ तो लोग मेरे को क्या कहेंगे? बड़ा पुरुष कोई यों नहीं बनता बड़ा बनना है तो कष्ट सहो और समता रखो। और दूसरों का भला सोचो। संकट सहो और दूसरों का भला सोचो। यह वृत्ति रहेगी तो महत्ता बढ़ेगी, अन्य प्रकार की वृत्ति में महत्ता नहीं बढ़ती।

बड़ा होने का उपाय कष्ट सहिष्णुता—आज भी एक भोजन की चीज बनाते व बनवाते हैं ना--क्या? बड़ा। आपको मालूम होगा कि वह 'बड़ा' कैसे बना? यह यों बना कि पहले जब खेत में खड़ा था, सुखाया, फिर बैलों के पैर से रुधवाया, फिर चक्की में दला, फिर शाम को वह उड़द पानी में भिगोया, रात भर पानी में पड़े रहे। वहाँ कष्ट सहा। देखिए वह अजीव है कष्ट नहीं है मगर एक अलंकार में कह रहे हैं। तो रात भर पानी में रहने के बाद सुबह पहले उसे धोया गया, उसका छिलका उतारा गया, यह उस पर पांचवीं आपत्ति है। उसके बाद सिलबट्टे में पीसा गया, यह उसपर छठी आपत्ति हुई, फिर उसे फेंट-फेंटकर उसकी शक्ल बिगाड़ा यह उस पर सातवीं आपत्ति हुई, फिर उसे गोल मटोल बनाकर तपती हुई कड़ाही में पटक दिया, यह आठवीं आपत्ति हुई। जब वह बड़ा खूब पककर फूल गया तो उसमें एक लोहे की सींक घुसेड़ दिया यह देखने के लिए कि कहीं वह कच्चा तो नहीं है। यह उस पर नवमी आपत्ति आयी। इतनी-इतनी आपत्तियाँ पाने के बाद उसका नाम 'बड़ा' हुआ। यहाँ कोई पुरुष चाहे कि मेरे को अच्छा आराम रहे, पद-पद पर रोज-रोज प्रशंसायें मिलें कष्ट न आये मेरे पर और मैं बड़ा कहलाऊं तो ऐसा हो नहीं सकता। दसों गालियाँ सुननी पड़ेंगी, अनेक विपत्तियाँ सहनी पड़ेंगी, और तुम धीर रह सके और दूसरों की भलाई की बात सोच सके तो तुम महान् हो सकते हो। यह तो बतलाया है बाहर के लिए महान, मगर खुद के लिए भी महान कब बन सकते? कष्ट सहिष्णुता एक बहुत बड़ा गुण है। कितने ही संकट आएं मगर उनको समता से सहने की प्रकृति बन जाए तो वह बड़ा बन जाएगा। भगवान सुकौशल इसी तरह तो मोक्ष गए। उनकी साधना तो देखो कि कितना-कितना कष्ट सहने पर भी वे अधीर न हुए, तब उन्हें निर्वाण हुआ। शेरनी खा रही है तो भी उसे कुछ सोच ही नहीं रहे। अथवा मानो पहले सोचा भी हो तो भले ही सोचा हो, मगर उसका उपयोग बदल दिया, उपयोग निज ज्ञानानन्द स्वरूप पर जगा दिया और ज्ञानप्रकाश ही ज्ञान में समा गया। प्रथम तो कुछ सोचा ही नहीं, अपने आत्मा के स्वरूप में मग्न रहे। ऐसे-ऐसे कष्टों केसहने पर महान होता है। देखो कष्ट सहने पर भी आनन्द रहता है। आप अगर शुद्ध भाव से कष्ट सहेंगे तो आप प्रसन्न रहेंगे। कष्ट तो तब कहलायगा जब संक्लेश करें। जब कष्ट सहते हुए में संक्लेश नहीं किया जा रहा है, भीतर प्रसन्न रहें तो फिर संकट क्या है?

तो अपने आपके उद्धार के लिए भी करना क्या? कष्ट सहते रहें, कष्ट सहिष्णु बने रहें। इसकी कमी गृहस्थ में है तो वह सफल नहीं हो सकता, त्यागी में है कमी तो वह भी सफल नहीं हो सकता। साधु में कमी तो वह भी सफल नहीं हो सकता। तो इस कष्ट सहिष्णुता का आदर करो। हमारी एक पुस्तक है "मनोहरपद्यावलि" वह गृहस्थावस्था की बनी हुई है। उसमें एक भजन है—"प्यारी विपदाओं आवो।" अर्थात् ऐ विपदाओं, तुम मेरा वैभव हो, आवो खूब आवो। "सम्पत्ति को छल जान न पायो, याने बहुत रुलायो, प्यारी विपदाओं आवो।" मैंने सम्पदाका छल नहीं जान पाया, और इस सम्पदा ने मेरे को बहुत रुलाया, बहुत दुःखी किया है, इसलिए हे प्यारी विपदाओं आवो। विपत्ति पाकर पाण्डवों का उद्धार हुआ, विपत्ति पाकर सुकुमाल सुकौशल का उद्धार हुआ। विपत्ति पाकर अनेक जीवों ने अपना कल्याण पाया। सम्पदा सम्पदा में रहकर मरकर तो लोग नरक ही गए। कोई चक्रवर्ती सम्पदा सम्पदा में रहा, ज्ञान में वैराग्य की बात नहीं लाया, तो जिसमें बड़ा सामर्थ्य है, बड़ा पुण्य है, बड़ा पराक्रम है और वह त्याग की बात न लाए तो वह चक्रवर्ती नरक गया, यह बात बतायी गई। यहाँ तो सम्पदा ही क्या है। जरा-जरा सी बात में लोग मान बैठते हैं कि मेरे पास बहुत कुछ है, परन्तु है कुछ भी नहीं। तो सर्वप्रथम बात यह सीखें कि हमें तो अपने जीवन में कष्ट सहिष्णु बनना है और दूसरों का भला सोचना है। कितने ही कष्ट आएं मगर हमें दूसरों का बुरा नहीं सोचना है। एक प्रकाश मिलेगा, ज्योति मिलेगा। और खुद भी प्रसन्न रहेगा। दूसरों का भला सोचें। कष्ट जो आएं तो उन्हें कष्ट मत जानें ऐसी स्थिति बने तो वहाँ जो जिसका आलम्बन लेकर आना होगा वह अपने आप आएगा। तो ज्ञानमात्र जो निज स्वरूप है उस को अपना लें, यह मैं हूँ, अगर यह बात बन गई जो बात बहुत-बहुत सिखाये जाने पर भी नहीं आती कि कष्ट सहिष्णु बनें, जिसने ज्ञान मात्र को अपना लिया उसे कष्ट सहिष्णु बनने में देर न लगेगी। जो बात सीख-सीखकर नहीं आती वह बात बिना सिखाये आ जाएगी। अगर एक भीतर का मन्त्र आ गया कि जो ज्ञानस्वभाव है, जो निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप है वह मैं हूँ, इतनी अगर दृढ़ता आ गई तो आकुलता में अन्तर आ जाएगा, अनाकुल अनुभव की वृद्धि होने लगेगी।

प्रमाण व नयों से प्रभुसम स्वभाव की परख द्वारा आत्मशुद्धि करने का अनुरोध—यह आत्मा जो अपने आप सुखी होता है, दुःखी होता है, संसार में जगह-जगह जन्म लेकर मरण करके अपने अमूल्य क्षणव्यतीत करता, उस आत्मा का कल्याण है तो आत्म-श्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमण में है। यह बात चाहे आज कर ली जाए तो अब ही छुट्टी मिल जाएगी संकटों से, या जब करने में आए तब से कर लीजिए। तब तक दुःख ही भोगना होगा। तो क्यों न बड़े उपयोग से बड़े पुरुषार्थ से अपने आपके कल्याण की बात अभी से कर ली जाए? देखिए— आत्महित और परिस्थितिवश गृहस्थी में रहते हुए दोनों में विशेष विरोध न आएगा। मुक्ति के लिए साधक तो निर्ग्रन्थ अवस्था ही है सिद्धान्त की बात। घर में रहना, काम काज में रहना, सब कुछ करते रहना पर जरा साथ में आत्मश्रद्धान,

आत्मज्ञान और आत्मरमण का उपाय बनाते रहना यह वर्तन शान्ति का साधक है। वह आत्मश्रद्धान कैसे हो, उसके लिए ही यह सब प्रकरण चल रहा है कि वस्तु स्वरूप की बहुत सच्ची समझ बनावें। वास्तव में तत्त्व कैसा है, जीव क्या है? अजीव क्या है? पदार्थ का क्या स्वरूप है? सत्य ज्ञान बनावें। उसका उपाय चल रहा है—"प्रमाणनयैरधिगमः" तत्त्व का ज्ञान, पदार्थ का ज्ञान प्रमाण और नयों के द्वारा होता है। नय तो जानता है अंश अंश को और प्रमाण जानता है सर्वांश अंशी को, अर्थात् जैसे ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द पर्याय भिन्न-भिन्न एक-एक बात को समझें वह तो नय का विषय और समग्र आत्मा जैसा, वह है प्रमाण का विषय है। तो इसमें भी अंश और अंशी देखिए— शक्ति और पर्याय का जो पिण्ड है वह द्रव्य कहलाता है। यहाँ तीन बातें समझना है— द्रव्य, गुण और पर्याय। जैसे देखिए— यह जो आत्मा पूरा पदार्थ है वह द्रव्य है और आत्मा में जो शक्तियाँ हैं— ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, चारित्रशक्ति, आनन्दशक्ति आदि ये सब गुण कहलाते हैं। और इस शक्ति का जो विकास है, परिणमन है वह पर्याय कहलाती है। द्रव्य गुण पर्याय की यथार्थ समझ होना जरूरी है, भगवान में और अपने में कुछ, तब ही समझ पाएंगे जब हम द्रव्य, गुण, पर्याय का यथार्थ निर्णय करते हों। देखो प्रभु अरहंत और हम द्रव्य से एक समान हैं, चेतन द्रव्य मैं हूँ। चैतन्यप्रकाश, गुण पर्याय का पिण्ड मैं हूँ। गुण पर्याय का पिण्ड प्रभु हैं और गुण में भी समान हैं। मेरे आत्मा में जो शक्तियाँ हैं वे शक्तियां प्रभु में हैं ज्ञानशक्ति, दर्शनशक्ति, आनन्दशक्ति, शक्ति से भी हम और प्रभु समान हैं, द्रव्य से भी हम व प्रभु समान हैं, अन्तर पड़ा है तो पर्याय में अन्तर पड़ा है। "अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान।" हममें और प्रभु में जो अन्तर है वह एक ऊपरी अन्तर है। ऊपरी अन्तर क्यों कहते? है तो भीतर अन्तर याने मुझ में रागद्वेष चल रहे हैं और प्रभु में रागद्वेष नहीं हैं, तो ऐसा अन्तर है, पर ऊपरी अन्तर यों कहा कि स्वभाव में अन्तर नहीं है, स्वभाव है अन्दर की चीज और पर्याय है ऊपर की चीज। ऐसी बात दृष्टि में रखकर समझना है कि भगवान में और हममें पर्याय का अन्तर है।

अशुद्धपर्याय का व्यय करके शुद्ध पर्याय का आविर्भाव करने का सामर्थ्य— पर्याय तो हमारी वर्तमान में खराब है। वह टाली जा सकती है और शुद्ध पर्याय आ सकती है। जैसे कोई पानी ठंडा रखा है एक कलश में, एक में गर्म पानी रखा हो तो पानी-पानी की अपेक्षा तो दोनों बराबर हैं— यह भी पानी वह भी पानी, और पानी का जो स्वभाव है उसे देखें तो वह बराबर है। जो गर्म पानी है उसे भी यह कहेंगे कि इसका स्वभाव ठंडा है और जो ठंडा रखा है उसको भी यही कहेंगे तो स्वभाव से भी बराबर दिख रहा, द्रव्य से भी बराबर दिख रहा, पर लक्षण का अन्तर है। उसकी दशा ठंडी बन रही है और इसकी गरम। तो हममें और प्रभु में जो अन्तर है वह पर्याय का अन्तर है। प्रभु की दशा वीतराग की हो रही है और हमारी दशा रागद्वेष भरी हो रही है। यह अन्तर है, तो यह अन्तर टाला

जा सकता है। यही कर्म हो गया। तो उसका कर्म ईन्धन टाला जा सकता है। उसको फैला दीजिए अथवा कोई ठंडी मशीन में रख दीजिए या हवा कर दीजिए, ठंडा हो जाएगा। तो जो पर्याय में बिगाड़ है वह बिगाड़ दूर किया जा सकता है। तो यहाँ यह विश्वास में लेना है कि मेरे स्वभाव में बिगाड़ नहीं है, पर्याय में बिगाड़ है, स्वभाव मेरा वह है जो प्रभु का है। द्रव्य मेरा वह है जो प्रभु का है, इसलिए उत्साह बने कि मैं प्रभुता पा सकता हूँ, जरा यहाँ के संसार के इन टुकड़ों में चित्त लगाकर अपने का बरबाद करना योग्य नहीं है। ये संसार के समागम ये सब क्या हैं? धन वैभव क्या हैं? ये टुकड़े ही हैं। बाह्य चीज हैं, मेरे से भिन्न हैं, मेरे काम में नहीं आते हैं। मेरे काम तो मेरा ज्ञान आएगा ज्ञान सही बनेगा तो शान्ति मिलेगी, ज्ञान विपरीत बन गया तो अशांति हो जाएगी। तो मेरी शान्ति अशान्ति का जिम्मा तो ज्ञान पर निर्भर है, धन पर निर्भर नहीं। धन अधिक है तो शान्ति मिलेगी यह कोई नियम नहीं बल्कि धन अधिक होने से और अशान्ति बढ़ेगी। धन कम हो तो क्या अशान्ति हो जाएगी? नहीं। अज्ञानी को अशान्ति है, अज्ञानी को तो हर स्थिति में अशान्ति है और ज्ञानी को हर स्थिति में शान्ति है। शान्ति का कारण है तत्त्वज्ञान, आत्मज्ञान। तो जो असली उपाय है शान्ति का उसमें हमें कितना समय लगाना चाहिए? कितना उद्यम करना चाहिए। जरा यह अपने आपको सोचने लगो, उस काम में कितना हम समय देते हैं और कितना उपयोग लगाते हैं। आवश्यक काम समझ रहे हैं दुकान जाना, घर बैठे रहना। अभी चाय पीना, नास्ता करना, भोजन करना आदिक काम बड़े आवश्यक मान रखा है और धर्म का काम, मन्दिर वगैरा जाने का काम प्रवचन सुनना, तत्त्व चिन्तन करना आदि इनको आवश्यक नहीं समझा। जब समय मिलेगा तब कर लेंगे, यह सोचते हैं, पर ज्ञानी को तो यह बात आनी चाहिए कि हमें तो अधिकाधिक इसके लिए जितना समय मिले उतना उपयोग दें, बाकी समय अपने दुकान आदि धन्धों में लगावें। इतना समय तो ज्ञानार्जन के लिए धर्मसाधना के लिए, सत्संग के लिए है। बाकी जितना समय मिलेगा यह काम धन्धे में लगायेंगे।

धर्म की मुख्यता में हित मार्ग का लाभ—भैया! मुख्यता देनी चाहिए धर्म के काम की। जो आनन्द निर्मोह रहने में और मन्द कषाय रहने में है वह आनन्द कहीं मोह में पाया जा सकता? क्या क्रोध, मान, माया, लोभ में पाया जा सकता? बड़ा एक ठंडे दिल से, बड़ी गम्भीरता से विचार करना चाहिए और यह निर्णय करना चाहिए कि बस मेरा कर्त्तव्य तो यह है कि मोह तो रंच भी न करें, याने किसी पर पदार्थ को अपना स्वरूप या अपना सर्वस्व न समझें। भिन्न जानते रहें। प्रत्येक पदार्थ स्वतन्त्र है, भिन्न है, किसी भी पदार्थ से मेरा सम्बन्ध नहीं है, लेकिन मोह मिटे, क्रोध, मान, माया, लोभादि कषायें घटायें, पर हिम्मत ऐसी बनावें कि क्रोध न जग सके। क्रोध में बुद्धि जल जाएगी, आपका खुद का कुछ बिगड़ जाएगा। जिस विषय में आपको क्रोध आ गया उस काम में आपका ही काम बिगड़ जाएगा। और की बात जाने दो, अदालतों में जो चतुर वकील होता है वह कोई ऐसी बात छोड देता

है कि जिससे दूसरे वकील को क्रोध आ जाए। दूसरे वकील को क्रोध आया, बस उसका काम बन गया। क्योंकि क्रोध में बुद्धि हर जाती क्रोध में दिमाग नहीं चल सकता। क्रोध में वह जो कुछ सोचता होगा वह भी न सोच पाएगा। बस उस का काम बिगड़ जाएगा। जिस काम को लक्ष्य में लेकर क्रोध किया जा रहा वह काम बिगड़ जाएगा। क्रोध से कोई सिद्धि नहीं मिलती। अब अपनी गई बातों को भी विचार लो, जब कभी भी क्रोध किया तब कौन सा लाभ पाया? तो इतनी हिम्मत रखना है ज्ञान बल के द्वारा कि क्रोध उत्पन्न करने की घटना भी कितनी ही आए तो भी मेरे में क्रोध मत जगे। क्रोध में मेरे गुण फुक जाएंगे, क्रोध में मेरा काम बिगड़ जाएगा। अब दूसरे– क्रोध से अयश फैल जाएगा। बड़ा क्रोधी है, जरा-जरा सी बात में गुस्सा आ जाता है। लोगों को विश्वास नहीं रहता है। प्रेम से हृदय खोलकर बोलने की हिम्मत नहीं होती क्रोधी पुरुष को। उसे कौन सा लाभ मिला क्रोध से? इसी तरह मान घमंड बिल्कुल व्यर्थ की चीज है। मान से मान नहीं मिलता, घमंड करने से सम्मान नहीं मिलता। घंमड न हो, नम्रता हो, सब जीवों के प्रति प्यार हो। नम्रता से चला जाए दूसरों को आदर दिया जाए, अपना आदर घटाया जाए, अपने को एक नम्र बनाया जाए। मैं कुछ नहीं हूँ इस तरह का नम्र पुरुष हो, ऐसी चेष्टा हो उसका सम्मान भी है, यश भी है, खुद भी प्रसन्न है, दूसरे भी प्रसन्न हैं। भला बतलाओ लोग बड़ा धन खर्च करके भी दूसरों को खुश रखना चाहते हैं। इसने माना कि धन का त्याग करें, दान दें ताकि दूसरे लोग खुश रहें और यदि आपके प्रिय वचन बोलने से, आपके नम्र रहने से, आपके शान्त रहने से कोई जीव सुखी हो जाता है तो यह तो भली बात हुई। इसमें तो आपका कुछ धन भी खर्च न करना पड़ा और देखो कितने ही लोग भी हो गए। तो फिर खुद भी शान्त हो जाएं और दूसरे भी शान्त हो सकें, ऐसा उपाय क्यों नहीं किया जाता? यह उपाय अभी तक नहीं कर पाए इसका कारण क्या है कि अज्ञानी जीवों का संग अधिक समय रहता है। ज्ञानी संतों का संग थोड़े समय को मिलता है। तो जब अज्ञानी मोही जीवों का, दुष्ट जीवों का, छली कपटी जीवों का संग अधिक समय रहता है, दुकान में, घर में सर्वत्र जब संग रहता है तो उसी में दिलचस्पी भी बनती है, वैसे ही परिणाम बनते है तो फिर कहाँ से शान्ति का उपाय बनाया जा सके?

तत्त्व ज्ञान के साधनभूत शास्त्राभ्यास का महत्त्व—पूजा करने के बाद जो ७ बातें माँगी गई हैं भगवान से। ७ भावनायें जो बतायी है पूजकने वे कितनी कल्याणमयी भावनायें हैं– **शास्त्राभ्यासो जिनपतिनुतिः संगतिः सर्वदार्यैः। सद्वृत्तानां गुणगणकथा दोषवादे च मौनम्। सर्वस्यापिप्रियहितवचो भावना चात्मतत्त्वे। संपद्यंतां मम भवभवे याव-देतेऽपवर्गः।** अर्थात् हे प्रभो जब तक मेरे को मोक्ष प्राप्त नहीं होता तब तक मुझे ७ बातें भव-भव में मिलें। (१) **शास्त्राभ्यास–आचार्य समंतभद्रमहाराजने शीतलनाथ भगवानकी स्तुति में कहा है– न शीतलाश्चन्दन चन्द्ररश्मयो नगाङ्गमम्भोनच हारयष्टयः। यथा**

भुनेस्तेऽनघशान्त रश्मयो शआम्बुगर्भाः शिशिराः विपश्चिततामु— शीतलनाथ की स्तुति में बताया है कि शीतल न तो चन्द्र है, न चन्द्ररश्मि है, न गंगा का जल है किन्तु क्या है? हे प्रभो! जैसे तुम्हारे वचन किरण पापरहित, निष्पाप, हितकारी जो आप की वाणी है वही वास्तव में शीतल है, अन्य कुछ शीतल नहीं। कोई मनुष्य इष्ट वियोग से दुःखी हो या किसी भी कारण दुःखी हो, उसे मधुर वचन, हितकारी वचन, तत्त्वज्ञान भरे वचन, सच्चे वचन—उसे सुनने को मिलें तो उसके भीतर का आताप, भीतर का क्लेश दूर हो जाता है। वह बाहरी विचार से दूर नहीं हो सकता। बहुत बड़े धनी ऊंची फर्म वाले करोड़पति लोगों के प्रायः करके हार्ट फेल हो जाता है अथवा वे बीमार बने रहा करते हैं तो उसका कारण क्या है? उसका कारण यही है कि पर पदार्थों में जो आत्मबुद्धि लगी है, जिन कारणों से बहुत व्यग्रता हो जाती है, शल्य हो जाती है। बीमारी हो जाती है। ऐसे पुरुष का रोग क्या कोई डॉक्टर मेट सकेगा? वह डॉक्टर दवा तो देता है पर औषधि नहीं दे पाता। देखिए— एक तो होती है औषधि और एक होती है दवा। दवा का काम तो है बीमारी को, रोग को दबा देना। वह मूल से रोग को खत्म में नहीं करती, वह अच्छी चीज नहीं, और औषधि अच्छी चीज है। क्योंकि औषधि से समय तो कुछ अधिक लग जाता है पर रोग मूल से खतम हो जाता है। अंग्रेजी दवाएं डॉक्टर ने जो दवा दी उससे तुरन्त तो रोग दब जाएगा मगर बाद में फिर उभड़ जाएगा मगर आयुर्वेदिक औषधि से रोग मूल से निकल जाएगा। तो ऐसे ही समझिए कि हम अगर किसी कारण से दुःखी हैं, दिल घबड़ा गया है तो ऊपरी उपचार दवा का काम करेगा, मगर औषधि का काम तो तत्त्वज्ञान ही करेगा, कोई वीर पुरुष होता है तो वीर पुरुष की युद्ध में तलवार चलाते-चलाते कोई गर्दन भी काट ले तो भी उसके वेग के कारण हाथ चलते हैं, गर्दन कट जाने के बाद भी हाथ के वेग से चलने से दो चार सिपाही मार डालता है। हालांकि उसमें कुछ बात नहीं रही, मगर उसका बेग है, उसका जो असर है सिर कटे के बाद भी उससे दो चार सिपाहियों के गर्दन कट जाते हैं। ऐसे ही समझिए— तत्त्वज्ञान का जिसके बल है वह तत्त्व ज्ञान में उपयुक्त न रहे तो भी संस्कार अनेक रोगों को तो यों ही मिटा देता है। किसी को कोई रोग हो और वह मन में रखे कि मेरे को रोग हो गया है, क्या किया जाए? कहीं बढ़ न जाए, कुछ खराबी न हो जाए तो वह रोग और बढ़ेगा, और जो तत्त्वज्ञान जगे कि मेरे को तो कोई रोग ही नहीं, मै तो रोग रहित हूँ . . . इस प्रकार की बात अगर चित्त में बनी रहे तो कितने ही रोग जो ऊपर-ऊपर तैरते हैं वे असर नहीं कर पाते। तत्त्वज्ञान ऐसी चीज है। अच्छा, और भी देखो— अगर मानो किसी को रोगरहित शरीर मिला, या कुछ मौज की चीज मिल जाए तो उसमें भी उसके मिलने का कारण है धर्म। जीव को शरण है तो धर्म है। धर्म के सिवाय मेरा कोई दूसरा शरण नहीं। कितने भी शरण ले लो। शरण मिलेगा आपको तो धर्म मिलेगा। यहाँ ऊपर से करने वाले धर्म की बात नहीं कह रहे हैं किन्तु आप का जो भाव में स्वभाव है शुद्ध विशुद्ध ज्ञातादृष्टा रहना, सहज ज्ञानमात्र ऐसा जो ज्ञानज्योति

रूप स्वभाव है उसमें यह दृढ़ता आ जाए कि मैं तो यह हूँ, और कुछ नहीं यह तत्त्वज्ञान शरण हो जाएगा।

तत्त्वज्ञान जगने पर आत्मशौर्य का उत्साह—एक कुम्हार को जंगल में एक शेर का बच्चा मिल गया। अब शेर का छोटा बच्चा हमला तो नहीं कर सकता। किसी पर वह क्या हमला करे? मान लो, शेरनी कहीं बाहर चली गई, उसका बच्चा कुम्हार ने पा लिया और उसे ले जाकर अपने गधों के बीच बांध दिया। वह बड़ा भी हो गया। अब गधों पर तो बोझ लादा जाता, कभी-कभी उस शेर के बच्चे पर भी कोई चीज लादी जाती। अब उस बच्चे को उन गधों के बीच रहते हुए काफी समय हो गया। उसे अब यह ध्यान न रहा कि मैं शेर हूँ, वह तो यही समझ रहा कि मैं तो ऐसा ही हूँ जैसे ये (गधे) हैं। वह उन गधों के बीच उनकी ही भाँति दुःखी रहा करता था। एक बार उसे कहीं कोई सिंह दिख गया। उसकी गर्जना सुना। सोचा कि अरे यह तो मेरे ही जैसा है। ओह मैं गधा नहीं हूँ। मैं तो सिंह हूँ, लो, यह सोचकर छलांग लगाया और स्वतंत्र हो गया। तो मेरा स्वरूप तो प्रभु स्वरूप की तरह है। अगर अपने को क्रोध नहीं है तो जैसे सिंह अपने को गधा अनुभव करता था, ऐसे ही यह मैं अपने को मनुष्य हूँ, स्त्री हूँ, व्यापारी हूँ, फलानी जाति का हूँ, फलाने बिरादरी [illegible] हूँ। मैं रूपवान हूँ, कुरूप हूँ, सन्तान वाला हूँ, यों कोई जब अपने को मान लेगा [illegible] वजह से यह दुःखी होता रहता है। जिस समय यह ध्यान देगा कि यह मैं [illegible] मात्र हूँ, मैं कुछ नहीं हूँ और लक्ष्य हो जाएगा, दृष्टि में आ जाएगा [illegible] ज्ञानमात्र अन्तस्तत्त्व हूँ, सारे संकट विदा हो जाएंगे। यहाँ कोई [illegible] पालने वाला हूँ, घर को मैं चलाने वाला हूँ, स्त्री [illegible] यह बात उसकी झूठ है। वे जीव नहीं हैं क्या उनके जो कर्म बसे हुए हैं उनका उदय आता है मेरे आत्मा में बात चल रही वैसे ही बच्चे-बच्चे है, हो रहा है, सारी बात चली है, कर्म चल रहा है। आ रहा है उन सबके पुण्य के कारण वह सब काम अकल के ऊपर चल रहा है। फिर चिन्ता क्या करना? वैसा होता ही रहता है। काम बिगड़ गया तो मैं क्या करूँ, बैसा क्यों। अपने ऊपर ही बात लादते कि मेरा भाग्य खराब उदय है? अरे आपके पाप का उदय नहीं, आपके पाप का उदय त. दिल इस बात में लग रहा कि मेरे पाप का उदय है। यह तो संसार का [illegible] है, वह पाप का उदय नहीं है। पाप का उदय यह है कि जो पर द्रव्य में कुछ राग करता है मोह करता है, लगाव रखता है, अज्ञान का अन्धेरा बसा है भीतर में, वह है पाप का उदय।

लोकोत्तम पद का मार्ग—जो पापरहित निर्विकल्प शिवनायक परमब्रह्म जो मेरा

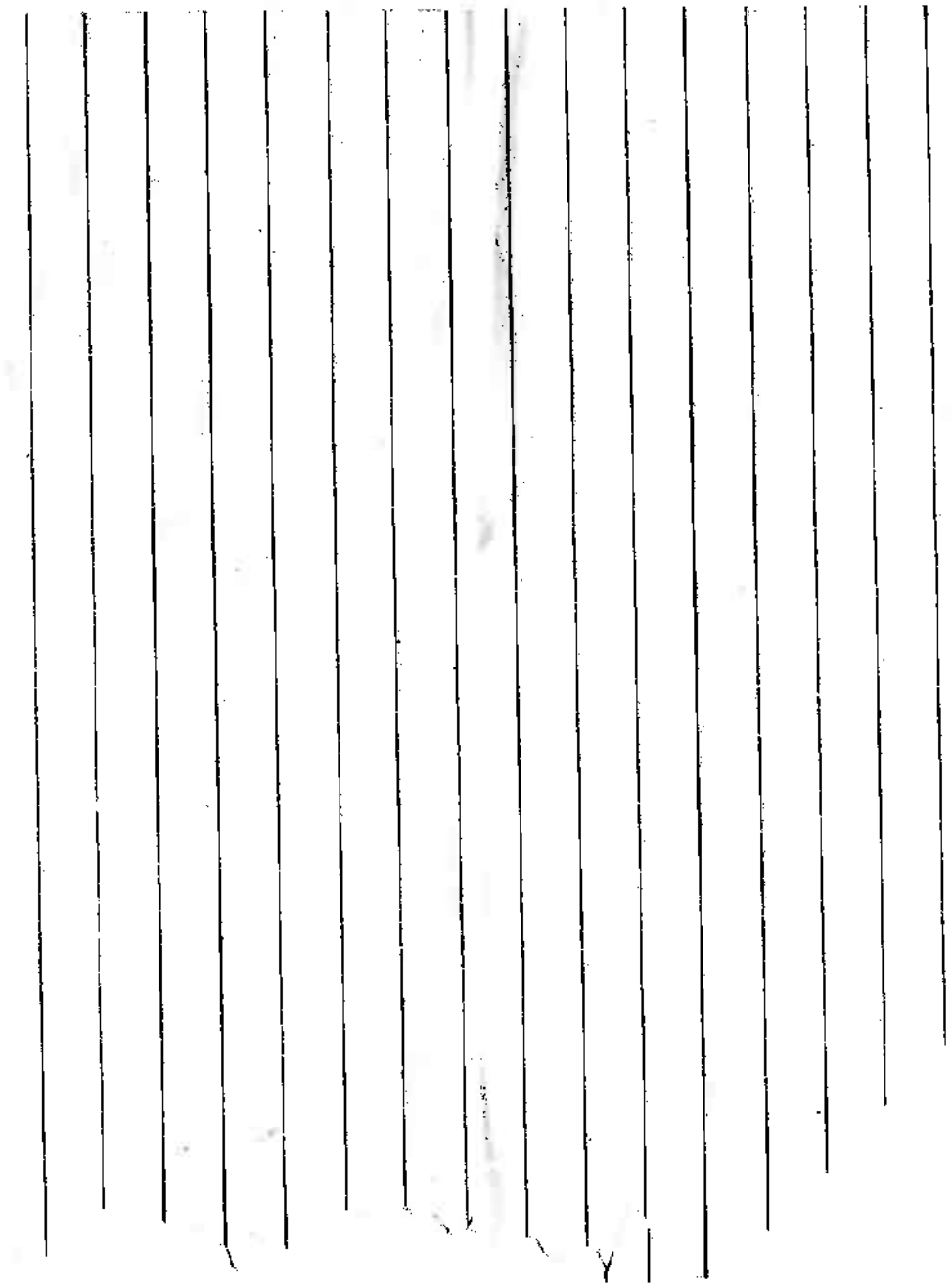

संकट
ान करें
ा रखा
सा जो
भीतर
ण्ड भी
यह भी
ड़े महान
नक को
वे दूसरे
र्ड नाम
पने मन
भी गाते
हैं। कोई
की बात
जाता है,
है महान
तो प्रभु
ठे महान
ह होता
के लिए
नोपयोग,
ह प्रसंग
यों से।

न, द्रव्य,
शा होती,
ना अंशी
ो अंशी
शी हुआ
अंशी भी

अखण्ड स्वभाव, वह द्रव्यार्थिकनय का विषय है रही गुणभेद और पर्याय की बात, यह पर्यायार्थिकनय का विषय है। तो आखिर देखो अंशी भी तो एक नयका विषय बन गया। प्रमाण कहाँ रहा? एक यह शंका सामने आती है। अंशी का परिचय भी प्रमाण नहीं है, किन्तु नय और अंशी का परिचय भी नय है। फिर प्रमाण का विषय क्या होगा सो बतलाओ। प्रमाण का विषय अंशी और अंश दोनों ही प्रधान रूप से जब परिचय में आते हैं तो वह होता है प्रमाण का विषय। केवल अंशी प्रमाण का विषय नहीं, केवल अंश प्रमाण के विषय नहीं, किन्तु जहाँ अंशी और अंश दोनों प्रधान रहते हैं, परिचय में आते हैं वह है प्रमाण का ...य। अंश को गौण करके अंशी को जानना, द्रव्यार्थिकनय का विषय है। अंशी को गौण अंश को जानना वह पर्यायार्थिकनय का विषय है और अंश और अंशी इन दोनों का ...तया परिचय पाना प्रमाण का विषय है। अब उसका परिचय करें। देखिए एक अंश ...ना खराब नहीं, मगर श्रद्धा सही बनाकर जानें तो खराब नहीं। प्रमाण से ग्रहण किए ...र्थ में अंश को जानने वाले को नय कहा गया है। बस यही भूल खाई, अनेक ...ने। वे दार्शनिक जुदे-जुदे पड़ गए। कोई आदमी अगर ऐसा लड़े किसी को देखकर ...लो एक हरप्रसाद नाम है। अब कोई हर प्रसाद का परिचय दे कि यह तो चुन्नीलाल ...ा है, कोई दूसरा बोला कि तुम कहते हो, यह तो जीवनलाल का पिता है, तो देखिए ...बेवकूफी भरी लड़ाई बन जाती है न,! अरे भाई सत्य तो देखो, किस दृष्टि से कहा ...। वह भी सत्य है, यह भी सत्य है। झूठ कहाँ रहा? बस यह लड़ाई चली दार्शनिकों ...न्ती कहते हैं कि वस्तु नित्य एक सर्वव्यापक है। अपरिणामी है। तो बौद्ध कहते हैं ...यक वस्तु केवल सुलक्षण मात्र है। एक समय को ठहरती है, दूसरे समय नहीं ठहरती, हो गया जंग, तो स्याद्वादी उनका समाधान करते हैं।

जैन शासन की सर्वहितकारिता—जैन शासन कितना एक सर्वप्रिय शासन है कि जिसके मानने में किसी को भी हिचक न करना चाहिए, लेकिन आज उल्टा काम चल रहा है। अन्य-अन्य जो शासन हैं, धर्म हैं वे तो अपनी बड़ी प्रगति को पा रहे हैं और जैन शासन जो है वह गिरता सा जा रहा है। तो इसके जिम्मेदार कौन हैं? इसके जिम्मेदार हैं जैन शासन के मानने वाले जैनी लोग। उनके ही कारण जैन शासन का पतन हो रहा है। कोई समय था कि जैन को देखकर अदालत के लोग जज लोग बहुत प्रभावित होते थे। मानो कोई मुकदमा हुआ, उसमें अगर कोई जैन गवाही देने आ गया तो उस पर विश्वास करके जज उस जैन के माफिक फैसला कर देता था। खजान्ची भी प्रायः करके जैन होते थे। कभी इतना विश्वास जैनों पर किया जाता था, पर आज हम अपने कर्त्तव्यों को भूल गए। जैनों के ये चिह्न थे— रात्रि को न खाना, जल छानकर पीना, देव दर्शन करना, मिथ्यात्व त्यागना, अन्याय त्यागना, अभक्ष्य न खाना आदि, उनको तो छोड़ दिया। कुछ समय पहले किसी की बारात में कुछ जैन पहुँच जाते थे तो बारात में खलबली मच जाती थी— अरे दिन से खाना बनाओ,

बहुत शोध कर बनाओ। बारात के बाकी लोगों के लिए तो जो चाहे बन रहा। बैरा लोग परोस रहे। अब तो घर के लोगों को न परोसना पड़े इसलिए कुछ बैरा लोग भोजन परोसने के लिए नियुक्त कर दिए जाते हैं। अगर घर के लोग परोसने लगें, बैरा लोग न परोसने वाले हों तो कहने लगते कि काहे की बारात। यों हम अपने आपके आचार विचार से गिरते चले जा रहे हैं। तत्त्वज्ञान न होने से, संकुचित विचार वाले होने से आज हम आप अपने आचार विचार से पतित होते जा रहे हैं। हमारे शास्त्र हमारे घर में रहें, हमारे मन्दिर में रहें, दूसरों के यहाँ न जाएं, हमारे मन्दिरों में दूसरे लोग दर्शन करने न जा सकें, यों कितने संकुचित विचार हैं हम आपके। अब आप यह समझें कि कभी समय था ऐसा कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में परस्पर विवाह होता था और यहाँ जो इतनी लगन मिलाते हैं ना, उसमें वर्ण मिलाते हैं कि ये वैश्य ब्राह्मण मिले कि नहीं। था कोई समय, अब संकुचित हो गए। होते-होते इतना बंटवारा हो गया कि भाई तुम्हारा अमुक जाति गोत्र का है—जैसे मानलो अग्रवाल, खण्डेलवाल . . . तो ये अपनी अपनी जाति में ही विवाह सम्बन्ध करें, इस तरह के अपने संकुचित विचार बना लिया। तो यह हमारी एक संकुचित दृष्टि है, इससे हम अपने आप को गिराते चले जा रहे हैं। तो यह सब हम आपका दोष है जो हम सारे जीवों के फायदे पर लात मार रहे हैं। नहीं तो जैन शासन का प्रचार होता।

ज्ञान और विरागता में स्वात्मदया—तत्त्व ज्ञान एक सर्वोपरि चीज है। सत्य समझें कि मैं क्या हूँ, मेरे में क्या है? मैं हूँ एक शुद्ध ज्ञानज्योति मात्र। जो अपने आप हो सो ही तो मैं हूँ। दर्पण क्या है? एक स्वच्छ प्रकाशमात्र। जैसे दर्पण है और उस पर कोई परका सम्बन्ध मिल गया, जो कोई चीज आ गई और उसमें छाया आ गई तो क्या वह छाया दर्पण का स्वरूप है? नहीं है। मगर शरीर संग में जुटा हुआ है। शरीर और आत्मा का सम्बन्ध होने के कारण जो बात गुजर रही है क्या वह मैं हूँ? नहीं। जो मैं अपने आप हो सकता हूँ सो तो मैं हूँ और जो किसी पर पदार्थ के सम्बन्ध से बात होती हो वह मैं नहीं हूँ। सही बात है। मैं तो वह हूँ जो स्वतंत्र हूँ, स्वयं अपने आप शुद्ध हूँ। अपने आपसे शुद्ध हूँ। अपने आपके शुद्ध से जो मैं हो सकता हूँ सो मैं हूँ। पर और कुछ नहीं हूँ कभी-कभी शान में आकर लोग कहने लगते कि दूसरों की दया से अगर हमें आराम मिलता है तो वह आराम मुझे न चाहिए। मेरे में अपने आप जो कुछ हो वह मुझे चाहिए। अजी जैसे कोई खुद भी कह बैठता कि अजी मैं न होता तो आपका काम न बनता। जब ऐसी एहसान की बात कोई सुनता है तो वह सोचता है कि अच्छा, चाहे काम बिगड़ जाता मगर इससे काम न करवाता तो मैं अच्छा था। कभी किसी ने किसी को खूब भरपेट भोजन करा दिया और भोजन कराने के बाद वह कहे कि कहो जी अच्छा भोजन कराया ना, ऐसा भोजन तो तुमने कभी जिन्दगी में न खाया होगा। तो वह तो यही सोचेगा कि इससे तो मैं भूखा रहता तो अच्छा था। अब मैं इसे कैसे कय कर दूँ? मुझे ऐसा भोजन न चाहिए। तो ऐसा अपने आप में क्यों नहीं

सोचा जाता कि शरीर के सम्बन्ध से, कर्म के सम्बन्ध से, किसी की प्रतीक्षा से, अहसान से अगर मेरे को कोई सुख मिल रहा है, इज्जत मिल रही है, कुछ मिल रहा है। तो यह मुझे न चाहिए। मैं तो अपने आप अकेला ही अपने आपमें जैसा हो सकता हूँ। जैसा रह सकता हूँ, जो मेरा स्वरूप है। बस वह स्वरूप मुझे चाहिए, वह स्वभाव मुझे चाहिए, मुझे परके सम्बन्ध से होने वाली बात न चाहिए।

ज्ञाता द्रष्टा रहने का सन्देश—भैया! जब भी आप अपने स्वरूप की ओर आएंगे, अपने आपमें खुद सन्तोष पाएंगे, तृप्त रहेंगे, यहाँ दृष्टि चलेगी। आपका मार्ग स्वच्छ हो जाएगा। आपको अद्भुत आनन्द प्राप्त होगा, कल्याण होगा, मुक्ति प्राप्त होगी। सारे ही लाभ हैं और बाहरी पदार्थों पर लगाव करने से, मोह करने से राग करने से अपने चित्त से वहाँ नुकसान ही नुकसान है। बरबादी ही बरबादी है। उसमें लाभ का कोई काम नहीं। फिर भी इतना विवेक रखना है कि जितना हमें करना पड़ता है बाहरी राग, बाहरीद्वेष, बाहरी विरोध, बाहर में रहना, घर में रहना, अच्छी प्रकार बोलना, काम करना, ये सब परिस्थिति के धर्म हैं, मेरे आत्मा के धर्म नहीं हैं। रह रहे घर में तो करना यह सब पड़ेगा, मगर मेरे आत्मा का, ज्ञाता दृष्टा रहने का, जाननहार रहने का धर्म है। जान लो, समझने के लिए देख लो, बस जान लिया, देख लिया, इससे आगे न बढ़ें, राग में न पड़ें तो कल्याण मिल सकेगा। एक छोटी सी कथा है कि एक सेठ से मुनि महाराज ने कहा कि तुम देवदर्शन करने का नियम ले लो, तो उसने असमर्थता बतायी। मुनि महाराज ने पूछा कि तुम्हारे घर के सामने क्या है? . . . कुम्हार का घर। वहाँ पहले क्या दिखता है? . . . भैंसा का चाँद। . . . अच्छा तो चाँद के दर्शन का ही नियम ले लो। सेठ ने यह नियम ले लिया। एक दिन बहुत ही सुबह कुम्हार भैंसा को खान पर ले गया, सेठ पूछता-पूछता चाँद देखने खान पर गया। जिस समय सेठ ने चाँद देखा उसी समय खान में असर्फियों का हंडा मिलने से शंकित होकर कुम्हार ने ऊपर देखा। तब कुम्हार कहता है—सेठ जी सेठ जी। . . . सेठ कहता है बस देख लिया, देख लिया। . . . अरे जरा सुनो तो। . . . बस-बस सब देख लिया। सेठ घर पहुँच गया। कुम्हार सारी असर्फियां लेकर सेठ के घर पहुँचा और कहा—तुमने देख तो लिया इन असर्फियों में से आधी तुम ले लो। तब सेठ सोचता है कि मैंने चाँद ही तो देखा। उसका ही तो नियम लिया, उससे तो यह लाभ मिला। फिर देव दर्शन में न जाने कितने लाभ मिलेगा। उस का भी नियम ले लिया। तो देखो मात्र ज्ञाता द्रष्टा रहने में कितना लाभ है?

संसार के समस्त दुःखों से मुक्ति यदि अभीष्ट है तो मुक्ति के मार्ग में लगना चाहिए। मुक्ति का मार्ग है सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। सम्यग्दर्शन का अर्थ है प्रयोजनभूत जीवादि ७ तत्त्वों का श्रद्धान करना सम्यग्दर्शन है। और निश्चयतः सम्यग्दर्शन अर्थ है निज टंकोत्कीर्णवत निश्चल शाश्वत प्रकाशमान जो एक ज्ञानमात्र स्वरूप है उस रूप ही अपने आपको अनुभव करना, श्रद्धान करना, प्रतीति करना सो सम्यग्दर्शन है, सम्यक्त्व की प्राप्ति के

लिए बुद्धिपूर्वक पुरुषार्थ क्या करना चाहिए? वह पुरुषार्थ है ७ तत्त्वों का यथार्थ श्रद्धान। श्रद्धान कब हो? जब उसके बारे में कुछ ज्ञान हो। यद्यपि स्यक्त्व के होने पर ही ज्ञान सम्यक् कहलाता है फिर भी सम्यक्त्व का जो एक आधार बनता है ऐसा ज्ञान वह भी अनुरूप होता है, सही होता है, किन्तु अनुभव बिना ज्ञान है इसलिए उसे सम्यक्त्व कहते हैं। सम्यक् होते हुए भी सम्यक् नहीं कहा जाता, क्योंकि वह अनुभव शून्य ज्ञान है, पर सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहले जो ज्ञानभाव चलता है वह मिथ्या नहीं है। है मन रूप यथार्थ समझने वाला, पर अनुभवरहित है, इतनी ही तो बात है। सम्यक्त्व हुआ कि वही सम्यक् कहलाने लगता है। तो तत्त्व का अधिगम कैसे हो? उसके लिए प्रमाणनयैरधिगमः इस सूत्र का वर्णन चल रहा है। प्रमाण और नय के द्वारा तत्त्व का, सम्यग्दर्शन आदि का परिचय होता है। सकलग्राही जो अर्थ ज्ञान है सो प्रमाण है, यानी सम्पूर्ण वस्तु को, सर्व अंशों को, समग्र वस्तु को जानने वाला ज्ञान प्रमाण कहलाता है। और प्रमाण से जाने हुए पदार्थ में प्रयोजन के वश से किसी भी अंश का परिचय करना नय कहलाता है।

मतिज्ञान, अवधिज्ञान मनःपर्ययज्ञान में नयत्वकी असंभवता—यह नय श्रुतज्ञान का अंश हैं। मतिज्ञान से ज्ञातवस्तु में नय नहीं बनता। अवधिज्ञान, मनःपर्यय ज्ञान से जानी हुई वस्तु में नय नहीं बनता। मतिज्ञान, अवधिज्ञान, मनः पर्ययज्ञान, केवल ज्ञान, ये चार ज्ञान निर्विकल्प हैं। इसमें तर्क नहीं उठता, कोई विकल्प नहीं उत्पन्न होता, श्रुतज्ञान ही विकल्पात्मक है, उसमें तर्कवादी ज्ञान है, ऊहापोह है, विचार है, चिन्तन है, जैसे इन्द्रिय द्वारा देखा और देखने पर क्या ज्ञात हुआ? रूप। जो है सो ज्ञात हुआ। अब यह कहना कि यह हरा रूप है यह विकल्प मतिज्ञान का काम नहीं है, वह तो दिख गया, हरा ही दिख गया, पर यह हरा है, इस तरह का विकल्प नहीं लेता मतिज्ञान। हरा ही दिख गया, बात तो मतिज्ञान में ही आयी मगर विकल्परूप से नहीं आया। जब यह जाना कि यह हरा रंग है, और-और भी जाना गया, किससे यह बना है, किस तरह यह पोता गया है, गहरा है, हल्का है, उचित है, कुछ भी विचार करें वह सब श्रुतज्ञान की बात है। मतिज्ञान ने तो ज्ञान करा दिया उस वस्तु को साक्षात् इन्द्रिय और मन द्वारा, जैसे कि अवधिज्ञान भी करा देता है, इन्द्रिय मन की सहायता बिना जहाँ जो कुछ है ज्ञात हो गया, किन्तु तत्संबंधी विकल्प नहीं होता। जैसे पुराणों में कथायें आती है कि किसी ने मुनि महाराज से पूछा कि मैं पहले भव में क्या था! तो उन्होंने अवधिज्ञान चलाया, जो था सो जान लिया, मगर जब बताने का प्रकरण आएगा तो श्रुतज्ञान के सहारे बता सकेंगे कि यह अमुक था, ऐसा था। और उससे ही जाने हुए पदार्थ में अंश ज्ञान होता है।

सकलज्ञ होने पर भी केवलज्ञान में नयत्वकी असंभवता—एक बात और समझने की है। मतिज्ञान से जाना, जो है सो जाना, अवधिज्ञान, मनः पर्यय ज्ञान से जाना, ठीक है, न हो वहाँ श्रुत ज्ञान का अंशभूत नय, किन्तु एक बात जरा जानने के लिए कही जा रही है कि

केवलज्ञान ने तो अंशको जाना, अंशीको भी जाना, प्रत्येक पर्याय को जाना, गुण जाना, स्वभाव जाना, सब कुछ ज्ञात होता है, इतनी ही तो बात है कि वहाँ सापेक्षता का परिचय नहीं किया जाता किन्तु जो भी सत् है सबका परिचय होता है। तो वहाँ जब अंशका भी ज्ञान होता है तो क्यों नहीं यह कहा जा सकता कि केवलज्ञान से ही जाने हुए पदार्थ में नय की प्रवृत्ति होती है। उत्तर में कहते हैं कि सब कुछ जानकर भी केवलज्ञान निर्विकल्प है। उसमें नय की प्रवृत्ति नहीं होती। श्रुतज्ञान का ही अंश नय है। श्रुतज्ञान से ही नय की प्रवृत्ति चलती है। यहाँ तक कुछ संक्षेप में प्रमाण और नय की बात कही।

प्रमाण के फल का विवरण—अब प्रमाण के फलकी बात सोचिए यानी कुछ जानकर फल तो मिलना ही चाहिए बिना फल के कैसे जानते रहें, बिना फल के कोई मनुष्य कुछ काम करता है क्या? यह आत्मा बिना फल के जानता है ऐसी बात है क्या? क्या उसे कोई फल नहीं मिलता? कोई सच्चा ज्ञान किया, सम्यग्ज्ञान हुआ, प्रमाण हुआ तो उस प्रमाण से कुछ जानता नहीं क्या? फल न मिलेगा क्या? फल तो मिलता है, क्या फल मिलता है, देखिए ज्ञान के ४ फल होते हैं। ज्ञान कहो, प्रमाण कहो एक ही बात है। प्रमाण के फल ४ होते हैं हान, उपादान, उपेक्षा और अज्ञाननिवृत्ति। देखो कोई भी बात हमने जाना तो जानकर या तो उसे छोड़ेंगे या उसे ग्रहण करेंगे या उसकी उपेक्षा करेंगे! तीन बातें तो ये करेंगे, और चौथी बात है अज्ञान दूर हो गया, यह भी ज्ञान का फल है। ज्ञान का फल अज्ञान दूर होना है। उसमें भी बड़ा आनन्द आता है। जैसे किसी बालक से पूछा बताओ दो और दो कितने होते हैं? तो अब वह सोच रहा है, जब तक उसको जवाब नहीं आता तब तक उसका चेहरा कितना शोकमग्न रहता है, फ़िकर कर रहा है, पढ़ रहा है, और जिस समय में उत्तर आ गया तो उसकी शक्ल दिखिए— कितनी आनन्दपूर्ण शक्ल रहती है, कितनी अच्छी मुद्रा रहती है कि जितनी मिठाई खाने पर भी नहीं रहती। तो यह अज्ञाननिवृत्ति भी तो एक फल है। तो प्रमाण के ४ फल होते हैं— अज्ञान दूर होना, छोड़ने योग्य चीज को छोड़ देना, ग्रहण करने योग्य चीज को ग्रहण कर लेना और उपेक्षा करने योग्य चीज की उपेक्षा कर देना ये ४ फल हैं। अब इन फलों के बारे में यह सोचिए कि यह फल ज्ञानों से अभिन्न है या भिन्न है? भिन्न अभिन्न तो आप समझते ही हैं। जैसे इस चौकी से पुस्तक भिन्न है और चौकी से रूम भिन्न है कि अभिन्न! अभिन्न, अभिन्न माने वही एक रहता है। तो इसी तरह यहाँ पूछा जा रहा है कि प्रमाण के जो चार फल हैं— हान, उपादान, उपेक्षा और अज्ञाननिवृत्ति। ये ज्ञान से अलग चीज हैं या ज्ञानरूप ही हैं? थोड़ा दार्शनिक विषय चलकर फिर आत्मा की बात कहेंगे। यह भी सुनना चाहिए। आखिर पदार्थों में जैन शासन ने क्या-क्या खोज निकाला है, क्या-क्या बताया। प्रभु की वाणी में क्या-क्या दर्शाया गया है, कुछ तो इसका परिचय होना चाहिए और यहाँ कोई दूसरी चीज का परिचय नहीं चल रहा है कि जैसे घड़ा या मकान की कोई बात नहीं कही जा रही है। खुद ही यह आत्मा ज्ञानस्वरूप है और यह निरन्तर ज्ञानवृत्ति

का काम करता है, जानन का काम करता है, उस ही जानन की बात कही जा रही है कि जो यह सच्चा जानना हो रहा है उसका फल क्या है? जो भी फल है वह फल इस जानन से अलग है या इसी जानने में सम्मिलित है? यह बात कही जा रही है, उत्तर में क्या होगा। सो देखिए एक सीधी सी कुन्जी आपको दे दिया कि जहाँ हैरान न होना पड़े। कोई पुरुष दो विकल्प रखे तो बहुत कुछ अंशों में यह उत्तर दे दिया जावे कि कथंचित् ऐसा भी है। आपकी कुछ समझ में न बैठे तो तुरन्त इतना तो ध्यान दें कि कथंचित भिन्न है, कथचित् अभिन्न। जब यह पूछा कि प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न है कि अभिन्न? तो किसी दृष्टि से भिन्न व किसी दृष्टि से अभिन्न। अच्छा जो अभिन्न हो उसमें भी कोई पूछे कि बोलो— ज्ञान आत्मा से भिन्न है कि अभिन्न? तो जल्दी का उत्तर तो दे ही दो। किसी दृष्टि से भिन्न है, किसी दृष्टि से अभिन्न है। अभिन्न है यह तो बिल्कुल स्पष्ट है। ज्ञान आत्मा से अभिन्न है, यह ज्ञानस्वरूप है, ज्ञानमय है। इसलिए ज्ञान और आत्मा एक ही बात है। अच्छा जरा यह बतलावो कि भिन्न कैसे है? अगर किसी तरह भिन्न न होता तो हम दो शब्द भी न बोल सकते थे। आत्मा और ज्ञान और आत्मा का ज्ञान। देखो अपनी बुद्धि में प्रयोजन आया कि अपनी बुद्धि में ऐसा आया कि नहीं कि ज्ञान तो स्वरूप है और आत्मा का स्वरूप है। तो लक्षण के भेद से, सँख्या के भेद से प्रयोजन के भेद से, समझने के भेद से उनमें भेद भी है, हो गया ना व्यवहार दृष्टि से भेद। तो अब प्रमाण की बात कह रहे कि प्रमाण के फल भिन्न है या अभिन्न? तो देखो— एक दृष्टि से तो अभिन्न हैं क्योंकि ज्ञान हुआ, उसी समय अज्ञान दूर हुआ तो अज्ञान का दूर होना कोई अलग बैठा रहता हो और ज्ञान का होना आत्मा में रहता हो, क्या ऐसा है? अरे आत्मा में ज्ञान पर्याय हुआ तो उसी के मायने हैं अज्ञान दूर हो गया। तो अज्ञाननिवृत्ति आत्मा से, या प्रमाण से या ज्ञान से भिन्न चीज न रही। अब चलो त्याग, ग्रहण और उपेक्षा। तो निश्चयतः देखा जाए तो कोई भी मनुष्य परवस्तु का न त्याग करता है, न ग्रहण करता है, न उपेक्षा करता है। जैसे किसी को अपने पुत्र से प्रीति है तो वह अपने पुत्र से प्रीति नहीं करता, किन्तु पुत्र को ज्ञान का विषय बनाकर, विकल्प बनाकर यही विकल्पों में मौज ले रहा है। प्रीति बाहर नहीं कर रहा है। आप में प्रीति का परिणाम कर रहा है। इसी तरह यह समझें कि ज्ञानी ने वाह्य वस्तु का त्याग किया तो बाह्य वस्तु का कुछ नहीं किया, वह तो भिन्न है,

आत्म पदार्थ से जुदा पड़ा है, इसका मेरे में सम्बन्ध ही नहीं है। त्याग करना किसका नाम है? बाह्य वस्तु के बारे में अज्ञान से लगाव लगाये हुए थे। यह अच्छा है, मेरा है, बढ़िया है, इस प्रकार का जो लगाव लगा हुआ था, ज्ञान प्रकाश होते ही वह लगाव मिट गया, इसी के मायने है बाह्य वस्तु का त्याग कर दिया। तो निश्चयतः वह त्याग इस ज्ञान से भिन्न रहा क्या? नहीं रहा। अभिन्न रहा। अच्छा तो ग्रहण भी बतलावो। बाह्य वस्तु का ग्रहण करना यह व्यवहार से कहा जा रहा है। व्यवहार से तो बाह्य वस्तु के ग्रहण की बात लगे या त्याग

की, उसमें तो समयभेद है और यह भिन्न है, मगर निश्चयतः ग्रहण भी क्या है? बाह्य वस्तु कोई ग्रहण करता है क्या? कोई बाह्य वस्तु मेरे आत्मा में आ सकता है क्या? अरे जो एक क्षेत्रावगाह कर्मवर्गणायें हैं, जो मेरे साथ बन्धन को प्राप्त हैं, जो मरने पर जायेंगी तो वे बांधे हुए कर्म साथ जाएंगे। इतना निकट जिसके साथ सम्पर्क लगा है उस कर्मवर्गणाका भी स्वरूप मेरें ग्रहण में नहीं आया, वह भी जुदा पदार्थ है। मैं इस तरह भिन्न पदार्थ हूँ, फिर बाहरी पदार्थ की तो चर्चा ही क्या है? कि बाहरी पदार्थ मेरे ग्रहण में आ जाएं। बाहरी पदार्थ का मैंने ग्रहण नहीं किया, किन्तु बाह्य पदार्थ को ज्ञान का विषय बनाकर उसके प्रति उसके सम्बन्ध में जो लगाव रखा जाता है उस विकल्प से पकड़ा जाता है, यह ही कुछ चिन्तन किया जाता है वही तो ग्रहण कहलाया। तो वह ग्रहण ज्ञान से अलग कहां रहा? ज्ञान में ज्ञान की वृत्ति चलती है। ज्ञान में ज्ञान का परिणमन चलता है। सो बाह्य वस्तु विषयक विकल्प उठा, उसी के मायने ग्रहण है। तो निश्चयतः ग्रहण भी भिन्न न रहा, उपेक्षा भी भिन्न न रही। उपेक्षा तो त्याग और ग्रहण से बढ़कर चीज है। बाह्य वस्तु को हितकारी अहितकारी नहीं समझ रहा है इसलिए वह समता परिणाम में है। उपेक्षा कर दी गई है, ऐसा उपेक्षा– भाव ज्ञान से भिन्न कैसे कहा जाता है। अभिन्न है फिर भी एक दृष्टि से भिन्न है। कैसे कि जब हमने जाना सूक्ष्म दृष्टि से देखा उस समय जीव त्याग नहीं करता, त्याग का समय अगला होता है। अभी तो जाना कि इसका यह नहीं है, चाहे कितना ही जल्दी उसका त्याग हो जाए, इसी तरह ग्रहण भी, इसी तरह उपेक्षा भी, तो इस दृष्टि से भिन्न समय की चीज होने के कारण भिन्न होने से अभिन्न होते हुए भी उसका प्रत्यभिज्ञान बराबर लग रहा है। इस को जिस मुझने जाना था उसने ही त्याग किया। इस वस्तु को जिस मुझने जाना था उसने ही वस्तु को ग्रहण किया। यहाँ प्रत्यभिज्ञान लग रहा है। इससे एकत्व का भी भान हो रहा है लेकिन समयभेद होने से और लक्षणभेद होने से यह कथंचित् भिन्न है। तो प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न है और कथंचित् अभिन्न है। दृष्टियों से प्रमाण का फल प्रमाण से कथंचित् भिन्न है, कथंचित् अभिन्न है। नय में भी फल होता है, नय का भी फल, नय से वह कथंचित् भिन्न् है कथंचित् अभिन्न है। सीधी इतनी बात तो जाहिर हो ही रही है कि फल के जनक तो हैं प्रमाण और नय और प्रमाण और नय से उत्पन्न हुआ है फल यों जन्यजनक–भेद से भी भिन्न है। तब ही तो इस क्रिया से भी देख लो–"प्रमाणनयैः में तृतीया विभक्ति लिया और अधिगमः में प्रथमा विभक्ति लिया। यह भिन्नता को जाहिर कर रहा है। तो यों प्रमाण का फल प्रमाण से भिन्न भी है, अभिन्न भी है। क्यों जाना जा रहा है, परिचय भी किसलिए किया जा रहा? तो बस बात एक है कि जो मैं सहज निरपेक्ष अन्तस्तत्त्व स्वतः सिद्ध जिस भावरूप होऊँ उस भाव रूप में मैं अपने को मानता रहूँ। देखों सारे संकट एकदम नष्ट हो जावेंगे, अज्ञान से विकल्प करके चिन्ता बनाकर बाह्य वस्तु को सामने लाकर हम व्यर्थ ही दुःखी होते हैं। इनसे तो हमारी उपेक्षा होनी चाहिए। ये तो सब नैमित्तिक भाव हैं ये तो हमें बर्बाद करने के लिए

आए हैं। भला बतलाओ इस जीवन में ही थोड़ा शान से जी लिया, अच्छे ढंग से खूब मौज से रह लिया, समाज में जरा अपना ढंग बना लिया, इस तरह से अपना जीवन बिता दिया इससे भी लाभ क्या मिला? जिसे आत्मज्ञान नहीं, आत्मरुचि नहीं और जो सत्यस्वरूप है आत्मा का शुद्ध सहज निरपेक्ष ज्ञानस्वरूप; उस रूप अपने आपको बनाये नहीं, परिणमाये नहीं, या उस रूप अनुभव नहीं करे, प्रतीति में न ले तो बाहरी उपाय अगर करते रहें मकान बनाया, दुकान बनाया . . . तो इसका फल क्या होगा? कुछ भी फल न मिलेगा। यह तो सब मायाजाल है। कुछ भी करें सब बेकार है। उन्हें तो समझें कि परिस्थितिवश करना पड़ रहा। एक कैदी भी तो यह सोच रहा कि परिस्थितिवश मुझे चक्की चलानी पड़ रही है, खेत खोदना पड़ रहा है, पर यह मेरा काम नहीं। इसे मैं नहीं करना चाहता। लेकिन यह तो उस कैदी से भी जबरदस्त कैदी हो रहा है कि कर रहा है और उस करते हुए में मौज मान रहा है, लगाव रख रहा है कि यह तो मेरा ही काम है, मेरे ही करने का काम है। यह मेरा नहीं तो और किसका है? यह तो तो इन लौकिक कैदियों से भी भयंकर कैदी बन रहा है तो इसका फल क्या मिलेगा? फल स्पष्ट है। संसार कारागार में ही रहेगा। कोई ऐसे भी कैदी होते कि जब जेल से छूटने की बात आती है तो वे दुःख मानते हैं कि मुझे यहाँ कितना बढ़िया आराम था, मगर अब जाना पड़ेगा। कोई कैदी ऐसे भी होते हैं कि यदि उन्हें कैद से मुक्त कर दिया जाए तो वे फिर कोशिश करते हैं कि मैं फिर उसी जेलखाने में पहुँच जाऊँ। तो यह तो उससे भी भंयकर है कैदी, जोकि इस संसार के जेलखाने से छूटने की बात ही मन में नहीं लाता। यह ही सर्वस्व है, यह ही मेरा प्राण है, ये घर के दो चार प्राणी लड़के बच्चे, यह मिट्टी का घर, यही मेरा धाम है, यही मेरा सर्वस्व है, एक भंयकर कैदी बनकर इस जेलखाने में यह रम रहा है। यह नहीं सोचता कि "राग त्यागि पहुँचूं निज धाम। आकुलता का फिर क्या काम?" अगर मैं राग को छोड़कर अपने धाम में पहुँच लूँ तो फिर आकुलता का काम नहीं रह सकता। इस संसार में किसी का कोई सहाय नहीं, किसी का कोई शरण नहीं। किसी का कोई कुछ नहीं है। आपका ज्ञान सही है तो आपको मदद मिल जाएगी। आपका ज्ञान बिगड़ गया, कुबुद्धि हो गई, विवेक खो दिया तो फिर चारा न रहा कि आप खुश रह सकें, या किसी ढंग से रह सकें। तो आप का वैभव क्या हुआ? ज्ञान का सही बनाये रहना। अपनी गलती को गलती मानना, यह ही ज्ञान को सही बनाने का रूप है। मोही जन गलतियों पर गलती कर रहे हैं, पर कब मान पाता कि मैं गलती कर रहा हूँ। इसी को तो कहते हैं मिथ्यादृष्टि। गलती करके भी गलती को गलती न मान सकना, बस यही है मिथ्यात्वका रूप। अब राग ज्ञानी भी करता, अज्ञानी भी, सम्यग्दृष्टि भी घर में रहता और राग करता, मगर सम्यग्दृष्टि तो समझता कि मैं गलती कर रहा हूँ, पर मिथ्यादृष्टि समझ सकता है क्या कि मैं गलती कर रहा हूँ। वह मिथ्यादृष्टि तो अपना एकदम सारा उपयोग लगाकर बच्चों को प्राण की तरह मानकर खिलाता है, उन्हें छाती से लगाता है, उस बच्चे की मुस्कराहट देखने के लिए

उत्सुक रहता है, उसे उस समय क्या यह बात दृष्टि में रहती है कि जो मैं इतना लगाव रख रहा हूँ यह मेरी चीज नहीं। इसका फल भयंकर है। आप देखो सब घर मरता है। ऐसा यहाँ कोई नहीं जो मरता नहीं और सब दुःखी भी होते, क्योंकि मोह लगा है।

ज्ञान पुत्र के जीवन से चैतन्यकुल की वृद्धि व श्रृंगार—एक बुढ़िया का बच्चा मर गया, एक ही बच्चा था इकलौता। वह बच्चा मर गया तो बुढ़िया बहुत दुःखी हुई। वह बुढ़िया रोती-रोती एक साधु महाराज के पास गई और बोली महाराज मैं क्या करूँ? मेरा इकलौता बेटा गुजर गया, अब तो मेरे प्राण नहीं बच सकते। तो साधु ने कहा— देख बुढ़िया, तू दुःखी मत हो, मैं तेरे बच्चे को जिन्दा कर दूँगा। बुढ़िया बहुत प्रसन्न हुई। . . . देखो जो हम कहें सो करना होगा . . . हाँ हाँ महाराज, आप जो कुछ कहेंगे वह सब करने को हम तैयार हैं। अच्छा जाबो किसी घर से एक पाव सरसों के दाने ले आवो। . . . हाँ महाराज अभी लाती हूँ। . . . अरे सुन तो सही, ऐसे घर से लाना जिस घर में कभी कोई मरा न हो। वह बुढ़िया तो बहुत खुश होकर चली। एक घर-पर पहुँची बोली— मेरा बेटा गुजर गया, उसे जीवित करने के लिए एक पाव सरसों के दाने चाहिए। . . . अरे एक पाव क्या, किलो दो किलो १० किलो २० किलो ले जावो। . . . मगर यह तो बताओ कि तुम्हारे घर में कभी कोई मरा तो नहीं। . . . अरे हमारे घर में तो न जाने कितने लोग मरे। बाबा मरे, दादा मरे, भाई मरा आदि। . . . तो फिर आपके घर से न चाहिए। दूसरे घर गई तो वहाँ भी ऐसा ही जवाब मिला। यों बुढ़िया अनेकों घर गई, पर उसे कोई ऐसा घर न मिला जिस घर में कभी कोई मरा न हो। बुढ़िया को ज्ञान जगा कि सचमुच संसार की यही स्थिति है। एक दिन सभी का मरण होता है। इतनी बात चित्त में घर कर जाने से बुढ़िया का उस पुत्र के प्रति मोह गल गया, प्रसन्न हो गई, और साधु महाराज के पास जाकर बोली— महाराज मेरा पुत्र जिन्दा हो गया। यहाँ किसका कौन? उस समय बुढ़िया को जो प्रसन्नता थी वह बच्चे के जीवित रहते हुए में न थी तो साधु महाराज बोले— क्या सचमुच तेरा बेटा जिन्दा हो गया? . . . हाँ महाराज— जिन्दा हो गया और मैं सदा के लिए कृतार्थ हो गई। अब मेरा बच्चा कभी मर नहीं सकता। जो मेरा ज्ञानपुत्र पहले मरा हुआ पड़ा था। अब यह ज्ञान जागृत हो गया तो अब सो अमर हो गया। तो भाई हर तरह प्रयत्न करके इस ज्ञान की सम्हाल करें। इस ज्ञान में दोष न आए, ज्ञान में कलुषता न आए ऐसा प्रयत्न करें तो जीवन सफल हो जाएगा, और धन कितना ही कमा लें तो भी उससे कुछ लाभ न होगा। अव्वल तो कमाने का भरोसा भी नहीं कि कल क्या होगा। आज के जमाने में तो बिल्कुल ही भरोसा नहीं। कमाकर धर लिया और अगर कोई कानून बन गया कि इतने धन से अधिक कोई नहीं रख सकता तो फिर उस अधिक धन से आपका फायदा क्या रहा? यहाँ तो लोग समझते हैं कि जिनके पास कई मकान हैं, खूब किराया आता है, मजे में रहते हैं, पर उनकी हालत तो देखो, ६५ परसेन्ट तो दे दिया टैक्स में, और भी अनेक टैक्स दिया, जब उसने हिसाब लगाया तो

बचा क्या? चार आने सैकड़ा ब्याज भी नहीं मिल रहा। तो भाई इस धन वैभव में दम क्या है? इसे तो घास फूस की तरह समझो। वह आता है तो आए, जाता है तो जाए, बस मेरा ज्ञान जिन्दा हो गया।

ज्ञान भाव में ज्ञानमय परिणतियों की सृष्टि—एक सन्यासी ऐसा था जो ज्ञान में बहुत तृप्त रहता था, ज्ञान उसे बहुत प्यारा था। ज्ञान में इतनी धुन थी कि वह संध्या सामायिक भी भूल जाता था। तो उससे किसी ने पूछा कि गुरुजी यह तो बतलाओ कि आप संध्या भी कभी-कभी छोड़ देते हैं, क्या कारण है? तो उसका उत्तर था कि सुनो भाई मेरे को दो सूतक लगे हैं। देखो किसी को सूतक लगा हो तो लोग कहते हैं कि भाई अब तुम जाप न करो, पूजा पाठ आदि न करो। तो भाई हमारे भी दो सूतक लगे हैं इसलिए हम कभी-कभी संध्या भी छोड़ देते हैं। . . . अरे आपको सूतक कैसे लगे? आप तो घर गृहस्थी से दूर हैं। . . . सुनो वे दो सूतक कौन हैं? एक तो मेरी मोह रूपी माता मर गई है इसका सूतक है, और दूसरे ज्ञानरूप बेटा पैदा हो गया है इसका सूतक है। सूतक तो मरने में भी लोग मानते और पैदा होने में भी लोग मानते। यह बात एक अलंकार रूप में कही गई है। भाव उसका यह है कि जिसे किसी प्रकार की ममता नहीं और जिसको एक ज्ञानतत्त्व जागृत हो गया है ऐसा पुरुष तो ज्ञानस्वभाव में ही रत रहा करता है। वहाँ ही तल्लीन रहा करता है। जिनकी समाधि निरन्तर चलती रहती है, जिनका आत्मबोध बिल्कुल स्पष्ट सामने रहता है उनकी बाह्य क्रियाएं कभी हो पाती कभी नहीं, उनका दोष क्या है? यह एक अलंकार की बात है। बातें दो होनी चाहिए— एक तो ममता मरे और दूसरे— ज्ञान पैदा हो। ये दो बातें जिसे मिल गई उसे सदा प्रसन्ता है। ममता मरने के मायने मिथ्यात्व मर गया। मिथ्यात्व कब होता है, जब अज्ञान रहता है और किसी पर वस्तु को अपना स्वरूप माना जाता है। ममता जिसकी मरी उसके स्वच्छ ज्ञानप्रकाश हो गया। जिसे ज्ञान प्रकाश हुआ उसे स्पष्ट बोध है। प्रत्येक द्रव्य, प्रत्येक जीव अन्य समस्त जीवों से और समस्त पुद्गल आदि द्रव्यों से अत्यन्त भिन्न है। किसी का स्वरूप किसी दूसरी वस्तु में नहीं जाता। किसी का द्रव्य क्षेत्र, काल भाव किसी दूसरे द्रव्य में नहीं जाता। प्रत्येक पदार्थ अपना ही स्वरूप लिए हुए है, अपना ही एकत्व लिए हुए है और अपने आपमें अपनी पर्याय करता जाता है। किसी दूसरे को प्रवेश कराके पर्याय उत्पन्न नहीं करता। ऐसा वस्तु का स्वरूप है। ऐसी वस्तु की स्वतन्त्रता का उसके प्रकट भान है, ऐसा ज्ञानी पुरुष अगर बाहरी क्रियाओं में कभी कुछ भूल कर जाए तो बतलाओ उसका क्या दोष है? यह सन्यासी का उत्तर था कि मेरे दो सूतक लग गए। तो ये दो बातें अपने में आनी चाहिए ममता से दूर हों और ज्ञान प्रकाश प्रकट हो। ममता कई प्रकार की होती है, घर की, धन की, कुटुम्ब की, शरीर की, अपनी इज्जत की, अपने वचनकी, अपनी शान की यों अनेक प्रकार की ममता होती है। जिसे मुक्ति चाहिए हो उसे सारी ममताओं को छोड़कर यह अनुभव करना होगा कि मैं सबसे निराला एक ज्ञानमात्र अन्तः प्रभु हूँ। ऐसा अनुभव करें

और यह विकल्प छोड़ दें, यह श्रद्धा छोड़ दें कि मैं अमुक का बाप हूँ, अमुक का बेटा हूँ, अमुक जगह का रहने वाला हूँ, सारी बातों का परित्याग करें, और एक चित् प्रकाश मात्र शुद्ध चैतन्य स्वरूप यानी जिस में किसी पर वस्तु का प्रवेश नहीं, ऐसा सर्वसे निराला रहने वाला मैं चैतन्य प्रभु हूँ, ऐसी श्रद्धा होगी तो उसके अनुरूप अपनी पर्याय बनेगी।

अज्ञान भाव में अज्ञानमय परिणतियों की सृष्टि—देखो लोहा है और लोहा से कोई चीज बनेगी तो लोहामय ही बनेगी और सोना से जो चीज बनेगी वह सोनामय ही बनेगी। तो जब भीतर में अज्ञान– भाव लगा लिया है तो जो भी चेष्टा होगी वह अज्ञानभरी चेष्टा होगी, बताते हैं ना अपभ्रंशमें कि **पंडितः शत्रुर्भलो, न मूर्खो हितकारकः**, यानी पंडित अगर शत्रु है तो उससे मेरे को खतरा नहीं और अगर मित्र मूर्ख है तो उससे मेरे को खतरा है, तो इसी तरह अगर अज्ञान भाव है तो जो भी चेष्टा करेगा, अगर धर्म के नाम पर भी कोई काम करेगा तो वहाँ भी अज्ञानचेष्टा है धर्मचेष्टा नहीं हो रही, और अगर भीतर में ज्ञान प्रकाश है, अपने इस ज्ञान स्वरूप को मान लिया कि मैं यह हूँ, ऐसी अगर ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व की प्रतीति बन गई तो आपका चिन्तन, पूजन बन्दन आदि सारी क्रियाएं ज्ञानमय होंगी, अज्ञानमय न होंगी। तो मेरा विवेक, विशुद्ध ज्ञानप्रकाश यही मेरा शरण है। यही मेरी मदद कर सकने वाला है। ज्ञान को छोड़कर मेरा कोई मददगार नहीं। चाहे आज से शरण गह लें ज्ञान की तो अभी से सुखी हो गए। और अगर भवितव्य अच्छा है तो जब से चाहो शरण गहो, दुःख मिटालो, पर दुःख मिटेगा एक अपने ज्ञानस्वरूप की शरण गहने से, अन्य उपाय से दुःख न मिटेगा।

अध्यवसायी ज्ञान में प्रमाणत्व—जानकारीका परिचय कर लीजिए। जानकारी में निर्णय हुआ करता है। जहाँ निर्णय नहीं, निश्चय नहीं उसे जानना तो नहीं कहते, लेकिन आप आश्चर्य करेंगे कि एक दार्शनिक ऐसा है कि जो जानने को अनिश्चयात्मक कहता है यानी जहाँ निश्चय न हो, निर्णय न हो वह तोकहलाता है सही जानना याने प्रमाण और जहाँ निश्चय बना उसे कहते हैं विकल्पज्ञान, अप्रमाण। आप सोच रहे होंगे कि यह बात कुछ आफत सी लग रही है कि जहाँ निश्चय हो, निर्णय हो उसे तो कहते हैं मिथ्याज्ञान, विकल्पज्ञान और जहाँ निश्चय नहीं हो पाता, निर्णय नहीं हो पाता ऐसे ज्ञान को कहते हैं प्रमाण ज्ञान। ऐसे कुछ दार्शनिक हैं, वे दार्शनिक हैं क्षणिकवादी, क्षणिकवाद के सिद्धान्त में बताया है कि जिस समय ज्ञान किया जा रहा है उसी समय जो पदार्थ है सो पदार्थ भी उत्पन्न हो रहा है, उत्पन्न होते ही दूसरे क्षण रहता नहीं, क्योंकि क्षणिकवादियों के यहाँ पदार्थ एक क्षण भर के लिए रहता है, दूसरे क्षण में मिट जाता है। तो जिस क्षण में पदार्थ उत्पन्न हो रहा, ज्ञान भी उसी क्षण बन रहा। तो उत्पन्न हो रहे पदार्थ का निर्णय उत्पन्न हो रहा ज्ञान न कर सकेगा, इसलिए जो अध्यवसायी ज्ञान है जहाँ निश्चय नहीं बस रहा है, ऐसी जो झलक है, ऐसी जो जानकारी है उसे कहते हैं प्रमाण और उसके बाद दूसरे समय में एक निर्णय आता है, निश्चय आता

है कि यह पदार्थ यह ही है। उस समय पदार्थ है नहीं सो असत् का विकल्पक विकल्पज्ञान एक मिथ्याज्ञान है। निर्विकल्प ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान है। किन्तु आचार्य देव यहाँ यह बतला रहे हैं कि अधिगम व्यवसायात्मक होता है। जानना उसे कहते हैं और भले ही निर्णय मति श्रुत ज्ञान वाले जीवों का अन्तमुर्हूर्त में होता है, किन्तु जहाँ निश्चय पड़ा हुआ है वह तो है सम्यग्ज्ञान, प्रमाण और जहाँ निश्चय नहीं है वह है अप्रमाण।

आत्महित के लिए ज्ञान पौरुष की भावना—देखो भैया! हमें अपने आपके लिए क्या सोचना है। हम अपने आपका सही ज्ञान करें और प्रमाण में आ जाएं, अनुभव में उतर जाएं, इस तरह ज्ञान करें। देखिए जैसे कहते हैं— शैलविहारी या स्वच्छन्द। हम जानने का तो काम करते रहते हैं मगर जिम्मेदारी के साथ एक आत्महित की भावना के साथ हम जानकारी का काम नहीं करते, किन्तु जैसे मन स्वच्छन्द हुआ है, मन जिस विषय की ओर लगने को होता है बस उस ओर ही हम जानकारी की रुचि लगाते हैं, लेकिन आत्मा के परिचय बिना कभी भी शान्ति नहीं हो सकती। अगर इस जीवन में भी, इस लोक में भी हम शान्ति चाहते हैं तो हमें आत्मज्ञान करना आवश्यक है। देखिए धन, यौवन सम्पदा, जीवन सब कुछ विनश्वर है। कुछ भी नहीं सदा टिकने का, जीवन भी नहीं रहने का, वैभव भी नहीं रहने का। यह संग कुटुम्ब यह भी नहीं रहने का लेकिन मैं आत्मा—आप आत्मा सोच लीजिए, यह कभी मिट न सकेगा। यों तो जगत में जो भी पदार्थ हैं वे मिटते नहीं। यह तो एक कहने की बात है कि धन विनश्वर है, मिट जाएगा। धन कैसे मिट जाएगा? यह पुद्गल परमाणुओं से कागज बना, रूपया बना सोना चाँदी बना वे परमाणु क्या मूलतः नष्ट हो जाएंगे? अरे आपके पास न रहे तो आप उसे मिटा कहते हैं। जगत का कोई पदार्थ नहीं मिटता। सब बराबर बने हुए हैं। अनन्त काल तक रहेंगे। एक परमाणु न मिटेगा, एक जीव भी न मिटेगा। सब रहेंगे, पर यहाँ मोह में यह कहते हैं कि लड़का उत्पन्न हो गया और वियोग हो गया तो कहते कि मर गया। तो वियोग की ही बात देखलो— जिन जिनका समागम हुआ है उनका वियोग नियम से होगा जिसका वियोग हो गया उसका संयोग हो अथवा न हो, दोनों ही बात हैं, लेकिन जिसका संयोग है उसका वियोग नियम से है। इसमें जरा भी असत्य बात नहीं। ध्रुव सत्य है। जिस पर द्रव्य का संयोग है उसका वियोग अवश्य है। फिर बतलाओ धन के खातिर तो मायामय जीवों को प्रसन्नता के ही खातिर या अपने आपकी कल्पना से बड़ा समझ लिया जिस वैभव के प्रसंग से उसके खातिर या कुटुम्ब के खातिर व्यर्थ का मोह लगाकर यह ही मेरा सर्वस्व है, उनको तो खूब ऊँचा करना चाहिए, इनको खूब पढ़ा लें, आप उन कुटुम्बियों के लिए खूब धन कमाकर रख देना चाहते, देखो, कैसा आप उन कुटुम्बियों के नौकर बने हुए हैं। उनके पुण्य का उदय है जिससे आप को उनकी नौकरी तो करनी ही पड़ेगी। तो कुछ भी चीज सदा रहने की नहीं है, यह बात तो निश्चित है, तब फिर देखो सब ज्ञान ही ज्ञान की बात है। तपश्चरण करने की बात नहीं कह रहे। व्रत, संयम नियम की बात

नहीं कह रहे, देखो चीज छोड़ो, यह कुछ नहीं बतला रहे। यहीं बैठे-बैठे आपके भीतर में जो आपका ज्ञान है उस ज्ञान का प्रयोग करने के लिए कह रहे हैं। जरा उस ज्ञान के द्वारा भीतर में यह तो जानो कि जो जानने वाला है वह ज्ञानस्वरूप है। और वह अपने ज्ञान के द्वारा अपने आपको जानता है ऐसा मैं ज्ञानमय पदार्थ हूँ, सदा रहूँगा।

विषय कषाय के परिहार में ही ज्ञान की वास्तविकता—ज्ञानमय निज पदार्थ का किसी दूसरे पदार्थ के साथ रंच भी सम्बन्ध नहीं किसी भी जीव के साथ। पर मोह और राग की बलिहारी तो देखो, जितना परिचय हुआ है, जिसे अपना मान रखा है, ऐसा लगता है कि यह ही मेरा सर्वस्व है और है कुछ नहीं। अचानक वियोग हो जाता है, और देखो जहाँ दुःख है, जहाँ वियोग है, जहाँ कष्ट है वहाँ भलाई हो सकती। जहाँ कष्ट नहीं, जहाँ दुःख नहीं वहाँ भलाई नहीं हो सकती। सिद्धान्त के अनुसार देखो कर्मभूमि में ये कष्ट हैं, वियोग है तो मोक्षमार्ग यहाँ से चलता है। भोगभूमि में कष्ट नहीं, वियोग नहीं। देवगति में कष्ट नहीं, वियोग नहीं, वहाँ से मुक्ति नहीं होती। कष्ट से घबड़ाना क्या? कष्ट आता है तो जरा भेद विज्ञान कर लो— मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, मेरे में तो कुछ भी नहीं आया, यह बाहर की बात है। बाहर की रह गई है, इससे मेरा क्या ताल्लुक। जरा ज्ञान तो बनाओ, कष्ट कहाँ रहता? ज्ञान ही साथी है। चाहे आज आदर कर लो ज्ञान का और जब मन में आ जाए तब करना, मगर ज्ञान का आदर किए बिना शान्ति का रास्ता कभी नहीं पा सकते। कितनी सरल बात है, कितनी सुगम बात है, कितनी महान बात है। मेरा यह ज्ञानस्वरूप, यह भगवान आत्मा मेरे ज्ञान के द्वारा जानने में आता। यह ही तो मैं हूँ। सबसे निराला हूँ, अपने आपकी निधि वाला हूँ। ज्ञान करने में कोई कठिनाई तो नहीं आती। अगर मोह मिथ्यात्व विषय का दमन करना चाहते, झट समझ में आ गया कि यह मैं ज्ञानमात्र आत्मा यही भगवान है, यही मैं सर्वस्व हूँ। देखिए ये भंवरे कई तरह के होते हैं। कुछ तो ऐसे होते हैं जो अच्छी सुगन्ध पर ही रहते हैं और जो अच्छा पराग हो उस पर ही मंडराया करते हैं। और कुछ ऐसे देखा होगा कि गोबर की गोलियां बनाकर उसी को ही गोल-गोल करते रहते हैं, उसी में खुश रहते हैं, और वे भी भंवरे हैं, उड़ने वाले हैं, मगर उन्हें गोबर की गोलियां ही पसन्द हैं। और कुछ भंवरे ऐसे होते हैं कि जिनको बड़े अच्छे-अच्छे पुष्पों का सुगन्ध ही पसन्द है। आप देखिए— ऐसे ही मोही जीव हैं, उनको पर पदार्थ का राग वाला ज्ञान ही पसन्द है। ज्ञानी पुरुष कोई ऐसे विलक्षण नहीं होते कि उनके हाथ पैर और तरह के होते हों, सिर और तरह का होता हो। जैसे बारात में दुल्हा अलग से पहचान लिया जाता है ऐसे ही ज्ञानी पुरुष कोई शक्ल सूरत से अलग पहचान लिया जाता हो ऐसी बात नहीं। मनुष्य ही क्या, प्रत्येक मन वाले जीव जैसे पशु, पक्षी, ये ज्ञानी हो सकते हैं। जिसके मन है वह ज्ञानी हो सकता है। जिसको अपना ज्ञानस्वभाव रुच गया—मैं तो यह हूँ, उस ज्ञानस्वभाव की आराधना में ही मेरा कल्याण है। अब तक जितने जीव सिद्ध भगवान बने हैं वे ज्ञानस्वभाव की आराधना के फल में ही बने

हैं। देखो भाई जैसे कोई पुरुष बूढ़े पिता की बचनों से भक्ति करे, खाने से भक्ति करे, कोई चीज से भक्ति करे, सब कुछ करे पर एक उसकी आज्ञा न माने, उल्टा गालियां दे तो वह पिता का भक्त कहलायगा क्या? एक रीति रिवाज है, कोई भाई बुरा न कह दे, कोई पड़ौसी यह न कहदे कि यह अपने बापको खिलाता भी नहीं इसलिए उसे खिलाता है, पर इसका कहना नहीं मानता, बल्कि उल्टा-उल्टा चलता है, उसके हृदय में अपने आपके प्रति अनुराग भी नहीं है तो वह पिताकी भक्ति कहलाती है क्या? ऐसे ही हम मन्दिर भी आते हैं, चावल भी चढ़ाते हैं, दो चार काम भी कर आते हैं पर भगवान का जो मार्ग है, मार्ग तो वही सच्चा है। ज्ञानस्वभाव की आराधना के मार्ग से ही प्रभु सिद्ध हुए हैं। धन्य है उनकी वर्तमान निर्मल दशा और मेरे को यह ही कर्त्तव्य है तब ही मैं भगवान का सच्चा दास हूँ। इस प्रकार भगवान के स्वरूप में और भगवान ने जो काम किया, जिस मार्ग से चले उस मार्ग में अनुराग नहीं और उस मार्ग पर चलने की अपनी भावना नहीं तो समझो कि सारी भक्ति उसकी उस प्रकार है जैसे कोई अपने बूढ़े बाप को खाना तो दे मगर उसकी आज्ञा नहीं मानता, उसके प्रति हृदय में अनुराग नहीं है। उस तरह की बात है।

आत्मदया के अर्थ ज्ञानोपासना की आवश्यकता—आत्मानुशासन में लिखा है कि चित्त साध्यान् कषायारीन्न जयेद्ययत्तदज्ञता। अर्थात हे नवाब साहब, हे बड़े आराम की धुन रखने वाले पुरुष, कुछ अगर तपस्या न बने तो न करो, कोई कष्ट न सहो, लेकिन कषाय बैरियों का जीतना केवल एक चित्त साध्य है, ज्ञानसाध्य है और यह ज्ञान द्वारा जो बात बन सकती है, विचार द्वारा ही जो बात बन सकती, महान कषाय अरि को जीतने की। सो यदि ऐसा ज्ञान न आये, अरि को न जीता ज्ञानबल से तो तुम्हें मूढ़ कहेंगे। हम नहीं कहते कि तपस्या करो किन्तु शुद्ध ज्ञान की कृपा से कषाय पर विजय होती है उस शुद्ध ज्ञान के बल से कषायपर विजय न प्राप्त करें तो वह मूढ़ता है। मोंह बड़ा प्रबल है। कुछ तो सोचो अपने आप में। देखो दिन भर भी गलती करो मगर कभी एक मिनट भी एक इस भगवान आत्मा की दृष्टि बन जाए कि मैं तो यह हूँ। रात दिन के २४ घन्टे में जो मैंने विकल्प किया, बाहरी पदार्थों में दृष्टि दी, उस ओर ही आकर्षण रहा, तो वह मेरा काम नहीं है। वह मेरे कुल के अनुरूप बात नहीं है। मेरा कुल तो चैतन्य है, मेरे कुल की रीति है। बाकी जो कुछ किया है वह कर्म का विपाक है। यह मेरा काम नहीं। एक मिनट भी अगर अपने आपकी ओर दृष्टि जाए तो समझो कि वह जीवन धन्य है। एक कथानक आया है कि एक राजा पर किसी शत्रु ने चढ़ाई कर दी तो राजा तो सेना सजाकर शत्रु पर विजय प्राप्त करने चला, इधर रानी को राज सिंहासन दे दिया कि रानी राज्य करे। इसी बीच में मौका पाकर किसी दूसरे शत्रु ने उस राज्य पर आक्रमण कर दिया तो रानी ने सेनापति को बुलाया, वह सेनापति जैन था। रानी बोली हे सेनापति देखो अमुक शत्रु ने आक्रमण कर दिया है, तुम सेना सजाकर उस पर विजय करो। वह जैन सेनापति सेना सजाकर चल दिया, दूर स्थान था तो रास्ते में शाम हो

गई ! रात के ७ बज गए। तो उस समय उसे इतना मौका न मिला कि वह हाथी से उतरकर नीचे सामायिक करे। सामायिक करने का उसके नियम था। देखिए कुछ समय पहले युद्ध करने का समय नियत रहा करता था कि इतने समय तक युद्ध चालू रहेगा, इसके बाद बन्द हो जाएगा, तो वह सेनापति हाथी पर बैठा हुआ सामायिक करने लगा। सामयिक करते समय प्रतिक्रमण पाठ में वह एकेन्द्रिय, दो इन्द्रिय, तीन इन्द्रिय, आदि जीवों से अर्थात पेड़ पौधा, कीड़ा मकोड़ा, मक्खी मच्छर आदि जीवों से माफी मांग रहा था— किसी भी जीवों को मेरे द्वारा बाधा पहुँची हो तो माफ करो किसी चुगलखोर ने यह बात रानी के पास जाकर कह दी कि आपने तो ऐसा सेनापति भेजा कि जो पेड़ पौधा, कीड़ा मकोड़ा आदि से भी माफी माँगता है, वह क्या युद्ध में विजय प्राप्त करेगा। इधर क्या हुआ कि ७ ही दिन में विजय प्राप्त करके वह सेनापति आ गया। तो रानी कहने लगी कि— हे सेनापतिः मैंने सुना था कि तुम पेड़ पौधा, कीड़ा, मकोड़ा, मक्खी, मच्छर वगैरह छोटे-छोटे जीवों से भी माफी माँग रहे थे, पर तुमने कैसे युद्ध में विजय प्राप्त कर लिया? तो सेनापति बोला— महारानी जी सुनो मैं आपका २३ घन्टे का सेवक हूँ। उतने समय तक आपका जी जान लगाकर काम करने को तैयार रहता हूँ। रात को काम पड़ जाए, हर समय मैं आपका नौकर बना रहता हूँ, पर एक घन्टा मैंने अपने आपकी (आत्मा की) सेवा के लिए रखा है। मेरे आत्मा की सेवा इसी तरह होती है कि किसी भी आत्मा को मेरे द्वारा कष्ट पहुँचा हो तो क्षमा करना, ऐसी भावना बनायें। तो वह मेरी आत्मसेवा का समय था इसलिए मैं सभी जीवों से माफी माँग रहा था, लेकिन जब आपके काम में कर्त्तव्य का समय आया तो मैंने पूर्ण बल के साथ युद्ध का काम किया और विजय प्राप्त हुई। तो ऐसा हम आपभी समझ लें कि हम २३ घन्टे तो औरों के नौकर, कुटुम्ब के नौकर, नौकर के नौकर बने रहें, मालिक मायने क्या? जो नौकर का नौकर हो। अरे उन नौकरों को खिलाना, वेतन देना, उनकी गृहस्थी चलाना, यों नौकरों की भी नौकरी करनी पड़ती। उसी मालिक को। तो २३ घन्टा तो हम सब कुछ करें मगर एक घन्टा तो अपने आपकी सेवा में लगायें, आत्मा की आराधना में लगायें, ज्ञानस्वरूप की उपासना में लगायें। तब मेरा भला है, ऐसी धारणा बना लेवें और दुर्लभ इस मानव जीवन को सफल कर लेवें।

ज्ञाता द्रष्टा रहने का कर्त्तव्य—मेरा काम है ज्ञातादृष्टा रहना। रागद्वेष करना मेरा काम नहीं। जैसे कोई बुरा करता है ना तो भीतर से उसका आत्मा गवाही दे देता है कि यह काम बुरा है और अगर करे तो वह उसके कर्म का तीव्र उदय है। काम कर भी बैठें तो भी भीतर में एक आवाज़ आती है कि यह काम बुरा है जरा भी रागद्वेष करें। बाह्य पदार्थ से मोह करें, बाह्य पदार्थ से प्रीति करें, यह ही सब कुछ मेरा हितकारी है, ऐसी श्रद्धा में बात लावें तो झट गवाही देगा अपना आत्मा कि यह काम मेरा नहीं है। यह मेरा उचित काम नहीं है। मेरा उचित काम तो है ज्ञाता द्रष्टा रहना ! ऐसी अपनी एक स्थिति बनाने की सोचें।

देखिए– बड़ा तो सब बनना चाहते। अच्छा– बड़े तो बनें आप, मगर ऐसे बड़े बने कि जिससे बड़ा और कुछ नहीं हो सकता। सब से बड़ा कौन? प्रभु, भगवान। अरहंत और सिद्ध। सशरीर परमात्मा और अशरीर परमात्मा। तो ऐसा ही बड़ा होने का मन में विचार आना चाहिए और वह विचार बनेगा। वह उपाय बनेगा धीरता से, गम्भीरता से, अपने आपमें गुप्त ही गुप्त। एक बड़ी सौम्यता के साथ, समता के साथ, जहाँ भावुकता न हो ऐसी वृत्ति के साथ जहाँ भावुकता न हो, क्षोभ न हो, ऐसी वृत्ति के साथ बनेगा अपने आत्मा के कल्याण का उपाय। भाई बात बिल्कुल निश्चित है, कषायों से बर्बादी है। कषाय नहीं तो आत्मा को शान्ति है। और शान्त पुरुष सदा प्रसन्न रहता है, सुख से रहता है। सुख मिलेगा कषाय न करने से। कषाय करने से आज तक किसी ने भी शान्ति नहीं पायी। पा नहीं सकते। कषाय का अर्थ ही यह है जो आत्मा को कसे अर्थात् दुःख दे। कषाय से विजय न मिलेगा। विजय मिलेगा तो अपने आपके मन पर विजय प्राप्त करने से। उसका अभ्यास कुछ तो होना चाहिए, उसकी कभी चर्चा भी तो कर लेना चाहिए। जब परस्पर मित्र मिलते हैं, जो पहले से मित्र बने हुए हैं उस मित्रता का ढांचा बदल लीजिए। मित्र तो वही रहें पर ढांचा बदल दीजिये। कभी बैठकर परस्पर में आत्महित की बात भी तो कर लिया करें।आप सच्चे मित्र बन जाएंगे। और आत्महित की बात तो कभी रंच करेंगे ही नहीं, और बस विषयों के परिग्रह की यहाँ वहाँ की निन्दा की और बात कर अनेक गप्प करके मित्रता का नाता निभा लेंतो उसमें वास्तविक मित्रता नहीं। वास्तविक मित्रता तो इसमें है कि वहाँ आत्महित की बात रखें, अपना कल्याण हो, मित्र का कल्याण हो, तो बस भेद विज्ञान की बात उसमें आ जाती है। भेदविज्ञान की चर्चा करें उनसे, मैं आत्मा हूँ, स्वयं हूँ स्वतः सिद्ध हूँ, परिपूर्ण है, ज्ञानानन्द का निधान हूँ। मैं अपने आप में अपने आप ही परिणमता रहता हूँ। मेरा किसी दूसरी वस्तु से रंच भी सम्बन्ध नहीं। समग्र पर वस्तुओं का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उनका उनमें ही है। कोई परिणतियों का लेन देन नहीं। मैं एक स्वतन्त्र जीव पदार्थ ऐसी दृष्टि करो मित्र ऐसा मित्र को सम्बोधो, अपने आपको भी सम्बोधो और ऐसी मित्रता निभावो कि जहाँ संसार के संकट सदा के लिए दूर हो जाएं, ऐसा उपाय बताओ। वह है मित्रता। आपको घर में प्यार है, स्त्री से प्रीति है, पुत्र से प्रीति है, तो वास्तविक प्रीति आपकी कब कहलायेगी कि जब मोक्षमार्ग की बातें सुनायें। समर्थन करें। उसमें उत्साह बनावें। जीवन क्षणभंगुर है, इसलिए जल्दी धर्म की बात करलो। "जब तक न रोग जरा गहे, तब लो झटिति निज हित करो।" इस तरह से स्त्री को समझाओ, बच्चों को समझाओ, खुद भी वैसा जीवन बनाओ।

संयुक्ता को अविश्वास्य समझकर धर्मानुराग करने का अनुरोध—जिन-जिनका संयोग हुआ है। उनका वियोग अवश्य होगा। अगर आपको प्रीति उत्पन्न हुई है तो ऐसी प्रीति बनाओ कि जिससे भविष्य में भी शान्ति मिले। प्रीति निभावो तो ऐसी कि जिससे सभी चलें उस मार्गपर और बहुत-बहुत दिल में जो यह बात कोई रखता हो कि मेरे को तो

बहुत काम पड़ा है। कमाई का काम पड़ा है, व्यापार का काम पड़ा है, फुरसत नहीं मिलती तो यह भ्रम भी जरा छोड़ दीजिए। आपके पूर्व पुण्य का उदय है। इसलिए कमाई का फल मिल जाता आपको। थोड़ा बहुत कमायी करते हैं, प्राप्ति होती है वह पूर्वकृत पुण्य का फल है। धर्म का फल है कि जिस धर्म से, जिस पुण्य से वर्तमान में एक माने हुए सुख के साधन मिल जाते हैं। वर्तमान में भी अगर हम धर्म करें, पुण्य करें, समय निकालें और कुछ तत्त्वचर्चा हो, ज्ञान आराधना में, सत्संग में, गुरुसेवा में, अन्य-अन्य कर्त्तव्यों में अगर हम अपना समय लगायें तो हमारे में कमी नहीं आयी। बल्कि पुण्य रस बढ़ेगा। और बड़े-बड़े सेठ ऐसा ही करते हैं। जो बहुत ऊँचे धनिक हैं, प्रायः देखा होगा कि वे व्यापार के काम में २४ घन्टा समय नहीं लगाते, अगर वे २४ घन्टे उसकी धुन में रहें तो उनका दिमाग फट जाएगा। तो उनको थोड़ा सत्संग में भी समय लगाना पड़ता और अच्छे काम में भी समय लगाना पड़ता तब उनका दिमाग रह पाता, नहीं तो फट जाएगा। इतनी बड़ी उल्झन रहती है बड़े पुरुषों को और उनको देखो तो बराबर लाभ होता रहता है। दशलक्षण के दिनों में बहुत-बहुत धर्मसाधन करते हैं, फिर भी कमाई का काम चला करता है, हमें आप बतलाओ उन दश धर्मों के दिनों में फर्म में कोई घाटा पड़ा क्या? बल्कि देखा होगा कि उनको उसमें कुछ हानि नहीं होती, किन्तु एक उत्कर्ष का मार्ग और निकल आया। तो यह नौकरी कर रहे हैं। घर के जितने लोग हैं, परिवार के लोग उनकी नौकरी और फर्म में जितने नौकर हैं उन सबकी नौकरी और खुद के लिए दो रोटी दो कपड़े, सिवाय इसके और क्या करते हैं एक लोक नाते से? बाकी तो सबके लिए ही किया जा रहा है। किया क्या जा रहा है, हो रहा है, उनका उनके योगानुसार आपके बिना तकलीफ के होता है, होने दो, मगर चित्त में तो बिल्कुल फक्कड़ सा होना चाहिए। मेरा कुछ नहीं है। जिसका जैसा भाग्य है वैसा होता है, उसके अनुसार चलता है। मेरा कुछ नहीं है, ऐसा अपने चित्त में उपेक्षाभाव वाले अन्तः सन्यासी बना रहना चाहिए। उसमें एक शान्ति का मार्ग मिलेगा। जैसे कल्याण हो सकता है वे सब उपाय इससे प्राप्त होंगे।

अकर्तृत्वभाव की उपासना—उपयोग ही मेरा स्वरूप है। जानना, लगना, समझना, विचारना, भीतर देखे वह जानन, प्रतिभास करना, विचार करना, सोचना विकल्प होना बस यह ही मेरे में वृत्ति चल रही है। एक चक्की चला करती है। इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं करता। बतलाओ बाहर में मैं क्या करता? किसी ने मानो कोई उत्पादन किया, मान लो कपड़ा सिया तो बताओ इसमें इस आत्मा ने क्या किया? उसने तो कल्पना किया, विचार किया, तर्क विकल्प किया, फिर इसके बाहर निमित्त नैमित्तिक भाव सेवह सारी बात चलने लगी, कपड़ा सिल गया। ज्ञान किया, इच्छा किया, आत्मा में योग परिस्पंद हुआ, उससे शरीर की वायु चली, उसके अनुरूप अंग चले और उसके अनुरूप बात चली। लो कपड़ा सिल गया। जो भी काम होता है वह निमित्त नैमित्तिक भावपूर्वक होता है, उस में कोई कुछ नहीं

करता। मैं तो अपने आपका कर्त्ता हूँ। परम विश्राम लें, अपने आपके निज अन्तः स्वरूप पर दृष्टि तो करें, यह है अपनी सच्ची दया। जैसे कभी होता है ना कि जो बुद्धिमान लोग हैं वे इसमें सन्तोष करते कि लो किसी का कुछ हो मैंने तो अपना काम बना लिया। मैंने तो इतना अपना फायदा कर लिया। जो भी उसके चित्त में फायदे की बात है तो ऐसे ही यह समझें कि इस प्रकार उस जीव का जो कुछ होता है हो, मैं तो अपना फायदा निकाल लूँ, अपनी अन्तः दृष्टि बनाकर अपने स्वरूप की उपासना करके अपने आपके कल्याण का मार्ग तो बना लूँ, इस ओर अपनी दृष्टि होनी चाहिए। आत्महित का उपाय बना लेना एक बहुत बड़े महत्व की बात है, इससे बढ़कर समस्या इस जीवन में नहीं है। जो कोई समझता है कि घर में तो बड़ी समस्या है धर्म के लिए हमें समय नहीं मिलता। अरे खास समस्या तो धर्म करने की है, क्योंकि आगे भव-भव में दुःखी होना पड़ेगा। यहाँ की समस्या क्या है? अगर कुछ काम ढीला पड़ गया तो पड़ गया, लोगों के बन्धन से क्या मेरा बिगड़ गया। कुछ नहीं बिगड़ गया। अगर एक धर्म से न रहे, तत्त्वज्ञान में न आए, आत्मा की चर्चा में न आ सके तो मेरा सब कुछ बिगड़ गया। बिगड़ा है अपने आपकी भूल करने से। बाहरी पदार्थों का कितना ही संग्रह किया जाए, श्रृंगार किया जाए, बढ़ाया जाए, प्रगति की जाए उससे मेरा लाभ नहीं है। मेरा लाभ तो आंकिञ्चन्य रहने में है। मेरामात्र यह मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। बाहर में मेरा कहीं कुछ नहीं है, ऐसा अपना परिणाम बने, ऐसी हमें जानकारी बने, उस जानकारी को पाने के लिए हमें जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, सम्बर, निर्जरा और मोक्ष इन सबका स्वरूप समझना होता है, आंशिक स्वरूप, सर्वांश स्वरूप, वस्तुस्वरूप निश्चित हो, मोह दूर हो तो कल्याण होगा। दृश्यमान समागम को क्या उपयोग में लेना?

स्नेहभाव के हटते ही आनन्द विकास की साहजिकता—एक खिलौना मेंढक का आता है, जिसमें नीचे एक पट्टी लगाते हैं उसमें चिपकाओ तो वह चिपकी चीज कब तक रहेगी? तो उसपर एक मेंढक बना रहता है, आखिर वह चिपक जब छूटती है तो वह मेंढक उछल जाता है। उछलने के लिए तो वह तत्पर ही रहता, चिपका हुआ होने के कारण नहीं उछल पाता, जहाँ वह चिपक छुटी कि झट उछल गया। कुछ किवाड़ भी इस तरह के स्प्रिंगदार आते हैं कि जिन्हें खोलकर पकड़े रहें तब तो खुले रहेंगे नहीं तो वे बन्द होने के लिए सदा तत्पर रहते हैं। छोड़ा नहीं कि झट अपने आप बन्द हो जाते हैं। तो जैसे वह खिलौना तो मेढक को उछालने के लिए ही तैयार है, अथवा वह किवाड़ स्वयमेव बन्द होने के लिए ही तैयार रहता है ऐसे ही समझिए कि हम अपने आपमें ऐसा उत्साह बनायें कि मैं तो ज्ञान और आनन्द के विपाक का लिए हुए हूँ, उसे हम छल करके, अन्याय करके, पर लक्ष्य करके दबाये हैं। फल उसका यह है कि विपरीत काम कर रहे हैं। जरा उस विपरीत काम को छोड़ दें, फिर कल्याण और स्वच्छता पाएंगे। वह तो हमारे हाथ में है। वह ज्ञान बाहरी चीज नहीं है। जो लोग कुछ शास्त्र बाँचते हैं, सुनते हैं, ध्यान करते हैं भक्ति करते हैं, धर्म

करते हैं यह सब किसके लिए? वह मामला तो सारा तैयार पड़ा है उसमें कमी कुछ नहीं है। बस इतना जबरदस्त व्यामोह बसाकर उसको पकड़ रखा है। इसकी पकड़ छोड़ें तो मामला हमारा अपने आप प्रकट हो जाएगा। तो ऐसी हम अपने आपके विषय में जानकारी की बात पहले बनायें और सबसे मित्रता का वातावरण ऐसा बनायें कि ऐसा सोचें कि मेरे मित्र विशेषकर धर्ममार्ग में लगें, तुमको पूजा की रुचि हो, तुम को स्वाध्याय की रुचि हो, तुमको सामायिक करने की रुचि हो, ये भगवान के नाम पर जब तब चर्चायें करते रहें, एक दूसरे को धर्म कार्य में लगावें तो यह हुई वास्तविक मित्रता। नहीं तो उसे शत्रुता कह लीजिए। अगर मानो विषय के साधनों में ही मन बदल बदलकर हमने दोस्ती निभायी। तो हमने दूसरे काभला क्या किया? बल्कि बुरा ही किया। उसका उदय आएगा। जैसा उदय आएगा वैसा फल भोगेगा। तो बस बात इतनी है कि अपने आत्मा का श्रद्धान ज्ञान आचरण बने और उसके लिए तत्त्वज्ञान का अभ्यास बनायें। बड़ी नम्रता से निष्पक्षभाव से। मेरे को केवल यही चाह है कि मेरे को मुक्ति प्राप्त हो। मेरी बात कोई माने, मेरा प्रभाव होने लगे, कुछ समझें। ये कोई विकल्प मुझे नहीं हैं। इस प्रकार धर्म की भावना रखकर धर्म कार्य में लगें तो हमारा जीवन सफल है।

मोक्षमार्ग पाने का प्रारम्भिक कदम अधिगम—संसार के समस्त सकटों से छूटने का उपाय आत्मश्रद्धान, आत्मज्ञान और आत्मरमण है। ज्ञानों में सर्वोपरि ज्ञान आत्मज्ञान है। शरण भी केवल एक यह आत्मतत्त्व ही है। जगत के लोग जो व्यर्थ दुःखी हो रहे हैं—व्यर्थ के मायने न लेना, न कुछ मतलब। केवल कल्पनायें करके भ्रम बनाकर व्यर्थ मेंही दुःखी हो रहे हैं। कहीं परिवार को अपना माना, कहीं वैभव को अपना माना। कहीं अन्य जिस चाहे को अपना स्वरूप माना, इससे मुझे सुख होगा, यही मेरा प्राण है। अनेक प्रकार की भावनायें इस जीवने बनाया और यह दुःखी हुआ और यह ही हो रहा। इसको दुःख की चोट तो पहुँच रही है राग से तो दुःखी हो रहा और दुःख की चोट नहीं सह सकते, सो उपाय राग ही कर रहे हैं। राग से तो दुःखी हो रहे और उस दुःख को मेटने का उपाय राग ही किया जा रहा है, तो अज्ञान से उत्पन्न हुआ दुःख राग से ही कैसे मेटा जा सकता है? जैसे खून का दाग खून से धोने से नहीं मिट सकता इसी प्रकार राग से उत्पन्न हुआ दुःख राग करके न मेटा जा सकेगा। औंधा-औंधा काम उल्टा-उल्टा जगत के जीव करते आ रहे हैं। इसको जब भी सुबुद्धि जगे, जब इसका भवितव्य हो, जब मोक्ष निकट आए तब सत्य प्रकाश होता है। ओह मैं तो यह ज्ञानमात्र हूँ। मेरे में आनन्द स्वरूप स्वतः है। आनन्द कहीं से लाना नहीं होता, यह अपना ज्ञानानन्द निधान है, ऐसा प्रकाश आये तो उसको सम्यक्त्व कहेंगे। तो मोक्ष का मार्ग क्या है? सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। देखो मोक्षशास्त्र के पहले अध्याय में प्रथम सूत्र के बाद सम्यग्दर्शन का लक्षण कहा। तो उसके बाद कहीं भी तो ज्ञान का लक्षण कहना चाहिए था। और सम्यक्चारित्र का भी लक्षण कहना चाहिए था। जो लोग मोक्षशास्त्र

का अर्थ जानते हैं उन्हें पता होगा कि पहले अध्याय में सम्यग्दर्शन का तो लक्षण बताया तत्त्वार्थ श्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को कोई लक्षण नहीं कहा। उसका कारण यह है कि सम्यग्ज्ञान शब्द तो बिल्कुल सीधा है, सच्चा ज्ञान करना, सम्यक्चारित्र भी सीधा है मगर सम्यग्दर्शन में जो दर्शन शब्द है उसके अनेक अर्थ हैं देखते भी हैं, और जैसे कभी किसी को कहते हैं– अच्छा हम तुम्हें देख लेंगे। तब क्या अर्थ है? कितने ही अर्थ हो जाते हैं। यों दर्शन का देखना भी अर्थ है, श्रद्धान भी अर्थ है। तो उसमें विवाद था, इसलिए उसका लक्षण कहा गया कि जो प्रयोजनभूत तत्त्वार्थ का श्रद्धानकरना सो सम्यग्दर्शन है। तो प्रयोजनभूत तत्त्व क्या है? तो वे ७ तत्त्व बताये। फिर उनका व्यवहार कैसे होता तो निक्षेप बताया। अब यह बताया जा रहा है– "प्रमाणनयै-रधिगमः" इस सूत्र में कि तत्त्व का, सम्यग्दर्शन का ज्ञान का सबका ज्ञान होता है प्रमाण और नयों के द्धारा।

प्रमाण की महत्त्वशालिता—देखो एक-एक अंश की बात जानना तो नय है और सारी बात पूरी जानलें तो वह प्रमाण है। तो प्रमाण में होता क्या है कि स्व और पर पदार्थ का जो सामने आए उसका ज्ञान होता है। ज्ञान में क्या होता है। स्व मायने पर पदार्थ का देखो दोनों का ज्ञान होता कि नहीं? जैसे दीपक जले तो क्या होता है? दो बातें होती हैं एक साथ। क्या, कि जो पास की चीज हो वह भी प्रकाश में आ जाए और दीपक खुद में प्रकाशमय रहता ही है तो इसी प्रकार ज्ञान जब जानता है तो वहाँ दो बातें होती हैं– पर पदार्थ की जानकारी होती है। और स्वज्ञान की भी जानकारी होती है। तो ज्ञान का ही लक्षण हुआ। स्व और अर्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण होता है। ध्यान से सुनोगे तो आएगा समझ में, वैसे ही कठिन है विषय, और उपयोग न लगाओगे तो कुछ भी न रहेगा। बात सीधी कही जा रही, दूसरे की चर्चा नहीं है। अपने आत्मा की चर्चा है। अपनी कहानी है कि हम क्या कर रहे हैं? और कितना हमारा बल है? उस बात की यहाँ भीतर में कहानी चल रही है, हम क्या कर रहे हैं? निरन्तर स्वका भी निश्चय रखते हैं और पर पदार्थ का निर्श्चय रखते हैं सभी जीव। देखो यहाँ स्वके मायने ज्ञान है आत्मा नहीं। जिस ज्ञान के द्वारा हम पर पदार्थ को जानते हैं तो उस समय जो हमें पक्का बोध होता है कि ऐसा ही है तो उस समय में दो बातें जाहिर हैं? एक तो पर पदार्थ के बारे में निर्णय और एक ज्ञान के बारे में निर्णय। जैसे किसी ने कहा कि यह पुस्तक ही है। तो यह बिल्कुल निश्चित बात है कि पुस्तक ही है तो पुस्तक का निर्णय हुआ तो उसके साथ यह भी निर्णय पड़ा है कि सन्देह हो जाए तो पुस्तक में भी सन्देह हो जाएगा। दोनों जगह निर्णय होता है– स्वका भी निर्णय होता और परका भी निर्णय होता। तो पर क्या कहलाता है? भीतर की बात देखो। यह भ्रम होता कि मैं घर बनाता हूँ, फर्म बनाता हूँ, अमुक को यों करता हूँ। आप कुछ कर सकने वाले नहीं। आप तो अपने भीतर ही जो कुछ कर सकते, वह कर पाएंगे। बाहर एक इंच मात्र भी कुछ करने में समर्थ नहीं। यह जीव जो कुछ करता है वह अपने में करता है, तो यह सोचता है कि जब हम अपने में ही कुछ कर पाते हैं, बाहर में हम कुछ कर सकते नहीं,

बाहर में कोई चीज मेरी है नहीं, तब उसमें मोह क्यों करना? अज्ञान क्यों बसाना? देखो बात सुनकर बात मान लीजिए तो आनन्द मिलेगा और ऐसा समझ जायें कि यह शास्त्र हो रहा है, सुनना पड़ता है, अच्छा प्रोग्राम रखा है, सुन लिया, उससे बात न बनेगी। भीतर में विचारें कि हमारा कुछ बाहर में है क्या? फिर ये कितनी ही वासनाएं बनी हुई है कि वाह मेरा ही तो यह घर है, मेरा ही तो यह लड़का है, मेरी ही तो यह स्त्री है, मेरा ही तो यह परिवार है, यह मित्र मेरा ही तो है, यह जो दृढ़ वासना बनी है, इसमें जब तक ढील न देंगे तब तक धर्म की बात न मिलेगी। करना क्या है भीतर में जिससे कि आनन्द आ जाए और धर्म का मार्ग मिल जाए। यह करना है कि उस मोह को ढीला करना है और उस संग की वजह से चोट भी सहते जाते, धोखे भी सहते जाते, दुःख भी सहते जाते और फिर भी उसी को अपनाते जाते, तो इसको कितना बड़ा व्यामोह कहेंगे? मूर्खता कहेंगे, अज्ञान कहेंगे कि जिसके कारण दुःखी भी हो रहे फिर भी उन्हें अपनाते। समझते कि इसके बिना तो मेरा गुजारा ही न चलेगा। जगत में कौन-सा ऐसा पदार्थ है जिसके बिना जीव का कुछ चलेगा नहीं? मरने पर भी तो चलता कि नहीं, अकेला जाता है, सब कुछ छूट जाता है फिर भी यह रहता कि नहीं? क्या अस्तित्व मिट जाता? तो ऐसे ही समझ लीजिए कि मेरा यहाँ कुछ नहीं है। और जो व्यामोह है उसमें शिथिलता जरुर करें। उसके बिना धर्म का रास्ता नहीं मिल सकता।

मोह और धर्म में से विवेक करके धर्ममार्ग पर ही चलने में भलाई—दो बातें एक साथ न बनेंगी कि मोह भी करें और धर्म भी करें। ये दोनों एक दूसरे के प्रतिपक्षी हैं। जहाँ मोह है वहाँ धर्म नहीं और जहाँ धर्म है वहाँ मोह नहीं। अब अपनी परीक्षा करें कि हमने कुछ मोह पर विजय पाया कि नहीं। अगर नहीं पाया तो उतनी जिन्दगी हमारी व्यर्थ गई। सोचते हैं कि हमने धर्म किया मगर कुछ नहीं किया, क्योंकि मोह में तो फर्क ही नहीं पड़ा। आपने धर्म किया, आप बड़े धर्मात्मा कहलाते आप बहुत-बहुत पूजा भी करते, स्वाध्याय भी करते, जाप भी देते, संस्था भी चलाते, पर एक बात यहाँ देखें कि मोह में फर्क है कि नहीं! अगर धार्मिक नहीं है तो धर्म नहीं हुआ, जो हुआ वह ठीक है, थोड़ा अच्छा ही किया, मगर आपको अपने लिए मोक्ष का मार्ग मिल जाए पहले कोई काम नहीं किया। तो अपने आपमें देखिए कि मेरे मोह में अभी तक फर्क आया कि नहीं, अगर फर्क आया तो ठीक है, और अगर फर्क नहीं आया, जैसा का तैसा मोह है तो एक कहावत प्रसिद्ध है ना कि कहाँ गए थे? . . . क्या किया? . . . भाड़ झोंका? . . . अरे भाई यदि भाड़ ही झोंकना था तो वहाँ जाने की क्या जरूरत थी? यहीं अपने गांव में भी तो यह काम कर सकते थे। तो ऐसे ही कोई पूछे कि आप कहाँ गए थे? . . . मनुष्यभव में। . . . वहाँ कितने वर्ष रहे? . . . ५० वर्ष। . . . क्या किया? . . . विषय कषायों का भाड़ झोंका? . . . अरे भाई यदि यही काम करना था तो यह काम तो कुत्ता, बिल्ली, सुवर, गधा आदि की योनियों में भी तो

किया जा सकता था। तो भाई ऐसे दुर्लभ मनुष्य जीवन का सदुपयोग करना है तो भाई अपने विचार सम्हालो, अपनी भीतरी बात का निर्णय करके मेरे में तो केवल एक ही काम है। अपने को समझें, मोह को दूर करें, इसमें कोई घर की लड़ाई की बात ही नहीं कह रहे लेकिन मोह जरूर छोड़ना चाहिए मोह छोड़ने पर भी चाहे कुछ समय तक घर नहीं छूटता। किन्तु मोह जन्य दुःख छूट जायेगा और घर तो यह राग छूटने से छूटेगा। मोह छूटने पर भी जब तक राग है तब तक यह सब बना रहेगा। उसकी अधिक चिन्ता न करें, जैसे कि कोई भक्ति कर रहा— भगवान हमें मोक्ष दो हमें मोक्ष चाहिये और कुछ नहीं, मानो उस समय कोई देव आ जाए और कहे कि चलो हम आपको मोक्ष पहुँचा दें। आप तैयार हैं न? . . . हाँ तैयार हैं? . . . अच्छा चलो तुम्हें घर छोड़ना पड़ेगा, परिवार छोड़ना पड़ेगा, सब कुछ छोड़ना पड़ेगा। . . . अरे हमें ऐसा मोक्ष न चाहिए। हमें तो ऐसा मोक्ष दिला दें कि जिससे हम घर में बने रहें और मोक्ष हो जाए? तो भाई इस तरह से मोक्ष न मिलेगा।

उच्छिष्ट भोग की आकांक्षा न करने में महत्त्व—देखो अनादिकाल से अब तक मोह वासना ही बनाए रहे, केवल आप विषय बदलते रहे। जिन जीवों से मोह किया वे पहले भी थे लेकिन कुछ विकल्प बदलते तो मानते कि हमें नई चीज मिली, पर नई चीज कुछ नहीं मिली, जो भी भोग साधन मिले हुए हैं वे सब झूठे हैं, जो एक बार भोजन कर लिया वह अगर मुख से निकल आए तो उसे कोई खाता है क्या? उसे कहते हैं कि यह तो कय किया हुआ है, ये ५ इन्द्रिय और मन के विषय भोग ये सब बमन की हुई चीजें हैं, ये कई बार भोगे और भोगकर जब पचा नहीं तो वमन किया हुआ है। मनुष्य तो यह चाहते हैं कि मैं सारी चीज खा जाऊँ मगर इतना बड़ा पेट कहाँ है? छोड़ना पड़ता है विवश होकर। अगर बढ़िया हलुवा, रसगुल्ले बने हों तो कोई उन्हें छोड़ता है क्या? जितना पेट में भरता है उतना खाते जाते हैं। जब पेट भर गया तो जबरदस्ती छोड़ना पड़ता है, ऐसे ही ये जगत के समागम भव-भव में अनेक बार भोग-भोगकर छोड़े हुए हैं, इन्हें छोड़ना नहीं चाहा पर विवश होकर छोड़ते आए हैं। इस जीव की ऐसी प्रकृति बन गई है कि यह चाहता है कि मैं सब जगत को भोग लूँ इतनी आशक्ति है उन भोग विषयों के प्रति, लेकिन सोचो तो सही कि इसमें कौन-सी तत्त्व की बात है? तत्त्व की बात इसमें कुछ नहीं, अपने आपको पहचानें, अपने अलौकिक आत्मा में आएं तो आनन्द मिलेगा, शान्ति मिलेगी। बाहर में सब जगह ढूंढा तो कहीं शान्ति नहीं। शान्ति मिली तो भीतर में जो छुपा हुआ है वह चिन्मात्र यह छिप कर यहाँ पड़ा है। इस कोने में है। ज्ञानी पुरुष हैरान होकर उसे देखता है। जैसे कोई लड़का कहीं छुप गया और माँ उसे बहुत-बहुत बाहर में सब जगह ढूंढती है। अन्त में वह मिला अपने ही घर में रसोई के एक कोने में छिपा हुआ, तो वहाँ वह माँ झुंझलाकर कहती है— अरे मनुआ तू यहाँ छिपा है। यहाँ बैठा है। तो जैसे झुंझलाकर वह माँ कहती है ऐसे ही कल्याणार्थी पुरुष अपने सुख के भण्डार की निधि को सब जगह देख-देखकर बड़ी हैरान हो

गयी दृष्टि और अन्त में मिला अपने आप के भीतर तो यह कुछ हैरानी भरी दृष्टि से निहारता है— अरे यहाँ है ये तो चिन्मू मियाँ। यह चैतन्यस्वरूप यहाँ बैठा है। यों उसे देखकर आनन्दमग्न होता है। तो भाई दुनिया में कहीं जाओ। कहीं आनन्द नहीं। सब भ्रम है। आनन्द मिलेगा तो एक अपने आपके स्वरूप में मिलेगा। उसे पहचानें उसको जानें, उसमें आचरण करें। यह ही मोक्ष का मार्ग है। तो इस तत्त्व का ज्ञान कैसे होता? तो बतलाया— प्रमाण से। व्यवहार से स्व और पर पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। अब समझलो, निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है।

स्वपरनिश्चयात्मक ज्ञान में प्रमाणता—आप सोचते होंगे कि यह बात बिल्कुल सही है, आत्मा जानती है, जो निश्चय को वह ज्ञान प्रमाण है। अच्छा सुनिये क्षणिकवाद का सिद्धान्त है कि जो निश्चय करे वह मिथ्या ज्ञान है और जहाँ निश्चय नहीं हो पाता वह सम्यग्ज्ञान है। आप सोचते होंगे कि ऐसा कौन होगा जो माने कि जो निश्चय करे वह ज्ञान मिथ्या है और जो प्रमाणभूत ज्ञान है उसमें निश्चय हो? तो ऐसा मानने वाले हैं क्षणिक वादी दार्शनिक उनका सिद्धान्त है कि प्रत्येक पदार्थ क्षण में नया-नया बनता है। अब जिस समय पदार्थ है उसी समय में ज्ञान हुआ कि पदार्थ, तो पदार्थ को जानना शुरु किया उसी समय में और दूसरे समय में उसका निश्चय हुआ तो जिस समय निश्चय हुआ उस समय पदार्थ न रहा और निश्चय कर रहा तो वह मिथ्या हो गया, क्योंकि वह चीज ही नहीं है जिसका निश्चय कर रहे, तो उनका सिद्धान्त है कि जो निश्चय न करे वह चीज ही नहीं है जिसका निश्चय कर रहे, तो उनका सिद्धान्त है कि जो निश्चय न करे वह प्रमाण है, इसलिए उसका खण्डन करने के लिए यह शब्द समर्थ है कि निश्चायक ज्ञान प्रमाण है। किसका निश्चायक? . . .पदार्थ का। . . . अरे पदार्थ का तो निश्चय करता है सारा जगत। कौन ऐसा है जो यह कहता हो कि पदार्थ दुनिया में है ही नहीं। उसमें उनका निश्चय हुआ करता है। केवल स्वयं का ही निश्चय होना है, ब्रह्म का ही निश्चय होना है। ब्रह्म को छोड़ कर अन्य कुछ पदार्थ नहीं। तो पदार्थ का निश्चय करने वाला ज्ञान प्रमाण है। केवल ब्रह्म ही हो, अन्य पदार्थ न हो, केवल जीव हो, अन्य पदार्थ न हो, यह बात नहीं बन सकती। उसका न्याय शास्त्र में बहुत वर्णन है। तो आया ध्यान में। जो निजका और पदार्थ का निश्चय करे वह ज्ञान प्रमाण है। समझे न? उसके साथ खुद का भी निश्चय है। अच्छा कोई दार्शनिक ऐसा है क्या जो मानता है कि यह ज्ञान खुद का निश्चय नहीं कर पाता? हाँ है ऐसा। जैसे अस्वसम्वेदी ज्ञान मानने वाले नैयायिक मीमांसक वगैरह हैं, उनका कथन है कि जिस ज्ञान से हमने पदार्थ जाना उस ज्ञान का सही ज्ञान जानने के लिए नया ज्ञान करना पड़ता है। तो देखा अपने आपका कैसा ज्ञान प्रकाश है कि ज्ञान हो तो खुद का भी प्रकाश हो और बाह्य पदार्थ का भी प्रकाश हो, भीतर की बात सोचें। आपके स्वरूप की बात कही जा रही है।

कषायों द्वारा पीड़ित होने की दुःसह वेदना—बाह्य पदार्थ के लगाव में,मोह में, ख्याल में कुछ भी न रखें, इसमें बुद्धिमानी मत मानें, किन्तु खेद होना चाहिए कि मुझे क्यों राग होता? क्यों मुझे मोह होता? क्यों मेरे में इतने विकल्प उठते। क्यों मुझे इतना भ्रम होता, इस तरह का विषाद होना चाहिए। कहाँ तो भगवान की तरह मेरा स्वरूप, ज्ञान और आनन्द का निधान, जहाँ सौख्य पड़ा हुआ है। जहाँ कोई अपूर्णता नहीं, सब कुछ स्वतः सिद्ध बात है स्वरूप में, और जहाँ ऐसी दशा हो रही है इन क्षणिक पदार्थों को अपने से अत्यन्त भिन्न पदार्थों को मान रहे हैं कि यह मैं हूँ। यह मेरा है। यह बहुत बड़ा अपराध है। जब तक यह अपराध रहेगा तब तक शान्ति नहीं प्राप्त हो सकती। तो इस अपराध को दूर करने के लिए यह जीवन है। पैसा बढ़ाने के लिए नहीं, कुटुम्ब बढ़ाने के लिए, इज्जत बढ़ाने के लिए यह जीवन नहीं है। और ये सारी बातें बेकार भी हैं। यह मानव जीवन मिला है कि मेरे सारे संकट दूर हो जाएं और मैं एक शुद्ध जो कुछ ज्यों का त्यों अपने आप हूँ अपनी सत्ता से, बस वही रह जाऊँ। देखो भाई जैसे किसी के बड़ा दुःख आया, गरीबी का दुःख आया तो वह कहता है कि हमें तो बस इतना धन चाहिए, इससे आगे न चाहिए, ऐसे ही अपने आपको देखो, अभी तक दुःख ही दुःख भोगते आए हैं तो भीतर से एक आवाज निकलनी चहिए कि मैं तो इतना ही चाहता हूँ, और कुछ मैं नहीं चाहता। जब कभी किसी से लड़ाई होती है तो कहते हैं कि भाई मेरी चीज मुझे मिल जाए, मुझे और कुछ न चाहिए, यही तो लोग कहते हैं। तो आप भी सोचें कि मैं जो कुछ हूँ असल में मैं वह रह जाऊँ, और कुछ न चाहिए। मुझे घर न चाहिए, लोग न चाहिए, समागम न चाहिए, परिवार न चाहिए, मौज न चाहिए। मुझे ये कुछ न चाहिए। और क्या चाहिए। जो मैं हूँ असल में अपने आप स्वतः सिद्ध बस वही मैं रह जाऊँ, यही मुझे चाहिए, और कुछ न चाहिए। इतनी बात अगर चित्त में आयी है तब समझिए कि आप धर्म में शुरू हुए हैं। इतनी बात जब तक चित्त में नहीं है तब तक समझ लें कि हमने अभी धर्म प्रारम्भ नहीं किया। अपना एक लक्ष्य होना चाहिए कि हमें तो यह चीज पानी चाहिए। नदी में नाव में तो बैठ गए और लक्ष्य नहीं बनाया कि हमें तो इस घाट में पहुँचना है तो कभी वह पूर्व दिशा की ओर नाव खेवेगा, कभी पश्चिम को, कभी उत्तर की ओर और कभी दक्षिण की ओर। इस तरह से वह किसी किनारे न लग पाएगा, और यदि लक्ष्य बना लिया तो वह उस निर्दिष्ट स्थान पर पहुँच जाएगा। तो ऐसे ही इस जीवन में आप एक लक्ष्य बना लीजिए कि मेरे को मेरे आत्मस्वरूप का श्रद्धान, ज्ञान, आचरण चाहिए, मेरे को तो मेरा मैं चाहिए और कुछ न चाहिए। यह लक्ष्य अगर बन जाए तो सब बात मिलती जाएगी। धर्म होता जाएगा और अगर यही बात न मिली तो धर्म न होगा। इसलिए भाई पौरुष करो। विषय कषायों की वासना को छोड़ दो। ये क्रोध, मान, माया, लोभ आदि कषायों में यह जीव इस तरह पीड़ा पा रहा है कि जैसे मानो खल्ल में मूसर से कूटी हुई कोई चीज। ये विषय आत्मा को कूट रहे हैं। यह आत्मा दुःखी हो रहा

है। अपने आप पर दया करो और कषायों को छोड़ दो। ऐसी प्रकृति बनावें कि क्रोध न करें, शान्त रहें, नम्र रहें। जरा-जरा-सी बात में ऐंठ न जावें। जरा कषायों को छोड़ें और अपने आपके स्वरूप के अन्दर में दर्शन करें, उसकी धुन बनायें, इससे तो मिलेगा भाई मनुष्य भव का लाभ और अगर विषय कषायों में ही जकड़े रहे, मोह ममता में ही बने रहे तो इस जीवन का कोई लाभ नहीं है।

ज्ञान द्वारा ज्ञानमात्र स्वयं को जान लेने की सहजवृत्ति के विरुद्ध चलने का पश्चात्ताप—हम आप ये सब जीव क्या हैं? प्रत्येक ज्ञानमय पदार्थ। अर्थात् हम आप सबका यह स्वभाव है कि प्रति समय कुछ न कुछ जानने में आता ही रहे। अज्ञानी को उसका भी ज्ञान सदा रहता है और ज्ञानी है तो उसका भी ज्ञान सदा रहता है। कोई है तो उसका भी ज्ञान सदा रहता है। जानने बिना कोई जीव नहीं रहता। जो भी जीव है वह प्रति समय जानता ही रहता है, इसी कारण इसका नाम आत्मा है— **अतति सततं गच्छति जानाति इति** आत्मा अ धातु का अर्थ है सतत जाना और जानना। प्रायः करके जाने के अर्थ वाली धातुओं का अर्थ जानना भी होता है सतत जाना और जानना। आदित्य का अर्थ है सूर्य। वह आदित्य तो निरन्तर जाता रहता है, कभी ठहरता नहीं है। आदित्य के मायने हैं सूर्य। सूर्य निरन्तर चलता ही रहता है। ढाई द्वीप के अन्दर कोई भी सूर्य एक समय रुक जाए ऐसा कभी होता नहीं। तो जो निरन्तर जाता रहे उसका नाम आदित्य है और जो निरन्तर जानता रहे उसका नाम आत्मा है। आत्मा का कार्य है वह निरन्तर जानता रहे। तो देखो जब हम आप सबका स्वभाव जानते रहने का है तो इस जानने को जरा ठीक बना लें तो बेड़ा पार हो जाएगा। बैठे-बैठे कल्पनाएं किया और दुःखी हो गए। बैठे-बैठे भावनायें बनाया, पर द्रव्य के बारे में कुछ न कुछ सोच रहे हैं और दुःखी हो रहे हैं। एक ज्ञानबल ऐसा मिले कि जिससे परवस्तु के बारे में उपेक्षा जग जाए, कैसा ही परिणमन हो, जैसा परिणमें ठीक है, उसके प्रति ज्ञाता दृष्टापन का भाव आ जाए और भीतर से कषाय विष हट जाए तो आत्मा को शान्ति मिल जाएगी। आत्मा अशान्त है कषाय के कारण, पर मोह में, मूढ़ रहते हुए यह जीव कषाय का ही आदर करता है, कषाय में भुने रहते हैं। गुस्सा निरन्तर बनी रहती है। किस बात पर गुस्सा रहती है। बात कुछ नहीं है। क्रोध प्रकृति का उदय है। यहाँ क्रोध की ऐसी उद्दण्डता हो रही हैं और आत्मा भी क्रोधी बन रहा है। बात कुछ नहीं है और इतनी बड़ी बात बन गई। मतलब कुछ नहीं है, पर इतना बड़ा भारी लगाव हो गया। यह सब मोह का प्रताप है। यहाँ बात चल रही है ज्ञान की, ज्ञान जानता रहता है। अरे जो निरन्तर जानता रहता है उसको जानने का पौरुष करो, सर्व प्रकाश सामने आ जाएगा। पर जानने वाला यह है, और बाहर-बाहर जानता रहता है। जैसे बैट्री का उजेला करते हैं तो उजेला बाहर-बाहर में पहुँचता रहता है पर वह उजेला उस बैट्री के अन्दर नहीं पहुँचता बैट्री भी नही दिखाई देती, ऐसे ही मोही जीव बैट्री की तरह काम कर रहे हैं। बाहर-बाहर तो खूब जानते हैं पर स्वयं क्या हैं यह नहीं

समझते? यही कारण है कि सारा जीवन मोह में बीतता और दुःखी होता। मोह में खुद का बुरापन विदित नहीं होता। ऐसा ज्ञान होता कि हम चाहते हैं वही जो परस्पर मोह बनाए हैं, व्यवस्था करते हैं तो उत्तरदायी तो हम ही हैं, और कदाचित कभी कोई त्यागी, साधु, ज्ञानी दिखे तो ऐसे मोह वाले को धर्म की बात के नाम पर कुछ बात तो आती है मगर भीतर में यह बात आती है कि बेचारे दुःखी हैं। हम ही तो इनकी सेवा करते हैं, इनकी रक्षा करना चाहिए, यों साधु को बेचारे के रूप में देखते हैं और स्वयं को तो सर्व कुछ समझते हैं।

मोह में अपनी करतूत के अहंकार का दुर्दर्शन—कोई सांड घूरे को अपनी सींगों से बेझकर उसमें कुछ गड्ढा सा कर दे और अपने चारों पैर पसार कर पूंछ उठाकर अपनी एक अहंकार भरी मुद्रा बनाये, और एक ऐसा गौरव अनुभव करे कि मैंने बहुत बड़ा काम किया, धूल उछाल दिया ऐसे ही मोही जीव किसी वैभव की यहाँ वहाँ की कुछ व्यवस्था बनाते हैं तो वे ऐसा गौरव करते हैं कि मैं इतनी-इतनी चीजें सम्हालता हूँ। अरे अपने अन्दर देखो कि मैं ज्ञानमात्र हूँ, ज्ञान के विकल्प ही करता हूँ, इसके अतिरिक्त मैं और कुछ नहीं करता। घमंड किस बात का? अपने को पहचाने कि मैं ज्ञानमात्र हूँ। तो जब मेरा जानने का स्वभाव है तो मैं सब कुछ न जान सकूं, और अपने को न जान सकूं, ऐसी कौन-सी अड़चन आयी है? अड़चन यह है कि बाहरी पदार्थ में मेरा लगाव है। उसकी ही धुन बनी हुई है। बस यही कल्पना वह चीज है जो मेरे अधूरेपन का कारण है। तो जिसे अनादि से करते आए जिसे जीवन में बिना सिखाए किए चले जा रहे हैं उससे पूरा नहीं पड़ने का उस आत्मकल्याण का उपाय सोचना है। सभी जीवों की बात है। जो करेगा सो पाएगा। सोचो जो पदार्थ जिस तरह से है। उस को उस तरह से जानना। उसका उस प्रकार से श्रद्धान करना बस यही संसार संकटों से छूटने का उपाय है। जैसे सोते हुए में कोई स्वप्न आ जाए कि मैं कहीं जा रहा हूँ। वहाँ बड़ा भयंकर जंगल है। सामने शेर खड़ा है पीछे से साँप दौड़ रहे हैं खाने के लिए, कोई ऐसा सोचले तो वह कितना दुःखी होता है। उसका दुःख दूर होने का कोई उपाय है क्या? अथवा और भी देखिए। एक बड़ा सेठ था। वह आराम से अपने कमरे में सो रहा था। सोते हुए में उसे एक ऐसा स्वप्न आया कि बड़ी तेज गर्मी हो रही है, विचार हुआ कि समुद्र की सैर करने चलें। स्त्री पुत्रादि बोल उठे कि हमें भी गर्मी लगती है हम भी समुद्र की सैर करने चलेंगे। नौकर बोला— हमें भी बड़ी गर्मी लग रही। हम द्वार में ताला लगा देंगे। हम भी समुद्र की सैर करने चलेंगे। सो सपरिवार समुद्र की सैर करने चला। (देखिए यह सब स्वप्न की बात कही जा रही है) नाव पर सभी लोग बैठ गए। नाव कोई एक मील ही चली होगी कि समुद्र में एक बड़ा तूफान आया, तो उस समय सेठ कहता है नाविक से कि अरे हम तुम्हें १० हजार रुपये देंगे पर नाव डूबने से बचालो। तो नाविक बोला— सेठजी यह नाव किसी तरह से भी डूबने से बच नहीं सकती। . . . अच्छा हम तुम्हें एक लाख रुपये इनाम देंगे पर नाव डूबने से बचालो। . . . अरे जब हमीं नहीं रहेंगे तो उन एक लाख रुपयों

का क्या करेंगे? आप बड़े दयालु हो, आप हमें इजाजत दो, हम तो किसी तरह से नाव से कूद कर तैर कर निकल जाएंगे। नाविक कूद गया, नाव डगमगा रही है। वह सेठ बड़ा दुःखी हो रहा है। (ये सब स्वप्न की बातें हैं) अब देखिए सेठ पड़ा तो था अपने आराम के कमरे में, नौकर लोग पास में खड़े थे। वे यह इन्तजार कर रहे थे कि सेठ जी जगें तो इनकी सेवा करें। सब प्रकार के आराम के साधन मौजूद थे फिर भी वह सेठ कितना दुःखी हो रहा था। बताओ उसका दुःख दूर करने का कोई उपाय भी था?. . . हाँ उपाय था। बस यही उपाय था कि सेठ की निद्रा भंग हो जाए, जग जाए, लो काहे का दुःख। दुःख तो सारा स्वप्न में हो रहा था। जग जाए तो वह समझ जाए कि अरे वह तो सब स्वप्न का था, यहाँ तो कुछ भी नहीं है। हम तो बड़े आराम से पड़े हैं। यह ही बात मोही जीव की है। मोहियों को मोह का स्वप्न आ रहा है। यह मेरा है। यह मेरा है। यह मेरे को मिल जाए, यह इस तरह हो जाए, इसकी यह परिस्थिति बन जाए, यों नाना प्रकार के विकल्प कर रहा है और विकल्पों में दुःखी हो रहा है। नहीं तो बतलाओ दुःख क्या है? हम सब यहाँ बैठे हैं। कोई दुःख का कारण नहीं है। मजे में बैठे हैं, अकेले हैं। आपका आत्मा आप में है, आपके पास है। किसी का उसमें प्रवेश नहीं। उसमें क्या कष्ट है। लेकिन कष्ट सभी मान बैठे हैं। और हर एक कोई अपने आप कष्ट की जुदी-जुदी परिणति समझ रहे हैं। मेरे को कष्ट है, इस प्रकार अपने को कष्ट में मान रहे, यह बड़ी विडम्बना की बात है।

सम्यग्ज्ञान सूर्य के उदित होने पर भ्रमांधकारका विलय—जिस समय सम्यग्ज्ञान का उदय होता है उस समय सारे संकट दूर हो जाते हैं। तो कुछ भी हो। संकट दूर करने में समर्थ यह ज्ञान है, यह प्रमाण है। उस प्रमाण की चर्चा इस सूत्र में की जा रही है कि प्रमाण से सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र, जीवादि तत्त्व और और-और सभी पदार्थों का परिज्ञान प्रमाण के द्वारा होता है। देखिए— हम आप सब ज्ञानस्वरूप हैं, निरन्तर ज्ञानमय रहते हैं, किन्तु हालत आज क्या हो रही। कि हम कुछ नहीं जान पाते, थोड़ा जान पाते। कुछ जान पाते, ऐसा कर्म का आवरण है और वह भी हम जान पाते हैं इन इन्द्रियों के द्वारा। ये नेत्र बिगड़ जाएं रूप नहीं जान सकते, कान बिगड़ जाएं तो शब्द नहीं जान सकते। लकवा मार जाए तो स्पर्श नहीं जान सकते। देखो इस जानने पर आवरण है और जितना थोड़ा आवरण नहीं है उतना भी हम ज्ञान जो करते हैं इन्द्रिय द्वारा करते हैं। इन्द्रियां ठीक हुईं तो ज्ञान हो गया, न ठीक हुईं तो न होगा ज्ञान। और इतने पर भी हम सब कुछ नहीं जान पाते हैं, थोड़ा जान पाते हैं, सामने की बात जान पाते हैं और इतने पर भी स्मरणशक्ति नहीं है तो कुछ समझ नहीं पाते, यानी कितनी दुर्दशा है। परमात्मस्वरूप के सदृश होने पर भी हम आपकी यह दुर्दशा है। यह दुर्दशा स्वयं के अपराध के कारण है। दुर्दशा में ही पड़ें और दुर्दशा में ही मौज मान रहे हैं तो कैसे दुर्दशा से छूटना हो सकेगा?

कष्टों का कारण अज्ञान व भ्रम—जितने भी कष्ट होते हैं उसका कारण है अज्ञान, भ्रम। अज्ञान और भ्रम का तात्पर्य है कि बात तो है कुछ और, और मान लिया जाए कुछ और, जैसे जगत के प्रत्येक पदार्थ अणु-अणु प्रत्येक जीव स्वयं अपना स्वतः सिद्ध स्वरूप रखते हैं। किसी का स्वरूप किसी भी अन्य की दया से नहीं बनता है। है तो वह अपने आप है। है, तो वह अनादि अनन्त है। है तो वह द्रव्य, गुण, पर्यायमय है, और इसी तरह वह उत्पाद व्यय ध्रौव्य वाला है। सभी पदार्थों की यही स्थिति है। कोई पदार्थ किसी दूसरे का न कर्त्ता न भोक्ता है, न उसका कुछ लगता है प्रत्येक पदार्थ अपनी परिणति से परिणमता चला जाता यह है समस्त पदार्थों की बात। फिर एक बात सामने आती है कि फिर ये विकार राग द्वेष किस तरह होते हैं? जीव अनादिकाल से बद्ध है। यह बात तो यों स्पष्ट है ऐसा न होता तो आज हमारी यह संसार में स्थिति क्यों होती? न होती। तो चूँकि आज हम फंसे हैं, बंधे हैं, संसार में रुलते हैं, विकल्प उठाते हैं, तो ऐसा तो हो नहीं सकता कि हम शुद्ध हों पहले और पीछे ये विकार आए हों। विकार अनादि से ही चले आ रहे हैं। परम्परा उनकी अनादि से ही चली आ रही, तो इसका कारण क्या है? यदि कोई पदार्थ कोई विकार में आता है तो उसमें कारण नियम से परसंग होता है। जैसे स्फटिकमणि स्वच्छ है, वह अपने आप में अनेक रंग बनाने का निमित्त नहीं है, इसलिए वह अपने आप की ओर से अपने आप ही निमित्त बन कर रंगरूप नहीं परिणमती। वह तो एक स्वच्छ पदार्थ है। अब जब उपाधि का सन्निधान लाल पीला कपड़ा सामने रख दिया तो कपड़ा लाल पीले रूप परिणम रहा है यह तो कपड़े का रंग है और जो दर्पण में लाल प्रतिबिम्ब आया है वह दर्पण की छाया है। अब वहाँ रंग दो जगह दिखा, कपड़े में भी और दर्पण में भी। पर कपड़े का रंग कपड़ा जैसा है और दर्पण का रंग केवल झलक मात्र है। तो दर्पण में जो रंग आया है वह दर्पण की परिणति से तो आया है पर दर्पण के इस रूप परिणमन में दर्पण ही निमित्त हो, जैसे कि दर्पणही उपादान है, यह बात नहीं बनती, अन्यथा नित्य कर्त्ता हो जाएगा। सदा जीव में विकार रहना चाहिए।

वस्तु स्वातन्त्र्य और निमित्त नैमित्तिकभाव की विधि से तत्त्व विचारकी आवश्यकता का कारण—देखिए—तत्त्व विचार की बात सबको आवश्यक यों पड़ी है कि सर्व दुःखों कामूल तो मोह है। यह मोह मिटे तो दुःख दूर होने का उपाय बनेगा। मोह दूर करना कैसे हो? तो मोह दूर करने लिए दो बातें कही जाती हैं— वस्तुस्वतन्त्रता और निमित्त नैमित्तिक भाव। इन दोनों को यथार्थ समझना है और दोनों की ही समझ मोह के विनाश में सहयोग देती है। वस्तु स्वातन्त्र्य से तो यह समझना चाहिए कि जीव और कर्म ये दो पदार्थ विलक्षण हैं जुदे-जुदे हैं, जीव का परिणमन जीव में ही चलता है, कर्म का परिणमन कर्म में ही चलता है, एक का परिणमन दूसरे में नहीं चलता है। कर्म जीव के परिणमन को न करेगा, जीव कर्म के परिणमन को न करेगा। जो परिणमता है वह कर्त्ता है, जो परिणाम है वह कर्म है। वस्तु स्वातंन्त्र्य न यह बतलाता है जैसे दर्पण और सामने रखो लाल कपड़ा तो

वस्तु स्वातंत्र्य वहाँ यह दिखाता है कि कपड़ा कपड़े में हैं, कपड़े के प्रदेश से बाहर कपड़े की कोई चीज नहीं रहती। दर्पण-दर्पण में है, दर्पण की कोई चीज दर्पण से बाहर नहीं होती। तो कपड़ा दर्पण को लाल नहीं करता। दर्पण भी कपड़े का कुछ नहीं करता। कपड़े को झलकाता नहीं, किन्तु दर्पण के रंग का परिणमन दर्पण में हो रहा। परमार्थ से बात कही जा रही है, और दर्पण में जो प्रतिबिम्ब आया है उसमें लाल रंगी कपड़े का सन्निधान पाकर जो दर्पण में लाल प्रतिबिम्ब आया है वह दर्पण का है, दर्पण की परिणति से है। ऐसा ही निमित्त नैमित्तिक योग है कि स्वच्छता का स्वभाव रखने वाला दर्पण यदि लाल पीले पदार्थ का सन्निधान पाए तो यह दर्पण अपनी परिणति से अपने आप में लाल पीले रंग को धारण कर लेता है इसी तरह यहाँ भी देखो। जीव और कर्म ये दो पदार्थ हैं। कर्म में कर्मत्व आया। वह कर्म की दशा है। ऐसे दो विलक्षण पदार्थ हैं। सब अपनी अपनी परिणति से परिणमते हैं, पर उनका ऐसा सहज निमित्त नैमित्तिक योग है कि जीव में जो विकार आता है वह पर उपाधि का निमित्त पाकर आता है, इसी कारण नैमित्तिक है, परभाव है, हम को इन दो बातों से क्या शिक्षा लेना है? एक मोह दूर करने की शिक्षा लेना है।

अन्तः उभयस्वातंत्र्य की निरख—कषाय दो प्रकार की हैं। एक कर्म में होने वाली कषाय और एक जीव में होने वाली कषाय। जिसका क्रोध प्रकृति नाम रखा है उसका जब उदय आता है अनुभाग होता है तो उस प्रकृति में क्रोधन दशा होती है। चूँकि वह जड़ है इसलिए उसकी गुस्सा, उसका क्रोधन उसके अनुरूप है, अनुभवशून्य है, लेकिन ऐसी क्रोधन अवस्था को प्राप्त हुआ पुद्गल कर्म जब उसके सन्निधान में है तो जीव में उस क्रोधन अवस्थारूप अंधकार की झलक होती है। और वह झलक हुई कि यह जीव उस शुद्धस्वभाव से च्युत होता है और उसका उपयोग झलक की ओर लग जाता है, और आगे बढ़कर कल्पना में एक आत्मसात् कर लेता है यानी उसे अपना स्वरूप मान लेता है। इस तरह यह जीव संसार में रुलता है, कषाय करता है और कषाय का निमित्त पाकर नवीन कर्म कर्मत्व अवस्था को प्राप्त होता है। तो कर्म और विकार ये अनादि परम्परा से चले आ रहे है, इनका अब हमको करना है भेदविज्ञान। भेदविज्ञान में क्या समझना कि मैं मात्र ज्ञानस्वरूप हूँ तथा ज्ञान की वृत्ति को ही मैं करता हूँ, और जितने जो कुछ ये विकल्प हैं, विचार हैं, अंधकार हैं, ये सब क्या हैं? आत्मा की परिणति को देखें तो वह एक झलक है और कर्म की परिणति को देखें तो कर्म की उस प्रकार की एक लीला चलती है। उस निमित्त नैमित्तिक भाव की वृत्ति में हम यह जानें कि ये औपाधिक हैं नैमित्तिक हैं, मेरे स्वरूप नहीं हैं। इसी को समयसार में स्पष्ट कह दिया कि ये कषाय विकल्प गुणस्थान मार्गणायें सब पौद्गलिक हैं, क्योंकि ये पुद्गल कर्म से निष्पन्न हुए हैं, तो नैमित्तिक परिचय में एक बल मिलता है स्वभावदृष्टि का। यह मैं हूँ, ये परभाव हैं, मैं तो ज्ञानमात्र हूँ, स्वच्छतामात्र हूँ और वस्तु स्वातंत्र्य की दृष्टि से देखें यह ज्ञान होता है कि मैं आत्मा हूँ, मैं अपने आपसे परिणमता हूँ, कोई दूसरा पदार्थ मुझे नहीं

परिणमाता, अर्थात् कोई पदार्थ मेरे परिणमनरूप नहीं बनता। मैं सर्व पदार्थों से निराला केवल अपने आपके स्वरूप मात्र हूँ और अपने इस स्वरूप में अपने ही नाना विकल्प करता रहता हूँ, इस प्रकार परपदार्थ पर दृष्टि नहीं तो उसे अवकाश मिलता है कि वह अपने स्वभाव की परख कर ले।

जीव विकारोद्भव के प्रसंग में त्रिविध कारणों की ज्ञातव्यता—इस प्रसंग में एक बात खूब जानने की है कि जीव के विकारी बनने में तीन बातें समझनी पड़ेंगी— उपादान, निमित्त और आश्रयभूत। उपादानतो है यह जीव। निमित्त है कर्म की दशा और आश्रयभूत हैं ये समस्त पदार्थ, जो कि इन्द्रिय द्वारा, मन के द्वारा भोग और उपभोग में आते हों, जिन्हें हम उपचरित कहते हैं— ये आश्रयभूत बनते हैं। जैसे जीव में राग उत्पन्न हुआ तो रागप्रकृतिका उदय तो निमित्त है और जीव में जो राग झलका है, राग परिणमन है, विकल्प बना गया है, यह है उपादान की चीज और कोई भी राग किसी पर पदार्थ का विषय किए बिना व्यक्त नहीं हो पाता। मित्र पुत्र ख्याल में हुआ, मकान ख्याल में हुआ, लोग ख्याल में हुए, इज्जत ख्याल में हुई, कोई भी बाह्य पदार्थ इसके विषय में होता है, जिसके सम्बन्ध में राग चल रहा है वह सब आश्रयभूत कहलाता है। निमित्त केवल कर्म की दशा है। बाहरी पदार्थ निमित्त नहीं होते और इसी कारण बाहरी पदार्थ का आत्मा के इस विकार के साथ नियत सम्बन्ध नहीं है कि यह पदार्थ हो तो नियम से विकार हो। जैसे कोई एक वेश्या मरी और लोग उस वेश्या के शरीर को जलाने के लिए जा रहे, रास्ते में एक मुनि महाराज ने देखा तो मुनि महाराज का यह विचार बना कि देखो इसने इस दुर्लभ मानव जीवन को व्यर्थ ही खो दिया, उसे देखकर एक कामी पुरुष का ऐसा विचार बना कि यदि यह वेश्या कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इससे और भी मिलता। वहाँ खड़े हुए कुत्ता स्याल आदि ने उस वेश्या के मृतक शरीर को देखकर यह विचार बनाया कि ये लोग यदि इसे यों ही बिना जलाये छोड जाते तो मेरा कुछ दिनों का भोजन बनता। अब देखिए उस वेश्या के मृतक शरीर को देखकर भिन्न-भिन्न प्रकार के भाव बने। यदि वेश्या का शरीर निमित्त होता तो यहाँ सबके लिए एक समान निमित्त होता। यहाँ यह फर्क आया, क्योंकि मुनि महाराज के तो १२ कषाय का आवरण का क्षयोपशम था इसलिए उनका उपादान इतना विशुद्ध है कि वह इस ही प्रकार से विचार करेगा तो उसके इस विचार करने में वेश्या का शरीर आश्रयभूत बना। निमित्त नहीं बना। निमित्त तो १२ कषाय प्रकृतियों का क्षयोपशम है, जहाँ कि ऐसा विचार बना। यह आश्रयभूत मात्र रहा। और कामी पुरुष के वेद का उदय, कषाय का उदय, यह तो निमित्त है, और वहाँ आश्रयभूत बना वेश्या का शरीर। और स्याल, कुत्ता आदि के भी यही बात रही। तो बात यह समझना है कि जगत के जितने भी पदार्थ हैं, समागम में जो कुछ भी आया है धन वैभव इन्द्रिय के विषय ये सभी आश्रयभूत कहलाते हैं, निमित्त नहीं कहलाते। निमित्त तो जीव के विकार बनने में कर्म की दशा है, तो कर्म दशा का, निमित्त का जीव विभाव के

साथ अन्वयव्यतिरेक है, आश्रयभूत पदार्थ का विकार के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं बनता।

जीव विकार के त्रिविध कारणों के परिचय से एक शिक्षा—कर्मोदय आया तो जीव में उस प्रकार की झलक होना ही पड़ता है। मगर जिसे ज्ञान हुआ, जिसने जाना, भेदविज्ञान से जिसने अपने आपके स्वरूप का अभ्यास किया तो वह झलक अपनायेगा नहीं। यद्यपि ज्ञान है तो भी वह झलक उस उपयोग को छोड़ेगी नहीं, झलक आए बिना रहेगी नहीं। जैसे दर्पण के सामने कोई पदार्थ हो तो प्रतिबिम्बित हुए बिना रहता नहीं। तो भी यह तो मात्र हुई एक अनिवारित निमित्त नैमित्तिक सम्बन्ध की बात। किन्तु यहाँ एक अन्वय व्यतिरेक है कि राग प्रकृति का उदय होने पर ही जीव में राग आता है और राग प्रकृति का उदय न हो तो जीव में राग आ ही नहीं सकता। ऐसा कर्म निमित्त के साथ जीव विकार का अन्वय व्यतिरेक तो है, पर जगत के बाहरी पदार्थों के साथ जीव विकार का अन्वय व्यतिरेक नहीं है। जैसे वेश्यादेह सामने हो तो खोटा भाव होना पड़े, ऐसा अन्वय व्यतिरेक नहीं बन गया। देखो मुनि महाराज में तो खोटे भाव नहीं होते। अथवा वेश्यादेह न हो तो खोटा नहीं बने— अरे अन्य किसी को आश्रय बनाकर कोई खोटा पुरुष खोटा भाव कर सकता है तो उस पदार्थ को आश्रयभूत समझिए। हम इन पदार्थों को अपने उपयोग में विषयभूत करते हैं तो ये रागादि विकार पनपते हैं तो ऐसी कोशिश करें कि ये पदार्थ मेरे आश्रयभूत नहीं बने, बस इसी प्रयोजन के लिए चरणानुयोग की प्रक्रिया है। तो इन बाहरी पदार्थों को त्याग दें तो एक ऐसा अवसर मिलेगा कि जब ये आश्रयभूत न बन सकें तो वहाँ ज्ञान का अभ्युदय होगा आप अपने निरपेक्ष पारिणामिक स्वरूप की सम्हाल कर सकेंगे। देखिए— सिद्धान्त में जितनी बातें कही गई हैं वे सब इस जीव के लिए उपायभूत हैं, निमित्त नैमित्तिक भाव से तो हमें यह शिक्षा लेना पड़ती है कि यह कषाय नैमित्तिक है, कषाय है वह मेरा स्वरूप नहीं है। मेरा स्वरूप तो ज्ञान है, और मेरा व्यापार, प्रदेश, क्रिया, ज्ञान की वृत्ति है, अन्य से मेरा सम्बन्ध नहीं, उस का ज्ञाता दृष्टा रहना चाहिए उसमें हर्ष विषाद न करें। वस्तु स्वातंत्र्य की दृष्टि से यह शिक्षा लें कि क्योंकि मैं स्वतः सिद्ध हूँ और चूँकि मैं हूँ अतएव निरन्तर अपने आपमें अपनी परिणतियां करता रहता हूँ। इसकी दूसरे पदार्थ से लेन देन होकर परिणति नहीं हुआ करती, लो वहाँ पर भी आश्रयभूत छूटने का शिक्षण मिला।

भेद विज्ञान की पुष्टि में कर्तृ कर्मत्व की यथार्थता के परिचय का सहयोग—यहाँ भेद विज्ञान को शीघ्र और संक्षेप समय में समझने के लिए कर्त्ता कर्म का प्रकरण लीजिए? कर्त्ता कहलाता है वह जो खुद परिणमन कर रहा हो। परमार्थ से कर्त्ता नहीं है, जीव विकल्प रूप परिणमता है तो विकल्प का कर्त्ता जीव है, कर्म अपने में उस अनुभाग को बना रहा है, उसका कर्त्ता यह कर्म है। हाँ वहाँ परस्पर परस्पर का ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि कर्म उदय अवस्था को प्राप्त कर रहा हो तो जीव में उसके अनुरूप विचार विकार झलका, यह

भेद है, इतने पर भी निमित्त रहा यह कर्म। कर्म ने अपना द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव नहीं दिया। कर्म ने अपना कुछ नहीं दिया, इतने पर भी ऐसा नहीं हो सकता कि कर्म उदय न हो और वह विकार कर ले। जब कभी कोई यह चर्चा करता हो कि मैं ऐसा कैसे हो सकूँगा, वह तो जो कुछ होना होता है वह होता है, भगवान ने जाना है और उस समय यह होगा, बात यह भी ठीक है, अवधि-ज्ञानी ने विशिष्ट ज्ञानी ने प्रभु ने जिस समय जो जाना उस समय वह होगा ही, इसमें सन्देह की बात नहीं, लेकिन जानना होने में कारण नहीं होता, किन्तु उत्पत्ति विधि में जिस प्रकार से हो होना होता है, और वह विशिष्ट ज्ञानी को ज्ञात होता है। तब यहाँ दो दृष्टियाँ रखना चाहिए। ज्ञप्ति की दृष्टि से तो यह कह सकते हैं कि एक के बाद एक पर्याय जो कुछ होना है वह सब नियत है, यह ज्ञप्ति दृष्टि से कही जाने वाली बात है, किन्तु जब उत्पत्ति विधि से देखें तो यह कल्पना सी करते हुए आगे बढ़ें कि कोई सर्वज्ञ नहीं है या नहीं जानता, उसे दृष्टि मत दें, क्योंकि नय को समझने की एक ऐसी ही पद्धति है कि जिस नय से जो बात समझना हो उस नय की ही बात रखो और अन्य नय की बात मत रखो। जब हम उत्पत्ति विधान की दृष्टि से निर्णय करना चाहते हैं तो यह बात चित्त में न लाएं कि सर्वज्ञ ने जाना सो होगा। मान लो सर्वज्ञ नहीं है, कोई जानने वाला नहीं है ऐसी एक कल्पना करके अब जरा उत्पत्ति विधि पर दृष्टि तो दीजिए। जीव अपने आप अपना निमित्त करके विकार करता हो तो जीव नित्य ही विकार का कर्त्ता बना रहेगा, उसकी कभी मुक्ति नहीं हो सकती। जीव तो प्रति समय एक संयुक्त है। प्रत्येक पदार्थ प्रति समय एक अखण्ड पर्याय से संयुक्त रहता है। अब उसके बाद उसका क्या परिणमन होता तो वह जीव निरुपाधि है, उपाधि से रहित है। तो उसका तो नियत परिणमन है कि बस शुद्ध ज्ञानवृत्ति का ही परिणमन होता रहेगा अनन्त काल तक, लेकिन जो जीव पर्याय में अशुद्ध है उसकी वह विकृति इस विधान से बनती कि जिस प्रकार का कर्मोदय हो उस प्रकार से इस जीव की बात चलती है। तो इसी तरह चिद्विलास में एक-एक जगह में देखिए— यह कर्म रोता है, कर्म हंसता है, कर्म ही सब कुछ करता है, और यह जीव मानता है कि मैं रोता हूँ, मैं हंसता हूँ, तो इस सम्बन्ध में दो दृष्टियां और बनायें। साँख्य जैसी कि प्रकृति कर्म यह रोती हंसती है, यह सब कुछ करती हैं, जीव कुछ नहीं करता। मगर साँख्य के इस सिद्धान्त में यह अन्तर आएगा कि कर्म में कर्म के अनुरूप कर्म का उदय तो हुआ वह कर्म के अनुरूप कर्म में हुआ, लेकिन उस काल में उसका निमित्त पाकर जीव में भी उसका प्रतिबिम्ब हुआ, झलक हुई, उसे अपनाया, उसमें उपयोग जुड़ा, तो उस जीव में भी परिणति हुई। साँख्य तो जीव की परिणति मानते ही नहीं। वे मानते कि जीव में परिणमन कभी भी नहीं है, ऐसा अपरिणामी तत्त्व साँख्य स्वीकार करते हैं।

कर्म दशा और ज्ञान विकल्प में अन्यता—यद्यपि कर्म दशा हुई, कर्म से हुई किन्तु उसका निमित्त पाकर अशुद्ध उपादान वाले जीव में उसका प्रतिबिम्ब हुआ। अब ज्ञानी पुरुष

यह विवेक करता हैं कि मैं तो केवल ज्ञानवृत्ति को करता हूँ सहज और अशुद्ध अवस्था में मैं अपने आपकी झलक को करता हूँ, विचार करता हूँ, पर कर्म का कुछ नहीं करता हूँ। मेरा कर्म मेरा परिणमन है। मेरा कर्म कर्म की दशा नहीं है। तो यहाँ इस ज्ञानी ने यह तका कि मैं अपने आपके परिणमन के सिवाय अन्य कुछ कर सकने में समर्थ नहीं हूँ। बात कुछ इससे **भी और आगे** बढ़कर सोचना है कि विकल्प, विचार भी जो होता है सो यह एक कर्म की लीला है, कर्म का प्रतिबिम्ब है, इसका भी करने वाला मैं नहीं हूँ। मैं तो केवल एक ज्ञान ज्योति स्वरूप हूँ, और ज्ञान की वृत्ति को ही करता रहता हूँ। इस तरह अपने को अकेला मानें, अपने को समस्त परभावों से निराला मानना यह हो गया निर्मोह बनने का उपाय। तो अपने को यह समझना पड़ेगा कि मैं सबसे निराला हूँ। अपने आपके परिणमन को करने वाला हूँ, विकार आते हैं वे पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर आते हैं। वह मेरा स्वरूप नहीं है मैं उनसे निराला ज्ञान स्वभावमात्र हूँ। इस तरह निमित्त नैमित्तिक भाव समझ कर उसका सदुपयोग करें और वस्तु स्वातंत्र्य समझकर उसका सदुपयोग करें। अपने आपको निर्मोह बनाये बिना अपने आपको शान्ति प्राप्त नहीं हो सकती। आनन्द कहीं बाहर नहीं रखा है कि बाहर के पदार्थ से हम को आनन्द प्राप्त हो। हमारा आनन्द एक गुण है और अपने ही आनन्द गुण के विकास से स्वयं आनन्द प्राप्त करते हैं। किसी पर पदार्थ से आनन्द नहीं आता। किसी पर पदार्थ से ज्ञान नहीं होता। ज्ञान और आनन्द का निधान यही स्वयं आत्मा है। जब यह अपने आपको सम्हालता है तो ज्ञानानन्द प्रकट हो जाता है और जब पर पदार्थ में दृष्टि गड़ाता है तो इसके विकार उत्पन्न होता है। उन विकारों से हम अब तक परेशान हुए।

विकार विजय में साधक दो कारण—विकारों पर विजय प्राप्त करने के लिए दो बातों की आवश्यकता है (१) एक तो तत्त्वज्ञान की और दूसरी— यथाशक्ति संयम की। अब उन दोनों में हम किसको पहले बनायें और किसको बाद में बनायें, यह कोई निर्णय नहीं है सही। दोनों कीजिए, यथा शक्ति कीजिए। तत्त्वज्ञान और बाहरी वृत्ति। जैसे देखा होगा कि कोई योद्धा अगर युद्ध में लड़ने जाता है। तो उसके पास दो चीजें होती है। (१) तलवार और (२) ढाल। पहले जमाने में तो ये ढाल तलवार और तरह के होते थे आजकल और तरह के होते हैं, मगर वे दोनों चीजें अब भी चल रही हैं। ढाल का उपयोग योद्धा करता है अपने ऊपर आने वाले वार को रोकने के लिए और तलवार का उपयोग करता है योद्धा शत्रु का संहार करने के लिए। जब तक ये दोनों चीजें योद्धा के पास न होंगी तब तक न योद्धा की ही रक्षा है और न शत्रु पर विजय ही प्राप्त कर सकेगा। यह बात तो बिल्कुल ही स्पष्ट है, इसी प्रकार हमारा यह बाह्य सदाचार, ब्रह्मचर्य व्रत रखना, भोजन भक्ष्य करना, रात्रि को न खाना, बारबार न खाना इनका कुछ नियम रखना, देव दर्शन आदि जितने भी हमारे बाह्य काम हैं ये बाहरी काम हमारे व्यसन भाव को रोकते हैं। व्यसन न उत्पन्न हो। आशक्ति न उत्पन्न हो, विषयों के भाव, खोटे भाव हों तो वे भी हट जाएं, इसके लिए तत्काल हम इस ढाल के

उपयोग द्वारा काम बनाते हैं। पर अब दृष्टि द्वारा मेरे ज्ञान में मेरा सहज ज्ञान स्वरूप समाया रहे, यह ज्ञान में रहे, इस प्रकार की जो एक अनुभूति हैं, तत्त्वज्ञान है यह ही है वह शस्त्र जिसके होने पर भव-भव के बांधे हुए कर्म झड़ जाते हैं। तो तत्त्व ज्ञान और हमारा बाह्य सदाचार ये दोनों हमारे विकास में सहयोगी हैं, इसलिए हम आप सबको इस ओर ध्यान देना चाहिए।हम आत्मा का स्वरूप जानें, चिन्तन करें, मनन करें और अपने ज्ञानस्वरूप को जान-जानकर इसी में ही कुछ तृप्त हों तो हमारी भलाई है।

आशय की स्वच्छता का प्रभाव—एक चुटकुला है कि बादशाह अकबर और बीरबल एक बार कहीं घूमने जा रहे थे, रास्ते में अकबर ने बीरबल को छकाने के लिए, नीचा दिखाने के लिए कहा— बीरबल आज रात को हमें एक ऐसा स्वप्न आया कि हम तुम दोनों कहीं घूमने जा रहे थे, रास्ते में दो गड्ढे मिले, एकमें भरा था गोबर विष्टा और एक में भरी थी शक्कर। पानी बरस जाने से वह शक्कर भी गीली हो गई थी और गोबर विष्टा भी, हम तो गिर गए शक्कर के गड्ढे में और तुम गिर गए गोबर विष्टा के गड्ढे में। तो वहाँ बीरबल ने जवाब दिया— महाराज आप ठीक कहते हैं। अवश्य ऐसा स्वप्न देखा होगा परन्तु मैंने भी हूबहू वही स्वप्न देखा जो आपने देखा, मगर थोड़ा उससे आगे यह भी देखा कि हम तो आपको चाट रहे थे और आप हमें चाट रहे थे। अब भला बतलाओ—खुद ने क्या चाटा ? शक्कर और बादशाह को क्या चटाया? गोबर विष्टा। तो यहाँ एक बात अपने आप में भी लगायें कि यद्यपि यह गृहस्थी एक कीचड़ की तरह है। विकल्पों से निवृत्त होने में एक बड़ी बाधक स्थिति है, ये विकल्प आते हैं रोजिगार करते हैं, कमाई करते हैं, बहुत सी बातें होती हैं तो एक एक पंक की तरह है। जैसे कीचड़ में रहने पर भी अगर भीतर की दृष्टि लगी हो और अपने आपका जो सहज शुद्ध निरपेक्ष स्वरूप हो उसकी ओर दृष्टि जाए तो वह तत्त्व ज्ञान का स्वाद लेता है। गृहस्थी में रहकर भी मनुष्य कर्म का उदय पा रहा है उसका भी सामना करता है और मोक्ष मार्ग में चल रहा है। तो दृष्टि— निर्मलता होना एक बहुत आवश्यक चीज है उसे। जिस किसी को शान्ति प्राप्त करना हो? मोटे रूप से भी देख लो— यहाँ जिसे जिस काल में धन वैभव प्राप्त है उस काल में भी वह शान्त रह पाता है क्या? इस वैभव का, विषय का, विकल्प का विचार बनाकर यह असार है, मेरे काम का नहीं है, मुझे क्यों इसकी तृष्णा करना फिर इसमें क्यों आशक्ति बनाना, इस को त्यागें और फिर अपने आपके इस ज्ञान प्रकाश में आएं तो आनन्द मिलेगा, संकट टलेंगे, और कभी जल्दी ही वह समय आएगा कि जन्म मरण की बाधा से हम मुक्त हो जाएंगे।

जग वैभव की तृष्णा की अनर्थता—इस वैभव को जानें कि यह ऐसे ही मिल गया। यह ऐसे ही आया ऐसे ही चला गया। एक कथानक है— एक बार किसी राजा के अश्वशाला से एक चोर एक घोड़ा चुरा ले गया, वह घोड़ा नैपाली, ठिगना, बड़े सुन्दर डील डोल का था। तो उसे चुराकर किसी पशुओं के बाजार में खड़ा कर दिया। वह था तो कोई

३०० की कीमत का, पर यह सोचकर कि कोई यह न समझ पाए कि यह चोरी का है उसकी कीमत बताया ९००)। अब ९००) में उसे कौन खरीदे? अनेक ग्राहक आए और लौट गए। एक बार कोई ऐसा भी ग्राहक आया जो कि बड़ा पुराना एक्सपर्ट (दक्ष) चोर था। उसने पूछा भाई घोड़ा बेचोगे? . . . हाँ-हाँ बेचेंगे॥ बेचने के लिए तो लाए ही हैं। . . . कितने में दोगे? . . . ९००) में। उसकी आवाज ही सुनकर वह बूढ़ा व्यक्ति समझ गया कि यह तो घोड़ा चोरी का मालूम होता है। सो पूछा– भाई इसमें क्या खास बात है जो इसके ९००) बताते? . . . अजी इसकी चाल बहुत ही सुन्दर है। . . . अच्छा (मिट्टी का हुक्का पकड़ाकर) भाई इस हुक्के को पकड़ लेना, मैं इस पर बैठकर इसकी चाल देखूँगा, यदि इसकी चाल पसन्द आ गई तो मैं तुम्हें ९००) ही दूँगा। सो उसने वह मिट्टी का हुक्का पकड़ा, था कोई चवन्नी की कीमत का, और बूढ़ा उस घोडे पर बैठा ही था कि ऐड़ मारकर उसे उड़ा ले गया। अब फिर वही ग्राहक वहाँ लौटकर आए– पूछा, तुम्हारा घोड़ा बिक गया क्या? हाँ बिक गया। . . . कितनेमें बिक गया? . . . जितने में लाए थे उतने में बिक गया। . . . मुनाफा कुछ नहीं मिला? . . . मुनाफा मिला यह चार आने का मिट्टी का हुक्का।" तो देखिए चोरी की चीज चोरी में गई। मुनाफा कुछ न मिला। यहाँ भी लोग अनेक प्रकार से धनार्जन करते हैं, पर उसे भी समझो कि यह मुफ्त ही मिला है और मुफ्त ही जाएगा। आत्मा की विचार धारा का यह फल नहीं है। यह तो पूर्वबद्ध कर्म का विपाक है। तो आत्मा की ओर से देखो तो चूँकि ये समस्त पर पदार्थ हैं ये पूर्व मिले समझें, और जब ये मरेंगे अर्थात् मनुष्य पर्याय बदलकर आगे जाएंगे तो ये मुफ्त ही चले जाएंगे। मुफ्त ही मिले और मुफ्त ही जाएंगे, पर कोई पूछे कि भाई हमने तो ५०-६० वर्ष तक बड़ी मेहनत की है, क्या सब कुछ मिट जाएगा? कुछ न रहेगा क्या? हाँ कुछ न रहेगा आखिर फल मिलेगा पाप का हुक्का। जिस को कि साथ ले जाएगा, आगे उसका फल भोगेगा। इस संसार के समागमों से जिनकी रुचि नहीं हटी, इनसे उपेक्षा नहीं जगी, वह अपने आपके धर्म मार्ग में आएगा ही क्या? कैसे आएगा? तो इतना तो मोटे रूप से समझ ही लेना चाहिए। जगत में जितना भी समागम मिला है वह सारा समागम मेरे लिए बेकार है। मेरी हित परिणति को करने में कोई दूसरा समर्थ नहीं। मैं ही अपने आपमें अपनी परिणति कर पाता हूँ। अच्छा चलें तो अच्छे बनेंगे, खोटा चलें तो खोटे बनेंगे। मेरा मैं ही जिम्मेदार हूँ, दूसरा कोई भी जीव मेरा जिम्मेदार नहीं है। यहाँ लोग परस्पर प्रेम की बात करते हैं तो कोई किसी से प्रेम नहीं करता, किन्तु खुद का ही स्वार्थ होता है, कुछ खुद की ही विषय साधना होती है, उसके लिए वह प्रेम करता है, न कि कोई किसी से दूसरे से प्रेम करता है।

अधिगम के उपाय के मीमांसा के प्रसंग में—कभी यह ज्ञान अपने प्रदेशों को छोड़कर बाहर के प्रदेशों में घुसकर जाया नहीं करता, किन्तु अपने आपके प्रदेशों में रहता हुआ ही बाह्य पदार्थों को विषय बनाकर अपने आपमें जानता है। देखो व्यवहारनय से

द्रव्यार्थिकनय से ज्ञानी ७ तत्त्वों की व्यवस्था बनाता है और प्रमाण द्वारा ७ तत्त्वों में एकत्व को प्राप्त जो एक सहज स्वरूप है उस स्वरूप का लक्ष्य बनाता है और प्रमाणनय के विकल्प छोड़कर शुद्ध अनुभव करता है। तो सम्यग्दर्शन के प्रकरण में इस सूत्र में यह बताया जा रहा है कि समस्त पदार्थों का निर्णय प्रमाण और नयों के द्वारा होता है। देखिए जैसे कोई पुरुष सीढ़ियों पर चढ़कर अगर महल में पहुँच गया तो अब महल में पहुँचा हुआ पुरुष नीचे खड़े रहने वाले को कहता कि देखो सीढ़ियों को पकड़कर ठहर गए तो वह योग्य नहीं है। सीढ़ियों को छोड़कर ही महल में पहुँचा करते हैं। तो नीचे रहने वाला सीढ़ियों का आश्रय न ले तो महल तक नहीं पहुँच सकता। और अगर कोई सीढ़ियों को पकड़े और फिर छोड़े, फिर पकड़े फिर छोड़े इस पद्धति से वह महल में पहुँच सकता है। ग्रहण किए बिना ही कोई छोड़े रहे तो वह महल में नहीं पहुँच सकता। इसी तरह ७ तत्त्वों का जो भेद विवरण है उनको पाया तो इस जीव ने और ज्ञान किया और उन्हें समझ गया कि इन ७ तत्त्वों में रहने वाला तो अनादि अनन्त एक स्वरूप यह तत्त्व है। सब जाना और जानकर फिर भूतार्थ का आश्रय किया तो उनका लाभ हुआ। तो जैसे सीढ़ियों को ग्रहण करके छोड़ दिया तब महल में पहुँचते हैं इसी प्रकार अभूतार्थ नय से ७ तत्त्व के भेद विवरण दृष्टि से हटकर एक अभेद निज ज्ञान स्वभाव में पहुँचना यह पद्धति है अपने मोक्षमार्ग में चलने की। तो यह अभूतार्थनय से कहा जानने के लिए पदार्थों का अधिगम किन बातों से होता है। यह कहा जा रहा है कि प्रमाणनयैरधिगमः प्रमाण और नय के द्वारा ७ तत्त्वों का अधिगम होता है। यह ज्ञान इसके प्रयोजनभूत को जानकारी में पहुँचाता है। और जब यह ज्ञान शब्दरूप में आता है मायने शब्दों में जब हम वर्णन करते हैं, समझाते हैं तो उसका प्रयोजन पर जीवों के लिए भी होता है। इसलिए जब तक ज्ञान शब्दरूपता को स्पर्श नहीं करते, शब्द व्यवहार जब तक इनसे नहीं लिया जाता तब तक सभी ज्ञान स्वार्थ कहलाते हैं, याने अपना प्रयोजन सिद्ध करते हैं।

स्वपुरुषार्थ की साधना में भलाई—देखो लोक में स्वार्थी का नाम लोग बुरा समझते हैं यह तो स्वार्थी है देखो एक भजन है जिसमें चिद्रूप हमारा— इसका ही सहारा, इस भजन के अन्तर्गत बताया है कि "वस्तु स्वरूप ही नहीं कि पर से कुछ मिले। खुदगर्ज भी किसको कहें, सब सत्त्व के भले॥" यानी वस्तु का स्वरूप नहीं है ऐसा कि पर पदार्थ से मेरे को कुछ मिल जाए। मिलता जो कुछ मुझे वह मेरे को मेरे से मिलता है, पर जो बाह्य बातें हैं चाहे शुभ हों या अशुभ, उसमें हमारा आश्रयभूत पर पदार्थ विषय हुआ करता है तब यह विधि बनती है शुभ अशुभ भाव की कि पर पदार्थ का आश्रय करते हुए हमारा शुभ अशुभ भाव बनता है, पर वस्तुतः किसी पर वस्तु से मेरे में कुछ नहीं मिलता। लोग सोचते हैं कि मेरे को आनन्द घर से मिलता है। अरे घर में जो ईंट पत्थर है उनमें आनन्द भरा है क्या? जो वहाँ से मेरे को आनन्द मिल जाए? परिवार में आनन्द मिलता है क्या? अरे परिवार पहले अपने आनन्द से ही तो सुख लेले। उनका सुख मेरे में कैसे प्राप्त होगा? किसी भी पर पदार्थ

से मेरे को आनन्द और ज्ञान प्राप्त नहीं होता। मैं ही खुद ज्ञानानन्द स्वरूपी हूँ। सो मैं अपने आपका आश्रय करके विशुद्ध ज्ञान और आनन्द प्राप्त कर सकता हूँ। देखो आनन्द चाहिए– धर्म चाहिए, मोक्षमार्ग चाहिए तो दिमाग बदल देना पड़ेगा। उस दिमाग से बात न बनेगी। तो जो विश्वास लिए हुए चले आए कि यह ही मेरे आत्मा के लिए है, यह ही मेरा जीवन है, इससे ही मेरा बड़प्पन है। ऐसा जो भीतर में विश्वास है यह विष है। इस विष का वमन करें–तब धर्म और आनन्द की बात मिलेगी। घर भी पकड़े रहें, उनके लगाव और मोह में परिवर्तन न लाएं। और चाहें कि मेरे को धर्म मिले, आनन्द मिले तो यों न मिलेगा। धर्म और आनन्द प्राप्त होगा तो मोह छोड़कर ही प्राप्त होगा। मोह में न प्राप्त होगा। और भी एक बात देखो– जैसे कहते हैं कि भाई तुम सीधे सादे बात मान लो नहीं तो टेढ़े तो मानना ही पड़ेगा। कभी-कभी कहते हैं ना व्यवहार में– अरे राजी खुशी से बात मान लो अन्यथा जबरदस्ती कोई मनवा लेगा। यों ही– भाई जिस परिवार से, वैभव से, इज्जत प्रतिष्ठा आदि से इतना लगाव लगाया, मोह लगाया, उसे छोड़ दो, मरने पर तो यह सब छूट ही जाएगा न? भले ही अगले भव में मिले मगर वहाँ तो नया विषय बनेगा, नई बात बनेगी। जिन पदार्थों को विषय करके मोह बना रहे वे पदार्थ तो मिट ही जाएंगे। वे तो नहीं मिलने के। राजी खुशी से मोह छोड़ दो, नहीं छोड़ते तो छोड़ना पड़ेगा, काम तो आएंगे नहीं? यह मोह आपकी मदद तो देगा नहीं। छोड़ना तो अवश्य ही पड़ेगा। अगर भले-भले ढंग से छोड़ दें तो उसका आनन्द अब भी पा लेंगे, और आगे भी पाएंगे। और नहीं छोड़ते तो दुर्दशा होगी। उस भव सम्बन्धी बात मिली तो कोई उसका अच्छा नतीजा न मिलेगा।

निज ज्ञानस्वरूप के संवेदन में श्रेयोलाभ—देखो– तुम ज्ञानमय हो, आनन्द चाहते हो तो अपने आपके स्वरूप का भी ज्ञान करो, तो यह ज्ञान काम का है और बाहरी-बाहरी पदार्थों ही राग मोह करते रहे तो उससे कुछ नफा न मिलेगा तो कुछ तो सोचो। यह लोभ, यह तृष्णा, यह असन्तोष, यह मोह, यह ही विकट अँधकार है। इसमें सन्मार्ग नहीं सूझता। ये इस जीव को धोखा ही दिया करते हैं। तो भाई यह मानव पर्याय बड़ी दुर्लभ पर्याय है, इस पर्याय को पाकर हमको वास्तव में कौन-सा काम करना चाहिए। जिससे कि यहाँ भी वास्तविक प्रसन्न रहें और आगे भी प्रसन्न रहे और सदा के लिए संसार संकटों से टूट जायें। जरा आप हिसाब भी तो देख लो। सदा के लिए जन्ममरण के संकट छूट जाएं, सदा के लिए अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान प्राप्त हो जाए, यह बात महत्त्व की है कि आज जो बाल बच्चे मिले हैं, दुबले पतले हड्डियां निकलीं, नाक बह रही है, परेशान कर रहे हैं फिर भी उनमें इतना मोह बनाये हुए हैं, यह बात महत्व की है या अनन्त आनन्द प्राप्त करने की बात महत्त्व की है? कुछ तो सोचो जरा। संसार में मोहियों की सँख्या अत्यन्त अधिक है, और लोगों की यह प्रकृति पड़ी हुई है कि बहुत से लोगों को जिस काम को करते हुए देखा उस काम को करना, इससे यह जीव पराजित हो जाता है। बिरला ही पुरुष ऐसा है जिसका होनहार अच्छा है वह

ही पुरुष ऐसा चिन्तन कर सकता कि अनन्त मोहियों की बात को देखकर हमें करने का काम नहीं है, किन्तु जो बिरला ही ज्ञानी पुरुष हो या प्रभु भगवंत ने जो किया है उसको जानकर करना। देखो ज्ञानपुञ्ज हैं, हम आप ज्ञान स्वरूप पदार्थ हैं। अगर अपने आपमें ज्ञान का बल लगाया तो अपने आपकी कोई कठिन बात नहीं है। पर आचरण तो यह पड़ा हुआ है कि हम अपने को जानने की रुचि नहीं करते, बाहर-बाहर ही तकते हैं, बाहर-बाहर ही देखते हैं, वहाँ ही निर्णय बना हुआ है। दुःखी हो रहे हैं। ज्ञानस्वरूप होकर खुद के स्वरूप का ज्ञान न कर सकें यह तो एक अचम्भे की बात हो जाएगी, और है ही अचम्भा, नहीं कर पा रहा है यह मोही अपने आपका ज्ञान। कल्याण चाहिए तो यह ही निर्णय रखना होगा कि आत्मज्ञान और आत्मश्रद्धान व आत्मरमण हो तो कल्याण बनेगा। तभी हम आगे बढ़ सकेंगे और मुक्ति को प्राप्त कर सकेंगे। तो जो ज्ञानी पुरुष है वह अपने आपको अपने आप में यह स्पष्ट निहारता है कि जहाँ बराबर भेदविज्ञान स्पष्ट झलकता है। मैं तो यह हूँ जो ज्ञानस्वरूप है। जिसकी वृत्ति एक ज्ञानरूप है, चेतना को लिए हुए है, और यह कर्म का अनुभाग है। जिसकी वृत्ति एक ज्ञानरूप है, चेतना को लिए हुए है, और यह कर्म का अनुभाग है, कर्म से प्रकट हुआ है। जो कर्म अनुभाग मेरी झांकी में आया है वह अन्धेरा मेरे में छाया है। लो स्वभाव से च्युत हुए का कर्म राग अन्धेरे में उपयोग जुड़ा और उसे अपना लिया, इसी से जन्म मरण चल रहा है।

भ्रम विनाश में अज्ञान-वृत्ति की अशक्यता—जिसके भ्रम मिट गया उसके भ्रम कैसे आ सकता है? जैसे कोई कुछ अन्धेरे उजेरे में सामने पड़ी है रस्सी और यह भ्रम बन गया कि यह तो साँप है, तो भय हुआ, आकुलता हुई, चिल्लाने लगा। हृदय भी काँपने लगा, शंका और भय भी व्याप गया। अब न जाने क्या हाल होगा, कहो यह सर्प काट ले और मेरा मरण हो जाए, यों नाना बातें होती है। और थोड़ा सोचा कि जरा मैं अच्छी तरह से देखूं तो सही कि यह कैसा साँप है, कौन साँप है? क्या बात है? जब भली दृष्टि से देखने लगा तो सोचा कि यह तो जरा भी हिलता नहीं है, यह कैसा साँप है? कुछ हिम्मत बनाया? और पास जाकर देखा, यह तो बिल्कुल ही नहीं हिलता। और हिम्मत बनाया, जरा और पास जाकर देखा तो समझ लिया कि अरे यह तो रस्सी है, साँप नहीं है। उसे हाथों से उठाकर भली भाँति निर्णय कर लिया कि यह तो रस्सी ही है। **अब सही ज्ञान हो जाने से भ्रम मिट गया** ना? अब उससे कोई कहे कि हम तुम्हें इतने हजार रुपये इनाम देंगे, तुम उसी तरह की आकुलता, बेचैनी, भ्रम बनाकर दिखा दो, तो क्या वह दिखा सकेगा? नहीं दिखा सकता। भले ही बनावटी करे पर जब भ्रम ही मिट गया तो वह आकुलता आएगी कहाँ से? तो जैसे मोही पुरुष में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह ज्ञान प्रकाश की प्रसन्नता पाए इसी तरह ज्ञानी जीव में, सम्यग्दृष्टि जीव में भी वह शक्ति नहीं है कि जो धन परिवार, घर इनमें मोह कर सके, तब तो कुछ सोचना होगा।

संसारी जनों की मिथ्या सुभटता—संसारी जन बड़े सुभट है उनकी सारी धारणा है कि जो बल ज्ञानी में नहीं वह बल हममें है। अरे देखो— भगवान से बढ़कर मत चलो। कम से कम भगवान से कुछ हल्के बनकर तो रहो, लेकिन यह मोही जीव तो भगवान से बढ़कर चल रहा है। भगवान बेचारे तो जो पदार्थ जैसा है उसे उस प्रकार जान पाते हैं, लेकिन मोही जीव जैसा नहीं है वैसा भी जानकर दिखा देते हैं। देखिए— घर तो मिट्टी का है, वह अत्यन्त भिन्न पदार्थ है पर उसे ये मोही जीव मानते हैं कि यह मेरा है। जहाँ भगवान से बढ़कर चलेंगे तो ऐसा गिरेंगे कि जैसे मानो हड्डी पसली सब टूट जाएंगी। यानी इस का फल यह होगा कि अनन्त संसार में जन्म मरण घोर संकट सहने पड़ेंगे। तो जैसे भगवान अधिक नहीं जानते। जो पदार्थ जितना है उतना ही जानते। मगर यहाँ ये मोही जीव भगवान से भी अधिक जानने की कोशिश कर रहे हैं। लड़के मेरे, घर मेरे, इज्जत मेरी, ये मेरे, यों नाना प्रकार से मोही जानते हैं, पर भगवान तो ऐसा नहीं जानते। भले ही आप का जो मिथ्या विकल्प है वह जानने में आये मगर भगवान ऐसा नही जानते कि यह घर इस अमुक चंद का है, इस लाल का है, इस प्रसाद का है। अगर भगवान यह जान जाएं तो आपकी पक्की रजिस्ट्री हो जाएगी, फिर कभी आप का घर न मिटेगा। यहाँ म्यूनिसपिलटी की रजिस्ट्री तो फेल भी हो सकती मगर वह रजिस्ट्री फेल भी न हो सकेगी। अगर भगवान यह जानने लगें कि यह घर अमुक का है तो वह तो बड़ी बढ़िया रजिस्ट्री हो गई। आप जानते हैं कि यह मकान मेरा है तो यह तो मोह भाव है, वह आपकी पर्याय है, जाान जाएंगे, मगर उपचार की भाषा में बोला जाता है वह तो सत्य नहीं है। जो सत्य नहीं है वह भगवान के ज्ञान में ज्ञेय नहीं होता, आपकी असत्ता ज्ञेय हो जाएगी। तो जरा बढ़कर न चलो। तो जो बात जैसी है वैसी मानकर चलो तो रास्ता मिलेगा। और अन्धाधुंध चला जाए तो रास्ता न मिलेगा। देह तक भी अपना नहीं है। और तो जाने दो, जो रागादि भाव उत्पन्न होते हैं वे भी मेरे बनकर नहीं रह पाते। नये-नये राग बनते। जो नया-नया राग बन रहा वह दूसरे क्षण नहीं ठहरता। उसे भी मिटना पड़ेगा। वह भी मेरा बनकर नहीं रहता। तो मेरे अन्दर रहने वाला रागादि विकल्प भी जब मेरा साथ नहीं देते, होकर मिट जाते हैं, तो भला बाहर में रहने वाले पदार्थों पर जो ऐसा मिथ्या विश्वास बना रखा है तो इनसे कुछ आपको शरण मिलेगा क्या?

बाहरी पदार्थों के सम्पर्क में आघात की ही आशा—जैसे फुटबाल जहाँ जाए वहाँ ही उसे लात मिलेगी। जिस बच्चे के पास फुटबाल पहुँचता है वह बच्चा उस फुटबाल को लात मारकर वहाँ से लौटा देता है, कोई बच्चा उसे हाथों में उठाकर हृदय से तो नहीं लगाता। न उसे गोद में लेता। आया और लात मारा। तो ऐसे ही फुटबाल की तरह से मोही जीव जहाँ जाते हैं, जिसके पास जाते हैं वहीं से धोखा मिलता है, चोट मिलती हैं, वहाँ से कष्ट मिलता है। शान्ति नहीं मिलती, खूब देखलो। जो अनिष्ट चीज है, जो आपने को नहीं सुहाती है ऐसी चीज से मेरे को चोट पहुँचती है, कष्ट होता है। यह तो हर एक की

समझ में खूब बैठा हुआ है, मगर जो इष्ट चीज है, प्रिय चीज है। सुहावनी चीज है उससे मेरे को चोट पहुँचती है। उसका कोई परिचय नहीं किया जा रहा है। एक दफे यही तो कहा था कि वह ब्राह्मण भाई जब यहाँ से जाने लगे तो बोला था न? देखिए– बात तो वहाँ कुछ न थी, पर उसका भाव देखना है– सज्जन और दुर्जन ये दोनों दुःखदायी हैं। दुर्जन तो मिलते समय दुःखदायी है। और सज्जन बिछुड़ते समय दुःखदायी हैं। ऐसे ही इष्ट पदार्थ और अनिष्ट पदार्थ दोनों ही कष्टकारी हैं। अनिष्ट पदार्थ तो मिलते समय कष्टकारी है और इष्ट पदार्थ मिलते समय भी कष्टकारी है और बिछुड़ते समय भी कष्टकारी है। बिछुड़ते समय कष्टकारी है यह तो सबके अनुभव में आ रहा होगा। घर में जो बड़ा है, जो पालन हार है, जो किसी प्रकार का पोषण करने वाला है, वह अगर गुजर गया तो लोग कहते हैं कि बड़ी चोट पड़ी, बड़ी मार लगी, बड़ा क्लेश है, तो वियोग के समय में इष्ट पदार्थ कष्टदायी होता है, यह तो सब मानते हैं, मगर स्वरूप बतला रहा है कि जिस समय संयोग है इष्ट पदार्थ का, उस समय में भी आकुलता रहती है, कष्ट रहता है, क्षोभ रहता है चित्त में। तो बाह्य पदार्थ सब हमारे अहित के कारण बन रहे हैं, उस ओर तो दृष्टि नहीं देते, और हिसाब लगाते रहते हैं बाहरी आय व्यय में।

अनन्तानुबन्धी कषाय के लक्षण—कहीं धर्म का हिसाब लगायेंगे, धर्म में इतना ही देना, इतना कैसे दें? वहाँ हिसाब लगायेंगे और घर में तो हिसाब नहीं लगाते। अगर घर को कोई बीमार हो गया तो उसमें फिर हिसाब नहीं लगाते, चाहे कितना ही धन खर्च हो जाए उसमें फिर कमी नहीं करते। वहाँ तो सोचते हैं कि यह तो हमारा कर्त्तव्य है, करना ही चाहिए। और-कभी कोई धर्म की बात आ जाए, वहाँ कुछ खर्च करने की जरूरत पड़ जाए तो वहाँ हिसाब लगाते हैं कि कितना खर्च कर दें, कुछ थोड़ा सा कर दें। अनन्तानुबन्धी लोभ किसे कहते कि धर्म के प्रसंग में भी है जहाँ लोभ कषाय हो उसे कहते हैं अनन्तानुबन्धी लोभ। यों तो घर में रहते हैं तो लोभ बिना किसी का गुजारा नहीं चलता। जो कुछ धन है क्या वह उसे सड़क पर खड़ा होकर सबको बाँट देगा? अगर कोई ऐसा करने लगे तो उसे तो लोग पागल कहेंगे। तो घर में रहते हुए लोभ बिना घर नहीं चलता मगर धर्म के प्रसंग में सामर्थ्य होते हुए भी लोभ कषाय बने उसे कहते हैं अनन्तानुबन्धी लोभ। यह उसका मुख्य बाहरी चिह्न है। धर्म के प्रसंग में अगर क्रोध आ जाए तो उसे कहते हैं अनन्तानुबन्धी क्रोध। गृहस्थी में रहते हुए क्रोध तो सभी को आता ही रहता है, मगर धर्म का वातावरण हो, उस प्रसंग में यदि क्रोध आ गया तो वह अनन्तानुबन्धी क्रोध बन गया। तो यह अनन्तानुबन्धी क्रोध का चिह्न है। इज्जत, सम्मान प्रायः सभी चाहते हैं, मगर धर्म के प्रसंग में आकर अगर कोई मान चाहे तो वह अनन्तानुबन्धी मान है। तब ही तो देखो उल्टी रीति चल रही है कि मन्दिर से बाहर हुए या धर्म का प्रसंग न हो तो गले से गला मिलते हैं, एक दूसरे से बड़ी मित्रता दिखाते हैं और जहाँ कोई धर्म का प्रसंग आया तो बस वहाँ वह मित्रता खत्म हो

जाती है। . . . वाह मैं यहीं बैठा हूँ। ये लोग मेरे से आगे बैठ गए, मैं क्यों इनसे पीछे रहूँ? . . . देखो ये सब बीती हुई बातें आप लोग समझ रहे होंगे, पर ऐसा भ्रम न करना कि यह सामान्य बात है, अनन्तानुबन्धी के स्वरूप की बात है। धर्म के प्रसंग में मायाचार हो तो वह अनन्तानुबन्धी माया है। वैसे माया गृहस्थी में कुछ न कुछ हर समय आती रहती है। जैसे किसी ने कहा सेठ जी मुझे आपसे १०००) उधार चाहिए तो आप कह देते हैं कि मेरे पास रुपये तो नहीं हैं। अभी धरे होंगे बीसों हजार मगर कहते हैं कि मेरे पास रुपये नहीं हैं, तो यह भी तो मायाचारी है, मगर धर्म के प्रसंग में अगर कोई मायाचारी करे तो वह अनन्तानुबन्धी माया है? जैसे मन्दिर में जब आए तो उस समय कोई न था। अकेले आए थे। वहाँ स्तुति पढ़ रहे हैं तो बड़ी जल्दी-जल्दी पढ़ रहे हैं। मगर कोई अच्छे लोग दर्शन करने आ गए तो वहाँ वह पुरुष बड़ा सुरीला राग बनाकर स्तुति करने लगा। तो यह धर्म के प्रसंग में मायाचार है ना, ऐसी अनेक बातें हैं। लेन देन के प्रसंग में, व्यवस्था के प्रसंग में और बातों में धर्म के प्रसंग में क्रोध, मान, माया, लोभ करें तो यह बहुत बुरी चीज होती है। तो ये विषय कषाय आत्मा का अहित करने वाली चीजें हैं। विषय कषायों से छुटकारा मिले यह बात देखिए, यह प्रतीक्षा कीजिए। इससे ही भलाई का रास्ता मिलेगा।

आत्मज्ञान बिना विषय कषाय के परिहार की अशक्यता—विषय कषाय छोड़ने के प्रसंग में एक बात और समझलो। विषय कषाय छोड़ने का कितना ही उद्यम करो, जब तक आत्मज्ञान नहीं है आत्मा के एक शुद्ध निरपेक्ष सहज स्वरूप का परिचय नहीं है, जो अनुमान से जो एक युक्ति से हो गया, जो एक विचार से हो गया। जब तक अपने आपके बारे में यह निर्णय न हो कि मैं सब पदार्थ से निराला, देह से भी निराला, कर्मों से भी निराला, विकार से भी निराला मैं एक ज्ञानमात्र तत्त्व हूँ, जब तक इस स्वरूप में अपने आत्मा की प्रतीति न करेंगे तब तक अनेक उद्यम करने पर भी कषाय छोड़ने में सफल न हो सकेंगे। और अगर एक मूल मंत्र मिल गया, अपने आत्म-प्रतीति की बात आ गई तो सब आसान हो जाएगा। इसलिए विषय कषायों से दिमाग बदलकर अब इस आत्म विज्ञान के प्रसंग में अपना उद्यम करना चाहिए। आत्मज्ञान होना और सर्व वस्तुओं के बारे में सम्यक्बोध होना एक साथ है। मिथ्याज्ञान में क्यों उलझन होती है? यों कि पदार्थ तो है और भाँति और यह जीव समझ बनाता है और भाँति, इस समझ का और पदार्थ का मेल नहीं बैठता, अत एव इसे धक्का पहुँचता है और विकल्प होता है, जहाँ सत्य ज्ञान है वहाँ पदार्थ की कुछ भी स्थिति बने, पर वहाँ सत्य ज्ञान होने पर इसको अब अनहोनापन सा नहीं लगता कि अनहोना हो गई। जैसे वस्तु तो नित्य है द्रव्य दृष्टि से और अनित्य है पर्याय दृष्टि से, पर यह पर्याय को ही सर्वस्व मानता हुआ वस्तु को नित्य समझ रहा है। यह चीज मेरे पास सदा रहेगी और रहता सो है नहीं, तब यह दुःख मानता है। यदि सत्य बोध हो जाता कि जितना समागम मिला है यह विनाशी चीज है, मेरे पास न रहेगा, तो जब न रहेगा धन उस समय यह भी

समझ लेंगे कि लो मैं जो जानता था सो हो गया ना? कष्ट न मानेगा। कुटुम्ब परिवार और-और लोग मित्रजन, ये सब स्वतंत्र पदार्थ हैं, इनके साथ मेरा रंच मात्र सम्बन्ध नहीं, ऐसा जब बोध होवे तो इसकी परिणति किसी रूप चले, उससे यह खेद नहीं मानता, और जहाँ भ्रम बन गया कि लड़का मेरा ही तो है, परिवार मेरा ही तो है, इस पर मेरा ही तो अधिकार है मैं जैसा कहूँ, वैसा इसे चलना चाहिए, यह ही एक कानून है। जब ऐसा भ्रम बना लिया और चूँकि पदार्थ हैं स्वतंत्र, जैसा उनका परिणमन, जैसी उनकी कल्पना, जो उनकी चेष्टा सो होगा। तब यह दुःखी होता है। तो अनेक घटनाओं से आप यह निर्णय कर लें कि पदार्थ का सच्चा बोध हुए बिना शान्ति का मार्ग मिल ही नहीं सकता।

स्याद्वाद से वस्तु परिचय करके परमविश्राम में एक स्वविवक्त अन्तस्तत्त्व को अनुभवने का स्मरण—पदार्थ का सच्चा बोध कैसे हो? तो भाई आप लोगों का बहुत ऊँचा भाग्य है। बड़ा सौभाग्य है कि वस्तु स्वरूप की पहिचान का सच्चा उपाय बताने वाला शासन आपने पाया है। वह उपाय है अनेकान्त, स्याद्वाद। वस्तु सदा रहता है और बनती मिटती रहती है। द्रव्यदृष्टि और पर्याय दृष्टि से पदार्थ का सही निर्णय बनता है। कोई भी जीव मेरा नहीं है, क्योंकि उनका परिणमन उनके आधीन है, उनका उनमें है। और सभी जीव स्वरूप दृष्टि से एक समान हैं, एक हैं। अनेक दृष्टियों से वस्तु के बारे में यथार्थ बोध होता है और नय दृष्टि को कोई अपनाये तो जितना भी अन्य शासनों ने बात कही है वह भी इसके चित्त में सत्य उतर जाएगी। कभी एक नय से बात बन गई? कभी दो तीन नय से मिलकर बात बनती है, पर जिसने जो कुछ कहा हैं अन्य शासनों ने तो आखिर कुछ बुद्धि तो उन्होंने लगाया। कुछ समझ से ही तो उन्होंने कहा। बिल्कुल असत्य तो नहीं कहा जा सकता। दृष्टि परखो किस दृष्टि से कौन क्या कहता है, पर एक दृष्टि से ही कथन वस्तु का पूरा नहीं बनता तो और भी दृष्टि उनके साथ अपनाना चाहिए था, और उनका वर्णन करना चाहिए था। वह समग्र वर्णन आपको इस आर्हत शासन में मिल रहा है। एक शब्द रखो उसका वाच्य खोजो। वाच्य कहते हैं क्या कि उस शब्द के द्वारा क्या कहा गया? क्या चीज बतायी गई? उसे कहते वाच्य। बतलाओ शब्द द्वारा वाच्य क्या होगा? जैसे गौ कहा— तो गौ मायने गाय, सब जानते हैं। गौ कहा तो बताओ गौ शब्द का वाच्य क्या होता है? यानी गौ शब्द से क्या चीज कही गई? इस समय आप सोच रहे होंगे कि बहुत मामूली सी बात बता रहे हैं कि गौ शब्द से यहाँ गाय ही तो कहा गया लेकिन इसमें भी दार्शनिकों के सिद्धान्त में भेद है। क्षणिकवाद सिद्धान्त कहता है कि गौ शब्द गाय को नहीं कहता किन्तु अगोनिवृत्ति याने जो गाय नहीं है उसकी निवृत्ति को कहता है गौ शब्द। तब वेदान्त कहता है कि शब्द का वाच्य विधि हैं, एक ब्रह्म है। दूसरा कुछ है नहीं, निषेध का कुछ काम ही नहीं। शब्द का विधि वाच्य होता है। तो देखो शब्द का वाच्य निषेध है, ऐसा कहने वाला भी दार्शनिक है और शब्द का वाच्य विधि है ऐसा कहने वाला भी दार्शनिक है। क्या अर्थ

निकला? गौ शब्द से कहा गया—अगोनिवृत्ति। मायने जो गाय नहीं है ऐसे बाकी सारे कुछ नहीं है, इतनी बात भर गौ शब्द ने बताया। गाय को नहीं बताया। गौ शब्द के विषय में जब दूसरा दार्शनिक कहता है कि निषेध करने का कोई अवकाश ही नहीं, गौ शब्द से ठीक यह ही बताया गया। स्याद्वाद कहता है कि तुम दोनों सत्य कहते हो। गौ शब्द ने दोनों को कहा है। गौ के मायने क्या? गाय के सिवाय अन्य कुछ नहीं। गौ के मायने क्या? यह गाय। दोनों ही बातें आयी विधि भी और निषेध भी। तो जहाँ शब्द से ही प्रारम्भ है— दो धर्म, फिर बतलाओ अनेकान्त बिना किसी का गुजारा चला क्या? खाना पीना व्यापार व्यवहार बोलचाल, सत्य प्रमाण सिद्ध करना, युक्ति, सही बात स्याद्वाद के बिना नहीं बनती। सब लोग स्याद्वाद का उपयोग कर रहे हैं, मगर उसकी कृतज्ञता चित्त में नहीं है। किसी को हजार रुपया उधार दिया, ब्याज पर, साल भर के बाद उससे हिसाब करना है, ब्याज भी लगाता है, रुपये भी लेता है, यह बात कब बन पाती है जब चित्त में यह बात है कि रुपये इसको ही दिए गए थे। और चित्त में यह बात बनी कि रुपये दिए हुए एक वर्ष व्यतीत हो गया, अब एक वर्ण का हिसाब है, और यह पुरुष भी वही एक वर्ष व्यतीत हो गया, अब एक वर्ष बाद भी यह पर्याय वाला है, ऐसा कुछ उसके चित्त में है, तब ही तो वह हिसाब बन सकता। अगर पुरुष नित्य ही हो हिसाब कैसा और पुरुष अनित्य ही हो जाए तो हिसाब कैसा?

व्यावहारिक घटनाओं की भी स्याद्वादपोषकता—बताते है एक घटना में कि एक कोई क्षणिकवादी सेठ था, एक ग्वाला उसकी गाय चराता था। तो जब एक महीना पूरा हो गया। तो ग्वाला ने सेठ से अपनी चराई माँगा। जो भी (२, ४ अथवा ५) महीना बाँधा हो वह माँगा। तो वह सेठ कहता है कि जिसको मैंने गाय चराने को दी थी वह तो अब है ही नहीं।तुम तो दूसरे जीव हो, तुमको चराई कैसे मिलेगी? उनका कुछ सिद्धान्त ही ऐसा है कि आत्मा क्षण-क्षण में नया-नया उत्पन्न होता है। तो जिसे मैंने गाय चराने को दिया था वह तो उसी क्षण मर गया था, तुम तो नये आत्मा आए हो, कैसे तुमको चराई दी जाएगी? तो वह ग्वाला बेचारा हृदय मसोस कर रह गया। सोचा कि हमने तो महीना भर इसकी गायं चराया और यह कहता कि चराई न देंगे तो दूसरे दिन उस ग्वाले ने क्या किया कि उस गाय को अपने घर बाँध लिया। अब सेठ को फिकर थी, ग्वाले के घर जाकर बोला तुमने आज हमारी गाय हमारे घर क्यों नहीं भेजी? . . . अरे सेठ जी, किसकी गाय? किसने दी? जिसकी गाय थी वह तो अब रहा नहीं, जिसने गाय दी थी वह तो उसी क्षण मिट गया था, तुम तो दूसरे आत्मा हो, तुम्हें गाय कैसे दी जाएगी। वहाँ सेठ ने ग्वाले से माफी माँगा, अपनी गलती समझा, ग्वाले को चराई दिया तब गाय पाया। तो व्यापार रोजगार खान पान आदि का कुछ भी व्यवहार स्याद्वाद के बिना नहीं चलता। तो जहाँ शब्द का अर्थ ही विधि और निषेध दोनों है वहाँ समझें कि अनेकान्त स्याद्वाद तो प्रत्येक वाक्य में, मूल मूल में पड़ा हुआ है। तब ही तो देखिए— जैसे चीज की सिद्धि की जाए, मानो एक घड़ी को ही लक्ष्य में लेकर

कहा जाए, यह है और भी सिद्ध हो जाए कि यह वहीं है। इस घड़ी के बारे में सामने रखकर बोल रहे कि यह है, यह बात सही है कि नहीं? है, यह है ही है, और यह नहीं है यह बात भी सही है कि नहीं? यह भी सही है। क्योंकि यह चौकी नहीं है, यह पुरुष नहीं है, यह चूल्हा चक्की नहीं है। यह सही है कि नहीं? अगर यह घड़ी चूल्हा चक्की आदि हो जाए तो हम समय कहाँ से देख सकेंगे? तो यह है, यह अपने स्वरूप से है, इसको छोड़कर अन्य पदार्थ के स्वरूप से नहीं है। जीव है, अजीव नहीं है, जीव अपने स्वरूप से है और जीव पर पदार्थ के स्वरूप से नहीं है, जीव नित्य है, जीव नित्य नहीं है, ये दोनों बातें सही हैं ना? द्रव्य दृष्टि से जीव नित्य है, पर्याय दृष्टि से जीव नित्य नहीं है। वस्तु में परस्पर अनेक विरुद्ध धर्मों की सिद्धि स्याद्वाद से होती है। विरुद्ध धर्म क्यों कहलाते कि जिस धर्म को प्रतिपादित किया पहले वह, नहीं है दूसरा, इसलिए विरुद्ध धर्म है। जैसे एक आत्मा में ज्ञान दर्शन, चारित्र आदि अनेक धर्म कहते। तो वे रहते हैं, उनका विरोध नहीं है। मगर ज्ञान का जो स्वरूप है सो दर्शन का नहीं, चारित्र का नहीं। तो एक गुण के सामने यह भी दूसरा धर्म विरुद्ध कहलाता है, ऐसे ही अस्तित्व नास्तित्व आदि सभी की बात समझना है। तो स्याद्वाद से वस्तु स्वरूप का परिचय होता और इसी को प्रमाण कहते। प्रमाण के द्वारा हमें वस्तु का सही ज्ञान होता। जब तक सही ज्ञान नहीं होता, तब तक शांति का उपाय न मिलेगा।

सत्य ज्ञान प्रकाश बिना आत्म रक्षा की असंभवता—भ्रम से ये जीव बरबाद हो रहे हैं। जन्म मरण के संकट सहे चले जा रहे हैं, अपने आप का घात किए जा रहे हैं। आत्मघंसन्! कहकर अमृतचन्द्र सूरि महाराज ने इन मोहियों को कहा— ऐ आत्मा को घात करने वाले पुरुष ऐ अपने आपकी हत्या करने वाले पुरुष, इन हत्यारी इन्द्रियों के वश होकर तुम क्यों अपना विनाश कर रहे हो? किसी से अगर द्वेष हो जाए तो ये ही तो गाली देते हैं हत्यारी, पापिनी, या मरी आदि अनेक विशेषण सो यही इन इन्द्रियों के लिए हैं। जैसे कहते हैं ना लोग गाली में है कि नास की मिटी, हत्यारी। तो इन इन्द्रियों को हत्यारी समझें, नास की मिटी समझें अपने आप का अनुभव करने के लिए घातक समझें। सूरदास की कथा सुनायी थी एक पुरुष ने कि सूरदास सन्यासी हो गए थे, तो भिक्षा माँगते माँगते एक घर पहुँचते तो उसी मकान की स्त्री सामने आयी, तो सूरदास कहते हैं कि भिक्षा दो, तो स्त्री कहती है—क्या चाहिए? तो वह सूरदास कहता है कि हमको तो तुम चाहिए। यानी खोटी भावना प्रदर्शित की। तो उस स्त्री ने कहा— कुछ हर्ज नहीं, मैं अपने पति से पूछ आऊँ, पति से पूछने गई, कहा कि एक अतिथि आया है और वह हमें चाहता है तो पति कहता कि जावो अगर अतिथि आया है, तुम्हें चाहता है तो तुम्हें सौंपा जावो, वह स्त्री आयी सूरदास के पास और कहा— हम सामने हाजिर हैं, लीजिए। तो सूरदास कहते हैं कि तुमने पहले ऐसी बात क्यों नहीं कहा? तो स्त्री ने कहा— देखो हमारा पतिव्रत धर्म है, पति की आज्ञा लेना बहुत आवश्यक है। अब पति ने कह दिया। इतनी बात सुनकर सूरदास को वैराग्य हुआ।

सूरदास ने पूछा— अच्छा जो हम मागेंगे सो दोगी? . . . हाँ देंगे। . . . अच्छा जावो कहीं से दो सूजा ले आवो। कहाँ तो क्या चाहता था और कहाँ क्या माँगता है कि मुझे दो सूजा लावो। वह स्त्री दो सूजा लाई और दोनों सूजों से सूरदास ने अपनी दोनों आँखें फोड़ ली। तब से वह सूरदास कहलाये। तो इस आत्मा के बड़े विचित्र परिणाम होते हैं यद्यपि हम यह प्रशंसा की बात न कहेंगे कि आँखें फोड़ ली, पर कुछ अंशों में प्रशँसा की भी बात तो हुई। तो वह ज्ञान जगना, ज्ञान प्रकाश होना, वैराग्य होना, वास्तविक मायने में परमार्थ ढंग से उसी के सम्भव हो सकती है कि जिसको सत्य ज्ञान का प्रकाश हुआ है। और वह सत्य ज्ञान का प्रकाश होता है नय और प्रमाण के द्वारा। देखो ज्ञान प्रकाश करें।

निज ध्रुव भाव में आत्मत्व प्रतीति में आनन्द लाभ—भैया! अपने आपकी ओर आवो और जानो, बतलावो जो मकान खड़ा है बाहर यह आपके आत्मा का कुछ लगता है क्या? आपका आत्मा आपके पास है, मकान-मकान की जगह खड़ा है, न आप साथ लाए न साथ ले जाएंगे। धन वैभव जो जमा कर रखा है वह कुछ आपका है क्या? आत्मा पर दृष्टि देकर बोलो, नहीं है। जो कुटुम्ब परिवार के लोग हैं वे जीव आपके हैं अरे आ गए, ये न आते, कोई दूसरे आते तो क्या ऐसा हो न सकता था? मोही को तो मोह करने की आदत है, जो जीव आपके घर आ गया उसी को अपना मान लेते। कोई जानकर थोड़े ही मानता कि इस जीव को मानें कि यह मेरा है। इसको मोह की आदत पड़ी है। जो जीव घर में आते हैं उसी को मान बैठते हैं कि यह मेरा है। है कुछ नहीं इसका। यह देह जिसमें इतनी प्रीति बनी हुई है यह क्या आपका है? आत्मा ज्ञानमात्र है, यह देह को छोडकर चला जाने वाला है। इसका यह देह नहीं है। इसके साथ कर्म लगे रहते। क्या कर्म इसके हैं? अरे कर्म जड़ हैं, अचेतन हैं, बाह्य वस्तु हैं, भले ही बन्धन है। स्वरूप निराला है, कर्म मेरे नहीं। और ये कर्म जब बन्धे थे उसी समय इन कर्म वर्गणाओं में अनुभाग पड़ गया था, और स्थिति पूरी होते ही अनुभाग खिल जाए, ऐसा वहाँ निर्णय था। तो जब यह कर्म का उदय होता है अथवा उदरीणा हो जाए तो अनुभाग खिला और उस काल में चूँकि आत्मा के एक क्षेत्रावगाह बन्धन में है वह सब उस अन्धेरे का झलक हुआ और ऐसी चोट पहुँची उसी समय उस झलक के साथ ही यह अपने स्वभाव से च्युत हुआ और अपने आपके इस झलक में उपयोग गया। और फिर यह इसे अपना मानने लगा। मानने का मोह जीव में है, पर कर्म का विपाक कर्म में है, कर्म का काम कर्म में होने दो, अपना निरपेक्ष काम अपने में होने दो। ऐसा साहस अज्ञानी के नहीं बन पाता। कर्म विपाक भी मेरा नहीं है और कर्मविपाक की जो झलक है या उसकी ओर उड़ान है, जुड़ान है, लगता है, इस प्रकार का जो परिणाम है क्या वह मेरा है? मैं तो एक अनादि अनन्त अचल ध्रुव ज्ञायक स्वरूप हूँ। स्वरूप की दृष्टि की जा रही है। जो मिट जाएगा वह मैं नहीं। इतनी बात तो हर एक को ही समझना चाहिए। जो मिट जाए ऐसा मैं नहीं बनना चाहता। एक खोंमचा फेर कर गुजारा करने वाले पुरुष को कोई कहे

कि हम तुम को दो दिन के लिए लखपति बनाये देते हैं और दो दिन बाद आपके खोमचा की थाली वगैरह भी छुडा ली जाएगी और आपको यहाँ से भगा दिया जाएगा तो वह कहता है कि मैं ऐसा लखपती नहीं बनना चाहता। मैं तो वह रहना चाहता हूँ जोसदा रह सकता हो। वह अपनी बुद्धि के माफिक ऐसा सोचता है ना? तो हर एक जीव ऐसा अपने आपमें समझना चाहता है कि मैं तो वह हूँ जो सदा रह सकता हूँ! जो मिट जाए ऐसा मैं नहीं बनना चाहता। तो इसी पद्धति से अपने आपमें अपना स्वरूप देखें। ये रागादि विकार मेरे नहीं हैं। ये औपाधिक हैं, नैमित्तिक हैं, क्षणिक हैं, मैं स्वयं हूँ और ध्रुव हूँ। अपने आपके निरपेक्ष स्वरूप की ओर उन्मुख होंगे।

अपने में अपनी गवेषणा से बाह्य उपद्रव का विनाश—अच्छा जगत के सारे पदार्थ मेरे ज्ञान में प्रतिबिम्बित हो रहे हैं। इन सबकी जानकारी बन रही है, जानकारी बिना तो मैं कहीं रह नहीं पाता। कुछ न कुछ तो जानकारी रहेगी ही मुझ में आप में, सभी में जिसकी जितनी योग्यता है, जिसका जितना उपादान है, जानकारी सबके चलती है। तो ऐसा जो प्रतिभास है पदार्थ की जो झलक है, जो जानकारी है यह भी हुई और मिटी। यह तो हम आप निरन्तर जानते ही रहते हैं— सुबह जो जान रहे थे वह अब नहीं है। तो ऐसी जो जानकारी है, ऐसी जो झलक है, ऐसा जो प्रतिभास है, जिसके बिना ज्ञान रह नहीं पाता। न रह पाए ज्ञान, कुछ न कुछ प्रतिभास कर रहा, फिर भी जो प्रतिभास है जो अक्स पड़ा है, जो प्रतिबिम्ब हुआ है, जो जानकारी हुई है वह मेरा स्वरूप है क्या? मैं तो उससे भी निराला केवल ज्ञानाकार मात्र हूँ, जैसे आप समझ लो, दर्पण के आगे कोई चीज रखी, मान लो एक कबूतर खड़ा है, तो कबूतर में तो कबूतर है, कबूतर से बाहर कबूतर नहीं गया, पर उस कबूतर का सन्निधान पाकर दर्पण में जो कबूतर का प्रतिबिम्ब है वह तो कबूतर की चीज नहीं। कबूतर का निमित्त पाकर हुआ मगर प्रतिबिम्ब तो दर्पण का है। प्रतिबिम्ब तो दर्पण की चीज है, कबूतर की चीज नहीं। तो ऐसे ही प्रतिबिम्ब भी जो दर्पण का उस काल में परिणमन है वही प्रतिबिम्ब क्या दर्पण का स्वरूप है? नहीं। प्रतिबिम्ब से निराला है। दर्पण का स्वरूप क्या? स्वच्छता मात्र। यह बात झट समझ में आ जाती है क्योंकि थोड़ी देर में देखते है कि प्रतिबिम्ब न रहे, समझ गए कि वह दर्पण का स्वरूप न था। दर्पण का स्वरूप तो दर्पण की निजी स्वच्छता है। इसी प्रकार मुझ आत्मा का स्वरूप है— स्वच्छ ज्ञानाकार। मुझ आत्मा की सहज स्वच्छता से ज्ञान प्रकाश एक ऐसा उपादान है। एक ऐसा स्वरूप है कि जो ऐसी स्वच्छता को लिए हुए है कि जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ सकता। प्रतिबिम्ब मैं नहीं, किन्तु जिस पर प्रतिबिम्ब पड़ सकता है, जिसमें प्रतिबिम्ब पड़ने की योग्यता है, ऐसा जो एक ज्ञानस्वभाव है वह मैं हूँ। देखिए कहाँ मैं-मैं चिल्ला रहे हैं लोग? यह मैं हूँ, मैं पुरुष हूँ, मैं स्त्री हूँ, मैं अमुक हूँ, तमुक हूँ, बलवान हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, राजा हूँ, रंक हूँ। व्यापारी हूँ, सर्विस वाला हूँ, अमुक का पिता हूँ। अरे जब अपने आपको खोजा तो यहाँ कुछ न रहा। भला जो कुछ मेरे में

प्रतिभास हो रहा, जानकारी हो रही, ऐसा पुरुष पर्याय वह भी मैं न रहा, किन्तु मैं तो एक ध्रुव स्वभाव मात्र हूँ, यह समझ में आया। ऐसा भीतर में प्रकाशमान जो यह आत्मतत्त्व है इसका ज्ञान किए बिना यह जीव संसार में परिभ्रमण कर रहा है।

देहाध्यासका फल संसरण—देहात्मबुद्धि वश यह जीव कैसी-कैसी योनियों को भोगता, कैसे-कैसे जीव दिख रहे हैं, कीड़े मकोड़े वगैरह सब ये क्या हैं? और हमारी भी तो कभी ऐसी ही हालत थी। और न चेते तो फिर वही हाल होगा कि कीड़ा मकोड़ा जैसी पर्याय धारण करनी पड़ेगी। तो तुम्हें ऐसा कीड़ा मकोड़ा बनते रहना मन्जूर है क्या? या हमारा जन्म मरण छूट जाए और केवल मैं ज्ञानमात्र रहूँ, परमात्मस्वरूप होऊँ, अनन्त आनन्दमय रहूँ, यह मंजूर हैं? इसका उत्तर देने में कुछ कठिनाई क्यों महसूस कर रहे? जैसे कहते हैं कि ऐसा बोलने लायक मुख कहाँ है? जब हमारी करनी विपरीत चल रही है, प्रतिकूल चल रही है तो एक ठसक के साथ मैं कैसे कहूँ कि मुझे तो केवल ज्ञान स्वरूप रहना है और कीड़ा मकोड़ा की जैसी पर्यायों में जन्म मरण मुझे नहीं करना है। अगर जन्म मरण नहीं करना है तो उसका उपाय देखिए—जन्म में होता क्या? देह मिलता। जन्म न चाहिए, अगर जन्म न चाहिए तो मुझे देह न चाहिए यह बात पहले सामने रखें। आपको देह चाहिए और यह सोचो कि जन्म मरण न चाहिए तो यह बात कैसे हो सकती? आपको देह में आसक्ति है देह में रुचि है, तो उसका फल है कि जन्म उसके होते रहेंगे। जब कि आखिर हम ईश्वर हैं। अगर हम देह चाहें तो हमें हर भव में मिलते रहेंगे। जैसे कोई बड़ा बर्तन होता है और बड़े में खिचड़ी पकाया, सबको खिला दिया और कुछ भी नहीं बची, इतने पर भी एक आदमी अगर आ जाए तो उसके लायक खूदेर-खूदेर भर खिचड़ी तो निकल ही आएगी। जैसे कहते हैं ना कि बड़े बर्तन का तो झरावन बहुत होता हैं। तो हम आप सब जो एक ईश्वर स्वरूप हैं, अनन्त निधि हैं, अनन्त शक्ति हैं तो उस शक्ति का अगर इतनी खुड़चन मिलती रहे कि देह चाहें तो देह मिलती रहे तो यह भी तो हमारा ऐश्वर्य है, लेकिन इस ऐश्वर्य से लाभ नहीं है। जन्म मरण सब संकटों की जड़ है अगर जन्म मरण न चाहिए तो इस देह से प्रीति छोडें। यह देह मैं नहीं हूँ। ऐसा भाव बनायें तो जन्म मरण मिटेगा। यह देह मैं हूँ भाव रहेगा तो जन्म मरण बराबर चलेगा। ठीक समझ करके एक दृष्टि में यह बात समझना चाहिए कि मैं केवल ज्ञान स्वच्छता मात्र हूँ अन्य कुछ मैं नहीं। सारे संकट मोह से हो रहे हैं।

अन्तर में उलझन को समझने वाले में सुलझने की शक्यता—देखो भाई कोई मोह पर वस्तु में नहीं कर सकता। यह अंगुली अगर कुछ टेढ़ा मेढ़ी हो गई, कहीं अंगूठा तो नहीं टेढ़ा हो गया। जो जैसा है उसका उसमें ही काम बनेगा, उससे बाहर न बनेगा। तो मैं आत्मा हूँ, तो मेरा जो कुछ भी काम बनेगा—मोह करें तो, ज्ञान करें तो शान्ति करें तो, दुःखी हों तो, सुखी हों तो, जो कुछ भी मेरे में बात होगी वह मेरे प्रदेश से बाहर नहीं हो सकती। तो कोई भी पुरुष कोई भी अजीव पुत्र से, मित्र में, स्त्री में, घर में, धन में किसी में मोह करने

में समर्थ है ही नहीं। हो ही नहीं सकता। वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। तो लोग कहते क्यों हैं ऐसा? कहते यों हैं कि पुत्र, मित्र, धन धान्य आदि को विषय बनाकर, उसकी जानकारी बना करके यहाँ जो कुछ हमने समझा है उसमें हम मोह का परिणाम बनाते हैं। यहाँ बनाया मोह का परिणाम? पुत्र में कोई मोह नहीं कर सकता। यहाँ बनाता है यह जीव प्रेम। बाहर में कोई प्रेम नहीं करता। तो बाहर में हम कुछ कर सकते हैं नहीं और बात हुई समझ में कि हम बाहर में कुछ नहीं कर पाते तो भी एक मार्ग मिल गया। हम अपने में करते हैं हम अपने घरमें अपनी उल्झन बनाते हें तो इसी घर में बैठ-बैठे हम सुल्झन भी बना सकते हैं। अगर हमने विकल्प की उल्झन बना रखी है तो हम सुलझन भी बना सकते हैं। यह काम करने को पड़ा है, इस जीवन में, बाकी सब बेकार काम है। परिस्थिति वश करना पड़ता है, ऐसा ज्ञान में रखें। इन बाहरी पदार्थ को महत्त्व मत दीजिए कि मेरा जीवन ऐसे काम बना देने के लिए है मेरा जीवन इसकी बात उठा देने के लिए है। इन बाह्य वस्तुओं के लिए महत्त्व मत दें, महत्त्व दें इसको कि मेरा जीवन इसलिए है कि मैं आत्मा के स्वरूप को पहचानूं और उस ही स्वरूप को देख-देखकर उसमें ही मग्न रहूँ, इसी में तृप्त रहूँ, संतुष्ट रहूँ इसके लिए यह मेरा मनुष्य जीवन है। अरे जहाँ अनन्त भव बिता डाला, विषयों में, कषायों में, मोह में, एक भव को अगर इन विषय कषायों में न बितायें तो क्या कोई टोटा पड़ता है? एक यह भव ज्ञान ध्यान में बिता डालें। एक इस ही भव में मोह न कीजिए तो आनन्द मिल जाएगा। मार्ग मिल जाएगा। और एक आत्मतत्त्व के निरखने की एक अद्भुत प्रसन्नता प्राप्त हो जाएगी। इससे भाई अगर आनन्द चाहते हो तो उसका उपाय है सम्यग्ज्ञान। सम्यग्ज्ञान का उपाय बताता है— यह स्याद्वाद शासन अनेकान्तवाद इस स्याद्वाद शासन को ठीक समझिए और वस्तु के स्वरूपका ठीक परिचय प्राप्त कीजिए और अपने आपके जीवन को सफल कीजिए।

स्याद्वाद से सकल पक्षों का निर्णय कर निष्पक्ष ज्ञान स्वरूप रहने में कल्याण—आत्मा की भलाई सम्यग्ज्ञान में है। जब तक मिथ्याज्ञान होगा तब तक जीव अशान्त रहेगा, कर्म बन्धन होगा और विपाक समय में यह दुःखी रहेगा। जन्म मरण होते रहेंगे। जहाँ मिथ्याज्ञान दूर हुआ वहाँ जीव का सम्यक बोध होगा। तो सम्यग्ज्ञान क्या है? सम्यग्ज्ञान है प्रमाण। सभी नयों में सब कुछ परखिये और यथावत वस्तु का ज्ञान करना सो प्रमाण है। सम्यक बोध प्रमाण से भी होता, नय से भी होता, किन्तु प्रमाण आवश्यक है। प्रमाण से जाने गए पदार्थ में फिर किसी भी नय से ज्ञान करें, उसमें हानि नहीं, किन्तु कोई प्रमाण को तो मानते ही न हो, और किसी नय का एकान्त हो तो उसे मिथ्याज्ञान कहते हैं। प्रमाण से परखो सब बातों का हल निकलेगा, फिर प्रयोजनवश किसी भी नय को मुख्य करके समझें, यह तो है एक सम्यक् बोध की पद्धति, किन्तु प्रमाण से स्वीकार किए बिना प्रमाण के विषय को माने बिना केवल नय का एकान्तवाद हो तो उसे मिथ्या कहते हैं। और वह स्याद्वाद से दूर है। जैसे प्रत्येक पदार्थ द्रव्यपर्यायात्मक है। केवल द्रव्यरूप नहीं, केवल पर्यायरूप नहीं,

केवल द्रव्यरूप मानने वाले है वेदान्ती केवल पर्याय रूप मानने वाले हैं बौद्ध। जीव के बारे में देखो— एक है कि अनेक? स्वरूप तो एक है और व्यक्ति अनेक हैं। स्वरूपतः एक है। ऐसी बात सुनकर एकान्त मानने वाले हो गए अद्वैत एक वादी, सामान्याद्वैतवादी और अनेक हैं ऐसा ही सुनकर अनेकता में बह गए ऐसे हैं क्षणिक वादी। जो एक आत्मा में भी अनेकपन का परिचय करते हैं। किसी भी बात को लोग स्याद्वाद से सम्मत करलें। कोई सा भी प्रश्न रखें सामने नय से उसकी परख बनावें, जैसे बतलाओ कि जब जो होना है तब वहाँ वही होता है, उसमें कोई फेर फार नहीं होता है और उस पदार्थ की योग्यता से वह होता चला जाता हैं। यह बात सही है यामिथ्या? सही है किस नय से? ज्ञप्तिनय से। ज्ञप्ति नय का मतलब है प्रभु ने सर्वज्ञ ने जाना, विशिष्ट ज्ञानियों ने जाना, जब जो होगा पर्याय वह ज्ञान में आ गया। ज्ञान तो निरपराध है जो होगा सत् वह ज्ञान में झलकाया। इस दृष्टि से देखें तो जब जो होना है तब वही होता है। और उसमें फेर फार नहीं। मानो जिस प्रकार जो होना है, जो भी हो वह ज्ञान में आया है तो जो ज्ञान में आया है सो अब इस ओर से हम परखें तो अब ज्ञप्ति नय से तो यह विधान हैं और उत्पत्ति नय से क्या विधान है उत्पत्तिनय का यह विधान है प्रत्येक पदार्थ जब भी देखा तब एक परिणमन युक्त है, उसमें है एक वर्तमान पर्याय और, वह द्रव्य पूरा वर्तमान पर्याय में है उस काल में। अब वह पदार्थ यदि अशुद्ध उपादान वाला है तो वह जैसा सान्निध्य पाएगा, परसंग पाएगा उसके अनुरूप वह अपने आप में विकार परिणमन करने लगेगा। है विकार परिणमन उसी का उसी में परिणमन मगर यह विकार परिणमन यदि परसंग बिना हो तो वह स्वभाव बन जाएगा।

दृष्टान्तपूर्वक निमित्त नैमित्तिक भाव होने पर भी वस्तु स्वातन्त्र्य का दर्शन—एक मोटा दृष्टान्त लो, रेलगाड़ी जाती है इंजन जाता है, इंजनका काम तो केवल जाना होता है। उसका काम मुड़ना नहीं है। किस पटरी पर जाए, किस पर न जाए, और न ऐसा कोई इंजन में पुर्जा है कि इंजन अपने आप उस पुर्जे को मोड़कर पटरी बदल दे। इस तरफ नहीं जाना, इस तरफ जाना। इंजन का काम तो केवल जाना ही जाना है। इंजन की ओर से तो केवल जाना-जाना ही काम है और वह अपने काम में स्वतंत्र है। अब गेट मैन जिस दिशा में इंजन को ले जाना चाहता है वह पटरी बदलता है। इंजन चल रहा है। उसका काम केवल जाना है। पटरी बदलना उसका काम नहीं, केवल पटरी बदलने का निमित्त पाकर इंजन अब इस ओर चला है, तो इंजन की ओर से देखें तो गमन में स्वतंत्र है। पटरी गमन नहीं कराता। पटरी ने उसका गमन नहीं कराया। यह एक दृष्टान्त है। जितने अशं में दिया गया सो समझना, पर पटरी के बदलने का सन्निधान पाकर जिस-जिस तरह पटरी है उस तरह से इंजन चला गया। इसमें इंजन को परतंत्रता नहीं आयी, पर इस प्रकार का जो जुड़ाव है वह प्रसंग बिना नहीं होता। इसी प्रकार द्रव्य का अपना एकव्रत है परिणमन, परिणमन एक समय भी रुकता नहीं। प्रति समय परिणमन होता है। उत्पादव्यय ध्रौव्य युक्त सत् परिणमन का व्रत लिए हुए

है पदार्थ। चलता रहता है। अब तो पदार्थ शुद्ध है, जैसे जिस इंजन को सीधा ही जाना है, बदलने का काम ही नहीं, उसको कहाँ बदलना। जैसे जो सीधी पर्याय है, स्वभावभाव है, विकास है, शुद्ध पदार्थ है वह अपने स्वभाव के अनुरूप परिणमता चला जाएगा। वहाँ विषमता का काम नहीं, किन्तु जो अशुद्ध उपादान है जो अपनी विषमताएं बनाता है। विभिन्न प्रकार के परिणमन विकार बनाता है तो वह विकार परिणमन अनुकूल निमित्त के सन्निधान में होता है। प्रसंग बिना, अनुकूल निमित्त सन्निधान बिना वह विकार परिणाम नहीं होता। इतना होने पर कभी जीव पर रंच नहीं हो गया परका परिणमन या जीव का परमें परिणमन, परिणमन, जीव तो अपनी परिणमन शक्ति से परिणमता ही चला जा रहा। बस जैसा निमित्त योग हुआ उसमें उस अनुरूप अपना विकार परिणमन कर लिया।

वस्तु स्वातन्त्र्य व निमित्त नैमित्तिक भाव के परिचय से स्वभाव दर्शन की प्रेरणा—वस्तु स्वातन्त्र्य व निमित्त नैमित्तिक भाव की समर्थता निरखने पर अपने को क्या शिक्षा मिलती है कि अहो मेरा स्वरूप तो टंकोत्कीर्ण-वत् निश्चल ज्ञायकस्वभाव है। ज्ञानमात्र है। मेरे स्वरूप में विकार नहीं। मेरे स्वरूप में कष्ट नहीं। मेरे स्वरूप में अधूरापन नहीं, जोहै सो है, और यह अपने ही व्रत से अपने में अपनी परिणति बनाये चला जा रहा है, किन्तु जो विरुद्ध परिणाम आया, विकार परिणाम आया सो वह उपाधि संग पाकर आया। जैसे सामने स्पष्ट है कि दर्पण है उस दर्पण में जो लाल पीला प्रतिबिम्ब आया वह दर्पण में, उस काल में दर्पण उस रूप परिणमा है। किन्तु उसका वह परिणमन विलक्षण है। न परिणमा होकर भी परिणमा है। लाल पीले स्वरूप में न बनकर भी लाल पीला दर्पण हो रहा है। तो जैसे बाहरी वस्तु प्रतिबिम्बित है दर्पण में, दर्पण अचेतन है, वह उसको ग्रहण नहीं करता, अथवा जैसे दर्पण के पीछे लाल मसाला लगा है वह दर्पण प्रतिबिम्ब को कैसे ग्रहण कर लेता है? और, जिस काँच में लाल मसाला नहीं लगा है वह काँच भी यद्यपि प्रतिबिम्ब तो करता है मगर उसका प्रतिबिम्ब इतना फीका होता है कि मानो उस पर प्रतिबिम्ब आया ही न हो। इसी प्रकार जीव भी विविध प्रकार के अशुद्ध होते हैं। कोई ऐसे अशुद्ध हैं कि ये कर्म विपाक को जो कि इसमें झलका है उसको दृढ़ता से पकड़ता है। कोई इतना ही अशुद्ध है कि कर्म विपाक झलका और उपयोग मात्र हुआ। उसे ग्रहण नहीं करता। कोई ऐसा अशुद्ध है कि जो उपयोग भी उस पर नहीं ले जाता, अबुद्धिपूर्वक उसका प्रतिबिम्ब है वह इसको उपयोग में नहीं लेता। जैसे ऊँची श्रेणी में पहुँचे हुए मुनिराज। तो इस तरह प्रमाण द्वारा हम पदार्थ का स्वरूप ठीक निर्णीत करलें। काम करना है क्या? स्वभावदर्शन का। इतनी बात सदा चित्त में रहना चाहिए, अगर मेरे आत्मानुभव में बाधा आती है किसी प्रसंग में तो वह प्रसंग हेय है। मेरे आत्महित में बाधा, रागद्वेष का अवसर आता है तो वह धर्म चर्चा भी हमारे लिए त्याज्य है। क्या करना? जिसमें अपना आत्महित न होता हो। कषाय जगती हो उसमें हमको लाभ क्या? आत्महित तो समता भाव में है। प्रभु के शासन का सही-सही निर्णय बनायें जिससे कि

आत्मबोध हो और वहाँ हमको केवल अपने ज्ञान स्वभाव को ग्रहण करने की धुन बने। यह मैं ज्ञानमात्र हूँ। अपने को केवल ज्ञान स्वभावरूप में निरखते जावो, अनुप्रेक्षण करते जावो तो कोई समय ऐसा एक अपूर्व आता है कि ज्ञान में वह ज्ञानस्वरूप मात्र ज्ञेय रहता है और उस समय इसको जो उसका सम्वेदन है वहाँ एक स्वाधीन आनन्द है। वह आनन्द एक समता का आनन्द है। ऐसे ही आनन्द में सामर्थ्य है कि भव-भव के बांधे हुए कर्म अपने आप खिर जाते हैं। कर्म विपाक तो महिमान है। इसको हम आदर दें तो वह हममें घर करने लगेगा, करता ही है, करते ही आए, हम उनका आदर न रखें तो वे मेहमान कब तक मेरे घर मैं टिक पाएंगे? वे तो अपने आप भागते चले जायेंगे।

ज्ञान परिणमनका पात्र होने का अनुरोध—भावुक भाव्य की सरदता का परिहार करो। जो भाव्यकानिमित्त है उसे कहते हैं भावक, और भाव्य क्या होता है? आत्मा में जो उस प्रकार की अनुवृत्ति हुई और एक झांकी और उपयोग का उस ओर लगना शुद्ध स्वभाव से च्युत होना, ज्ञान का अज्ञान रूप से परिणमना यह सब है अन्य कोई ज्ञान करता है, केवल जाननहार मात्र रहता है तो वह कहलाता है ज्ञान का ज्ञान रूप से परिणमना और, इसके विपरीत अगर कुछ भी यहाँ तरंग विकल्प विचार कुछ भी चलता है तो यह कहलाता है ज्ञान का असमान रूप से परिणमन। तो ज्ञान जब ज्ञान रूप से परिणमन में हो बस वही तो मोक्ष मार्ग है। अब ऐसा बनने के लिए हम अनादि दूषित आत्माओं को आचार्य संतों ने व्यवहार व्यवस्था बतायी है तुम त्याग करो, संयम करो कुछ अपने आपकी ओर ध्यान दो, चिन्तन करो, जाप सामायिक, स्वाध्याय, सब प्रकार के व्यवहार मार्ग बताए, किस लिए बताये, अरे उसमें उपयोग लगायेंगे वह तो अवसर मिलेगा कि इस आत्मा की सुध बनेगी और ज्ञान ज्ञान रूप से परिणमन का काम कर सकेगा। इसके लिए व्यवहार मार्ग है, और साध्य तो वह निश्चय तत्त्व है भूतार्थ का आश्रय और प्रमाण से परखना प्रमाण से जो पदार्थ का अधिगम होता है उससे फिर हमको मार्ग मिलता है एकान्त वाद से इसका मार्ग नहीं मिलता, स्पष्ट ज्ञान भी नहीं होता। आत्मा के स्वभाव की बराबर धुन रहे, यह ज्ञान संसारार्थ बिना रहे, यह ज्ञान स्वयं भी सुध लेता रहे। यह ज्ञान एक बहुत स्वाधीन संतोष पाया करे। इस प्रकार की पद्धति से इसको कदम रखनी चाहिए। तो प्रमाण और नय दोनों के द्वारा वस्तु का अधिगम होताहै और ऐसा परिचय पाकर फिर करें क्या? धुन बने अपने आप में रमने की। इसी को कहते हैं चारित्र। ऐसा पाने के लिए कोई विरुद्ध बर्ताव करे तो पा लेगा क्या? कोई हिंसा कर रहा, झूठ बोल रहा, चोरी कर रहा, कुशील सेवन कर रहा, लालच कर रहा तो क्या वह आत्मा में मग्न हो सकेगा? अरे जो आत्मा में मग्न होने की वांछा रखता है वह तो पाप को छोड़कर आगे बढ़ता है पाप को छोड़ना इसी के मायने है व्रत। तो यह व्रत आत्मसाधक बना इसका सहयोगी बना इसने मेरे को अवसर दिया कि मैं अपने आत्मा की सुध करूँ। आत्मतत्व में मग्न होऊँ यह जब बीतती है खुद पर तब उसका परिचय सही होता है।

चरणानुयोग का विराधक होने में ज्ञान के जीवन की शुष्कता—बाहर जितने हम को परमेष्ठी भक्ति, सत्संग, गुरू उपासना और जाप सामायिक, ध्यान संयम आदि जो-जो कुछ बात कही कई समय-समय पर तपश्चरण, अनशन आदि जो भी व्रत कहे गए इन सब से हम दूर रहें और केवल हम ज्ञान-ज्ञान की बात करें तो वह ऐसा शुष्क हो जाता है कि इस ज्ञान को फिर कोई डर नहीं रहता है। चाहे कुछ भी भीतर गुजर रहा हो, उसकी इसे कुछ भी आशंका ही नहीं रहती है। जैसे कि पीतल का बर्तन बनाने वाले की दुकान में कोई कबूतर रहता हो उस कबूतर को अब उसकी क्या शंका है? एक आदत बन गई है, सुनता रहता है, ठन ठन की आवाज।वह तो नहीं उड़ पाता। तो ऐसे ही इस अपने व्यवहार मार्ग से अगर पतित हो जाए। जो चरणानुयोग की विधि में बताया है उससे हम स्खलित हो जायें तो हमारा यह ज्ञान कब तक काम देगा? हमारी इस स्थिति में केवल ज्ञान का आश्रय लें, अन्य व्यवहार का आश्रय मत लें, ऐसा तो बड़े-बड़े साधु जन ही कर पाते हैं। ऐसे गृहस्थजनों को तो जहाँ इतने रोजगार करते हैं ना, जैसे तैसे धनोपार्जन करते हैं, कितने-कितने विकल्प बनाते हैं, ऐसे अनेक विकल्पों में रहने वाले गृहस्थ केवल एक थोड़े ज्ञान की कथनी चर्चा मुख से बोलने मात्र से अपनी पवित्रता बना सकें यह तो बड़ा कठिन मालूम होता है, उन्हें तो उपयोग लगाना चाहिए शुभ की ओर, ज्ञानमें तो ऐसा ही है कि यह शुभभाव है यह भी हेय है मगर शुभ भाव में चलकर उसें हेय बनाकर आगे बढ़ें तो उसमें तो सफलता है? और पहले से ही अशुभ भाव भी हेय है, शुभ भाव भी हेय हैं, दोनों को छोड़ दें। शुभ को छोड़ने में तो कोई हिम्मत नहीं है। अशुभ छूट नहीं पाता, तो क्या स्थिति हो जाती है? बड़ी विडम्बना। अपने ज्ञान को सम्हालें, अपना समाधान अपने में लावें, आगे-आगे की दृष्टि बनावें, आगे-आगे बढ़ें चले जावें और अपने आपके उस सहज ज्ञान स्वभाव का अनुभव बने, धुन बनावें वैसा ख्याल तो रहता है, प्रतीति में तो रहता है कि मेरे को अपने आत्मस्वरूप में रमण करना और कुछ चेष्टाएं ऐसी हो जाती, कुछ परिणतियाँ ऐसी हो जाती कि हम उसमें अमल नहीं कर पाते, तो इसका स्मरण भी एक बहुत बड़ा सहायक होता है हमको उस मार्ग में पहुँचने में।

नयों में आशय की पहिचान से समीचीनता की निर्विवादता—द्रव्यार्थिक नय और पर्यायार्थिकनय इन नयों को विषय करने वाला जो नय है वह नय असत्य नहीं हो सकता, क्योंकि द्रव्य, पर्यायात्मक वस्तु का स्वरूप है। वस्तु का द्रव्यांश, उसका वर्णन किया निश्चय ने, वस्तु का पर्यायांश उसका वर्णन किया व्यवहार ने, यहाँ तक तो मिथ्या की बात नहीं, किन्तु जहाँ उपचार बोल दिया जाता है। उपचार कथन में वस्तु दूसरे का स्वामी है। एक पदार्थ दूसरे का कर्त्ता है, एक पदार्थ दूसरे का भोक्ता है, एक पदार्थ दूसरे रूप परिणम जाता है आदि रूप से जो वर्णन चलता है, उसका अगर भाव ठीक सही ध्यान में लावें कि बोलने में आए नहीं, किन्तु जैसा उपचार कहता वैसा ही ठीक समझ लें तो यह मिथ्या है।

जैसे कहा घी का डिब्बा उठा लावो तो वह पुरुष जाता है और शीघ्र ही घी का डिब्बा उठा लाता है। वहाँ कहने वाला भी समझता है और लाने वाला भी समझता है और वहाँ बैठा कोई अज्ञानी पुरुष यह समझे कि इसने घी का डिब्बा कहा तो जैसे टीन का डिब्बा कहते, चीनी मिट्टी का डिब्बा होता, इसी तरह घी का डिब्बा भी होता होगा, ऐसा कोई अज्ञानी समझले तो उसकी समझ मिथ्या है। भावों में जैसे स्तुतियों का वर्णन बहुत आता है, अंजन से चोर तर गए पापी महा अधम। हे भगवन! आपने अंजन जैसे कितने ही पतितों को तार दिया। ऐसा सुनकर अगर कोई पुरुष ऐसा ही समझे कि कोई अंजन नाम का चोर था और भगवान आए और हाथ पकड़कर ले गए मोक्ष में, यों तार दिया, यह कोई समझे तो वह मिथ्या है। और इसे यों समझें कि अंजन चोर ने भगवान की भक्ति की, भगवान के गुणों का स्मरण किया और उस स्मरण करते हुए में अपने आत्मा की सुध लिया, अपने आत्मा की ओर लगा और उसमें अपना उद्धार पा लिया तो विषय होने के कारण, गुण स्मरण का विषय, भक्ति का विषय होने के कारण इस प्रकार कहा गया है ऐसा कोई सहज समझे तो उसको ऐसा बोलने में क्या दोष है? जितने परिवर्तन होते हैं वे भावों से होते हैं और भावों से ही सारी चेष्टाएं होती हैं। इसलिए चेष्टाओं को निरखकर भावों का अनुमान किया जाता है, मगर चेष्टा या वाणी को देखकर कैसा ही भाव हो, ऐसा नियम नहीं बनाया जाता। अवसर करके ऐसा लगता है मगर नियम नहीं बनता, चेष्टा कुछ है आशय कुछ है।

संसार में संसरण का साधन शरीर अध्यास—हम लोग जो संसार में जन्म मरण करते चले जा रहे हैं, अचानक कुछ समागम मिल गए, कुछ लोग मिल गए हैं, कुछ वैभव मिल गया है, यह कितने दिन ठहरने का? बाहरी पदार्थ हैं, ये हमारे प्रभु नहीं हैं। इनसे मेरा कोई भविष्य निर्भर नहीं है। यहाँ के लोगों को निरखकर कुछ से कुछ विकल्प बनाना, कषाय बनाना यह तो अपना घात करना है, यह सब माया जाल है ये कोई मेरे प्रभु नहीं है, कोई मेरे ईश्वर नहीं है। मेरे को तो अपने आपमें आत्महित करना है। वह दृष्टि जगाना है, ऐसा चलकर जो अपने आप में अपना हित करने का प्रयोग करने लगे उसका तो भला है, नहीं तो एक अच्छा समागम पाये, उसको भी यों ही व्यर्थ खो दिया, यह स्थिति रहती है। जो कुछ हमारी दुर्गति हो रही वह किस प्रकार हो रही, क्या हो रही, किस ढ़ंग से बात चल रही। तो अब इस सम्बन्ध की बात नहीं बतलाते। एक-एक जीव की बात लें। जीवने मूल में गलती की, अध्यास किया अध्यास से हुआ अध्यवसान। अध्यास होने से इसने किया उसका ग्रहण, अटपट रूप माना और आत्मरूप, आत्मसात्कार करने से फिर यह अपनी बुरी चेष्टाएं करने लगा और उपयोग को बहुत बाहर-बाहर घुमाने लगा और इस तरह यह परिपाटी चलती है। अध्यास किया। आत्मा और कर्म में एकत्व का अभिप्राय होने का नाम अध्यास है। यहाँ दो पदार्थ हैं— स्वतंत्र दो चीजें है— कर्म और जीव। पूर्वबद्ध कर्म भी अपनी स्वतंत्रता से बस रहे हैं। निमित्त नैमित्तिक भाव हो सो साथ नहीं छूटता, मगर परिणमन की दृष्टि से कर्म अपने

आपमें स्वतंत्रता से बस रहे हैं। जीव भी अपने आपके स्वरूप में अपने आपकी कुछ भी परिणति करता हुआ स्वतंत्रता से चल रहा है, उसका अस्तित्त्व पृथक् है, इसका अस्तित्त्व पृथक है। पूर्वबद्ध कर्म जब विपाक काल में आता है तो यहाँ आत्मा में उनका प्रतिफलन हुआ, वेदन हुआ और झलक हुई, झाँकी हुई, कुछ समझ गया तब क्या किया इस आत्मा ने, इस अशुद्ध जीव ने अपने आपमें और कर्म ने कर्म में कर्म किया। एक प्रतिबिम्ब न हुआ, उसमें एकत्व का आशय समझ कर दिया। यह एक ऐसा विवरण है कि किसी मोही अज्ञानी को यह विवरण न आएगा और न उसके ऐसे लक्ष्य में आएगा कि कर्म यह है, मैं यह हूँ और मैंने इस कर्म के साथ एकत्व अपनाया है, इसकी सुध नहीं होती। वह तो ऐसा एकत्व निरत है कि जैसे घोड़ा और घोड़े के रूप में भेद नहीं किया जा सकता, घोड़ा और घोड़े के आकार में भेद नहीं किया जा सकता, इसी प्रकार से अज्ञानी जीव में आत्मा और कर्म में भेद न कर पाने की बात बनी हुई है। ऐसा आत्मा और कर्म के एकत्व का अभिप्राय है, लेकिन यह तो है अध्यास, इस अध्यास से क्या हुआ? क्या इसका बना? अध्यवसान। यह मैं हूँ, यह आशय और उसका व्यक्त रूप यह ही मैं हूँ, जो झलक है रागद्वेष, क्रोध, मान,माया लोभ और प्रतिविम्बत है यह मैं हूँ, यह हुआ अध्यवसान। अध्यवसान के बाद क्या हुआ? रागद्वेष विपाक। यह रागद्वेष विपाक हमें तब मालूम पड़ता है जब हम किसी आश्रयभूत पदार्थ को विषय में लेते हैं तब इसका व्यक्त रूप बनता है।

अन्तर्भेदावबोध से भविष्य की उज्ज्वलता—हमको मूल में क्या करना? ओह यह कर्म लीला है, यह कर्म-विपाक है, मैं तो ज्ञाता ही रहूँगा। मैं इसका ग्रहण नहीं करता हूँ। मैं-मैं तो अपने ज्ञान स्वरूप मात्र हूँ। इस प्रकार विकार से हटकर, कर्मविपाकसे हटकर माया जाल से अपने उपयोग को हटाकर माया का तिरस्कार करके एक अपने ज्ञानस्वरूप का आदर करें तो यह भावक अपने आप निवृत्त हो जाता है। यों अपने आप में एक अन्तर्ज्ञान बनाना, अन्तदृष्टि करना, जिसके प्रताप से परमात्म-स्वरूप से मिलन होता है। यह है अंतः विशुद्ध स्वाधीन आनन्द का प्रकरण। और, यह प्राप्त होता है कब? जब हम प्रमाण से वस्तु स्वरूप का सही निर्णय कर निःशंक हो जाते हैं। कोई शंका, कोई सन्देह, कोई शल्य कोई अन्धेरा वहाँ नहीं ठहर पाता, ऐसा यह एक प्रमाण का प्रताप है। हमको किसका छेदन करना है? कर्म विपाक का। ये क्रोध, मान, माया, लोभ एक अचेतत भाव, और इनका निमित्त पाकर होने वाले जीव में चेतन क्रोध, चेतन मान, चेतन माया, चेतन लोभ याने एक यह मैं हूँ, इस प्रकार मानना और फिर उसके अनुरूप अपनी वृत्ति बनाना, विकल्प होना, ऐसा जो भाव है, इसमें भेद विज्ञान करे, सन्देह निवारण करे, पदार्थ अलग है, यह अलग है, चित् अचित् का भी संग्रह विग्रह कर दें, यह कर्म विपाक कर्म का है और इसे जो हम अपनाते हैं यह अजीव की वृत्ति है, क्यों अपनाया जाए? वह तो पर पदार्थ है। पर घर में तो कोई नहीं घुसता। जो कोई जाएगा वह अपने घर में जाएगा। सो जब वहाँ व्यवहार में व्यवहार ढंग से लोग

पर घर पर विश्वास नहीं करते, पर घर में विश्राम नहीं पाते, पर घरमें गमन नहीं किया करते, पर घर में निवास नहीं बनाते, तो मैं आत्मा क्यों इस पर घर में, इस प्रेम लगाव में निवास करूँ? मैं तो अपने ज्ञानरूप रहूँगा। प्रतिज्ञा कहो, संकल्प कहो, निर्णय कहो, ऊँचा रखना चाहिए। ऊँचा निर्णय हो जाए, ऊँचा उद्देश्य हो जाए, ऊँचा भाव हो जाए तो हम इसमें कुछ अब भी सफल होंगे और जल्दी उसे पा भी लेंगे। ऐसा ज्ञान जिसके प्रकट हुआ है, यह पुरुष परिस्थितिवश कर्मविपाक वश किसी बाध्य व्यवसाय, व्यापार बाह्यवृत्ति में भी पहुँच रहा हो, लग रहा हो तो भी वह प्रतीति नहीं छोड़ता, अपने आपके स्वरूप की। मैं तो यह ही हूँ। करना पड़ रहा है। स्थिति है उसकी ऐसी, पर मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। मेरा काम तो ज्ञानरूप में परिणमन है। मेरा परमपद अपने आपमें निस्तरंग होकर के सदा के लिए निराकुल शान्त पवित्र बनना, यह मेरा काम है। मेरा परमपद अपने आपमें निस्तरंग होकर नहीं चलता। शरीर ऐसा ही है। घर में रहना पड़ता, भूख प्यास लगती है।, उसके लिए सारे काम करने होते हैं, मगर ये सब काम मेरे करने के लिए नहीं हैं। ये तो सब परिस्थितिवश करने पड़ रहे हैं। मेरा नर जन्म तो इसलिए है कि मैं अपने आत्मा में अपने ज्ञान को बसा कर निस्तरंग होने का उपाय पाऊँ। एक मुनीम जैसी वृत्ति रखें। सेठ के यहाँ मुनीम काम करता है, मगर मुनीम को ममता नहीं है कि यह मेरी चीज है। रक्षा पूरी करता और उसके लिए वह इतना बड़ा परिश्रम करता, योगदान देता है, लेकिन भीतर में उसका आशय यह है कि यह मेरा नहीं है। इसी प्रकार जो ज्ञानी पुरुष है वह बाह्य परिवार समागम वैभव, कमाई अन्य-अन्य बातें इनमें रहते हुए भी वह जानता है कि ये मेरे कुछ नहीं। मेरा तो मात्र एक यह ज्ञान भाव है। ज्ञानस्वरूप यह ही मेरा सर्वस्व है, ऐसा उसकी प्रतीति में रहता है। यहाँ इतनी धुन हो, दृष्टि हो तो हम अपना भविष्य उत्तम पाएंगे।

आत्महित साधना करके दुर्लभ नर भव से अलौकिक लाभ लेने का अनुरोध—यह मानुष पर्याय समझो अनादि काल से रुलते रुलते अब बड़ी दुर्लभता से प्राप्त हुआ। उस भव में एक यही विचार होना चाहिए कि मेरे आत्मा का हित कैसे हो? दुनिया में जो लोग दिखते हैं, जिनका समागम हुआ, ये तो सब मायास्वरूप हैं, ये मेरे कोई सर्वस्व नहीं हैं। इन कुछ जीवों के मित्र बन्धु या जिसे अपना कुछ माना हो, उनके पीछे अपना यह दुर्लभ मानव जीवन खो देना यह कितनी बड़ी मूढ़ता की बात है। आत्महित का अवसर अब न छोड़ें, आत्महित किसमें है? आत्महित स्वभाव के आश्रय में है। अपने आपका जो एक विशुद्ध जीवत्वभाव है, जो कि हम बुद्धि युक्ति अनुभूति के द्वारा परखते हैं, भले ही पर्याय हमारी विकार में चल रही है, विकार में स्थिति चलते हुए में भी हम जब विशिष्ट ज्ञानबल को जोड़ते हैं तो हम भीतर से स्वभाव की परख भी कर लेते हैं। जैसे पानी गर्म हुआ, उस गर्म पानी में अगर हम पूछें कि बताओ इस पानी का स्वभाव क्या है? तो गर्म कोई न कहेगा। गर्म होते हुए भी स्वभाव ठंडा ही कहा जाएगा। अगर स्वभाव ठंडा है इतनी ही बात

सुनकर कोई पानी को पी डाले तो उसकी जीभ जलेगी। और तो पर्याय में उस पर्याय की बातहै। स्वभाव अनादि अनन्त अहेतुक ध्रुव है, उसके परिज्ञान की आवश्यकता है। जैसे जब ज्ञान की उपासना करने का उपदेश दिया तो प्रश्न हुआ कि ज्ञान स्वभाव यह आत्मा है ही, उसकी उपासना का उपदेश क्यों दिया जाता? ऐसा है ज्ञानमय, लेकिन जब अपने ज्ञानमय स्वरूप पर दृष्टि तो नहीं दी गई है इसलिए उपासना का उपदेश किया जाता है। अब देखिए— हम आप पर विपदा है तो एक यह विपदा है कि हमारा उपयोग बाहरी पदार्थों में जाता है और रमता है और उस समय हम अपने आत्मा की सुध भूलते हैं, ऐसी स्थिति हम पर गुजरती है आपत्ति तब उसे छोड़कर हम कुछ नहीं कह सकते। जैसे किसी पुरुष को फांसी लग रही हो तो वह जानता है कि अब फांसी लगेगी, मरेंगे और उससे कोई कह कि बोलो तुम्हें क्या खाना है? रसगुल्ले खाना है, या पेड़े खाना है या क्या करना है? तो उसको कोई इच्छा नहीं होती। क्या करे कुछ खाकर, आखिर अभी मरना ही है। तो जिसे मरण का भय हो उसे इन विषयों में मौज नहीं लगती, इसी तरह ज्ञानी पुरुष को इस तरह का भान है कि मेरा उपयोग बाहरी पदार्थों में क्यों जाता है? मेरा वह समय व्यर्थ गया कि बाह्य पदार्थों में उपयोग जाए, उसमें रमे। उसकी चिन्ता करे, उसकी धुन में रहें और अपने आत्मा की सुध भूल जायें, ऐसा जो एक विचित्र अन्धकार हुआ, यह सबसे बड़ी भारी विपत्ति है। चित्त में यह भाव होना चाहिए कि मेरा बाह्य पदार्थों में उपयोग मत रमें और अविकार अपने आपके उस विशुद्ध ज्ञान स्वरूप की दृष्टि बना सकूँ। मैं अन्दर में यह धुन बना सकूँ कि ऐ प्रियतम ज्ञान, तू ज्ञानरूप ही परिणम। अज्ञानरूप से मत परिणम।

चिदाभास व प्रकृतिविपाक का विश्लेषण—देखो एक बहुत स्पष्ट और सरल भेद विज्ञान पाने के लिए कुञ्जी रखी जा रही है। देखो जिसे कहते हैं हम विकार, वह विकार दो जगह है— कर्म में है और जीव में है। ऐसा नहीं है कि कर्म में विकार न हो और जीव में विकार आता हो, इसी कारण समयसार में चेतन और अचेतन दो प्रकार के मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग विकार ये सब दो-दो काल में कर्म में अनुभाग प्रकृति, स्थिति प्रदेश सब निश्चित हो गए थे। उसमें कितना अनुभाग हुआ। कैसी कर्म प्रकृति कितने दिन वह प्रकृति बैठी रहेगी। कितने स्पर्धक में कितने परमाणु हैं, यह सब चीज उस ही समय निश्चित हो जाती है। तो अब देखो— जब उन प्रकृति प्रदेशमय कर्म पुद्गलों में स्थिति और अनुभाग दोनों स्थित हो गए तो इसी कारण यह निश्चित है कि यह निषेक ऐसी प्रकृति रखती है जैसे क्रोध प्रकृति की कर्म वर्गणायें क्रोधन की प्रकृति रखती हैं और अनुभाग में तीव्र बन्ध भी। तब और जब स्थिति पूरी होती है, कर्म का विपाक काल आता है तो कर्म में कर्म की परिणति से एक विस्फोट होता है जो जीव स्वरूप से बाहर होता है। स्थिति पूरी होने के बाद ऐसा ही हुआ करता है। जैसे चूने का डला रखा है, उसकी म्याद जैसे तीन माह की है तो तीन माह की स्थिति के बाद वह अपने आप फूल जाएगा। उसमें शक्ति हट जाएगी और

बाहर भी कुछ उसका स्पर्श होता, उस पर उसका आक्रमण होता है। और कदाचित कोई उस चूने की डली पर पहले ही पानी डाल दे तो वह उदीरणा कहलाता है, वह पहले ही फूल जाता है, ऐसे ही कर्म विपाक जब अपनी स्थिति को पूरी करता है तो उन में अनुभाग और प्रकृति का अभ्युदय प्रकट होता है, तब ही तो बतलाया है कि क्रोध प्रकृति में क्रोधन है, मान प्रकृति में मान है, माया में माया और लोभ में लोभ है। कर्म में उस अपने नाम के अनुरूप विकार होता है, लेकिन वह अचेतन हैं, उस विकार का वह भी ज्ञान नहीं करता और विकार हो जाता है। अचेतन में विकार अचेतन जैसा है अन्यथा बतलाओ कि सत्ता और असत्तामें फर्क क्या है? जैसे कर्म सत्ता में रहे तब तक वह फल देने में समर्थ नहीं है, ऐसे भी सत्ता ही जैसे धीरे-धीरे चुपचाप बिना अपने में विकार स्फोट किए निकले, उदय में आए तो वहाँ भी फल क्यों मिले? तो सत्ता में और विपाक में अन्तर है। विपाक काल में कर्म में स्वयं विकार होता है। अब हुआ क्या कि अपने इस जीव के साथ बन्धे हुए कर्म जब विकृत हुए तो वही तो हुआ कर्म विपाक। अब यह वेदन बिना तो न रहेगा। यह भीतर का वेदन ऐसा विलक्षण वेदन है कि जिसे कहा करते स्वानुभव प्रत्यक्ष स्वसम्वेदन, वह इन्द्रिय से होता क्या? मन से होता क्या? इन्द्रिय और मन के बिना जहाँ आत्मा में स्वसम्वेदन स्वका अनुभवरूप प्रत्यक्ष होता है वहाँ मन और इन्द्रिय काम नहीं करते और फिर भी वेदन होता है। तो जहाँ शुद्ध स्वसम्वेदन नहीं वहाँ एक अज्ञानी जीव को या जो विकाररूप परिणम रहा है संसारी जीव को विपाक काल में वहाँ जैसा वर्त रहा वैसा स्वका वेदन होता है। उस वेदन में वह कर्म पर लक्ष्य तो नहीं देता, मगर एक कर्माक्रमण कहलाता है तो वहाँ एक अँधकार रूप वेदन हुआ और उस अंधकार वेदन के समय में यह जीव अपने शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ और इसने अपना उपयोग फिर कहाँ रमाया? उसके नो कर्म में। यानी कर्म का उदय कब फलवान होता है? जब नो कर्म का विषय किया जा रहा हो। नो कर्म का विषय न बन पाए तो वह अबुद्धि पूर्वक फल देकर झड़ जाता है और नो कर्म आश्रयभूत वस्तु जब विषय में आता है तो बुद्धिपूर्वक वह फल कहलाता है।

कर्माक्रमणकाल में चरणानुयोग की आत्मरक्षा में सहयोगिता का अङ्कन—कर्म फल के उक्त विधान में चरणानुयोग की उपादेयता की स्पष्ट झलक है। जैसे– बतलाया वत्थुं पडुच्चजँ पुण अज्झवसाणं सु होई जीवाणं। बाह्य वस्तु का आश्रय किए बिना अध्यवसान, विकार अपने स्वरूप को प्राप्त नहीं कर पाता। इसीलिए बतलाया है कि किमर्थं वाह्य वस्तु प्रतिषेधः अध्यवसान परिहारार्थम्। बाह्य वस्तु का त्याग किसलिए बतलाया? अध्यवसानभाव के परिहार के लिए बतलाया है। चरणानुयोग की झलक है यहाँ कहते हैं बाह्यवाद का त्याग अध्यवसान के निषेध के लिए बतलाया। यद्यपि यह नियम नहीं है कि बाह्य वस्तु का त्याग करने पर अध्यवसान हट जाए लेकिन अध्यवसान का रंग जमाने का साधन तो बाह्य वस्तु का आश्रय है। तो भले ही कभी बाह्य वस्तु का त्याग करने पर भी मन द्वारा कुछ ख्याल

रह जाए, किन्तु कुछ समय बाद जब बराबर सामने नहीं है तो एक अवसर मिलता है कि वह अध्यवसान भी हट जाएगा तो बात क्या चल रही कि कर्मविपाक हुआ उस समय जो कर्माक्रमण है वह एक विलक्षण अँधकार है। जैसे कुम्हार घड़ा बनाता है तो वहाँ कुम्हार तो अपनी चेष्टा करता है, मिट्टी का परिणमन नहीं करता, पर देखने वाले जानते हैं कि उस चाक पर जो मिट्टी पड़ी है उस मिट्टी पर कुम्हार का कैसा व्यापार चल रहा, दबोच रहा है, पतली मिट्टी करता है तो अधिक दबोचा भीतर हाथ डाला तो वह एक तरह का आक्रमण है। यद्यपि कुम्हार का आक्रमण भी कुम्हार की चेष्टा में है, मगर ऐसा निमित्त नैमित्तिक योग है कि ऐसा आक्रमण करते हुए कुम्हार के व्यापार का निमित्त पाकर मिट्टी अपने आप में अपनी शक्ति में घड़ा रूप परिणमन जाती हैं। यहाँ भी देखिए कि जब कर्म का ऐसा आक्रमण हुआ, आक्रमण क्या हुआ, कर्म का विपाक हुआ और वह विपाक आत्मा में झलका। जैसे दर्पण में अन्धेरा झलका तो झलका कैसे? जैसे रात्रि के समय में दर्पण खुला रखा जाए तो दर्पण में कुछ दिखता नहीं, मगर अन्धेरा तो उसमें आया ही है, और अन्धेरा झलका तब ही दर्पण नहीं दिखता तो एक ऐसा विचित्र अन्धकार है, उस समय कर्म की बात हुई कर्म में, अब उसका निमित्त पाकर यह जीव शुद्ध स्वभाव से च्युत हुआ। अब उसकी परिणति चली, और इसका उपयोग नो कर्म में हो गया और उस माध्यम से उस कर्म के उदय के अनुरूप इसने अपने विकार को व्यक्त किया। दोनों जगह स्वतंत्रता है और निमित्त नैमित्तिक योग है।

आत्मस्वातंत्र्य के परिचय से आत्मशुद्धता का अभ्युदय—स्वतंत्रता के परिचय से तो यह लाभ उठाना चाहिए कि मेरे को कोई दूसरा नहीं परिणमाता। अगर कोई दूसरा मेरे को परिणमाता होता तो मैं विवश हो जाता। उसकी मर्जी, उसकी कृपा, वह छोड़े न छोड़े। हम कोई पौरुष कर सकने लायक नहीं रहते, अगर कोई दूसरा मेरे को परिणमाता। यहाँ एक पौरुष जगता है, मैं अपनी ही परिणति से परिणमता हूँ। "वस्तु स्वभाव ही नहीं कि पर से कुछ मिले। तब— खुद गर्ज भी किसको कहें सब सत्त्व के भले।" तो यह तो हमने वस्तु स्वातंत्र्य से स्वभाव दृष्टि की एक प्रेरणा पायी। अब निमित नैमित्तिक भाव के दर्शन से प्रेरणा क्या पायी? जैसे जीवा-जीवाधिकार में इसका विशेष वर्णन है कि यह वर्ण, रस गंध, स्पर्श विकार मेरा स्वरूप नहीं, मेरा स्वभाव नहीं, किन्तु वे पुद्गल कर्म से निष्पन्न हैं। पुद्गल कर्म का निमित्त पाकर कोई निर्माण होता है। मेरे स्वभाव से ये दूर हैं। मेरा स्वभाव तो शुद्ध स्वच्छ ज्ञानाकार रूप है। ऐसा यह अपने को अपने शुद्ध स्वभाव की ओर ले जाता है। यही है जीवत्व भाव की दृष्टि। तो अपने आप में यह विचार करें कि मेरे को सर्व आनन्द है, कोई कष्ट नहीं है। कष्ट तो यही है मात्र कि हम पर द्रव्यों को अपने ध्यान में लेते हैं, उसमें रमते हैं, और उस समय में हम अपने विचारधारा में डूब जाते हैं। यह है हम पर विपत्ति। जिस विपत्ति के परिणाम में कर्म बन्ध होता, संसार में परिभ्रमण होता और चतुर्गतियों में चक्कर लगाते। न जाने कैसा कौन भव मिले? देखते ही हैं— कीड़ा मकोड़ा वनस्पति इनमें क्या

करने की बात है? बोल भी क्या सकते हैं। ऐसी पर्याय मिलेगी तो मैं क्या कर सकूँगा। आप स्वयं सत् हैं, मन मिला है। मन की बात दूसरे से कह सकते हैं, समझ सकते हैं। ऐसी इस सुविधा में हम विषयों की प्रीति छोड़कर, कषायों का हठ छोड़कर केवल एक मेरे आत्मा का हित कैसे हो, केवल इसी भावना में हम धर्मध्यान में आएं, तत्त्व ज्ञान में आएं, चिन्तन में आएं, विचार में आएं और कषायों को मन्द करें, ऐसी एक अपनी स्थिति बनाकर चलें और अन्य दृष्टि का अधिकाधिक प्रयोग करें।

ज्ञानस्वरूप की अनुभूति में विडम्बनाओं का विलय—जिसे थोड़ी सुध होने की पात्रता आए, झट अपने आपके भीतर प्रवेश करें कि मैं ज्ञानस्वरूप हूँ। कैसे विकार हो गया यह? मैं जब ज्ञानमात्र हूँ। ज्ञान-ज्ञान ही मेरा कार्य है, ज्ञानवृत्ति ही मेरा कर्त्तव्य है। यहाँ जानना रहता, जानना ही इसमें बना रहता फिर कैसे विकार हो गया? जैसे दर्पण स्वच्छ है तो दर्पण जब स्वच्छ है तो वह स्वच्छता स्वच्छता रूप ही बनी रहे। जैसे दर्पण में लाल पीला प्रतिबिम्ब आ गया दर्पण की ओर से। तो दर्पण की गाँठ की चीज तो नहीं है। वह तो स्वच्छता रूप ही परिणमता है। उसका आश्चर्य करना चाहिए कि दर्पण के स्वभाव के विपरीत दर्पण की आन बान के विरुद्ध यह प्रतिबिम्ब हुआ, यह विकार हुआ यह लाल पीला परिणमन कैसे हुआ? समय प्राभृत में कहा है— **जह फलिहमणी सुद्धो ण सयँ परिणमदू रायमादीहिं? रंगिज्जदि अण्णेहिंदु सो रत्तादीहि दोसेहि। तब णाणीवि य सुद्धो ण सयं परिणमइ रायमादीहिं। रंगिज्जदि अण्णेहिं य सो रत्तादीहिं दव्वेहिं।** अर्थात् यह आत्मा स्वयं अपने रागादि भाव का निमित्त नहीं बनता। खुद ही यह उपादान, खुद ही अपने विकार का अगर निमित्त बनजाए तो उपादान और निमित्त दोनों सदा हाजिर हैं फिर क्यों विकार मिटेगा? वह तो विकार स्वभाव बन जाएगा। नित्यैकतापन आ जाएगा। तो वहाँ आचार्य कहते हैं कि विकार भाव में निमित्त पर प्रसंग ही है, यह वस्तु का स्वभाव उदित होता है। हम हर बात से शिक्षा लें स्वभावदर्शन की। स्वभावदर्शन का वहाँ हमें किस तरह मौका मिल जाएगा? शरण है कुछ तो अपनी स्वभाव भावना, स्वभाव आराधना, ज्ञानाकार, केवल ज्ञानस्वरूप मात्र स्वच्छ ज्ञान, ऐसे अपने आपकी भावकी भावना करें तो जैसे बताया है कि कोई पुरुष यदि ऐसा विचार बनाता है कि मैं हिंसा करूँ तो वह अपने विचार से अपने को हिंसक बना डालता है। कोई विचार करता है शुभ भाव का तो वह अपने विचार से अपने को पुण्य रूप बना लेता है। अशुभ भाव का चिन्तन हो तो वह अपने ही विचार से अपने को पापरूप बना डालता है, इसी प्रकार विवक्ष्यमान में जो नारकादिक भाव हैं इनमें अगर वह प्रतीति रखता है कि मैं नारकी हूँ तो वह अपने विचार से नारकी बना। देखो। यहाँ द्रव्य और भाव की दो की बात चल रही है। द्रव्य से बाहर द्रव्याकार या उसकी व्यञ्जन पर्याय वह नारक पर्याय है, लेकिन वह जीव अगर अपने उपयोग को विशुद्ध ज्ञानस्वभाव में ले जाए और वहाँ अनुभव करे इसे स्वानुभूति कहते हैं। अनुभव करने में ज्ञानमात्र हो तो इस अनुभूति के माध्यम

में देखें तो वह नारकी नहीं है। जैसे कि वह विचार कर रहा, उस विचार में जो आया सो वह है इसी प्रकार जब जगत में जो चीज आती है और उसका हम विकल्प बनाते हैं तो हमने अपने विकल्प से अपने को ज्ञेयरूप बना डाला किन्तु इस ज्ञेयरूप विकल्प में न अटकें और एक अपने इस ज्ञायक स्वभाव अन्तस्तत्त्व याने ज्ञान प्रकाश को ही ज्ञान का विषय बनायें तो उस समय हम ज्ञानस्वरूप ही हैं, उपयोग में जो आया, स्वाद उसका आता है इसलिए अपना उपयोग निर्मल रखना, भेद कषायरूप रखना और वीतराग जिन शासन परम्परा में जो हमें आचार्यों ने दी है, हम उस परम्परा की पंक्ति में ही रहकर अपने को छुपा दें, जिस कहते हैं कि विहत्ता को पचा दें।

गर्वतरंग तोड़कर शान्त सुधासागर में स्नात होने की भावना—अगर हम बुद्धिमान हैं तो अपनी बुद्धिमत्ता को पचा डालें, अपने को उस भार से पृथक दुनिया में देखने का इस मन में भावन लावें; किन्तु क्या करना? जब यह सब जगत मायाजाल है तो किसको क्यों अपना कुछ दिखाना? जब अनन्तानन्त जीव हैं तो उनमें से दो, चार, पाँच सौ, हजार, दस हजार को अपना क्या गुण दिखाना? यानी अपने आप में क्यों यश की भावना रखना? काल अनादि अनन्त है। अनादि **अनन्त काल तक किसका यश रह सकता है?** अतीत चौबीसी का तो प्रायः कोई नाम भी नहीं जानता। कहाँ अनन्त काल तक यश रहता है? फिर १०–५ वर्ष के लिए अपने में विकल्प बनाकर क्यों अपने को बर्बाद करना? इसी प्रकार अन्य भी कुछ क्या चाहिए? कौन-सा यश, कौन सी बात ऐसी है जो चाही जाए? बल्कि कुछ न चाहा जाए, केवल एक यह भावना रहे कि मेरे ज्ञान में मेरा ज्ञानस्वरूप ही विषय रहे और ऐसे धीरे प्रयोग बल से, अन्तः प्रयोग से मेरे ज्ञान में यह ज्ञानस्वरूप समाये और एकमेक हो जावें यानी वही हम कुछ चिन्तन ही न करें, ज्ञान में ज्ञेय इस प्रकार आए यानी यह ज्ञानस्वरूप ज्ञान में ऐसी सौम्य पद्धति आए तो हमारा ख्याल सब भूल जाएगा। कुछ भी चिन्तन न चले ऐसी स्थिति पाने की धुन रहना चाहिए। यह बात इस समय बड़ी कठिन लग रही, मगर एक बात जब सोचते हैं तो अचरज कुछ नहीं होता है। जब हम आगे अनन्त काल तक ज्ञानस्वरूप में बसे रह सकते हैं, भगवान हो गए इसके मायने क्या है कि ज्ञानमें ज्ञानस्वरूप ज्ञान ज्ञेय सब मानो अभेद बन गया है, निज ज्ञेय, निज ज्ञान अभेद हो गया है, ज्ञान में ज्ञान प्रकाश का ही अनुभव चल रहा है, ऐसी बात अनन्त काल तक होती कि नहीं, कुछ वर्ष भी नहीं, भगवान हो गए, अरहन्त हो गए, सिद्ध हो गए, अनंत काल तक उनका ऐसा विशुद्ध परिणमन चलता ही रहेगा। यह हमारी ही तो कथा है, हम आज नहीं ऐसा बन पा रहे, मगर ऐसा हो तो सकता हूँ। ऐसा जब मैं हो जाऊँगा तो अनन्त काल तक मैं अपने ज्ञानस्वरूप में निस्तरंग बसता रहूँगा। कहाँ तो अनन्त काल तक मैं बसता रहूँगा और कहाँ आज एक क्षण भी नहीं बस पाते। नहीं बस पाते हैं और विविध चेष्टाएं होती हैं तो हो जाएं चेष्टाएं, किन्तु इसपर तो खेद करना चाहिए, और साहस बनाना चाहिए कि हम अपने ज्ञानस्वरूप में बस सकते हैं, कोई

अत्युक्ति नहीं, कोई अजब गजब की बात नहीं, क्योंकि हम अनन्त काल तक रहेंगे। कुछ दिन हैं यहाँ ऐसे जहाँ हम स्थिर नहीं रह पाते हैं, प्रयत्न करते हैं, मुश्किल पड़ती है, बाहर-बाहर की बात ही समायी रहती है ध्यान वहाँ जाता है जहाँ खुद की सुध नहीं होती। कठिन पड़ रहा है। पड़ रहा है तो पड़े कठिन, मगर सही प्रतीति तो नहीं छोड़े हुए हैं। धुन तो हमारी उस ही तरफ है। जैसे किसी का कोई इष्ट आ जाए और वह अनेक कार्यों में लग रहा हो तो वह कामों में लगा हुआ भी अपने इष्ट को तो नहीं भूलता। अथवा कोई अनिष्ट प्रसंग लग गया हो, कोई इष्ट गुजर गया तो बहुत से लोग आते हैं, काम भी करते हैं, मन्दिर भी आते हैं, बैठ भी गए। सब कुछ काम करते हुए भी उसकी सुध तो नहीं भूलती। इसी तरह से ज्ञानी पुरुष न रम पाए अपने आत्मा स्वरूप में और बाहरी पदार्थों में विकल्प भी मचाये तो भी वह अपनी सुध को क्षण भर भी नहीं भूलता। उसकी धुन रहती है, लगन रहती हैं, मेरे को तो वह होना चाहिए और हो पाता नहीं, आत्मानुभव अथवा ज्ञान प्रकाश में ज्ञान का समा जाना यह बात हो पा नहीं रही, मगर धुन इसी की ही है। हो चुकी है एक बात एक बार, तब तो धुन बनती ही है। जैसे जिसने कोई मिठाई चखी है और अब नहीं मिल रही तो उसका स्मरण तब ही तो आएगा जब उसका एक बार स्वाद लिया हो। इसी प्रकार मैं अपने ज्ञान प्रकाश में ही ज्ञान को समाये रहूँ, इसमें कोई अन्य द्रव्य विषय न हो, किसी अन्य बात में उसका उपयोग न रमे, ऐसी भीतर में प्रेरणा तब ही तो हो सकती है जब हमने उसकी अनुभूति की हो। लिया है स्वाद तब ही तो ख्याल बन रहा, तब ही तो प्रतीति बन रही। अनुभूति के बिना प्रतीति नहीं रह सकती। प्रतीति के समय अनुभूति हो या न हो, मगर अनुभूति के बिना प्रतीति नहीं हो सकती।

बाहर से हटकर निजधाम में विश्राम पाने का उद्यम—भैया अब तो अपनीओर आवो। बाहर से हटकर अपनी ओर प्रवेश करो। पहले बाहर से हटो। जैसे कोई इस गाँव का मनुष्य विलायत में गया। विलायत से घर आना चाहता है तो वहाँ कोई पूछता कि भाई आप कहाँ जाएंगे? तो वह कहता कि हम इण्डिया जाएंगे, भारत जाएंगे। आया भारत के किसी बन्दरगाह पर। . . . कहाँ जावोगे? अमुक प्रान्त में जाएंगे। जब प्रांत के किनारे आया तो किसी ने पूछा कहाँ जावोगे? . . . अमुक जिले जाएंगे। जब जिले के किनारे आया, पूछा कहाँ जावोगे? . . . अमुक गाँव जाएंगे। जब गाँव में आया तो पूछा कहाँ जावोगे? . . . अमुक नम्बर के घर में जाएंगे। अब घर आ गए तो अपने किसी कमरे में आकर विश्राम करने लगा। इसी तरह यह उपयोग बहुत दूर तक पहुँच गया, पर द्रव्य में, चेतन में अचेतन में पहुँच गया, अब वहाँ से लौटकर अपने में विश्राम लेना है तो अचेतन से हटा, चेतन तक आया, अन्य चेतन से हटा, निज चेतन तक आया। अपने विकार से हटें, अपने विकल्प के किनारे तक आएं, विचार और चिन्तन से भी हटें तो कहाँ पहुँचेंगे? अपने धाम में। जिन, शिव, ईश्वर, ब्रह्मा राम, विष्णु, बुद्ध, हरि आदि जिसके नाम दिए जाएं, ऐसा निज धाम है। ये

॥ आत्मरमण ॥

मैं दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्द स्वरूपी हूँ ॥टेक ॥
हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण ॥
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम; मैं सहजानन्द० । मैं दर्शन. ॥१ ॥
हूँ खुदका ही कर्ता भोक्ता, परमें मेरा कुछ काम नहीं ॥
परका न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं सहजानन्द० । मैं दर्शन. ॥२ ॥
आऊँ उतरूँ रमलूं निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या ॥
निज अनुभवरस से सहजतृप्त, मैं सहजानन्द० । मैं दर्शन. ॥३ ॥

॥ आत्मभक्ति ॥

मेरे शाश्वत शरण, सत्य तारणतरण ब्रह्म प्यारे ।
तेरी भक्ति में क्षण जाएं सारे ॥टेक ॥
ज्ञान से ज्ञान में ज्ञान ही हो, कल्पनाओं का इकदम विलय हो ।
भ्रान्ति का नाश हो, शान्ति का वास हो, ब्रह्म प्यारे । तेरी ॥१ ॥
सर्व गतियों में रह गति से न्यारे, सर्व भावों में रह उनसे न्यारे ।
सर्वगत आत्मगत, रत न नाहीं विरत, ब्रह्म प्यारे । तेरी ॥२ ॥
सिद्धि जिनने भि अब तक है पाई, तेरा आश्रय ही उसमें सहाई ।
मेरे संकटहरण, ज्ञान दर्शन चरण, ब्रह्म प्यारे । तेरी ॥३ ॥
देह कर्मादि सब जगसे न्यारे, गुण व पर्यय के भेदों से पारे ।
नित्य अन्तः अचल, गुप्त ज्ञायक अमल, ब्रह्म प्यारे । तेरी ॥४ ॥
आपका आप ही प्रेय तू है, सर्व श्रेयों में नित श्रेय तू है ।
सहजानन्दी प्रभो, अन्तर्यामी विभो, ब्रह्म प्यारे । तेरी ॥५ ॥

॥ आत्म कीर्तन ॥

हूँ स्वतन्त्र निश्चल निष्काम, ज्ञाता द्रष्टा आतम राम ॥टेक ॥
मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान ॥
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यहँ राग वितान ॥१ ॥
मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान ॥
किन्तु आश वश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान ॥२ ॥
सुख दुख दाता कोई न आन, मोह राग रुष दुख की खान ॥
निज को निज पर को पर जान, फिर दुख का नहिं लेश निदान ॥३ ॥
जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम ॥
राग त्यागि पहुँचू निज धाम, आकुलता का फिर क्या काम ॥४ ॥
होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम ॥
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम ॥५ ॥

॥ परमात्म आरती ॥

ॐ जय जय अविकारी

जय जय अविकारी, स्वामी—जय जय अविकारी।
हितकारी भयहारी, शाश्वत स्वविहारी। ॐ ॥ टेक ॥
काम क्रोध मद लोभ न माया, समरस सुखधारी। स्वामी सम . . . .
ध्यान तुम्हारा पावन, सकल क्लेशहारी। ॐ जय . . . .॥१॥
हे स्वभावमय जिन तुमि चीना, भव संतति टारी। स्वामी भव . . . .
तुव भूलत भव भटकत, सहत विपत्ति भारी। ॐ जय . . . .॥२॥
परसम्बन्ध बन्ध दुख कारण, करत अहित भारी। स्वामी करत . . . .
परम ब्रह्म का दर्शन, चहुँगति दुखहारी। ॐ जय . . . .॥३॥
ज्ञानमूर्ति हे सत्य सनातन, मुनिमन संचारी। स्वामी मुनि . . . .
निर्विकल्प शिवनायक, शुचिगुण भंडारी। ॐ जय . . . .॥४॥
बसो बसो हे सहज ज्ञानघन, सहज शान्तिचारी। स्वामी सहज . . . .
टलें टलें सबपातक, परबल बलधारी। ॐ जय . . . .॥५॥